समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

साहित्य

129

जनवरी-फ़रवरी, 2007

मूल्य 25 रुपए
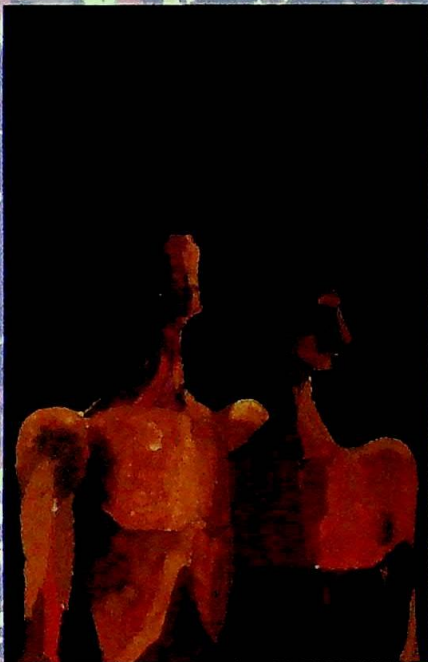
मैनेजर पांडेय

एन. श्रीधरन

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

चंद्रभान ख़याल

मानिक बच्छावत

हर्षद त्रिवेदी

नागपति हेगड़े

विज्ञान व्रत

★

विशेष

हिंदी के तीन नए कथाकार

नववर्ष भेंट : केशव रेड्डी का संपूर्ण तेलुगु उपन्यास *भू देवता*

प्रकाशन का 27वाँ वर्ष

साहित्य अकादेमी के नए प्रकाशन
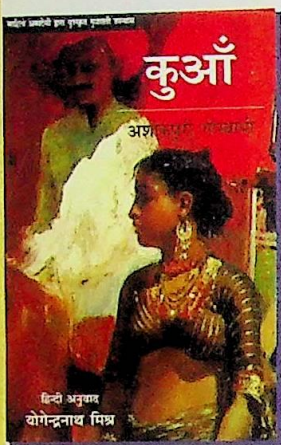
कुआँ (पुरस्कृत, गुजराती 'कूवो') अशोकपुरी गोस्वामी
अनुवाद : योगेन्द्रनाथ मिश्र मूल्य 15

प्रस्तुत कृति साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत गुजराती उपन्यास कूवो क अनुवाद है। यह गुजराती की क्षेत्रीय बोली चरोतरी में लिखी गई एक म रचना है। इस उपन्यास में 'कुआँ' गाँव के एक साधारण परिवार के व अधिकारों के लिए संघर्ष का प्रतीक ही नहीं, बल्कि उनका सामाजिक सरो है—सत्य के लिए किया जानेवाला अनिवार्य और प्रासंगिक संघर्ष। इसके गार्हस्थ्य प्रेम की उदार चेतना है, जो सुख-दुख के आरोह-अवरोहों जीवन-राग शनैः-शनैः सम पर ले जाती है।

काव्यार्थ चिन्तन (पुरस्कृत, कन्नड) जी.एस. शिवरुद्रप्पा
अनुवाद : भालचंद्र जयशेट्टी मूल्य 125 रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक का ध्येय कुछ काव्य-तत्त्वों तथा उनकी परिकल्पना एवं अन्य विषयों से तुलनात्मक विवेचन रहा है। इस क्रम में जिन विचारों का समर्थ विवेचन पहले ही हो चुका है, उनकी पुनरावृत्ति न कर विषय प्रतिपादन के लिए उनका सहारा मात्र लिया गया है। यह कृति आलोचना के साहित्यिक और सैद्धांतिक मूल्यों पर बहस करते हुए कला के आधारभूत प्रश्नों को भी उठाती है।
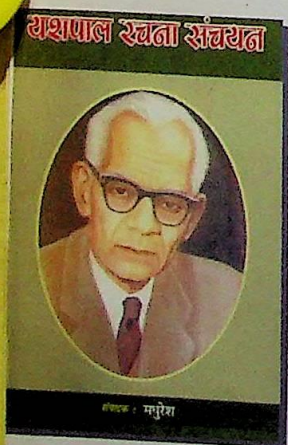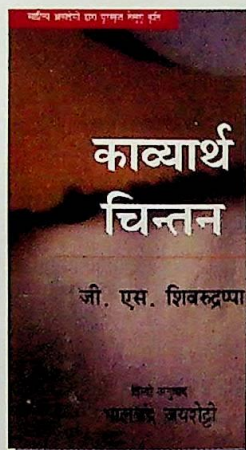
यशपाल रचना संचयन, चयन एवं संपादन : मधुरेश
मूल्य 1

यशपाल के लेखन की प्रमुख विधा उपन्यास है, लेकिन अपने लेखन की उन्होंने कहानियों से ही की। उनकी कहानियाँ अपने समय की राजनीति से में आक्रांत नहीं हैं, जैसे उनके उपन्यास। नई कहानी के दौर में स्त्री के देह के कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध एक संपूर्ण स्त्री की जिस छवि पर ज़ोर दि उसकी वास्तविक शुरुआत यशपाल से ही होती है।
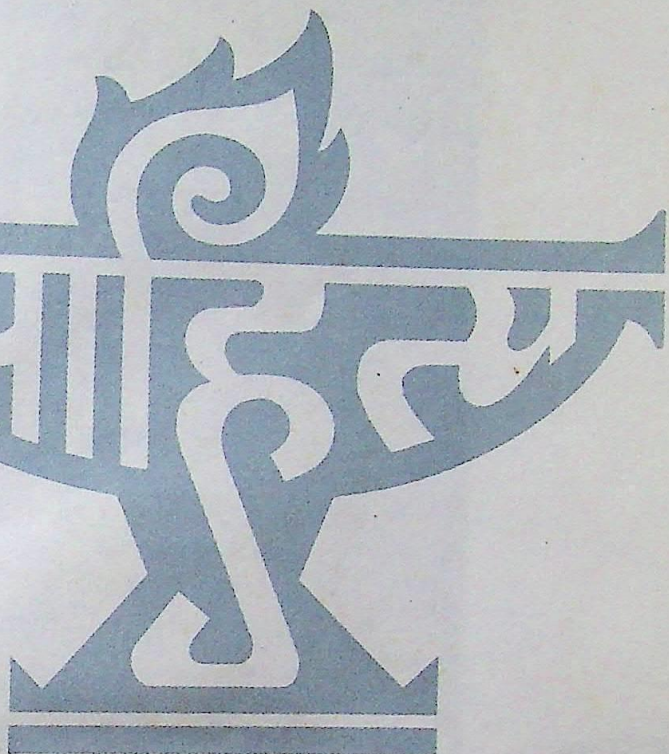
साहित्य

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 27 अंक 129 : जनवरी-फ़रवरी 2007

उप-संपादक : मधुमालती जैन

आवरण चित्र एवं रेखांकन : भ. मा. पारसवाले : स्वयं शिक्षित चित्रकार। महाराष्ट्र के हिंगोली में रहते हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 44 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 27 अंक 129 : जनवरी-फ़रवरी 2007

संपादकीय कार्यालय :
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255
तार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.gov.in

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम पर भेजें :
(मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट, नक़द, चैक (दिल्ली से बाहर के ग्राहक चैक से शुल्क 25 रुप[ए] अतिरिक्त भेजें।))

वितरण : उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
फ़ोन : 011-23364207, 23745297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hind[i] published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Roa[d] New Delhi-110001, India

गोली में

नों तथा

ादेमी क

मंडल य

0 रुपए

पाउंड

ाउंड

25 रुप

ग, स्वाति

n Hind
ah Road

साहित्य

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 129 (जनवरी-फ़रवरी 2007)

आमुख

हमारी पत्रिका में तेईस भाषाओं के साहित्य का हिंदी अनुवाद प्रकाशित होता है। हमारे अनुवादक देश के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। कोई ज़रूरी नहीं कि पंजाबी भाषा के सारे अनुवादक पंजाब या केंद्रशासित चंडीगढ़ में ही रहते हों। उत्तर प्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर, दिल्ली और उत्तरांचल तक में पंजाबी से हिंदी में अनुवाद करने वाले साहित्य सेवी हैं। वे भी शब्दकोश, टंकण, पत्रिकाओं की उपलब्धता आदि समस्याओं से जूझते हैं।

''यहाँ यह संभव नहीं है'', एक रचनाकार मित्र ने कहा।

उक्त रचनाकार की समस्या भी ऐसी ही है। उनके गाँव और आसपास के घर गाँवों में कोई दस हज़ार आबादी रहती है। एक दो स्कूल हैं—प्राथमिक और माध्यमिक। पुस्तकालय एक भी नहीं है। साहित्यिक पुस्तकों की दुकान तहसील नगर में भी नहीं है, अलबत्ता दो पत्रिकाएँ वहाँ उन्हें मिल जाती हैं, यदि वे 21 किलोमीटर साइकिल चलाकर वहाँ समय से पहुँचें। जनपद में चार कवि हैं और एक कथाकार। कवियों की रुचि कथा में नहीं है तो कथाकार किसे अपनी रचना सुनाकर किससे राय लें? कवियों के साथ भी यही परेशानी है। तहसील मुख्यालय में एक कामचलाऊ पुस्तकालय है पर किताबें ऐसी कि मत पूछिए! कथाकार ने डाक से पत्रिकाएँ मँगवाने की ठानी, पत्रिकाओं को चंदा भी भेजा, पर दो-चार महीने में एकाध पत्रिका ही कथाकार तक पहुँच पाती हैं। शेष रास्ते में गुम हो जाती हैं। ख़ैर, किसी तरह वे लिखते ही हैं, लेकिन टाईप करवाना टेढ़ी खीर है। इतनी बाधाओं के बाद उनकी रचना छप भी जाती है तो उन्हें पता ही नहीं चल पाता।

इन समस्याओं का पिटारा तब खुला जब मैंने उनसे फ़ोन पर कहा कि रचना टाईप करवाकर भेजें क्योंकि उनकी लिखावट साफ़-साफ़ नहीं पढ़ी जा रही।

हमारी सभ्यता ने शुरुआत तो छोटी संस्थाओं से की थी, आबादी जमाव बढ़ा, सांगठनिक कुशलता बढ़ती गई, फिर हम बड़े-बड़े संगठनों के हामी हो गए। 'स्मॉल इज़ ब्यूटीफ़ुल' की जगह 'बिग इज़ ब्यूटीफ़ुल' आ गया। छोटी जगह, छोटी आबादी, छोटी-छोटी समस्याएँ हमारी सभ्यता की प्राथमिकता से बाहर हो गईं क्योंकि हम प्रति व्यक्ति ख़र्च के मद्देनज़र फ़ैसले करते हैं। 11 बच्चों के लिए स्कूल? प्रति बच्चा ख़र्च बहुत हो जाएगा जबकि हमें अंतिम नागरिक को भी नागरिक ही समझना है।

ढाई दशक पहले अरुणाचल प्रदेश के कुछ गाँवों में जाने का अवसर मिला था। गाँव क्या थे, मुहल्ले थे, उन्हें ही गाँव कहा जा रहा था। एक गाँव एक बड़े पहाड़ी टीले पर बसा था

साहित्य

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 130 (मार्च-अप्रैल 2007)

आमुख

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित प्रख्यात हिंदी कथाकार का 27 जनवरी 2007 को निधन हो गया। रचनाकारों के नाम के पहले स्वर्गीय या भूतपूर्व शब्द नहीं लगाया जाता। प्रकृति भले ही शरीर को नष्ट कर दे, कृति को नष्ट नहीं कर पाती।

नई कहानी के ठीक पहले पंद्रह-बीस सालों में दूसरे विश्वयुद्ध के छींटे, कमरतोड़ महँगाई, स्वशासी सरकारों का भ्रष्टाचार, मूल्यों में स्खलन के साथ-साथ आज़ादी आई थी। विभाजन का दर्द था तो नव-निर्माण का स्वप्न भी था। औपनिवेशिक सरकार पर निर्भर मध्यवर्ग के लिए आज़ादी हताशा भी थी क्योंकि सुराजी सब कुछ उलट-पुलट दे रहे थे। *पान-फूल, राजा निरबंसिया, ज़िंदगी और जोंक, कोसी का घटवार* जैसे संकलनों के कथाकार औपनिवेशिक शासकों पर मुनहसिर नहीं थे बल्कि वे औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध थे। इसीलिए उनका रुख जीवन-संघर्ष से भरे यथार्थ की ओर था। उनका गाँव, क़सबों, अंचलों से नाभिनाल संबंध था। वे जड़ता, असफलता, शोषण, हताशा को जानते थे पर वे इन्हें नियति नहीं मानते थे। विकास और भविष्य भी उनके यथार्थ का अंग था। उनकी सोच नई थी पर वे आधुनिकतावादी नहीं थे।

उधर कुछ नागर, औपनिवेशिक शासकों पर आश्रित मध्यवर्ग से आए कथाकार थे। जिनके लिए व्यक्ति का अंतरंग महत्त्वपूर्ण था, व्यक्ति का परिप्रेक्ष्य नहीं। इन रचनाओं में शायद ही कहीं क्रूर जातीय संरचना, सामंती शोषण और नियतिवाद का विरोध मिले। बेशक इनमें ऊँचे दरजे की कला थी। कलाबत्तू सुंदर तो होता है पर फूल की जगह नहीं ले सकता!

रेणु के कथा-संकलन ठुमरी में हृदय औ बुद्धि, नए और पुराने, अतीत-वर्तमान-भविष्य नागर और आंचलिक का सामंजस्य नई कहा आंदोलन की तीसरी धारा था। उसमें औपनि वेशिक शासन के खात्मे का उल्लास है। संस्कृ की तथाकथित मुख्यधारा—नागर-संस्कृति— समक्ष ग्रामीण संस्कृति का जनतांत्रिक प्रतिष्ठाप है। आज़ादी का आनंद है तो विभाजन क तकलीफ़ भी।

उत्तर औपनिवेशिक नज़रिए से देखें तो 'व्यक्ति केंद्रित सामाजिकता' वाले आधुनिकतावा कथाकार देश के वर्तमान में अवस्थित नहीं थे ये इतिहास और भविष्य दोनों से विच्छिन्न थे वे यूरोप-केंद्रित थे। नस्लवाद-विरोध समलैंगिक प्रेम यूरोपीय साहित्यिक चिंताएँ थीं तीस वर्षों के भीतर दो-दो विश्व-युद्ध झेल चु यूरोप को अवसाद से ग्रस्त तो होना ही था भारत, जिसने लंबा स्वाधीनता आंदोलन चला आज़ादी हासिल की, जिसने विभाजन के हला को पिया, क्यों अकेलेपन में डूबता? लेकि आधुनिकतावादी आलोचकों ने ऐसी ही कहानि को मानक घोषित किया। पाठक इन कहानि से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाए। व आधुनिकता को लेकर कमलेश्वर का नज़रि यह था, "आधुनिकता वही है, जो अ ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक संदर्भों प्रस्फुटित हुई हो—जो प्रभावों को तो ग्रहण कर

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 131 (मई-जून 2007)

आमुख

आकाशवाणी के शुरुआती दौर में प्रख्यात हिंदी साहित्यकार अज्ञेय वहाँ काम करते थे। उन दिनों हिंदी की समाचार एजेंसी प्रारंभिक अवस्था में थी। लिहाज़ा अंग्रेज़ी एजेंसी से मिली ख़बरों का हिंदी में अनुवाद किया जाता था। हिंदी के साथ पारिभाषिक शब्दावली की भी समस्या थी।

रेडियो जैसे जन-माध्यम में अभिव्यक्ति सरल रखने, देशज रखने पर बल होता है क्योंकि श्रोता यदि किसी शब्द के अर्थ के बारे में सोचने लग गया तो इस बीच दो-तीन समाचार आगे निकल जाएँगे। इसके लिए समाचार डेस्क पर रोज़ नए-नए शब्द गढ़े जाने लगे। अज्ञेय ने एक रजिस्टर रखवा दिया जिसमें गढ़े गए शब्द अंग्रेज़ी पर्याय के साथ लिख दिया जाता था। यह परंपरा वर्षों चलती रही। फिर इसी रजिस्टर को संपादित कर *ए.आई.आर. लेक्सिकों* के नाम से पुस्तक का प्रकाशन भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने किया। काफ़ी समय तक यह अनुपलब्ध रही। तीन साल पहले पता चला कि 'संशोधन में है'। पता नहीं छपी या नहीं!

साहित्य से पहले भाषा है। भाषा की समृद्धि नहीं तो साहित्य कैसे समृद्ध होगा?

जब व्यवहार करने वाले कोश बनाएँ तो उसकी सफलता स्वयंसिद्ध ही नहीं, पूर्वसिद्ध भी होती है। *ए.आई.आर. लेक्सिकों* ऐसा ही कोश था जो भाषा के अर्थ-व्यवहार, मंजाव व प्रयोग से निकला था।

अनुवाद की समस्या से लंबे अरसे तक जूझने वाले प्रख्यात पत्रकार अरविंद कुमार के *समांतर कोश* और *सहज समांतर कोश* का हिंदी में कैसा भव्य स्वागत हुआ है, इसे अलग से चिह्नित करने की ज़रूरत नहीं है।

हिंदीभाषी प्रांतों की लोक भाषाओं से हिंदी में कोश चाहिए। स्वयं हिंदी के कोश के साथ प्रमुख लोक भाषाओं के संक्षिप्त कोश जोड़ दें तभी हिंदी का मुकम्मल कोश बन पाएगा। इसके अभाव में फणीश्वरनाथ रेणु के *मैला आंचल* या रुद्र कोशिकेय की *बहती गंगा* को केरल में कैसे पढ़ाया जाएगा?

कोश निर्माण की समस्या को जनता पर छोड़कर भी देख लिया गया है। कोश निर्माण व्यय-साध्य कार्य है, कौन इसमें पैसा लगाएगा? अरविंद कुमार जैसे समर्पित हिंदी सेवी कितने हैं? भाषा कोश, विषय कोश और विश्वकोश के निर्माण के लिए शासन को समुचित कोश के साथ, उचित कार्य एजेंसी का चयन कर लक्ष्य तय कर आगे बढ़ने की ज़रूरत है। हाँ, इस दिशा में आगे बढ़ने के पहले तकनीकी शब्दावली और कोश निर्माण के पूर्व अनुभवों को ध्यान में ज़रूर रखना चाहिए।

साठ करोड़ हिंदीभाषी हैं। दस राज्यों में हिंदी राजभाषा है पर हिंदी के पास क़ायदे का एक भी विश्वकोश नहीं है। आठवें दशक में भारत सरकार के अनुदान से बारह खंडों वाला एक विश्वकोश बना, लेकिन उसे अद्यतन नहीं किया गया।

हिंदी को बोडो से लेकर मलयालम तक 2[illegible] कोश चाहिए। अंग्रेज़ी, अमरीकी अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, स्पेनिश, इतालवी, जर्मन, स्वीडिश, मंडारिन, जापानी, नेपाली, अरबी आदि भाषाओं के हिंदी में कोश चाहिए। कोश की अनुपस्थिति के चलते क्यों मलयालम का असमिया में अनुवाद अंग्रेज़ी या हिंदी के माध्यम से हो? यदि भारतीय भाषाओं का ही पारस्परिक कोश बनाया जाए तो उसकी संख्या 529 बैठेगी। यह स्थिति सिर्फ़

कुल सात परिवार वहाँ बसे थे। पूरी आबादी 50 लोगों की थी। स्कूल जाने लायक़ 11 बच्चे। 12 किलोमीटर दूरी पर 72 लोगों की आबादी वाला दूसरा गाँव था जिसमें 17 बच्चे स्कूल जाने लायक़ थे। उसी सड़क के किनारे नब्बे किलोमीटर की यात्रा करने पर 11 गाँव मिले। पढ़ने लायक़ बच्चे 20 के आसपास थे। इतनी छोटी-छोटी आबादी के लिए स्कूल कैसे खोले जाएँ ? वहाँ के उपायुक्त इस समस्या से परेशान थे। स्कूल का भवन, स्थायी शिक्षक का वेतन, शिक्षक का आवास, वेतन कैसे पहुँचाया जाए... ! चलंत स्कूल कैसा रहेगा ? उन्होंने मुझसे पूछा था।

कहानी कहाँ से शुरू करें, शीर्षक कैसे लगाएँ, पैराग्राफ़ कहाँ बदलें, पांडुलिपि कैसे तैयार करें, अपना संक्षिप्त जीवन-वृत्त क़ैसे बनाएँ, संपादक को पत्र कैसे लिखें, चरित्र-चित्रण किन-किन तरीक़ों से हो सकता है ? कहानी और विचार का रिश्ता कैसे बनता है ? प्रश्नों और समस्याओं की झड़ी उन्होंने लगा दी। कोई रचना आप क्यों अस्वीकार करते हैं ? कहानी का चयन कैसे हो ? कैसी कहानी लिखें कि चयन हो जाए ? रचनाकार के लिए रचना-वातावरण का होना कितना आवश्यक है, इसका अहसास कुछ दिनों पहले फिर हुआ। दूर-दराज की छोटी जगहों में रहने वाले रचनाकारों की समस्या प्रायः स्थानीयता-जनित समस्याओं जैसी ही होती है। वे छोटे क़स्बे या गाँव की समस्या की प्रतिलिपि नहीं, बल्कि उसी तर्ज़ पर होती है। ज़ाहिर है, हमारे रचनाकारों के सामने सृजन के बड़े प्रश्न तो हैं ही, वे छोटी-छोटी समस्याओं से भी घिरे हैं। दुर्भाग्य से सृजन के बड़े प्रश्नों को सुलझाने के लिए इन छोटी-छोटी समस्याओं को पार कर ही पहुँचा जा सकता है।

हाल में विश्वविद्यालय के छात्रों के एक आयोजन में जाना हुआ। रचना पाठ के बाद छात्र-छात्राओं ने प्रश्न पूछे। उनके कई प्रश्न रचना के विश्लेषण से जुड़े थे तो कुछ प्रश्न रचना पद्धति और प्रक्रिया से भी जुड़े थे। मुझे बताया गया कि विश्वविद्यालयों के साहित्य विभागों में रचना का आलोचनात्मक विश्लेषण ही सिखलाया जाता है। कैसे लिखें, जैसे बुनियादी प्रश्न साहित्य के पाठ्यक्रम में नहीं हैं।

स्कूलों से सार्वजनिक पुस्तकालय को जोड़ना बड़ा क़दम होगा। साक्षरता को शिक्षा, सृजन और अभिव्यक्ति से जोड़ने के अच्छे परिणाम सामने हैं। साक्षरता और शिक्षा के प्रसार के साथ यदि अख़बारों तथा पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी है तो रचनाकारों की संख्या भी बढ़ी है। इनके प्रशिक्षण के लिए कार्यशालाओं का आयोजन पहले होता ही नहीं था। अब होने लगा है पर उसकी संख्या ऊँट के मुँह में जीरा के समान है। पुराना तर्क नहीं चलेगा कि भक्त कवियों ने कौन-सा प्रशिक्षण लिया था। वे आत्म-प्रशिक्षित थे, रियाज़ किया होगा। अब प्रशिक्षण संभव है।

क्या रचना-कर्म के प्रशिक्षण को विश्व-विद्यालय से नहीं जोड़ा जा सकता ? फ़िल्म, टेलीविज़न का प्रशिक्षण कार्यक्रम चल सकता है तो साहित्य-रचना का क्यों नहीं ? इसे वैकल्पिक पेपर के रूप में शामिल करने से निश्चय ही स्थिति बदल सकती है। साहित्य संस्थाओं और लेखक संगठनों को सृजन प्रशिक्षण के लिए आगे आना चाहिए। रचना-विश्लेषण पर अरबों रुपए ख़र्च होते हैं, कुछ करोड़ सृजन पर हों तो रचनाकार छोटी समस्याओं से उबर सकेंगे।

नागर होती जाती कविता को ही मुख्य धारा माना जाता है। लेकिन सचमुच ग्रामीण जीवन से नाभि-नालबद्ध रचनाकार किसान की अनदेखी नहीं करते।

गयादीन के हाथ दबे हैं हालत ख़स्ता है
कैसे आगे बढ़े बाढ़ में ग़ायब रस्ता है
सगुन उठेगा घर में मंगल आनेवाला है
पढ़ने ख़ातिर बेटा बाहर जानेवाला है
दिन पर दिन परिवार बड़ा होता ही जाता है
गाभिन मरी गाय का झटका बिलकुल टटका है
सरकारी क़र्ज़े की चिंता बारी कुर्क़ी की
खोज रहा है घर में ग़ायब डिबिया सुर्ती की॥

ये पंक्तियाँ अत्यंत लोकप्रिय और प्रतिष्ठित गीतकार कैलाश गौतम की हैं। *समकालीन भारतीय साहित्य* के अंक 123 में हमने इन्हें प्रकाशित किया था। पिछले दिनों इस प्रतिभाशाली का निधन हो गया। उनकी स्मृति को नमन।

सॉमरसेट मॉम ने अपनी पुस्तक *ए राइटर्स नोटबुक* में अपने भारत यात्रा के अनुभवों के बारे में लिखा है। ताजमहल या काशी, मदुरै या त्रावणकोर के अनूठेपन ने मॉम को चकित नहीं किया। उसने लिखा है कि केवल भारत के किसानों ने ही मुझे सबसे अधिक विचलित किया था। दारुण, जीर्ण-जर्जर स्थिति में जो जीता है जिस ज़मीन को वह जोतता है, उस ज़मीन के रंग के अँगोछे को छोड़कर ओढ़ने के लिए जिसके पास कुछ नहीं है, भोर में काँपते हुए, भरी दोपहरी में पसीने से नहाए, सूखी बेजान धरती पर सूरज की सांध्य किरणों के पसर आने तक जो श्रम करता है, वह भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम में 3000 वर्ष के सुदीर्घ अतीत से, आर्यों के आगमन से भी पहले, अथक परिश्रम करता आया है जो केवल प्राणरक्षा के लिए मुट्ठी भर अन्न उपजा पाता है, केवल उसी किसान ने मुझे बहुत क्षुब्ध किया था।

डॉ. केशव रेड्डी का तेलुगु लघु उपन्यास *भू-देवता* उसी भारतीय किसान की आधुनिक महागाथा कहता है। केशव रेड्डी वंचितों, शोषितों और हाशियाकृत जनों के अप्रतिम चितेरे हैं जिनसे हिंदी संसार भली-भाँति परिचित है। इनका लघु उपन्यास *आख़िरी झोंपड़ी* हमारे पाठक पहले भी पढ़ चुके हैं। उनकी कृति का प्रकाशन हमारे लिए गौरव की बात है।

हिंदी कथा में अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों से रचनाधर्मिता आ रही है। एक प्रशासक, एक चित्रकार और एक अर्थशास्त्री—उदय सहाय, वंदना देवेंद्र और मनाली चक्रवर्ती—तीनों की पहली हिंदी कहानी विशेष रूप से प्रस्तुत है।

नववर्ष की शुभकामनाओं सहित,

अरुण प्रकाश

प्रेमचंद और बिहार

मैनेजर पांडेय

प्रेमचंद के कथा-साहित्य और उनकी पत्रकारिता में अपार मानवीय संवेदनशीलता, परिवर्तनकारी सामाजिक चेतना है और मूलगामी ऐतिहासिक दृष्टि भी है। उनके कथा-साहित्य में संवेदना और कल्पना की सर्जनात्मकता है तो पत्रकारिता में सूचनाओं की संवेदनशील सजगता। दोनों का लक्ष्य है साधारण भारतीय मनुष्य के सुख-दुख, जय-पराजय, द्वंद्व और दुविधा की ऐसी समझ पैदा करना जो सामाजिक परिवर्तन की चेतना जगाए। कथाकार प्रेमचंद और पत्रकार प्रेमचंद में गहरा रिश्ता है। उनका कथा-साहित्य जनजीवन की ख़बरें भी देता है, लेकिन ऐसे रूप में कि वे ख़बरें एक पाठ के बाद बासी नहीं होतीं और उनकी पत्रकारिता पाठकों को संवेदनशील बनाती है, पर वह भावुकता में डुबाती नहीं। इस तरह कथाकार प्रेमचंद और पत्रकार प्रेमचंद में समानधर्मिता है।

अगर किसी को कथा-साहित्य और पत्रकारिता के आत्मीय संबंध पर संदेह हो तो उसे ग़ाब्रिएल गार्सिया मार्खेज़ के एक कथन पर ध्यान देना चाहिए। मार्खेज़ ने अपनी आत्मकथा लिखी है, जिसका नाम है : 'कहानी कहने के लिए जीना'। उसमें उन्होंने लिखा है : ''मैं आजकल पहले से भी अधिक यह विश्वास करता हूँ कि उपन्यास और पत्रकारिता एक ही माँ की संतानें हैं।'' दुनिया के एक और बड़े उपन्यासकार ओर्हान पामुक ने 19वीं सदी के यूरोप के महान उपन्यासकारों को याद करते हुए लिखा है : ''उनके उपन्यास अपने समय की पत्रकारिता के सहयोगी थे और इसी रूप में वे अपने राष्ट्र की जनता से संवाद करते थे।'' प्रेमचंद, मार्खेज़ और पामुक उनकी ओर से बोलते हैं जिनकी आवाज़ दबी रहती है और जिनके शब्द अनसुने किए जाते हैं। प्रेमचंद के कथा-लेखन और पत्रकारिता के बीच सहज अंतरंगता के कारण ही उनकी भाषा में अनन्य पारदर्शिता है।

प्रेमचंद अपने लेखकीय जीवन में कथा-लेखन और पत्रकारिता का काम साथ-साथ करते रहे। दोनों को समान रूप से ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण मानते हुए। यह कहना मुश्किल है कि उन्होंने लेखन की शुरुआत कथा से की थी या पत्रकारिता से। लेकिन यह सब जानते हैं कि उनके जीवन का आख़िरी समय जिस तरह उनके

ख्यात हिंदी आलोचक मैनेजर
ांडेय का जन्म 1941 में हुआ।
नकी 8 आलोचनात्मक निबंधों
ी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।
ंपर्क : 52, दक्षिणपुरम्,
.एन.यू., नई दिल्ली 110067
ोन : 011-26160261

कथा-लेखन के उत्कर्ष का समय है, उसी तरह उनकी पत्रकारिता के विकास की चरम-स्थिति का समय भी है। जब वे *गोदान* और *क.फ़न* जैसी कथाकृतियों की रचना कर रहे थे तभी वे *जागरण* और *हंस* के माध्यम से अपनी पत्रकारिता को शिखर पर पहुँचा रहे थे। प्रेमचंद ने अपनी पत्रकारिता को जीवित और जाग्रत रखने के लिए अपने कथा-लेखन का बुनियाद की तरह इस्तेमाल किया। कथा-लेखन से प्राप्त आय और यश को *जागरण* और *हंस* के जीवन में लगा दिया। यह आश्चर्य की बात है कि कथाकार प्रेमचंद का हिंदी में जितना और जैसा मूल्यांकन हुआ है, उतना और वैसा पत्रकार प्रेमचंद का नहीं। कथाकार प्रेमचंद एक सहृदय कलाकार थे। उनके हृदय का विवेक साधारण आदमी की हर प्रकार की पराधीनता और यातना के विरुद्ध विद्रोह करता था। पत्रकार प्रेमचंद एक योद्धा की तरह हर प्रकार के अन्याय, शोषण, दमन, धार्मिक पाखंड और सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ लड़ते रहते थे।

बिहार से प्रेमचंद के गहरे संबंध के दो पक्ष हैं। एक तो बिहार की जनता के दुख-दर्द से उनकी गहरी सहानुभूति दिखाई देती है और दूसरे उपन्यासकार प्रेमचंद की कृतियों से बिहार के लेखकों-आलोचकों का गहरा लगाव मिलता है। इस लेख में इन्हीं दो बातों पर विचार करता है :

एक

बिहार की जनता के जीवन की पीड़ा और यातना से प्रेमचंद की हमदर्दी उनकी पत्रकारिता में दिखाई देती है। 15 जनवरी, 1934 को बिहार में एक भीषण भूकंप आया था, जिससे जनजीवन बहुत तबाह हुआ था। प्रेमचंद ने 22 जनवरी, 1934 से 7 मई, 1934 तक लगातार सत्रह लेख और टिप्पणियाँ लिखकर बिहार की जनता के दुख-दर्द को वाणी दी। प्रेमचंद के लिए पत्रकारिता जनसेवा का माध्यम थी। वे जनजीवन के दुः से बेचैन होते थे। पिछले कुछ वर्षों में भी भीष भूकंप आए हैं, जिनसे बहुत बर्बादी हुई है। लेकि उन भूकंपों से पैदा हुई विपत्तियों को आज क पत्रकारिता दो-तीन दिनों से अधिक याद नह करती, जबकि प्रेमचंद ने पाँच महीने तक बिह के भूकंप से पैदा हुई तबाही पर लिखा औ जनता की समस्याओं को व्यापक समाज सामने रखा। प्रेमचंद के उन लेखों और टिप्पणि को पढ़ते हुए कोई भी पाठक उनकी सामाजि संवेदनशीलता, दुविधारहित समझ, सच क के साहस और दो टूक भाषा से प्रभावित बिना नहीं रहेगा।

बिहार के भूकंप के प्रभाव का वर्णन क समय कथाकार प्रेमचंद की चित्रण-कला ह सामने आती है, जिसमें संवेदनशीलता के सा साथ चित्रमयता भी है। 'वह प्रलयंकर दिव नाम से जो लेख प्रेमचंद ने लिखा था उस एक अंश इस प्रकार है : "दोपहर का समय सब लोग खा-पीकर अपने-अपने कामों में थे कि अचानक हर्राटा हुआ, लोग चौंके, मक से निकले और आसमान की ओर देखने कि कहीं हवाई जहाज़ तो नहीं मँडरा रहा है क्षण मात्र में ही मालूम हुआ कि पृथ्वी काँप है, मकानों के हिलने, फटने और गिर प्रलयकाल का भय भर दिया। बड़ी मुश्कि शाम हुई और रात बीती। दूसरे दिन से सम आने लगे और भय बढ़ने लगा।"

प्रेमचंद प्राकृतिक आपदा पर विचार हुए भी हमेशा अपने सामाजिक दृष्टिको सामने रखते हैं। भारत में जब भी कोई जैसी प्राकृतिक घटना घटती है तो उसके क की पुराणपंथी व्याख्याएँ सामने आने लग बिहार के भूकंप के प्रसंग में भी यही हो था। प्रेमचंद ने ऐसी व्याख्याओं का ब्यौरा हुए लिखा है : "भारतीय धर्मशास्त्रों और पु

में भी भूकंप के संबंध में बहुत कुछ गपोड़े लिखे मिलते हैं, जिनमें से एक यह भी प्रचलित है कि शेषनाग अपने सहस्रफणों पर पृथ्वी धारण किए हुए हैं और जब वे फणों को बदलते हैं, तभी भूकंप होता है।'' प्रेमचंद यह जानते थे कि रुढ़िवाद पर केवल भारत का एकाधिकार नहीं है, इसीलिए उसी टिप्पणी में उन्होंने यह भी लिखा है : ''जापानी लोग भी किसी समय विश्वास करते थे कि उनका देश एक बृहत् मछली की पीठ पर अवस्थित है और यह मछली किसी कारण अपनी देह को हिलाती है, तभी भूकंप होता है।''

प्रेमचंद ने ऐसी सभी धारणाओं का खंडन करते हुए लिखा है : ''इन सारी निर्मूल धारणाओं को वर्तमानयुगीन विज्ञान ने नष्ट कर दिया है।'' कुछ लोग भूकंप को दैवी कोप कहते थे। प्रेमचंद ने उनसे प्रश्न किया है कि ''क्या दीन, दुखी, दरिद्र, दलित भारत पर ही कोप को आना था या इसे ग़रीब देखकर दैव भी उसे ठोकर मारता है।'' प्रेमचंद ने यह भी लिखा है : ''साधु कहता है, लोग साधु-सेवा भूल रहे हैं इसलिए दैवी-कोप आया है। पंडे भी फ़रमाते हैं, देवताओं में लोगों की श्रद्धा कम हो गई है, इसलिए देवता कुपित हो गए हैं। इसी तरह दफ़्तरों के अमले कहते होंगे, लोग दिल खोल के उनकी पूजा नहीं करते, देते भी हैं तो रोकर, इसलिए कोप आया।'' प्रेमचंद इन सबको उत्तर देते हुए कहते कि ''यह सब स्वार्थियों की उक्तियाँ हैं। न दैवी कोप है, न शेषनाग की करवट। यह एक प्राकृतिक विस्फोट है जो प्राकृतिक कारणों से आया करता है।''

प्रेमचंद भूकंप पर लिखते हुए भी न अपना सामाजिक उद्देश्य भूलते हैं और न राजनीतिक लक्ष्य। वे भूकंप की तबाही की बात करते हुए स्वाधीनता के महत्त्व को याद रखते हैं। बिहार भूकंप नेपाल तक फैला था। उस समय यह ख़बर आई थी कि भूकंप के कारण तबाही नेपाल में भी हुई है। बहुत से मकान गिर गए हैं, लेकिन साथ ही यह भी ख़बर थी कि देवमंदिर एक भी नहीं गिरा है। दूसरी ओर बिहार में अनेक मंदिर और मस्जिद नष्ट हो गए। इस ख़बर पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है : ''ऐसा मालूम होता है कि स्वाधीन नेपाल के देवताओं में कुछ अधिक शक्ति होगी पराधीन भारत के देवता भी आख़िर दुर्बल ही होंगे।''

पत्रकार प्रेमचंद में सच कहने का अपूर्व साहस था और असहमति व्यक्त करने की निर्द्वंद्व निर्भीकता भी थी। बिहार के भूकंप के प्रसंग में गांधी जी ने कहा था, ''हमारे पापों के कारण ही यह भूकंप हुआ है'' और उनकी धारणा में अछूत कहलाने वाले मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार ही महापाप है। दूसरी ओर वर्णाश्रम स्वराज्य संघ वाले महात्मा जी को कोसते और कहते हैं, ''अछूतों को मंदिर में प्रवेश कराने के पाप का ही परिणाम यह भूकंप है।'' प्रेमचंद कहते हैं, ''यह सब व्यर्थ की बाते हैं। भली-भाँति विचार करने पर मालूम हो जाता है कि भूकंप किसी पाप-पुण्य के कारण नहीं हुआ, यह प्रकृति की एक लीला है और भूगर्भ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है।''

भूकंप पर टिप्पणी लिखते समय भी प्रेमचंद की सामंतविरोधी चेतना सजग रहती है। उन्होंने बिहार में राहत कार्य के दौरान देसी रियासतों और सामंतों की कंजूसी को लक्ष्य करके लिखा है, ''जो लोग लाखों रुपए हर साल मोटरों, सैर-तमाशों में ख़र्च कर देते हैं वे ऐसे मौक़े पर दो-दो, चार-चार हज़ार देकर अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकते। अगर डुमराव के राजा पचास हज़ार दान दे सकते हैं तो ऐसे कितने ही महाराजे हैं जो दो-दो चार-चार लाख दे सकते हैं। शायद इतना वे वायसराय की एक-एक दावत में ख़र्च कर देते होंगे।''

बिहार में आई आपदा का सामना करने के लिए सरकार ने 'आकस्मिक प्रकोप बिल' पास किया था, जिसके अनुसार भूकंप पीड़ितों को बहुत कम सूद पर क़र्ज़ देने और दस-पंद्रह वर्षों में उसे वसूल करने का निर्णय लिया गया था। लेकिन इस बिल में एक पेंच यह था कि क़र्ज़ उन्हीं को दिया जाएगा जो जायदाद वाले हैं। प्रेमचंद ने इस सरकारी नीति में मौजूद भेदभाव और खोखलेपन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : ''हम पूछते हैं, जिनकी सारी लेई-पूँजी ज़मीन में धँस गई या जिस-जिस मकानदार के सारे मकान ज़मींदोज हो गए या जिस किसान के खेतों में पानी भर गया, वे ग़रीब किस जायदाद के बल पर क़र्ज़ लेंगे और जिनके पास जायदाद है उन्हें क़र्ज़ देनेवाली एक सरकार ही थोड़े ही है।''

प्रेमचंद के लेखन की एक विशेषता है उनकी व्यंग्य की विशिष्ट कला। उस कला का कमाल कथा-साहित्य में दिखाई देता है और उनकी पत्रकारिता में भी। हिंदी में कबीर ने व्यंग्य को सामाजिक आलोचना का एक हथियार बनाया था और भारतेंदु हरिश्चंद्र ने राजनीतिक आलोचना का। प्रेमचंद ने कबीर और भारतेंदु की व्यंग्य की कला को आत्मसात करते हुए उसे सामाजिक और राजनीतिक आलोचना के हथियार के रूप में विकसित किया और उत्कर्ष तक पहुँचाया। प्रेमचंद की व्यंग्य की कला की धार तब सबसे अधिक तेज़ और मारक होती है जब सामंतवाद और साम्राज्यवाद की आलोचना के लिए उसका प्रयोग होता है। बिहार के भूकंप से हुई तबाही की स्थिति ब्रिटिश जनता को समझाने के लिए मिस्टर एंड्रूज़ ने प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने भाषण में यह भी कहा था कि जिस समय ब्रिटेन संकट में था, भारत ने एक अरब रुपए से उसकी मदद की थी। इस पूरे प्रसंग पर प्रेमचंद ने 07 मई, 1934 को एक टिप्पणी लिखी थी, जिसमें उन्होंने कहा था, ''मि. एंड्रूज़ शायद यह भूल जाते हैं कि भारत भारत है और ब्रिटेन ब्रिटेन दोनों कभी एक नहीं हो सकते।'' इसके बाद प्रेमचंद ने भारतीय समाज में मौजूद सामंती अवशेषों की खरी आलोचना करते हुए व्यंग्य के साथ लिखा है : ''यहाँ के लोग ऋषियों की संतान हैं, उनका सारा जीवन ही यज्ञ होता था भारत आज इस गिरी हुई दशा में भी पचास लाख साधुओं और पाँच करोड़ पंडों-पुजारियों को तरमाल खिला रहा है।'' इसके बाद प्रेमचंद ने ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति को ध्यान में रखकर लिखा है, ''ब्रिटेन तो सारे काम तिजारत के नियमों से ही करता है, वह भला ऐसी भावुकता के झमेले में क्यों पड़ने लगा! भारत उसके माल की मंडी है और उसकी फ़ालतू आबादी के लिए धन कमाने का क्षेत्र।'' प्रेमचंद ने यह भी लिखा है : ''गिरे हुए प्राणियों की मदद करना तो तिजारत का कोई सिद्धांत नहीं है, फिर वह ऐसी बेक़ायदा बातें क्यों करने लगा? वह क्यों ऐसी बात जाने कि कुछ गँवाना पड़े, कुछ वसूल की बात हो तो देखिए कितना मुस्तैद हो जाता है।'' प्रेमचंद जानते थे कि नस्ली भेदभाव साम्राज्यवादी नीति का हिस्सा है, इसलिए उस पर व्यंग्य करते हुए उसी टिप्पणी में आगे लिखा है : ''काले आदमियों की ज़िंदगी की क़दर ही क्या? पच्चीस-तीस हज़ार आदमी ही तो मरे, चलो इतना कूड़ा कम हुआ। ब्रिटेन जो कुछ करेगा, अपनी दुकानदारी! इसके सिवा उसके पास कोई दूसरी नीति नहीं है।''

प्रेमचंद की गहरी दिलचस्पी बिहार के हिंदी साहित्य में थी और साहित्यकारों की गतिविधियों में भी। 21-22 सितंबर को पटना में हिंदी साहित्य परिषद् का वार्षिकोत्सव हुआ था जिसके सभापति थे माखनलाल चतुर्वेदी। प्रेमचंद स्वयं उस उत्सव में शामिल होना चाहते थे, लेकिन बीमारी के कारण वहाँ न जा सके। बाद में वार्षिकोत्सव का समाचार और सभापति का भाषण प्राप्त हो

उन्होंने अक्तूबर, 1935 में एक टिप्पणी लिखी थी। उस टिप्पणी में प्रेमचंद ने अतीत और वर्तमान के संबंध पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उन्होंने सभापति के भाषण की चर्चा करते हुए लिखा है : ''इस भाषण में जीवन है, आदेश है, मार्ग व निदर्शन है और साहित्यसेवियों के लिए आदर्श है, मगर आपने पूर्वजों का जो बोझ मस्तक पर लादने की बात की है, वह हमारी समझ में नहीं आई। हमारा ख़याल है कि हम पूर्वजों का बोझ ज़रूरत से ज़्यादा लादे हुए हैं और उसके बोझ के नीचे दबे जा रहे हैं। हम अतीत में रहने के इतने आदी हो गए हैं कि वर्तमान और भविष्य की जैसे हमें चिंता ही नहीं रही। प्राचीन हमें अगर आदर्श और मार्ग देता है तो उसके साथ ही रूढ़ियाँ और अंधविश्वास भी देता है।'' इस टिप्पणी में प्रेमचंद ने पश्चिम के लोगों के जीवन संबंधी दृष्टिकोण और व्यवहार से भारतीयों के दृष्टिकोण और व्यवहार की तुलना करते हुए लिखा है : ''पश्चिम के नाविक समुद्र के तूफ़ान का मुक़ाबला करके संसार को जीत रहे थे और हमारे बाबा-दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वजों ने जिस वस्तु की तपस्या की वह उन्हें मिली या मिलेगी। जिसके लिए संसार मिथ्या हो और दुख का घर हो, उसकी यदि संसार उपेक्षा करे तो उन्हें शिकायत का क्या मौक़ा है ?''

22-23 फ़रवरी, 1936 को पूर्णिया में बिहार का प्रांतीय साहित्य सम्मेलन हुआ। प्रेमचंद व्यस्तता, थकान और बीमारी के बावजूद, अमृतराय के शब्दों में ''चौबीस घंटे का बहुत लंबा और ऊबाने वाला सफ़र करके अगले दिन 12 बजे'' पूर्णिया पहुँचे और ''मुश्किल से आठ-नौ घंटे रहकर उसी चौबीस घंटे के सफ़र के लिए रवाना हो गए।'' प्रेमचंद की इस यात्रा पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए अमृतराय ने लिखा है : ''यह हो क्या गया है, मुंशी जी को ? मुंशी जी जो इतने यात्रा-भीरू थे, यकबयक ऐसे यात्रा-शूर कैसे हो गए ? हिंदुस्तानी और प्रगतिशील साहित्य का भूत सवार है आजकल सर पर, जहाँ जिस मंच से अपनी बात कह सकें।'' इसी आकांक्षा और उद्देश्य से प्रेमचंद पूर्णिया के सम्मेलन में गए थे। वहाँ से लौटकर उन्होंने पूर्णिया सम्मेलन के बारे में मार्च, 1936 में एक टिप्पणी लिखी थी, जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया था, ''हमें नहीं मालूम था कि कविता में खड़ी बोली के व्यवहार की प्रेरणा पहले बिहार में हुई और हिंदी साहित्य सम्मेलन की कल्पना भी बिहार की ही ऋणी है।'' इस टिप्पणी में प्रेमचंद जी ने हिंदी-उर्दू की एकता पर ज़ोर दिया है और यह भी लिखा है : ''हिंदी और उर्दू को हम जहाँ तक मिलाए रख सकें वहाँ तक मिलाए रखने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भाषा के भेद को अगर मिटाया जा सके तो हमें इसमें हानि के बदले लाभ ही नज़र आता है।'' इस टिप्पणी के अंत में उन्होंने ऐसी कविता की माँग की है जिसमें जागृति पैदा करने की शक्ति हो और साथ ही उन्होंने उदाहरण के लिए इक़बाल की एक कविता का अंश उद्धृत किया है। इक़बाल प्रेमचंद के प्रिय कवि थे। उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन के अध्यक्ष पद पर जो भाषण दिया था उसमें कई बार इक़बाल की कविता उद्धृत की है। कवि इक़बाल की क्रांतिकारी चेतना से वे एकता अनुभव करते थे। इस टिप्पणी में कविता के बारे में जो राय व्यक्त की गई है उसकी प्रतिध्वनि प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण में सुनाई देती है।

दो

प्रेमचंद की उपन्यास-कला के निखार, उसके महत्त्व की समझ का विस्तार, उसकी विश्वसनीय

व्याख्या और उसके समुचित मूल्यांकन में कुछ भूमिका बिहार के लेखकों और आलोचकों की भी है। इस संदर्भ में लेख के इस भाग में शिवपूजन सहाय, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' और नलिनविलोचन शर्मा के योगदान की चर्चा है।

प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आए थे। वे हिंदी में कहानियाँ बहुत पहले से लिख रहे थे। लेकिन आरंभ में उपन्यास प्रायः गाढ़ी उर्दू में लिखते थे। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास पहले उर्दू में लिखे गए, लेकिन छपे पहले हिंदी में और फिर बाद में उर्दू में। *सेवासदन, प्रेमाश्रम* और *रंगभूमि* के साथ यही हुआ। प्रेमचंद के जो उपन्यास उर्दू से हिंदी में या हिंदी से उर्दू में आए उनके रूपांतरण का काम वे ख़ुद कम ही करते थे। इस काम में वे प्रायः दूसरों की मदद लेते थे।

रंगभूमि पहले उर्दू में लिखा गया, लेकिन छपा पहले हिंदी में। फिर उसे उर्दू में रूपांतरित किया गया और नाम हुआ *चौगाने-हस्ती*। उसकी भूमिका में प्रेमचंद ने स्वयं लिखा है कि "अगर्चे रंगभूमि पहले उर्दू में ही लिखी गई थी, मगर उसका उर्दू एडीशन हिंदी एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिंदी एडीशन तैयार करते वक़्त उर्दू मसविदे में इतनी तरमीम हो गई कि वह उस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबवाब (अध्यांय) हिंदी में और बढ़ा दिए गए। उन्हें दोबारा उर्दू मसविदे में शामिल करना ज़रूरी था। इसीलिए सारा उर्दू मसविदा हिंदी मसविदे के मुताबिक करके दोबारा लिखना पड़ा। मैं अपने करमफ़र्मा मुंशी इक़बाल वर्मा 'सेहर' साहब हितगामी का बेहद ममनून हूँ कि उन्होंने इस बार को अपने ज़िम्मे लिया और किताब को इस सूरत में तैयार कराया जिसमें आज वह आपके सामने हाज़िर है।"

हिंदी में *रंगभूमि* के पाठ के तैयार होने और उसके छपने की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं है। इस कहानी में शिवपूजन सहाय की भूमिका अत्यंत दिलचस्प है। उसे आप स्वयं शिवपूजन सहाय के शब्दों में पढ़िए। शिवपूजन सहाय ने प्रेमचंद के संस्मरण में लिखा है : "मुझे प्रेमचंद जी के सुप्रसिद्ध उपन्यास *रंगभूमि* की पांडुलिपि प्राप्त हुई, जो पहले से भार्गव जी (दुलारे लाल भार्गव) के पास आ चुकी थी। मैंने सुना था कि वे (प्रेमचंद) पहले उर्दू में कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं, फिर हिंदी के किसी जानकार से नागराक्षरों में लिखवाते हैं। पर जब *रंगभूमि* की कॉपी मिली, मेरे आश्चर्य और आनंद का ठिकाना न रहा। सारी कॉपी प्रेमचंद की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दों में ख़ासा एक बड़ा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट, कहीं काट-छाँट नहीं, मानो पूरी पुस्तक एक साँस में लिखी गई हो। भार्गव जी के 'गंगा पुस्तकमाला' की पुस्तकों का संपादन जिन नियमों के अनुसार होता था उन नियमों को मैं जान चुका था। जब मैं *रंगभूमि* की कॉपी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पचासों पन्ने उलट जाने के बाद अचानक उत्तरदायित्व का ज्ञान होता, फिर पीछे लौटकर नियमों की पाबंदी करनी होती। कुछ हिंदी शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन शैली तो गंगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बँधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएँ इधर-उधर हुईं। कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पाँ किए गए। प्रेस कॉपी तैयार हो गई।" इस संस्मरण में कहानी जितनी सीधी और सरल है, वास्तव में ऐसी न थी। शिवपूजन सहाय ने प्रेमचंद के प्रति अपने आदर और अपनी स्वाभाविक विनयशीलता के कारण *रंगभूमि* के संपादन में अपनी भूमिका को बहुत कम आँका और प्रस्तुत किया है। *रंगभूमि* की कथा-भाषा ललित है और जानदार भी, साथ ही उसकी संरचना अत्यंत सुगठित है।

रंगभूमि की ये विशेषताएँ शिवपूजन सहाय की क़लम की देन हैं जो लोग शिवपूजन सहाय की मनोरम भाषा और अनूठी गद्य-शैली से परिचित हैं, उन्हें *रंगभूमि* की भाषा और शैली में शिवपूजन सहाय की छाप पहचानने में कठिनाई नहीं होगी। स्वयं प्रेमचंद शिवपूजन सहाय की मनोहर भाषा के कायल थे। उन्होंने 22 फ़रवरी, 1925 के एक पत्र में शिवपूजन सहाय को लिखा था, ''प्रिय शिवपूजन सहाय जी, बंदे। मुझे तो आप भूल ही गए। लीजिए, जिस पुस्तक पर आपने कई महीने दिमाग़रेजी की थी, वह आपका अहसान अदा करती हुई आपकी ख़िदमत में जाती है और आपसे विनती करती है कि मुझे दो-चार घंटे के लिए एकांत का समय दीजिए और तब आप अपनी निस्बत जो राय क़ायम करें वह अपनी मनोहर भाषा में कह दीजिए।''

सामान्य रूप से हिंदी साहित्य और विशेष रूप से हिंदी आलोचना में व्याप्त रूढ़िवाद के कारण आधुनिक काल के अनेक महान लेखकों और कवियों को उग्र विरोध का सामना करना पड़ा है, ओछे आरोप सहने पड़े हैं और गहरी मानसिक यातना से भी गुज़रना पड़ा है। हिंदी साहित्य और आलोचना में मौजूद रूढ़िवाद के सबसे अधिक शिकार प्रेमचंद और निराला हुए हैं। प्रेमचंद और निराला का उग्र विरोध करने वालों का रूढ़िवाद केवल साहित्य तक सीमित नहीं था। वह उनके सामाजिक दृष्टिकोण में भी मौजूद था। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि साहित्य का रूढ़िवाद सामाजिक रूढ़िवाद को ढँकने का साधन था।

प्रेमचंद ने हिंदी कथा-साहित्य की संस्कृति को बदला। भारतीय समाज के जो हिस्से, समुदाय और व्यक्ति, समाज की मुख्यधारा से अलग हाशिए पर रहने के लिए मजबूर थे, वे साहित्य के भी हाशिए पर रहने के लिए अभिशप्त थे। प्रेमचंद के कथा-साहित्य में प्रायः समाज के बहिष्कृत, उपेक्षित, अदृश्य और बेजुबान जन को जगह मिली। उन्हें प्रेमचंद ने अपने कथा-संसार का नागरिक बनाया और नायक भी। यही नहीं, उन्होंने अपने कथा-साहित्य में उन्हें खलनायक बनाया जो पहले नायक हुआ करते थे। *रंगभूमि* में जिस सूरदास को नायक बनाया गया है वह ग़रीब, अंधा, भिखारी और दलित है, पर प्रेमचंद के शब्दों में उसकी अंतर्दृष्टि खुली हुई है। वह अपने अदम्य साहस और संघर्ष के कारण *रंगभूमि* उपन्यास का ही नहीं, अपने समय और समाज का भी नायक बनता है। *रंगभूमि* में खलनायक हैं ठाकुर महेंद्र प्रताप और जॉन सेवक, जो समाज में नायक बने घूमते थे। साहित्य की इस संस्कृति के परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि सामान्य जन भी स्वयं को साहित्य-संसार का नागरिक समझने लगा। यही बात साहित्य और समाज के संदर्भ में रूढ़िवादी दृष्टिकोण रखने वालों को परेशान करती थी और वे बौखलाहट में प्रेमचंद पर आक्रमण करते थे तथा उन पर तरह-तरह के आरोप भी लगाते थे।

जब तक प्रेमचंद उर्दू में उपन्यास लिखते रहे तब तक हिंदी वालों को उनकी चिंता नहीं थी। लेकिन जैसे ही उनके उपन्यास हिंदी में प्रकाशित होने लगे वैसे ही उन पर आक्रमण और ओछे आरोपों का दौर शुरू हुआ। आरोप लगाने और आक्रमण करने वालों में श्रीनाथ सिंह, अवध उपाध्याय, हेमचंद्र जोशी, रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख, ज्योति प्रसाद निर्मल और नंददुलारे वाजपेयी आदि प्रमुख थे। प्रेमचंद को नक़लची, घृणा का प्रचारक, हिंदू-द्रोही, ब्राह्मण विरोधी आदि कहा गया। एक आलोचक उन्हें 'उपन्यास सम्राट' कहे जाने पर व्यंग्य करता था तो दूसरा उन्हें उथला और प्रचारक साबित करता था। रीतिवाद और कलावाद के पुजारी प्रायः प्रेमचंद को असफल कथाकार या दूसरे दर्जे का उपन्यासकार कहते थे। इन सब आरोपों को सुनते

और सहते हुए प्रेमचंद जिस मानसिक दशा से गुज़र रहे थे उसकी अभिव्यक्ति 14 नवंबर 1934 को बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में इस रूप में हुई है, ''किसकी बुराई करने वाले लोग नहीं हैं। ख़ुद मेरे चारों तरफ़ बुरा-भला कहने वाले जमा हैं जो मुझ पर चोट करने का एक भी मौक़ा हाथ से जाने न देंगे। एक समय ऐसा था, जब किसी की एक अमित्रतापूर्ण चोट से मैं रात की रात जागता रह जाता था, आँखों की नींद उड़ जाती थी। मगर अब वह हालत गुज़र चुकी है और मैं अपने आप को पहले से कहीं ज़्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। मतभेद सदा रहेंगे, लेकिन उनकी चिंता हम क्यों करें। सब लोग मेरी प्रशंसा नहीं करेंगे और न यही कहा जा सकता है कि मैंने जो कुछ लिखा है, सब का सब निर्दोष है।'' इसी पत्र में प्रेमचंद ने यह भी लिखा है कि, ''वातावरण में ईर्ष्या और संकीर्णता छाई हुई है।''

ऐसे ही वातावरण में जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' आगे आए, प्रेमचंद के पक्ष में खड़े हुए और *प्रेमचंद की उपन्यास-कला* नाम की पुस्तक लिखी, जिसका पहला संस्करण 1933 में वाणी मंदिर प्रेस, छपरा से छपा। इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने *माधुरी* के जून, 1923 के अंक में 'साहित्यिक कला और प्रेमाश्रम' शीर्षक लेख लिखकर *प्रेमाश्रम* पर लगाए जाने वाले आरोपों का उत्तर दिया था। *प्रेमचंद की उपन्यास-कला* नामक पुस्तक का पहला संस्करण जब छपा था तब तक *गौदान* का प्रकाशन नहीं हुआ था। जब *प्रेमचंद की उपन्यास-कला* का दूसरा संस्करण 1941 ई. में छपा तब तक *गोदान* प्रकाशित हो चुका था और प्रेमचंद स्वर्गीय हो चुके थे। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' से प्रेमचंद की आत्मीयता थी। 'द्विज' ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण के विषय-प्रवेश में यह संकेत दिया है कि प्रेमचंद ने उन्हीं के अनुरोध पर अपने उपन्यास का नाम *गौदा*[न] के बदले *गोदान* रखा।

जिस समय 'द्विज' ने *प्रेमचंद की उपन्यास-कला* नामक किताब लिखी वह प्रेमचंद, निराल[ा] और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का समय था। उ[स] समय साहित्य का लक्ष्य था लोकमंगल—रचन[ा] में और आलोचना में भी। प्रेमचंद ने अप[ने] उपन्यासों में लोकमंगल की स्थापना के लिए ज[ो] कला-साधना की थी उसी का विवेचन इ[स] पुस्तक में है। प्रेमचंद के आलोचक उन्हें उपदेश[क] और प्रचारक कहते थे। इस बात को याद कर[ते] हुए 'द्विज' ने लिखा है : ''इनके आदर्शवाद के कारण कुछ लोग इन्हें उपदेशक या प्रचारक क[ी] संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनक[ा] ऐसा समझना कहाँ तक युक्तिसंगत है, वे ही जानें। हम तो यही समझते हैं कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया ही नहीं जा सकता।'' 'द्विज' ने अपना साहित्[य] संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है ''जो कलाकार अपनी कला में उच्च आदर्शों क[ी] प्रतिष्ठा नहीं करता वह और क्या करता है उसकी कला का अस्तित्व ही फिर किसलि[ए] है? पवित्र उद्देश्य तथा नीति से संबंध रख[ने] वाले लोकोपयोगी विचारों का बहिष्कार कर[के] कला के मंगलमय रूप का विधान कैसे कि[या] जा सकता है?''

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' प्रेमचंद के युगांतरकारी महत्त्व को समझ रहे थे और उ[स] की व्याख्या के लिए उन्होंने यह पुस्तक लिख[ी] थी। उनके अनुसार प्रेमचंद के उपन्यासों [का] एक महत्त्व यह है कि उनके कथा-साहित्य [की] व्यापकता बहुत है। उन्होंने लिखा है : '' (प्रेमचंद) केवल पारिवारिक जीवन का [चि]... या किसी संप्रदाय विशेष की दुरावस्थाओं [का] वर्णन उपस्थित करके ही अपना काम पूरा न[हीं] कर लेते, अपने विस्तृत समाज और विशाल रा[...]

की व्यापक और गंभीर समस्याओं पर पूरा-पूरा प्रकाश डालते हुए, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विभक्त सांसारिक जीवन की विशद् व्याख्या करना भी इनका उद्देश्य रहता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये जीवन-व्यापार के प्राय: सभी क्षेत्रों से कथा-सामग्री का संचय किया करते हैं। किसान, ज़मींदार, राजा, रंक, साधु, चोर, हाकिम, पुलिस, वकील, विद्यार्थी, अध्यापक, राजनीतिज्ञ, धर्मनीतिज्ञ, सुधारक, प्रचारक, देशसेवक, पंडे, गुंडे आदि सभी प्रकार के लोगों की जीवन-घटना के रंग-बिरंगे चित्र खींचकर ये हमारे मनोवैज्ञानिक अध्ययन की पूरी-पूरी सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि इनकी इस सामग्री में हमें अपने जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, सुदृढ़ और शिक्षामय बनाने की सुविधाएँ प्राप्त हों।" 'द्विज' जी ने ठीक ही लिखा है कि प्रेमचंद के उपन्यासों की यह वस्तु संबंधी विविधता सचमुच बेजोड़ है।

प्रेमचंद की उपन्यास-कला में वस्तु-विन्यास के विवेचन के दौरान ही प्रेमचंद की विलक्षण पर्यवेक्षण शक्ति का विश्लेषण है जिससे उनकी सर्जनात्मक कल्पना की क्रियाशीलता सामने आती है। 'द्विज' जी ने ठीक ही लिखा है : "अपने समय के भारतीय औपन्यासिकों में ये ही ऐसे सर्वदर्शी कलाकार हैं, जो अपने सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण के समस्त उपकरणों को बार-बार उलट-पुलटकर देखते रहते हैं और उस वातावरण में पलने वाले मानव-स्वभाव के एक-एक अंग को ख़ूब अच्छी तरह पहचानते हैं।" 'द्विज' के अनुसार इसी पर्यवेक्षण शक्ति के कारण उनकी दृष्टि "कहीं-कहीं लोक-स्वभाव के अत्यंत सुंदर चित्र अंकित करती चलती है।" अपूर्व पर्यवेक्षण शक्ति के कारण ही उनके चरित्र-चित्रण में सजीवता आती है और संपूर्णता भी। इसीलिए उनके चरित्रों में स्वाभाविकता भी मिलती है। प्रेमचंद उपन्यास को 'मानव-चरित्र का चित्र' मानते थे। अपनी इसी मान्यता और सृजनशीलता के बल पर उन्होंने अविस्मरणीय चरित्रों की सृष्टि की है।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में कथोपकथन का विशेष महत्त्व है। कथोपकथन के माध्यम से वे अपने उपन्यासों और कहानियों में व्यंग्य और विनोद का ऐसा प्रयोग करते हैं, जिससे एक ओर कोई-न-कोई मनोवैज्ञानिक सत्य प्रकट होता है तो दूसरी ओर कोई-न-कोई सामाजिक विडंबना भी। 'द्विज' ने उनके उपन्यासों में प्रयुक्त कथोपकथन की विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह लिखा है : "कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य पात्रों के चरित्र की मनोरंजन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना ही होता है। इनके पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप अधिकतर वही किसी प्रकार की नवीन घटना या स्थिति का चित्रण कर सकता है जहाँ वह उनके (पात्रों के) किसी प्रकार के स्वाभाविक भावावेश को उत्तेजित करने का अवसर पा जाता है।"

प्रेमचंद के उपन्यासों पर बार-बार यह आरोप लगाया जाता था कि उनमें समसामयिकता बहुत है, चिरंतनता नहीं। 'द्विज' शाश्वततावादियों के इस आरोप से परिचित थे, इसलिए उन्होंने 'देशकाल का प्रतिबिंब' नामक अध्याय में लिखा है : "प्रेमचंद जी के उपन्यास या तो सामाजिक समस्याओं से संबंध रखने वाले होते हैं या राष्ट्र की चलती हुई राजनीतिक समस्याओं से, किंतु समाज या राष्ट्र के किसी एक ही अंग को पकड़कर ये नहीं चलते, उसके भिन्न-भिन्न अंगों तथा स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए, ये देशकाल का जो मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं, उसमें इतिहास की सच्चाई भी रहती है और कला की सुंदरता भी।" 'द्विज' ने यह भी लिखा है : "प्रेमचंद हमारे नीरव अतीत को अपनी कल्पना के आँगन में कभी नहीं बुलाते, बोलते हुए वर्तमान

से ही हमारा साक्षात्कार कराते हैं।'' प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर समसामयिकता और अख़बारीपन का आरोप लगानेवालों को ध्यान में रखकर 'द्विज' ने लिखा है : ''अपनी कृतियों में अपने समय का सर्वांग सुंदर चित्र उतारना यदि साहित्यिक अक्षमता है तो इसी अक्षमता के नाते प्रेमचंद जी भारतीय कथा साहित्य के संसार में आज अपने समय के सबसे बड़े विश्वस्त प्रतिनिधि कलाकार कहे जा सकते हैं।''

प्रेमचंद के समकालीन शाश्वततावादी आलोचक यह शाप दिया करते थे कि प्रेमचंद के उपन्यासों का कोई स्थायी महत्त्व नहीं है। इस शाप का उत्तर देते हुए 'द्विज' ने लिखा है कि प्रेमचंद की रचनाएँ सामयिक होकर भी सर्वकालीन हैं, क्योंकि, ''सामयिकता का आश्रय ग्रहण किए बिना कोई भी कला अपनी स्वाभाविकता और सजीवता का सच्चा प्रभाव अभिव्यक्त नहीं कर सकती, अपने समय का सच्चा चित्र खींचे बिना कोई भी कलाकार अपनी कला के द्वारा लोकधर्म का पालन नहीं कर सकता।''

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की उपन्यास की समझ अपने समय के अन्य आलोचकों से अधिक विकसित है। वे उपन्यास और इतिहास के गहरे संबंधों को पहचानते हैं, इसलिए उन्होंने प्रेमचंद के उपन्यासों के स्थायित्व की ओर संकेत करते हुए यह लिखा है : ''इनका साहित्य आगे चलकर हमारे युग के इतिहास का भी काम करेगा। हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय अवस्थाओं के स्वरूप-परिवर्तन की जो चेष्टाएँ की जा रही हैं, उनसे हमारे जातीय इतिहास का स्वरूप भी बदल जाएगा और आने वाली पीढ़ी के लोग इन्हीं *प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि* आदि उपन्यासों के द्वारा हमारे युग की मूल प्रवृत्तियों का सच्चा परिचय प्राप्त करेंगे। यह संभावना भी इनकी कला के स्थायित्व का एक आधार है।'' साहित्य और इतिहास के बीच ऐसा ही संबंध प्रेमचंद भी मानते थे। उन्होंने लिखा है : ''साहित्य अपने समय का इतिहास होता है, इतिहास से कहीं अधिक सत्य। आज इतिहास, समाजशास्त्र और राजनीतिक शास्त्र के विचारक प्रेमचंद की रचनाओं के आधार पर उत्तर भारत के जनजीवन के इतिहास की खोज का जो प्रयत्न कर रहे हैं उनसे जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की मान्यता की पुष्टि होती है।''

प्रेमचंद के ज़माने के कुछ आलोचक हिंदी और अन्य भाषाओं के उपन्यासकारों से प्रेमचंद की तुलना करते हुए उनको छोटा और सतही उपन्यासकार घोषित करते थे। इस बात को ध्यान में रखकर 'द्विज' जी ने अपनी पुस्तक में हिंदी के जयशंकर प्रसाद, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक', वृंदावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि से प्रेमचंद की तुलना की है और साथ ही बाङ्ला के रवींद्र और शरत्, अंग्रेज़ी के हार्डी और गॉल्सवर्दी तथा रूसी के गोर्की से भी। इस तुलनात्मक आलोचना की प्रक्रिया में 'द्विज' जी ने प्रेमचंद की सामाजिक दृष्टि, राजनीतिक चेतना और कथा की कला की विशिष्टता का विस्तार से विवेचन किया है। इस पूरे तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'द्विज' एक बहुपठित और सुलझे हुए आलोचक थे। रामविलास शर्मा ने *प्रेमचंद* नामक अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में 'द्विज' जी की पुस्तक के महत्त्व का विवेचन इन शब्दों में किया है, ''जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक *प्रेमचंद की उपन्यास-कला* प्रेमचंद पर, मेरी जानकारी में, पहली आलोचना-पुस्तक है, वह निश्चय ही प्रेमचंद के उपन्यासों पर ध्यान केंद्रित करनेवाली पहली पुस्तक है और प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रेमचंद-साहित्य का विश्लेषण करनेवाली भी वह पहली पुस्तक है। प्रेमचंद अपने कथा-साहित्य में जो दृष्टि अपनाते हैं, उसी का प्रतिफलन झा की आलोचना है।

इस प्रकार मूल कथा-साहित्य और उसकी आलोचना में यहाँ ज़बर्दस्त सामंजस्य है। यह इस पुस्तक का युगांतकारी महत्त्व है।''

प्रेमचंद हिंदी-उर्दू के सबसे लोकप्रिय कथाकार हैं, यह उनके परम विरोधी भी मानते हैं। कुछ लोग उनको प्रगतिशील राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि का कथाकार होने के कारण महत्त्वपूर्ण समझते हैं, लेकिन प्रेमचंद की उपन्यास-कला की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले और उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले बहुत कम आलोचक हैं। ऐसे एक आलोचक हैं नलिन विलोचन शर्मा। यह कहने वाले पहले भी बहुत लोग रहे हैं और आज भी हैं कि प्रेमचंद की कहानियाँ तथा उपन्यासों में कला का उत्कर्ष नहीं है। नलिन जी की प्रेमचंद संबंधी आलोचना की केंद्रीय विशेषता है—कथाकार प्रेमचंद की रचनाओं की कला के उत्कर्ष की व्याख्या। नलिन जी ने प्रेमचंद जी को युगांतरकारी महत्त्व का कथाकार माना है। इसलिए वे हिंदी उपन्यास के इतिहास को प्राक् प्रेमचंद युग और प्रेमचंदोत्तर युग में विभाजित करते हैं। उन्होंने लिखा है : ''प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं।'' वे यह भी कहते हैं कि *गोदान* की रचना करने वाले प्रेमचंद ही हिंदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं।

प्रेमचंद ऐसे लेखक थे जो बिना कोई शोर-हंगामा किए अपनी रचनात्मक क्षमता के बल पर किसी साहित्य की संस्कृति को बदलता है। इस सत्य को पहचानते हुए नलिन जी ने लिखा है : ''उन्होंने आलोचना के प्रतिमानों को चुनौती न देकर नए मूल्य स्थापित किए। हंगामा ज़रा भी न हुआ और परिवर्तन बहुत बड़ा हो गया, ख़ून की एक बूँद गिरे बिना क्रांति हो गई।'' यह कवि नलिन विलोचन शर्मा का कथन है जिसका जितना अर्थ सामने है उससे अधिक ओट में है।

नलिन जी ने उपन्यास की एक नई समझ के आधार पर प्रेमचंद के उपन्यासों के महत्त्व का विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि समाज के स्वरूप से साहित्य के रूप का आत्मीय संबंध होता है, इसलिए समाज के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के रूपों में भी परिवर्तन होता है। यह जगज़ाहिर बात है कि कविता में महाकाव्य सामंती युग का प्रतिनिधि काव्य-रूप था। इसलिए सामंती युग के अंत के साथ महाकाव्यों की रचना का भी अंत हो गया। यह भी सब लोग जानते हैं कि आधुनिक युग के आगमन के साथ उपन्यास का उदय हुआ और वह आधुनिककाल का प्रतिनिधि साहित्य-रूप बना। जो लोग समाज के स्वरूप से साहित्य के स्वरूप के संबंध को नहीं जानते-पहचानते, वे ही आधुनिक युग के महाकाव्य 'उपन्यास' में सामंती युग के महाकाव्य के लक्षणों की खोज करते हैं और उन्हें न पाकर निराश होते हैं। नलिन जी ने सामंती युग के महाकाव्य से आधुनिक युग के उपन्यास का फ़र्क़ समझाते हुए लिखा है : ''हिंदी उपन्यास का इतिहास किसी भी देश के इतिहास की तरह हिंदी भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है; जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में।'' नलिन जी का यह कथन साबित करता है कि वे अपने समय के हिंदी आलोचकों के सामान्य साहित्य-विवेक से कितना आगे थे और आधुनिक भी।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक टेरी ईगल्टन ने 2006 के अपने एक निबंध में यह लिखा है कि जिस तरह आधुनिक काल के आने से सत्य की खोज का प्रत्यन धर्म और आदर्शवाद के बदले जीवन के अस्तित्व में होने लगा, उसी तरह आधुनिक युग में उपन्यास के उदय के साथ

साधारण आदमी के दैनिक जीवन की गतिविधियों को साहित्य में जगह मिलने लगी। पहले के साहित्य में साधारण लोग दास, सेवक या विदूषक की भूमिका में आते थे, जबकि आधुनिक काल में, और विशेष रूप से उपन्यास में, साधारण मनुष्यों के जीवन के अनुभव साहित्य के केंद्र में आए। यह साहित्य की दुनिया में एक बड़ी क्रांति थी।

प्रेमचंद की उपन्यास-कला का विश्लेषण करते हुए नलिन जी बराबर इस बात को ध्यान में रखते हैं कि साहित्य और कला में नया और सार्थक वही रच सकता है जो अंतर्वस्तु का निरंतर अन्वेषण और नए रूपों का आविष्कार करने में सक्षम हो। नलिन जी के अनुसार प्रेमचंद की महत्त्वपूर्ण देन 'उपन्यास के स्थापत्य से संबद्ध' है। इस स्थापत्य को वे 'समानांतर स्थापत्य शैली' कहते हैं जिसका आविष्कार प्रेमचंद ने *गोदान* में किया था।

प्रेमचंद के अनेक उपन्यासों में समानांतर स्थापत्य शैली की खोज करते हुए और *गोदान* में उसके उत्कर्ष की पहचान करते हुए नलिन जी ने लिखा है : ''स्वयं प्रेमचंद के ही *सेवा सदन* की सुगठित स्थापत्य शैली और *प्रेमाश्रम* या *रंगभूमि* की अंशतः समानांतर स्थापत्य शैली से भिन्न है *गोदान* का स्थापत्य। प्रेमचंद के *गोदान* में ''एक साथ ही एक दूसरे से विच्छिन्न से लगने वाले ग्राम भारत और नगर भारत बलात् ग्रंथित भी हो जाते हैं और विकलांग भी नहीं होते। प्रायः यह कहा जाता रहा है कि *गोदान* में कथावस्तु का बिखराव है, उसमें ग्रामीण और नागरीय जीवन की कथाएँ परस्पर असंबद्ध हैं। नलिन जी ने इस आरोप का उत्तर देते हुए असंबद्धता को *गोदान* के स्थापत्य का गुण माना है और लिखा है कि ''वस्तुतः यही *गोदान* के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असंबद्ध दिखते हैं, पर वे वस्तुतः असंबद्ध नहीं रहते। उनके बीच से जलधारा बहती है। इसी तरह *गोदान* की असंबद्ध-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती जाती है। भारतीय जनजीवन का जो एक ओर नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण और जो एक साथ ही प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिंदी में ही क्यों किसी भी भारतीय उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि *गोदान* का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलनेवाली, अतः अस्पष्ट परिवर्तन की प्रक्रियाओं का चित्रागार नहीं बन पाता।''

नलिन जी ने प्रेमचंद की चित्रण-कला की जैनेंद्र से तुलना करते हुए लिखा है : ''प्रेमचंद के चरित्रों में, कथावस्तु में, वर्णनों में गति रहती है। वे सैकड़ों खंड चित्रों की सहायता से एक ऐसा चल चित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, जो जैनेंद्र के कौशल से सर्वथा भिन्न है।'' उन्होंने यह भी लिखा है : ''प्रेमचंद के चित्र सर्वांगपूर्ण होते हैं, उनमें सादे, पर गहरे रंगों का यथेष्ट समावेश रहता है और उनका अंकन सधी एवं निर्भीक उँगलियों से परिचालित तूलिका के द्वारा होता है।'' प्रेमचंद के चित्रांकन की ये विशेषताएँ उनके उपन्यासों में मिलती हैं और उनकी कहानियों में भी।

प्रायः यह सभी लोग कहते हैं कि प्रेमचंद की भाषा और शैली सरल है और सहज भी। नलिन जी ने प्रेमचंद की भाषा-शैली की इस विशिष्टता की पहचान करते हुए लिखा है : ''शैली की यह सरलता पत्रकारिता की सरलता नहीं है, जीवन की साधारणता को व्यक्त करने की मौलिक और वैशिष्ट्यपूर्ण प्रचेष्टा है।'' प्रत्येक रचनाकार की

भाषाशैली में उसके सोच की शैली प्रतिबिंबित होती है और सामाजिक जीवन से उसके संबंध की शैली भी। प्रेमचंद की शैली में जो सरलता है वह उनकी सोच और जीवन की सरलता की ही अभिव्यक्ति है। *गोदान* की गद्य-शैली की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए नलिन जी ने लिखा है : '' *गोदान* में प्रेमचंद की शैली उर्दू गद्य की आलंकारिकता के निर्मोक से सर्वथा मुक्त हो गई है। *गोदान* की महत्ता का स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त मुख्य कारण है शैली—वह शैली, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता। यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है।''

नलिन विलोचन शर्मा ने कथाकार प्रेमचंद की एक ऐसी विशेषता की ओर संकेत किया है, जिसे सब लोग जानते हैं, लेकिन उसे एक विशेषता के रूप में पहचानते नहीं। वह विशेषता है क़िस्सागोई की। क़िस्सागोई की परंपरा प्रेमचंद ने अनेक स्रोतों से अर्जित की थी। उनके सामने एक ओर दास्तानों की परंपरा थी तो दूसरी ओर 'फ़साना-ए-आज़ाद' की भी। इनके अलावा उन्होंने देवकीनंदन खत्री की कथा-शैली को आत्मसात् किया था और लोककथा की कहन शैली को भी। नलिन जी ने साहित्य के एक व्यापक संदर्भ को ध्यान में रखकर प्रेमचंद की क़िस्सागोई की कला की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है : ''प्रेमचंद पैदाइशी क़िस्सागो थे—एक गुणाढ्य, सोमदेव, अलिफ़ लैलाकार की गहराई और विस्तार लिए हुए, एक बोकैचियो, चॉसर, बॉल्ज़ाक की अशेष उर्वर प्रतिभा वाले गल्पकार।''

प्रेमचंद की अपार लोकप्रियता के कारणों की व्याख्या करते हुए नलिन जी ने लिखा है : ''प्रेमचंद की महत्ता इस बात में निहित है कि उन्होंने दिलचस्प और लोकप्रिय क़िस्सा-कहानी एवं साहित्यिक तथा कलापूर्ण गल्प के बीच की झूठी खाई को मिटा दिया था। तथाकथित उच्चकोटि के साहित्यिक गल्पों में शैली की विशिष्टता और चरित्र तथा भाव के कुशल अंकन के बावजूद, साहित्यिकता की दृष्टि से, हमें क़िस्सा-कहानियों के घटना-वैचित्र्य, प्रवाह, नाटकीयता और मनुष्यता के अभाव खटकते हैं। प्रेमचंद ने साहित्य के इस उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के वैषम्य को अपनी कृतियों से दूर कर दिया था।'' यही कारण है कि प्रेमचंद की कृतियों की लोकप्रियता रामचरितमानस की लोकप्रियता से होड़ करती है।

नलिन जी पर लिखे विनिबंध में गोपेश्वर सिंह ने ठीक ही कहा है, ''प्रेमचंद की कला का नलिन विलोचन शर्मा सा पारखी आलोचक दूसरा न हुआ।'' नलिन जी एक बहुपठित ही नहीं, सुपठित आलोचक हैं, इसीलिए वे प्रेमचंद संबंधी अपनी आलोचना में उनकी कला संबंधी विशिष्टताओं के सुविज्ञ व्याख्याकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी व्याख्या से प्रेमचंद की उपन्यासक कला की अर्थवत्ता सामने आई है और सार्थकता भी प्रकट हुई है। प्राय: अर्थवत्ता रचनानिष्ठ होती है और सार्थकता समाजसापेक्ष।

एन. श्रीधरन

अभिव्यक्ति की जटिलता और तमिल की नई कविता

कुछ दशक पहले तहलका मच गया था कि कविता मर चुकी। क्योंकि विश्वयुद्धों ने मनुष्य की पूरी बर्बरता को अनावृत्त कर दिया और उसके कवि रूप को नष्ट कर डाला। कवि का हृदय भी बाहर की शुष्कता से आक्रांत होकर सूखने लगा। मगर कविता असल में मरी नहीं। मरेगी भी नहीं। उसका गला घोंट देने पर भी फ़िनिक्स पक्षी की भाँति वह बार-बार जीवित हो उठेगी।

हाँ, कविता की उपयोगिता पर शंका करने वालों की संख्या आज पहले से ज़्यादा है। हम कविता से कुछ प्रयोजन भी चाहने लगे हैं ताकि उसे पढ़ने-समझने में जो समय गया वह बेकार सिद्ध न हो। यह दृष्टिकोण कविता का उचित मूल्यांकन नहीं होने देता। अगर कवि आनंद तत्त्व की ओर उन्मुख हो और आलोचक उपयोगितावाद का समर्थन करे तो दोनों के बीच में सामंजस्य नहीं हो सकता। अगर कवि किसी वाद से प्रेरित होकर बौद्धिक पक्ष को प्रधानता दे और आलोचक हृदय पक्ष को, तब भी दोनों के बीच दूरी उपस्थित होती है। इस प्रकार की दूरी को मिटाने के लिए ही आज का कवि नवीन प्रयोगों में लगा रहता है। इन प्रयोगों के कारण वर्तमान युग की कविता को समझने में कहीं-कहीं कठिनाई भी उपस्थित हो गई है। दूसरी ओर, जान-बूझकर समझने की इच्छा न रखना इस कठिनाई को बढ़ा देता है।

नित नए वैज्ञानिक आविष्कारों की वजह से आज जीवन की रफ़्तार बढ़ गई है। धन, यश, पद, सम्मान आदि के लिए सर्वत्र तीव्र स्पर्धा होने लगी है। इसमें सफल होने वाले और भी ऊँचाइयाँ नापने के लिए आगे बढ़ते हैं। उनका जीवन उतना ही उलझनपूर्ण बन गया है। जो इस होड़ में हार गए वे रोगों या कुंठाओं का शिकार हो गए हैं। उनकी ज़िंदगी भी तनावपूर्ण हो गई है। इस उमस भरे वातावरण में कविता भी जटिल रूप धारण करे तो स्वाभाविक ही है। यही नहीं, आगे चलकर कविता और भी जटिलतर बनने वाली है।

पुराने दृष्टिकोण के अनुसार कविता हृदय का उद्गार है और उसकी प्रतिक्रिया भी हृदय पर होती है। लेकिन आजकल तो

तमिल लेखक एवं तमिल-हिंदी के परस्पर अनुवादक एन. श्रीधरन की अनेक अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : डी-2, मंजुला अपार्टमेंट्स, 31, ईयसवरन कॉयल स्ट्रीट, चेन्नै 600033

भावुकता एक कमज़ोरी मानी जाती है। भावुकता की अंगूर लता से कल्पना की हाला खींचना; अब सराहा नहीं जाता। उलटे चौंकानेवाला बौद्धिक चातुर्य वाह-वाही पाता है। जैसे : *सीता जी और रावण / बतियाते एक ओर स्नेह से। / भरत माँग रहा राम जी से / नम्रतापूर्वक दिया-सलाई / अपनी सिगरेट जलाने। / हनुमान जी हँसते लोटपोट होते हैं / 'एडल्ट्स वनली जोक' बिखेरकर। / लक्ष्मण निकला बड़ा रसिक / सीता की तरफ़ देख कटाक्ष किया। / हाँ जी, इस कमरे में हो रहा है / रामायण नाटक का रिहर्सल अभी।*

(कथैपित्तन)*

इस प्रकार कवि बुद्धि का आश्रय लेकर नई कविता लिखता है। अगर आलोचक हृदय पक्ष का आश्रय लेकर इस कविता का मूल्यांकन करे और साथ-साथ वह राम भक्त भी हो तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। आमतौर पर आलोचक को कवि से भी ऊँचा बौद्धिक स्तर वाला होना पड़ता है। चाहे कवि का ज्ञान सीमित हो, आलोचक से उम्मीद की जाती है कि वह अवश्य ही बहुश्रुत हो। क्योंकि नई कविता को प्रथम वाचन में ही समझ लेना कठिन है : *महीने का आख़िरी सप्ताह / हो गया / दब-दबकर / मृत्यु-शय्या पर / मुँह फाड़े / पीठ के बल पड़ा था / कंस रूपी गले को / घोंटने से / बूढ़े मुँह से ख़ून निकला / आख़िरी साँस का / 'सिग्नल' दीख पड़ा।*

(कथैपित्तन)

टूथपेस्ट के ख़त्म हो जाने के बारे में यह कविता है। 'सिग्नल' शब्द में श्लेष है—एक अर्थ है 'सूचक'; दूसरा अर्थ है वह विशिष्ट नामवाला टूथपेस्ट। वर्ण्य विषय मामूली होने पर भी वर्णन की शैली ने कविता को जटिल बना दिया है।

नई कविता का कवि इस प्रकार की जटिलता की ओर इसलिए झुकता है कि आज का वातावरण नया है, नई-नई विषय वस्तुएँ सामने आ रही हैं और जीवन में तूफ़ानी तेज़ी आ गई है। इस पल-पल परिवर्तित होनेवाली परिस्थिति के अनुसार कवि अभिव्यक्ति के अभिनव प्रयोगों में दिलचस्पी लेता है। आलोचक का फ़र्ज़ है कि वह इन प्रयोगों को प्रोत्साहन दे या सहानुभूति के साथ इन पर विचार करे। लेकिन जो प्रयोग के नाम से ही चिढ़ते हैं और जो प्रगति के लिए प्रयोगों की अनिवार्यता को नहीं समझ पाते, उनसे नई कविता का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

पहली बात यह है कि नई कविता का कोई निश्चित रूप-आकार नहीं है। वह छंद-शास्त्र के बंधनों को स्वीकार करके नहीं लिखी जाती। छंद के नियमों का पालन करते समय अकसर कविता की पंक्ति में अनावश्यक शब्दों को ठूँसना पड़ता है। यह नई कविता की प्रकृति के लिए प्रतिकूल है। नई कविता में कोई पंक्ति लंबी होती है तो कोई पंक्ति छोटी। जैसे : *बीस साल तक / जिया ख़ुशी से / आगे तो / ज़िंदा रहते वक़्त तक / रोते बिताऊँगा / क्योंकि / अगले 'जून' में / बन रहा हूँ / मैं एक बी.ए.।*

(सुब्बु रंगनाथन)

इस प्रकार की कविता में पुराने ढंग के आलोचक को माधुर्य की कमी का अनुभव हो सकता है। तब वह नई कविता को गद्य की एक शैली पुकारकर उसका धिक्कार करता है।

नई कविता का कवि पाठक की उँगली पकड़कर उसे इस दशा तक ले जाने को तैयार नहीं है। कुछ एक कवि तो पाठक की इतनी अवहेलना करके कविता लिखते हैं कि क्या मजाल, उनको छोड़कर कोई अन्य व्यक्ति उसे समझ पाए। दो उदाहरण देखिए :

---

* कोष्ठकों में दिए नाम तमिल में नई कविता के पोषक कुछ कवियों के नाम हैं।

जाग पड़ा
उसका एक घुटना
ग़ायब। (ज्ञान कूत्तन)

दिन और रातें
जहाँ अपना वेष उतारकर
सोती हैं वहाँ
रहते हुए,
छायाओं की छायाओं के बारे में,
इनसान के दिल में
मेला लगाकर उमड़ती
उन छायाओं के बारे में
सोचता रहूँगा। (अबि)

यह भी मालूम नहीं होता कि ये कविताएँ कोई गूढ़ार्थ रखती भी हैं या नहीं, क्योंकि इनका शाब्दिक अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। इसका मतलब हुआ कि नई कविता का रचयिता शब्दों पर असाधारण अधिकार रखता है। वह वस्तु को सीधे नहीं दिखाना चाहता। वह वस्तु को पहचानने के लिए पाठक की मात्र भावनाओं को जगा देता है।

कवि अब्दुल रहमान ने बिजली के चमकने के बारे में पुराने ढंग की एक छंदबद्ध कविता लिखी जिसमें 13 पंक्तियाँ हैं। फिर उसे वे जब नई कविता का रूप देते हैं तब केवल चार पंक्तियों में वही अर्थ आ जाता है। वह कविता इस प्रकार है :

आसमान के उत्सव में आतिशबाज़ी
बादल का विष उगलनेवाला अग्नि सर्प
काले होंठ की चमकती बड़बड़ाहट
मेघ गर्जन की आशुलिपि।

इसलिए यह स्पष्ट है कि नई कविता में कसावट है। कवि चाहता है कि वह जितना परिश्रम करके कम शब्दों में अधिकतम अर्थ भर देने का प्रयत्न करता है उसी तरह पाठक व आलोचक भी श्रम उठाने का अभ्यास डालें, ताकि वे भी कवि के अनुभव में साझीदार बनकर साधारणीकरण का अनुभव प्राप्त करें। ऐसी हालत में परिश्रम से कतराने वाला पाठक या आलोचक नई कविता का उचित आदर नहीं कर पाएगा।

'कम शब्द अधिक अर्थ' का नारा लेकर अब कवि साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह प्रतीकों और बिंबों का सहारा लेता है। कवि जितना अध्ययनशील, अनुभवी और कल्पना का धनी है, उतने ही विशाल क्षेत्र से वह प्रतीकों और बिंबों का संग्रह करता है। तब उससे कम प्रतिभा वाला आलोचक उसकी कविता का ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाता। दूसरी कठिनाई यह है कि पाठक या आलोचक कोशार्थ को आधार बनाकर कविता की पंक्तियों को समझने की कोशिश करता है जबकि कवि चाहता है कि पाठक सीधे प्रतीकार्थ पर पहुँच जाए।

साहित्यिक प्रतीक सूक्ष्म होता है। उसे समझने के लिए कविता का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। आज का मनुष्य व्यस्तता के कारण समय नहीं निकाल पाता। अतः वह शिकायत करता है कि नई कविता अस्पष्ट होती है। प्रतीक का प्रयोग इसलिए होता है कि पाठक अर्थ की खोज में इधर-उधर न भटके। वह भावना और विचार को हू-ब-हू प्रकट कर देता है। शर्त यह है कि पाठक भी थोड़ी मशक़्क़त करे।

फूलों में मैंने भी एक
फूल का ही जन्म लिया था
मगर स्वर्णांगुलियों का स्पर्श न मिला
और मैं एक माला का रूप
ले न सका। (मु. मेहता)

कनेर का एक फूल इस प्रकार विलाप करता है। इन पंक्तियों के माध्यम से कवि वयस्क होकर कई वर्ष व्यतीत होने पर भी अविवाहित ही रहने वाली कुँआरियों का रोदन प्रकट करते हैं।

अब्दुल रहमान की एक कविता है : *स्वयंवर की सभा में / नक़ली नलों की भीड़ / हाथ में माला लिए / अंधी दमयंती।*

यह कविता वर्तमान चुनाव प्रणाली के खोखलेपन को सूचित करती है। उम्मीदवार नक़ली नल हैं। हाथ की माला मतों को सूचित करती है। हम दमयंती हैं। मगर हम दृष्टिहीन हैं।

बसुवय्या (सुंदर रामस्वामी) की एक कविता है 'मेरे देखे हुए कुत्ते'। इसमें तरह-तरह के कुत्तों का उल्लेख है जो भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों के प्रतीक हैं। एक कुत्ता बेसमय सोता है। दूसरा अपना मल ख़ुद खा लेता है। तीसरा मक्खियों के पीछे दौड़ता है। एक कुत्ता अगर भूँकना शुरू कर दे तो रुकने का नाम नहीं लेता। एक कुत्ता जलती दोपहरी की धूप में एक कुतिया का पीछा करते-करते ठुकराया जाता है। तब वह निराश होकर स्कूल से निकलनेवाली लड़कियों के पीछे-पीछे चलने लगता है। कविता का अंत इस प्रकार होता है : *मेरे देखे हुए कुत्तों का स्वभाव / पूँछ-पूँछ का भिन्न होता है / मगर / खाते समय बाधा डालें तो / लपककर छीनने में / ये सबके सब / कुत्ते हैं एक जैसे।*

काल-प्रवाह में प्रतीक घिसने लगते हैं। तब कवि वर्तमान जीवन में से नए प्रतीकों की सृष्टि करता है। कवि की मौलिक प्रतिभा के बल पर स्थापित इन प्रतीकों को समझना पुराने प्रतीकों के प्रयोग से अभ्यस्त पाठकों के लिए सरल नहीं है।

देवतच्चन नामक कवि की एक रचना है, 'मेरे घर का ताक'। उसमें कुछ नए प्रतीक देखने को मिलते हैं : *लोहे की पेटी में नहीं / कूड़े की टोकरी में नहीं / ताक पर पड़ी रहती हैं / मुझसे अखाद्य / जूठी भूमि।*

कवि अपने जीवन की निस्सारता से परेशान होकर इस प्रकार कहते हैं। वे न तो भविष्य के प्रति आश्वस्त हैं और न भूत से उनको छुटकारा मिलता है। लोहे की पेटी सुरक्षा, अर्थात् भविष्य का प्रतीक है। कूड़े की टोकरी कल की, भूत की अनावश्यक वस्तुओं का प्रतीक है। वे वर्तमान को थोड़ा चखने पर कड़वापन का अनुभव करके उसे ऐसे ही ताक पर रख देते हैं। हम ताक पर ऐसी वस्तुओं को ही रखते हैं जो वर्तमान के लिए उपयोगी नहीं हैं।

जटिलता की मात्रा तब बढ़ जाती है जब एक ही प्रतीक भिन्न-भिन्न अर्थ में दो कवियों के द्वारा प्रयुक्त होता है। गुलाब का फूल कोमलता का प्रतीक भी हो सकता है, साम्यवादी क्रांति का भी। ताजमहल प्रेम का प्रतीक भी हो सकता है, कारीगरों के शोषण का भी। तब पूरा आशय समझने के लिए हमें कवि की पृष्ठभूमि और उसके जीवन-दर्शन पर ध्यान देना पड़ता है।

ऐसा भी होता है कि एक ही कवि अपने जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही प्रतीक को भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रस्तुत करता है। तब सही अर्थ समझने के लिए कवि के व्यक्तिगत जीवन में भी झाँककर देखना पड़ेगा। कभी कवि ऐसे प्रतीक का प्रयोग भी करता है जो उसके निजी अनुभव का निचोड़ है। तब उसको समझने के लिए कवि का मनोविश्लेषण भी करना पड़ेगा।

कविता को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उपमा और रूपक से काम लिया जाता है। बालू की ज़मीन को चाँदनी का ढेर, झरने को लटकते हीरे, फूलों से लदे पेड़ को आग की लपटें—इस प्रकार वर्णन करने पर शब्दों की जगह एक चित्र उपस्थित होता है। उसी को बिंब कहते हैं। काले रंग का मेमना कहने के बजाय कवि लिखते हैं : *अंधकार को / निचोड़कर / रखा हुआ हो / ऐसा लगा / लेटा हुआ मेमना।*

(आर.एस. मूर्ति)

सुबह के समय क्षितिज की लालिमा को देखकर सिरपी नामक कवि (बाल सुब्रह्मणियन)

लिखते हैं : *सबेरा हुआ / आसमान / घायल दिखाई पड़ा।*

ये पंक्तियाँ अलंकरणमात्र नहीं हैं। बाद में आने वाली पंक्तियों में कहा जाने वाला है कि एक आदमी का शरीर ख़ून से लथपथ होकर ज़मीन पर पड़ा था। इसलिए ऊपर का बिंब पूर्वाभास का काम भी करता है।

धर्मू शिवराम की एक कविता इस प्रकार है : *पंखों से अलग होकर / एक पर / हवा के अंतहीन पृष्ठों में / पक्षी के जीवन को / लिखता हुआ जाता है।*

वैदीश्वरन की निम्नलिखित कविता में बिंब का सफल प्रयोग हुआ है : *इस शहर की दीवारें / अचल सर्प हैं / अकसर इश्तहार का चमड़ा बढ़कर / उनको मोटा बना देता है / मगर आधी रात में अचानक / जल्दी-जल्दी उसे उतारकर / नए चमड़े में सुबह के समय / चमचमाता सर्प बनी हैं / शहर की ये दीवारें।*

शहरों में रात के समय ही दीवारों पर इश्तहार चिपकाए जाते हैं। पुराने इश्तहार साँप की केंचुली जैसे उतार दिए जाते हैं। सुबह होने पर नए इश्तहार चमकने लगते हैं। परंतु ये इश्तहार विषैले हैं। दीवारें साँप जैसी घुमावदार तो हैं ही।

कवि हबिबुल्लाह (उपनाम अबि) बिंबों का प्रयोग सावधानी के साथ करते हैं। 'आशा मर गई' शीर्षक कविता एक बिंब के साथ शुरू होती है : *पगडंडी। / किसी जगह रुककर / भोजन लिए बिना / दुबली-पतली बनी / कहीं जाने वाली / पगडंडी।*

रास्ते की लंबाई, धीरे-धीरे उसका पतला बनना आदि के अलावा साँप का बोध भी यहाँ होता है। वर्तमान समाज के विषमय वातावरण में चलने के कारण आशा का मर जाना स्वाभाविक है।

हृदय के भाजन में / पकाए रखे राग / उधर उन सूखे पत्तों पर / बिखरे पड़े हैं।

इस पगडंडी पर जाते-जाते हम क्या देखते हैं कि हमारे सारे अरमान टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हुए हैं। हमारी जीवन-यात्रा पगडंडी के समान है। एक व्यक्ति ही एक समय पगडंडी पर चल सकता है। इसी तरह जीवन-यात्रा में कोई हमारे साथ-साथ नहीं चल सकता। हमारा हितैषी भी या तो आगे या पीछे ही आएगा।

वैरमुत्तु की एक कविता पतझड़ के बारे में इस प्रकार है : *साल में एक बार / विदेश जाने वाली / वह घर लौटेगी। / आते ही आते / पेड़ में उगे कैलेंडर के / सब काग़ज़ों को / एक साथ फाड़ देगी।*

पाप्रिया नामक कवि की एक कविता यूँ है : *काग़ज़ी रेगिस्तानों में / ऊँट-सी क़लमों पर चढ़कर / आँसुओं के पदचिह्नों पर / हम टहलने लगते हैं।*

बिंब हमारी कल्पना को जगाता है। साथ-साथ वह बौद्धिकता को भी निमंत्रण देता है। इसलिए मौलिक प्रतिभा जिस कवि में कम है, वह बिंब-योजना में सफल नहीं हो सकता।

नई कविता की सृष्टि कतिपय नए प्रयोगों पर निर्मित हुआ है। फलस्वरूप यह शिकायत उठी कि नई कविता दुर्बोध और अस्पष्ट है। लेकिन यह कोई नई शिकायत नहीं है। साहित्य में जब कभी कोई नया प्रयोग हुआ है, यही शिकायत उठी है। यह अजीब बात है कि हमें गणित या अन्य कोई विषय समझ में न आए तो हम अपने को दोषी समझते हैं। परंतु कविता समझ में नहीं आए तो कवि को क्यों दोषी ठहराते हैं ? तमिल के प्रसिद्ध उपन्यासकार और आलोचक क.ना. सुब्रह्मण्यम् का विचार है कि कविता को शुरू में अस्पष्ट ही लगना चाहिए। फिर उसका अर्थ, फूल की पंखुड़ियों के खिलने के समान, धीरे-धीरे हमारी समझ में आने लगता है। तब प्रयत्न के अनुपात में रसास्वादन मिलता है।

नई कविता के लिए जटिलता एक अनिवार्य अंग बन गई है। इसकी मात्रा कहीं-कहीं बढ़ी-चढ़ी है। दुरैस्वामी नामक कवि की एक कविता इस कारण से दुरूह बनी हुई है : *सतीत्व के लिए जूही / पूजा के लिए कमल / काम (भावना) के लिए कुमुद / ऐसा कहूँ तो / जूही के लिए सफ़ेद / कमल के लिए लाल / कुमुद के लिए श्याम / ऐसा कहूँ तो / जूही खिले तो कुमुद मुरझा जाए / कमल खिले तो जूही मुरझा जाए / कुमुद खिले तो क्या कहूँ?*

ऊपरी तौर से यह कविता अनर्गल लगती है। इसे तुरंत समझ लेना मुश्किल है। प्रयत्न की ज़रूरत होती है।

कुछ आलोचक नई कविता को गद्य काव्य का पर्याय समझकर भी ग़लत निष्कर्षों पर पहुँच गए हैं। वे सोचते हैं कि किसी वाक्य को दो-तीन टुकड़े करके एक-दूसरे के नीचे रख देने से नई कविता का जन्म होता है। इस भ्रम के कारण गद्य काव्य की न्यूनताओं को नई कविता पर आरोपित करके उसे बदनाम किया जाता है।

नई कविता को समझने के लिए उसे एक से अधिक बार पढ़ना पड़ता है, क्योंकि उसमें अर्थ घनीभूत अवस्था में रहता है। गद्य काव्य में अभिव्यक्ति का सीधापन है तो नई कविता में उसकी जटिलता। गद्य काव्य अर्थ को खुला रखता है। नई कविता के पाठक को शैलीगत विचित्र प्रयोगों का सामना करके, प्रतीक, बिंब आदि दरवाज़ों को खटखटाकर और उन्हें खुलवाकर अर्थ तक पहुँचना पड़ता है। एक कविता देखिए : *रात में पाई आज़ादी / अभी सुबह हुई नहीं।*

अचानक विस्फोट-सा होता है। हम कुछ क्षण तक इन पंक्तियों का आशय समझ नहीं पाते। आज़ादी मिले इतने दशक हो गए। सुबह का अब तक न होना क्या मतलब रखता है? ग़रीबी, बेरोज़गारी, शोषण, भ्रष्टाचार आदि का अंधकार अब तक नहीं मिटा। अंधकार बना रहता है। पता नहीं कि सुबह होगी भी या नहीं।

आदतवश भी हम नई कविता का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। हम सदियों से काव्याचार्यों द्वारा स्थापित और समर्थित रस-छंद-अलंकार की मर्यादाओं का पालन करने वाली और इने-गिने विषयों पर ही निर्मित होने वाली रचनाओं को ही कविता मानने के आदी हो गए हैं।

हम कविता को गाकर सुनाने के भी अभ्यस्त हो गए हैं। इस प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होने पर ही हम खुले दिल से नई कविता का मूल्यांकन कर पाएँगे। अनचाहा व्यक्ति पड़ोस में बस जाए तो उसमें दिलचस्पी लेनी ही पड़ती है, चाहे वह दिलचस्पी नक़ली ही क्यों न हो। तब उसकी विशेषताएँ हमें धीरे-धीरे मालूम होने लगती हैं। दुरूहता, अस्पष्टता, जटिलता, लयहीनता, माधुर्य का अभाव, तुक के प्रति उदासीनता आदि के बावजूद नई कविता को समझने के लिए हम जितना प्रयास करते हैं उसी अनुपात में हम उसके गूढ़ार्थ को समझ पाएँगे और उसकी अंतःशक्ति से परिचित हो जाएँगे। दूर खड़े होकर तमाशा देखने से हाथ कुछ नहीं लगेगा। शताब्दियों पहले कबीरदास जी कह चुके हैं : *जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।*

रामबक्ष

भारतेंदु हरिश्चंद्र : इतिहास चिंता

सामाजिक परिवर्तन के इतिहास के जानकार जानते और मानते हैं और कहते आए हैं कि परिवर्तन का आरंभ पुरातन के भीतर में होता है या कि होना चाहिए। अतीत की अतीतता का बोध, अतीत की अपर्याप्तता, अक्षमा का बोध परिवर्तन का प्रेरक होता है। इसीलिए कहा जाता है कि आधुनिकता के बीज परंपरा में होते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि खड़ा पैर परंपरा और चलता या उठा हुआ पैर आधुनिकता है। इस दृष्टि से हिंदी में आधुनिक काल के जन्मदाता माने जाने वाले लेखक भारतेंदु हरिश्चंद्र में परंपरा और आधुनिकता दोनों मुखर रूप में उपलब्ध हैं।

इसलिए भारतेंदु का मूल्यांकन हिंदी साहित्य में उनके स्थान और महत्त्व को लेकर हमेशा एक बहस का वातावरण रहा है—भले ही हम विवाद का मुद्दा न कहें।

आधुनिकता के संदर्भ में पहली महत्त्वपूर्ण बात हिंदी के संदर्भ में और शायद सभी भारतीय और एशियाई देशों में भी किसी हद तक सही हो सकती है कि इनका गहरा संबंध जागरण के बोध से हैं और यह जागरण भी 'राष्ट्र प्रेम' के रूप में है—इसलिए कुछ लोग इसे राष्ट्रीय जागरण के रूप में देखते हैं—यह जागृति देश प्रेम से देश के सुधार की भावना से तो आई ही है। इसका गहरा संबंध अंग्रेज़ी राज के विरोध से भी है। इसलिए राष्ट्रीय जागरण की प्रक्रिया को समझे बिना हम आधुनिक भारतीय मानस को नहीं समझ सकते।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के बारे में चर्चा शुरू करने से पूर्व भारतेंदु के बारे में कुछ बातें जान लेना बहुत ज़रूरी है। जिनमें से पहली बात तो यह कि इनका जन्म सेठ अमीचंद के परिवार में हुआ था—वही सेठ अमीचंद जिसने भारत के अंग्रेज़ी राज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया था। 9 सितंबर 1850 अंग्रेज़ों के साथ इस परिवार के संबंध मधुर ही रहे। 1857 के विद्रोह में अंग्रेज़ों ने इनके परिवार में अपनी सुरक्षा देखी। काशी नरेश उनके मित्र थे। अंग्रेज़ों द्वारा आयोजित सभाओं और पार्टियों में देशी लोगों की तरफ़ से बनारस में भारतेंदु का निमंत्रण पक्का था और वे जाते भी थे—तकनीकी रूप से भारतेंदु ने इस रिश्ते की मर्यादा को हमेशा बनाए रखा।

रामबक्ष के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : प्रोफ़ेसर, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली 110068

यदि भारतेंदु किसान परिवार में पैदा होते या अंग्रेज़ों के संपर्क में न रहते तो उनमें नवजागरण के वे तत्त्व न होते, जो उनमें पैदा हुए।

उनके मित्रों ने उनकी रईसी आदतों का उल्लेख भी किया है। बेफ़िक्र, लुटा देने वाले, गीत-मुजरे के शौक़ीन, इत्र-फुलेल लगाने वाले मन-मौजी आदमी थे—इस तरह सामंती शौक और साम्राज्यवादी अंग्रेज़ों के व्यक्तिगत संपर्क-संसर्ग में रहते हुए भी हरिश्चंद्र को भारतेंदु किस चीज़ ने बनाया। इस पर विचार करने की ज़रूरत है—इस पर आगे बात करेंगे।

अभी उनके धार्मिक विचारों की चर्चा करते हैं जिस पर कुछ विचारक पर्दा डालकर आगे बढ़ जाते हैं—धार्मिक दृष्टि से और वैसे भी भारतेंदु के कृतित्व का बड़ा हिस्सा वैष्णव धर्म संबंधी उनकी मान्यताओं के आसपास घूमता है।

इस संदर्भ में :

(i) पहली बात तो यह है कि वे प्राचीन संस्कृत साहित्य और उसकी अर्वाचीन व्याख्या के गहरे जानकार थे। स्थान-स्थान पर उन्होंने पुराणों, वेदों, स्मृतियों को तो उद्धृत किया ही है, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य चिंतकों के मतों की भी गंभीर परीक्षा की है। स्थान-स्थान पर उनसे मतभेद और सहमति के बिंदुओं को रेखांकित किया है।

कहा जा सकता है कि वे काशी की पंडित परंपरा के न केवल जानकार थे, वरन् बहस-मुबाहिसे, तर्क-युद्ध के बड़े ही अभ्यस्त खिलाड़ी थे। भारतेंदु की अपनी रचनाओं का बड़ा हिस्सा भगवत्प्रेम की भावना से भरा हुआ है। ''वैष्णवता और भारतवर्ष'' में उन्होंने कहा है कि विरोध और विद्रोह के बावजूद ''भारतवर्ष का सबसे प्राचीन मत वैष्णव'' हैं और यह भी कि, ''वैष्णव मत ही भारत वर्ष का प्रकृत मत'' है। इस मान्यता को उन्होंने जिस तार्किकता से सिद्ध किया है उससे उनकी विलक्षण 'बहु वस्तु स्मृर्शिनी प्रतिभा' के साथ-साथ सूक्ष्म पर्यावलोकन शक्ति का भी एहसास होता है। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने 36 तर्कयुक्त आधार दिए हैं। इनमें से कुछ दृष्टव्य हैं :

''भारतवर्ष में जितने मेले हैं, उनमें से आधे विशेष विष्णु लीला, विष्णु पर्व या विष्णु तीर्थों के कारण हैं।

तिहवारों की भी यही दशा है।''

(*भारतेंदु समग्र*, पृ. 975)

यही नहीं, ''सुग्गे को भी राम राम पढ़ाते हैं। जो कोई वृत्तांत कहे तो उसको राम कहानी कहते हैं। लड़कों को बाल गोपाल कहते हैं।...आर्य लोगों के शिष्टाचार में राम राम, जय श्री कृष्ण, जय गोपाल ही प्रचलित है।''

''नगरों के नाम में भी रामपुर, गोविंदगढ़, रघुनाथपुर, गोपालपुर आदि ही विशेष हैं।

मिठाई में गोविंद बड़ी, मोहन भोग आदि नाम हैं।'' (वही, पृ. 975)

''नामों को लीजिए तो क्या स्त्री, क्या पुरुष आधे नाम भारतवर्ष के विष्णु संबंधी हैं और आधे में जगत हैं। कृष्ण भट्ट, राम सिंह, गोपालदास, हरिदास, रामगोपाल, राधा-रुक्मिनी, गोपी, जानकी आदि। विश्वास न हो कलेक्टरी के दफ़्तर में मुर्दमशारी के काग़ज़ निकालकर देख लीजिए या एक दिन डाक घर में बैठकर चिट्ठियों के लिफ़ाफ़ों की सैर कीजिए।'' (वही, पृ. 974-975)

तर्क का यह स्तर समकालीन समाजशास्त्रीय आलोचकों में भी दुर्लभ है। भारतेंदु के धर्म संबंधी विचारों व मान्यताओं को देखने से प्रकट होता है कि ये उनके छिटपुट विचार नहीं हैं और उनके व्यक्तित्व से असंबद्ध भी नहीं हैं। इनका

संबंध भारतेंदु की समग्र जीवन दृष्टि से है। उनको टुकड़ों-टुकड़ों में उद्धृत करके उनके सर्वांग रूप को ढँकने की कोशिश नहीं होनी चाहिए। संयोग से हिंदी में ऐसा बहुत होता है।

इस दृष्टि से भारतेंदु सनातन धर्म के समर्थक दिखलाई पड़ते हैं। वे केशवचंद्र सेन और स्वामी दयानंद सरस्वती का विरोध करते हैं। एक प्रशिक्षित अखाड़ेबाज़ की तरह ताल ठोककर वे अपने युग के परम ओजस्वी और वेद-मर्मज्ञ स्वामी दयानंद सरस्वती से भिड़ गए। 1870 में उन्होंने स्वामी जी के विरुद्ध 'दूषणमालिका' लिखी। वे मानते हैं कि "ऐसे मनुष्यों से संभाषण करना उचित नहीं" तथापि यह 'दूषणमालिका' उनके गले में इसलिए पहनाई जाती है ताकि 'पत्र द्वारा शास्त्रार्थ' किया जा सके। जिससे "सब लोगों पर सदअसत् का प्रकाश और हारने जीतने का निश्चय हो जाए।" इसलिए 'दयानंद प्रभृत लोगों' को "उचित है कि इन सब प्रश्नों का प्रतिपद उत्तर दें और इसी प्रकार से बराबर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ होय और इतने प्रश्नों का एक, जीतने के इश्तिहार की भाँति उत्तर न दिया जाए क्योंकि इन शब्दों के प्रति शब्द का उत्तर न देने से परास्त समझे जाएँगे और प्रश्नोत्तर करते-करते जो थक जाए और जिसकी बुद्धि में उत्तर की युक्ति न आवै, वह हारा समझा जाएगा।" (वही, पृ. 929)

स्वामी जी ने इसका उत्तर दिया या नहीं दिया—सो नहीं मालूम, परंतु स्वामी दयानंद सरस्वती के चार प्रश्नों के बदले भारतेंदु ने 52 प्रश्न कर डाले। ये सिर्फ़ प्रश्न मात्र नहीं हैं, इनके भीतर भारतेंदु की तात्त्विक दृष्टि सक्रिय रही है। भारतेंदु ने मुख्यतः दो बिंदुओं को अपने मतभेद का आधार बनाया। इस संदर्भ में भारतेंदु ने आचरण में शिष्टाचार और सामाजिक जीवन में परंपरा के महत्त्व को रेखांकित किया। भारतेंदु ने कहा कि वेद ही प्रमाण है। यह सही नहीं है। बहुत-सी बातें हम प्रमाण के अभाव में भी परंपरा एवं शिष्टाचारवश मानते आए हैं। वे भी उतनी ही सत्य है। जितने आदि प्रमाण सत्य हैं। आदि प्रमाण भी परंपरा का ही सच है।

फिर भारतेंदु ने कि वेद आदि तथाकथित 'आर्ष' भी मूल एवं संपूर्ण रूप में हमारे सामने अब नहीं हैं। काल के प्रवाह में बहुत-सी बातें छूट गई हैं तथा बहुत-सी नई बातें जुड़ गई हैं। इसलिए उनके बारे में "शुद्धतावादी और पवित्रतावादी" दृष्टिकोण को अपनाना सही नहीं है। यदि 'वेद ही प्रमाण है' यह मान लिया जाए तो वर्तमान जगत में जीवित रहना संभव नहीं। इस क्रम में प्रश्न संख्या 54 में भारतेंदु ने पूछा, "आप बाज़ार से लड्डू और गुलाबजामुन खाते थे, यह कहाँ लिखा है।" (वही, पृ. 932)

इस क्रम में भारतेंदु ने पहला ही प्रश्न पूछा है, "आपने जो पुस्तक छपवाई है उसमें वेद के मंत्र हैं। सो वेद के मंत्र शूद्रों तथा म्लेच्छादिकों के हाथ में देने से आपको दोष हुआ कि नहीं।" (वही, पृ. 930) तात्पर्य यह कि वेदों में ऐसी बहुत-सी ग़लत बातें भी लिखी हुई हैं, उनका पालन अब संभव नहीं है और स्वामी दयानंद सरस्वती भी उनका पालन नहीं कर रहे हैं। इस बहस में भले ही भारतेंदु के अध्ययन, पांडित्य और कठोर तार्किक शक्ति का एहसास होता है, परंतु उनके सनातनी हिंदू संस्कारों की प्रबलता भी छिपती नहीं।

भारतेंदु ईश्वर के अस्तित्व में और भाग्य में विश्वास करते हैं। यदि 'भाग्य' न हो तो भारत-भूमि की इस दीन दशा का कारण क्या है? 'भारत दुर्दशा' नाटक कोई ग़ैर ईश्वरवादी व्यक्ति नहीं लिख सकता। ईश्वर के प्रति गहरी आस्था उनकी सभी रचनाओं में मिलती है। वे ईश्वर भक्ति को आड़ के रूप में इस्तेमाल नहीं करते। दरअसल भारतेंदु यह तो मानते थे कि हिंदुओं में अनेक जाति, संप्रदाय, विश्वास, आराधना और

पूजा पद्धतियाँ पाई जाती हैं, परंतु उन सबमें एक समान तत्त्व है हिंदुत्व या आर्यत्व। इन सबको संगठित होकर आक्रांताओं का विरोध करना चाहिए। अपना सुधार और परिष्कार करना चाहिए। अपनी कमियाँ दूर करनी चाहिए ताकि हिंदुस्तान फिर उसी प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सके, जिसके योग्य है। तात्पर्य यह है कि हमारा यहाँ जो कुछ है, सब ठीक ही है, ऐसा भारतेंदु नहीं मानते थे। हमारे यहाँ कमियाँ हैं, जिन्हें ढूँढ़कर दूर करना चाहिए। उनके मन में मुसलमान और ईसाई दोनों के प्रति प्रतिस्पर्द्धा का भाव है। वे दोनों को आक्रांता मानते हैं, इसलिए दोनों की तुलना में हिंदुओं को ऊपर उठाना चाहते हैं।

यहाँ पर दो बातों को स्पष्ट कर देना चाहिए। पहली बात यह कि वे मुसलमानों से घृणा नहीं करते थे। वे यह नहीं कहते थे कि हिंदुओं को पहले मुसलमानों को बाहर निकालना चाहिए और तब अंग्रेज़ों से लड़ना चाहिए। दूसरे वे इस निष्कर्ष पर भी नहीं पहुँचे थे कि हिंदू-मुस्लिम मिल-जुलकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ें। इस निष्कर्ष पर वे नहीं पहुँचे थे। वे मानते थे कि देश के अधःपतन का आरंभ भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से हो गया था। अंग्रेज़ों के राज में यह चरम रूप में उपलब्ध हैं। मुस्लिम राज में और चाहे जो होता हो, पर "धन तो विदेश नहीं जाता था।" यह अन्याय तो अंग्रेज़ों का ही है। काश! भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना न होती तो अंग्रेज़ी साम्राज्य भी भारत में स्थापित नहीं हो पाता। यह कसक उनमें मौजूद है। तब भी वे मुस्लिम विरोध का आह्वान नहीं करते। इसका कोई संकेत नहीं देते। बेशक वे अपने आपको हिंदू मानते हैं।

इसके साथ ही भारतेंदु ने बिना किसी दाँव-पेंच के मुस्लिम धर्म गुरुओं का आदर के साथ ज़िक्र किया है। भारतेंदु ने 1884 में पंच पवित्रात्माओं अर्थात् मुसलमानी मत के मूलाचार्य महात्मा मुहम्मद, आदरणीय अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन की संक्षिप्त जीवनी भी लिखी है। यही नहीं उन्होंने 'मुसलमानों के मत की पवित्र धर्म पुस्तक' क़ुरान शरीफ़ का हिंदी में अनुवाद किया और 'कवि वचन सुधा' में इसका विज्ञापन भी किया।

अपने धर्म संबंधी चिंतन का सार-संक्षेप करते हुए उन्होंने लिखा : "जिस भाव से हिंदू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा। अब हम लोगों के शरीर का बल न्यून हो गया, विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई, जीविका और धन उपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पाँच-पाँच, छह-छह पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर-से-उधर कलकत्ते से लाहौर और बंबई से शिमला दौड़ना पड़ेगा, सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इंजीनियरी का इम्तिहान देने को विलायत जाना होगा, बिना यह सब किए काम नहीं चलेगा, क्योंकि देखिए क्रिस्तान, मुसलमान, पारसी वही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दिन दिन हीन हुई जाती है। जब पेटभर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाक़ी रहेगा, इसी से जीव मात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिए। परस्पर का बैर छोड़िए। शैव, शाक्त, सिक्ख जो हो, सबसे मिलो।...अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अंग्रेज़ों से जो नौकरी बच जाती है, उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं, केवल नौकरी की थी सो भी धीरे-धीरे खिसकी।" (वही, पृ. 976)

भारतेंदु के इन विचारों को कुछ लोग छुपाते हैं और उन्हें 'आज के युग' के अनुरूप सिद्ध करते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग इन्हीं बातों को उलट-पुलट कर, आधे-अधूरे उद्धृत करके उनकी मात्र 'यही' तस्वीर सामने रखते हैं। इस

मामले में दोनों एक ही बात कहते हैं। दोनों की पद्धति एक ही है। चाहे राम विलास शर्मा हो या उनसे असहमत वीर भारत तलवार या कोई और हो।

यहाँ हम फिर इस मूल प्रश्न पर आते हैं कि सामंती परिवेश और अंग्रेज़ों से संपर्क संसर्ग के बावजूद हरिश्चंद्र 'भारतेंदु' कैसे बने? किस चीज़ ने उन्हें भारतेंदु बनाया। भारतेंदु बड़े कल्पनाशील और नए-नए रूपों की उद्भावना में समर्थ कारयित्री प्रतिभा के धनी थे। वे अंग्रेज़ी, फ़ारसी, उर्दू, हिंदी, बाङ्ला आदि अनेक भाषाओं के जानकार थे। ब्रज, खड़ी बोली, उर्दू मिश्रित खड़ी बोली सबमें समान भाव से कविता, नाटक, निबंध, पत्रकारिता, अनुवाद सब कर सकते थे। इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, वर्तमान देश-दशा, राजनीति, अर्थशास्त्र, भावी समाज सब चीज़ों के बारे में उनकी अपनी कुछ राय थी। सब पर उन्होंने गंभीर मनन किया था। इन सबके मूल में उनकी विलक्षण आलोचनात्मक पर्यवेक्षण शक्ति थी। वे जिस परिवेश में रहते थे, उससे परे हटकर, ऊपर उठकर, उसे देख सकते थे। दिखा सकते थे। इसमें उन्हें कोई भय, संकोच, द्वंद्व, पक्षपात या लिहाज़ नहीं होता था। मस्तमौला आदमी थे। आर्थिक-सामाजिक हैसियत थी। लोग उनकी बात बर्दाश्त कर लेते थे। उन्हें बर्दाश्त करने की आवश्यकता नहीं थी। इस एक चीज़ ने उन्हें अंधकार को भेदकर देखने की दृष्टि दी।

दूसरी बात यह भी थी कि भारतेंदु विद्याव्यसनी आदमी थे। हिंदू धर्म की वैष्णव परंपरा, फ़ारसी साहित्य, अंग्रेज़ी, बाङ्ला की श्रेष्ठ पुस्तकों का पारायण कर चुके थे। इसलिए ज्ञान की परंपरा की जानकारी का प्रश्न है, भारतेंदु उस युग के सर्वाधिक जानकार व्यक्तियों में से एक थे। कोई आसानी से उन्हें चुनौती नहीं दे सकता था। वैसे भी नयापन का सामर्थ्य उन्हीं में होता है, जिन्होंने परंपरा को ठीक से आत्मसात् कर लिया हो।

फिर भारतेंदु ने जिस खड़ी बोली का प्रचल[न] किया था, वही खड़ी बोली आज हम लिख[-] पढ़ रहे हैं। देश ने राजा शिव प्रसाद सितारे हिं[द] की हिंदी को नहीं अपनाया। प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू मिश्रित हिंदुस्तानी भी ज़्यादा दिनों तक नह[ीं] चली। प्रसाद जी की तत्सम् बहुल भाषा [भी] आगे नहीं चली। आज जो भाषा प्रचलन में है वह भारतेंदु की भाषा है, जो महावीर प्रसा[द] द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, यशपाल, रामविलास शर्म[ा] और नामवर सिंह की भाषा है। भले ही भारतें[दु] इस तथ्य के प्रति इतने सचेत न रहे हों (हालाँकि वे थे) परंतु उनकी सहज बुद्धि ने जिसे स्वीका[र] कर लिया, वही आगे चलकर प्रतिष्ठित हुई यह महत्त्वपूर्ण बात है।

यूँ हिंदी के बारे में भारतेंदु की मान्यता रही [है] कि 1870 में 'हिंदी नई चाल में ढली।' भाषा के महत्त्व और निर्माण के प्रति वे अत्यंत सजग थे वे मानते थे कि निज भाषा की उन्नति ही दे[श] की उन्नति का मूल है। वे कहते हैं कि संस्कृ[त] फ़ारसी और अंग्रेज़ी सब अच्छी भाषाएँ हैं। पर[ंतु] इनके सहारे आप बाहर-ही-बाहर काम कर सक[ते] हो। घर के भीतर अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र [या] नौकर से तो इन भाषाओं में बात नहीं कर सकते तब घर में दूसरी भाषा, बाहर दूसरी भाषा य[ह] भेद तो पतन का लक्षण है। असली उन्नति [तो] तब मानी जाती है जब घर उन्नत हो। अप[नी] भाषा की उन्नति का तात्पर्य है अपनी भाषा [में] विद्या, कला, व्यवसाय, उद्योग, क़ानून, राजनीति साहित्य, संस्कृति के ग्रंथों की रचना करें त[था] जो ग्रंथ अपनी भाषा में न हो, उनका निज भा[षा] में अनुवाद करें। अंग्रेज़ और भारतीय—दो[नों] मनुष्य तो हैं फिर, ''क्यों भये हम गुलाम [...] भूप'' (वही, पृ. 229) क्योंकि अंग्रेज़ों ने अप[नी] भाषा की उन्नति यहाँ तक की उन्होंने हमारे ग्रं[थों] का भी अंग्रेज़ी में अनुवाद कर डाला। यहाँ त[क]

कि आल्हा का भी अंग्रेज़ी में अनुवाद कर डाला।

इसके साथ भारतेंदु ने उर्दू का विरोध किया और हिंदी को नागरीलिपि में लिखे जाने की ज़ोरदार वकालत की। ब्रज भाषा के माधुर्य पर मुग्ध भारतेंदु ने खड़ी बोली का सूत्रपात किया; इसे भी भूलना नहीं चाहिए।

राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से इतिहास और इतिहास लेखन का महत्त्व आज भी कम नहीं है, परंतु भारतेंदु के समय में इतिहास का निर्णायक महत्त्व था। हालाँकि उनके समय में हिंदी में इतिहास लेखन की कोई परंपरा नहीं थी। हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं था। हिंदुस्तान का इतिहास भी नहीं था। तब भी भारतेंदु का यह सबसे प्रिय विषय था। वे भारतीय पराधीनता के ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल करना चाहते थे। भले ही आधुनिक रूप में, सचेत रूप में न सही, तब भी वे अपने पूर्वजों के पुण्य चरित्र का स्मरण करना चाहते थे, ताकि अपने अतीत की सम्यक् जानकारी मिल सके। इसमें भी वे किंवदंतियों, अतिशयोक्तियों, पौराणिक प्रसंगों से अलगाकर 'तथ्य' को देखने-दिखाने के पक्षपाती थे। इसके लिए उन्होंने प्राच्यविद्याविद् अंग्रेज़ों, भारतीय विद्वानों व अन्य सामग्री पर स्वयं चिंतन-मनन किया। उन्होंने 1854 में 'कालचक्र' नामक पुस्तक लिखने की योजना बनाई, जिसे वे पूरा नहीं कर सके। इसे राधा कृष्णदास ने पूरा किया। इसमें उन्होंने सृष्टि की शुरुआत से अब तक (भारतेंदु काल तक की) महत्त्वपूर्ण, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक घटनाओं की तिथियाँ निश्चित करने की कोशिश की है। भारतीय इतिहास के आरंभ में उन्होंने "आर्य लोगों के मत से" सृष्टि का प्रारंभ, सतयुग त्रेता, द्वापर, कलि युग के प्रारंभ का समय दिया है। इक्ष्वांकु वंश से भारतेंदु इतिहास की शुरुआत मानते हैं।

भारतेंदु की इतिहास चिंता मात्र जानकारी तक सीमित नहीं है। इतिहास की यह चिंता और चेतना उन्हें अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध ज़बर्दस्त वैचारिक आधार प्रदान करने वाली लगती है। अपने अनेक नाटकों, निबंधों और कविताओं में वे अपने देश के पूर्व काल की चर्चा करते ही करते हैं। फिर उसका संबंध वर्तमान काल से जोड़ते हैं। सन् 1876 में उन्होंने 'विषयस्य विषमौधम्' में लिखा, "धन्य है ईश्वर! सन् 1599 में
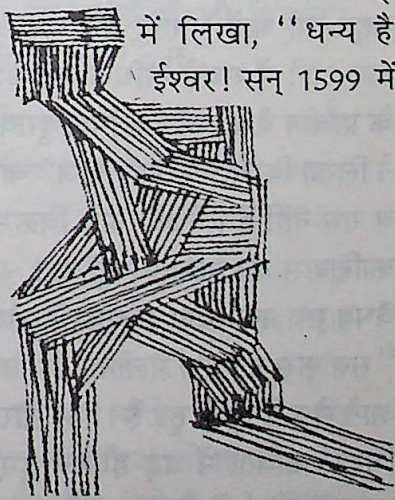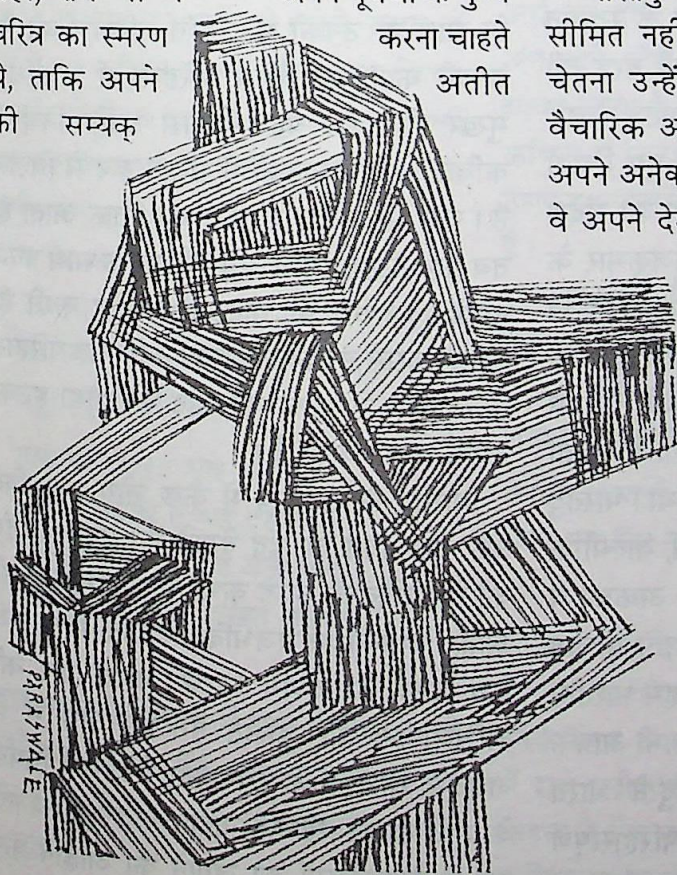
जो लोग सौदागरी करने आए थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।

सन् 1881 में भारतेंदु ने 'मधु-मुकुल' पुस्तिका लिखी। यूँ पूरी पुस्तक में कृष्ण-राधा की प्रेम कहानी का पुनर्कथन है। इसके बीच में एक 'होली' है—शीर्षक है "भारत में मची है होरी"। वर्तमान अध:पतन का बड़ा ही सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन करते हुए कवि अपने देशवासियों को कहते हैं कि तुम उठो। हारे हुए क्यों बैठे हो? राम, युधिष्ठिर, और विक्रम के चरित्र का स्मरण करके उठो और शस्त्रों में सान चढ़ाकर कमर कस लो। यदि राम विलास जी के तर्क पर चलें तो कह सकते हैं कि भारतेंदु यहाँ वर्तमान शत्रुओं के विरुद्ध खड़े होने की बात कर रहे हैं, न कि अतीत के बीत चुके लोगों के विरुद्ध।

1869 में ड्यूक ऑफ़ एडिनबरा के स्वागत पर उन्होंने एक कविता लिखी। इसी तरह की कविता उन्होंने 1876 ई. में 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' के भारत आगमन का स्वागत करते हुए लिखी थी। विषय एक होते हुए भी कविता का संदेश बदल गया है। पहली कविता में राजकुमार के आने का उत्साह और स्वागत का सरल वर्णन है। परंतु नई कविता में स्वागत करते हुए भी बहुत-सी बातें भारतेंदु को याद आती हैं। इस याद आने में सबसे अधिक याद आता है भारती के प्राचीन वैभव और वर्तमान दुरावस्था। भारतेंदु ने लिखा कि यद्यपि आज भोज, व्यास, वाल्मीकि व राम नहीं हैं। यद्यपि अब विक्रम, अकबर व कालिदास का ज़माना नहीं रहा, यद्यपि प्राचीन वैभव सब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है और हम भारतीय "सब कृस तन दीन मलीन" हैं, फिर भी आपके आने से हमें ख़ुशी हुई है। फिर भारतेंदु ने 'भारत भिक्षा' कविता में बड़े ही दबे हुए परिहासपूर्ण स्वर में, जिसमें विडंबना का गहरा दर्द छिपा हुआ है, भारत के लगभग सभी राजाओं के, कलकत्ता पहुँचकर राजकुमार के स्वागत का वर्णन किया है। यहाँ राजाओं की जिस दौड़ का वर्णन किया है, उसमें उनकी बेबसी, कायरता, स्वार्थपरता और अपने अस्तित्व की विडंबनाओं को दर्शाते हुए, उनके भीतर की पराधीनता की पीड़ा को रेखांकित किया है। इनमें हिंदू-मुस्लिम का भेद नहीं है। क्या तो होल्कर, क्या सिंधिया, क्या भोपाल की बेगम, काशी नरेश, पटियाला नरेश, अभिमानी मेवाड़ के राजपूत हों या भरतपुर के जाट हों, या दक्षिण के निजाम—सबके सब—

धाओ धाओ बेग सब पहिरि पहिरि पौसाक
पगरी मोती-माल गल साजि राजि इक ताक
(वही, पृ. 218)

भारतेंदु की कविता में ज़िंदादिली का ज़िक्र अनेक आलोचकों ने किया है। इस ज़िंदादिली के साथ ही उनकी मूल वृत्ति परिहास की है। उनकी कला का वैभव परिहास में सर्वाधिक मुखर होता है। यह परिहास उनके निबंधों, कविताओं और नाटकों में समान रूप से मिलता है। जब भी अंग्रेज़ सरकार का ज़िक्र आता है, तब यह परिहास वृत्ति अपने वैभव के साथ प्रकट होती है। व्यंग्य या चोट भी भारतेंदु करते हैं, लेकिन उसमें उनका मन रमता नहीं। वह परिहास के आवरण में व्यंग्य की चोट को थोड़ा हल्का करके व्यक्त करते हैं।

भारतेंदु के साहित्य में कुछ लोग राजभक्ति और देशभक्ति का द्वंद्व देखते हैं। परंतु भारतेंदु की देशभक्ति के आड़े कभी भी राजभक्ति नहीं आती। तथाकथित राजभक्ति दिखाते-दिखाते वे देश-दशा का वर्णन करके भारत-प्रेम की अभिव्यंजना कर डालते हैं। इस अर्थ में वे जबर्दस्त कूटनीतिक रचनाकार हैं। वर्ण्य विषय के साथ खेलते-खेलते, नादान भाव-मुद्रा बनाए हुए वे देशवासियों को जगाने का आह्वान कर

जाते हैं। इस दृष्टि से मिश्र पर ब्रिटिश भारतीय सेना के विजय के अवसर पर आयोजित समारोह में पढ़ी गई उनकी कविता के ढाँचे का विश्लेषण किया जा सकता है।

22 सितंबर 1882 को शाम 6 बजे बनारस के टाउन हॉल में विशेष बैठक हुई। इस बैठक में मिश्र ने भारतीय सेना की जीत की ख़ुशी को ज़ाहिर किया जाना था, जिसमें अंग्रेज़ अधिकारी, राजा-महाराजा और गणमान्य नागरिक उपस्थित थे। भारतेंदु ने वहाँ इस कविता का पाठ किया। इस अवसर पर जो लोग उपस्थित थे, वे सब अंग्रेज़ों के विश्वस्त थे। 1882 वह वर्ष है, जब भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ था। राजनीति में राष्ट्रवाद बहुत दूर की चीज़ थी। भारत में अंग्रेज़ों का कहीं कोई विरोध नहीं था। प्रजा निरक्षर व निसहाय थी। राजा-महाराजा पूरी तरह ग़ुलाम बन चुके थे। ऐसे समय में भारतेंदु ने इस कविता का जो ढाँचा तैयार किया, अपने तर्क को जिस तरह से बढ़ाया, वह उनकी अद्‌भुत कलात्मक प्रतिभा एवं वैचारिक दूरदर्शिता का दुर्लभ नमूना है।

भारत के अपार ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, बल, काव्य-प्रतिभा की तारीफ़ों के पुल बाँधता हुआ कवि जब आज के भारत के बारे में बात करता है, तो बहुत दुखी हो जाता है।

हाय वहै भारत भुव भारी
सब ही विधि तें भई दुखारी।
रोम-ग्रीस पुनि निज बल पायो
सब विधि भारत दुखित बनायो।

(वही, पृ. 253)

जिस भारत के जंगलों में सिंह विचरण करते थे, वहाँ अब सियार और स्वान दिखाई पड़ रहे हैं। इस भारत में पुनः कब जोश आएगा। कवि ललकारता है :

अरे बीर इक बेर उठेहु सब फिर कित सोए।
लेहु करन करवाति काढ़ि रंग-रंग समोए।

(वही, पृ. 254)

कवि की कामना है कि जो लोग मिश्र को भगा सकते हैं? क्या वे अंग्रेज़ों को नहीं भगा सकते? कविता इस निहितार्थ की ओर ले जाती है। कविता का तर्क वहाँ जाना चाहता है। परंतु यह बात कवि अभी नहीं कहता। ये कहने के लिए हिंदी कवि को 1921 के असहयोग आंदोलन का इंतज़ार करना पड़ता है।

शत्रु के विरुद्ध शस्त्र उठाने की कामना; अतीत के वैभव को प्राप्त करने की कामना के साथ कवि ने मिश्र पर भारतीय ब्रिटिश सेना की विजय के तात्कालिक प्रसंग का जोड़ मिलाया है; हालाँकि जोड़ पूरी तरह से मिलता नहीं। कविता के संपूर्ण तर्क में मिश्र विजय निहायत ऊपरी एवं अर्थ की दृष्टि से छलावा मात्र है। कविता के अंत होते-होते कवि ने फिर इस छलावे को व्यक्त किया है। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि इस कविता में ब्रिटानिया साम्राज्य की तारीफ़ में भी उसका आततायी विजेता रूप ही उभरकर आता है।

परम वीर क्षत्रिय जाति को इन्होंने जीत लिया। सिक्खों को पराजित किया। इच्छा मात्र से मुल्तान विजय की। ज़रा-सी तर्जनी उँगली हिलाकर लखनऊ को ले लिया। यही नहीं :

कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहूँ भारत वासी॥

(वही, पृ. 255)

जब सब जगह ब्रिटिश राज का डंका बज रहा है। इन्होंने किसी को नहीं छोड़ा, तब मिश्र इनके लिए क्या मायने रखता है। इसलिए अंत में राज राजेश्वरी की जय बोलते हुए भी कवि कहता है कि यह तो ब्रिटानिया की ही जीत है। कविता अजब ढंग से अंग्रेज़ विरोधी अर्थ संप्रेषित

करती है। 'विजयवल्लरी' (1881 ई.) कविता में काबुल पर विजय का उल्लेख करते हुए भारतेंदु यह कहना नहीं भूले कि इससे हमें क्या? इससे तो उलटा भारतीय कोष का ही विनाश होगा? युद्ध के कारण टैक्स बढ़ेगा।

बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हम को केवल सोक।

या

ये तो केवल मरन हित, द्रव्य देन हित दीन।
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा मलीन॥

(वही, पृ. 251)

सन् 1884 में भारतेंदु ने 'नए ज़माने की मुकरी' लिखी। इनमें जिन चीज़ों और लोगों को परिभाषित किया गया है वे हैं—अंग्रेज़ी, ग्रेजुएट, विद्यासागर, रेल, चुंगी, अमला, पुलिस, अंग्रेज़, अख़बार, क़ानून, ख़िताब आदि। भारतेंदु ने इनके मूल परंतु अदृश्य गुण को उद्‌घाटित किया है। सभी के लिए तारीफ़ का लहजा रखते हुए कटाक्ष किया है। रेल, छापाख़ाना, जहाज़ के बारे में तथ्यात्मक बातें कहते हुए अंग्रेज़ी राज के मर्म की आलोचना की है। 'अंग्रेज़' को भारतेंदु ने इस तरह से समझाया है :

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज़।
क्यों सखि सज्जन नहीं अंग्रेज़।

(वही, पृ. 256)

इस मुकरी को उन्होंने बीच में रखा है। इतनी ही कड़ी आलोचना पुलिस, क़ानून और अमला की भी की है।

नई नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावै।
नित नित हमें करै बल सून।
क्यों ससि सज्जन नहिं क़ानून।

(वही, पृ. 25

अंग्रेज़ों ने देशी लोगों को अपने पक्ष में क की कुछ तरकीबें निकाली थी। उनकी भारतेंदु बड़ी बारीक, परिहासपूर्ण आलोचना क उदाहरण के लिए 'ख़िताब' के बारे में उन्हों लिखा :

''इनकी उनकी ख़िदमत करो।
रुपया देते-देते मरो
तब आवै मोंहि करन ख़राब।
क्यों सखि सज्जन नहीं ख़िताब।''

(वही, पृ. 25

महारानी विक्टोरिया बहुत अच्छी है। य अच्छी है तो अंग्रेज़ी सरकार ने जो टैक्स ल रखा है, उसे छुड़वा दो। अंग्रेज़ राज सब अस्थ है जो आप कहते हो वह हम सब मान लेते परंतु ''धन विदेस चलि जात'' यह बात अच्छ नहीं। परंतु अंग्रेज़ तो इसी के लिए भारत आ थे।

इस सारे विचार-विमर्श के बीच यह य रखना चाहिए कि भारतेंदु का जन्म 1850 और मृत्यु 1884 ई. में हो गई थी। मात्र 34 व की उम्र का उनका जीवन था। इस पूरे विश्ले में भारतेंदु के नाटकों को शामिल नहीं कि गया है। हालाँकि नाटकों के बिना यह सं विश्लेषण अधूरा लगता है।

राजस्थानी कविता

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

मैं लुगाई...

मैं रेतीले सागर में-
बनाना चाहती हूँ,
हरीतिमा के कई खंड द्वीप
क्योंकि
तुम्हारी दुल्हन बनकर,
इस दड़बेनुमा घर में आने के बाद,
मैंने महसूस किया
यह तो क़ैद-गुफा है—ज़िंदगी की।
मेरे ढोला!
क्या मैं तुम्हारे लिए मात्र,
बिस्तर हूँ,
तृप्ति हूँ,
बदलने वाला वस्त्र,
या तुम्हारे ज़ुल्मों को टाँगनेवाली खूँटी।
तुमने मुझे मेरे मन के विरुद्ध,
निखारा नहीं,
सँवारा नहीं
युग की बदलती रोशनियों से अनजान रखा।
मुझे अँगूठा-छाप से,
हस्ताक्षर नहीं बनने दिया।
मुझे सदैव-
अपनी बैसाखियाँ दीं।
ताकि मैं आत्मनिर्भरता के
लंबे-लंबे डग न भर सकूँ।
अपनी निजी ज़मीन पर न चल सकूँ।
अपने स्वयं की प्रगति के शब्दों
का अंकन न कर सकूँ।
मैंने तय किया था,
अपने भगीरथी प्रयासों से
आक, धतूरा, खेजड़ा, फोग और गूँदी को
मानवोपयोगी बनाऊँ।

हिंदी-राजस्थानी के विख्यात कथाकार, कवि, नाटककार यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के 60 उपन्यास, 16 कहानी-संग्रह, तीन नाटक तथा कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। साहित्य अकादेमी, राजस्थान साहित्य अकादमी, फणीश्वरनाथ रेणु, मीरा आदि पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर (राज.)
फ़ोन : 2547788

अनु. स्वयं

मैंने अवरोधों के बाद नया पथ बना लिया है,
घाघरे, कुर्ता-काँचली ओढ़नी में
दबी-लदी लुगाई ने,
वक़्त की हवा को पहचान लिया है,
अब तुम अपनी मर्ज़ी की कील
मेरे शरीर में नहीं ठोंक सकते
क्योंकि मैंने
रूढ़-परिवेश को
चिंदी-चिंदी करके
नया बाना पहन लिया है,
केसरिया नहीं,
सतरंगा।

देश मादा बिच्छु

समय छिछला हो गया,
हवा कपटी,
सूर्य ठंडा,
चाँदनी हो गई बीमार,
बादल अवसरवादी,
जहाँ ज़रूरत नहीं है
वहाँ 'डूब' कर देते हैं।
जहाँ कई आँखें टकटकी लगाए,
मौन-प्रार्थनाएँ करती हैं
वहाँ 'थूक' कर चले जाते हैं।
ख़ामोशी चीख़ती है
शोर अराजक हो गया है
सकारात्मक सोच
कालपात्र में बंद हो गई है,
सत्ता बुलडोज़र,
क्यों कुचला जा रहा है आदमी।
उसकी सेमल-सी कोमल
संवेदनाएँ व भावनाएँ
तासीर ख़त्म,
हिंसक व्यवस्थाएँ,

लगता है–
मेरे देश की दशा हो गई है
मादा बिच्छु–सी
जिनके बच्चे जन्मते ही
माँ को खा–खाकर
मार देते हैं!

भीड़ होता जा रहा हूँ

मैं अपने
बिंदु से गाँव से आकर,
महानगर की उलझी गलियों के
कोमल–कँटीले तारों से घिर गया।
मुझे मुक्ति के लिए
न भाषा मिली,
न शब्द
और न संबोधन
पुकारता भी तो कैसे?
अजनबियों–सी भीड़,
'डायनासोर' की चालें,
'बाज़' सी तीखी नज़रें,
सच मैं तो उनके बीच हो गया
एक निरीह कबूतर।
त्राण का कोई रास्ता नहीं,
मुक्ति का उपाय नहीं,
ज्यों–ज्यों भीड़ से
पाना चाहता हूँ छुटकारा,
उतना ही जकड़ता जा रहा हूँ
भीड़ के भँवर–जाल में।
ओह! चींटीनगर,
दया कर, दया कर।
देखो, मेरा निजी अस्तित्व,
ख़त्म होकर
भीड़ होता जा रहा है।

पंजाबी कविता

तरसेम गुजराल

निस्सारता की कला

पुरानी हो गई बूढ़ी सदी
पुरानी हो गई ग़रीब पर दया
पुराना पड़ गया
इंसाफ़ के हक़ में
कुदाल उठाता मज़दूर।

विज्ञापन में लड़की का बदन ताज़ा है
सिगरेट के हवा में उड़ते छल्ले ताज़ा हैं
गोरेपन की क्रीम फिर भी ताज़ा है
खनिज के साथ बिक रहा
तुम्हारा ख़ून भी ताज़ा है।

मिट्टी मिट्टी होती ज़मीन ने कुछ कहा नहीं
सूखते हुए तालाब ने
उठते शॉपिंग मॉल्स पर कुछ कहा नहीं।
इतिहास की गली में जो जाने को तैयार नहीं
कहता है करमावाली का भट्ठा आख़िरी है
पवित्र पापी [1] का घड़ीसाज़ आख़िरी है
कोने का वह मोची भी आख़िरी है
पिता का श्राद्ध भी आख़िरी है।

कश्मीर से विस्थापित

बचा हुई जगह में
उसके फैल नहीं पाते इरादे
भटकन में आकाश का
फ़ैसला नहीं कर पाती
कि कितना उसका।

बची हुई जगह में
भीतर उतरती है

तरसेम गुजराल का जन्म 1950 में हुआ। उपन्यास, कहानी, कविता की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। भाषा विभाग से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 46, हरबंस नगर, जालंधर 2 (पंजाब)

अनु. स्वयं

1. पवित्र पापी : नानक सिंह का उपन्यास।

तो बीते का दर्द
पसलियों से उठता है
मरोड़ कर रख देता है पूरी देह।

सेब जैसे गाल सेब जैसे नहीं रहे
परंतु दाँत बहुत-से लोग लगाए बैठे हैं।

बयान

जब बारिश ने कोहराम मचा दिया
मैंने पवनदूत से आकाश विचरण करते हुए आँसू बहाए
क़र्ज़ में डूबे किसान ने आत्महत्या की
मैंने पाठ रखवाया
उसकी आत्मा की शांति के लिए।

उस इज़्ज़त लुटी कबूतरी की
मैंने पाले हुए बिल्ले से शादी करवा दी
पुलिस ने तोड़ डाली मज़दूरों की हड्डियाँ
मैंने प्रत्येक टूटी टाँग के बीस हज़ार
प्रत्येक टूटी बाँह के पचास हज़ार दिलवाए।

क्या नहीं किया मैंने
विचारों को विचारों तक ही
रखने वाले क़लमनवीसों को
पुरस्कृत किया
ख़ाली कुर्सी की आत्मा के लिए
पूजाघर बनवाए।

आज तुम कहते हो
बारिश में जिनके मकान गिरे
अभी तक नहीं बने।
किसान को बचाया जाना ज़रूरी
कबूतरी को मैंने ही मरवाया।
मज़दूर हमारे कानों के बंद होने से पिटे।
विचारों में बहुत थी पेचदार गलियाँ
और ख़ाली कुर्सियों की पूजा
मंदी सफ़ेद हाथियों को पालने से जुड़ी है
अब तुम ही बताओ
तुम्हें गुरबद वाली इमारत दूँ या तुम्हारा अचार डालूँ?

नींद के बाहर

बहुत सो लिया
तुम्हें भी जागना होगा
मुझे भी।

जागना होगा
कि एक चीख़ सुनते ही
खुल जाएँ सभी खिड़कियाँ
ताकि शब्दों में ढल जाए, वह ज़हर
जो पीते रहे लोग चुपचाप।

जागना ही होगा
कि चमत्कार हथेली पे नहीं उगते
आलू की सब्ज़ी से लेकर
स्वप्न को आकार देने तक
मेहनत आदमी का धर्म है।

जागना ही होगा
कि सोते हुए
व्यवस्था, क़ानून और संविधान
तुम्हारी क़मीज़ चुरा लेने वाले को
कोई सज़ा नहीं देते।

जागना ही होगा
कि इस वक़्त
चंद किरणों ने
अँधेरे को बालों से पकड़ रखा है।

मराठी कविता

सुरेश कुसूंबीवाल

मराठी कवि सुरेश कुसूंबीवाल का जन्म 1954 में हुआ। इनका कविता-संग्रह *खोल दो खिड़कियाँ* प्रकाशित हुआ है। संपर्क : रामेश्वर नगर, प्रोफ़ेसर कॉलोनी, भुसावल 425201 ज़िला जलगाँव (महा.)

अनु. स्वयं

जिस घर में आदमी नहीं होते

जिस घर में आदमी नहीं होते
उन घरों के छत, दीवारें, दरवाज़े, खिड़कियों और
परदे तक के बारे में

अलग-अलग कहानियाँ सुनाई और बताई जाती हैं।
सोचा जाता है कि
उन घरों की रसोई में, पूजाघर में और बाथरूम में
नहीं होता कोई फ़र्क़
अकसर
उन घरों के बर्तनों को लगी कालिख के विषय में
कितने ही क़िस्से खोजे जाते हैं।

जिस घर में आदमी नहीं होते
अकसर उन घरों में पहुँचने की कोशिश
करते देखे जाते हैं
कई लोग
उन घरों के निकल आते हैं कई छेद
और
हर छेद से झाँकती हैं कई आँखें।

उन घरों की दीवारों के रंग के बारे में
बहुत सोचते हैं लोग, और
हर कोई चाहता है
अपने तरीक़े से रँगना
उन बदरंग दीवारों को।

हर कोई चौंकता है
ज़रा-सी भी आहट या खटके पर
और
भर जाता है उसका मन
कई अप्रिय कल्पनाओं से।

जिस घर में आदमी नहीं होते
उस घर का दरवाज़ा
खुला हो या बंद
हर हाल में
बुदबुदाता है कुछ अटपटा-सा
हर कान के भीतर, और
होती है उथल-पुथल
मन ताल के
ठहरे गँदले पानी में।

शिशु का रोना

उतरने लगी है
दीवारों पर जमी
काई
उसके रोने से।

उसकी पहली आवाज़ से
निकल आई है
सूरज की प्रथम किरण, और
खिल गए हैं
असंख्य सूरजमुखी
घर के कोने-कोने में।

उसके रोने से
तैरने लगा है
प्रसन्नता का मानसरोवर
बूढ़ी आँखों में।

उसके रोने से
हँसने लगी हैं
दीवारें और छत
उछल रहा है
आँगन।

उसके रोने से
बदल गया है
सारा कालचक्र
घर का।

उसके रोने की आवाज़ से
भर गया है
जीवन सभी मृतप्राय आवाज़ों में।

उसके रोने की आवाज़
के साथ-साथ
उग आई है
मोगरे की नई बेल
आँगन में।

उर्दू के
ख़याल
इनकी
प्रकाशि
अकाद
अकाद
अकादम
14-बी
बुराड़ी
11008
अनु. स

उर्दू ग़ज़ल

चंद्रभान ख़याल

ले जाऊँगा

सर्द सन्नाटों की सब सरगोशियाँ ले जाऊँगा,
मैं जहाँ भी जाऊँगा दिल की ज़बां ले जाऊँगा।

शहर छोड़ूँगा तो रोएँगी मिलों की चिमनियाँ,
देखना इक रोज़ मैं सारा धुआँ ले जाऊँगा।

वो जहाँ चाहे चला जाए ये उसका इख़्तियार,
सोचना ये है कि मैं ख़ुद को कहाँ ले जाऊँगा।

सतहे-दरिया[1] रक़्स में है आज मुझको देखकर,
आज मैं उस पार अपना कारवाँ ले जाऊँगा।

वो अगर दो चार क़तरों से नवाज़ेगा तो क्या,
इक इक क़तरे में बहरे-बेकरां[2] ले जाऊँगा।

मंज़रों को क्या ख़बर होगी कि उनके वास्ते,
क़ुरबते[3] तक़सीम करके दूरियाँ ले जाऊँगा।

जिन अँधेरों से तुम्हें हर वक़्त वहशत है 'ख़याल'
उन अँधेरों तक तुम्हारी दास्ताँ ले जाऊँगा।

सन्नाटा

मैं जहाँ जाऊँ मेरे साथ चले सन्नाटा,
मेरी आँखों में लगातार जले सन्नाटा।

सुबह आती है दबे पाँव चली जाती है,
घेर लेता है मुझे शाम ढले सन्नाटा।

भागती भीड़ के क़दमों से लिपटकर रोए,
वरना हर सुस्त मुसाफ़िर को छले सन्नाटा।

तुम ख़यालात के ख़ेमों में सिमट मत जाना,
जब सरे-राह कभी हाथ मले सन्नाटा।

उर्दू के प्रतिष्ठित कवि चंद्रभान ख़याल का जन्म 1946 में हुआ। इनकी नज़्मों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। दिल्ली उर्दू अकादमी, उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी, मध्य प्रदेश उर्दू अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 14-बी, कौशिक एनक्लेव, बुराड़ी एक्सटेंशन, दिल्ली 110084, फ़ोन : 27611051

अनु. स्वयं

1. नदी का जल स्तर, 2. असीम समुंदर, 3. नज़दीकियाँ।

फिर मेरे शहर में लौट आई है दहशतगर्दी,
फिर हर इक जिस्म के साए में पले सन्नाटा।

अब मकानों की छतों का भी नज़ारा कर लो,
गुनगुनाता है सितारों के तले सन्नाटा।

आजकल उनके ठिकानों में बड़ी हलचल है,
काश, मेरे भी शबिस्ताँ[1] से टले सन्नाटा।

पछताने लगे

जुस्तजू के पाँव अब आराम-सा पाने लगे,
अब हमारे पास भी कुछ रास्ते आने लगे।

वक़्त और हालात पर क्या तबसिरा कीजे कि जब,
एक उलझन दूसरी उलझन को सुलझाने लगे।

शहर में जुर्मो-हवादिस इस क़दर हैं आजकल,
अब तो घर में बैठकर भी लोग घबराने लगे।

दिल में आ बैठा है देखो दूरियों का देवता,
हम जमाअत[2] के तसव्वुर[3] से भी उकताने लगे।

तुम किसी मज़लूम[4] की आवाज़ बनकर गूँजना,
याद मेरी जब तुम्हें शिद्दत से तड़पाने लगे।

ले रहा है दर्द अँगड़ाई, उठा वो एहतजाज[5],
ज़ख़्मख़ुर्दा सब परिंदे पंख फैलाने लगे।

काम ऐसा क्यों किया जाए कि जिसके बाद में,
आदमी अपने किए पर आप पछताने लगे।

---

1. शयनकक्ष, 2. संगठन, 3. कल्पना, 4. अत्याचार का मारा, 5. असंतोष।

उदय सहाय

तीर्थमय यात्रा

प्रश्न गंभीर था, फिर भी पवन अविचलित दिखा। बोला, "यह सत्य है कि कबीर ने इन यात्राओं को अर्थहीन बताया। पर यह भी एक विचित्र विडंबना है कि कबीर का जन्म-स्थान तीर्थ, कर्म-स्थान तीर्थ और निर्वाण-स्थान भी तीर्थ हो गया। बुद्ध के साथ भी यही हुआ। नानक की सारी यात्राएँ तो तीर्थमय घोषित कर दी गईं।" आगे उसका कहना था, "पहाड़ियाँ दुर्गम, नदी अथक, सागर अथाह—पर पार जाने के संकल्प ने हमेशा राह बनाई है। कष्ट सहकर राह बनाई है, तपकर राह बनाई है, श्रम कर राह बनाई है। राह ही तीर्थ है। तीर्थ का अर्थ है—पार जाना। यह केवल पहाड़ियों, वनों, नदियों और सागर के पार जाना नहीं है। यह ख़ुद के भी पार जाने की प्रक्रिया है। यह पार जाना तपते जाना है या गलते जाना है और उससे भी अधिक अपने परहेज़ी दायरे को तपाते और गलाते जाना है।" बोलते-बोलते उसका चेहरा द्रवित होने लगा था।

फिर बताने लगा वह इस विशेष तीर्थ यात्रा के विषय में। उसके अनुसार कई दृष्टिकोणों से वह तीर्थ और उससे जुड़ी यात्रा अद्भुत थी। उसके कई ऐसे रूप और गुण थे जो कि किसी भी स्थान को पावन भूमि की संज्ञा दिलवाने में सक्षम होती है। अनेक धर्मों की यह ज्ञान भूमि, भक्ति-भूमि और कर्म भूमि रही। हिंदू, बौद्ध, जैन, सिख, बोनपो—सभी धर्मानुयायियों के लिए आकर्षण और उत्सुकता का विषय। कई युगों की कहानियाँ, किंवदंतियाँ और लोक से लोकोत्तर की पहचान की जिज्ञासाओं को अपने अंदर समेटे। जिसका इतिहास एक बार में खोला न जा सके, न ही प्याज़ के छिलके की तरह परत-दर-परत। जिसकी बर्फ़ीली हवा में कई योनियों की तपस्या का तेज़ लिप्त हो। जिसकी ख़ूबसूरती में हो अकेलेपन का संगीत और ख़ामोशी का साज़। जिसकी अस्मिता की चमक दिखती हो केवल कृत्रिम परतों को उतारने के बाद।

सात्विकता की प्रतिमूर्ति कैलास के विषय में बताते हुए उसका चेहरा चमकने लगा था। अतीत में डूबती आँखों में एक भविष्यवक्ता की चमक थी। वर्णन के विस्तार में उसने आगे बताया कैसे घिरा है कैलास—एक तरफ़ राजसी प्रवृत्ति के द्योतक मानसरोवर से और तामसी प्रवृत्ति के सूचक राक्षस ताल से दूसरी तरफ़। उसका

उदय सहाय का जन्म 1961 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में आलेख प्रकाशित होते रहे हैं। हाल ही में इनकी पुस्तक *मेकिंग न्यूज़* प्रकाशित हुई है। संपर्क : डी-II/345, विनय मार्ग, चाणक्य-पुरी, नई दिल्ली 110021, मो. 9811418283

कहना था कि इन तीनों के सामने स्थित शांत खड़े राम के वंशज—गुरला, मंधाता, पर्वत श्रेणियाँ—इन तीनों प्रवृत्तियों में निरंतर समन्वय बनाती रही हैं। सदियों से—शांत, अविरल, बिना किसी शिकवे-शिकायत के। बताते-बताते कब वह धार्मिक से दार्शनिक, फिर साहित्यिक और फिर भूगर्भशास्त्रीय धरातल पर उतर आया, पता ही नहीं चला। तारापुरी, अलकापुरी, भस्मासुर पहाड़, सप्तर्षि गुफा, गौरीकुंड, नंदी पहाड़, जंबूद्वीप का जादुई वृक्ष, मानस के राजहंस जोड़ती है इस क्षेत्र को हमारे पूर्वजों की स्मृतियों से। इन स्मृतियों के धुँधले पड़ते ही हमारी संस्कृति और हमारा अस्तित्व रंगहीन हो उठेगा। सदियों पहले टेथिस समुद्रतल के 'टेक्टोनिक' गति के कारण गोंडवाना और यूरोशिया प्लेट के टकराने से इस क्षेत्र की उत्पत्ति हुई। कहते-कहते उसकी साँसें तेज़ चलने लगी थीं और चेहरा पिघल रहा था। जैसे कोई नया सच बोलने से पहले होता है।

उसने सहज स्वीकार किया कि यह सब ज्ञात नहीं था जब उसने वहाँ जाने का संकल्प उठाया। उस पर केवल दो कहावतों के प्रभाव थे—'पाहाड़ आबार डाके' और 'अज्ञात पर पहुँचने की जिज्ञासा'। विदेश-मंत्रालय के माध्यम से आयोजित इस यात्रा में संपर्क अधिकारी बतौर नियुक्ति में उसे कोई पापड़ नहीं बेलना पड़ा था। मंत्रालय वाले साक्षात्कार लेते वक़्त यह भाँप नहीं पाए थे कि उसमें न तो पर्वतारोहणियों वाला दम-खम है और न ही ॐ नमो शिवाय के जाप का भूत। हाँ, यह हो सकता है कि उसकी आँखों में छुपी कहावतों के झिलमिलाते रंग उन्हें दिख गए हों।

बहरहाल, चयन होते ही यात्रियों के एक समूह के नेतृत्व का भार उसे सौंप दिया गया। 31 यात्रियों का समूह एक भानुमति के पिटारे की तरह था। महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बंगाल, राजस्थान प्रांतों से इकट्ठे हुए लोग भाषा, खान-पान, पहनावे से भिन्न दिखते थे। हालाँकि उनकी यह भिन्नता अधेड़, बूढ़े और बुज़ुर्ग औरतों में अधिक प्रखर थी। उसे पहली बार आभास हुआ कि उनके यात्रा का उद्देश्य भी एक नहीं है। कोई पूजा-पाठ की धार्मिकता का कमंडल उठाए था तो कोई यात्री तीर्थ की उपलब्धियों का सबसे बड़ा ताज हासिल करने को आतुर। ॐ नमो शिवाय का जाप करते वक़्त शायद उन्हें पता भी नहीं था कि बोनपो, जैन या बौद्ध धर्मावलंबी इस यात्रा के दरमियान कोई अलग ही मंत्र का जाप करते हैं। दूसरी तरफ़ वे लोग थे जिनके लिए इस तरह की धार्मिकता, उत्सव या आडंबर से कुछ अलग नहीं थी। मोटे तौर पर युवक-युवतियों की यह टोली दुस्साहसी पर्वतारोहणीय उत्साह से प्रेरित थी और दूसरों को भजन मंडली करार देते हुए उन्हें दया और उपहास भाव से देखना अपना अधिकार समझती थी। यह ज़रूर था कि यात्रा के शुरुआती दौर में उन्होंने अपनी भावना ज़ाहिर नहीं होने दी ताकि कोई भी उनके संभ्रांत और सुसंस्कृत होने पर सवालिया निशान न खड़ा कर दे। धार्मिक टोली इस रवैये को नई उम्र का अल्हड़पन मानती थी और उसे नज़रअंदाज़ करने में ही समूह का हित समझती थी।

मंत्रालय के निर्देश पर एक भोजन समिति बना दी गई। इसमें अनुभवी गृहणियों को चुनना हितकर लगा। उसने पहली दफा यात्रा के नेतृत्व का कड़वा स्वाद चखा। प्रांतीय भेद आड़े आए 'मेनू' तैयार करने में। दोनों टोलियों ने समूह के भोज्य पदार्थ के चुनाव में मतभेद को बेबाकी से आगे रखा। कुछ यात्री प्रचुर मात्रा में गरिष्ठ भोजन सामग्री इकट्ठे करते दिखे। पर्वतारोहण में अल्पाहार के नियम से जैसे अनभिज्ञ हों।

पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर यात्रा-प्रस्थान एक अलग ही अनुभव था उसके लिए। वहाँ यात्रियों के प्रियजनों की भीड़ थी। बच्चे, बूढ़े और बीवी भाव-विह्वल दिखते थे। जैसे युद्ध के मैदान में प्रस्थान-पूर्व परिजन की विदाई हो।

ख़ासतौर से उसकी नज़र पड़ी थी—बंगाल से आई उस स्पाली दुबली-पतली महिला यात्री पर। उसे स्टेशन पर छोड़ने कोई नहीं आया था। यों शुरू हुई यात्रा। पहला पड़ाव-काठगोदाम स्टेशन। फिर बस की उबा देनेवाली सर्पाकार कोलतार की संकरी पहाड़ी सड़क। भजन और फ़िल्मी बोलों में छिपे नए परिचयों की छोटी अंतरंगता। चीड़, देवदार और रोडेडोंड्रोन के झुरमुटी वन। अल्मोड़ा होते हुए दो दिन में पहुँचा वह धारचुला, जहाँ से यात्रियों को आगे की पैदल यात्रा के लिए घोड़े या खच्चर लेने थे। भाड़ा तय करते वक़्त कुछ यात्रियों के चेहरे और स्पष्ट हुए। पहाड़ी क़ुलियों से भाड़ा तय करने की झक-झक से झाँकते दिखे—कुछ सामंती चेहरे। सुरीली आवाज़ वाली उस आकर्षक महिला का चेहरा फिर भी कोहरे-सा धुँधला दिखा। वह सबसे घुल-मिलकर जीने वाली दिखना चाहती थी। पर उसमें कुछ दरका हुआ दिखता था कहीं। बाद में उसने अपने डॉक्टर होने का परिचय दिया जो एकांगी और अधूरा लगा। दुनिया-जहान देखकर हर वक़्त जीवंत रहने वाले सर्राफ कनु भाई—एक जवान आत्मा वाले बूढ़े शरीर से परिचय हुआ। और गहरी आँखों में चुप्पी समेटे स्वामी जी। एक फुदकती तबीअत की काली तमिल लड़की कृष्णा। दिल्ली की अच्छी चलती परचूनी दुकानदार का बेटा अशोक गुप्ता दिखने वाला एक पात्र। लंपट-सा दिखने वाला ईंटों के भट्ठे वाले का पुत्र महिंदर। लक्ष्मीकांत प्यारेलाल जैसा तारतम्य रखने वाले भंडारे ओर ले। बेहद तेज़ चलने वाली छोटे क़द की गोरी सुंदर बुढ़िया सुबैना बैन। कई और। थे भी और नहीं भी थे।

संपर्क अधिकारी से शुरुआती कामचलाऊ रिश्ता बना समूह के अन्य लोगों का। धारचूला से कुछ दूर तक गाड़ी में चलने के बाद पहाड़ी सड़क अचानक ख़त्म हो गई। यात्री, क़ुलियों और ख़च्चरों का काफ़िला पैदल चल पड़ा थानेदार की चढ़ाई पर।

तीन दिन तक कोई रोचक प्रसंग नहीं। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पगडंडियाँ। आसान दिखने वाली मुँह चिढ़ाती चोटियों तक थका देने वाले भूल-भुलैये की तरह टेढ़े-मेढ़े रास्ते। रोज़ तड़के चल देना। तेज़ चलने वाले कुछ मज़बूत यात्रियों के बीच की आपसी होड़। एक-दो दिन तो उसे लगा कि आधुनिक जीवन की प्रतियोगिता भाव से सदा ग्रसित रहते हैं वे। पर कुछ की सच्चाई जल्द ही सामने आने लगी। उसने पाया कि संभ्रांत दिखने वाले कुछ ऐसे नवयुवक थे जो कि अगले कैंप तक इसलिए पहले पहुँचने को लालायित रहते थे कि उन्हें पर्यटन निगम द्वारा परोसे जानेवाली रसदार सब्ज़ी में आलू नदारद न मिलें। पीछे छूटे धीरे चलने वाले अधेड़ यात्रियों को नसीब होता था—चावल और आलूविहीन सब्ज़ी का रस। इस तरह तय होता था मुक़ाम रोज़ बारह-एक बजे मध्याह्न तक। दोपहर तक घुमड़ने लगते थे बादल। अँधेरा घिरते ही रात का भोजन होता था और फिर कुछ देर भजन। फिर गप का दौर और सोने का कार्यक्रम।

पहाड़ी पगडंडियों की बहिर्यात्रा से कहीं अधिक दुर्गम थी अंतर्यात्रा। पर्वत श्रेणियों के बीच खड़ी कुछ लंबी अकेली चोटियाँ अपनी प्रतिछाया-सी दिखने लगी थीं उसे। यात्रियों द्वारा नाम में सर, जी, साहब, बाबू आदि का औपचारिक संबोधन सिर्फ़ संपर्क अधिकारी के लिए था, उसके लिए नहीं।

पहली दफ़ा उस यात्रा में एक आत्मीयता का बोध उसे उस शाम हुआ जब उस आकर्षक महिला डॉक्टर सुनंदा रेगे ने उसे नाम से संबोधित किया, ''पवन, अकेली चोटी और इस हथेली की समानता उस कविता की याद दिलाती है।'' बहने लगी वह बुदबुदाती हुई, ''ज़िंदगी भर किसी सहारे की तलाश करता रहा, अंत में अपनी हथेलियों से बेहतर कोई जगह नहीं मिली।'' साथ होकर भी नितांत अकेले खड़े दिखे—ऊँची चोटी, महिला और वह। उस संवाद में कुछ

ऐसा था जैसे किसी ने उसकी कमज़ोर नब्ज़ पर उँगली रख दी हो। वह सिकुड़-सा गया। सबसे घुल-मिलकर रहने वाली यह 40 वर्षीय सुनंदा एक अनजान व्यक्ति के समक्ष इतने सहज भाव से सच कैसे खोल सकती है? भरपूर आँखों से उसने पहली बार देखा था उसे। उसकी आँखों में बचपन ज़िंदा दिखा था।

अगला मुक़ाम था—गर्व्यांग। वर्षों से धीरे-धीरे ज़मीन में धँसता एक गाँव। यहाँ से गाँववासी पलायन करने लगे हैं। इस गाँव से प्रशासनिक सेवा में कई लोग उत्तीर्ण हुए पर वापस इधर नहीं झाँका। गाँव के मकानों के दरवाज़ों पर कलमकारी और उनकी छोटी खिड़कियों से झाँकती जुगनूनुमा औरत और बच्चे अद्‌भुत दृश्य बनाते थे—डिज़िटल फ़ोटो की तरह। बिना रुके तेज़ी से लपकते हुए वे पहुँचे थे—गुंजी। पेड़-पौधे ग़ायब होने लगे थे। प्राचीन युग में दस्तावेज़ बतौर इस्तेमाल में आते छालों वाले पेड़, भोजपत्र यदा-कदा दिखते थे। संकेत था—ऊँचे हिमालय क्षेत्र में पहुँचने का। पूर्वनिर्मित सरकारी शिविर में पहुँचते ही पवन गिर गया था निढाल, ज़मीन पर लगे बिस्तर में।

नींद टूटी उसकी जब एक जवान ने भोजन के लिए झकझोरकर उठाया, "साहब, यहाँ खाना तुरंत ठंडा हो जाता है।"

वह बाहर निकला तो उसे लगा कि यात्री कुछ रहस्यमय ढंग से खुसर-पुसर कर रहे हैं सूर्यास्त के लंबे साए तले। गाँव के बच्चों ने ही जवानों को संकेत किया कि ढलते दिन में एक-दो आदमी का गाँव के मुहाने पर घूमना ख़तरनाक हो सकता है। पहाड़ी तेंदुए मँडराते हैं। एकांत में जवान की अनचाही दख़लअंदाज़ी उस महिला की खुली तबीअत को नागवार गुज़री थी। वह मुँह फुलाए दिखी। मूँछों वाले अधेड़ यात्री ने जवानों से कोई बहस नहीं की।

अगले दिन दिल्ली के बाद सरकारी डॉक्टरों द्वारा दूसरी चिकित्सा जाँच की बारी थी। हमेशा दंभ से भरे तेज़ चलने वाले एक अनुभवी यात्री को डॉक्टर ने उसे आगे जाने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। पता चला उसके दिल के बाएँ हिस्से में एक छेद है और ऊँची चढ़ाई उसके लिए जानलेवा हो सकती है। पहली बार वह यात्री हताश दिखा था। उसका दंभ बिखर चुका था। एक
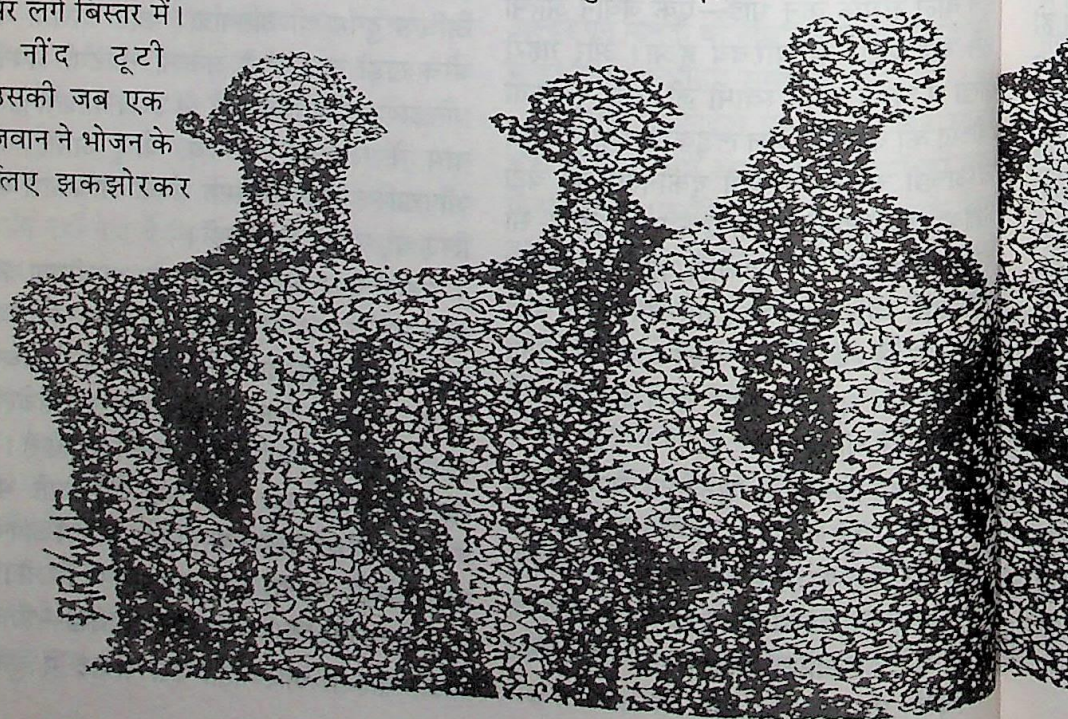
ही शर्त पर आई टी बी पी के डॉक्टर उसे आगे बढ़ने की अनुमति देने को तैयार थे। अगर संपर्क अधिकारी व्यक्तिगत लिखित तौर पर उसकी ज़िम्मेदारी देने को तैयार हो। पवन के लिए ऐसी अनुमति देना संभव न था। सो उस अनुभवी यात्री को लौटना पड़ा। वृक्षविहीन पहाड़ों के बीच चार-पाँच घंटे चलने के बाद एक खुले मैदान में अपनी ज़िंदगी के सबसे चौंका देनेवाले दैविक सौंदर्य से साक्षात्कार हुआ उसे। यह था—नाबीडांग से दिखने वाला ऊं पर्वत। 16,000 फ़ुट की ऊँचाई पर स्थित। भारत, नेपाल और चीन के तिमुहाने पर नेपाल स्थित ऊं पर्वत का चेहरा केवल भारत के इसी पड़ाव से दर्शित होता है। वह भी अगर आप भाग्यशाली हुए तो अन्यथा बादलों के समूह को इस ऊं चेहरे को ढककर रखना स्वाभाविक लगता है। स्कंद पुराण वर्णित प्रकृति की इस अलौकिक कृति से उसका तार्किक मस्तिष्क घूम गया। एक बच्चे की आँख से मंत्रमुग्ध, टकटकी लगाए वह झूमता रहा इस दर्शन पर। सत्य की सुंदरता दिखी शिव के दर्शन की अभिलाषा में उसे।

ठिठुरती ठंड में आगे की लिपू पास की यात्रा कटी खच्चरों पर। पौ फटते ही पवन ने पाया कि भारत की फीकी पड़ती हरी सुंदरता लुप्त हो चली थी और दाहिनी ओर तिब्बत की भूरी रंग की ख़ूबसूरती की छटा धूप में स्नान कर रही थी। जैसे भूरी मिट्टी की विशाल छत हो, जिस पर बर्फ़ से ढके पिरामिडनुमा कई पहाड़ उग आए हों। प्रथम प्रेम की तरह तिब्बत की पहली छटा हर के मन में स्थायी तौर पर अंकित हो जाती है। मंगोलियाई चेहरे सुखाई हुई स्थानीय झाड़ियों से ढके एक तल्ला सामंती आकृति के मकान। भूरे पहाड़ों में दीमक के घरोंनुमा बने कई गुफाओं के दृश्य, करनाली नदी का रिसता बहाव, कोलतार रहित बोल्डर्स की सड़क। बहुत ही अनाकर्षक गेस्ट हाउस
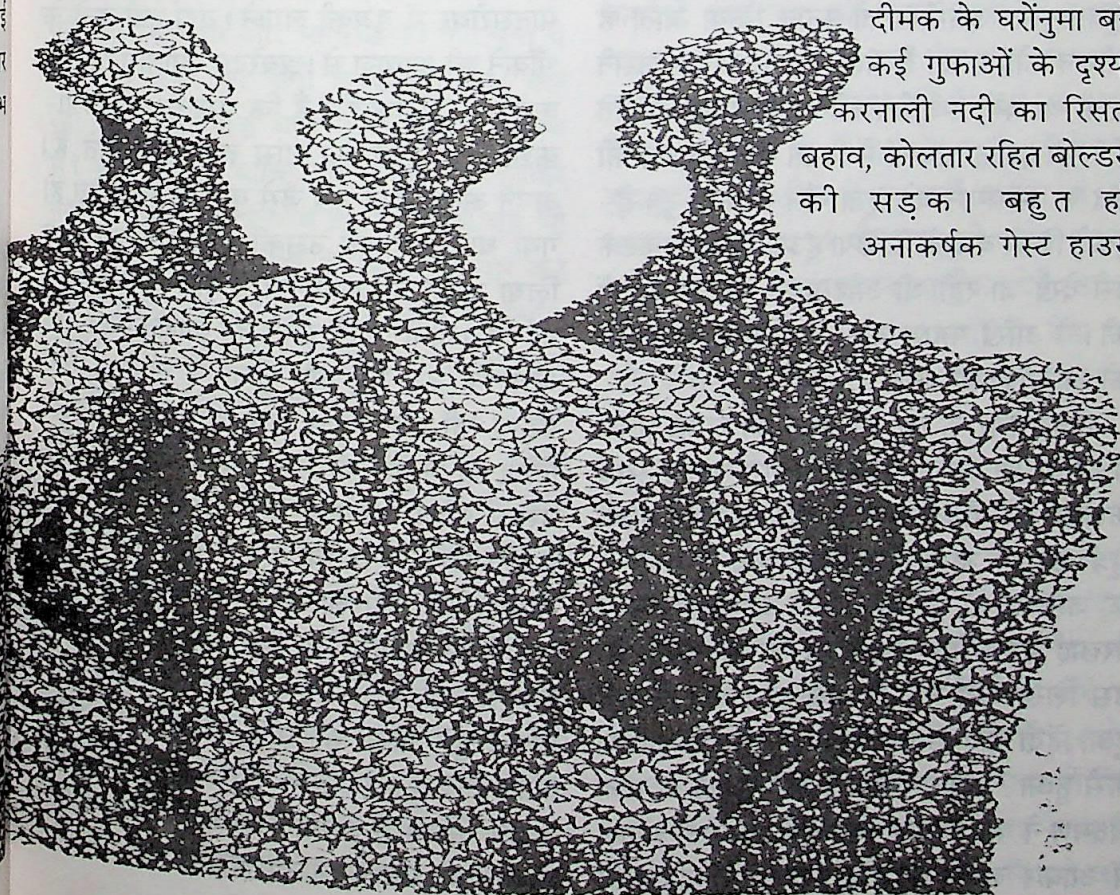
के कामचलाऊ होस्टलनुमा कमरे। शौच की गंदगी से विवश पहाड़ी नालों के मेड़ों का सहारा। टेढ़ी-मेढ़ी कुबड़ी दुकानें। तकलाकोट का हॉलीवुड के काऊ ब्वाय के सेट जैसा हॉट और कैंटोनमेंट इलाक़े के अदृश्य भय। कुल मिलाकर यह अनुभव हतोत्साहित करने वाला था। सीमा शुल्क की औपचारिकता और आगे की यात्रा संबंधी निर्देशों का दौर। पवन का सारा ध्यान यात्रा के अगले चरण पर था।

अगले दिन पुरानी बदरंग बस में सवार दो पहाड़ियों के बीच से परखा मैदान में प्रवेश पाते ही पवन को लगा कि वह एक परी लोक में सरक आया है। पहला साक्षात्कार हुआ था राक्षस-ताल से। फ़िरोज़ी रंग के इस ताल का मांसल सौंदर्य स्तब्ध कर देता है पहली दफ़ा। उस ख़ूबसूरती से अभ्यस्त होने पर सुनंदा ने पास आकर बताया कि स्थानीय बस ड्राइवर के सूचनानुसार इसमें न तो स्नान किया जाता है और न कोई करता है जल-ग्रहण। बाद में उसने जाना था क्यों स्थानीय लोग इसे तामसी मानते हैं? पार इसके बादलों में दिखा था—तिब्बत की छत पर आसमान को छूता मौन साधक, टुकड़े-टुकड़े छितरे बादलों में छिपा हुआ। सुनंदा एकटक उसे देखे जा रही थी और पवन उसकी आँखों को। वे आँखें पहाड़ को अपने अंदर समा लेने को आतुर दिखी थीं।

मानसरोवर के तट पर पवन को स्पष्ट समझ में आया था कि यह समाधिलीन पहाड़ स्वयं कैलास है—मेरूदंड धरती और स्वर्ग का संपर्क सूत्र। इसकी उपयुक्त व्याख्या बाद में मिली : के जले लासो नृत्यम असि। अर्थात् जिसकी परछाईं मानसरोवर झील पर नाचती रहती है, उस शिखर का नाम कैलास है। बाद में ज्ञात हुआ हिंदी भाषा में यह शब्द 'कैलास' से कैलाश कैसे हुआ? बताया जाता है कि बंगाल के राजा लक्ष्मण ने कई विद्वान ब्राह्मण परिवार को बंगाल में आकर बसने का निमंत्रण दिया था। इन्हीं परिवारों में रवींद्रनाथ ठाकुर के पूर्वज भी थे। बाङ्ला भाषा में सामान्यतः 'स' अक्षर का उच्चारण चूँकि 'श' हो जाता है, इसीलिए कैलास शिखर को 'कैलाश' कहकर भी वह बुलाने लगे।

मानसरोवर के तट पर ठंडक में ग़ज़ब का सुकून था। धीरे-धीरे वह उतरती रही अंदर। सुनंदा के साथ उस शाम मानसरोवर के तट पर वह दूर तक टहलता चला गया था। क्षितिज के बदलते रंगों के सम्मोहनवश। आकाश के गेरुए, काले, नीले और गहरे लाल रंग से नहाते रहे वह तट पर बैठे-बैठे। साँय-साँय चलती तेज़ हवाओं में सन्नाटे के बजाय पृथ्वी का ताल और प्रकृति का सुर घेरे था—दोनों को इर्द-गिर्द। जैसे साक्षात् सरस्वती मानसरोवर तट पर वीणा के तारों पर तन्मयता से सृजन कर रही थी—संगीत। मात्र उन दोनों के लिए। संगीत की घंटियों से खिंचे सप्तर्षि आकाश में जैसे उतरने ही वाले थे, मानसरोवर में डुबकी लगाने। तंद्रा टूटी कुत्ते के भौंकने की आवाज़ से। झबरेदार, आवारा तिब्बती कुत्ते इतने हिंसक होते हैं कि भूख के मारे कभी-कभी एक-दूसरे का मांस तक नोच लेते हैं। अपने अंदर छिपा भय जैसे कुत्ते में अवतरित हो गया था। अचानक उसकी हथेलियों को थाम लिया सुनंदा की हथेलियों ने और साथ चिपक गई वह। दोनों किसी ख़तरे की आशंका को देख अचानक उठ गए और तेज़ी से लपकने लगे पड़ाव की ओर। भय और आशंका ने निगल लिया था संगीत की छुअन को। निस्तब्ध थामे उसकी हथेली की कठोरता का अचानक आभास हुआ। उसे लगा कि एक लंबे समय तक भावनात्मक असुरक्षा में लिप्त हथेलियाँ कैसे कठोर बन जाती हैं या फिर ज़िंदगी के थपेड़ों को दरकिनार करते-करते। रास्ते में दो-तीन दफ़ा हाँफते हुए दोनों की साँसें टकराईं और होंठ आलिंगनबद्ध हुए। उसके होंठ उसकी हथेली से कितने अलग हैं, ख़याल आया उसे। कुत्ते के भौंकने की आवाज़ मद्धिम हो गई थी।

अगले दिन परिक्रमा शुरू होनी थी मानसरोवर की। खच्चरों और घोड़ों के लश्कर के साथ। पौ फटते ही दक्षिणामूर्ति कैलास दाहिनी तरफ़ साक्षात् खड़े थे—शांत मानसरोवर के क्षितिज में। गले में सर्प लपेटे गंगा की धारा जटाओं से कपाल के बीच बहता हुआ। तट के किनारे खच्चरों और घोड़ों की घंटी की आवाज़ ही केवल ख़ामोशी को भंग कर रही थी। दिनभर 14,000 फ़ुट पर पैदल चलते रहने की परिकल्पना आशंका जगाती रही। जल्द ही तेज़ धूप और तेज़ चालों की ऊर्जा ठंड को पछाड़ने लगी थी। ब्रह्मा के मन-सा शांत मानसरोवर का अथाह जल-संसार ही एकमात्र प्रेरणा था। परिक्रमा के पराक्रम में भी एक अहम् छिपा था उसे घेर लेने का।

लश्कर तीन-चार घंटे बाद मानसरोवर तट पर मिलने वाली पहाड़ी नदी के मुहाने पर पहुँच गया था। गाइड सामान से लदे खच्चरों को पानी पर उतार रहा था और यात्रियों को चेतावनी दे रहा था। कमर भर पानी के छलावे का। बता रहा था उसकी तेज़ धारा की शक्ति के विषय में। कुछ महिला यात्रियों ने खच्चर पर चढ़कर नदी पार करने का निर्णय लिया। उसमें वह भी थी। धारा से तीव्र संघर्ष के बाद नदी पार कर शक्ति बटोर रहा था वह आगे बढ़ने के लिए। अपने शरीर में मग्न। अचानक एक चीत्कार उनके कानों तक पहुँची। झटके से सिर उठाया तो द्रवित करने वाला दृश्य सामने था। सुनंदा नदी के मुहाने से थोड़ी दूर अपने हाथों को सीने में भींचे ज़मीन पर तड़प रही थी। भागा उठकर वह उसकी ओर। मुहाने पर ही खच्चर के पैर फिसलने से वह खच्चर के साथ बाएँ हाथ के बल गिरी। उसकी कलाई की हड्डी दरक चुकी थी। और भी यात्री दौड़कर पहुँच गए थे उसके नज़दीक। वह सुबक रही थी और उसका सहारा, सांत्वना से ज़्यादा कुछ साबित नहीं हो रहा था। किसी तरह बाँह पकड़ उसने उसे उठाया और दक्षिणामूर्ति कैलास की तरफ़ देखने लगा। प्रार्थना की घंटी उसके मन में बजती रही।

थोड़ी देर में भीड़ छँटने लगी थी—जैसे-जैसे उसका दर्द पुराना पड़ता दिखा। सुबकते हुए अपने दुपट्टे को उसने डॉक्टरी तरीक़े से बीच में बाँधा और फंदा डालकर गले में लटकाया। थोड़ी ही देर में उसका सुबकना बंद हो गया। एक अद्भुत आत्मविश्वास था सुनंदा में आगे चलने का। वह चिंतित था, कैसे उसकी यात्रा आगे बढ़ेगी। बाक़ी यात्री जा चुके थे और वह दोनों ही बचे थे। सहारा लेकर चलने लगी थी वह चुपचाप। आँसू सूखकर उसके चेहरे पर दिव्य लग रहे थे।

स्वामी जी दूर घोड़े का रास पकड़े सरक रहे थे। शायद उनकी तबीअत ठीक नहीं थी। जीर्ण अवस्था में धूप के छह घंटे की पैदल चाल से हारे हुए। वह पूछने लगे सुनंदा से, "कैसे कर पाओगी शाम तक की पैदल यात्रा?" उसका कहना था, "कोई बड़ा पाप धुल गया जो शायद वर्षों से संचित था। दक्षिणामूर्ति कैलास की आभा में।" थकावट से मैं उसके सूखे होंठों की बुदबुदाहट को ठीक से पढ़ नहीं पा रहा था। दूर मानसरोवर के तट पर बौद्ध मठ की ध्वज-पताका फहरा रही थीं—जुझारूपन का हुँकार देते। उनका फड़फड़ाना गति के सत्य का परिचय देता रहा और दक्षिणामूर्ति कैलास, शांत और अटल सनातन सत्य का।

स्वामी जी दूर दिखने लगे थे—ठहरे हुए। घास चरता एक घोड़ा नज़दीक दिखा। थोड़ी देर में सरकते हुए वे दोनों वहीं पहुँच गए। आधे घंटे बिना कुछ बात किए जुड़े रहे चारों एक-दूसरे से। स्वामी जी, उनका घोड़ा, डॉक्टर सुनंदा और पवन। जन्म-जन्मांतर से ऐसे रिश्ते में बँधे जो औपचारिकता से घिरे शब्दों से परे हो। स्वामी जी को बुख़ार ने दबोच लिया था। पवन ने ज़िद की कि वह घोड़े पर बैठ जाएँ रास्ता लंबा है। स्वामी जी को मदद देकर घोड़े पर बिठाते वक़्त

उसे आभास हुआ कि यह बात घोड़े की स्वच्छंद तबीअत को नागवार गुज़री। स्वामी जी को पीठ पर बिठाए वह कुछ क़दम चलकर दाईं दिशा में मुड़ा और फिर सरपट भागने लगा। स्वामी जी भयग्रस्त होकर घोड़े की गर्दन से लिपट चुके थे। अचानक न जाने कहाँ से एक साहस समा गया उसके अंदर। रकसैक को ज़मीन पर पटक कर पवन भी घोड़े की तरफ़ भागा। अपनी तरफ़ उसे आते देख घोड़े ने अचानक दिशा बदल दी। वह भी दिशा पलटकर उसके समानांतर भागने लगा। घोड़े को क़ाबू करने की उसकी प्रतिज्ञा ने रंग दिखाया और घोड़ा अचानक ही ठिठककर रुक गया। घुड़सवारी की कला, वह उसकी लगाम को पकड़ने का मन बना चुका था और शायद घोड़े ने यह बात भाँप ली थी। स्वामी जी का चेहरा सफ़ेद पड़ चुका था। सहारा देकर उतारा तो पत्ते की तरह काँप रहे थे। उनकी धड़कनें तेज़ थीं और उसकी धौंकनी जैसी चलती साँसों में भी सुनाई पड़ रही थीं। वह ज़मीन पर तत्काल लेट गए। भीगे पानी की पट्टी ने उन्हें राहत दी। तब तक सुनंदा नज़दीक पहुँच चुकी थी और यह उसी का सुझाव था।

स्वामी जी की कंपन शांत हो गई थी। वह आँखें खोले भाव विहीन मुद्रा में ज़मीन पर लेटकर आकाश को ताक रहे थे। न जाने क्यों लगता था वह एक ग्राह्य अवस्था में कुछ गूढ़ संप्रेषण को तैयार हों। कई प्रश्न उसके मन में घुमड़ रहे थे—कुछ ही देर पहले स्वामी जी के चेहरे पर व्याप्त भय, क्षणभंगुर शरीर का मोह और जिजीविषा। क्या फ़र्क़ है एक आम और एक पहुँचे हुए इंसान में? क्या तीर्थ का इतना आकर्षण दिखावा मात्र है? आत्मा ही नदी है, उसमें संशय का जल है, सत्य ही धारा है, शील ही तट है, दया ही लहर है—इसी में स्नान करें, इसी से शुद्ध होंगे, जल से अंतरात्मा शुद्ध नहीं होती—क्या वामन पुराण में कही गई यह सारी बातें सत्य हैं? कबीर तो बहिर्यात्राओं को अर्थहीन बताते हुए कह गए, ''मोकौं कहाँ ढूँढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में। ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।'' तो फिर तीर्थ क्या मात्र कर्मकांड है? तो फिर क्या फ़र्क़ है, यात्रा, पर्यटन और तीर्थ यात्रा में?

ठीक-ठीक वह समझ नहीं पाया कि स्वामी जी की जुबान में सरस्वती की विद्या समा गई थी या ब्रह्मा की परा विद्या। स्वामी जी की बुदबुदाती, धीमी आवाज़ भी आकाशवाणी की तरह स्पष्ट सुनाई दे रही थी। वह कह रहे थे, ''सांसारिक तौर पर तो हम शरीर को पर्यटन से जोड़ते हैं, मन को यात्रा से और आत्मा को तीर्थ यात्रा से। हम कुछ भ्रम पालते हैं। लगता है कि शरीर पर्यटन से और पर्यटन तामसी प्रवृत्ति से जुड़ा है, मन यात्रा से और यात्रा राजसी प्रवृत्ति से जुड़ी है और आत्मा जुड़ी है तीर्थ यात्रा से और तीर्थ यात्रा हमारी सात्विक प्रवृत्ति से। हम सोचते हैं कि तीर्थ यात्रा में हम तामसी और राजसी रास्तों से गुज़रकर सात्विक मुक़ाम पर पहुँच जाएँगे। पर होता कुछ और है। तीनों प्रवृत्तियाँ हर समय हमारे अंदर उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं। कभी एक हावी होता है हम पर तो कभी दूसरा।''

यात्रा की अगली कड़ी थी—कैलास का बेस कैंप। कैलास-परिक्रमा से पूर्व एक दिन का विश्राम। बदरंग टीले पर क़रीब एक एकड़ भूमि पर घिरी चारदीवारी पर पक्के तिब्बती एक तले कमरों की क़तारें। तंबुओं का फैलाव। नेपाल और अन्य जगहों से कई वेश-भूषा में आए यात्रीगण। जैसे भारतीय हाट की याद दिलाती थी—तिब्बती गहने, खाद्य-सामग्री, जानवरों की छालें, जड़ी-बूटियाँ। टोपी पहने लंबे तिब्बती डरावने लगते थे और उनकी पत्नियाँ बेफ़िक्र। बूढ़ों की संख्या कम थी। बच्चे अपनी दुनिया में मग्न। पीछे दक्षिणामूर्ति कैलास का स्वच्छ धवल मुकुट एक रहस्यात्मकता पैदा कर रहा था चारों

तरफ़। भोजन के नाम पर रोज़ की खिचड़ी और चाय अब स्वादिष्ट लगने लगी थी। यात्री हँसी-मज़ाक़ की दुनिया में गोते लगाते दिखे। डॉक्टर सुनंदा अपना दर्द भूल चुकी थी और आगे की यात्रा के लिए कमान कस रही थी।

अँधेरे में तड़के चल देना ज़रूरी है, तिब्बती गाइड समझाता रहा। याक, घोड़ों और खच्चरों की घंटी की आवाज़ें ख़ामोशी को तोड़ रही थीं। शुरू का रास्ता समतल-सा था। पौ फटते ही इस परखा मैदान का सौंदर्य सामने था। हम यम द्वार के नज़दीक पहुँच चुके थे। स्थानीय पत्थरों से बने मैदान के बीच यह द्वार लोगों द्वारा त्यागे कपड़े के टुकड़ों से पटा पड़ा था। पीछे स्थित विशाल दक्षिण-पश्चिम मूर्ति कैलास। ऐसा भ्रम होता था जैसे शिव का चेहरा ग्रेनाइट के कमल के पत्तेनुमा पहाड़ों से घिरा था और उनकी मुँदी आँखों के ऊपर त्रिनेत्र बंद थे। वास्तविकता और अवास्तविकता के बीच की दीवार बेमानी लगने लगी थी। अपने ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ाने और यात्रियों में अपने प्रियजनों पर सिक्का जमाने की तैयारी ज़ोर-शोर से हो रही थी। कैमरों की आपसी दौड़ हास्यास्पद स्थिति पैदा कर रही थी। जलपान के लिए ब्रेक था। आगे चलने के पूर्व कांति भाई को घोड़ा अपने पर सवार नहीं होने दे रहा था। विनती करते दिखते थे वह घोड़े के तिब्बती मालिक से।

काफ़ी देर अकेला चलता रहा पवन। जब सुस्ताने के लिए रुका तो डॉक्टर सुनंदा का समूह पास आ चुका था। वे बिना रुके आगे बढ़ गए और सुनंदा रुक गई उसका साथ देने को। हम कुछ घंटे तक साथ चलते रहे थे। मन-बेमन। कई दफ़ा हमारी उँगलियाँ गुँथी थी आपस में। मौसम बदलने लगा था। बादल हिलोरे लेने लगे थे। अगला पड़ाव आने का आभास हो रहा था। मोटी बूँदें शरीर को पार कर बदन को भिगो रही थीं। हम दोनों को नज़दीक ला रहा था शरीर का ताप। एक मोड़ पर पहुँचते ही दाहिने घूमे हम। अगला पड़ाव—डेरापुक सामने था। ''उलटकर देखो,'' सुनंदा रुक गई थी पीछे। हतप्रभ, जड़ अवस्था में। उत्तरमुखी कैलास सामने अलौकिक प्रतीक की तरह दमक रहा था। अपराह्न होते-होते उत्तराभिमुख मुद्रा में बिलकुल अर्धनिम्मीलित नेत्रों वाली संन्यासी।

अँधेरा घिर जाने तक उस अलौकिक दृश्य के सम्मोहन में डूबे रहे हम सब। तभी किसी ने आवाज़ लगाई कि वह रुपाली दत्ता अभी तक नहीं पहुँची है और साथ ही महिंदर भी ग़ायब है। हड़कंप-सा मच गया कैंप के कमरे में। पवन के अंदर का संपर्क अधिकारी अचानक जैसे सोते में जाग गया हो। अटकलों का पारावार न था। मैं कैलास मुख होकर अँधेरे में उनकी सकुशलता की प्रार्थना करने लगा। कर्तव्य बोध उसे असहज कर रहा था।

रात्रि के क़रीब साढ़े नौ बजे अचानक रूपाली दत्ता भीगे हुए माटी के कैंप के दरवाज़े पर अवतरित हो गई। उसके बाल खुले और उलझे थे। सुबक रही थी वह। किसी की हिम्मत नहीं हुई कुछ पूछने की। बुदबुदाते हुए बोलने लगी, ''छोटे पहाड़ी रास्ते के चक्कर में भटक गई वह। पहाड़ी आँधी में घिरने से किसी गुफा में शरण लेनी पड़ी उसे।'' महिंदर उसके पीछे मुँह लटकाए खड़ा रहा और रूपाली दत्ता फूट-फूटकर रोती रही काफ़ी देर तक बिना हिले-डुले। देर रात में वह छोटे क़द की सुबैना बेन बुदबुदाती दिखी। अपनी अनुभवी आँखों से वह कथित घटना के पीछे के सत्य को भाँप चुकी थी। उसके अनुसार रूपाली के साथ बुरा हो चुका था। बिना चर्चा ही एक मूक सर्वसम्मति बन गई कि इस घटना के कटु सत्य को निगल जाना ही समूह के हित में उचित है।

कई मायने में वह काली स्याह रात थी। घुप्प अँधेरे में उस माटीघर की रज़ाई के तले उसके

शरीर की माटी सुनंदा के शरीर के ताप में तपकर बँधे-बँधाए परिभाषित रिश्तों के पुल को पार कर रिश्तों के एक नए बर्तन का आकार ले चुकी थी।

सुबह पवन जगा तो नींद में सोती सुनंदा का शरीर प्रश्नवाचक चिह्न की तरह मुड़ा था। क्या सुनंदा विवाह के लिए उसे मजबूर करेगी? क्या उसके इस संबंध का आख़िरी पड़ाव विवाह ही होगा? क्या वह उसे सुखद स्वप्न की तरह भूल जाएगा?

बाहर निकलते ही उत्तरी कैलास की दिव्यता और भव्यता उसे स्वर्ण मुकुट पहने संन्यासी सम्राट-सी दिखी। उसके नैसर्गिक सौंदर्य ने हमें अपने सम्मोहन के बाहुपाश में जकड़ लिया था। उस ध्यान में मग्न कैलास के इर्द-गिर्द झाड़ीनुमा वनस्पति, आकाश और जंगली फूल, सभी सत्संग सुनते लगते थे।

आगे मृत्यु की घाटी की चढ़ाई शरीर की सीमाओं की परीक्षा लेने वाली थी। पूरा समूह छितरा गया था। हर यात्री अकेले अपने पैरों की बदौलत आगे सरक रहा था। याक भी किसी यात्री का भार ढोने में अन्यमनस्कता दिखा रहे थे। फेफड़े जवाब दे रहे थे पैरों के साथ। निस्तब्ध तीन घंटे की चढ़ाई उसे अपनी ज़िंदगी की एक कठोर शारीरिक परीक्षा लगी। दाहिनी तरफ़ उत्तरामुखी कैलास और उनके बाईं ओर फैली जटाएँ, बोल्डर्स की ऊबड़-खाबड़ ख़तरनाक चढ़ाई, ऑक्सीजन की कमी और सबका एक-दूसरे से साथ छूटना—लगता था सचमुच यम लोक में प्रवेश पा रहे थे हम। कहने को सब साथ भी थे और अकेले भी। तंद्रा तब टूटी जब रंग-बिरंगे कपड़ों का एक विशाल ढेर दिखाई पड़ा। गाइड ने बताया कि शरीर पर से कोई वस्त्र का टुकड़ा यहाँ त्यागते हैं—एक नवजीवन पाने के अनुग्रहीत भाव से। दूर ध्वज-पताके लहराते दिख रहे थे। किसी ने आवाज़ लगाई, "वह रही तारा देवी की चट्टान।" बदन में नवस्फूर्ति फैल गई। साँस के साथ गति भी तेज़ हो गई थी। आधे घंटे लगातार चलकर सब उस तारा देवी चट्टान पर नतमस्तक थे। ध्वज-पताके उसके बालों को सहला रहे थे। आँसू रुकने का नाम नहीं लेते थे। सामने गौरीकुंड-पार्वती का स्नान स्थान—जैसे आँखों में समा गया हो। दुनिया की सबसे ऊँचाई पर स्थित यह जल स्रोत नदी की सनातनता का बोध कराती रही। सब क़रीब 19,000 फ़ीट पर थे।

यह प्रवाहमानता ही मदद करती है लोक के भीतर रहने वाले लोकोत्तर की पहचान में। वह लोकोत्तर कुछ नहीं, लोक का ही सहज भाव है। अछोर विशालता, ज़रा-सा छूते ही ढुलक जाने की प्रवृत्ति, तीव्र संवेदनशीलता और वज्र सह लेने की शक्ति-तीर्थ इन सबकी पहचान है और सबसे बड़ी पहचान है—विश्वास की। वह तीर्थ अब अंतस में उतर आया था और रास्ता साफ़ दिखने लगा था। पीछे छूटने के बजाय कैलास जैसे चुपचाप साथ चलने लगे हों। ऐसा प्रतीत होता था कि आगे की जीवनयात्रा में किसी अदृश्य शक्ति ने चुपचाप कई टिमटिमाते दीप रख दिए थे।

कुछ यात्री हुँकार लगा रहे थे, "आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। मौसम ख़राब हो रहा है। चलते रहो।" उसकी बहिर्यात्रा और अंतर्यात्रा एक-दूसरे में समा चुकी थी। लग रहा था पवन संन्यासी हो गया है, जो सदा चलता रहे, बहता रहे, कहीं घर न बनाए। घर बनाया कि उसके साथ पूरा जाल आया, जीवन का जंजाल आया। चरैवेति, चरैवेति चलते रहो, चलते रहो।

पवन ने पलटकर देखा सुनंदा पीछे छूट गई थी। सबसे पीछे चल रही रूपाली दत्ता को सहारा देती हुई सुनंदा दूरी और निचाई के बावजूद ऊँची दिख रही थी।

वंदना देवेंद्र

छाया भय

ताज़ा सफ़ेद पुती हवेली की दो मंज़िला इमारत अपने विशाल घेरे के बीच बग़ुले-सी खड़ी थी।

फाटक के बाहर भिखमंगों की भीड़ थी। वे वहाँ तीन दिन से इकट्ठे हो रहे थे और इतने अधिक थे कि दिगंत तक उनकी भूख और दरिद्रता की मटमैली धूसरता फैल गई थी। हवेली में प्रेतात्मा-मुक्ति के लिए अनुष्ठान चल रहा था। हवन की इति-आहुति के पश्चात् ब्रह्मभोज का आयोजन था जिसमें इन अनचाहों को न्योते कर बुलाया गया था। हवेली में अकसर होने वाले ऐसे आयोजन जैसे ज़माने भर के भिखारियों में लोकप्रिय हो चले थे।

अपने अस्तित्व के आदि से ही आतंक का पर्याय रही हवेली के ऐश्वर्यमय निवासी श्यामा की प्रेतात्मा से आतंकित थे। श्यामा हवेली के मौजूदा मुखिया नाहर सिंह की पहली पत्नी थी जिसने दो मंज़िला हवेली की मुंडेर से कूदकर जान दे दी थी। यह प्रेतात्मा बड़ी ढीठ थी। इतने यज्ञों और तांत्रिक अनुष्ठानों के बाद भी हवेली नहीं छोड़ती थी। इस भटकती रूह के लिए जैसे कोई और ठौर नहीं था या समय उसके लिए रुक गया था।

अनुष्ठान के स्थान पर रोके रखने के लिए भौजाई रूपवती को दालान के एक जंगले से बाँध दिया था। श्यामा की सबसे बड़ी अपराधी वही थी। इसलिए प्रेतात्मा का सबसे अधिक प्रकोप उसी पर था। वह अपने होशो-हवास खो चुकी थी।

कुँवर नाहर सिंह की दूसरी पत्नी मुन्नी अपने बच्चों के लिए भयभीत थी। नाहर सिंह के बड़े भाई कुँवर रूप सिंह की पत्नी रूपवती यानी भौजाई जैसे अपने अंतस् के भीतर सीढ़ियाँ उतर रही थी। उसके लिए दिन और दिया सब निरर्थक थे। उसकी आँखों की रोशनी बीत गई थी। वह किसी और संसार में विचरती अपने बिखरे बालों में उँगलियाँ डाले जुएँ ढूँढ़ने में मगन रहती थी। कभी पूरी हवेली को गुंजायमान करती उसकी तीखी आवाज़ कई वर्षों से ख़ामोश थी। नाहर सिंह वैराग्यमुखी हो चले थे।

हवेली की बूढ़ी नाइन मझिया ने आम, चंदन की लकड़ी के छोटे टुकड़ों की आख़िरी खेप भीतर ले जाते हुए हाथ से तनिक सब्र करने का इशारा कर भीड़ को और बेचैन कर दिया था,

1962 में जन्मी चित्रकार वंदना देवेंद्र का एक कविता-संग्रह *समय का हिसाब* प्रकाशित है। यह उनकी लिखी पहली कहानी है। संपर्क : 9/11, ग्राउंड फ़्लोर, ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली 110008, फ़ोन : 9313098817

''देवी मैया की जै-केला मैया की जय।'' भीड़ का समवेत स्वर गूँज रहा था।

हवन में आहुति चढ़ाती मुन्नी का गोरा चेहरा सुनहरी लालिमा से दमक रहा था। नाहर सिंह और मुन्नी दोनों की आँखें आग के धुएँ से लाल थी। हवेली के शुभचिंतक कुछ ग्रामीण पुरुष वहाँ मौजूद थे। स्त्रियों-बच्चों की उपस्थिति प्रेतात्मा के भय से कम थी शायद।

अपने स्थान पर बैठी रूपवती ने पेशाब कर लिया था। उसकी उमेठी हुई बास सबका मन ख़राब कर रही थी। इस अपशगुन ने सभी को भयभीत कर दिया था। रूपवती की देखभाल करने वाली नाइन कमली कपड़े बदलने के लिए ले जाते हुए उसे दबी सख़्त ज़बान में डपट रही थी, ''ऐ ऽ ठगिनी तुम्हें चैन नाय है, घड़ी भर को रुक जाती।'' रूपवती पूर्ववत् उँगलियों की पोर बालों में उलझाए दूसरी ओर देख रही थी जैसे वह वहाँ उपस्थित ही न हो।

तीन दिन से चल रहे अनुष्ठान के यह अंतिम क्षण थे। उधर पूजा समाप्त होने के बाद देवी के भजन शुरू हो गए थे, ''केला मैया के भवन में घुटवन खेले लागुरिया...घुटवन खेले लागुरिया... के घुटवन खेले लागुरिया...केला मैया...।''

इस बीच कमली भौजाई को नहला-धुला कर वापस ले आई और उसे यथास्थान बाँध दिया था।

इस कृत्य से निवृत्त होते ही कमली ने अपनी जगह खड़े-खड़े ही टेक ली, ''श्यामा मैया के भवन में घुटवन खेले लागुरिया।'' उसके सुर में सभी ने सुर मिलाया ''श्यामा मैया...।''

अब कमली एक हाथ कमर और दूसरा सिर पर रखकर नाचने लगी थी। धीरे-धीरे और भी ग्रामीण स्त्रियाँ नाच-गाने में शामिल हो गईं। ढोलक की थाप उनके पैरों में थिरकन भर रही थी।

भय ने श्यामा की प्रेतात्मा को केला देवी के समकक्ष रख दिया था।

सर्वसम्मति से यह पहले ही तय हो चुका था कि इस बड़े अनुष्ठान के बाद भी यदि प्रेतात्मा हवेली नहीं छोड़ जाती तो उस दशा में उसके सभी जीवित निवासी हवेली त्यागकर शहर के छोटे मकान में चले जाएँगे।

कहा जाता है कि हवेली के स्थान पर पहले एक रेत का टीला था। टीले के बीचों-बीच पुरानी बावड़ी की जगत के अवशेष थे। उस समय के जागीरदार भीकम सिंह ने इसे पुनःस्रोत तक खुदवाकर टीले पर जल का अभाव दूर कर उसे हरा-भरा बनाने की सोची थी।

कहा यह भी जाता है कि भीकम सिंह को स्वप्न में देवी लक्ष्मी ने बावड़ी में दबे ख़ज़ाने का पता दिया और यह निर्देश दिया कि उस संपत्ति से वह दरिद्रों का भला करे। अतः उन्होंने बावड़ी खुदवा डाली और ख़ज़ाना निकाल लिया। अतिरिक्त ख़ज़ाने के लालच में उन्होंने पूरा टीला खुदवा डाला किंतु तब तक लक्ष्मी उनसे रूठ गई थीं। इसलिए उन्हें कुछ और नहीं मिला।

अब टीला धन के लालच में खोदा गया था अथवा आसपास की गड्ढे वाली ज़मीन समतल करने के लिए, यह कोई नहीं जानता। हाँ उस स्थान को भीकम सिंह ने अपने निवास के लिए चुना। उन्होंने वहाँ दो मंज़िला एक विशाल हवेली बनाई और आसपास भमौरा नाम से गाँव बसाया था।

गाँव भमौरा हवेली की शक्ति के संरक्षण के चलते क्षेत्र में व्याप्त डकैतों की धमक से बचा रहा और मुख्य मार्ग से दूर होने के बावजूद कछुए की गति से बढ़कर अब क़सबा बन गया था।

इस मुसीबत का आग़ाज़ तेरह वर्ष पहले ख़ुशहाल दिनों में हुआ था। हवेली के तत्कालीन

मुखिया कुँवर रूप सिंह ने अनुज कुँवर नाहर का विवाह बड़ी धूमधाम से रचाया था। कुँवर नाहर की विवाहिता श्यामा रूप सिंह के अभिन्न मित्र उत्तम सिंह की बहन थी। वह विवाह-भोज लोगों को बहुत दिनों तक याद रहा।

डोली से उतरी गठरी बनी कुँवर नाहर की विवाहिता श्यामा सबकी उत्सुकता का केंद्र बनी गाँव-बिरादरी की स्त्रियों से घिरी थी। सास मेमवती चाँदी के थाल में कपूर की बाती जलाकर नई बहू की आरती उतार रही थी। हवेली के रनिवास की सत्ता के सभी सोपान चढ़ चुकी रूपवती स्त्रियों के बीच खड़ी कह रही थी, ''जब हम आई थीं ब्याह के, सुसुर साब गर्व से कहते थे कि ऐसी बहू लाए हैं कि हवेली में रोशनी हो जाए। कुँवर नाहर जू ऐसी बहुरिया लाए हैं कि हवेली में धुआँ भर गया।''

यह एक तरह का मज़ाक़ था। वहाँ उपस्थित सभी स्त्रियों ने ठहाका लगाया। दरअसल बात यह थी कि हड़बड़ी में हलवाई के हाथ से पिसी मिर्च से भरा डिब्बा भट्ठी में गिर गया था, जिसका धुआँ और भख हवेली में फैल गए थे। फिर श्यामा रूपवती के धूप जैसे रंग के विपरीत साँवली थी।

नवोढ़ा श्यामा की लाज से झुकी पलकों पर सपनों का डेरा था। सास मेमवती उसे 'श्याम चिरैया' पुकारती थी। उसका पति उसे निहारते नहीं थकता था। भौजाई बोल तो प्रेम बुझे बोलती थी किंतु उनके हावभाव श्यामा को उलझन में डाल देते थे। बच्चों ने उसे अपनी टोली में शामिल कर लिया था। वे छत से आवाज़ लगाते, ''चाची जल्दी आओ, देखो वह नीलगाय है या हिरन?'' हवेली की छत से दूर चरी के खेतों में विचरती इकहरी काठी की नीलगाय भी हिरन जैसी दिखती थी।

यह तीसरे विधानसभा चुनाव का समय था। कुँवर रूप सिंह दावेदार थे। उनकी जीत सुनिश्चित थी। हवेली में उत्साह और उत्सव का माहौल था। चुनाव सभाओं व चुनाव प्रचार अभियानों ने रक्त संबंधियों, मित्रों सभी को व्यस्त कर दिया था। ऐसे में एक रात कलक्टर से मिलकर शहर से लौटते हुए कुँवर रूप सिंह की जीप को कुछ अनजान लोगों ने घेरकर जीप में सवार रूप सिंह, उत्तम सिंह आदि सभी लोगों को गोलियों से भून दिया। सभी जानते थे कि ये सिंधौली के दबंगों की करतूत थी। दोनों परिवारों का पुराना बैर था।

पूरे क्षेत्र में मातम फैल गया। हवेली से लेकर दाह स्थल तक भीड़ की हालत यह थी कि ज़मीन दिखाई नहीं दे रही थी। हवेली से उठती स्त्रियों, बच्चों के रुदन की आवाज़ें, सबके हृदय में दारुणता भर रही थीं। भौजाई रूपवती ने बार-बार उठती अपनी चीत्कारों से घर में पड़े श्यामा के पैरों को अशुभ घोषित कर दिया था।

श्यामा असहाय अपनी कजरारी आँखों के भीगे कोर लिए आँगन के एक कोने में बैठी थी। उसका रुदन भीतर-ही-भीतर घुट रहा था। आवाज़ बाहर नहीं निकल रही थी। जैसे उसके फेफड़ों में हवा और मुँह में जीभ न हो। उसने अपने जेठ और अपने इकलौते भाई को खो दिया था। मेमवती की आवाज़ बंद हो गई थी और वह कई घंटों से मूर्च्छित थी। नाहर सिंह जैसे पत्थर हो गया था। गाँव के लोग, रिश्तेदार, हवेली के चाकर सभी बेहाल थे।

जैसे-तैसे समय ढुरका। उस हृदय विदारक दुर्घटना को पाँच महीने बीत गए। भौजाई अभी सँभली नहीं थी।

गोबर से उठती भाप घनी होने लगी थी। गेहूँ बुवाई का समय आ गया था। इसलिए नाहर सिंह व्यस्त हो गए। वे कई-कई दिन हवेली नहीं आते थे।

इन्हीं दिनों एक दोपहर जब कुँवर नाहर हवेली पहुँचे श्यामा रसोई में अकेली थी। पत्नी को अकेला पाकर नाहर चुहल करने लगे थे, ''श्यामा

रात भए बैठक में आय सोइयो। वहाँ अच्छी हवा लगती है।'' श्यामा झेंप रही थी तभी न जाने किस काम से भौजाई वहाँ आ गई।

उसके बाद कुछ ऐसा हुआ कि श्यामा के हाथ से कभी दाल तरकारी में नमक-मिर्च ठीक नहीं पड़ा तो कुँवर नाहर भोजन की थाली फेंक देते। भौजाई व्यंग कसती, ''जा ठगिनी को दीदा काहू काम में ना लागे।'' अगले बारह-पंद्रह दिन घर में ख़ूब कलह रहता। एक बार भौजाई ने कुँवर नाहर सिंह के इतने कान भरे कि उन्हें श्यामा को पीटना पड़ा। भौजाई ने उसे चौके चूल्हे से बेदख़ल कर दिया। फिर कभी श्यामा को रसोई सँभालने का मौक़ा नहीं मिला। इस तरह श्यामा के लिए पेट के रास्ते पति के हृदय पर राज करने की संभावना का अंत हुआ था।

अचानक नाहर सिंह ने अपनी शराब की मात्रा बहुत अधिक बढ़ा दी थी। वह बैठक में सोता था। पहले भी पत्नी श्यामा का सान्निध्य उसे कम ही मिला था। फिर भी हवेली में पत्नी की उपस्थिति उसके लिए दूर बजती बाँसुरी जैसी थी। उसके विवाह के बाद से ही घटनाओं-दुर्घटनाओं का ऐसा सिलसिला रहा कि वे समीप नहीं आ सके थे। फिर भी वे एक-दूसरे के होने को सदैव महसूस करते रहे थे।

अब स्थिति बदल गई थी। श्यामा नहीं समझ पा रही थी कि उसका अपराध क्या था। हाँ, वह यह जानती थी—यह टुकड़े-परन भौजाई की रचनाएँ थी किंतु क्यों? इसका उत्तर वह नहीं बूझ सकी? माँ मेमवती की समझ में भी कुछ नहीं आ रहा था। वह पूछ बैठी थी, ''नाहर लला कहा बात है? का अपराध है जाको कछु हमऊ तो सुनें?''

''का करौगी जान कै? तुमई ने जाको दिमाग बिगारो ऐ।'' नाहर भिन्नाता हुआ बाहर चला गया।

भौजाई ने स्वयं चौका-चूल्हा सँभाल लिया था। कुँवर नाहर जब तब श्यामा को मारने लगते थे। मेमवती के समझाने-बुझाने का भी असर नहीं होता था। भौजाई ने क्या मंत्र था यह कोई नहीं जानता था। तभी एक अ घटना घटी।

माँ मेमवती पिछले कुछ दिनों से अ चल रही थीं। उनकी रीढ़ के निचले छो एक फुड़िया निकली थी जो धीरे-धीरे ब गई। इसके विषय में उन्होंने किसी को बताया। अब यह बड़ा-गहरा नासूर बन गय जिसका इलाज मुश्किल था। लखनऊ ले ज ऑपरेशन भी कराया गया। फिर भी ज़ख़्म नहीं हुआ। कुछ दिन बाद कमर से नीचे का संज्ञा शून्य हो गया और पाखाना-पेशाब नियंत्रण भी जाता रहा। खटिया पकड़ने के से श्यामा उसकी सेवा में लगी रहती थी।

भौजाई नाहर सिंह और अपने लिए बनाती थी। दोनों बालक नैनीताल पढ़ने गए थे। श्यामा को शायद ही कभी भरपेट मिलता हो। यह कमी वह कच्ची सब्ज़ियाँ पूरी करती जो बड़ी मात्रा में खेतों से आती मेमवती ने पैर मारे जाने के बाद से टट्टी- की लेथन से बचने के लिए अन्न खाना बंद दिया था। वह थोड़े बहुत दूध पर जीवित

महीने में एक-दो दफ़ा रूप सिंह हत्या के मुक़दमे की पैरवी करने वाले वकील शहर से आते थे। भौजाई उनकी विशेष करती थीं। उस समय रसोई में कई तर पकवान बनने की वजह से खाद्य साम मात्रा अधिक हो जाती थी। श्यामा को भोजन मिल जाता था। वकील साहब रात रुककर चले जाते थे।

खिलाते-पिलाते भौजाई वकील साह खुसफुस में लगी रहती थी। वकील साहब से उनके लिए शौक़-मौज के सामान ला यह घर के चाकरों से लेकर श्यामा तक जानते थे। किंतु भौजाई के रोब-दाब के

उनका पेशाब निकलता था। मालकिन के कलापों पर टीका-टिप्पणी कहाँ संभव थी।

सीमित सोच समझ के नाहर अपने दुख से उभरे तो मुन्नी के सत्संग में मगन रहने लगे थे। श्यामा से मोह भंग के बाद वह बैठक तक सीमित हो गए थे और विशेष प्रयोजन से ही हवेली के भीतर जाते थे। पूरा गाँव जानता था कि नाहर सिंह तिवारी की जवान विधवा बहन मुन्नी के संग रास रचाता है। मुन्नी अपने विवाह के तीन वर्ष बाद विधवा हो गई थी। उसके एक लड़का भी हुआ था पर उसे निःसंतान जेठानी ने छीन लिया था और मुन्नी को घर से धक्के मारकर बाहर निकाल दिया।

अपने ख़र्चों के अलावा कुँवर नाहर सिंह ने हवेली की वार्षिक आमदनी का कोई पैसा अपने पास नहीं रखा था। यह व्यवस्था भी भौजाई के हाथ में थी। इससे मिली ताक़त ने भौजाई को और अधिक निरंकुश बना दिया था। एक बार खेत की मेड़ को लेकर हुए झगड़े के मुक़दमे के लिए नाहर को रक़म की ज़रूरत पड़ी। तब भौजाई ने हाथ खड़े कर दिए थे, ''रुपया कहाँ रखे हैं कुँवर जू।'' हवेली का रख-रखाव, सास मेमवती का इलाज, बच्चों की पढ़ाई और वकील साब की फ़ीस आदि भारी ख़र्च थे। इसलिए कैसी भी बचत संभव नहीं हो सकी थी। दरअसल यह धन भौजाई के निजी ख़ज़ाने में सोने के भारी ज़ेवरों और निख़ालिस चाँदी के रूप में इकट्ठा हो रहा था। जो कालांतर में मुन्नी के पुत्र की खोज बनेगा।

हवेली के पालतू पशुओं की देखभाल करने वाला पुराना नौकर बूढ़ा हो गया था। वह बीमार रहने लगा था। भौजाई ने श्यामा को यह काम करने की हिदायत दी। यह श्यामा के शरीर का लोच कम करने की साज़िश थी। उससे पशुओं की साफ़-सफ़ाई, सानी-पानी से लेकर चारा काटने जैसी मेहनत के काम लिए जाते थे। श्यामा को मिलने वाले भोजन की मात्रा पहले ही कम कर दी गई थी।

नाइन कमली का हृदय श्यामा के लिए पसीजता था। जब कभी वह कुत्ते शेरू के लिए रोटी डालने जाती थी श्यामा के लिए भी मुट्ठी में छिपाकर एकाध रोटी ले आती थी। लेकिन खूसट मझिया की लगाई-बुझाई के चलते भौजाई सजग हो गई। कमली की ख़बर ली गई। हारी बीमारी की हालत में कई बार कमली ने श्यामा के लिए वैध से दवा लाकर दी थी। किंतु इतनी मदद श्यामा को मनुष्य बनाए रखने के लिए अपर्याप्त थी।

श्यामा के प्रति उसके पति की उदासीनता ने हवेली में उसे उसकी वैधानिक स्थिति और स्थान से वंचित कर दिया था। जीवन के आवश्यक साधनों के अभाव में वह अपनी विधवा जेठानी की तुलना में बहुत निम्न स्तर पर बसर कर रही थी। श्यामा पारिवारिक शतरंज और चालों के विषय में कुछ नहीं जानती थी। वह सोचती थी सब क़िस्मत का खेल है। इंतज़ार करने के अलावा और क्या कर सकती थी वह?

भौजाई रणनीति का महत्त्व समझती थी। अपने विवाह के बाद से वह रानियों की तरह रही थी। हवेली में चौके-चूल्हे का मुँह नहीं देखा था जबकि घर की अन्य स्त्रियाँ रसोई का काम अपने हाथ से करती थीं। समय की नज़ाकत देखते हुए उसने स्वयं भोजन व्यवस्था सँभाल ली थी। हालाँकि साफ़-सफ़ाई और बर्तन माँजने जैसे काम वे श्यामा या घर के चाकरों से करा लेती थीं। कुँवर नाहर सिंह की व्यक्तिगत आवश्यकताओं जैसे भोजन, कपड़े, बिछौना आदि का ख़याल वे स्वयं रखती थीं। उन्होंने श्यामा के पति तक पहुँचने के सभी रास्ते बंद कर दिए थे। रात को श्यामा मेमवती के कमरे में सोती थी जिसकी साँकल भौजाई बग़ैर भूले बाहर से लगा देती थी।

श्यामा की बेचैनी और कुढ़न से भरी रातें लंबी हो जाती थीं। चारपाई पर पड़ी मेमवती का रात दिन और सोने जागने का संतुलन बिगड़ गया था। वह रात के किसी भी पहर में भोर का अहसास पाकर अपनी एक ख़ास फटी आवाज़ में भजन गाने लगती थीं, ''उठि जाग मुसाफिर भोर ऽऽभई, अब रेन कहाँ तू...सोबत है।''

नाहर सिंह की श्यामा में शायद ही कोई रुचि रह गई थी और श्यामा मुँह से आवाज़ निकालने से भी डरती थी। उसे नाहर बेरहमी से पीटते थे। अब तो भौजाई ख़ुद भी दो-चार हाथ साफ़ कर लेती थी। श्यामा समझती थी कि भौजाई हवेली में उसकी उपस्थिति को अशुभ मानती हैं इसलिए उसके साथ ऐसा व्यवहार करती हैं। उसकी भौजाई ने भी अपनी बहन के बच्चे रख लिए थे और उसके लिए घर के दरवाज़े बंद कर दिए थे। शायद वह भी उसके पाँवों को अशुभ मानती थी।

श्यामा नीलकंठ देखने के लिए न जाने कितनी बार दो मंज़िला हवेली की दोहरी सीढ़ियाँ फलाँगते हुए चढ़ जाती थी। कहते हैं कि यदि एक बार नीलकंठ दिख जाए तो एक मनोकामना पूरी हो सकती है। यह मनोकामना क्या थी, कोई नहीं जानता था। किंतु उसका दुर्भाग्य कि सभी नीलकंठ न जाने कहाँ चले गए थे। वह बिसूरती रह जाती थी।

बहरहाल, मेमवती के पास बैठकर श्यामा घंटों तक उसके पैर सहलाते हुए अपनी आपबीती और जगबीती कहकर मन हल्का कर लेती थी, ''माई आज भौजाई ने मट्ठा कबरी की नाद में डलवा दिया था।'' जब दही, दूध, मट्ठा मनुष्यों की आवश्यकता से अधिक हो जाता था, तो जानवरों के आगे डाल दिया जाता था। लेकिन श्यामा को इससे वंचित रखा जाता था। वह निराश और दुखी होकर कह उठती थी, ''माई मैं किसी को अच्छी नहीं लगती। मैं मर क्यों नहीं जाती?''

लगातार लेटे रहने की वजह से मेमवती पीठ में घाव हो गए थे जो दिन प्रतिदिन फै और गहरे होते जा रहे थे। श्यामा इन ज़ख्मों हल्दी-तेल लगाती थी। दिन में कई बार क दिलाती थी। उसके भरसक जतन के बा मेमवती की हालत बिगड़ती जा रही थी। बिस्तर पकड़े हुए तीन वर्ष से ज़्यादा हो गए यह श्यामा की मेहनत ही थी कि मेमवती तक जीवित थी। भौजाई के लिए मेमवती होने न होने का कोई अर्थ नहीं रह गया था

एक पूर्णिमा की सुबह श्यामा की गोद ठकुराइन मेमवती ने प्राण त्याग दिए। श्या जैसे बौरा गई थी। किंतु जब गाँव भर के इकट्ठे हुए तब भौजाई ने विलाप शुरू कर दि ''अरे ऽऽअम्मा ऐऽसी जल्दी काहीऽ...अरे री!'' उसने सबको अवगत कराया कि अपनी पूज्य सास के प्राणों को इतने समय किन मुश्किलों से सेया-सींचा था। वह फूटकर रो रही थी, ''हाय अम्मा तुम्हऊँ के चली गईं। अब हम किसके सहारे रहें उसकी हाँ में हाँ मिलाने के लिए दोनों नाइ पूरा सहयोग दिया। गाँव भर यह जान गया कि देवियों जैसी सुंदर, दुख की मारी, नेक की बड़ी बहूरानी कैसी मेहनती और सरल है।

यह सिर्फ़ श्यामा जानती थी कि जी जा रात दिन एक कर देने के बाद सासू साहिब ज़िंदा शरीर को वह सड़ने और कीड़े पड़ नहीं बचा सकी थी। बदबू से बचने के लिए मेमवती के शरीर को सीने से पाँव के टखने पॉलीथिन से लपेटने-बाँधने में किसी ने उस मदद नहीं की थी। भौजाई पास खड़ी भी हो सकी थी।

मेमवती को गुज़रे साढ़े चार साल बीत थे। अकेलेपन की शिकार बनी श्यामा का पशुओं भैसों, गायों, कुत्तों से वार्तालाप वि

हो गया था। वह कजरी कबरी भैसों से बातें करती, "बैठ जाओ ठाड़ी-ठाड़ी थकि जओगी।" या "ऐ कजरी तुमने तो कछु ना खायो, पेटि से हओ समुझओ करो।" वह कुत्ते शेरू से लाड़ करती, "सेरू तुम तो भैया भौत ढीठ है गए हो।" वह पालतू पशुओं से उठने-बैठने, चरी खाने के लिए ऐसे कहती जैसे अपनी ख़ास सखी अथवा बच्चों से अनुरोध करती हो।

वह गाय, भैंसों को सहलाते हुए उनकी तकलीफ़ सुनती और अपनी कहती थी। उनमें से एक भैंस कजरी और गाय भूरी से श्यामा की विशेष अंतरंगता थी। प्रत्यक्षदर्शी कहते थे कि कजरी श्यामा की बातें सुनती-समझती थी और सिर हिलाकर सहमति या असहमति भी दर्ज कराती थी। उस पशु की आँखों में डोलती काली पुतलियाँ नेह, घृणा और मुग्धता जैसे मुश्किल भाव व्यक्त कर सकती थीं। जानवरों के प्रति श्यामा के इस विलक्षण प्रेम की लोग हँसी उड़ाने लगे थे।

श्यामा की चहेती भैंस कजरी गाभिन थी। उसके ब्याने का समय आया तो श्यामा साए की तरह उसके साथ रही। कजरी के बच्चे देने की पूरी प्रक्रिया को उसने जिया। कभी वह जानवर का पेट सहलाती और कभी थूथन अथवा पीठ पर हाथ फेरते हुए कहती, "जी छोटो मत करिओ, घबरइयो नईं, हम है तुम्हारे ढिग।" कजरी की हालत यह थी कि श्यामा के पास से हटते ही वह रँभाने लगती और तब तक रँभाती जब तक श्यामा लौटकर न आ जाती।

ब्याने का समय पास आता जा रहा था। कजरी की पेशियाँ जल्दी-जल्दी फड़क रही थीं। यह आंशिक कंपन थरथराहट में बदलकर पूरे शरीर में फैलने लगा था, किंतु बच्चा बाहर नहीं आ रहा था। श्यामा ने कजरी की योनि में हाथ डालकर पाड़े को जन्म देने में उसकी मदद की। पाड़ा देखने में स्वस्थ था किंतु न जाने उसे क्या दुख था, वह गर्दन डाले निर्जीव-सा पड़ा रहा। शायद पाड़े की अल्पचैतन्यता की वजह से कजरी को जन्म देने में अधिक समय लगा था।

श्यामा एक कटोरी में सरसों का तेल गर्म कर लाई और पाड़े की मालिश करने लगी। पाड़े के शरीर में जैसे जान पड़ गई वह लड़खड़ाते हुए खड़ा हुआ और कजरी के थन से जा लगा। कजरी उसे दुलारते हुए चाटने लगी। यह मिलन देखकर श्यामा धूप में रिमझिम फुहार-सी रोते हुए हँसने लगी थी।

श्यामा की सखी गाय भूरी नवयौवना थी। ताज़े मुलायम घास के गुच्छों को चाव से बज-बज चबाती हुई भूरी की आँखों में अभूतपूर्व तरल चंचलता को देखकर कुछ अबूझ श्यामा के भीतर भी सीझता, जो उसके शरीर को ठंडी फुरफुरी से भर देता था जबकि वह अपने शरीर से नैसर्गिक माँगों के अंकुरों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहती थी।

छत की मुँडेर पर कभी वह बंदरों और चिड़ियों को सहवास करते देखती तो वह प्रणयरत युगलों को 'लग...लग...लग...लगे...है...लग...लग' जैसी आवाज़ करते हुए उन्हें कंकरी फेंककर भगाने की कोशिश करती थी। उनमें से ज़्यादातर प्रणय पूर्ण होने से पहले नहीं भागते थे। ख़ास तौर से बंदर ऐसी ढिठाई करते थे। नाज़ुक जान चिड़िया फिर भी उड़ जाती थीं। यह सब उसे बेचैन करता था। वह असहाय होकर खीझती थी। वह इसे पाप समझती थी या नागवार हरकत, कोई नहीं जानता। प्रणय प्रकृति का भाग है। वह कहाँ तक भागती। उसी तरह खूँटे से बँधे पशुओं को भी हरा होने के लिए भेजा जाता था। अपने शरीर के साथ वह कैसे लड़ती थी, यह वही जानती थी।

बरसात के आग़ाज़ से पहले सुंदर, चमकीले नयतारों से सँवरे मोर पंखों को फैलाकर नाचते और ऊँची आवाज़ में गाते। उनका शोर दिन में

कई बार गूँजता। मोरों की आवाज़ सुनकर किसी भी काम में लगे उसके हाथ रुक जाते थे, वह जानती थी, ''अब मोरनियाँ इनके आँसू पीकर अपनी कोख हरी करेंगी।''

वह जानवरों को चराने के लिए दिशा-मैदानों के छोर तक जाना चाहती थी। यहाँ हवेली का मान-सम्मान आड़े आ जाता था जिसकी दीवारें गौशाला की दीवारों से ज़्यादा ऊँची थीं। यह काम ईसुरी का छोटा लड़का भोला या हवेली का पुराना चाकर बनवारी करता था। वह पशुओं को भेजते हुए हिदायत देती, ''अच्छी-अच्छी...खाइयो...ज़्यादा मति ठूस लियो...और तुम कजरी एकदाउ तलैया में उतर जाती हो तो निकरिबे को नाउ ना लेतीं। अबिके ऐसो मति करियो ठीक। अब जाओ।'' वह फाटक से निकलते सभी जानवरों की पीठ थपथपाते हुए विदा करती। श्यामा को हवेली का फाटक लाँघने की आज्ञा नहीं थी। फाटक पर तैनात मुस्तैद दरबान फाटक बंद कर देता था।

लोग मानने लगे थे कि श्यामा बौरा गई है, पागल हो गई है किंतु उसके पागलपन के बावजूद उस पर कोई रहम नहीं करता था। जानवरों की देखभाल के अलावा घर के बर्तन-भाँड़े माँजने, दालें दलने, विशाल हवेली की झाड़-बुहारी जैसे मेहनत के काम उससे लिए जाते थे। पशुओं के प्रति अत्यधिक लगाव के कारण उनके सुख-दुख बाँटते यदि कभी हवेली के काम के लिए देर-सवेर हो जाती तब उसे प्रताड़ित किया जाता और उसे मिलने वाले बचे-खुचे जूठे भोजन से भी वंचित रखा जाता। यही तरीक़ा था जिससे उसे हाँका या नियंत्रित किया जा सकता था। कई बार उसे बग़ैर अपराध के भी भोजन से वंचित रखा जाता था क्योंकि लोग उसे भोजन देना ही भूल जाते थे। चौके के पास वह फटक नहीं सकती थी। ऐसे में परेशान होकर श्यामा पशुओं की हरी चरी में से थोड़ा खा लेती थी जिसे उन्हीं की तरह उसे घंटों चबाना पड़ता, जुगाली करनी पड़ती थी। धीरे-धीरे वह स्वेच्छा से ऐसा करने लगी। इसे यों भी कहा जा सकता है कि घास-पात पर गुज़ारा करना उसके लिए संभव हो गया और रसोई में पके भोजन पर उसकी निर्भरता समाप्त हो गई। इस अनोखी आत्मनिर्भरता के चलते हवेली के खूँटे से बँधी उसकी रस्सी कुछ ढीली पड़ गई थी।

समय के साथ श्यामा का मानसिक और शारीरिक कायाकल्प भी हुआ। लगातार चरी चबाते रहने की वजह से कनपटी के पास की, जहाँ जबड़े का जोड़ होता है, माँसपेशियाँ पुख्ता होने के साथ फूल गई थीं। कनपटी के नीचे इन असामान्य गोल बड़े उभारों के साथ उसके दाँत मसूढ़ों में मजबूती से धँस चुके थे किंतु घिसकर बहुत कम रह गए थे। इन सब परिवर्तनों की वजह से श्यामा अजीब दिखने लगी थी। उसका साँवला रंग और गहरा गया था। शरीर ढँकने के लिए वह एक चिथड़ा लपेटे लगभग अर्धनग्न रहती थी। इस अनोखी रूप-सज्जा में वह मनुष्य और पुश के बीच की कड़ी लगती थी।

हवेली पर शासन करती भौजाई, ''श्यामा पागल हो गई है'' कहकर छूट जाती थी। श्यामा ऐसी बदली थी कि संसार के किसी भी पुरुष की रुचि उसके स्त्री होने में मुश्किल से ही हो सकती थी। इसलिए भौजाई कुछ निश्चिंत हो चली थी।

श्यामा घर के पालतू पशुओं के संसार में पूरी तरह डूब गई थी। वह किसी पशु के रँभाने पर उसकी ओर दौड़ती जैसे उसके प्राण पुकार रहे हों। उछलते-कूदते बछड़ों को देखकर वह रीझती—ख़ुश होती जैसे कोई माँ अपनी संतान को देखकर हो सकती है। अब वे पशु नहीं थे उसके अपने लोग थे। ऐसे में अचानक एक दिन उसे लगा कि उन्हें रस्सी और खूँटों से बाँधने की कोई ज़रूरत नहीं है और उसने सब पशुओं के

बंधन खोल दिए। पशु बग़ैर बंधन के भी शांत थे। वे ख़ामोशी से अपनी-अपनी नाँद से चरते रहते थे। हाँ बछड़ों-पाड़ों की उछल-कूद बढ़ गई थी।

लोगों को परेशानी थी कि खुले बछड़े दिन में कई बार अपनी जननियों के थनों से जा लगते और दूध चट कर जाते थे। व्यवस्था क़ायम करना आवश्यक हो गया था। भौजाई ने दरबान और बनवारी को सभी जानवरों को बाँधने के निर्देश दिए। श्यामा ने इसका विरोध किया इसलिए सबसे पहले श्यामा को पकड़कर घसीटते हुए बाड़े के एक छोर ले जाया गया। श्यामा का शरीर बाड़े की खुरदरी ज़मीन से रगड़ते हुए ज़ख़्मी हो रहा था। दर्द भरी चीख़ें उसके मुँह से निकल रहीं थीं, "औ ऽऽऽ ऐऽऽ मैया रीऽऽ।"

श्यामा की आवाज़ सुनकर बाड़े के सभी पशु बौखला गए। कजरी दौड़ती हुई वहाँ आई। उसने श्यामा के ऊपर हावी दरबान को खदेड़ दिया और बनवारी के पेट पर सिर लगाकर पसलियों के पिंजर को अपने दोनों उन्नत सींगों के बीच रखते हुए उठा लिया। बनवारी बदहवासी में ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था, "एऽऽमारि डारो ऽऽऽऽ।" घर के सेवक और भौजाई यह दृश्य असहाय खड़े देखते रहे। भय की वजह से उनके मुँह से, 'अरेऽऽ हे ऽऽऽ' जैसी आवाज़ें निकल रही थीं।

कजरी बनवारी को उठाए हवेली के विशाल बाड़े में गोल-गोल चक्कर लगा रही थी। इस दशा में तीन चक्कर लगाने के बाद उसने बनवारी को फाटक के पास पटक दिया। कजरी ने उसे अपने सींगों अथवा खुरों से ज़ख़्मी नहीं किया था। हाँ, पटकने भर से उसकी सब हड्डियाँ हिल गई थीं। पटके जाने के बाद वह कुछ देर के लिए मूर्च्छित हो गया था। फिर तीन मिनट बाद उठकर लड़खड़ाता हुआ फाटक के बाहर भाग गया। वह छोटे हलवाई की दुकान की बेंच पर पड़ा घंटों काँपता रहा था।

इधर बनवारी को पटकने के बाद भी कजरी बौखलाई हुई चक्कर लगा रही थी। श्यामा उठकर आ गई उसने 'च्चऽ चच्च' की आवाज़ निकाली, कजरी ठहर गई। श्यामा उसके पास पहुँचकर उसकी पीठ सहलाने लगी। कुछ देर तक कजरी अपने झुके सिर को तेज़ी से हिलाती रही। फिर धीरे-धीरे शांत हो गई।

मंथर गति से वे दोनों छप्पर में चली गईं। वे देर रात तक अलाव के पास बैठी जुगाली करती जागती रहीं और बतियाती रहीं।

भौजाई ने श्यामा को समझाया, प्रताड़ित किया किंतु वह जैसे कुछ न समझते हुए बड़ी भौजाई को उनके किरदार का निर्वाह करते देखती रहती और फिर बग़ैर कुछ कहे-समझे अपने संसार में लौट जाती। अब यह मान लिया गया था कि श्यामा अपने होश खो चुकी है और पागल हो गई है।

यह अप्रत्याशित परेशानी चुनौती की तरह भौजाई को मुँह चिढ़ा रही थी। सभी जानवरों का बाँधा जाना ज़रूरी हो गया था। इसके लिए भौजाई ने साढ़े दस-ग्यारह बजे का समय चुना जब सभी जानवर सुबह की चरी खाकर अलसाए बैठे जुगाली कर रहे थे। भौजाई ने खेत से छह मज़दूर बुलाए थे। कुएँ से पानी भरती श्यामा को सबसे पहले दबोचा और उसे जानवरों की आँखों से दूर द्वारी में हाथ-पैर बाँधकर डाल दिया। हाथ-पैर बाँधने के बाद घसीटने की वजह से श्यामा के रीढ़ की आसपास की त्वचा छिल गई। इसलिए दर्द से और कुछ जानवरों के प्रति अशुभ की आशंका से भयभीत वह अनोखी आवाज़ में रोने लगी। मुँह बाँध देने की वजह से उसकी आवाज़ घुटकर रह गई थी।

जब हवेली के लोग रात्रि के दूसरे पहर में गहरी नींद में डूबे हुए थे नाहर सिंह दबे पाँव हवेली की ओर लपका करते थे। उनके पास बैठक की चाबी रहती थी। वे बैठक में ही सोया

करते थे। यहाँ से मुन्नी के घर आने जाने में सुविधा रहती थी।

हवेली और गाँव भर के लोग इस संबंध के विषय में जानते थे। फिर भी हवेली के ठाकुरों का रुतबा अभी क़ायम था। इसलिए कोई बोलता नहीं था। उस रात बैठक में प्रवेश करने के बाद पलंग पर जाने से पहले उन्हें लघुशंका अनुभव हुई। पेशाब जाने के लिए उन्होंने द्वारी की तरफ़ का दरवाज़ा खोला और आगे बढ़े। पेशाब घर के पास उनका पैर जूता सहित किसी बाधा से टकराया। उन्हें लगा कि अनाज की बोरी पड़ी है। नाहर सिंह ने झुककर उसे हाथ से ठेलना चाहा। उनके हाथों ने किसी के शरीर का स्पर्श किया, वह अचकचा कर पीछे हट गए। मुँह से निकला, "कोए...कोए... ?" आवाज़ सुनकर बड़ी भौजाई वहाँ आ गई थी। तब कहीं जाकर उन्हें सुध आई कि जानवरों को बाँधने से पहले श्यामा को बाँधकर डाल दिया था। वे उसे भूल गई थीं। रात के दूसरे पहर श्यामा को खोला गया। पीठ का ज़ख़्म बड़ा था उससे बहकर बहुत-सा रक्त जम गया था। एक दशा में हाथ पाँव बँधे रहने की वजह से उसका शरीर अकड़ गया था। श्यामा भय अथवा शारीरिक आघात से बेतरह काँप रही थी जैसे भैंस ब्याने के समय काँपती है। वह उठने की कोशिश कर रही थी। इस समय उसका पति और जेठानी वहाँ खड़े थे किंतु किसी ने उसे सहारा देने की ज़रूरत नहीं समझी। उसका अस्तित्व, उपस्थिति अनावश्यक ही नहीं सभी के लिए अड़चन बन गए थे।

यह सब श्यामा के दिमाग़ में नहीं चल रहा था। वह सहारे और मदद के विषय में कुछ नहीं जानती थी।

"का बात ही ? जाको काहे बाँधो है ?" नाहर के इस अप्रत्याशित प्रश्न से एक क्षण के लिए भौजाई सकपका गई। श्यामा के प्रति नाहर की चिर-उदासीनता के विपरीत यह अनपेक्षित था शायद। इसलिए उन्हें जवाब बनाने में समय लगे
"जा पौहे ना बाँधन दे रही ही। लठिया लें सबके उपर पिलि गई ही...पागल जो ठहरी।"

नाहर खीजने लगे थे, "ज़ाने तो कबहू पौहि कू ना मारो मानसन कू का मारेगी ?"

भौजाई की आवाज़ कुछ ढीली हो गई थी "कुँवर जू अब तुम घर में रहो तो देखओ समुझओ।"

"हम सब समझते हैं भौजाई साब।" नाहर ने व्यंग में कहा और बैठक की ओर बढ़ गए।

उसके बाद बहुत देर तक भौजाई बड़बड़ाती रही थी। पहली बार उसे लगा था कि उसके वक्तव्यों पर भरोसा नहीं किया जा रहा है। फि भी स्थिति पूरी तरह उसके पक्ष में थी और अ कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला था।

लगभग दस मिनट तक कोशिश करते रह के बाद श्यामा उठकर खड़ी हो सकी और साँक खोलकर लड़खड़ाती हुई बाहर निकल गई। व काँप रही थी और काँपते हुए छप्पर में पड़े पुआ पर जा पड़ी। जेठानी ने बाहर तक उसका पीछ किया। निश्चिंत हो वह मुस्कुरा रही थी, "इसक इलाज तो हो गया।"

हवेली में सुबह लोग जगे तो पाया कि सभी जानवर फिर खुले हुए थे। समस्या गंभीर थी एक उचित और स्थायी समाधान की ज़रूर थी। और यह इस तरह सामने आया कि दूस दिन दोपहर चढ़ते भौजाई ने फिर अभिया चलाया। सबसे पहले श्यामा को बाँधकर छ पर एकांत में बनी एक कोठरी में डाल दि गया। यहाँ उसके हाथ-पैर खुले थे और पीठ ख़ून रिस रहा था। बहुत तेज़ बुख़ार की वजह वह रह-रह थरथरा रही थी और अर्धमूर्छि थी।

उधर पहले तो जानवर बाँधे जाने का विरो करते रहे। बाँधे जाने के बाद भी यह जारी रहा वे रँभा रहे थे किंतु प्रत्युत्तर नहीं आ रहा था।

बँधे हुए भी वे अड़े हुए थे। वे किसी को अपने पास भी नहीं आने देते थे। दूध निकालना तो बड़ी बात थी।

डेढ़ दिन भूखे खड़े रहने के बाद दूसरे दिन शाम को बनवारी बमुश्किल पशुओं की नाद में चरी डाल सका। भूखे रहते हुए भी वे चरी पर नहीं झपटे। बछड़े, पाड़े ही अपनी चरी में रह-रह मुँह मार रहे थे। बाक़ी जानवरों ने रात के किसी पहर में चारा खाया और यह चौथे-पाँचवें दिन ही संभव हो सका कि कोई दूध निकाल सके।

विचार यह किया गया कि अधिक बाग़ी पशुओं को बेच दिया जाए। इसके लिए तीन महीने बाद लगने वाले बड़े मेले का इंतज़ार किया जाए जिससे उन स्वस्थ पशुओं की अच्छी क़ीमत मिल सके। पशु जैसे सब कुछ समझते थे। देखने वाले बताते हैं कि वे अकसर रोते थे।

छत की कोठरी में बंद श्यामा को घास-पात, पानी से अधिक कुछ नहीं चाहिए था। दो-तीन दिन के अंतराल पर उसकी कोठरी खोलकर ताज़ा चरी ओर पानी रख दिया जाता था। चरी को भोजन बनाने के बाद से वह मनुष्यों जैसा दुर्गंध युक्त पाखाना नहीं वरन् गोबर करती थी। सोने के लिए बिछौने के रूप में कोठरी में एक ओर भुस पड़ा था। टट्टी और पेशाब के लिए एक नाली थी जो पीछे चरी के खेत में खुलती थी। दो-चार लोटे पानी से गोबर और पेशाब बहाया जा सकता था।

अपनी पशु-सखियों से अलग पड़कर श्यामा ख़ामोश हो गई थी। लगभग महीना बीत रहा था। उसकी आवाज़ किसी ने नहीं सुनी थी। एक रात तीसरे पहर श्यामा को न जाने क्या हुआ कि वह दरवाज़ा पीटते हुए ज़ोर-ज़ोर से रँभाने लगी। उसके जवाब में भूरी कजरी व अन्य पशु भी रँभाने लगे, "म्हाऽऽऽ...ऑऽऽऽ... म्हाऽऽऽ।" यह संवाद लगभग आधा घंटे तक चलता रहा। वे आपस में क्या कह-सुन रहे थे कोई नहीं जानता। उनके बीच इतनी दूरी से भी संप्रेषण संभव था। यह सामान्य समझ से ज़्यादा था। उस रात कजरी की दूसरी संतान पड़िया मर गई थी।

धीरे-धीरे श्यामा और जानवरों के बीच का यह ख़ास संवाद रात्रिचर्या का नियमित अंश बन गया। हवेली वालों की नींद हराम हो गई थी। किंतु वे कुछ नहीं कर सकते थे क्योंकि डाँट-डपट, मार-पिटाई जैसे उपचार बेअसर हो चुके थे। श्यामा और जानवरों के बीच का यह वार्तालाप रात में अधिक चलता था। रात की नीरवता में शायद एक-दूसरे को सुनना अधिक सुविधाजनक रहता हो। लेकिन अन्य सभी के लिए यह अप्रिय शोर से अधिक कुछ नहीं था।

एक दिन हवेली के चाकर उन जानवरों को हाट में ले जाने के लिए ठेल रहे थे। सभी पशु ज़ोर-ज़ोर से रँभाने लगे। प्रत्युत्तर में श्यामा रँभा रही थी। दोनों ओर की आवाज़ में ख़ास बेचैनी थी।

श्यामा ने अपनी क़ैद को संभव बनाने वाला दरवाज़ा न जाने कैसे पीट-पीटकर खोल लिया था। आज वह हमेशा की तरह दरवाज़ा पीटने की सज़ा बतौर बेरहम मार से भी नहीं डरी थी। किंतु जीने की साँकल अंदर से लगी होने की वजह से वह नीचे नहीं उतर सकी। छत की मुँडेर से उसने गुन्नो, कजरी, कबरी भूरी को जाते हुए देखा। वे सब बराबर रँभा रहे थे, "ऑऽऽऽ...ओंऽऽऽ..." जैसी करुण आवाज़ें गूँज रही थीं। हवेली की दूसरी मंज़िल की मुँडेर पर खड़ी श्यामा भी बराबर रँभा रही थी।

हवेली के फाटक से छोटे हलवाई की दुकान तक भीड़ जमा हो गई थी। ऊपर से लोग उदासीन थे किंतु सबके हृदय फट रहे थे। जब तक श्यामा और पशु एक-दूसरे को देख-सुन सके, उनके बीच संप्रेषण बना रहा। जैसे ही जानवर श्यामा

की दृष्टि से ओझल हुए, श्यामा ने मुँडेर से छलाँग लगा दी।

श्यामा की मृत्यु के डेढ़ महीने बाद अचानक एक दिन नाहर सिंह मुन्नी को हवेली में ले आया। वे कोर्ट में विवाह कर चुके थे। मुन्नी पाँच महीने के पेट से थी। भौजाई के सब मंसूबे धरे रह गए। उसकी कोख के अलावा कोई और भी ज़मीन और हवेली का वारिस जनने वाली थी।

श्यामा की पहली बरसी पर मुन्नी और नाहर ने एक बड़ी पूजा कर श्यामा को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की। यह श्यामा की आत्मा को शांत करने के लिए था जो हवेली और गोशाला में भटक रही थी।

इसके बाद हवेली के ग्यारह वर्ष श्यामा की प्रेतात्मा की पूजा में गुज़रे। उत्साह, उत्सव जैसे भावों से हवेली के बाशिंदों का नाता पहले ही टूट चुका था। मुन्नी का वात्सल्य और उसके बच्चों की किलकारियाँ सभी सहमे-सिमटे रहते थे।

मुन्नी ने भौजाई के साथ कभी दुर्व्यवहार नहीं किया। वह डरती थी कहीं यह भी चुड़ैल न बन जाए। उसने नाहर से कहकर गोशाला से सभी जानवर हटवा दिए थे।

श्यामा के मरने और मुन्नी के आगमन के बाद से भौजाई गुमसुम रहने लगी थी। वह अकसर अपने कमरे में बंद रहती थी। पहले तो लगा कि भौजाई अवांछित बदलाव से दुखी और नाराज़ हैं लेकिन जब-तब उसके कमरे से आती आवाज़ों से पता लगा कि वजह कुछ और भी थी। उसकी भयभीत घुटी चीख़ों "सब-सब ले ले पर श्यामा तू जा...श्यामाऽ...तू जा" से पता लगा कि श्यामा की प्रेतात्मा उन्हें परेशान कर रही थी।

भौजाई का बड़ा बेटा जो क्षेत्र के नामी डकैत का दायाँ हाथ बन गया था। एक पुलिस मुठभेड़ में मारा जा चुका था। अशुभ की आशंका से छोटे को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेज दिया गया था। प्रेतात्मा का श्राप परिवार को खाए जा रहा था।

आख़िरी बड़े अनुष्ठान के बाद भी श्यामा की प्रेतात्मा हवेली में मँडराती रही तब नाहर सिंह और मुन्नी अपने बच्चों के साथ हवेली छोड़ने की तैयारी कर चुके थे। दिमाग़ी संतुलन खो चुकी भौजाई को श्यामा की प्रेतात्मा के हवाले कर दिया गया था। दिन में नाइन कमली भौजाई की देखभाल करेगी। रातों में वह श्यामा के साथ अकेली रहने वाली थी।

हवेली से जाते हुए अचानक मुन्नी की नज़र भौजाई के चेहरे पर पड़ी। एक गहरी, भेद भरी मुस्कुराहट और आँखों में अबूझ भाव लिए वह उसे देख रही थी। यह रहस्यमय दृष्टि और स्मित अब जीवन भर मुन्नी का पीछा करने वाले थे।

मनाली चक्रवर्ती

सफ़रनामा

मैं कलकत्ता जा रही थी—अकेली। अब तो आदत-सी पड़ गई है। जब से बाबा बीमार पड़े थे, हर दूसरे महीने क़दम माँ-बाबा के पास चल देते हैं। पर अकेला जाना अच्छा नहीं लगता, बिलकुल नहीं। जताती नहीं हूँ, सिर्फ़ राहुल को पता है। शादी के पहले दिन से ही मैं निकलने से पहले हर बार रुक जाती। देखकर लगता होगा ऑफ़िस के काम से बंबई, दिल्ली नहीं बल्कि सरहद पर जंग में शामिल होने जा रही हूँ। पर जाने की तैयारी और घर से निकलने तक सबसे ज़्यादा कष्ट होता है। एक बार घर से दूर होने पर एक अजीब-सी आज़ादी भी महसूस होती है; एक हल्कापन, एक गुदगुदी-सी। फ़िलहाल तो बहुत ख़राब लग रहा था। कबीर बाहर तक बाय कहने भी नहीं आया। शायद यह उसकी तरकीब है जुदाई से जूझने की। आख़िर बहुत छोटा भी तो है, ठीक से समझ भी नहीं पाता होगा।

गाड़ी हमेशा की तरह लेट थी। एक बार घर से निकलो तो बेताबी-सी होती है सफ़र शुरू करने की। प्लेटफ़ॉर्म के तमाम ठेलेवाले, दुकानदार, क़ुली एवं यात्रियों से नज़र बचाती हुई मैं अलग-थलग खड़ी थी। अचानक निगाह गई सामने पटरी पर। एक बड़ा-सा चूहा, नहीं पूरी फ़ौज बड़े इत्मीनान से यहाँ से वहाँ घूम रही थी। एक बार मन में *पाईड पाइपर ऑफ़ हैमलिन* की याद आई। पर यहाँ तो वह बड़ी आत्मीयता से एक ही झुंड में थे। कहीं कोई टकराव की स्थिति नहीं दिखाई पड़ रही थी। ऐसी ऊल-जलूल बात सोच ही रही थी कि मेरी निगाह एक और जीव पर पड़ी। शकल-सूरत से तो एक आदमी ही लग रहा था। एक सुंदर गठीला जवान, पर वह काम जो कर रहा था वह एक आदमी का नहीं हो सकता है। कभी नहीं। वह इंसान की टट्टी, सड़ती हुई पिचपिची गंदगी-काली बद्बूदार, और उन दैत्याकार चूहों के बीच पटरी साफ़ कर रहा था। ख़ाली हाथ—दस्ताने तो दूर; एक पन्नी तक नहीं बाँधी हुई, ख़ाली पैर निर्विकार रूप से वह पटरी का कूड़ा थोड़ी-थोड़ी दूर पर इकट्ठा करता और दो गत्ते के टुकड़ों के सहारे एक कूड़े की हाथ-गाड़ी में डालता जाता। मुझसे थोड़ी दूरी

मनाली चक्रवर्ती का जन्म 1967 में हुआ। यह इनकी पहली कहानी है। संपर्क : 3047, आई.आई.टी., कानपुर 208016 फ़ोन : 0512-2598753

पर था। सीधे उसके मुँह की तरफ़ देखने की हिम्मत नहीं हो रही थी। पर फिर भी ग़ौर किया— साँवले रंग का 20-22 साल का लड़का, इतनी गंदगी के बीच में काम करते हुए भी जैसे इन सबसे ऊपर।

और यह देखो, अरे यह क्या! उस मोटे तोंदियल पसीने से लथपथ लाल मुँह वाले सूअर ने; माफ़ करना मुन्ने को तो सुस्सु कराई ही, ख़ुद भी खड़े हो गए ज़िप खोलकर पटरी पर, उस सफ़ाईकर्मी से सिर्फ़ हाथ भर के फ़ासले पर। यह भी इंसान है। शर्म नहीं आती इनको। और वह जवान, वह ग़ुस्सा करना भूल गया क्या, गौतम बुद्ध की मुद्रा में खड़ा है। मुझे एक असहनीय ग़ुस्सा आ रहा था। क्या करूँ, इधर-उधर देखने लगी, और फिर दूर प्लेटफ़ॉर्म पर ट्रेन आने की सीटी से चारों तरफ़ चहलक़दमी बढ़ी और मेरा ध्यान भी हटा।

फिर एक बार पटरी पर सफ़ाई कर रहे उस जवान पर ध्यान गया तो एक बात का अचानक अहसास हुआ। इसे ग़ुस्सा आता है पर मेरी तरह गरम ग़ुस्सा नहीं कि हल्की-सी हवा चलने पर ही भड़क उठे और एक पल के उबाल के बाद फिर ठंडा। दूसरे हवा के झोंके तक। यह बहुत ठंडा ग़ुस्सा है, सदियों से जमा हुआ, परतों में मिला हुआ, बड़े यत्न से सँजोकर रखा हुआ। यह मुफ़्त में ख़र्च करनेवाला रेज़गारी ग़ुस्सा नहीं जो बुझेगा। थोड़ा-सा ध्यान हटने पर जैसा मुझे हुआ, पर सारी पुरानी बंदिशें तोड़कर ही फिर शांति आएगी उसके मुख पर।

ज़ोर की सीटी देकर गाड़ी आ गई—कालका मेल। आनन-फ़ानन लोग दौड़ने लगे, मैं भी एक टक अपने डिब्बे की खोज में ट्रेन पर नज़र गड़ाए खड़ी थी। ओफ़्फ़ ओ एस-6 के बाद एस-14, एस-7 कहाँ चला गया—ज़रूर ए. सी. कोच के पीछे। अपना पिट्ठू उठाकर चल दी एस-7 की ओर। ग़ज़ब की भीड़ डिब्बे के गेट पर। यह सब लोग जाएँगे क्या? जी हल्का-सा खट्टा हो गया। सारा मिल-बाँटकर खाने-ओढ़ने का फ़लसफ़ा मेरी रिज़र्वड् सीट पर आकर ख़त्म हो जाता है। अचानक मैं अपने आपको निजी संपत्ति की समर्थक के रूप में पाती हूँ, चाहे वह एक रात की ही क्यूँ न हो। पहले ही कूपे में सीट और मेरी सीट पर छह आदमी, औरत, बच्चों की एक विशाल टोली पहले से विराजमान। एक ढाई साल का बच्चा, जितनी कमज़ोर देह उतनी ही ज़ोरदार आवाज़ का स्वामी, खिड़की से आधा बाहर लटका हुआ। दो सिमटी हुई 15-16 साल की लड़कियाँ, तीसरी उनकी बड़ी बहन काफ़ी तेज़-तर्रार, उनकी माँ एक गोलकाय महिला—आँखें गोल, गाल गोल, शरीर गोल, गोलमाल से हटकर आराम फ़रमाने की मंशा से आधी लेटी हुई। उससे सटकर एक 20-22 साल का जवान, दर्जन भर अटैचियाँ, पोटलियाँ, और बक्से रखते हुए। बाहर से और भी सामान आता ही जा रहा था। लाने वाले एक क़ुली और एक पसीने से गीले सफ़ारी सूट पहने अधेड़। ''अरे आम की पेटी हैं ज़रा सँभालकर, अचार है, इसको ऊपर, उसको नीचे'', कहते हुए यहाँ से वहाँ दौड़ते हुए।

मैं सधी मुद्रा में सीधे खिड़की पर पहुँची और धीमी पर दृढ़ आवाज़ में कहा, ''ज़रा हटिए मुझे बैठना है।''

''तो बैठिए न किसने रोका है?'' एक तीखी-सी आवाज़, उसी तेज़-तर्रार लड़की की आई।

''मेरी सीट है मुझे खिड़की पर बैठना है।'' मैंने फिर कहा।

''आपकी सीट! मतलब, रिज़र्व कराया क्या?'' फिर उसने कहा।

''जी हाँ।'' मैंने उत्तर संक्षिप्त रखते हुए आँखों और भंगिमा से समझाने की कोशिश की।

इतने में वृत्तकाय माँस पिंड में हलचल हुई, अधीर नयनों से सफ़ारी सूटवाले की तरफ़ देखते

हुए कहा, ''अजी सुनते हो, देखो यह मैडम क्या कह रही हैं, यह हमारी सीट उनकी है।''

सफ़ारी सूटवाला ताव में मेरी तरफ़ मुड़ा, पर सशक्त प्रतिद्वंद्वी देखकर पस्त पड़ गया। भीगे हुए पापड़ की तरह मिनमिनाने लगा, ''योर सीट मैडम, माई फ़ैमिली सिटिंग मैडम, ओनली टिल इलाहाबाद, सम डिफ़िकल्टी, एवरीबडी एडजस्ट, हँसते-बोलते जर्नी ओवर, अचानक शादी लग गई, सबको जाना था, बच्चे, मिसेज। अरे, मैडम को पेठे खिलाओ।''

मैंने मना किया, उन्होंने बहुत ज़ोर दिया, ''टेक टेक एकदम ख़ास।'' पर मैंने अपना गंभीर चेहरा खिड़की से बाहर कर लिया।

स्टेशन सरपट निकले जा रहे थे। पहचाने हुए नाम, इतनी बार गई हूँ इस रूट पर। गंभीरता ओढ़े रखने के कारण मेरा मुँह दुख रहा था—आदत नहीं होने के कारण। सीट हड़पने और उसे बनाए रखने का खामियाज़ा तो भुगतना ही था, पीछे चल रहे तमाम एक्शन से मैं वंचित हो रही थी। बीच-बीच में दोनों 15-16 वर्ष की लड़कियाँ जो कि निरंतर फुसफुसा रही थीं, चुटकुलों पर हँसते हुए मेरे ऊपर लोट-पोट हो रही थीं। और फिर सहमकर बैठ जातीं। अनगिनत मूँगफली वाले, चाय वाले, केक-बिस्कुट वाले, पेप्सी-कोक वाले, समोसे-गरम, कटलेट वाले, और यहाँ तक कि 'कश्मीर के सेब की तरह लाल टोमैटो सूप' वाला भी अपने-अपने गीत गाते हुए निकले। कुछ देर बाद मैंने ग़ौर किया कि वह ढाई साल का शैतान बच्चा हर बेचने वाले को रोकता, कुछ-न-कुछ लेने की ज़िद करता और जब तक लिया न जाए ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता, घड़ियाली आँसू बहाता। साथ में यह रट लगाता, ''मुझे चाहिए, चाहिए, चाहिए'' और बीच-बीच में ज़ोर से चीख़ता, ''आप मुझे प्यार नहीं करते।''

माँ तो अपने 22 साल से लेकर ढाई साल तक के पाँच बच्चों के कारण पहले से ही धराशाई थी। इस छोटे शैतान को बाप ही सँभाल रहा था।

पूरे समय न तो उसका रोना-चीख़ना बंद हुआ और न बटुआ पिताजी के पॉकेट में वापस गया। खाया तो कम, फैलाया ज़्यादा। हद तो तब हुई जब चाऊमीन का पत्ता उसने सारे डिब्बे में बिछा दिया—और उसकी बहनों की तमाम मिन्नतों के बाद भी उनको एक कतरा न दिया। माँ-बाप उसकी करतूतों पर हँस रहे थे और मुझे एक थप्पड़ कसने का मन हो रहा था। पर आगे और भी होना था।
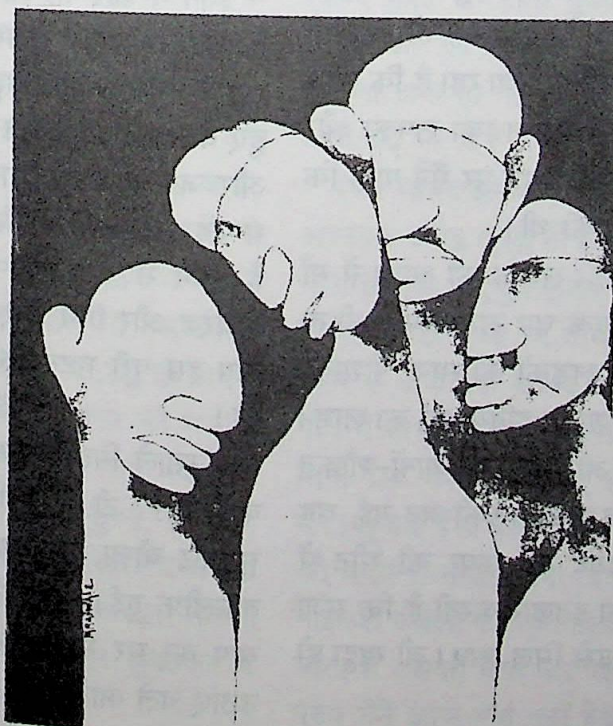
अचानक मम्मी ने अपनी गोल आँखें खोलीं और कहा, ''राजा को दूध दो।''

तीनों बहनें 'राजा' को दूध देने में जुट गईं। चाँदी का चम्मच, चाँदी का कटोरा, गरम पानी भरा फ़्लास्क, नाप के पाउडर वाला दूध और चीनी। राजा यह प्रक्रिया बड़े ग़ौर से देख रहा था पर जैसे

ही चम्मच भर दूध उसके होंठों के पास लाया गया, उसने ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाकर एक आवाज़ निकाली जो आकृति एवं प्रकृति में किसी फ़ैक्ट्री के सायरन से कम नहीं थी। वह भीषण आवाज़ निकलती ही रही और कुछ देर में पूरा डिब्बा उस पिलाने की प्रक्रिया में शामिल हो गया। "प्यार से समझाइए; नाक बंद कर गटक दीजिए।"

"बच्चे तंग करते हैं, अरे चटोरेपन की आदत हो गई, रात में सोते हुए पिलाइए, सुबह उठने से पहले पिलाइए" और न जाने क्या-क्या, किसी समझदार ने यह भी कहा, "ख़ुद पी जाइए।"

कुछ देर बाद पापा ने राजा को पकड़ा और गाल को उँगली से खींचकर मुँह में दूध उड़ेलना शुरू किया, और फिर दूध का कुल्ला पिचकारी की भाँति हम सबको भिगोने लगा। एक बूँद भी अंदर न गया होगा। जीत राजा की हुई। विद्रोही दरबारी हार गए और राजा ने अपना विजय महोत्सव पकौड़ी और चिप्स खाकर मनाया।

माँ ने फिर आँख खोली, "मुन्ने को दे दो दूध।" मैं यह सोचकर आशंकित हो रही थी कि नाटक का दूसरा शो होने जा रहा है कि ऊपर से पैंट वाला 10 साल का लड़का लपका और दूध पी गया। मेरी तरफ़ घूमने पर मैंने पाया कि वह लड़का नहीं लड़की थी।

बात समझ में आई। लड़के की आशा में माँ ने जब एक के बाद एक चार लड़कियाँ जनी तो चौथी मुन्ना बन गई। लड़कों की साज-पोशाक, छोटे कटे बाल और शायद दुनिया भर का लाड़। पर फिर राजा आया और मुन्ना की शानों-शौक़त छिन गई। वह महज़ एक लड़की बन गई, वह भी चौथी। अब शायद वह ऊपर की सीट में बैठकर इसी बात का इंतज़ार करती है कि राजा दूध छोड़े और वह उसे मिल जाए। जी खट्टा हो गया।

इलाहाबाद से मुग़लसराय भीड़ में ही गु गया। पर अब रात हो चुकी थी। माँ का प्या पैक किया हुआ खाना खाकर सोने की तै करने लगी। अभी भी गाड़ी में ग़ज़ब की भ थी। नौ बज चुके थे और आरक्षित सीट खा हो चुकी थीं। हम 8 लोग अपने आपको इ भीड़ से अलग कुछ स्पेशल कैटेगरी के मह कर रहे थे, क्योंकि हम विलक्षण बुद्धिमान लो ने 15 दिन पहले सीट बुक की थी। बाथरूम तरफ़ गई तो देखा एक अजीब दृश्य। पाँव रख की जगह नहीं; बच्चे, बूढ़े, औरत और उन सामान, पूरा पैसेज भरा हुआ है। ठीक टॉयले के बग़ल में एक 9-10 साल का लड़का ग नींद में सोया हुआ। उसकी एक बाँह टॉयले के अंदर फैली हुई। कैसे टॉयलेट जाऊँ, इ असमंजस में थी। निगाह घुमाई तो उसके म बाप और शायद तीन भाई-बहन चिथड़ों में लि हुए, सिकुड़े बैठे थे। सबसे छोटा बच्चा माँ सूखे स्तन को ज़ोर-ज़ोर से खींचता और बिल के बच्चे की तरह धीरे-धीरे रोता।

इतने में ज़ोर की आवाज़ आई और गालि की बौछार! "साले सूअर के पिल्ले आराम फ़र रहा है।" एक काले सूट वाले टी.टी. ने स हुए बच्चे को अपने जूते वाले पैर से लात ल और जब तक वह मासूम उठे, एक ज़ोर थप्पड़। उस बच्चे का चेहरा भुला पाना मुश्कि है, क्रम से कई सारी भावनाएँ, भौंचक्का अचरज और फिर धीरे-धीरे भय। उसके बाप इस पूरी घटना के सिर्फ़ मूक दर्शक रहे।

"स्साले पिल्ले सबको उतार देंगे मुफ़्तख़ कहीं के!" टी.टी. गुर्राया और फिर मेरी त मुड़कर बोला, "जाइए मैडम! सॉरी आ तकलीफ़ हुई। अभी निपटता हूँ इन लोगों बाप का घर समझ रखा है। जिसे देखो उठाए चले आते हैं!"
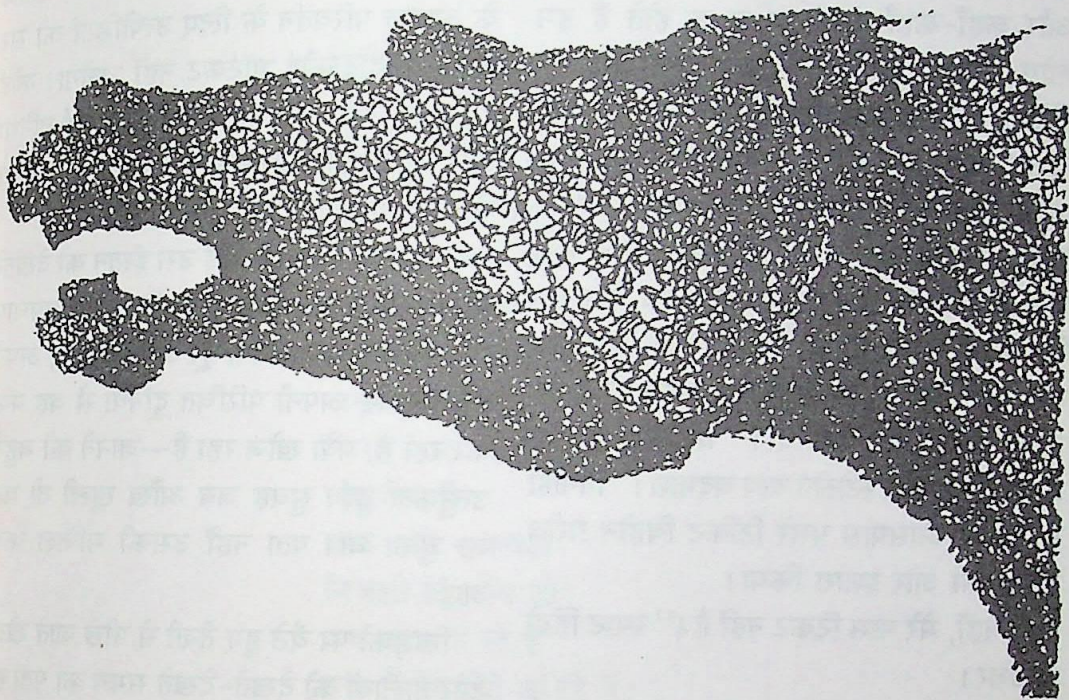
मिश्री घुली आवाज़ मेरे आरक्षित टिकट पर जो लिखा नहीं गया था और जिसकी क़ीमत शायद टिकट के पैसे में शामिल थी; वह है टी.टी. का रवैया-पर शायद वह तीस रुपए के आरक्षण की बदौलत नहीं मिली, बल्कि मेरे अपर क्लास चेहरे के कारण वह मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, जैसा कि लात खाना उस बच्चे का। एक बार मन हो आया लड़ जाऊँ, फिर ख़याल आया किसके लिए, अपने से कमज़ोर पर हावी हो जाना तो सनातन धर्म है—टी.टी. का उस लड़के पर और मेरा उस टी.टी. पर चढ़ जाना स्वाभाविक है। टी.टी. तो अपनी ड्यूटी कर रहा है और मैं दो मिनट की मसीहा बनने चली। नहीं बदलेगा, कुछ नहीं बदलेगा। जब तक वह पटरी साफ़ करता हुआ नौजवान, 'मुन्ना' बनी लड़की और आरक्षित डिब्बे का सहमा हुआ परिवार एक साथ मिलकर इस सबको बदलने की कोशिश न करें। सिर झुकाकर मैं अपनी सीट पर वापिस आ गई।

नींद नहीं आ रही थी। टी.टी. साहब का वज्रनाद जारी था। "उतार दूँगा, पुलिस से पिटवाऊँगा" आदि; फिर अचानक शांति—शायद कोई समझौता हुआ। लगता है टी.टी. साहब को उन कंगालों के पास से भी पर्याप्त दक्षिणा प्राप्त हो गई थी और वह भुनभुनाते हुए आगे बढ़ रहे थे।

फिर शायद झपकी-सी लग आई थी क्योंकि अचानक आँख खुली तो निगाह पैसेज की रोशनी में खड़े एक अद्भुत शख़्स पर पड़ी। एक गोरा विदेशी खड़ा हुआ था दीवार से टेक लगाए—ऊपर से नीचे तक सफ़ेद धोती में लिपटा हुआ। पाँव में खड़ाऊँ, कंधे पर पोटली, सर पर जटा। मानो ईसा मसीह आ गए हों साधु के लिबास में। (सुना है ईसा कृष्ण वर्ण थे और प्राच्य सभ्यता की बदौलत गौरांग बना दिए गए। बहरहाल मैं माइकल एंजेलो की मूर्तिकला में जो ईसा दिखाया जाता है उसकी बात कर रही हूँ।) इतना सुंदर पुरुष मैंने आज तक नहीं देखा। मन किया उन्हें

एकटक देखती ही रहूँ। सौंदर्य बहुमूल्य वस्तु है और कहाँ-कहाँ उससे रू-ब-रू होते हैं हम लोग। शायद पैंट-शर्ट में वह इतना सुंदर न दिखता। तराशा हुआ चेहरा, नाक-नक़्श, लंबा, छरहरा बदन और मुँह पर अपार शांति का भाव। शालीनतावश मैंने उससे निगाह हटाकर इधर-उधर देखा तो पाया मुझसे भी ज़्यादा अचरज में एक और इंसान उसकी ओर एकटक देख रहा है। वह हैं हमारे टी.टी. साहब। कुछ पल बाद वह बोले, बोलने के लहजे से लगा, बातचीत पहले से ही चल रही थी। ''बट सर, यू नॉट बाय टिकिट ऑर स्टोलेन बाय बदमाश।'' निगाहों से उन्होंने आसपास पसरे टिकिट विहीन ग़रीब जनता की ओर इशारा किया।

''नहीं, मेरे पास टिकट नहीं है।'' स्पष्ट हिंदी में उत्तर।

हक्का-बक्का टी.टी. फिर कुछ बोलने को हुआ पर चुप हो गया। आसपास की भीड़ भी उत्सुकता से यह वार्तालाप सुन रही थी। टी.टी. को यह विडंबना समझ में नहीं आ रही थी। दो सौ साल की गोरों की ग़ुलामी उसे अपने कर्तव्य करने से रोक रही थी। टिकिटलेस गोरा भी तो आख़िर मालिक जात का है। टी.टी. की ओहदे की औक़ात उसकी परंपरा में मिली हुई भूरों की मानसिक हीनता के सामने झुक गई। वह चुपचाप आगे बढ़ गया। पर इसके फलस्वरूप आसपास खड़ी ग़रीब जनता उसकी गाज से बच गई इस यात्रा में।

मैंने आँखें फिर मूँद ली। वह गोरा विदेशी सचमुच ग़रीबों का मसीहा साबित हुआ। सदियों से इस व्यवस्था में मसीहा पैदा हुए जो कि एक सफ़र तक ग़रीबों को, दलितों को, ज़रूरतमंदों को उत्पीड़न से बचाते रहे अपने निजी करिश्मे की बदौलत। पर यह सिर्फ़ एक अस्थाई व्यवस्था है, थोड़ी दूर की राहत, फिर ज्यों का त्यों। स के आमूल परिवर्तन के लिए उत्पीड़ितों को उठाना होगा। कोई शॉर्टकट नहीं चलेगा। दया-धर्म नहीं, हक से बनानी होगी नई दु और जमानी होंगी उसकी नई मान्यताएँ। म से काम नहीं चलेगा।

जब तक नींद नहीं आई उस इंसान को दे रही। उसी मुद्रा में खड़ा हुआ बिलकुल चुप हम सबसे अलग। इतनी दूर अपने देश से, घरवालों से, अपनी परिचित दुनिया से वह कर रहा है, क्या खोज रहा है—जानने की उत्सुकता हुई। सुबह जब आँख खुली तो जा चुका था। पता नहीं उसकी मंज़िल आई।

खिड़की पर बैठे हुए तेज़ी से पीछे जाते और तालाबों को देखते-देखते समय का पत नहीं चला। मेरे आसपास के लोग अपनी रात की गृहस्थी समेटने में जुटे हुए थे। कुछ छूट न जाए, कोई निशानी न रह जाए एक रात ज़िंदगी की हमने साथ इस डिब्बे गुज़ारी थी। कल, अगले मुसाफ़िरों की को जब बच्चे का एक टूटा हुआ खिलौना के पीछे पड़ा मिलेगा या फिर असतर्कत छोड़ा हुआ कोई रूमाल या टूथब्रश मि शायद वही हमारे यहाँ कभी होने की एक निशानी होगी। क्या ज़िंदगी भी कुछ ऐसी नहीं है—समेटने में लगे हुए हम लोग, ग़ल ही निशानी छोड़ जाते हैं, कभी जानबूझकर नहीं छोड़ते कुछ—इस्तेमाल किया हुआ ही सही?

''दीदी, कूली होबे?'' की पुकार ने चौंका दिया। गाड़ी हावड़ा स्टेशन पर पहुँच थी।

हिंदी कविता

मानिक बच्छावत

कदंब के फूल

वह कदंब का पेड़,
लदा-फदा बड़े-बड़े
खिले कदंब फूलों से
ऊपर से नीचे तक भरा
लग रहा जैसे
किसी ने क़रीने से
जड़ दिए हैं
छोटे-छोटे सजावटी
बिजली के बल्ब जो
अब जगमगा रहे हैं
हवा में पेंगे लेते जा रहे हैं।

कदंब का यह पेड़
बहुत बड़ा और घना
छाया हुआ है बड़े-बड़े
गहरे हरियाले पत्तों से
दे रहा है एक अजीब
गंध-महक
जो फैल रही है
सारे वातावरण में
एक अजीब मोहक
भीनी-भीनी हवा
तैरती है आसपास।

रसखान की
अनायास आती याद
जो पक्षी बन
कालिंदी के कूल पर
करना चाहते रहे बसेरा
बिताने सारा जीवन
कदंब की डाल पर।

1938 में जन्मे कला-मर्मज्ञ मानिक बच्छावत के पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। संपर्क : 20, बालमुकुंद मक्कर रोड, कोलकाता 700002

सेमल के फूल

इन सेमल के
फूलों को मत छुओ।

ये बहुत कोमल हैं
इन्हें डालियों पर
पलने दो
अपनी उँगलियों को
नज़दीक न ले जाओ
नहीं तो
इनमें भरी रूई
बाहर आ जाएगी
उड़ जाएगी
वह कभी पकड़ में
नहीं आएगी
अभी डालियाँ
इनके भार से
झुकी हुई हैं
वे इनको सँभाले हुए हैं
इनकी सुंदरता का
एहसास इन्हें
देखकर ही करें।

यदि तुमने इन्हें
तोड़ा तो
कुछ नहीं पाओगे
एक दिन तुम
इनकी तरह
उड़ जाओगे।

रजनीगंधा

रजनीगंधा
एक ख़ास क़िस्म के
फूल हैं।
वे फूल क्या हैं

लंबी-सी हरी छड़ियाँ हैं
जिन पर झूली रहती हैं
हरी पत्तियाँ और सिर पर
गूँथे रहते हैं
सफ़ेद फूल
कुछ खिले, कुछ अधखिले
कुछ बंद।

वैसे देखा जाए तो
वे एक तरह की
विकसित होती कलियाँ ही हैं
जो उन्नत होकर
फूल बनती हैं।
ये फूल एक ख़ास
संस्कृति के प्रतीक हैं
जब कोई ख़ुशग़वार
मौक़ा होता है तो
इन्हें भेंट में दिया जाता है
इनको गुलदस्तों में
भर दिया जाता है
ये शिल्पियों और लेखकों की
पहली पसंद हैं, बड़े जतन से
प्यार से रखे हुए
खड़े-खड़े अपनी
मीठी गंध फैलाते हैं।

कलियाँ फूल बनती जाती हैं
पके फूल झरते जाते हैं
तब सारी कलियाँ
फूल बनकर झर जाती हैं
तो मुरझाए फूल और
छड़ियाँ फेंक दी जाती हैं
फिर गुलदस्तों में
नई छड़ियाँ लगा दी जाती हैं।

सुनीता जैन

नाचने से पहले

जब मैं नाचता हूँ
तो नाचने से पहले
कहता हूँ, 'प्रभु मैं सज गया
अब आप नाचिये'

कहा बिरजू महाराज ने
एक दोपहर दिल्ली में।

शायद यही कहते थे कालिदास
कविता से पहले,
कहते थे तानसेन
गायन से पहले,
कहती थी अमृता शेरगिल
चित्रण से पहले।

मैं इनमें से एक भी नहीं
न हो सकती
पर कहती हूँ—कह सकती कि
सज गई हूँ वीणा वादिनी
प्रतीक्षा में आपकी
जितने भी जन्म बचे हैं
उन सब जन्मों में
आज ही।

और वे आ जाती हैं सचमुच
कभी-कभी
जैसे कि उस दिन
जब आसपास नहीं था काग़ज़
क़लम सूखी थी।

उन्होंने मुझे छेड़ा,
'बस!
मैंने तो सुना था
कि तुम सज गई थीं!'

पाँव पकड़ लिए मैंने
यह कहकर-

हिंदी में 32 कविता-संग्रह तथा अंग्रेज़ी में 8 कविता-संग्रह की रचयिता सुनीता जैन का जन्म 1941 में हुआ। इन्हें पद्मश्री, साहित्य भूषण से सम्मानित किया गया है। संपर्क : सी-132, सर्वोदय एनक्लेव, नई दिल्ली 110017
फ़ोन : 2696-2022

'आपका आना ही तो
सजना था, देवी!'
वे हँसी और रुक गई
जाते-जाते
मेरी देह तब खुला पृष्ठ थी
एक बड़ा सा-और
दस क़लमें थीं साँसें!

विनोद बिहारी लाल

ज्योति को डर नहीं लगता

प्रिय ज्योति,
तुम्हारी परीक्षा की कॉपी में यतन से छुपाया हुआ
सौ रुपए का ताज़ा नोट मिला
साथ ही छोटी-सी टिप्पणी भी
'डियर सर,
मैं बहुत ग़रीब परिवार से हूँ
किस तरह यहाँ तक पहुँची हूँ
प्राइवेट नौकरी है,
पढ़ नहीं सकी, विषय मुझे नहीं आता,
अब आप जो चाहें करें।'

मैं असमंजस में हूँ,
बहुत ग़रीब परिवार की यह लड़की
जाने किस तरह यहाँ तक पहुँची है
संघर्ष ने उसे बहुत कुछ सिखा दिया है
अब उसे डर नहीं लगता
वह खुला खेल खेलती है
वह जानती है कि यहाँ कुछ भी अलंघ्य नहीं है
न न्यायालय, न देवालय, न विद्यालय
वाजिब दाम पर सब अपने हैं।

मुझे उससे शिकायत नहीं है
उसने जो देखा, सीखा, सो किया
पर गांधी और अंबेडकर का
कोई वारिस तो यह बताए

विनोद बिहारी लाल का जन्म 1939 में हुआ। वैज्ञानिक शोधपरक आलेख, कविताएँ आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 18, शुभ निकेतन, ए-4, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110063 फ़ोन : 25250293

कि यह हो क्या रहा है ?
मूर्धन्य महात्माओं
आज़ादी के साठ साल बाद का मंज़र
क्या तुम्हें नहीं कचोटता,
तुम्हें साँस कैसे आती है
कैसी निर्मिति है यह तुम्हारी कि संघर्ष अब
तपाकर व्यक्ति को कुंदन नहीं बनाता
गुर सिखाता है
कुछ पाना चाहते हो तो दो
जो माँगा जाए
बिना माँगे दो
दो कि फिर अधिकार से ले सको।

ज्योति,
तुम आरक्षित वर्ग से तो नहीं हो ना ?
कहीं मेरा तुम्हें अंक न दे पाना सवर्णों की
हज़ारों साल पुरानी साज़िश का हिस्सा न हो।

तुम्हारा वह दूषित नोट
मेरे पास सुरक्षित है
वह किसी के काम नहीं आ सकता
न मेरे, न तुम्हारे
शायद मैं उसे फ्रेम कराके रखूँ
बिना किसी शीर्षक के भी वह
हमारे देश काल की समूची अभिव्यक्ति होगा।

मुझे तुम्हारा पता नहीं मालूम
और मैं उतना बड़ा सिद्धांतवादी भी नहीं हूँ
कि यूनिवर्सिटी को रिपोर्ट कर
न जाने किन परिस्थितियों से जूझती हुई
एक दिलेर लड़की के लिए
जो दलित भी हो सकती है
कोई बड़ी मुसीबत खड़ी करूँ
यों मुझे भरोसा है कि
अब ऐसी कोई मुसीबत नहीं होगी
जिससे तुम पार न पा सको
तुम्हारे पास एक गुर है
और शायद कुछ गुरु भी
जो तुम्हारा मार्गदर्शन करेंगे।

फिर भी बुरा न मानो तो एक बात कहूँ
संघर्ष की आग व्यक्तित्व को
दमक भी दे सकती है और कालिख भी
हो सके तो एहतियात बरतना
कि आग का मुँह काला न हो।

मीठेश निर्मोही

आंदोलित है स्त्री

अपनी धुरी पर रहती हुई भी
रह-रहकर बेचैन हो उठती है स्त्री
जो स्थायी हो चुकी हैं,
उन स्मृतियों में डूबती-उतराती
समेटकर आँचल अपना
लौट-लौट आती है विचारबद्ध होकर
कि अक्षमता के बोध से मुक्त होना है उसे
उत्पीड़न भरी रातों से पाना है छुटकारा।

कि कुंठा और निराशा के छँट जाएँ बादल
किसी किताब के नए संस्करण की मानिंद
परिमार्जित होकर
चूल्हा-चौका और रोमांस से बाहर
ढल जाना चाहती है ऋतुओं और रंगों में
ऐसी तूलिका और रंगों का
कर लिया है आविष्कार उसने
हो गया है भरोसा उसे
अपनी तस्वीर स्वयं बना पाएगी वह।

कि इसी शताब्दी में उसे
कुलक्षणी के संबोधन से मिल जाएगी निजात
कि पैरों की जूती नहीं कहलाएगी अब
अभय और साहस के साथ
साइबर कैफ़े के कंप्यूटर-डाटा में उतरकर
अप-संस्कृति के पहियों को बदल रही है।

एक लयबद्ध गति के साथ
उघाड़ लिया है घूँघट उसने
इसी गति से निकल आई है वह

हिंदी तथा राजस्थानी के कवि-कथाकार मीठेश निर्मोही का जन्म 1951 में हुआ। कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : कथा, राजोला हाउस, उम्मेद चौक, जोधपुर (राज.)

चक्रव्यूह से बाहर
इतना ही नहीं बर्बरता के विरुद्ध
चेतना के आकाश में
निरंतर दे रही है दस्तक
कि निरीह न रहें बेटियाँ उसकी
सिसकियों और बेड़ियों से वे हो जाएँ मुक्त
अपने पाँवों पर खड़ी
चैन से जी पाएँ आत्म सम्मान के साथ
क़ायम रहे उन्मुक्त हँसी और
वजूद उनका।

इसी संकल्पना के साथ
उसकी पढ़ी-लिखी एक जमात ने
जगा लिए हैं देहली दीपक
कि इसी चेतना के उजास
ढह जाएँगे अँधेरे के पहाड़
मुक्ति के इस मार्ग में
'चुप्पियों का बहिष्कार किए
पहचान लिए हैं उसने
अपनी पहचान छीन लेने वालों के चेहरे'
मोबाइल और इंटरनेट जैसे हथियारों से लैस
पुरुषपूर्ण समय के अंत के लिए
प्रार्थनारत नहीं, सुनामी लहरों-सी
आंदोलित है स्त्री।

मेरा गाँव

मेरी अनंत स्मृतियों से
रह-रहकर उछलता है मारदड़ी की तरह
मेरे बचपन की बेहिसाब
विस्मृतियों को खँगालता हुआ
मेरा गाँव।

मेरे शहरी दोस्तों से बतियाता
खाट से उठ खड़ा होता है चौकस
मेरी साँसों में धड़कता
और-और घनीभूत हुआ।

किसी उधेड़बुन में
खेत की पगडंडियों पर टहलता हुआ
सेंकता हुआ
निथरी-निथरी धूप
खुली हवा में साँस लेता
और और मुग्ध हुआ।

गुज़रे समय की संपूर्ण सच्चाइयों में
उल्लेखनीय होकर प्रकट होना चाहता है
अपने भौगोलिक रूपों और
रंगों की अंतहीन परतों में
रूप-रंगों और शब्दों ही की तरह
सुरक्षित है मुझमें
जैसे चूल्हे की राख में
दपटे पड़े होते हैं खीरे।

मेरे बाबा द्वारा भिजवाई गई
चिट्ठियों में भी
अँटा पड़ा है
मेरे मन-मस्तिष्क में 'फ़ीड' हुआ
ठीक वैसा ही
जैसा कंप्यूटर में होता है 'डाटा'
मेरे मन के अँधेरे से
फूटते उजास
रूपायित होते कहानी और कविता में
मुझ ही से अभिव्यक्त होता है
सुबह के सपने की मानिंद
मेरा गाँव।

हिंदी और राजस्थानी में 8 कविता-संग्रह के रचयिता ओम पुरोहित 'कागद' का जन्म 1957 में हुआ। राजस्थान साहित्य अकादमी तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत हुए हैं। संपर्क : कमला निवास, 24-दुर्गा कॉलोनी, हनुमानगढ़ संगम 335512 (राज.)
मो. : 09414380571

ओम पुरोहित 'कागद'

थार में प्यास

जब लोग गा रहे थे
पानी के गीत
हम सपनों में देखते थे
प्यास भर पानी।

समुद्र था भी
रेत का इतराया
पानी देखता था
चेहरों का
या फिर
चेहरों के पीछे छुपे
पौरुष का ही
मायने था पानी।

तलवारें
बताती रहीं पानी
राजसिंहासन
पानीदार के हाथ ही
रहता रहा तब तक।

अब जब जाना
पानी वह नहीं था
दंभ था निरा
बँट चुका था
दुनिया भर का पानी
नहीं बँटी
हमारी अपनी थी
आज भी थिर है
थार में प्यास।

स्वप्नभक्षी थार

हमने
गमलों में
नहीं उगाए सपने
रोप दिए थार में।

स्वप्नभक्षी थार
इतराया
बिंबाई मृगतृष्णा
और दबी आहट
भख गया
रोपित सपने।

आरोपित हम
देखते रहे
आसमान में
उभरे अक्स बादल का
नहीं उभरा!

उनके सपने
गमलों रूपे
अंकुराए
गर्वाए
भरपूर लहलहाए
अब वे काट रहे हैं
सपनों की फसल
हमारे कटते नहीं दिन।

अभिव्यक्त नहीं मन

अपने हाथों
रचना अपना संसार
अपने शब्द
अपनी भाषा
फिर भी
अभिव्यक्त नहीं मन।

तन ढकना
पेट भरना
छत ढाँप लेना
यही तो नहीं
जीवित होने का साक्षी।

पंचभूत की रची काया
रखती है
कोमल मन में
रची बसी संवेदना
मुखरित होने का
पालती सपना।

सालती है
जीवेष्णा भी

कुछ न पाकर
जैसे कि एक स्त्री
मानव होने का
झेलती है दंश।

अंश हैं सब
उस परमात्मा के
तो फिर क्यों हैं
अपनी-अपनी भाषाएँ।
अपनी-अपनी भाषाएँ
यदि हैं भी
तो क्यों अभिव्यक्त नहीं मन
किसी किसी का।

काया का भाड़ा माया

पत्थर तोड़ती
उस महिला को
या फिर
दिन तोड़ती अबला को
देख ही लिया कवि ने
नहीं देखा;
पत्थर टूटा कि नहीं
दिन टूटा कि नहीं
झाँका नहीं वहाँ
जहाँ टूटा था कुछ
दरक गया था सब कुछ।

हा!
वह तो दे ही दिया था
उस महिला ने
परोस ही दिया था उसे
थाली में बापू ने
भरी पंचायत
जब वह बाला थी।

आज ही जाना
वह तो दिल था

दीवाना नहीं था
उसका दिल
दीवाने तो लोग थे
काया के
काया का भाड़ा माया
माया की मार से
टूट ही गया था दिल।

अखिलेश तिवारी

कहाँ थे पहले

जिन्से[1]-जां के ये ख़रीदार कहाँ थे पहले
लोग थे लोगों में बाज़ार कहाँ थे पहले?

वो जो इक दरिया था वो तो कभी का रेत हुआ
ये जो अब पुल हैं ये बेकार कहाँ थे पहले?

बस वही एक ही तहरीर[2] है चेहरा-चेहरा
ये नए दौर के अख़बार कहाँ थे पहले?

आइने ज़ख़्मी हैं पथराव का वो आलम है
अपने खो जाने के आसार कहाँ थे पहले?

दिल धड़कने की सदा[3] रोज़ तो नहीं आती
या कि हम ख़ुद से ख़बरदार कहाँ थे पहले?

नाख़ुदा[4] इसलिए पेश आए ख़ुदाओं की तरह
हाथ 'अखिलेश' के पतवार कहाँ थे पहले?

कब तक

कब तक छुपाए रखता मैं पलकों में ख़्वाब को
आख़िर सुराग़ लग गया सच के उक़ाब[5] को।

ख़ुद इल्म मेरी प्यास को ज़ंजीर[6] हो गया
सहरा में झील कह नहीं पाया सराब को।

1966 में जन्में अखिलेश तिवारी की ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : बी-19, रिज़र्व बैंक स्टाफ़ क्वार्टर्स, सेक्टर-जे, अलीगंज, लखनऊ 226020 (उ.प्र.)

1. सामान, वस्तु, 2. लिखावट, 3. आवाज़, 4. मल्लाह, 5. गरुड़, 6. मृगतृष्णा।

सदियों से इसके बाब[1] हैं वहशते[2], जुनूनो[3]-दार[4]
बदला कहाँ है इश्क़ ने अपने निसाब[5] को।

ज़ाहिर है मिट ही जाना था शबनम को दोस्तो
दिखला रही थी आईना वो आफ़ताब[6] को।

ये तज़िबा भी ख़ूब है कहना है उसको दोस्त
ख़ारिज[7] करे जो मेरे हरिक इंतिख़ाब[8] को।

लमहा

लमहा वो ऐसे आँख में तहलील[9] हो गया
बंजर था कुल वजूद मेरा झील हो गया।

रौशन ख़याल रात यूँ कंदील हो गया
मानी ज्यों अपने हर्फ़[10] की तक़्मील[11] हो गया।

सहरा[12], सराब, धूप, नदी, आईना, दरख़्त
इक चेहरा कितने चेहरों में तब्दील हो गया।

तारीकियों[13] के साथ था अंधों का वो हुजूम
शम्आ का ज़िक्र बाइसे[14] तज़्लील[15] हो गया।

जज़्बात ज़िंदगी को यूँ ताबूत कर गए
हर रब्त[16] तज़िबे को नई कील हो गया।

शाख़े-ग़ज़ल पे फ़िक्रो-फ़न सहमे हैं आजकल
ये दौर शाइरी के लिए चील हो गया।

सदी का

कुछ मज़्हकों[17] नहीं है ये नौहा[18] सदी का है
तुम हँस दिए ये कौन-सा मौक़ा हँसी का है।

औरों से हटके आईना ये आगही[19] का है
चेहरा कोई हो अक्स सभी में उसी का है।

लाती है बार-बार सराबों पे एतबार
सहरा में अब ये हाल मेरी बेबसी का है।

---

1. पाठ, 2. घबराहट, 3. पागलपन, 4. घर, 5. पाठ्यक्रम, 6. सूरज, 7. निक[illegible] हुआ, 8. चुनाव, 9. विलीन, 10. अक्षर, 11. पूर्ण, 12. रेगिस्तान, जं[illegible] 13. अँधेरों, 14. कारण, 15. अपमान, 16. मेल-मिलाप, 17. हँसी, ठहा[illegible] 18. रोना, मातम करना, 19. ख़बर।

कब तक समझिएगा उसे जागीर धर्मराज
हर दौर में सवाल यही द्रौपदी का है।

हों उँगलियाँ फ़िगार[1] तो हों, रह न जाए बल
ये शाइरी मुआमला शीशागरी का है।

सैराब करने का सिला है उम्र भर की प्यास
'अखिलेश' वाक़िआ है तेरा या नदी का है।

शरद रंजन शरद

आप्लावित

वह तन्मय खड़ा इस तरह
खोल निकाल बिखेर
रहा था अपना सब
जैसे ख़ाली होकर तुरंत
ले लेगा ख़ुद से छुट्टी
या हमेशा के लिए
साध लेगा दम।

लेकिन उसमें भरी थी प्यास
दूर होकर मिटकर भी
कभी नहीं मिटने वाली
फैली हुई होंठों से
धरती की जड़ों तक
बूँद-बूँद से लगाती लौ।

जीवन चक्र की तरह
तृषा का भी था जल चक्र
हवा से बात करती
पनचक्की की तरह
जिसमें अधर ही नहीं
तर होने के अंग होते हैं कई
और भीतर चलता रहता
बँधे खुले कणों का नाच
शांत और चपल ऊर्जा के साथ।

वह निकलकर इस तरह
फैल रहा था सादेपन से

एक ही तो आखर है कविता-संग्रह के रचयिता शरद रंजन शरद की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।
संपर्क : विवेक विहार, हनुमान नगर, पटना 800 020
फ़ोन : 0612-2305734

---
1. घायल।

चमकते चहकते रंगों के साथ
जैसे उड़ा रहा हो ख़ुद पर
बर्फ़ की बँधी बिखरी धूल
और फिर उन्हें कंधे उचकाता
हाथ हिलाता चलाता
झाड़कर गिरा रहा हो नीचे।

जहाँ पसरी हुई थी
शांत बहती-ठहरती हलचल
वहाँ बच्चे बड़े बनकर
माँज-धोकर चेहरे
देख रहे थे दर्पण भीतर तक
और नन्हे मुन्नों की तरह बड़े
पैरों से हिलकोर कर छवियाँ
उछाल रहे थे तरंगों की गेंदें।

फुहारों की बहुमंज़िली इमारत
की मुँडेरों, छतों, रोशनदानों,
खिड़कियों और दरवाज़ों से
कूद-कूदकर तृप्तियाँ
उतर रही थीं प्यासे पत्थरों
की खोहों से तराशकर कई
कोणों और रेखों को छूती
समा रही थीं फिसलती गिरती
अदृश्य धाराओं के नीचे
जहाँ कमल के तलवे जमे थे
सिर को 'हाँ' 'ना' के बीच
सकुचाकर हिलाते हुए।

पाँवों के नीचे थी मिट्टी
उन पददलितों की आहों से सनी
जिनके वर्षों से जुटाए तिनकों से
बने घरों को उजाड़कर
ज़ख़्मों में भरकर नमक
शहर की छाती पर बिछाई
गई थी पानीदार हरियाली।

जो फ़व्वारा था बाग़ के माथे पर
चमकते सिरमौर जैसा

उसमें फूल फल रहा था पानी
उन्हीं निर्मल आँखों का
जो पथराने के बावजूद भरी थीं
होंठों पर ढरककर हृदय
और घुटनों से लगकर
मिट्टी में उतरने के लिए।

वही जलयंत्र था जिसके
क़दमों के नीचे मज़बूती से
जमाई गई ईंटों के बीच
आत्माएँ थीं चुनवाई हुई
जिनकी परछाईं पड़ रही थी
छवियों पर बच्चों की
जो बड़ों की निगाहों की ओर
पीठ किए जान गए थे
चेहरे पर बनती बदलती
अनगिनत सूरतों का भेद।

जलतरंगों से गुज़रते हुए
सर से पाँव तक भीगने के बावजूद
बड़े हो रहे बच्चों की
प्यास बढ़ चुकी थी काफ़ी
और दिन भर की सैर के बाद
भूख की उँगलियाँ चटकाते सयाने
व्यंजनों के नाम गिनाते
भर रहे थे चटकारे।

मगर अचरज यह
कि बरफ़मलाई चूसने
और लिपे-पुते तरल के होंठ
चूमने के अभ्यस्त हो चुके नन्हे
पहली बार कर रहे थे इनकार!

वंशवृक्ष

इसकी पथराई देह को काटकर
पता लगाई जा सकती है सही उम्र
और यह भी कि आख़िरी हवा के साथ
कब निकली बची-खुची हरियाली

टहनियों के रास्ते कपड़े बदलने
के लिए तैयार खड़ी आत्मा के साथ
बता सकते हैं जड़ पड़े घावों के निशान
कैसे रही किस तरह निकली जान।

मगर एक पेड़ की उम्र का क्या अर्थ
जहाँ ख़ुद से आगे भागते समय में
प्रकृति और पृथ्वी से नहीं मतलब
सिवाय इसके कि किसी भी तरह
उनकी चीज़ों को बनाया जाता रहे
स्वाद और इस्तेमाल के लायक़
और एक-एक रेशा चूस लेने के बाद
सुलगा जलाकर ताप लिया जाए।

बिंधी खिंची खाल और नुचे रोएँ वाला
यह वृक्ष क्यों खड़ा है खड़खड़ पत्तों
और उजाड़ नीड़ों से सटी उदासी लिए
छूटी रुकी साँसों से विदा लेने के बाद भी
इसके जड़ मस्तिष्क के खोढ़र में
क्या बची रह गई है कोई हलचल
या चिंदी दिल की ध्वस्त धड़कनों से
झर रहा टूट-टूटकर निःशब्द।

दम तोड़ते वक़्त शायद खड़ा हो यह
बाँहें फैलाए निर्वात् के सर हाथ रखे
और तभी जमकर हो गया हो पत्थर
जिसके एकाश्म विन्यास के लिए
उधेड़ी जा रही हो हड्डियों की खाल
काले रक्त में घोंटा जाना हो लवण
चढ़ाने के लिए लेप नंगे जीवाश्म पर
ताकि इतिहास को रखा जाए ढँककर।

या इस मुए को भी काट-पीटकर
जलने जलाने का काम लेने के लिए
छोड़ दिया गया है डुबोकर धूप में
ताकि उलट-पुलटकर चीरते समय
मरी हुई आह भी नहीं पड़े सुनाई
मुमकिन यह भी कि इसके पालनहार
पड़े हों सोच में कि मिटाएँ क्या-क्या
और किससे याद भर सजाएँ घर।

वजह चाहे कुछ भी हो मेरे लिए तो
कौतूहल का विषय है इसका इतने
वर्षों से संग्रहालय की पीठ खुजाते
फ़ुटपाथ पर खड़े होकर मौत को यूँ
झुठलाना कि लगे पुनर्जन्म का प्रमाण
देते कोंपल इसमें अभी फूट पड़ेंगे
और शाखों से लटकते टायर झूले
हाथ मिलाएँगे भरोसा देते भविष्य से।

क्या है कि जब भी ग़ौर से देखता
याद आ जाते बाबा कहते हुए कथा
अपने दादा के जिन्होंने इस पेड़ को
बेटे की तरह पाला और अचरज यह
कि जैसे ही खींचता इसे रंगों रेखाओं से
स्वयं चले आते इसमें पत्ते, फूल, फल
उनकी घनी छाँह में बैठे होते सब
बाबा उनके दादा पिता बेटे और मैं!

अरुण शीतांश

क़दम

(वी.टी. रणदिवे का कथन है, ''जिस समाज में लड़के-लड़की में बातचीत की भी छूट नहीं, उस समाज में प्रेम एक क्रांतिकारी क़दम है।'')

आँखों के सामने न हँसनेवाली बच्ची
आज मुस्कुरा रही है

दहलीज़ से बाहर निकल जाने का भय
याद आ रही है उसे
टाँगी से गोड़ काट लेनेवाली बात

और क्या बात हो सकती है, घर के पास घर
रिश्ते में भाई-बहन नहीं
तस्वीर तकिए के नीचे दबा रखी है
मिलना
भोर में मिलना होता है
छत पर, ब्रह्म मुहूर्त में।

अरुण शीतांश की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : मणि भवन, संकट-मोचन नगर, आरा 802301 (बिहार)

काका ने देख लिया है चुराई नज़रों से
घर में जान गए हैं बाप

मैंने कई बार बचाया है बाथरूम में

नहीं हो रहा है विवाह
लड़का कुँआरा बेरोज़गार अकेला
टुअर-सा

अभियंता की लड़की के लिए, अभियंता खोजा जा रहा है
रात-रात भर पीकर सोता है, बदलता है हर रोज़ लड़कियाँ
अभियंता

बहन दुबली होती जा रही है, चीमर चिंता में
बेरोज़गार का गाल धँसता जा रहा है
सुरंग-सा।

ज़हर खाती हुई लड़कियाँ

नहीं जानती वे कि एक हादसा
कई हादसों के बराबर होता है।

एक लड़की का मर जाना
सिर्फ़ एक लड़की नहीं होती
कई लड़कियाँ मर जाती हैं साथ-साथ

पिता के पापों से मुक्त होती
भाईयों की असुरक्षा से पनाह लेती
वे बाज़ार में तय होने से पहले
इज़्ज़त आबरू की दवा ज़हर खा लेती हैं।

एक जीव का मर जाना आसान नहीं होता
एक शीशी ज़हर खाना आसान नहीं होता
एक जीव के साथ करोड़ों जीव मर जाते हैं
एक शीशी का ज़हर शरीर में फैल जाता है
दरअसल एक शरीर में नहीं फैलता
एक ख़ुशी, एक मुल्क, एक दुनिया में फैल जाता है
और उसकी दुनिया के दुख-सुख समाप्त हो जाते हैं।

मेरे सामने जो आज लाश पड़ी है
वो किसी से पहले बिकी नहीं थी
यह शहर के एक मुहल्ले के एक कोने में

रात के बारह बजे ज़िद के कारण सोई हुई लड़की है
नींद का सुख भोगने में लगी है।

यहाँ बारिश तो छूटने का नाम नहीं ले रही है
शहर की बारिश नहीं है झमाझम बारिश है
उन तमाम घरों की
जहाँ लड़कियाँ जवान हो गई हैं
पता नहीं यह रात कैसे कटेगी
घटा कब छँटेगी
कि छोटी के पिता आएँ और कलेजे से लगाकर
एक और बारिश करें।

लड़कियाँ माँ से कम, पिता से ज़्यादा बोलती हैं
सखी से ज़्यादा खुलती हैं
वे घर का दरवाज़ा होती हैं
जो खुलती हैं बंद होती हैं
अपने-अपने हिसाब से
और अपने-अपने हिसाब से ज़हर खाती हैं।

यह कविता सिर्फ़ कुँआरी लड़कियों के लिए नहीं
उन तमाम जवान हुई
और ब्याही गई लड़कियों के लिए है
जो खाने की जगह ज़हर ले लेती हैं।

मरती हुई लड़कियाँ रोती नहीं
लाल रंग की सलवार पहनती हैं
और मरने के बाद भी नहीं लगता कि लड़की मर गई
आँखें उनकी टिकी रहती हैं छत पर
कि कब माँ से लिपटकर कह देगी
माँ मुझे पानी देना!

लड़कियाँ पानी के सिवाय कुछ नहीं माँगतीं
वो पानी से सयानी होती हैं और पानी से खेलते-खेलते
डुबो दी जाती हैं
या बिल्डिंग से धकेल दी जाती हैं।

मेरी छोटी-सी बच्ची जो दौड़ते-दौड़ते
गोद में धसक जाती है
और पापा-पापा कह मुन्ना की बात सुनाती है
लड़कियों का बचपन से ही अपने बारे में सवाल नहीं होता
अपना ख़याल नहीं रहता
उन्हें लड़की होने का ख़याल क़रवाया जाता है
घर में, नहीं तो पड़ोस में
बाज़ार में, नहीं तो विद्यालय में
या वेश्यालय में।

आख़िर लड़कियाँ कहाँ जाएँ
इस पृथ्वी को सुंदर बनाने में अहम् भूमिका अदा कर रही हैं
आख़िर कहाँ खो जाएँ?

टाईप करती हुई लड़कियाँ

ओस की तरह पवित्र
धूल की तरह चित्र
महुआ के पत्तों की तरह होती हैं लड़कियाँ।

आसमान-सा फैला हुआ
पृथ्वी की तरह गोल
धूप की तरह चमकती हैं लड़कियाँ।

टप-टप बटन दाबती
चट-चट आवाज़ें निकालती
सुबह-ओ-शाम टाईप पे बैठी हैं लड़कियाँ।

अनंत विस्तार लिए
रुद्राक्ष-सा रुखड़ा
सहज उखड़ा मन
साँझ को जा रही हैं लड़कियाँ।

पवित्र शब्दों से दूर होती
अपवित्र नहीं होती हैं लड़कियाँ।

यहाँ जाल है
नाव में बैठाकर घुमा रहा है मल्लाह
पानी में कूदना नहीं चाहतीं
फुदकना चाहती हैं लड़कियाँ
रोशनदान पर...।

आनंद वर्धन

बदल गया है समय

1.
पता नहीं किस कबाड़ख़ाने से
निकाल लाया
उसका नौ साल का बेटा
उसके बचपन के मिट्टी के खिलौने।
एक तोता
जिसकी टूटी थी चोंच
एक बिना हाथ का पुलिसवाला
और एक लंबी गुजरिया
जिसके सिर पर थीं कई गागरें
और हाथों में थी
दिए रखने की जगह
सारे खिलौने थे बदरंग से।

पूछा उसके बेटे ने-
तुम इन खिलौनों से खेलते थे बचपन में?

आनंद वर्धन का जन्म 1964 में हुआ। कहानियाँ, कविताएँ, आलेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : विज़िटिंग एसोसिएट प्रोफ़ेसर, भारत का राजदूतावास, सोफिया, बल्गारिया, द्वारा-डिप्लोमैटिक बैग सेक्शन, विदेश मंत्रालय, साउथ ब्लॉक, नई दिल्ली

हाँ, क्यों ?
ये भी मिले थे मुझे कितनी मिन्नतों के बाद
मालूम है तुम्हें ?

क्या तब नहीं थे तुम्हारे पास
चाबी वाले खिलौने ?

नहीं वे तो दूर थे
आकाश के तारों जैसे ?

पहुँच गया अचानक वह पच्चीस साल
पहले के समय में
जब ये ही मिट्टी के खिलौने
थे दूसरों के लिए
ईर्ष्या का कारण
क्या करूँ, इनका पापा
फेंक दूँ कि रखूँ ?
पूछा उसके बेटे ने।

क्या कहे वह
उसने तो अब तक पिता की लालटेन
और दादा का टूटा चरख़ा भी
सहेजकर रखा है
शायद बदल गया है समय !

2.

उसका ग्यारह साल का बेटा
करता है बहस अब बात-बात पर
और उसे यह बताने पर
कि आज भी नहीं है उसकी हिम्मत
कि वह जवाब दे सके अपने पिता को।

कहता है उसका ग्यारह साल का बेटा
बदल गया है समय।

हालाँकि वह भरा भरा है
संस्कारों से
और किसी बुजुर्ग के घर आने पर
लपक कर छूता है उनके पाँव
पर यदि वे पसंद नहीं आते उसे तो

फटकता भी नहीं उनके पास
और पूछ बैठता है
कब जाएँगे आप वापस!

उसके कहने पर कि ऐसे नहीं पूछा करते
हल्के-से मुस्कुराता है
उसका ग्यारह साल का बेटा
और कहता है
समय बदल गया है अब।

3.

अब समय बदल गया है
कहता है उससे
उसका तेरह साल का बेटा
यह तुम्हारे बचपन जैसा समय नहीं है।

बैठे थे क्या तुम तेरह की उम्र में
हवाई-जहाज़ पर
घूम चुके थे क्या कई-कई देश
मालूम था क्या तुम्हें कि
किस बला का नाम है कंप्यूटर
जानते थे क्या चार्ल्स रे के बारे में!

तुम्हें तो आज भी नहीं आती
ब्रिटनी स्पीयर और जे लो पे के गानों की
एक भी पंक्ति
पता है कि क्या है फ़्यूजन
और रीमिक्स की दुनिया
आख़िर जी रहे हो किस दुनिया में तुम
समय बदल गया है अब!

सोचता है वह
हाँ सचमुच बदल गया है समय
तभी तो नहीं जानता उसका बेटा
गिरिजा देवी की ठुमरी,
मालकौंस की गहराई
और मिट्टी में उगे गीतों की गंध
सचमुच बदल गया है समय।

प्रवीण भारद्वाज

बाढ़ के बरस-1

बाढ़ के बरस
हर बार मेरे अंदर
के चट्टान से कुछ
दरक-सा जाता है।

मेरे मन के मज़बूत बाँध
व किनारों को तोड़
दो इंच ज़मीन सरका
चला जाता है।

बहा ले जाता है
मेरी स्मृतियाँ—मेरे धरोहर
मेरे मन मंदिर को
पंक-पानी में धँसा जाता है।

धुआँ कर जाता है
मेरे इरादों को, जो फ़ौलादी
होते हैं, मेरे प्रेम के अंकुर को
फफूँद बनाकर जाता है।

मेरी दुआ से इकट्ठा
हुए मेरे विश्वास,
श्रद्धा एवं सद्वृत्तियों को
कपूर की भाँति उड़ा ले जाता है।

बाढ़ के बरस-2

बाढ़ के बरस
न केवल दरकते हैं बाँध, मेड़, खेत, सड़कें
बल्कि सदैव चौड़ी रहनेवाली
छाती भी थोड़ी और दरक जाती है।

बाढ़ के बरस
फीका रहता है दशहरा
और दीपावली और फीकी
रहती है चेहरों पर सदैव
पसरी रहने वाली मुस्कान भी।

1972 में जन्मे प्रवीण भारद्वाज के कहानी, कविता, यात्रा-संस्मरण, पुस्तक समीक्षा आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (सिडबी), आई.डी.बी.आई. भवन, जी.एस. रोड, गुवाहाटी 781005

बाढ़ के बरस
नवान्न[1] दूसरे से धान
माँगकर मनानी पड़ती है
धान की रोपनी एवं कटनी
समय पर नहीं हो पाती।

बाढ़ के बरस टल जाती है
बहनों बेटियों की शादी-दुरागमन
टल जाता है बेटियों का सामा-चकेबा[2] में
माँ-बाप, भाई-भौजाइयों के पास उनके गाँव
जाना सामचक-सामचक गाना गाने के लिए।

बाढ़ के बरस
नहीं सिल पाता है नया कपड़ा
दशहरा या दीपावली पर
छठ के डाले पर सूर्यदेव के लिए
कम पड़ता है केले का घौर[3]।

पर्व-त्योहारों पर बड़े
ज़ोरों के साथ ऊँचे सुरों में
गाए जाने वाले गीतों
के बोल मद्धम पड़ जाते हैं
बाढ़ के बरस में।

कम ही हो पाती है
मखाना की खेती बाढ़ के बरस में
और इसे उपजाने वाले मल्लाहों
के चेहरे की बेचारगी और
मायूसी थोड़ी और पसर जाती है।

---

1. नवान्न नामक त्योहार धान की फ़सल के अगहन मास में काटे जाने के बाद उसकी फलियों की पूजा तथा नए बने चूड़ा-दही-गुड़ आदि का प्रसाद अर्पित कर किया जाता है।
2. सामा-चकेबा क्रमशः श्यामा तथा उनके भाई श्रीकृष्ण के भ्राता-भगिनी प्रेम के स्वरूप ठेठ ग्रामीण परिवेश युक्त त्योहार है, जो कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर घर में तथा खेतों में खेला जाता है। छठ पर्व की सुबह के अर्घ्य के बाद महिलाएँ, बच्चे-बच्चियाँ सामा-चकेबा, चुगला, वृंदावन, सतभैया आदि की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाते हैं। इस अवसर पर मिथिलांचल के कई ज़िलों में विवाहित बहनों को भाई या पिता के घर ख़ासकर सादर लिवाया जाता है।
3. केले के पाँच या दस से बीच हत्थों (एक सीध में दो कतार वाले केले के फल) का पूरा समूह।

ये सब हो जाता है
आम लोगों के जीवन में
ज़िंदगी घिसटती नज़र आती है,
सवेरा ख़ुशनुमा नहीं होता
और शाम वीरानी होती है।

लेकिन फिर भी
साहिबान-हुक्मरान-नेता-बबुआन के
जीभ से लार टपकती है कि ये
बाढ़-ऐसी ही भयंकर विनाशकारी बाढ़
अगले बरस फिर आए, हे भगवान! कृपा करना।

विज्ञान व्रत

दीवाने निकले

जुगनू ही दीवाने निकले
अँधियारा झुठलाने निकले।

ऊँचे लोग सयाने निकले
महलों में तहख़ाने निकले।

वो तो सबकी ही ज़द में था
किसके ठीक निशाने निकले।

आहों का अंदाज़ नया था
लेकिन ज़ख़्म पुराने निकले।

जिनको पकड़ा हाथ समझकर
वो केवल दस्ताने निकले।

बच्चों की भाषा

इक मुश्तरका रक़बा हूँ
जाने किसका कितना हूँ।

ज़ंग लगा दरवाज़ा हूँ
मैं मुश्किल से खुलता हूँ।

विज्ञान व्रत की ग़ज़ल की चार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। चित्रों की 14 एकल प्रदर्शनियाँ हुई हैं।
संपर्क : एन-138, सेक्टर-25, नोएडा 201301

सदियों बाद बनेगा जो
मैं उस घर का नक़्शा हूँ।

पल भर में क्या समझोगे
मैं सदियों में बिखरा हूँ।

दानिश्वर क्या समझेंगे
मैं बच्चों की भाषा हूँ।

शुक्रगुज़ार

आँगन में है चीख़ पुकार
दरवाज़े पर बंदनवार।

सब दरवाज़े बेसाँकल
और अकेला चौकीदार।

रोज़ नई शर्तों पर ही
साँसें मिलतीं आज उधार।

एक ज़माना जीने को
दिन हैं गिनती के दो चार।

उसने ही अहसान किया
होकर मेरा शुक्रगुज़ार।

वन से

हम कुछ ऐसे टूटे मन से
जैसे शीशा बिखरे छन से।

लो हम बिसरे उनके मन से
यानी निकले इक उलझन से।

तेरा चेहरा तो अपना है
तू क्यूँ डरता है दरपन से।

मेरे दिल की धड़कन को
सुन अपने दिल की धड़कन से।

गद्दी का वारिस लौटा था
राम कहाँ लौटे थे वन से!

तभी उसकी सबसे छोटी, शादी के लायक़ बेटी सिन्नम्मा—पिता के पास आकर बोली, 'पिता, आप क्यों इतनी चिंता करते हैं ? राज्य में सूखे की वजह से लोग जब इस तरह हाहाकार कर रहे हों, तब नायक का इस तरह मुँह ढाँपकर लेटे रहना कहाँ तक ठीक है ? आप इस जनता के रक्षक हैं। हैं न ? गंगम्मा ने जैसा कहा है, वैसा कर दीजिए। मुझे ले जाकर दरार में डलवा दीजिए। मेरी बात टालिए नहीं। दरार में बैठने का मैंने मन बना लिया है। उसके लिए जो प्रबंध करना है, वह आप करवा दीजिए।'

नायक के दुख की सीमा न रही। वर के पैर धोकर जिस बेटी का कन्यादान करना था, उसे जीते-जी दफ़नाने के लिए कोई भी पिता कैसे तैयार हो सकता है ? लेकिन जिस तरह गंगम्मा की बात टल नहीं सकती थी, उसी तरह सिन्नम्मा की बात भी टल नहीं सकती थी। उसने ज़िद पकड़ ली थी। पिता रोए-धोए। लेकिन चारा क्या था ? फिर सब कुछ हो गया। ब्राह्मण ने साइत निकाली। सिन्नम्मा ने अभ्यंग स्नान किया। रेशमी साड़ी पहनी। रेशमी चोली पहनी। पूरे बदन पर गहने पहने। दुल्हिन की तरह वह निकली। हाथी पर हौदा कसवाया गया। उस पर बैठकर वह निकली। आगे नाई लोग नादस्वर और ढोल बजाते हुए चले। सुहागिनें परातों में हल्दी और कुमकुम लेकर साथ चलीं। सिन्नम्मा इस तरह चली जा रही थी तो लोग आँखों से धारासार आँसू बहा रहे थे। सिन्नम्मा सीधे गई और तालाब के कगार के पास उतरी। फिर दरार में बैठकर उसने राज-मिस्त्रियों से मिट्टी भरने को कहा। वह पालथी मारकर, आँखें मूँदे हाथ जोड़कर बैठ गई। राज-मिस्त्रियों ने फावड़ों से मिट्टी ढहा दी। तभी लोगों को सिन्नम्मा के आख़िरी दर्शन हुए थे। फिर वह नहीं दिखी। वह दिन और आज का दिन, कगार में एक बार भी दरार नहीं पड़ी। जिस जगह सिन्नम्मा बैठ गई थी, उसी जगह यह देवरा बनवाया गया था। हर शुक्रवार को यहाँ पूजा होती है। साल में एक बार मेला भी लगता है।"

(3)

अगर आप पश्चिम की ओर से गाँव में प्रवेश करते हैं, तो आपको एक और अचंभा दिखाई देगा। गाँव से आधा किलोमीटर दूर सड़क किनारे एक छोटा-सा जंगल मिलेगा। जंगल में बरगद, पीपल, कीकर आदि के ख़ूब मोटे तनों और शाखा-प्रशाखाओं वाले पेड़ दिखाई पड़ेंगे। तरह-तरह की लताएँ आपस में गुँथी होंगी। घने पेड़ों के उस विशाल समूह को जो पहली बार देखता है, सिहर उठता है। आपको यह सोचकर आश्चर्य हो सकता है कि पाँच सौ मकानों वाले इस गाँव के इतने नज़दीक एक घना जंगल कहाँ से आ गया ? सड़क किनारे ढोर चराते या गोबर बीनते लड़कों से आप पूछेंगे, तो आपको यह जानकारी मिलेगी :

"तीस-चालीस साल पहले इस गाँव में बक्कि रेड्डी नाम का एक किसान रहता था। इतना भला आदमी था कि सवेरे-सवेरे उसका नाम लेने से लोगों के पाप कट जाएँ। न कभी उसने किसी के हिस्से का कुछ खाया था न किसी को कभी कोई तकलीफ़ पहुँचाई थी। अपनी ज़मीन और अपनी मेहनत के भरोसे वक़्त काट रहा था। अच्छे लोगों पर ही तो मुसीबतें आती हैं ! हाथ में लाठी आते-न-आते सनीचर आकर सिर पर बैठ गया। गले तक क़र्ज़ में वह डूब गया। ज़मीन की क़ुर्की की नौबत आ गई। एक दिन सवेरे बाँस भर दिन चढ़े सरकारी जीप गाँव में आ पहुँची...

बाँस भर दिन चढ़े जीप गाँव में आ पहुँची। दो बाँस भर दिन चढ़ने तक सब ख़त्म हो गया। क़ुर्की पूरी हो गई। बक्कि रेड्डी की ज़मीन क़ुर्की में चली गई। उसकी बाबत काग़ज़ तैयार हो

गए। ज़मीन के विक्रेता के रूप में बक्कि रेड्डी ने दस्तख़त किए। ख़रीददार के रूप में गाँव के नंबरदार ने और गवाहों के रूप में पटवारी ने और गाँव के दो और लोगों ने दस्तख़त किए। जिस अधिकारी ने क़ुर्क़ी का काम संपन्न किया था, उसने अंग्रेज़ी में हस्ताक्षर किए। अर्दली ने अधिकारी के हस्ताक्षर के नीचे रबड़ की मुहर लगा दी। विक्रेता को दिए जाने वाले काग़ज़ विक्रेता को और ख़रीददार को दिए जाने वाले काग़ज़ ख़रीददार को अफ़सर ने अपने हाथों सौंप दिए। वे काग़ज़ बेलन के आकार में लपेटे हुए थे और उनको घेरकर एक सूती धागा बँधा हुआ था।

अर्दली ने रजिस्टर, फ़ाइलें और दूसरी चीज़ें ले जाकर कचहरी के सामने खड़ी जीप में डाल दीं। अधिकारी और उसके पीछे अर्दली जाकर जीप में बैठ गए। क़ुर्क़ी वाली पार्टी गली से होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ गई।

एक हाथ में काग़ज़ का रोल और दूसरे हाथ में धोती का छोर उठाकर पकड़े हुए नंबरदार बाहर आ गया। कचहरी के सामने नीम के पेड़ के नीचे खड़े घोड़े पर सवार होकर वह अपनी हवेली की ओर बढ़ गया। पटवारी ने बीड़ी सुलगाई और कश लेते हुए जिस तरफ़ नंबरदार चला गया था उसी तरफ़ चुपचाप क़दम बढ़ाने लगा। बाक़ी दोनों गवाह नंबरदार से कुछ बुलवाने की कोशिश में उसके दाएँ-बाएँ चलने लगे। क़ुर्क़ी में हिस्सा लेने या उसे देखने के लिए आए हुए लोग एक-एक करके वहाँ से निकल गए।

सबके निकल जाने के बाद चोबदार ने पगड़ी उतारकर कचहरी की सीढ़ियों पर डाल दी और उस पर बैठकर बीड़ी सुलगा ली। एक के बाद एक उसने दो बीड़ियाँ पी। तीसरी बीड़ी सुलगाकर दो कश लेने के बाद उसने बीच आकाश में पहुँचते सूरज की ओर कुछ क्षण देखा, बीड़ी बुझा दी और टोंटे को कान में खोंसकर खड़ा हो गया। फिर बरामदे में पड़ी कुर्सियों और मेज़ों को उसने अंदर पहुँचा दिया। ताला हा[थ] में लेकर दरवाज़ा बंद करते-करते अं[दर] एक मानवाकृति को देखकर वह धीरे-धी[रे] क़दम बढ़ाता हुआ अंदर आ गया।

वहाँ काग़ज़ का रोल गोद में लिए, दीवार [से] टेक लगाकर निश्चल बैठा बक्कि रेड्डी उसे दिख[ाई] पड़ा।

नीम अँधेरे में बक्कि रेड्डी के चेहरे की ओ[र] देखते हुए चोबदार बोला, "यह क्या महारा[ज] अभी यहीं हो?"

बक्कि रेड्डी ने सिर उठाकर चोबदार के चेह[रे] की ओर और उसके हाथ के बड़े ताले की ओ[र] देखा। एक हाथ में काग़ज़ का रोल पकड़े औ[र] दूसरे हाथ को पहले फ़र्श पर, फिर घुटनों प[र] टिकाकर वह उठ खड़ा हुआ। उसके घुटनों औ[र] कमर से चिट-चिट की आवाज़ निकली। बहु[त] देर तक बैठे रहने के बाद अचानक उठ पड़ने [से] उसे चक्कर-सा आ गया। वह झूमकर आगे क[ी] ओर गिरने को हुआ। चोबदार ने अपने हाथ का सहारा देकर उसे सँभाला। दीवार और दरवा[ज़े] की चौखट का सहारा लेता हुआ बक्कि रे[ड्डी] पानी में तैरते आदमी की तरह धीरे-धीरे बराम[दे] में पहुँच गया। तब तक उसकी आँखों में छाया अँधेरा छँट चुका था।

कचहरी के बाहर सुनसान है। क़ुर्क़ी में हिस्[सा] लेने या उसे देखने आए हुए लोगों ने जो बीड़ि[याँ] पी थीं, उनके टोंटे और उन टोंटों के बी[च] दियासलाई की तीलियाँ गली की रेत में पड़[ी] दिखाई दे रही थीं।

बरामदे की सीढ़ियाँ उतरकर बक्कि रेड्डी गली में अपने घर की ओर क़दम बढ़ाने लगा। विचि[त्र] चाल से वह ऐसे बढ़ा जा रहा है, जैसे उसके टखनों के ऊपर की नसों के टुकड़े-टुकड़े क[र] दिए गए हों। गली में उसके सामने से गायों क[ा] एक झुंड चला आ रहा है। चरवाहा कंधे से खा[ने] की पोटली लटकाए और हाथ में डंडा पकड़े

केशव रेड्डी

भू देवता

नांदी

(1)

हमारे गाँव का नाम ओंटिल्लु* है। कहने को तो ओंटिल्लु है पर उसमें मकान क़रीब पाँच सौ होंगे! चित्तूरु-कडपा के हाइवे पर चौंतीसवें किलोमीटर के पास सड़क के पूरब में बसा है यह गाँव। पूरब में एक पर्वत पंक्ति है। इसलिए उस दिशा से गाँव में प्रवेश नहीं किया जा सकता। बाक़ी तीन दिशाओं से गाँव में प्रवेश करने के लिए तीन रास्ते हैं। अगर आप दक्षिण से प्रवेश करते हैं तो आपको एक अजूबा दिखाई पड़ेगा। गाँव के शुरू में सड़क किनारे एक विशाल गोल पत्थर आपको दिखेगा। लगभग बीस फ़ुट ऊँचा यह पत्थर मुर्ग़ी के खड़े अंडे की शक्ल में है। पत्थर पर लाल और सफ़ेद रेखाओं से बना बड़ा-सा वैष्णव पुंड्रक चमकता दिखाई देता है। सवेरे का वक़्त हो तो उस पत्थर की पूजा करता हुआ कोई पुजारी आपको दिखाई पड़ सकता है। देखकर आपको आश्चर्य होगा कि इस पत्थर की पूजा कैसे हो रही है? पुजारी से या वहाँ जुटे भक्तों में से किसी से पूछेंगे तो वे लोग इस तरह बयान करेंगे :

''रामायण काल में राम और रावण के बीच हुए युद्ध में लछमन जी बेहोस हो गए थे। उस बखत हनुमान जी संजीवन पहाड़ उठा लाए थे। संजीवन पहाड़ का मतलब कोई छोटा-मोटा पहाड़ तो है नहीं। इधर से चार जोजन और उधर से चार जोजन लंबा-चौड़ा। उसके ऊपर रीछ, शेर, चीते, सिंह घूमते रहते हैं। ऐसे पहाड़ को कंधे पर उठाकर हनुमान जी आकाश में आनन-फानन उड़े चले आ रहे थे। उड़ते-उड़ते उन परभु को बोझ महसूस हुआ। महसूस हुआ, तो पैर के अँगूठे की टेक देकर यहाँ इस पत्थर पर उन्होंने घड़ी भर दम लिया था। परभु ने पैर टिकाया था इस पर, सो यह पत्थर देव-स्थान बन गया। लछमन जी के ही नहीं, राम जी के भी कई बार परान बचाए थे हनुमान जी ने। राम जी न हों, तब भी रामायण है, मगर हनुमान जी न हों, तो फिर रामायण रहेगी कहाँ? इतनी सारी धरती के रहते परभु ने यहीं पैर टिकाया तो उसे इस गाँव का किया पुन्न ही मानना पड़ेगा न! वह परभु यहाँ बिराजे

तेलुगु के वरिष्ठ रचनाकार केशव रेड्डी का जन्म 1946 में हुआ। उनके उपन्यास *बानिसलु भगवान मान, उसने जंगल को जीता, आखिरी झोंपड़ी, सिटी ब्यूटिफुल* चर्चित हैं। कई पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : नवनाथ स्कन क्लिनिक, पिसमल्लन्ना गुडि के सामने, महालक्ष्मी कॉलोनी, आरमूर 503224, जिला निज़ामाबाद (आं.प्र.)

अनु. जे.एल. रेड्डी का जन्म 1940 में हुआ। कई उपन्यासों तथा कहानियों का तेलुगु से हिंदी अनुवाद प्रकाशित। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : बी-1/93, जनकपुरी, नई दिल्ली 110058

---
* एक मकान

रहते हैं और अपनी पूँछ से घेरकर हम सबकी ऐसी रच्छा करते रहते हैं, जिससे हमारे पैर का नाखून भी टेढ़ा न हो।''

(2)

अगर आप गाँव में उत्तर दिशा से प्रवेश करते हैं तो आपको एक दूसरा अजूबा मिलेगा। तालाब के कगार पर आपको एक मंदिर दिखेगा। मंदिर बहुत छोटा है। पास जाकर खड़े हो जाएँगे तो आपकी कमर तक भी नहीं पहुँचेगा वह। ध्वजस्तंभ, गोपुर जैसी चीज़ें भी नहीं हैं उसमें। पत्थरों और शिलापट्टों से वह बना है। मंदिर के भीतर पत्थर की एक स्त्रीमूर्ति है जिस पर हल्दी और कुंकुम पुता रहता है। देखकर आपको अचरज होगा कि तालाब के कगार पर यह मंदिर क्यों बना है? तालाब में मछली पकड़ने वाले आदमी से या कगार के नीचे कुकुरमुत्ते खोदते आदमी से आप पूछें, तो वे इस तरह शुरू हो जाएँगे :

''यह सिन्नम्मा का देवरा है। दो पीढ़ियों पहले इस इलाक़े का एक नायक होता था। उस नायक की आख़िरी लड़की थी सिन्नम्मा। यह तालाब उसी नायक का खुदवाया हुआ है। जाने किस बुरी साइत में खुदवाया गया था कि तालाब भरकर परिवाह तक पानी पहुँचते ही कगार में दरार पड़ गई। तालाब में पानी की एक बूँद भी नहीं बची। नायक ने राज-मिस्त्रियों को लगाकर कगार को फिर से बनवाया। लेकिन दरार फिर पड़ गई। इधर कगार बनवाना और उधर उसका टूटना, इस तरह कई बार हुआ। तालाब के नीचे खेतों को पानी मिल ही नहीं रहा था। किस वजह से कगार में दरार पड़ रही है, यह न राज-मिस्त्रियों को सूझा न ही नायक को।

'एक शुक्रवार को देवी गंगम्मा की पूजा करके नायक ने प्रश्न किया, 'माँ, मेरे खुदवाए तालाब का कगार क्यों इस तरह बार-बार टूट रहा है? मेरा क्या क़सूर है? कौन-सा पाप किया है मैंने?'

पुजारी पर आकर गंगम्मा
'बालक! तेरा क्या दोष है, तुझ
पाप हुआ है! यह सब बताने मैं यहाँ न
हूँ। कगार को टिकाना हो तो उसके लिए
करना है, वह बताती हूँ। सुन! एक कुँआरी
को ले आ और जीते जी उसे उस दरार में
मिट्टी डलवा दे। कगार टिकेगा।' सुनते ही
सकते में आ गया। किसी बूढ़ी को चिनव
बात होती तो बात अलग थी। एक कुँआरी
को, जीते-जी दरार में दफ़न कर देना,
बड़ा पाप है! वह इस इलाक़े का नायक
कहता कि फलाने की बेटी को लाकर
डाल दो, तो लोग डाल देते। क़तई दे
लगती। मगर उस पाप का प्रायश्चित कैसे
उधर देखो तो खेत सूख जाने से लोग हा
कर रहे थे।

कुछ भी नहीं सूझा तो नायक मुँह
बिस्तर पर पड़ गया। पड़ा तो पड़ा ही रहा
हज़ार-हज़ार आदमियों का बुख़ार उस
पर चढ़ आया हो। तीव्र मानसिक वेदना
जकड़ लिया।

विक्रय पत्र

दि. 20-7-1950 यानी श्रावण मास का 6वाँ दिन।

विक्रेता : कादाटि बक्कि रेड्डी। पुत्र : कादाटि निसामि रेड्डी। किसान, ओंटिल्लु गाँव, चित्तूरु लूका, चित्तूरु ज़िला।

ख़रीददार : कुमार स्वामी रेड्डी, पुत्र दोरस्वामी ड्डी। उम्र 54 वर्ष। गाँव का नंबरदार, ओंटिल्लु व चित्तूरु तालूका, चित्तूरु ज़िला।

सीमाएँ

पश्चिम : चित्तूरु-कडपा की सड़क।

उत्तर : नरसिंहुलु नायुडु का खेत।

दक्षिण : नाला।

पूरब : पाकाला सुब्बा रेड्डी का खेत।

''उपर्युक्त शेड्यूल की संपत्ति मेरे पुरखों की । उसे मैंने अपने परिवार की ज़रूरतों के लिए स हज़ार रुपए में बेचा है। विक्रय प्रतिफल बीस हज़ार प्राप्त कर लिया है। प्राप्त समस्त अधिकारों आज मैंने इस ज़मीन आपके अधिकार में दे दिया है। आज के बाद बेची गई उक्त संपत्ति का उपभोग करने के समस्त अधिकार आपके अधीन होंगे। ज़मीन के भीतर जो भी तरु, जल, पाषाण आदि निधियाँ या भंडार हैं, उन सबको भी पुत्र, पौत्र आदि समेत दान, विक्रय आदि समस्त अधिकारों के साथ स्वेच्छा से और सुखपूर्वक आप भोग सकेंगे।''

विक्रय-पत्र की बाक़ी बातों को बक्कि रेड्डी पढ़ नहीं सका। उसकी आँखों की पुतलियों पर आँसुओं की परत फैल गई। आँसुओं की उस परत में से उसे अपने पिता का चेहरा दिखाई देने लगा।

पिता ने बेचने-ख़रीदने में एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने वाली वस्तु के रूप में ज़मीन को कभी नहीं देखा था। उन्होंने अपनी चौदह एकड़ ज़मीन को अपनी संतान के रूप में, संबंधी के रूप में, पत्नी के रूप में, अड़ोसी-पड़ोसी के रूप में ही देखा था। ज़मीन का केवल भौतिक रूप ही नहीं, उसका मन, प्राण और यहाँ तक कि उसका आध्यात्मिक अस्तित्व भी होता है—ऐसा वे मानते थे।

पिता की मृत्यु गर्मी के दिनों में हुई थी। दो बरस वे लकवे का शिकार होकर खाट पर ही रहे थे। पहले उनके पैरों ने जवाब दे दिया। कुछ समय बाद हाथों ने भी जवाब दे दिया था। उसके थोड़े और समय बाद अपनी जीभ और होंठों पर भी उनका क़ाबू नहीं रहा। बीच-बीच में साँस भी कुछ देर के लिए बिला जाती थी।

धीरे-धीरे पिता को अपनी शारीरिक स्थिति ख़ूब अच्छी तरह समझ में आ गई। उनको मालूम हो गया कि उनके आख़िरी दिन अब नज़दीक आ गए हैं। उन्होंने सभी रिश्तेदारों को बुला भेजने की इच्छा व्यक्त की। हमारे सभी रिश्तेदारों के गाँव दस-बारह मील दूरी के अंदर ही पड़ते हैं। वह समय भी खेती के कामों की आपाधापी का न था। ख़बर मिलते ही सारे रिश्तेदार चले आए थे। मामा जी तो परिवार समेत ही आ गए थे।

सभी लोग पिता जी की खाट को घेरकर उनका हालचाल पूछते रहे। पूछते-पूछते साड़ियों के आँचलों से या दुपट्टों से आँखें पोंछते रहे। उनको घेरी हुई उतनी जोड़ी आँखों से आँसू निकलते देखकर भी पिता जी की आँखों में आँसू नहीं आए थे।

सभी रिश्तेदार एक-एक करके कमरे से बाहर चले आए। तब पिता जी ने इशारे से मुझसे कहा कि मामा जी को अंदर बुलाऊँ। अंदर आकर मामा जी ने पूछा, ''क्या बात है ?''

खटिया पर चित लेटे पिता जी ने सिर एक तरफ़ को घुमा लिया था। उनकी आँखें मुझे और मामा जी को बारी-बारी से देखती रहीं।

''कहो न, बुलवाया किसलिए था मुझे ?'' मामा जी ने फिर पूछा।

पिता जी हम दोनों की ओर उसी तरह बारी-बारी से देखते रहे। मन में जाने कितनी बातें उमड़-घुमड़ रही थीं। कुछ कहने के प्रयास में उनकी जीभ और होंठ विकृत रूप से हिल रहे थे। मगर बात फूट नहीं रही थी।

खटिया के निकट आकर मामा जी बोले, ''तुम मायूस क्यों होते हो ? होता वही है, जो भाग्य में बदा होता है। सब समझते हुए भी क्यों इस तरह मायूस होते हो ?''

अपने मन की बात को बाहर लाने की कोशिश पिता जी फिर भी करते रहे।

खटिया की पाटी पर बैठकर मामा जी ने कहा, ''शान की ज़िंदगी जी है, तुमने। आसपास के दस गाँवों में लोग तुम्हें धर्मराज युधिष्ठिर की तरह मानते हैं। ऐसे जिए हो, जिससे शाम को दीया जलाकर लोग तुम्हारा नाम याद करें। क्या कमी रही कि तुम ऐसे मायूस हुए जा रहे हो ?''

पिता जी के मन की बात उनके गले में अटककर छटपटा रही थी। गले की पीड़ा उनकी आँखों में प्रतिफलित हो रही थी।

मेरी ओर इशारा करके मामा जी बोले, ''हीरे जैसा बेटा पाया है तुमने। कहो तो पहाड़ को चूर-चूर कर दे। तुमसे भी ज़्याद कमाएगा। तुम किस बात से परे रहे हो, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा

मेरी ओर थोड़ी देर देखने के बाद पित सिर आड़े घुमाया और फिर मामा जी की देखा।

पिता जी का हाथ अपने हाथ में लेक जी फिर कहने लगे, ''सोना उगलने वाली तुम्हारे पास है। इस ज़मीन के आसरे ह हाथ धरकर तुम्हारा बेटा ज़िंदगी गुज़ार है। उसको...'' मामा जी ने अपनी बात पू की।

सहसा पिता जी की आँखें काँटे में मछलियों की तरह छटपटाने लगीं। उनके की पेशियाँ तरह-तरह से इस तरह टेढ़ी हुईं जैसे सधे हुए तीर उनके मर्म में आ हों। अंदर की सारी ताक़त बटोरकर बहुत के बाद उनके मुँह से जो शब्द फूटे, ''ज़मीन...ज़मीन पर आँच न आने पाए...

पिता जी को बाँहों में भरकर मामा कहा, ''ज़मीन पर आँच वह आने क्यों ज़रूरत पड़े, तो साँप के मुँह में उँगली दे वह अपनी ज़मीन की हिफ़ाज़त कर लेगा बात को लेकर तुम इतने मायूस हो रहे थ

बहुत मुश्किल से पिता जी ने कहा, मिट्टी जाने कब उठेगी। मेरे परान तो उस में ही बसे रहेंगे। यह लड़का अभी ना अच्छा-बुरा नहीं समझता...'' कहते-कह बुरी तरह फूलने लगी तो उन्होंने अप बीच में ही छोड़ दी।

मामा जी कुछ-कुछ झिड़कते हुए-से ''वह नादान कहाँ से हो गया ? अपनी की वजह से तुमने इसकी शादी नहीं की। अब तक एक बच्चे को कंधे पर उठाए घू फिर खटिया के पास मेरा हाथ खींचकर मुझसे पूछा, ''क्यों रे बक्का, तुम ज़मी

झुंड के पीछे चला आ रहा है। ढोरों को रास्ता देने के लिए बक्कि रेड्डी गली में एक किनारे खड़ा हो गया। झुंड की एक गाय बीच गली में खड़ी हो गई और गरदन पीछे को घुमाकर 'अंबाऽऽऽ' कहकर पुकार उठी। चरवाहा उसे डपटकर कहने लगा, "बीच सड़क में खड़ी होकर क्यों चीख़ रही है री स्साली, दुनिया में तू अकेली ही बछड़ा ब्याही है क्या?" कहकर उसने गाय की पीठ पर एक डंडा जमाया। डंडा जहाँ लगा था, पूँछ से उस जगह को सहलाती हुई गाय फिर एक बार चीख़ पड़ी, "अंबाऽऽऽ।" इस पर चरवाहा झल्लाकर बोला, "तेरे बछड़े को कौन उठाकर ले जाएगा री, पत्तिकोंडा से कोई चोर आकर उठा ले जाएगा क्या? चल आगे। देखती नहीं दिन चढ़ता जा रहा है, चल।" फिर उसने दो बार और डंडा झमकाया। गाय गरदन घुमा, पीठ को पूँछ से सहलाती हुई और दूध उतर आए थन को झुलाती हुई चलने लगी।

गायों के झुंड के निकल जाने के बाद बक्कि रेड्डी अपनी उसी टेढ़ी-मेढ़ी चाल से गली में बढ़ने लगा। उसकी चाल ऐसी थी जैसे टखनों के पास की नसें ही नहीं घुटनों के पास की नसें भी कट गई हों। हल्की-हल्की हवा में उड़ी जा रही पत्तल की तरह वह गली में आगे बढ़ता चला जा रहा था।

बक्कि रेड्डी के घर के अगले हिस्से में ढोरों की मड़ई है। मड़ई बहुत बड़ी नहीं है। वह फूस से छाई हुई है। उसके तीनों तरफ़ मिट्टी की दीवारें हैं। चौथी तरफ़ पूरा खुला है। मड़ई में एक तरफ़ एक जोड़ी बैल हैं। बैल खूँटों के पास पड़े जुगाली कर रहे हैं। चरनी में पुआल अभी बचा हुआ है। मड़ई में हल, जुआ, फावड़ा, कुदाल आदि खेती का सामान रखा है। उनके बीच एक झिंगली खटिया बिछी है।

दीवार से पीठ लगाकर बक्कि रेड्डी खटिया पर बैठा है। काग़ज़ का रोल उसने हाथ में थाम लिया है। काग़ज़ के रोल पर बँधे सूती डोरे के पीछे दाएँ हाथ की तर्जनी घुसाकर उसने खींचा। डोरा
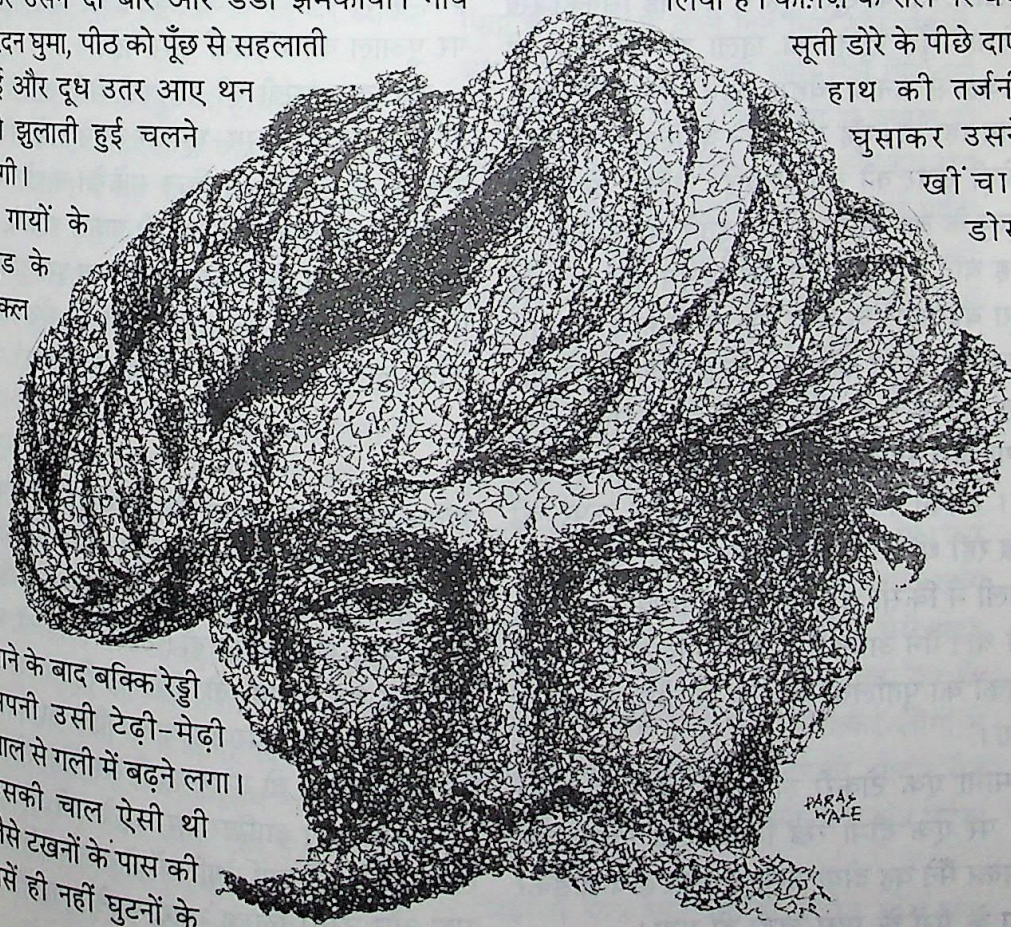
पट से टूट गया। तभी उसे अपने पिता की याद आई।

पिता की कमर को करधनी घेरे रहती थी। दाएँ हाथ की अपनी तर्जनी को करधनी के पीछे घुसाकर ज़ोर से मैंने उसे खींचा था। करधनी पट से टूट गई थी। मृत शरीर को छूने का वह मेरा पहला अनुभव था। उनका शरीर ओस में भीगे गोल पत्थर की तरह ठंडा था। शव के चारों ओर जुट आए लोगों को पीछे हटाकर मामा जी मुझे एक-एक करके हिदायतें देने लगे थे।

उन्होंने पटसन का एक रेशा मुझे पकड़ा दिया। पिता के पैरों को एक-दूसरे से सटाकर दोनों अँगूठों को उस रेशे से मैंने एक साथ बाँध दिया। मामा जी ने अठन्नी का एक सिक्का मेरे हाथ में रखा। पिता के खुले मुँह में मैंने वह सिक्का रख दिया। मुँह खुला का खुला ही रह जाने की वजह से उनका चेहरा बहुत दीन और कातर लग रहा था। मुँह बंद करने के लिए मैंने उनकी ठोढ़ी ऊपर की तरफ़ दबाई। लेकिन आश्चर्य! मृत्यु के बाद शरीर के अंग इतने अकड़ जाते हैं, यह बात मुझे उस दिन तक मालूम नहीं थी। मुँह पूरा बंद करने के लिए मुझे अपने हाथ की सारी ताक़त लगाकर ठोढ़ी को ऊपर ठेलना पड़ा था। मुँह बंद होने के बाद थोड़ी देर के लिए ऐसा लगा जैसे पिता का चेहरा कुछ गंभीर हो गया हो। उनकी निश्चल आँखें एकटक ऊपर को देख रही थीं। उन आँखों में जोत नहीं थी। काली पुतली में किसी चीज़ की छाया दिखाई नहीं पड़ रही थी। मैंने अपने हाथ की उँगलियों से उनकी पलकों को पुतलियों के ऊपर से नीचे को सरका दिया।

मामा एक टोकरी ले आए और औंधा कर उस पर एक दीया रख दिया। एक दियासलाई घिसकर मैंने वह दीया जलाया। फिर हाथ जोड़कर पिता के पैरों के पास खड़ा हो गया।

तभी कमरे में रोने की आवाज़ें शुरू हो गईं। जो लोग कमरे में थे, वे एक के पीछे एक, एक की देखादेखी दूसरा, एक को ढाढ़स बँधाता हुआ दूसरा रोने लगा। लेकिन मैं रोया नहीं। पिता को ले जाने के लिए अर्थी तैयार होने तक मेरी आँखें सूखी-की-सूखी ही रह गईं।

हरे बाँसों से लोगों ने अर्थी तैयार कर दी। गले से लेकर तलुओं तक शव को सफ़ेद कपड़े में लपेटा गया। कपड़े समेत शव को अर्थी पर लिटाया गया। फिर पुआल को बटकर बनाई गई रस्सियों से शव को अर्थी के साथ कसकर बाँध दिया गया। रस्सियाँ ढीली न पड़ जाएँ, इस विचार से उनके सिरों में लोगों ने पूरी ताक़त लगाकर गाँठें लगाईं। शव की गरदन पर, छाती पर, पेट और कमर पर, जाँघों और घुटनों पर और टखनों पर पुआल की रस्सियाँ कस गईं।

तब तक सूखी ही रह गई मेरी आँखों में आँसुओं के भँवर घूम-घूमकर बहने लगे। पिता अब न उठ सकेंगे, न हिल सकेंगे। न खेत जा सकेंगे, न हल की मुठिया ही पकड़ सकेंगे, न पैना ही हाथ में ले सकेंगे। पिता अब इस दुनिया में नहीं हैं। ज़ोर की हिचकियों से मेरे गात काँपने लगे। पेट उछल-उछल पड़ने लगा।

(4)

बक्कि रेड्डी ने सूती धागा फेंक दिया। विक्रय पत्र को गोद में फैलाकर रखने की उसने कोशिश की, लेकिन वह पत्र ऐसा बर्ताव करने लगा जैसे उसमें कोई मंत्र-शक्ति हो। ऊपर के हिस्से को फैलाकर वह रखता, तो नीचे का हिस्सा अपने आप गोल होकर ऊपर उठ जाता। नीचे का हिस्सा फैलाकर रखता, तो ऊपर का हिस्सा गोल होकर उसे ढक देता। आख़िरकार उसने उसे गोद में लेकर हाथों की दसों उँगलियों से दबाकर फैलाए रखा और उसमें लिखा ब्योरा पढ़ने लगा :

मुँह के किनारे के पास से बाहर आकर गले पर फिसलता रहा। पानी पोंछते हुए झुककर उसने फिर से लोटा भर लिया।

इतने में उसकी पत्नी ने दहाड़े मार-मारकर रोना शुरू कर दिया। सहन में अरहर के दाने चुग रही चूजोंवाली मुर्गी गरदन तानकर देखने लगी। बक्कि रेड्डी की पत्नी का आँचल ज़मीन पर गिर गया था और वह दोनों हाथों से छाती पीट-पीटकर ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी। मुर्गी पंख फड़फड़ाती, 'कुड़क-कुड़क' करती उड़कर एक नीची दीवार पर जा पहुँची और गरदन घुमाकर देखने लगी। बक्कि रेड्डी की पत्नी अब सहन में अरहर के दानों और भूसी पर लुढ़कती हुई दिल दहलाने वाले अंदाज़ में रोती जा रही थी। फिर से 'कुड़क-कुड़क' करती हुई और पंख फड़फड़ाती हुई मुर्गी मौलश्री के पेड़ पर आकर बैठ गई।

भरा लोटा बक्कि रेड्डी के हाथ से मटके में फिसल गया। तेज़ क़दमों से वह रसोई से बाहर आ गया। सहन में वह एक अपराधी की तरह, अपना अपराध स्वीकार कर रहे आदमी की तरह, दंड को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत मनुष्य की तरह सिर झुकाकर चुपचाप खड़ा रहा। कुछ देर खड़ा रहने के बाद सिर उठाकर उसने आकाश की ओर ताका और दोनों हाथों की उँगलियों से सिर खुजाता रहा। फिर धीरे-से पीछे की ओर मुड़कर छोटे-छोटे क़दम बढ़ाता हुआ वह ढोरों की मड़ई में चला आया। वहाँ खटिया पर लुढ़ककर चित पड़ गया। उसका दिल छाती के गड्ढे की दीवारों के साथ ताबड़तोड़ टकराता रहा।

कितने आश्चर्य की बात है! उसने कभी नहीं सोचा था कि उसकी पत्नी इतनी ज़ोर से चीख़-चीख़कर रो सकती है। उसके साथ वह चालीस साल से गृहस्थ-जीवन जीता रहा है। पत्नी ने अनगिनत तकलीफ़ें झेली हैं। बक्कि रेड्डी ने आँखें अंगारों की तरह लाल होने तक रोते हुए उसे देखा है। सामने वाले आदमी को कुछ अंदाज़ा न हो, इस तरह अंदर-ही-अंदर घुट-घुटकर बिसूरते देखा है। दस हाथ परे बैठे आदमी को भी न सुनाई पड़े, इस तरह चुपचाप सुबक-सुबककर रोते देखा है। दिनों तक दाना-पानी छोड़ना देखा है। लेकिन इतने ज़ोर से, इतने भयंकर रूप से और इतने विकृत रूप से उसे क्रंदन करते आज पहली बार देख रहा है।

खटिया पर पड़े बक्कि रेड्डी को सहन में से पत्नी का रोना साफ़ सुनाई दे रहा है। सुनते-सुनते उसे पिता की मृत्यु के बाद जिस दिन माँ की चूड़ियाँ ठंडी की गई थीं, उस ग्यारहवें दिन की घटनाएँ एक-एक करके याद आने लगीं।

पिता की ग्यारहवीं वाले दिन मित्र और संबंधी, बहुत-से लोग आ गए थे। जिस दिन पिता को भूमिस्थ किया गया था, उस दिन से ज़्यादा ही लोग आए थे। दिन बाँसभर चढ़ने तक हम सब उस दिन रास्ते वाले अपने चकों के पास पहुँच गए थे। उस रोज़ वहाँ बहुत-सी रस्में पूरी की गई थीं। गाँव के नाई ने मुझे आक की झाड़ियों में बिठाकर मेरा सिर सफ़ाई से मूँड़ दिया था। उसके बाद हमारी ज़मीन वाले कुएँ में मैंने तीन बार डुबकी लगाई थी। कुएँ की सीढ़ियाँ चढ़कर मेरे आते ही मामा जी ने एक नई धोती पकड़ाई थी और लांग खोसकर पहनने को कहा था। उस वक़्त तक मैं सिर्फ़ लुंगी ही पहनता था। लांग खोंसकर धोती पहनने में मामा जी ने मेरी मदद की। पिता जी जिस जगह भूमिस्थ किए गए थे, उस टीले के पास एक पीढ़ा लगाकर लोगों ने मुझे बिठा दिया। ब्राह्मण मेरे सामने आकर बैठ गया और बैठकर वह जाने क्या-क्या मंत्र पढ़ता रहा।

जहाँ मैं बैठा था, वहाँ से क़रीब बीस गज़ की दूरी पर नदी में नाले जैसी पानी की पतली

धारा बह रही थी। पानी की धारा के साथ-साथ काँस की कमर जितनी ऊँची झाड़ियाँ खड़ी थीं। बीच-बीच में काँस के फूल धूप में चमक उठते थे। माँ पानी की धारा के पास बैठी थीं। उनको घेरकर बहुत सारी सुहागिनें जुट आई थीं। वहाँ माँ के माथे से रोली-कुमकुम मिटाने की रस्म हो रही थी।

ब्राह्मण ने डाभ के तिनकों को बटकर अँगूठियाँ बनाईं और उन्हें मेरे दाएँ हाथ की उँगलियों में पहना दिया। फिर भात के पिंड बनाकर ज़मीन पर मेरे सामने रखे। फिर पिंड मेरे हाथ में देकर आठों दिशाओं में उनको फेंकने को कहा। मैं एक-एक पिंड एक-एक दिशा में फेंक रहा था, और वह मंत्र पढ़ता जा रहा था। फिर उसने मेरी दाईं हथेली पर कुछ तिल रखे। लोटे में पानी लेकर आम के पत्ते जिस कलश में सजाकर रखे गए थे, उस कलश में वे तिल गिरें, इस तरह से मेरी हथेली पर वह पानी डालता रहा।

ब्राह्मण जो कर्मकांड करा रहा था, उसे मैं यंत्रवत् किए जा रहा था। मेरी आँखें तो माँ पर ही टिकी थीं।

मेरी मामी माँ को बाँहों में लिए हुए थीं। पिछले दस दिनों में माँ की आँखों की नमी सूखी नहीं थी। मुँह में दाना नहीं गया था। इन दस दिनों में ही वह सूखकर आधी हो गई थीं। फिर भी आज की रस्म पूरी करने के लिए सुहागिनें माँ को प्रथानुसार दुल्हन की तरह सजाकर ले आई थीं। एक सुहागिन ने माँ के पैरों से बिछुए उतार दिए। फिर हाथ की चूड़ियाँ उतारकर पत्थर से तोड़-तोड़कर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। गले से मंगलसूत्र और कानों से बालियाँ निकालकर अलग कर दीं। उतनी देर तक माँ चुपचाप रोती रही थीं। उसके बाद एक सुहागिन ने माँ के माथे से कुमकुम की बिंदी मिटाने की कोशिश की। इसमें उसे माँ का सहयोग बिलकुल नहीं मिला। माँ ने अपने दोनों हाथों से माथे को ज़ोर से ढाँप लिया। उनके हाथों को और बाँहों को मज़बूती से पकड़कर दोनों तरफ़ दो महिलाओं ने खींचना शुरू किया। हिल नहीं पाए, इसका ध्यान रखते हुए मामी ने पीछे से और ज़ोर से उनको बाँहों कस लिया। स्त्रियाँ उनको अपनी-अपनी ओर खींच रही थीं, तो माँ ज़मीन पर ज़ोर-ज़ोर से पटककर प्रतिरोध कर रही थीं। सुहागिनों ने सारा ज़ोर लगाकर क्षणभर के लिए माँ के से उनके हाथ हटा दिए। उसी क्षण एक सुहागिन ने अपने हाथ से माँ के माथे से कुमकुम बिंदी मिटा दी। फिर अपना हाथ उसने नाले पानी में धो लिया। तब जाकर महिलाओं ने के हाथों और बाँहों को छोड़ा। सीधी बैठकर पागल की तरह थोड़ी देर चारों तरफ़ देखती रहीं। उसके बाद इतने भयंकर रूप से चीख़कर रोने लगीं कि वहाँ इकट्ठे हुए सब का ख़ून जम जाए। काँस की झाड़ियों में से मुर्ग़ाबी 'क्वाक्-क्वाक्' करती हुई और फड़फड़ाती हुई बाहर कूदी और चीख़ती चिल्लाती नदी के दूसरे किनारे की झाड़ियों में घुसकर ग़ायब हो गई।

ब्राह्मण ने अपना मंत्रोच्चार रोका और घुमाकर देखा। मैं पीढ़े से उठने को हुआ। कंधों पर हाथ रखकर मुझे बिठाते हुए मंत्रों का पाठ जारी रखा। वह अपनी घबराहट दुगने वेग से मंत्रों का पाठ करने लगा। वे मेरे कानों तक पहुँच नहीं रहे थे। मेरी आँखें सब माँ पर ही एकाग्र थीं।

(7)

बक्कि रेड्डी खटिया पर चित लेटा है। धूप ताप काफ़ी कम हो गया है। ढोरों की मड़ैया छाया ख़ूब लंबी होकर गली में पसर गई। अब थोड़ी देर में अँधेरा होने को है। भोजन खोज में निकले हुए गौरैए लौटकर मौलश्री पेड़ पर किच्-किच् कर रहे हैं।

हिफ़ाज़त नहीं कर सकते क्या?'' खटिया के इतने पास खड़े होकर कि मेरे घुटने उससे छू जाएँ, पिता जी की आँखों में देखते हुए मैंने कहा, ''ज़मीन पर मैं क्यों आँच आने दूँगा? पलक आँख की जिस तरह हिफ़ाज़त करती है उसी तरह हिफ़ाज़त करूँगा। मैं किसी रेड्डी का पैदा किया हुआ हूँ या किसी ऐरे-गैरे का पैदा किया हुआ?''

मेरी उम्र उस वक़्त क्या थी, यह मुझे नहीं मालूम। दाढ़ी बनवाने के लिए नाई के घर जाना मैंने अभी शुरू नहीं किया था।

यह बात मैंने पिता जी की आँखों में सीधे देखते हुए ही कही थी। मेरी बात सुनते ही पिता जी ने राहत की एक लंबी साँस छोड़ी। उस वक़्त उनकी छाती दाएँ-बाएँ और ऊपर की ओर दो पड़ी उँगलियों जितनी फैली थी। उसके बाद उन्होंने ज़ोर से आँखें मींचीं। आँखों में जो पानी भरा था वह सब बह आया। जब उन्होंने दुबारा आँखें खोलीं तब उनकी आँखें स्वच्छ और शांत थीं।

उस रात पिता जी का बोलना बंद हो गया। रिश्तेदार अपने गाँव लौटकर नहीं गए। हमारा मकान बहुत छोटा है। लेकिन गर्मी का मौसम होने की वजह से उन लोगों के टिकने में परेशानी नहीं हुई। हमारे मकान के सामने इमली के दो बड़े-बड़े पेड़ हैं। चटाइयाँ बिछाकर रात को सब उन पेड़ों के नीचे सोते थे। तीसरे दिन भोर में पिता जी चल बसे।

(5)

बक्कि रेड्डी ने विक्रय-पत्र में लिखी बातों को बार-बार पढ़ा। ''मुझे प्राप्त समस्त अधिकारों समेत आज मैंने इस ज़मीन को आपके अधिकार में दे दिया है।'' इस वाक्य को वह एकटक देखता रहा। उसे लगा कि उस वाक्य का एक-एक अक्षर धीरे-धीरे फैलकर बड़ा होता जा रहा है और फैलकर एक गोल पत्थर का रूप ले रहा है और वह उन पत्थरों के बीच में धँसता जा रहा है। पत्र ख़ूब झुकाकर छोड़े गए बाँस की मुलायम छड़ी की तरह अपने आप ही तुरंत गोलाई में लिपट गया। खटिया के ऊपर और नीचे सूती धागा उसने ढूँढ़ा। वह मिला नहीं। हवा में शायद उड़ गया था। वह उठा, पशुओं की चरनी में से थोड़ा-सा पुआल लिया और काग़ज़ उसमें लपेटकर गाँठ डाल दी। काग़ज़ के रोल को दीवार के आले में रखकर वह खटिया पर फिर से चित हो गया। हथेलियों को सिर के नीचे ले जाकर एकटक वह आले को देखने लगा। आले में कुछ-कुछ अँधेरा है। उस अँधेरे की कालिमा में काग़ज़ का सफ़ेद रोल और अधिक चमक रहा है। सिर को स्थिर करके वह अपलक आले में ही देखता रहा। क्रमशः काग़ज़ के रोल के सिवा बाक़ी सब उसकी दृष्टि से ओझल हो गया। फिर कुछ देर बाद उसे काग़ज़ के रोल की जगह पुआल की रस्सियों से बँधा उसके पिता का शव दिखाई पड़ने लगा।

शव को सिर से पैर तक सफ़ेद कपड़े में लपेटकर अर्थी पर रखा गया था और पुआल की रस्सियों से कसकर बाँध दिया गया था। अर्थी को दाएँ से तीन लोगों ने और बाएँ से भी तीन लोगों ने पकड़कर उठाया और अपने कंधे पर रख लिया। अर्थी ऊपर उठ रही थी कि वहाँ जमा हुए सब लोग ''गोविंदा...गोविंदा... गोविंदा...'' कहकर ज़ोर से चिल्ला उठे। ठीक उसी समय डफों का बजना शुरू हो गया। मुझे अपनी हिचकियों की आवाज़ में लोगों की चिल्लाहट या डफों का बजना कुछ ख़ास सुनाई नहीं दे रहा था। मामा जी ने मेरे हाथ में आग का कुल्हड़ पकड़ाया और दो-चार बार मेरा कंधा थपथपाकर चले गए। दाएँ हाथ में आग का कुल्हड़ थामे और

बाएँ हाथ से आँखें पोंछता हुआ मैं अर्थी के पीछे चलने लगा। मेरे पिता की अंतिम यात्रा आरंभ हो गई थी। वह यात्रा हमारे घर को, गली को और गाँव की सरहद को भी पार करके हमारी ज़मीन के पास पहुँचकर रुकी।

हमारी ज़मीन के दक्षिण में एक ऊँचा-सा बागि पेड़ है। पेड़ के उस तरफ़ एक नदी है। केवल बारिश के दिनों में उसमें ख़ूब बहाव होता है। बाक़ी समय में पानी की पतली-सी एक धारा किसी एक कोने में छल-छल करती बहती रहती है। नदी और बागि पेड़ के बीच में बंजर ज़मीन है। उस बंजर ज़मीन में चार हाथ की लंबाई में एक गड्ढा पिता जी के शव के लिए तैयार करके रखा गया था।

शव-वाहकों ने गड्ढे के किनारे अर्थी उतार दी। शव को चारों तरफ़ से घेरी हुई पुआल की रस्सियाँ चाक़ू से काट डाली गईं। अर्थी के बाँसों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। रस्सियाँ और बाँस के टुकड़े पासवाली आक की झाड़ियों में डाल दिए गए। फिर उन लोगों ने सफ़ेद कपड़े समेत शव को गड्ढे में उतारा। दो आदमी गड्ढे में उतरे और शव को नीचे इस तरह रखा कि शव का सिर दक्षिण की ओर रहे। इसके बाद मामा जी के कहे अनुसार अंजुलि में मिट्टी लेकर तीन बार मैंने शव के ऊपर डाली। गड्ढे में नीचे कुछ-कुछ अँधेरा रहने से शव अस्पष्ट-सा दिखाई पड़ रहा था। मैंने जो मिट्टी डाली थी, वह उसके किस अंग पर गिरी थी, यह मैंने ध्यान नहीं दिया। वहाँ आए हुए कुछ लोगों ने फावड़ों से और अंजुलियों से मिट्टी को किनारे पर से गड्ढे में धकेलना शुरू किया। देखते ही-देखते गड्ढा भर गया। पिताजी को भूमिस्थ करने का काम पूरा हो गया। जहाँ उनको भूमिस्थ किया गया था, उस जगह चार हाथ की लंबाई और डेढ़ फुट ऊँचाई में मिट्टी डाली गई। फिर मिट्टी के उस टीले पर तुलसी का बिरवा रोपा गया। मैं रोज़ जाकर मटके से नदी का पानी लाकर उसे सींचता था। दो ही दिन में वह बिरवा अपनी जगह जम गया। पानी देने के बाद मैं रोज़ घुटनों के बल बैठकर उस बिरवे में आई नई-नई पत्तियाँ देखा करता था।

(6)

बक्कि रेड्डी चित लेटकर आले की ओर देखे जा रहा है। काग़ज़ का सफ़ेद रोल उसके पिता के शव की तरह लगता रहा, तो कालिमा से अँटा आला उसके पिता को अपने में विलीन किए हुए ज़मीन के गड्ढे की तरह दिखाई देने लगा। ''आज मैंने अपने पिता को दूसरी बार ज़मीन में गाड़ दिया है।'' उसके मन में आया।

ढोरों की मड़ई में से एक चमगादड़ बाहर निकला। खटिया पर पड़े बक्कि रेड्डी के ऊपर और खूँटों के पास पड़े बैलों के ऊपर वह चक्कर काटता रहा। हवा में थोड़ी देर घूमते रहने के बाद तेज़ी के साथ उड़कर दीवार के आले के अंदर वह घुस गया। आले में काले चमगादड़ के घुसते ही काग़ज़ का सफ़ेद रोल ज़मीन पर लुढ़क पड़ा।

बक्कि रेड्डी झट से उठ बैठा। उसे ध्यान नहीं रहा, लेकिन उसका शरीर बहुत देर से पसीना उगल रहा था। सारा शरीर भीगा हुआ था और उसे प्यास लग आई थी। पानी पीने के लिए वह खटिया से उठकर मड़ई से बाहर आ गया। वह रसोई की ओर चलने लगा। रसोई के साथ सहन लगा हुआ है। वहाँ अरहर की फलियों के बोरों से पीठ टिकाकर उसकी पत्नी बैठी हुई थी। मुँह में कपड़ा ठूँसे वह सिसक-सिसककर रो रही थी। चार स्त्रियाँ पास बैठकर उसे ढाढ़स देने का प्रयत्न कर रही थीं।

बक्कि रेड्डी सहन को पार करके रसोई में चला गया। पीतल के लोटे से मटके में से पानी भरकर वह गटागट पीने लगा। थोड़ा-सा पानी

थे। तालाबों में तैरते थे। पासवाले गाँवों में नाटक देखने जाया करते थे। बग़ैर टिकट के रेलगाड़ी से बस्ती में जाकर देर रातवाली फ़िल्म देख आते थे। सयाने होने के बाद एक-के-पीछे-एक ने शादी कर ली थी। एक की पत्नी के लिए दूसरा बड़ा या छोटा भाई बन गया था। बच्चों के पैदा होने के बाद से एक के बच्चों के लिए दूसरा चाचा या ताऊ बना हुआ था। खेती के कामों में एक-दूसरे से सलाह करते थे। खेती के एक के औज़ारों को दूसरा माँगकर ले जाता था। एक की फ़सल की ढेरी के पास दूसरा रात में रखवाली करता था।

जब से होश सँभाला है, तब से ऐसा कोई दिन नहीं आया जिस दिन ये मित्र एक-दूसरे से मिले न हों, एक-दूसरे से बात न की हो।

लेकिन यह सब कल की कहानी है। वे तीनों अब भी किसान हैं। किसान राजा हैं। मेरे पास तो अब कोई ज़मीन नहीं है। अब मैं आवारा हूँ, भिखमंगा हूँ, ख़ानाबदोश हूँ। बक्कि रेड्डी सोचता रहा।

बक्कि रेड्डी ने अपने साथियों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। सिर झुकाए बैठा रहा। ये लोग उसकी हँसी उड़ाने आए हैं। उस पर ताना कसने आए हैं। इन लोगों के हाथों में चूनादानियाँ हैं। उसने सिर उठाया नहीं कि उसके चेहरे पर चूना लगा देंगे। उन लोगों की मुट्ठियों में मिर्ची का चूरा है। उसका सिर उठा नहीं कि उसकी आँखों में चूरा झोंक देंगे।

बक्कि रेड्डी ने पैर खटिया से नीचे लटका लिए, हथेलियों को गोद में रखा और सिर झुकाए बैठा रहा। ''मुझे दाँव पर लगाने का तुम्हारा मन हुआ कैसे?'' यह सवाल पूछती द्रौपदी के सामने खड़े युधिष्ठिर की तरह, ''मेरे पुत्र को अकेले चक्रव्यूह में भेज देने की बात तुमने सोची ही कैसे?'' यह सवाल पूछते अर्जुन के सामने खड़े युधिष्ठिर की तरह वह सिर झुकाए बैठा रहा।

लेकिन उन लोगों ने कुछ नहीं पूछा। न कुछ बताया। बेबस आँखों से वे उसकी ओर देखते हुए ऐसे बैठे रहे जैसे तैरना न जानने से पानी में डूबते हुए आदमी को देख रहे हों।

बैल एक-के-पीछे-एक उठकर खड़े हो गए। दोनों खूँटों के पास बेचैनी से दाएँ-बाएँ हिलने लगे।

थोड़ी देर तक बैलों की तरफ़ देखकर नरसिम्मुलु नायुडु ने कहा, ''अरे, बैल इस तरह क्यों बेचैन हो रहे हैं?'' और फिर बक्कि रेड्डी की ओर मुड़कर उसने पूछा, ''सवेरे से इनको पानी भी पिलाया है कि नहीं रे?''

''देखने से पता नहीं चल रहा है? दोनों के पेट अंदर को धँसे हुए हैं। अब पूछना क्या? तुम्हीं जाकर उनको पानी पिलाकर ले आओ।'' गंगि रेड्डी ने सुझाया।

कुंदे पर से उठकर नरसिम्मुलु नायुडु ने बैलों की पगहियों को खूँटों से खोला और बाहर ले गया। पानी पिलाने के बाद फिर से लाकर बैलों को उसने खूँटों से बाँध दिया। कुंदे पर बैठते हुए उसने कहा, ''एक कंडाल। नाँदभर पानी पिया है एक-एक ने। जाने कितनी प्यास लगी थी उनको। झुके थूथन को उठाए बग़ैर पूरा एक कंडाल पानी पी गए।'' फिर उसने बक्कि रेड्डी से कहा, ''ढोरों को भूखा-प्यासा कैसे छोड़ दिया है रे बक्का? रेड्डी जात का कोई आदमी ऐसा करता है?''

''मैं रेड्डी जात का कहाँ से हूँ? एक सेंट* ज़मीन तक मेरे पास नहीं है। तुम मुझे रेड्डी जात का कैसे कह रहे हो?'' झट से सिर उठाकर बक्कि रेड्डी ज़ोर से चीख़ पड़ा।

* एकड़ का सौवाँ भाग।

''पागलों जैसी बातें कब से सीखी हैं रे? रेड्डी के घर जो पैदा हुआ है, वह रेड्डी नहीं तो और क्या होगा?'' गंगि रेड्डी ने कहा।

बक्कि रेड्डी ने तीनों को बारी-बारी से देखा। लालटेन की रोशनी में उसकी सूनी आँखें इधर-उधर घूमती दिखाई दे रही थीं। यों देखते हुए उसने कहा, ''पैदा किसके घर हुआ हूँ, यह किसने देखा है? अब मैं रेड्डी हूँ, यह कहने के लिए कौन-सी निशानी है मेरे पास? सोने जैसी ज़मीन खो बैठा हूँ। जो कुछ था, सब धो-पोंछकर पी गया हूँ। अब अपने को रेड्डी जात कहने के लिए एक भी निशानी है कहाँ? अब मैं आवारा हूँ, भिखारी हूँ, भिखमंगा हूँ। यही बात कहने के लिए अब तुम लोग आए हो। मेरा मज़ाक़ बनाने के लिए आए हो तुम लोग!''

''ज़मीन नहीं रही, तो क्या हो गया है रे बक्का? दुनिया ही ख़त्म हो गई है क्या? या दुनिया में ज़मीन खो बैठने वाली अनहोनी बात एक तुम्हारे साथ ही आज हुई है? कर्मों का फल ही समझो! आगे जो करना है, उसकी फ़िक्र छोड़कर पागलों की तरह ऐसी बातें क्यों कर रहे हो?'' गंगि रेड्डी ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा।

''ज़मीन हाथ से निकल जाने के बाद अब करने को क्या रह गया है? चूहों की दवाई खानी रह गई है, या फिर पेड़ से फाँसी लगानी रह गई है! कोई एक तो करूँगा ही! ज़मीन जब हाथ से निकल ही गई, तो अब इस धरती पर मेरा क्या काम?'' बक्कि रेड्डी का अवसाद से भरा उत्तर था।

थोड़ी देर वे तीनों चुप्पी साधे रहे। फिर गंगि रेड्डी ने नरसिम्मुलु नायुडु की ओर ताका और नरसिम्मुलु नायुडु ने मनि रेड्डी की ओर। लालटेन के उजास में उन तीन जोड़ी आँखों ने चुपचाप आपस में कुछ सलाह की। फिर एक निश्चय पर पहुँचकर तीनों ने सिर उचका दिया।

''सवेरे से कुछ खाया-पीया है या नहीं रे तुमने?'' उठकर बक्कि रेड्डी के कंधे पर हाथ रखते हुए गंगि रेड्डी ने पूछा।

धीरे-से सिर उठाकर बक्कि रेड्डी ने उसकी ओर ताका। सौ फ़ुट गहरे कुएँ की तली से आते दुर्बल और अस्पष्ट स्वर में, ''मुँह में दाना कैसे जा सकता है रे, सोने जैसी ज़मीन गँवा बैठा हूँ मैं। अब पेट में दाना कैसे जाएगा और आँख में नींद कैसे आएगी रे?'' बक्कि रेड्डी ने कहा।

सुनकर लंबी साँस छोड़ते हुए गंगि रेड्डी ने कहा, ''तब एक काम करते हैं। उठो, बताता हूँ।''

''कहाँ?'' बक्कि रेड्डी ने सवाल किया।

बाँह पकड़कर उसे उठाते हुए गंगि रेड्डी ने कहा, ''पहले उठो तो, अभी बताता हूँ।''

''कहाँ?'' उठते हुए बक्कि रेड्डी ने फिर पूछा।

''चार क़दम चलकर कलाल की मड़ई तक हो आते हैं।'' गंगि रेड्डी ने कहा।

''कलाल की मड़ई पर मेरा क्या काम?'' बक्कि रेड्डी ने झल्लाते हुए पूछा।

''हम भी तो रेड्डी जात के हैं रे। ज़मीन खोने का मतलब क्या होता है, यह हम भी समझते हैं। अब तुम्हारा पेट पीब पड़े ज़ख़्म की तरह टीस रहा होगा। जब तक दो बोतल पेट में नहीं जाएँगी, तब तक तुम्हारे दिमाग़ को चैन नहीं पड़ेगा।'' गंगि रेड्डी ने सुझाव दिया।

गंगि रेड्डी के हाथ को बक्कि रेड्डी ने ज़ोर से झटक दिया। देखते-ही-देखते उसकी आँखें लाल हो गईं। फड़कते होंठों से उसने कहा, ''क्या कहा? मुझे कलाल की मड़ई में ले जाओगे? तुम्हारी आँखों को मैं कैसा दिख रहा हूँ?'' फिर बाक़ी दो साथियों की ओर मुड़कर उसने कहा, ''तुम सबकी आँखों को मैं कैसा दिखाई दे रहा हूँ? आज ताड़ी पीने को कहोगे, कल कंधे से झोली लटकाकर गली-गली घूमने को कहोगे। परसों तिरुपति के पहाड़ की सीढ़ियों

बक्कि रेड्डी दोपहर से ही ढोरों की मड़ई से चिपका हुआ है।

वह अब कहाँ जा सकता है ? चौपाल में जा सकता है। वहाँ अपने साथी किसानों के साथ मौसम को लेकर बात कर सकता है। ''दो दिन से उमस बढ़ गई है। कल या परसों मौसम की पहली बारिश शुरू हो सकती है। बादल ईसान कोण से उतर सकते हैं या आग्नेय कोण से। बारिश कितनी होगी ? उतनी हो सकती है, जितनी से हल की फाल ज़मीन में बालिश्त भर धँस जाए या नदी-नाले उमड़कर बहने लगें, उतनी भी हो सकती है। तालाब परिवाह तक भर जाए, इतनी हो सकती है या पानी परिवाह से ऊपर जाकर ज़ोर-शोर से बहे, इतनी भी हो सकती है।'' ऐसी बातों की चर्चा में वह हिस्सा ले सकता है।

लेकिन मैं अब किसान नहीं हूँ। मैंने ज़मीन खो दी है। तालाब भरे या सूखकर उसमें बबूल उग आएँ, एक ही बात है। मुझे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उसने सोचा।

अब वह और कहाँ जा सकता है ? पास की गली में रहनेवाले साथी किसान गंगि रेड्डी के घर जा सकता है। मकान के चबूतरे पर बैठकर उसके साथ खेती के कामों को लेकर बात कर सकता है। ''इस मौक़े पर किस क़िस्म का धान बोना अच्छा रहेगा ? फलाने क़िस्म के धान की डंडियाँ कितनी लंबी हो जाती हैं ? उस धान में दूधिया दाना लगने में कितना वक़्त लगता है ? उसके दूधिया दाने को पकने में कितने हफ़्ते लगते हैं ? फ़सल काटकर ओसाई करें तो एक एकड़ में कितना धान उतरेगा ?'' ऐसी बातों की चर्चा वह कर सकता है।

लेकिन अब मैं किसान नहीं हूँ। मेरी ज़मीन क़ुर्की में चली गई है। गंगि रेड्डी के साथ बैठने लायक़ अब मैं नहीं हूँ। बक्कि रेड्डी सोचता रहा।

उसे जाना हो तो जाने के लिए जगह और कौन-सी होगी ? पश्चिम वाली गली में रहने वाले बढ़ई कदिरप्पा के घर जा सकता है। बढ़ई के घर के पीछे एक मड़ई है। मड़ई में आरा, बसूला, रंदा, रेती, रुखानी, बरमा वग़ैरह उसके औज़ार रखे रहते हैं। कदिरप्पा इन औज़ारों से काम करते-करते बेहाल होकर माथे का पसीना पोंछता रहता है। वहाँ जाकर वह कह सकता है कि ''कदिरप्पा, कल शाम तक हल बनाकर देना है तुमको। आसमान में घिरती घटा को देखो, तो लगता है कि मौसम की पहली-पहली बारिश कल या परसों शुरू हो ही जाएगी। बूँद ज़मीन पर गिरते ही मुझे हल जोतना होगा। नमी सूखने से पहले दो-एक बार तो जुताई करनी होगी।''

लेकिन अब मैं किसान कहाँ से हूँ ? हरिश्चंद्र ने जिस तरह अपनी पत्नी की नीलामी कर दी थी, उसी तरह मैंने ज़मीन की नीलामी कर दी है। नए हल की मुझे कोई ज़रूरत नहीं है। अब जो पुराना हल घर में है, उसे दीमक भी लग जाए तो कोई नुक़सान नहीं है। बक्कि रेड्डी सोचता रहा।

वह और कहाँ जा

सकता है? पश्चिम वाली गली में लुहार के घर जा सकता है। लुहार के घर की बग़ल में इमली के पेड़ के नीचे उसकी भट्ठी है। भट्ठी के सामने वह बैठा होगा। लोहे के जलते सरिए को चिमटे से पकड़कर निहाई पर हथौड़े से उसे पीट रहा होगा। "आचारी, इन काली घटाओं को मँडराते देखकर तो ऐसा लगता है कि अब दो-तीन दिनों में ही मौसमी बारिश शुरू हो जाएगी। पंडित जी ने भी पंचांग देखकर यही कहा है। इधर दो बूँदें ज़मीन पर गिरीं, तो फिर दोनों पैर एक जगह रखने की भी फ़ुर्सत नहीं रहेगी। हमारे ढोरों के खुर घिस गए हैं और उनमें से ख़ून रिसने लगा है। नाल ठोकने में अब देर ज़रा भी नहीं कर सकते। बैलों को यहीं ले आऊँ या तुम ही औज़ार लेकर घर पर आओगे?" यह बात वह पूछ सकता है।

लेकिन अब मैं किसान तो हूँ नहीं। भगवान से अल्पायु माँगकर आई संतान की तरह मेरी ज़मीन मेरी होकर नहीं रह सकी। बैलों से अब मेरा कोई काम नहीं है। बैल रहें या भेड़िए उनको चबा जाएँ, मेरे लिए दोनों ही बराबर हैं। उसने सोचा।

आले में से चमगादड़ बाहर आया और कुछ देर हवा में चक्कर काटकर फिर से कोठे पर चला गया। चित लेटा बक्कि रेड्डी आँखें घुमाकर कोठे पर फैले अँधेरे में देखने लगा।

अब उसे किसी से काम नहीं है। अब वह किसी को अपना मुँह दिखा नहीं सकता। उसका इस दुनिया से कोई नाता-रिश्ता नहीं है। चराचर इस संसार में उसके योग्य भूमिका कोई नहीं है। कोठे पर जीने वाले चमगादड़ की तरह, पेड़ के कोटर में रहने वाले उल्लू की तरह अब उसे अँधियारे की ही ज़िंदगी बितानी होगी। गाँव के उत्तर में पड़े हुए तोल के पत्थर की तरह, दक्षिण में पड़े हुए पुराने गोल पत्थर की तरह भूमि पर भार बनकर उसे जीना होगा। गाँव में आज से वह एक अशुभ शकुन की तरह रहेगा। शुभ काम से निकले हुए लो सामने वह पड़ जाए, तो लोग अपनी यात्रा विचार छोड़ देंगे। अब गाँव में कोई भी चार पीढ़ियों तक अपने बच्चों का; उसके उसके नाम से मिलता-जुलता नाम नहीं रखे

बक्कि रेड्डी करवट लेकर लेट गया। दोनों खूँटों के पास हैं। कालावाला बैल खड़ा बेचैनी से इधर-उधर देख रहा सफ़ेदवाला बैल लेटकर जुगाली कर रहा अँधेरा हो जाने से डाँस बैलों पर लदे का हैं। बैल बीच-बीच में इधर-उधर गरदन घुमाकर डाँसों को झाड़ रहे हैं और पूँछ से और पुट्ठों पर मार रहे हैं।

अँधेरा हो जाने से मौलश्री के पेड़ के गौरैयों का शोर कम हो गया है। वे शायद की तैयारी में हैं। असंख्य जुगनू उस पे आपस में उलझते हुए उड़ रहे हैं।

(8)

कुछ देर बाद बात करते पुरुषों के कई बक्कि रेड्डी को गली में से आते हुए सुनाई वे स्वर धीरे-धीरे अधिकाधिक स्पष्ट होते तो यह समझकर कि वे लोग उसके घर तरफ़ ही आ रहे हैं, वह खटिया पर उठ मिट्टी के तेल की एक लालटेन उसी की आ रही थी। लालटेन की रोशनी में तीन पैर दिखाई पड़ रहे हैं। वे तीनों आदमी आ गए। वे उसके साथी किसान थे। गंगि नरसिम्मुलु और मुनि रेड्डी। तीनों खटिया के पहुँच गए। अपने हाथ की लालटेन को की बल्ली से टाँगकर गंगि रेड्डी खटिया पर गया। बाक़ी दोनों खटिया की बग़ल में पड़े के कुंदों पर बैठ गए।

वे चारों हमजोली किसान हैं। बच मिलकर गलियों में चोर-सिपाही खेला

चबूतरे पर बैठकर किसान ने कहा, "कुएँ को पाँच-दस फ़ुट और गहरा करना है रे! तली में नमी तो दिख रही है, लेकिन पानी चुल्लूभर भी नहीं है। चार दिन और बीत गए तो यह नमी भी सूख जाएगी और नीचे दरारें पड़ जाएँगी।"

सिर उठाकर वीरय्या आसमान को एक छोर से दूसरे छोर तक देखता रहा।

"आँखें उलट क्यों रहे हो रे?" किसान ने पूछा।

सिर झुकाकर वीरय्या ने कहा, "बदरी तो लगातार उमड़ रही है महाराज! सावन का महीना भी ख़त्म होने को है। मालूम पड़ता है कि इस बार ज़रूर बारिश होगी। बारिश अगर हुई तो ज़मीन के भीतर पानी भर जाएगा और कुओं में पानी आ जाएगा। तब तक थोड़ा सब्र कर लें तो अच्छा रहेगा शायद, यही सोच रहा था।"

लंबी साँस छोड़कर किसान ने कहा, "यही सोचते-सोचते तो दो बरस बीत गए हैं रे! दो बरस! करने को कुछ काम न होने से हाथ सुन्न-से होने लगे हैं। कुछ दिन और बीत जाएँ तो यह भी भूल जाएँगे कि दायाँ बैल कौन-सा है और बायाँ कौन-सा। इतना होना तो पक्का ही है।" वीरय्या के चेहरे में आँखें गड़ाकर उसने फिर कहा, "वह बात छोड़ो! लेकिन क्या बात है रे वीरय्या, तुमको कुआँ गहरा करने का काम मैं दे रहा हूँ, तो मना क्यों कर रहे हो? करने का मन न हो, तो बताओ। दूसरे किसी गाँव से आदमी बुला लूँगा।" सुनकर वीरय्या ने तुरंत कहा, "वह बात नहीं है महाराज, कुआँ खोदने के लिए नहीं तो धाँगड़ का जनम और किसलिए हुआ है?" सिर खुजाकर उसने आगे कहा, "दस नहीं, बीस फ़ुट भी नीचे चले जाएँ, तब भी पानी निकलेगा ही, इसकी क्या गारंटी है? उन बक्कि रेड्डी का हाल देखो!"

हाथ से आसमान की ओर इशारा करते हुए किसान ने कहा, "सब उसकी माया है। लेकिन मुझे जो करना है, वह न करूँ, तो कल पेट में दाना कहाँ से जाएगा? कुएँ को सूखा ही छोड़ दूँ और ज़मीन को जोतूँ ही नहीं, इस तरह हाथ मलता हुआ मैं भी कितने दिन बैठा रह सकता हूँ बताओ?"

वीरय्या ने जवाब दिया, "बक्कि रेड्डी ने भी यही बात कही थी महाराज! कुएँ में पानी भरना चाहिए। ख़र्चा करने से पीछे हटूँगा नहीं। कुछ नहीं तो साँप के मुँह में उँगली देकर भी कहीं से क़र्ज़ा करके लाऊँगा। यह कहा था उन बावले महाराज ने। पहले दस फ़ुट तक नरम पत्थर निकला। बाद के दस फ़ुट में सख़्त पत्थर, और नीचे गए तो मकराना का पत्थर निकला। जब से होश सँभाला है, तब से ही मैं कुएँ खोद रहा हूँ। एक बार मकराना निकला, तो पानी के निकलने की बात भूल ही जाओ। आगे और चाहे कितना गहरे जाओ, पानी नहीं निकलेगा। मैं जानता हूँ। यही बात मैंने बक्कि रेड्डी को बताई। उन महाराज को यक़ीन नहीं आया। दूसरे गाँव से दो धाँगड़ों को बुलवा लिया। सीढ़ियाँ उतरकर दोनों अंदर गए और कुएँ की तली में हथौड़े से ठोक-ठोककर टोह ली। कहीं भी मारो, मकराना ही बोलता था। सीढ़ियाँ चढ़कर दोनों ऊपर आए और जो बात मैंने कही थी, वही बात बक्कि रेड्डी से उन लोगों ने भी कही। बस महाराज, आगे क्या होना था? देखते-ही-देखते उनकी आँखों से छिगुनी जितनी मोटी आँसुओं की धार बहने लगी। शेर जैसा आदमी मासूम बच्चा जैसा हो गया। कुएँ के किनारे बैठकर रोते हुए कहने लगे, 'अब मेरी ज़िंदगी का क्या होगा रे वीरय्या! हल की मूँठ पकड़ने का मेरा दिन अब इस ज़िंदगी में कभी आएगा क्या?' सोचता हूँ तो पेट में ज़ोर की मितली-सी होने लगती है।"

मटकी में झाँककर किसान ने कहा, "इसीलिए दिन ठीक से निकलने से पहले ही तुमने एक मटकी ख़ाली कर दी है!" कुछ देर चुप रहने के

बाद मुँह चुभलाकर वह फिर बोला, “यह सब सोचकर तुम क्यों मन ख़राब करते हो रे! यहाँ कौन-सी चीज़ हमेशा क़ायम रहनेवाली है? न ज़मीन हमेशा क़ायम रहने वाली है, न आदमी ही हमेशा रहने वाला है।” चबूतरे से उतरकर उसने फिर कहा, “कोई मिसाल है न कि भिखमंगा आएगा, यह सोचकर किसी औरत ने अदहन चढ़ाना छोड़ दिया! सब छोड़-छाड़कर इस तरह बैठने से हमारा काम कैसे चलेगा? तुम यह बताओ कि काम कब शुरू कर रहे हो?”

“तुम जिस दिन कहो, उस दिन शुरू करूँगा महाराज!”

चबूतरे से अँगोछा हाथ में लेते हुए किसान ने कहा, “मैं क्या कहूँगा, कुआँ खोदने के औज़ार तो तुम्हारे ही पास हैं। तुम्हें कब सुभीता होगा, यह तुम्हीं बताओ?”

“आज शुक्रवार है न महाराज! दो दिन ठहरकर सोमवार को शुरू करूँगा। उस दिन सवेरे-सवेरे अपने आदमी लाकर कुएँ में उतारूँगा।”

“अब पैसे की बात बताओ। फी फुट क्या लोगे?”

ज़मीन की तरफ़ ताकता हुआ वीरय्या गुमसुम बैठा रहा।

“ऐसे क्यों चुप हो गए जैसे जीभ में काँटा गड़ गया हो? पैसे की बात बताओ न?”

“पैसे की बात अभी रहने दो महाराज! पानी निकलने के बाद बात कर लेंगे।” उठते हुए वीरय्या ने कहा।

पगड़ी लपेटते-लपेटते किसान सहसा रुककर बोला, “अरे, कैसी अजीब बात है? रेट क्या होगा, पेशगी क्या होगी, यह सब बिना तय किए कुआँ खोदने को राजी होने वाले धाँगड़ को मैंने आज तक नहीं देखा। सवेरे-सवेरे धतूरे के बीज तो नहीं चबाए थे तुमने?”

“रातभर सोचता ही रहा हूँ महाराज! आप किसान हैं, बड़े लोग हैं! आपसे छिपा ही क्या है? बाँहों की ताक़त ही हमारी जायदाद है। भेड़ों के भेद गड़रिया जानता है। हमारी तकलीफ़ें आप लोग जानते हैं। कुएँ में पानी निकला, तो हमें इनाम दे देना। नहीं निकला, तो हमारी मेहनत देखकर जो समझ में आए, वह देना।”

“वाह भाई वाह, क्या बात कही तुमने! ठीक है, जो तुमने कहा, वही सही। सोमवार को सवेरे कुएँ के पास तुम लोगों की बाट देखूँगा। औज़ार लेकर आ जाना।” कहकर किसान ने पगड़ी कसकर बाँधी और पीछे मुड़कर “कोई शक नहीं। तुमको बक्कि रेड्डी का बुख़ार चढ़ा हुआ है। इसमें कोई शक नहीं।” बुदबुदाता हुआ गली में से निकल गया।

(11)

बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है, यह ख़बर नंबरदार के कान में भी पड़ी।

नंबरदार रोज़ की तरह बाँसभर दिन चढ़े तक अपनी कचहरी में पहुँच गया। कचहरी का बरामदा पूरा धूल-मिट्टी से अँटा पड़ा है। आमतौर पर चोबदार एक घंटा पहले ही आकर कचहरी के बरामदे में अच्छी तरह झाड़ू-बुहार करके बरामदे की सीढ़ियों पर बैठा नंबरदार की राह देखता रहता है। नंबरदार से सलाह करने या दूसरे कामों से आए हुए लोग बरामदे में दीवार से टेक लगाए बैठे रहते हैं। लेकिन कचहरी का बरामदा आज सुनसान पड़ा है।

कचहरी का ताला खोलकर नंबरदार कुर्सी पर बैठ गया और दीवारों और खिड़कियों की तरफ़ देखता रहा। उसे ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह पाताल लोक की किसी सुनसान गुफा में या जेल की किसी कोठरी में बैठा हो।

थोड़ी देर बाद चोबदार एक हाथ में घुँघरूदार वाली छड़ी और दूसरे हाथ में चप्पल लिए आया और कचहरी वाली कोठरी के सामने खड़े होकर कहा, “राम-राम मालिक!”

छड़ीदार देर से आया, इस बात को लेकर नंबरदार उस पर बिगड़ा नहीं। ऊपर से यह पूछा, "क्या बात है?"

इस विचित्र प्रश्न पर विस्मित होते हुए छड़ीदार ने कहा, "लगान वसूली का काम अभी रहता है मालिक!"

"कौन-सी वसूली रे?" अनासक्त भाव से नंबरदार ने पूछा।

"पूर्णमासी तक लगान वसूली पूरी होनी चाहिए, यह तो तुमने ही कहा था न मालिक! पूर्णमासी में अब तीन ही दिन बाक़ी हैं।" छड़ीदार ने जवाब दिया।

"ठीक है। पूर्णमासी के एकदम बाद तहसीलदार आएगा। लगान जमा करने को अभी कितने लोग बाक़ी हैं?"

"पाँच लोग हैं मालिक। बक्कि रेड्डी को छोड़कर अभी पाँच लोग हैं। दो दिन चक्कर लगाऊँ, तो वसूली पूरी हो जाएगी।"

"सुना है कि बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है! मामला क्या है?" नंबरदार ने पूछा।

"हाँ मालिक, यह बात मुझे भी आधी रात के बखत मालूम हुई थी। जब से मालूम हुई आँख लगी ही नहीं मालिक। सवेरे देख आया हूँ। ढोरों वाली मड़ई में जब से लेटा है, लेटा ही हुआ है। कुछ भी पूछो-ताछो, मुँह नहीं खोलता। जब खोलता है, तब भी पागलों जैसी बहकी-बहकी बातें ही करता है।" मुँह चुभलाकर उसने फिर कहा, "जाने कैसी बात है मालिक। कैसी ज़मीन, उसका ऐसा कैसा मोह! सवेरे से मेरा मन बेचैन हो रहा है मालिक!"

नंबरदार कुछ कहने को हुआ। लेकिन वह रुका और सिर झुकाकर सोचने लगा। उसी कचहरी में हुई नीलामियों में कितने ही किसानों ने अपनी ज़मीन खोई थी। नंबरदार उन सबको नाम से भी जानता है। उनमें से कुछ लोग दिहाड़ी के मज़दूरों की ज़िंदगी जी रहे हैं। कुछ लोग बटाईदार बने हुए हैं। कुछ लोग तो गाँव छोड़कर चले भी गए हैं। इतना ही नहीं, वह कुछ ऐसे किसानों को भी जानता है, जिन्होंने ज़मीन चली जाने के बाद अपने जीवन को निरर्थक माना था।

ऐसे किसानों में बक्कि रेड्डी एक है।

इतिहास ऐसे राजाओं की कहानियों से भरा है, जिन्होंने अपना राज्य खो दिया था। ऐसे कई राजाओं ने साधारण नागरिकों का जीवन जिया था। कुछ लोगों ने शत्रुओं की अधीनता में बंदी का जीवन भी जिया था। कुछ लोग अड़ोस-पड़ोस के राजाओं के आश्रित होकर भी रह गए थे। इनके अलावा ऐसे राजा भी हुए हैं, जिन्होंने राज्य खोने के बाद जीवन को व्यर्थ ही माना था। ऐसे लोगों में नंबरदार के एक पूर्वज कोळंद रेड्डी भी हैं। कोळंद

रेड्डी उस इलाक़े का जागीरदार था। बारह गाँव उसके अधीन थे। ब्रिटिश शासन ने एक-एक करके उन सभी जागीरदारों को अपदस्थ कर दिया था। कोळंद रेड्डी अकेला बच गया था। चार साल तक अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ वह अकेला ही संघर्ष करता रहा था। अंत में अंग्रेज़ सैनिक तोपों और बंदूक़ों से लैस होकर मद्रास से कूच करके आए थे। उस सेना के आक्रमण के सामने कोळंद रेड्डी की सैनिक टुकड़ियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं। कोळंद रेड्डी बस्ती छोड़कर अपने चार-पाँच अनुयायियों के साथ एक गुप्त गुफा में जा छिपा था। बस्ती से एक कोस दूर पहाड़ की चोटी पर वह गुफा बड़ी-बड़ी शिलाओं से प्रकृति द्वारा निर्मित दुर्ग की तरह लग रही थी। भेदियों द्वारा इस बात का पता लगाकर अंग्रेज़ सैनिकों ने उस पहाड़ को घेर लिया। कोळंद रेड्डी के पास आत्मसमर्पण करने का संदेशा भिजवाया गया। पहाड़ी पर खाने-पीने का कोई सामान न पहुँच पाए, इसका पक्का बंदोबस्त किया गया। इस तरह आठ दिन बीत गए। भूख-प्यास ने कलपाया तो कोळंद रेड्डी के अनुयायी एक-एक करके पहाड़ से उतर आए और हथियारों समेत आत्मसमर्पण कर दिया। यह मालूम होने के बाद भी कि पहाड़ पर जागीरदार अकेला ही बचा हुआ है, अंग्रेज़ सैनिक पहाड़ पर चढ़ने का साहस नहीं कर सके। नौवें दिन पर्वत शिखर पर आकाश में उड़ते गिद्धों पर उनकी नज़र पड़ी। तब बंदूक़ें तानकर चारों दिशाओं से धीरे-धीरे चढ़ते हुए पहाड़ पर जब तक वे पहुँचे, तब तक सूरज बीच आसमान में पहुँच चुका था। वहाँ खंज़र भोंककर गुफा के सामने रक्तकुंड में पड़ा हुआ कोळंद रेड्डी उनको दिखाई पड़ा।

नंबरदार सिर झुकाए कुर्सी में बैठा सोच रहा है।

"दिन चढ़ा जा रहा है मालिक! वसूली के लिए जाऊँ?" छड़ीदार ने पूछा।

नंबरदार ने सिर ऊपर उठाया। उठ रही भावनाओं को छड़ीदार से का उसका मन नहीं हुआ। लंबी साँस उसने कहा, "वसूली पर अभी क्या जाना दिन ठहर जा। तहसीलदार को कुछ सम भेज दूँगा। तू जा और अपना कोई काम कर ले।"

छड़ीदार को कुछ समझ में नहीं आया पीछे मुड़ा और धीरे-से बरामदे की उतरकर चला गया। कुर्सी में पसरकर बैठे ने आँखें बंद कर लीं और कनपटियों पर रख लिए।

(12)

आधा आसमान बादलों से भरा हुआ है। कुछ सफ़ेद हैं तो कुछ काले हैं और कुछ रंग के हैं। कुछ बादलों का आकार बर पेड़ जैसा है तो कुछ आदमी के सिर के के हैं। देखकर ऐसा भ्रम हो रहा है जैसे पृथ्वी का रूप आकाश में प्रतिबिंबित हो हो। पृथ्वी पर का जीवन अशाश्वत है। परिवर्तित होते रहना उसका धर्म है। संबंधित भ्रम और अधिक अशाश्वत है और तेज़ी से परिवर्तित होता रहता है।

घड़ीभर पहले जिन बादलों का रंग था, वे अब काले रंग में और घड़ीभर पहले काले थे, वे अब गेरुए रंग में रँगते जा रहे पहले जो बादल बरगद के पेड़ के आकार वे हाथी के रूप को और जो हाथी के आकार थे, वे मनुष्य के सिर के आकार को ग्रहण जा रहे हैं। इस प्रकार अपने रूप और बदलते हुए ये बादल धीरे-धीरे ईशान की बढ़ते जा रहे हैं।

बक्कि रेड्डी गर्भस्थ शिशु की तरह सिकु खटिया पर लेटा है। उसकी छाती मंद-मंद गिरती दिखाई दे रही है। बंद पलकों के

पर बैठकर भीख माँगने को कहोगे। मैं जानता हूँ। तुम लोग इसीलिए आए हो। मेरा मज़ाक़ उड़ाने आए हो। मेरा हाल देखकर ख़ुश होने आए हो।'' बक्कि रेड्डी चीख़-सा पड़ा।

गंगि रेड्डी और उसके दोनों साथी कुछ बोलने को हुए। इतने में काला बैल डकारा। बक्कि रेड्डी ने झट से पीछे मुड़कर देखा। शान से खड़े होकर पैर से ज़मीन खुरचते हुए बैल एक बार फिर ज़ोर से डकारा।

''देखा, देखा तुम लोगों ने! बैल तक मेरा मज़ाक़ उड़ा रहा है। मेरी चरनी में चारा खाने वाला जानवर! मेरी नाँद में पानी पीने वाला जानवर! इसकी आँखों में भी मैं हल्का पड़ गया हूँ। ज़मीन के हाथ से निकलते ही ढोर-डंगर की आँखों तक में हल्का पड़ गया हूँ।'' कहते-कहते बक्कि रेड्डी ने गाड़ी का डंडा उखाड़कर हाथ में ले लिया। वह दो हाथ लंबा और हथेलीभर मोटा पक्की लकड़ी का डंडा था। डंडे को दोनों हाथों से सिर के ऊपर उठाकर उसने काले बैल की पीठ पर ज़ोर से दे मारा। एकदम घबराकर बैल ने अपने मालिक की ओर देखा। इस बार डंडा उसके थूथन पर पड़ा। बैल जहाँ खड़ा था, वहीं छटपटाता रहा। बक्कि रेड्डी उठाए डंडे को नीचे उतारे बिना बैल की पीठ पर, डिल्ले पर, पेट पर, जहाँ-जहाँ डंडा पहुँच सकता था, वहाँ-वहाँ ताबड़-तोड़ कूटने लगा। जहाँ-जहाँ चोट पड़ती वहाँ-वहाँ पूँछ से सहलाते हुए बैल वहीं-का-वहीं छटपटाता रहा। धम-धम की आवाज़ से मड़ई काँप गई। दर्द बर्दाश्त नहीं हुआ तो जीभ बाहर निकालकर बैल 'अंबाऽऽ' कहकर चीख़ने लगा। उसकी कातर चीख़-पुकार बक्कि रेड्डी को सुनाई नहीं पड़ रही थी। कुछ देर पहले की बैल की ज़ोर की डकार ही उसके कानों में गूँज रही थी। पीड़ा से मुड़-मुड़ पड़ता और छटपटाता प्राणी उसकी आँखों को दिखाई नहीं पड़ रहा था। थोड़ी देर पहले शान से खड़े होकर ज़ोर से डकारते बैल का दृश्य ही उसकी आँखों के सामने घूम रहा था। वह बैल को इस तरह मारता जा रहा था, जैसे उसे देखते हुए डकारकर पैर खुरचनेवाले उस प्राणी को मांस के लोंदे में बदलने का उसने संकल्प कर लिया हो। उन्मत्त होकर वह पीटे जा रहा था, तो उसके हाथ का डंडा बीच-बीच में निशाना चूककर पत्थर के खंभे से टकरा जाता था। डंडा पक्की लकड़ी का होने से टूट नहीं रहा था। लेकिन बक्कि रेड्डी की कनपटियों से होकर पसीना बहने लगा। साँस फूलने से वह हाँफने लगा।

उसके साथियों ने उसे रोकने की कोशिश की। उनको धकियाकर, ''मुझे छोड़ दो रे...आज या तो इसे मरना है या मुझे मरना है। मैं मरने को तैयार हूँ। मेरी ज़मीन चली गई। सोने जैसी ज़मीन चली गई। अब मेरा यहाँ क्या काम? मैं तैयार हूँ। यह मेरी मड़ई में पला जानवर है। मेरे दिए हुए चारे से पला है। इसने मेरा मज़ाक़ उड़ाया है। मरने से पहले मुझे इसे मारकर दफ़न कर देना है। मुझे छोड़ दे रे!'' कहता हुआ वह फिर से बैल पर पिल पड़ा। धम-धम की आवाज़ और काले बैल की चीत्कारों से मड़ई गूँज उठी।

कुछ देर बाद छटपटाना छोड़कर बैल चारों पैरों पर मज़बूती से खड़ा हो गया और जी-जान से पगहे को तोड़ने की कोशिश करने लगा। पूँछ घुमाता और मुँह के किनारों से झाग टपकाता अपनी सारी ताक़त लगाकर खींचने पर भी मूँज का पगहा टूट नहीं रहा था।

साथी किसानों ने एक-दूसरे की ओर देखा। फिर नरसिम्मुलु नायुडु झपटकर पत्थर के खंभे का चक्कर काटकर गया और खूँटे के पास झुककर पगहे की गाँठ खोल दी।

गाँठ खुलते ही बैल ख़ूब झुकाकर छोड़े गए नरम बाँस की तरह फलाँगकर बाहर कूद गया। एक बार फिर फलाँगकर वह गली में पहुँच

गया। फिर गली में से वह पूरब की दिशा में दौड़ने लगा। वह दौड़ रहा था, तो उसके खुरों में लगे नाल से पत्थरों से टकराने के कारण चिनगारियाँ निकलने लगीं। अपनी दौड़ धीमी किए बिना और बिना पीछे देखे वह गाँव की सारी गलियों में इस तरह दौड़ता रहा जैसे कोई अदृश्य हाथ उसे अब भी लाठी से पीट रहा हो। फिर गाँव के बाहर ताड़ी की दुकान की बग़ल से होता हुआ नाले के पास पहुँचकर वह रुका। फिर धीरे-धीरे क़दम बढ़ाता हुआ पानी के पास पहुँचा और थूथन झुकाकर पानी पीने लगा।

काले बैल को गली-गली बेतहाशा दौड़ते हुए गाँव के बहुत-से लोगों ने देखा। जिन लोगों ने नहीं देखा उन लोगों ने उसके खुरों की आवाज़ सुनी। बैल के दौड़ने के कारण को लेकर लोगों ने एक-दूसरे से सवाल किया। "शायद डाँस काट खा रहे होंगे।" कुछ लोगों ने अनुमान लगाया। "चरनी में पुआल खाते वक़्त उसमें शायद कोई साँप दिख गया हो।" कुछ दूसरे लोगों की अटकल थी। "शाम के बखत नाँद में पानी के बदले शायद ताड़ी पी ली हो।" कुछ और लोगों ने टिप्पणी की।

सवेरा होते-होते इन सभी सवालों के जवाब के रूप में एक ख़बर घूम गई। कल रात काला बैल जिस तरह गली-गली भागा था, उसी तरह यह ख़बर गाँव में गली-गली तेज़ी से फैल गई। "सुनने में आया है कि बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है। ज़मीन हाथ से निकलते ही बेचारे का दिमाग़ चल गया।"

(9)

बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है, यह बात पटवारी के कान में पड़ी।

पटवारी का खपरैल का मकान है। गली की तरफ़ उसका लंबा-सा बरामदा है। बरामदे के छोर पर एक कमरा है। वही कचहरी है। कमरे में काठ की एक सा अलमारी है। अलमारी रजिस्टरों से पड़ी है। उन रजिस्टरों में उस गाँव की ज़मीन संबंधित सारे ब्योरे दर्ज हैं। अलमारी की में एक मेज़ और उसके पीछे एक कुर्सी रखी

अलमारी में से निकालकर पटवारी ने रजिस्टर मेज़ पर डाल दिया। कुर्सी पर बै उसने रजिस्टर खोला और थोड़ी देर तक को दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ पलटता दवात में क़लम डुबोकर कुछ लिखते-लि वह रुका और फिर क़लम दवात में रख फिर लंबी साँस छोड़कर वह कुर्सी में पसर ग

गाँव का एक आदमी "पटवारी जी हैं क्या पुकारता हुआ कमरे के सामने आ गया। अंदर हूँ। चले आओ।" पटवारी ने उसे बुला

वह आदमी अंदर आकर बेंच पर बैठ

"क्या बात है?" पटवारी ने पूछा।

"अब भी पूछते हो कि क्या बात है? पि पूर्णमासी से लगातार चप्पल घिस रहा हूँ। भाई से अब आगे मेरा निबाह न होगा। ज़मीं होने वाली सारी आमदनी वह रंडीबाज़ी में रहा है। तुम आकर ज़मीन की नपाई करो फ़ैसला करके बताओ कि मेरी ज़मीन कित और उसकी ज़मीन कितनी।" आगंतुक ने से कहा।

विरक्तभाव से पटवारी ने कहा, "क्या इस ज़मीन में या इस नपाई में। ज़मीन को पर लादकर तो कोई पैदा हुआ नहीं है। बखत कंधे पर लादकर जाता भी कोई नहीं उस बक्कि रेड्डी की बात सोचो।"

"हाँ, सुना है कि ज़मीन जाने के बाद उ दिमाग़ चल गया है। लेकिन ऐसा कैसे हो गया

"कैसे का क्या मतलब? गले तक क़र्ज़ डूब गया था। बैंक वाले आए और एक ज़मीन तक छोड़े बिना सारी ज़मीन की नी करके चले गए।"

"यही मैं पूछ रहा हूँ। जितनी चादर हो, उतना ही पैर पसारना चाहिए। उतने बड़े-बड़े क़र्ज़ लिए ही क्यों थे?"

"बक्कि रेड्डी ने तुम्हारे भाई की तरह रंडीबाज़ी करने के लिए क़र्ज़ा नहीं लिया था। क़र्ज़ा लेकर पैसा कुएँ पर लगाया था उसने। अकाल पड़ा और लंबे अर्से तक बारिश नहीं हुई, तो कुआँ सूख गया। धाँगड़ ने कहा कि कुएँ को दस फ़ुट और गहरा कर लो तो पानी निकलेगा। धाँगड़ ने कुएँ को दस फ़ुट और गहरा तो किया, मगर पानी न निकला।"

"कहाँ से निकलेगा? सिर पर शनि देवता बैठा हो तो पानी कहाँ से निकलेगा?"

"क़र्ज़े के लिए अर्जी मुझसे ही लिखवाई थी भाई। इन पापी हाथों से मैंने ही अर्जी लिखी थी। लिखने से पहले मैंने समझाया था कि ये बैंक वाले लाशों तक को खा जानेवाले लोग होते हैं भाई! इतने हज़ार रुपए वापस करने की ज़िम्मेदारी जाने कैसे निभाओगे। बक्कि रेड्डी एक ही बात कहता था। 'फिर मैं क्या करूँ भैया? कुएँ की तली में आक की झाड़ियाँ उग आई हैं। हल को दीमक चाट रही है। बैलों के कंधों पर रोएँ बढ़ते जा रहे हैं। रेड्डी जात में पैदा हुआ आदमी कब तक हाथ पर हाथ धरकर बैठा रह सकता है, बताओ? तुम लिखो तो!' यह उसने कहा था। बारह हज़ार...एक नहीं, दो नहीं...बारह हज़ार उधार लिया।"

"उतने हज़ार ख़र्च करके भी कुएँ में पानी नहीं निकला?"

"पानी की बात तो दूर, कुएँ की तली में नमी तक देखने को नहीं मिली। लेकिन वह आदमी साँड़ की तरह अपने इरादे से चिपका ही रहा। ढीला नहीं पड़ा। कुएँ को दस फ़ुट और गहरा करवा दिया। मैंने फिर एक बार समझाया, 'गले तक क़र्ज़े में डूबते जा रहे हो। इतना क़र्ज़ा किस तरीक़े से चुकता करोगे? यह सोचो!' मूँछों पर ताव देते हुए उस आदमी ने कहा था, 'कुएँ में पानी तो निकलने दो पटवारी जी, तब देखना। पहली फ़सल में ही आधा क़र्ज़ा चुकता हो जाएगा। दूसरी फ़सल में बाक़ी क़र्ज़ा भी ख़त्म हो जाएगा। दो, सिर्फ़ दो साल में रुक्का वापस लाकर तुम्हें नहीं दिखाया तो मेरा नाम बक्कि रेड्डी नहीं है। तुम क़लम उठाकर लिखो तो।' बारह हज़ार रुपए और ले आया। वे रुपए भी कुएँ के ही पेट में गए। बीस फ़ुट गहरी ख़ुदाई करवाकर भी उसमें पानी-वानी कुछ नहीं निकला।"

"पानी निकलेगा ही, इतना भरोसा उनको किसने दिया था?"

"सुनते हैं कि धाँगड़ ने दिया था। कुएँ की तली में कान लगाकर सुनने के बाद उसने कहा था, 'मालिक, अग्निकोण में गंगा का बहाव साफ़ सुनाई पड़ रहा है। पीछे मत हटो। दस फ़ुट और खुदवाओगे, तो गंगा ही गंगा है। उसके बाद सात साल तक अकाल पड़े, तब भी आधा इंच भी पानी कम नहीं होनेवाला।' सुनते हैं कि उसने यह कहा था। इस बावले ने उस बात को ख़ूब ज़ोर से पकड़ लिया।" पटवारी ने कहा।

"धाँगड़ यह नहीं कहेगा, तो और क्या कहेगा? उसने कहा भी तो इनकी अक्ल को क्या हो गया था?" ग्रामवासी ने सवाल किया।

"ग्रहों का फेर और करमों का फल है भाई और कुछ नहीं। जब ग्रह बुरे होते हैं, तब कोई अक्ल काम नहीं करती। युधिष्ठिर के पास अक्ल नहीं थी क्या जो जुआ खेलने गया था। ग्रह बुरे हों, तो ऐसा ही होता है।" पटवारी ने कहा और मेज़ पर रखे रजिस्टर को देखता हुआ चुपचाप बैठ गया।

ग्रामवासी बेंच के ऊपर बेचैनी से ऐसे हिला जैसे यहाँ आने का उसका काम अचानक याद आ गया हो और बोला, "ठीक है...अब मेरा क्या करने जा रहे हो यह बताओ पटवारी जी, मेरी ज़मीन की नपाई करने कब आओगे?"

''ज़मीन जाएगी कहाँ रे ? चोबदार को साथ लाकर घड़ीभर में नपवा दूँगा। चार दिन सब्र कर। सवेरे से मेरा पेट भारी-भारी-सा लग रहा है। जब से बक्कि रेड्डी की बात सुनी है, तब से हर वक़्त मन बहकता रहता है। चार दिन ठहरकर आना।''

ग्रामवासी धीरे-से उठा और ''ठीक है'' की बुदबुदाहट के साथ अँगोछा कंधे पर डालकर गली में निकल गया।

(10)

बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है, यह ख़बर वीरय्या के कान में पड़ी।

वीरय्या धाँगड़ों के खेड़े का मुखिया है। खेड़े में क़रीब पंद्रह झोंपड़े हैं। कुएँ खोदना, तालाबों के कगार उठाना, पत्थर के खंभे गढ़ना, बजरी-कंकड़ के लिए पत्थर तोड़ना जैसे काम आम तौर पर इस खेड़े के लोग करते हैं। इस इलाक़े में जितने भी सिंचाई के कुएँ या पीने के पानी वाले कुएँ हैं, वे सब इन्हीं लोगों के खोदे हुए हैं। ये लोग अलग-अलग कोई काम नहीं करते। जत्था बनाकर काम करते हैं। कुछ काम दिहाड़ी पर करते हैं तो कुछ काम ठेके पर ले लेते हैं। निर्णय कोई भी हो, खेड़े का मुखिया वीरय्या ही करता है।

सवेरे का उजास सब जगह फैल गया। वीरय्या खाट से उठ पड़ा। खजूर की चटाई को लपेटकर उसने उसे झोंपड़े की दीवार से सटा दिया। खाट को उठाकर दीवार के साथ खड़ा कर दिया। फिर वह झोंपड़े के अंदर गया और ताड़ी की मटकी के साथ बाहर आकर चबूतरे पर बैठ गया। फिर मटकी को मुँह से लगाकर गट-गट गटकते हुए आधी मटकी ख़ाली करके उसने उसे चबूतरे पर रख दिया।

सारा दिन मिट्टी खोदते, पत्थर चीरते गुज़रने से सूरज के डूबने तक उसके बदन का एक-एक जोड़, एक-एक पेशी दर्द क लगती है। उस दर्द से राहत पाने के लि वह रोज़ शाम को भरपेट ताड़ी पीता है।

लेकिन आज सवेरे ही वह जो ताड़ी पी है, इसका कारण बदन का दर्द नहीं है। आ रात को उसे बक्कि रेड्डी वाली बात मालूम गई थी। तब से उसकी आँखों की नींद उड़ी थी। आकाश में भोर का तारा जब प्रकट हु था, ढाबे के नीचे जब मुर्ग़े ने पहली बाँग दी पूरब की दिशा में जब उषा की किरणें फैली तब वह खाट पर पड़ा-पड़ा आँखें खोले रहा सवेरा हुआ तो ठीक से सो न पाने से उसक आँखें लाल हो आईं।

मूँछों से लगी ताड़ी की बूँदों को पोंछते हु ''धत्, इतना खुले दिलवाला शाही आद भिखारी बन गया!'' वह बुदबुदाया। फिर मटक उठाकर उसे उसने फिर से मुँह से लगा लिय पिछवाड़े मिट्टी के बरतन माँज रही उसकी बीं हाथ रोककर उसकी ओर देखने लगी। उस थोड़ी देर सवालिया निगाह से उसकी ओर देख और सिर घुमाकर अपने काम में लग गई। वीरय्य ने मटकी ख़ाली की और अलगनी पर से अँगोछ खींचकर सिर पर लपेट लिया। तभी गली क मोड़ काटकर उसी की तरफ़ आ रहे एक किसा पर उसकी नज़र पड़ी। वीरय्या सूरज की रोश से आँखों को बचाने के लिए माथे पर हाथ रखक देखने लगा।

किसान के नज़दीक आने पर उसने पूछ ''आप हैं सरकार! क्या बात है, इतने सवेरे सवेरे आ गए ?''

''काम पड़ा है तुमसे। यह सोचकर कि दि चढ़ने के बाद तुम घर पर मिलो न मिलो, सवेरे सवेरे आ गया हूँ।''

''क्या काम है महाराज ?'' वीरय्या ने पूछा फिर उसने चबूतरे पर से मटकी उठाकर नीं रखी और कहा, ''यहाँ बैठिए महाराज!''

कई किसानों ने आकाश की ओर देखकर सोचा, बादल उतर रहे हैं। ईशान के कोने में उतरते जा रहे हैं। लगता है कि शाम तक मूसलाधार बारिश शुरू हो जाएगी। रात में तालाब के परिवाह का टूट जाना तो पक्का ही समझो।

खेतों में काम कर रहे किसानों ने अपने काम जहाँ-तहाँ छोड़ दिए हैं। अपने उपकरणों को सिर या कंधों पर उठाकर उन्होंने घर का रास्ता ले लिया है। मैदान में फैलाए कपड़ों को उठाकर धोबियों ने अफरा-तफरी में उनका गट्ठर बना लिया है और अब गट्ठरों को गधों पर लादकर घर की ओर चल पड़े हैं। गाँव में कुछ लोगों ने कहीं-कहीं से उड़े हुए अपने मकानों के छप्परों को ताबड़तोड़ दुरुस्त कर लिया है। मकान पर चढ़कर छत के छेदों को पुआल या ताड़ के पत्तों से ढक दिया है और छत से जलावन को ले आकर मकानों के अंदर डाल लिया है।

थोड़ी देर में हवा का चलना शुरू हो गया। पेड़ों की डालें तो नहीं, बस, पत्ते हिलने लगे हैं।

धीरे-धीरे बादलों के अपना आकार खो देने से ऐसा लगा जैसे एक महामेघ ने पूरे आकाश को आच्छादित कर लिया हो। वह महामेघ गाढ़े काले रंग का है। पृथ्वी पर अँधियारा छाने लगा। बादलों का गर्जन और उसके पीछे बिजली का चमकना आरंभ हो गया। प्रकृति ने अपना रौद्र रूप धारण कर लिया था।

मोटी-मोटी बूँदों के साथ वर्षा आरंभ हो गई। बूँदें ज़मीन पर जहाँ गिरती हैं, वहाँ से धूल बालिश्त-भर ऊपर हवा में उछलती है। पूरी धरती को धूल के बादलों ने ढाँप दिया है। जो भी बूँद गिरती है, ज़मीन उसे वहीं-की-वहीं सोखती जा रही है। बूँदों को सोखकर ज़मीन सोंधी गंध बिखेरने लगी है। वह गंध मंद लहरों के रूप में चारों ओर फैल रही है।

वह गंध बक्कि रेड्डी के नथुनों से आ टकराई। वह खटिया पर उठ बैठा। मिट्टी की गंध से भरी हवा को उसने अंदर छाती-भर में खींच लिया। उसे बार-बार वह अंदर ऐसे खींचता रहा, जैसे कोई लालची आदमी रत्नराशियों का ढेर लगा रहा हो। मिट्टी की गंध ने उसके शरीर के अणु-अणु का स्पर्श किया। उस गंध ने उसके भीतर एक सनातन भूख जगा दी। फिर वह भूख एक प्रचंड रूप धारण करती चली गई।

जुगाली कर रहे बैलों की ओर उसने देखा। खेती का काम करने से उनकी गरदनों पर रोएँ उग आए थे। फिर उसने दीवार से सटाकर रखे हल की तरफ़ ताका। उसकी मूँठ सीधी खड़ी थी।

बक्कि रेड्डी की हथेलियों में खुजली-सी होने लगी। हथेलियाँ बंद होतीं, और खुल जातीं। ऐसा गाढ़ा अंधकार जो हथेली से चिपक जाए, ज़मीन पर व्याप गया था। हरहराकर पानी बरसता जा रहा था। वर्षा ऐसे हो रही थी, जैसे ज़मीन और आसमान एक हो गए हों, या हाथी अपनी सूँड़ों की पिचकारियाँ छोड़ रहे हों या मटकों में भरकर कोई पानी उड़ेल रहा हो। पर्वतों को कंपित करने वाली हवा तनों समेत पेड़ों को झकझोर रही थी। बिजली आकाश को खंड-खंड चीरती चमक रही थी। वह कभी भयंकर घोष के साथ तो कभी मंद ध्वनि के साथ गरज रही थी।

पानी फैलकर बहने लगा। बहकर वह छोटे-छोटे नालों में मिलने लगा। छोटे-छोटे नाले टेढ़े-मेढ़े बहकर सोते में मिलने लगे। सोते का पानी सूखे पत्तों और तिनकों को धकेलते हुए तालाब की ओर बहने लगा।

निरंतर बरसते पानी और हरहराकर बहती हवा से आतंकित गाँव सिकुड़-सा गया। लोग कसकर चादरें ओढ़े गहरी नींद में डूबे हुए हैं। बस, थोड़े-से बूढ़े प्रकृति के बीभत्स रव को सुनते हुए जगे हुए हैं।

बक्कि रेड्डी खटिया से उठ पड़ा। खूँटों से खोलकर बैलों को उसने मड़ई के बाहर ला खड़ा किया। हल को कंधे पर टिकाए उसने ओरी में से पैना निकालकर दाएँ हाथ में थाम लिया। बैलों को हाँकता हुआ वह उनको गली में ले आया। गली में पानी मकानों की दीवारों और ऊँची ज़मीन से रगड़ खाता हुआ बह रहा है। सारी गलियाँ सुनसान हैं। बक्कि रेड्डी गलियों से होता हुआ गाँव से बाहर निकल आया। बिजली जब चमकती तभी रास्ता दिखाई पड़ता था। बिजली की कौंध के सहारे आगे बढ़ते हुए वह अपनी ज़मीन के पास पहुँच गया। पहुँचकर खेत की मेड़ पर उसने हल उतार दिया। फिर बिजली के प्रकाश में उसने अपने पूरे खेत पर एक नज़र दौड़ाई। चौदह एकड़ ज़मीन। ज़मीन आठ चकों में बँटी हुई है। छह चक बड़े हैं और दो छोटे। सभी पानी से भरे हुए हैं। पानी एक चक से दूसरे चक में बहा जा रहा है। खेत के दक्षिण में बागि पेड़ की डालें हवा में झूल रही हैं।

बक्कि रेड्डी ने बैलों की गरदनों पर जुआ रखकर पट्टे कस दिए। हल को जुए के साथ जमा दिया। पगड़ी कसकर बाँध ली और लाँग कस ली।

वह हल और बैलों के साथ चकों में ऐसे उतरा जैसे कोई दूध पीता नन्हा बच्चा सरपट रेंगता माँ की गोद में प्रवेश करता है। बाएँ हाथ से उसने हल की मूँठ कसकर पकड़ ली। फिर दाएँ हाथ का पैना ऊपर उठाकर उसने बैलों को हाँका। बैल चल पड़े। हल ज़मीन को चीरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

ख़ूब ज़ोर की बारिश हो रही है। बिना अपनी दिशा बदले हवा तेज़ बह रही है। हवा के वेग में बागि पेड़ की डालें इतनी नीचे झुकी जा रही हैं जैसे ज़मीन को छू लेना चाहती हों। पेड़ों के पत्ते और पतली टहनियाँ हवा में दूर, बहुत दूर उड़ी जा रही हैं।

बक्कि रेड्डी के पूरे शरीर पर से बा का पानी फिसल रहा है। पगड़ी भीग भारी हो गई है और नीचे को खिसककर ग पर आ टिकी है। पगड़ी निकालकर उसने पर उछाल दी। कमर की काछनी को छोड़ उसका पूरा शरीर अनाच्छादित है। हवा बारिश दोनों उसके शरीर का निर्दयता से कर रही हैं। ठंड से उसका शरीर थरथर कां लगा है। दाँत बजने लगे हैं। बूँदें तीर जैसी आ उसके शरीर पर लग रही हैं। धीरे-धीरे उस शरीर संवेदनशून्य हो गया। हवा के वेग लड़खड़ाकर गिरते-गिरते अपने को सँभाल हुआ वह आगे बढ़ा जा रहा है। इस प्रयास वह गिरगिट की तरह चल रहा है।

दो चकों की जुताई पूरी करके वह ती चक में घुसा। उसके शरीर पर धीरे-धीरे कमज़ छाने लगी। हल के पीछे एक-एक पैर उठा चलना दूभर होता गया। कमर और रीढ़ के जो में ऐसा दर्द उठने लगा जैसे शूल चुभ रहे पैना थामे हाथ को कंधे से ऊपर उठाना दूभर हो गया। थकान के मारे उसके उच्छ्वा और निःश्वासों की आवाज़ बैलों के हाँफने आवाज़ से ऊपर सुनाई पड़ रही थी। धीरे-धी हल का वेग मंद पड़ने लगा। लेकिन हल मूँठ को कसकर पकड़ी हुई बक्कि रेड्डी की ज़रा भी ढीली नहीं पड़ी।

(15)

सवेरा हुआ तो वर्षा पूरी तरह थम चुकी नीला आकाश मेघ रहित, स्वच्छ और निर्मल गया था। संदेह हुआ कि कल रात इतने बी दृश्य की सृष्टि करने वाला क्या यही आ था? फिर से हवा स्तंभित हो जाने से पत्ते हो गए हैं। कल रातभर सिर झुकाए खड़े अब तन गए हैं। टूटी हुई डालियाँ कुछ पास कुछ बड़ी दूर जाकर कीचड़ में धँस गई हैं

पूरब दिशा उजास का आभास दे रही थी कि बक्कि रेड्डी की पत्नी बिछौने से उठी। उसने मड़ई में आकर देखा। खटिया पर खजूर की चटाई पड़ी थी। सिरहाने तकिया पड़ा था। लेकिन खटिया पर उसका पति दिखाई नहीं पड़ रहा था। दोनों बैल भी दिखाई नहीं पड़ रहे थे। बग़ैर पगहियों के खूँटे नंगे-से दिखाई दे रहे थे। दीवार से सटाकर रखा हुआ हल भी नज़र नहीं आ रहा था। जुआ और उसके साथ लगने वाली रस्सियाँ ग़ायब थीं। सिर उठाकर उसने देखा। ओरी में खोंसा पैना भी वहाँ नहीं था। चालीस साल से वह पति के साथ गृहस्थी निभाती आई थी। कोटि-कोटि रहस्यों और कोटि-कोटि अंतर्विरोधों से भरे इस संसार के बारे में वह कुछ नहीं जानती। पर अपने पति के बारे में सब कुछ वह जानती है। पूरी मड़ई पर एक नज़र डालने के बाद वह शिला प्रतिमा की तरह स्तब्ध खड़ी रह गई। अगले ही क्षण वह सहसा ज़ोर से चीख़ उठी। उसकी चीख़ सुनकर अड़ोस-पड़ोस के घरों में सो रहे लोग चौंककर जाग गए। तब तक जग चुके लोग उसकी चीख़ सुनकर घबरा उठे। अपना काम छोड़कर वे लोग मड़ई की ओर दौड़ पड़े।

तब तक बक्कि रेड्डी की पत्नी ने अपनी दौड़ आरंभ कर दी थी। उसके पैर गली की कीचड़ में थप-थप पड़ रहे थे। अड़ोसी-पड़ोसी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। वह ऐसे दौड़ रही थी जैसे अपने गंतव्य का उसे स्पष्ट ज्ञान हो। उसके दौड़ने से कीचड़ उसके पैरों के नीचे से चारों दिशाओं में उछल रहा था।

मड़ई से शुरू की हुई अपनी दौड़ उसने रास्ते वाले चकों पर आकर रोकी। अड़ोसी-पड़ोसी हाँफते-हाँफते उसकी बग़ल में आकर खड़े हो गए।

सूर्योदय हो रहा है। आठों चक पानी से भरे हैं। पानी निश्चल और शांत है। पानी के ऊपर सूरज की लाल-लाल किरणें प्रतिफलित हो रही हैं। खेत के दक्षिण में खड़े बागि पेड़ का प्रतिबिंब आईने का रूप लिए हुए पानी में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

खेत के बीच दोनों बैल खड़े-खड़े जुगाली कर रहे हैं। हल की मूँठ एक तरफ़ गिर गई है। बक्कि रेड्डी के बाएँ हाथ की मुट्ठी हल की मूँठ के चारों ओर कसी हुई है। दायाँ कंधा और चेहरा आधा-आधा कीचड़ में धँसे हुए हैं। साड़ी की चुन्नटें ऊँची किए बिना ही पत्नी खेत में उतर पड़ी। उसके पैरों के झटके से निश्चल जल में लहरें उठने लगीं।

(16)

गाँव में सनसनी फैल गई। "बक्कि रेड्डी की मौत हो गई है। कहते हैं कि रास्ते वाले चकों में मरा पड़ा है।" यह ख़बर गाँव की हर गली में दौड़ गई। घर-घर की देहरी पर वह चढ़ गई।

गाँव के सभी लोग रास्ते वाले चकों की तरफ़ दौड़ने लगे। तहमतों और काछनियों को ऊपर खिसकाते-खिसकाते पुरुष दौड़ रहे हैं। जूड़ों और आँचलों को सँभालती हुई स्त्रियाँ दौड़ रही हैं। खींचकर छोड़े गए बाणों की तरह, गुलेल में रखकर छोड़े गए पत्थरों की तरह बच्चे दौड़ रहे हैं। जो चल नहीं सकते थे, ऐसे लँगड़ों को मज़बूत शरीर वाले अपने कंधों पर उठा-उठाकर ले जा रहे हैं।

लाल-लाल सूरज आकाश में ऊपर चढ़ता जा रहा है। गाँव ऐसा सुनसान हो गया है जैसे हैजा या प्लेग फैला हो। लोगों के निरंतर दौड़ लगाते रहने से गाँव और रास्ते वाले चकों के बीच का रास्ता कीचड़ से भर गया है।

जिस तरह पिछले दिन आकाश बादलों से भर गया था, उसी तरह आज रास्ते वाले चक लोगों से भर गए हैं। धीरे-धीरे भीड़ बढ़ती गई। जेठ के महीने में चंद्रमा को घेरकर एक वलय

जिस तरह बन जाता है, उसी तरह बैलों के जोड़े, हल और मृत शरीर को घेरकर लोग वलयाकार खड़े हो गए। जो आगे खड़े थे, वे गर्दन पीछे घुमाकर अपने सामने के अजूबे का ब्योरा पीछे वालों को दे रहे हैं। पीछे वाले लोग आगे खड़े लोगों के कंधों का सहारा लेकर उचक-उचककर देख रहे हैं।

हल की मूँठ के चारों ओर कसी हुई बाएँ हाथ की मुट्ठी को, पैने को कसकर पकड़ी हुई दाएँ हाथ की मुट्ठी को और कीचड़ में आधे तक धँसे शरीर को उन सब लोगों ने देखा। वह दृश्य सबकी आँखों में कहीं गहरे अंकित हो गया। फण पर चोट करने वाले आदमी का रूप जिस तरह नाग की आँखों में बैठ जाता है, उसी तरह वह दृश्य उन लोगों की आँखों में बैठ गया। द्रौपदी की चोटी को पकड़कर खींचते दुःशासन का चित्र भीमसेन की आँखों में जिस तरह अंकित हो गया था, उसी तरह वह दृश्य उन लोगों की आँखों में अंकित हो गया।

करोड़ों बार पलकें झपकाने के बाद भी वह दृश्य उन लोगों की आँखों से ओझल नहीं हुआ। जीवन के कोटि-कोटि अनुभवों के बाद भी वह दृश्य उन्हें भूलेगा नहीं।

(17)

रास पूर्णिमा के दिन बक्कि रेड्डी की मृत्यु हो गई। नंबरदार ने उसे जो वचन दिया था, उसका उसने पालन किया। रास्ते वाले चकों में बागि पेड़ के नीचे उसने उसे भूमिस्थ करवा दिया। स्वयं पास रहकर विधिवत् सारी क्रियाएँ संपन्न करवाईं।

नंबरदार के पूर्वज उस इलाक़े के जागीरदार थे। आज भी ज़िले में चल और अचल संपत्ति के मामले में पहला स्थान नंबरदार का ही है। उस गाँव में या अगल-बग़ल के गाँवों में मामला कोई भी हो, अंतिम निर्णय नंबरदार का ही होता है।

गाँव के उत्तर में एक तालाब है। साल में एक बार तालाब की मछलियों की नीलामी होती है। नीलामी में भाग लेने को तो बहुत-से लोग भाग लेते हैं। पर अंतिम बोली नंबरदार की ही होती है।

गाँव के पश्चिम में राज्य का राजमार्ग है। राजमार्ग के दोनों तरफ़ इमली के पेड़ हैं। साल में एक बार इमली की फ़सल की नीलामी होती है। नीलामी में भाग लेने को तो बहुत-से लोग भाग लेते हैं, पर अंतिम बोली नंबरदार की ही होती है।

बैशाख और जेठ के महीनों में विवाह होते हैं। विवाह का तांबूल घर-घर में जाता है। पर प्रथम तांबूल को तो नंबरदार के घर ही पहुँचना होता है।

गाँव राजमार्ग की बग़ल में होने से भिखमंगे अकसर वहाँ आ जाते हैं। इन आगंतुकों को पहली भीख नंबरदार के घर से ही मिला करती है।

समय-समय पर सरकारी अधिकारी गाँव में आते रहते हैं। नंबरदार के घर में आतिथ्य स्वीकार करने के बाद ही अधिकारियों को अपना काम आरंभ करना होता है। चुनाव के समय में प्रत्याशियों की जीपें गाँव में आती हैं। नंबरदार का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद ही प्रत्याशियों को अपने प्रचार कार्यक्रम आरंभ करने होते हैं।

कभी-कभी गाँव के किसान अपने चक छोड़कर दूसरी जगहों में चले जाते हैं। चकों की बिक्री के लिए औपचारिक रूप से नीलामी होती है। नीलामी में भाग लेने को तो बहुत से लोग भाग लेते हैं। पर अंतिम बोली नंबरदार की ही होती है। उन चकों को नंबरदार की ज़मीन में ही मिल जाना होता है।

दूर के गाँवों से जीविका से लाचार लोग पेट पालने के उपाय खोजते हुए गाँव में आते रहते

पुतलियाँ हिल-डुल रही हैं। पिछले दिन से तरह-तरह के लोग उसका हाल पूछने मड़ई में आ-जा रहे हैं। उसके और पत्नी के संबंधी, साथी किसान और हितैषी। परंतु अब उसके और उन लोगों के बीच कई योजनों का फ़ासला है। कई युगों का अंतर है। मड़ई से बैलों की आहट और मौलश्री के पेड़ से गौरैयों की किचकिच आकर उसके कान में पड़ रही है। परंतु उन आवाज़ों से या इस संसार के करोड़ों-करोड़ों प्राणियों में से किसी भी प्राणी से न उसकी कोई समता है, न कोई नाता।

इस विशाल संसार में उसकी तरह का प्राणी अगर कोई है तो मात्र कोठे पर का चमगादड़ ही शायद है!

चमगादड़ अभी बाहर निकलने वाला नहीं है। सूरज के डूबने और अँधेरा छाने के बाद वह कोठे से बाहर आता है। जब तक मन करता है, तब तक मड़ई में चक्कर काटता रहता है। फिर पंख फड़फड़ाता बाहर निकल जाता है। हरे-भरे मैदानों में पतंगों और भौंरों को वह पकड़कर खाता है। साथी चमगादड़ों से मिलकर घाटियों और नालों पर उड़ता रहता है। अपने मित्रों से किच्-किच् करके बात करता है। सलाह-मशविरा करता है। उनके साथ मिलकर चूहों और गिलहरियों का शिकार करता है। शिकार में जो मिलता है, उसे अपने दोस्तों के साथ मिलकर आनंद से खाता है। दोस्तों के साथ गाते-खेलते पूरी रात बिता देता है। पूरब में उजास दिखाई पड़ते ही मित्रों से विदा लेकर वह लौट पड़ता है और सूरज के प्रकट होने से पहले ही अपने कोठे में घुस जाता है।

जीने की इतनी प्रबल इच्छा रखने वाले चमगादड़ से अपनी तुलना करना असंगत है, ऐसा बक्कि रेड्डी को लगा।

उसके जैसा निरर्थक जीवन अतीत में या वर्तमान में किसी ने जिया नहीं है। भविष्य में भी कोई जिएगा नहीं। वह ज़मीन से घुटनेभर ऊँचाई पर खटिया पर पड़ा रहे या ज़मीन में घुटनेभर गहराई में शव के रूप में पड़ा रहे, बात एक ही है। सुनते हैं कि ज़मीन पर जितने लोग हैं, आकाश में उतने ही तारे हैं और एक आदमी की मौत होते ही एक तारा टूटकर गिरता है। मेरा वाला तारा जाने कब टूटकर गिरेगा। शायद वह टूटकर गिरने के लिए तैयार है। आशा से इंतज़ार करने के लिए जिसके आगे कुछ न हो, जीने की इच्छा जिसमें ज़रा भी बची न हो, वह मरे हुए के बराबर ही तो होता है! मौत के बारे में, परलोक के बारे में उसे कुछ नहीं मालूम। त्योहारों के मौक़ों पर किए जाने वाले कथा-वाचनों में पंडित को इन चीज़ों के बारे में बताते हुए उसने सुना है। लेकिन उसने कभी इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया है। वह यही सोचा करता था कि इन बातों को जानने की और याद रखने की ज़िम्मेदारी तो पंडित की ही होती है।

अब मरने के बाद बहुत-सी बातें होंगी। उनमें सबसे अहम है पिता से मिलना। उस पर नज़र पड़ते ही पिता बहुत-सी बातें पूछेंगे, ख़ासकर ज़मीन के बारे में।

खटिया पर लेटे बक्कि रेड्डी ने हठात् आँखें खोलीं। फिर उठकर ऐसे बैठ गया जैसे किसी ने पीठ पर कोड़े मारे हों।

लगा कि बहुत देर से उसे कोई बुला रहा है। ''बक्का! रे बक्का!'' एक स्वर पुकार रहा है। पुकारकर पूछ रहा है, ''ज़मीन का क्या किया रे बक्का, तूने?'' यह कंठस्वर किसका है? उसके पिता का ही! हाँ, उसके पिता का ही है।

खटिया पर से बक्कि रेड्डी सहसा उठ पड़ा और मड़ई के बाहर आ गया। मड़ई की दीवार के पीछे और मौलश्री के पेड़ के पीछे झाँककर उसने देखा। वहाँ कोई नहीं था। लेकिन वह कंठस्वर तो सुनाई पड़ रहा था। कभी स्पष्ट तो कभी अस्पष्ट। उसने सिर उठाकर आकाश की ओर ताका।

आकाश में उसके पिता का चेहरा दिखाई पड़ रहा है। वे चौखाना तौलिया सिर में लपेटे हुए हैं। लगातार तंबाकू चबाते रहने से सफ़ेद हुई उनकी घनी मूँछें दिखाई पड़ रही हैं। वह चेहरा उसी की ओर देखता हुआ पूछ रहा है, "ज़मीन का तूने क्या किया है रे बक्का ?"

देर तक लेटे रहने के बाद अचानक खड़े होने से बक्कि रेड्डी की आँखें चकराने लगीं। उनमें अँधेरा छा गया। शरीर पर क़ाबू नहीं रहा तो वह लकड़ियों के गट्ठर की तरह पट से एक ओर को गिर पड़ा। गिरने की आवाज़ से बिदककर मड़ैये में बँधे बैल उठकर खड़े हो गए।

आकाश में मनुष्य के आकार में फैले बादल ने और फैलकर धीरे-धीरे हाथी का आकार ले लिया। देखते-देखते वह बरगद के पेड़ में बदल गया। अपने आकार और रंग बदलते हुए अनेक बादल ईशान की ओर बढ़े जा रहे हैं।

बादलों के पीछे से बिजली के कड़कने की आवाज़ बीच-बीच में कभी स्पष्ट तो कभी अस्पष्ट सुनाई दे रही है।

(13)

खटिया पर पड़े बक्कि रेड्डी को होश आया। उसके सिर के नीचे मोटा-सा तकिया लगाया गया था। पत्नी उसके तलुओं और हथेलियों में किन्हीं पत्तों के रस का लेप कर रही थी। फिर उसने एक गिलास में गरम-गरम दूध लाकर थोड़ा-थोड़ा करके उसे पिलाना शुरू किया। एक गिलास दूध पीने के बाद बक्कि रेड्डी की आँखें पूरी तरह खुल गईं। उसकी खुली आँखों को देखकर पत्नी का चेहरा खिल उठा। कुछ बोलकर और कुछ हाथों के इशारे से वह पति से बात करने की कोशिश करती रही। पत्नी की बातें बक्कि रेड्डी को सुनाई नहीं पड़ रही थीं। उसके इशारे भी उसकी आँखों को ठीक से दिखाई नहीं दे रहे थे।

आँखों के सामने उसके पिता का चेहरा सर्वव्यापी होकर दिखाई पड़ रहा है। उसके कानों में पिता का प्रश्न पृथ्वी और आकाश में गूँजता हुआ-सा सुनाई पड़ रहा है।

शरीर छोड़ने से पहले पिता ने मामा जी से आख़िरी बात जो कही थी, वह ज़मीन को लेकर ही थी, "यह अभी नादान है। अच्छा-बुरा नहीं समझता। इसे ज़मीन पर आँच नहीं आने देनी चाहिए।" तब उसने बड़ी अकड़ और शान के साथ छाती फुलाकर पिता की आँखों में सीधे देखते हुए कहा था, "ज़मीन पर मैं क्यों आँच आने दूँगा ? जिस तरह पलक आँख की हिफ़ाज़त करती है उसी तरह हिफ़ाज़त करूँगा। मैं किसी रेड्डी का पैदा किया हुआ हूँ या किसी ऐरे-गैरे का पैदा किया हुआ ?"

लेकिन पिता को दिए वचन का पालन करने में वह बुरी तरह असफल रहा है। इस असफलता का भार सिर पर लेकर वह पिता का मुँह कैसे देख सकता है ? पिता के प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकता है ? इस मामले में कौन उसकी मदद कर सकता है ?

उसने गाँव के लोगों को नाम ले-लेकर याद किया। किसान, पेशेवर लोग, पटवारी, बनिया, छड़ीदार, अध्यापक और कई मित्रों और आप्त जनों का उसने स्मरण किया।

लेकिन उनमें से कोई भी उसकी मदद नहीं कर सकेगा। ये सब तो इस लोक से नाता रखनेवाले लोग हैं। उसके और उसके पिता के बीच पैदा हुई समस्या का समाधान वे कैसे सुझा सकते हैं ? देवता लोग शायद सुझा सकते हैं। पंडित ने कहा था कि देवताओं की संख्या ती[illegible] करोड़ है और सूरज भी उनमें से एक है। आदमी का पूरा दिन जो बीतता है, वह सूरज से मिलने वाली धूप में बीतता है। पूरी रात जो बीतती है वह उसके छोटे भाई द्वारा मिलने वाली चाँदनी में बीतती है। ऐसे में क्या वह सूरज से सलाह

नहीं ले सकता? क्या सूरज उसे इसका मौक़ा देगा?

बक्कि रेड्डी की मंत्रमुग्ध-सी आँखें आले के अँधेरे में स्थिर हो गई हैं। उसके विचार पिए हुए आदमी की बकझक की तरह, ज्वरग्रस्त व्यक्ति के संधि-प्रलाप की तरह बेतरतीब चल रहे हैं।

बक्कि रेड्डी के विचार बेतरतीब इस तरह चल रहे थे कि सूर्योदय हो गया। सूरज की तिरछी किरणें उसके शरीर पर आकर पड़ने लगीं। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे वे किरणें उसे थपथपाकर जगा रही हों। आँखें खोलकर वह खटिया पर उठ बैठा।

गाँव के पूरब में स्थित पर्वत पंक्ति के ऊपर से सूर्योदय हो रहा है। सूर्य बिंब संपूर्ण वर्तुलाकार में है। वह सुहागिन के माथे की कुमकुम की बिंदी की तरह लाल-लाल दमक रहा है।

बक्कि रेड्डी सूर्य बिंब को अपलक देखता रहा। देखते-देखते सूर्य बिंब के सामने एक काली आकृति उसे दिखाई पड़ी। वह आँखें मिच-मिचाकर देखने लगा। उसे ऐसा लगा जैसे वह काली आकृति सूर्य बिंब से कूदकर बाहर आ गई हो। क्रमशः बड़ी होती हुई वह इधर ही आ रही है। बक्कि रेड्डी खटिया पर सीधे बैठकर देखने लगा। कुछ देर बाद उसकी समझ में आ गया कि वह काली आकृति एक घोड़े की है। वह घोड़ा धीरे-धीरे गली में से आकर मड़ई के सामने रुक गया। घोड़े पर नंबरदार बैठा हुआ है। रकाब में पैर रखकर वह नीचे उतरा और मड़ई की दिशा में क़दम बढ़ाने लगा।

"अरे, तुम हो भैया! आओ, आओ। मैं जानता था कि तुम आओगे। तुम क्यों आए हो, यह मैं जानता हूँ। तुमको किसने भेजा है, यह भी मैं जानता हूँ।" बक्कि रेड्डी ने कहा।

"मुझे कोई क्यों भेजेगा रे? मैं ही चला आया हूँ। सुना है कि कल शाम से तुम कुछ अजीब-अजीब-सी हरकतें कर रहे हो..."

बक्कि रेड्डी ने नंबरदार की बात पूरी नहीं होने दी। वह बीच में ही बोला, "मैं सब जानता हूँ। तुमको भगवान ने भेजा है। मुझसे बात करने के लिए भेजा है। तुमसे बहुत बातें करनी हैं। आओ, यहाँ बैठो।" कहते-कहते बक्कि रेड्डी ने बाँह पकड़कर उसे खटिया पर बिठा लिया।

बक्कि रेड्डी का दिमाग़ चल गया है, यह बात नंबरदार ने कल रात सुनी थी। अब स्वयं देख रहा था। बक्कि रेड्डी को वह ऐसे देखने लगा जैसे किसी अबोध बालक को देख रहा हो।

"मैं एक चीज़ माँगता हूँ भैया। देने का वादा तुमको करना होगा। मैं जानता हूँ कि तुम दोगे। तुम आए ही इसलिए हो। माँगूँ?" बक्कि रेड्डी ने पूछा।

"माँगो, जो माँगना है।"

"मैं क्या माँगने जा रहा हूँ, यह तुमको मालूम है। लेकिन ऐसे बात कर रहे हो, जैसे कुछ मालूम न हो। फिर भी बताता हूँ सुनो!" कहकर बक्कि रेड्डी खटिया पर पालथी मारकर बैठ गया और बोला, "मेरी ज़मीन अब तुम्हारी है। एक या दो नहीं, पूरे चौदह एकड़। एक सेंट भी कम नहीं। वह चौदह एकड़ ज़मीन अब तुम्हारी है। उस ज़मीन में थोड़ी-सी जगह मेरे लिए छोड़ देनी होगी भैया। उस बागि पेड़ के नीचे इधर चार हाथ और उधर चार हाथ मेरे लिए छोड़ देनी होगी।"

"किसलिए? इत्ती-सी ज़मीन का क्या करोगे?"

"वह भी तुम जानते हो। जानकर भी पूछ रहे हो। तुमने पूछा है, इसलिए बताता हूँ सुनो!" बक्कि रेड्डी कुछ पल रुका और फिर कहने लगा, "एक-दो दिन में मेरा चोला छूटने वाला है भैया। अब मेरा यहाँ क्या काम? ज़मीन जाने के बाद इस धरती पर मेरा क्या काम? परान निकलने के

बाद इस चोले को मेरी ज़मीन में बागि पेड़ के नीचे गाड़ देना। यह काम तुमको ही पास खड़े होकर करवाना होगा। मुझसे वादा करो भैया! वादा करो कि यह काम करा दूँगा।''

''यह कौन-सी बड़ी बात है रे! चार हाथ क्यों, दो कूंड ज़मीन छोड़ दूँगा। तुम यह पागलों जैसी बातें छोड़कर दिमाग़ को ठिकाने पर ले आओ।''

''बस भैया, बस! तुमने वादा किया। यही बहुत है। मेरे मुँह में तुमने घी-शक्कर डाल दिया है। मेरे पेट में दूध डाल दिया है। अब मैं अपने पिता से डरूँगा नहीं। पिता का चेहरा पकड़कर मैं ही मज़ाक़ बनाऊँगा। मरने से पहले पिता को मैंने वादा किया था भैया कि जिस तरह पलक आँखों की हिफ़ाज़त करती है, उसी तरह ज़मीन की हिफ़ाज़त करूँगा। कल मुझे देखते ही पिता पूछेंगे, 'ज़मीन का क्या किया रे बक्का, तूने ?' तब मैं कहूँगा, 'क्या किया है ? यह देखो। ज़मीन में ही लेटा हुआ हूँ। जिस तरह नाख़ून उँगली की रक्षा करता है, उसी तरह ज़मीन की रक्षा कर रहा हूँ। देखो, तुम ख़ुद देखो।' अब मुझे अपने पिता से डरने की कोई ज़रूरत ही नहीं है भैया।''

नंबरदार बक्कि रेड्डी की बातें ऐसे सुनने लगा जैसे उसके लिए अबूझ किसी भाषा में चल रहा वार्तालाप सुन रहा हो।

''अब तुम जाकर अपने काम देख लो भैया। दिन चढ़ता जा रहा है। तुमको हज़ार काम होते हैं। अब जाकर तुम अपने काम से लगो।'' कहकर बक्कि रेड्डी ने पैर सीधे पसारे और खटिया पर चित होकर धीरे-से आँखें बंद कर लीं।

धीरे-धीरे अपनी लालिमा को खोता हुआ सूरज आकाश पर रेंगने लगा। मड़ई की छाया क्रमशः नीचे उतरकर बक्कि रेड्डी के ऊपर फैलती गई। उस छाया ने धीरे-धीरे उसके माथे को, चेहरे को, गर्दन, छाती, कमर, जाँघों और पैरों को, उसके पूरे शरीर को ही ढक दिया।

आकाश में घने बादल छाते ज हैं। सिर उठाकर दिगंतों तक कित ढूंढ़ो, हथेली-भर नीला आकाश दुर्लभ है

विभिन्न आकार-प्रकार के बादल प्रक गए हैं। अब वे ईशान की दिशा में अग्रसर हैं। जहाँ-तहाँ निश्चल, गंभीर और रहस्य रूप से उपस्थित मात्र हैं। उनके पीछे विरा सूरज की किरणें सीधे आकर ज़मीन को छू रही हैं; दिगंतों के पास परावर्तित होकर ही ज़ पर उतर रही हैं। सूरज का उजास थोड़ी दे भगवे रंग में तो थोड़ी देर तक सफ़ेद चाँदनी तरह झिलमिला रहा है। ज़मीन पर इंद्रजाल तरह पसरे उस उजास को देखकर कुत्ते ' भौं...' करते हुए गलियों में टेढ़े-मेढ़ दौड़ने हैं। मैदानों में पशु नथुनों को फड़काते हुए से ज़मीन को कुरेदने लगे हैं। पेड़ों में 'काँ...काँ...' करते हुए एक डाल से दूसरी पर कूद रहे हैं। बगुले भूमि के समानांतर नहीं रहे हैं। कभी ऊपर की ओर तो कभी की ओर उड़ने लगे हैं। मुर्ग़ियाँ हिचकते-हिच आकर अपने खानों में ऐसे पहुँच रही हैं, उनसे कोई गुनाह हो गया हो। फिर अपने को पंखों के नीचे दबाकर चुपचाप लेट रहीं मुर्ग़ों को यह समझ में नहीं आ रहा है कि साँझ की बेला है या भोर का वक़्त। निरर्थक वे बाँग देने लगे हैं।

हवा का चलना एकदम बंद हो जाने से स्थिर हैं। निश्चल पवन गर्मी को क्र आत्मसात करता जा रहा है। वातावरण की एक सीमा से ऊपर पहुँच जाने पर पतंगे करने लगे हैं। धरती कुम्हार के आवाँ की धोबी की भट्ठी की तरह तप रही है। मनुष्य शरीर बुरी तरह पसीना उगल रहे हैं। उन ने अपने शरीर से उतार देने योग्य सारे उतार दिए हैं।

हैं। ऐसे लोगों को चाहे मज़दूरी हो या बटाई पर ज़मीन नंबरदार के यहाँ से ही मिलती है।

नंबरदार ने रास्ते वाले चक इसी परंपरा का निर्वाह करने के लिए ख़रीदे थे, इसलिए नहीं कि उसके पास ज़मीन कम थी। इसी कारण रास्ते वाले चकों में उसने खेती नहीं करवाई। विक्रय-पत्र को ज़रूर उसने हिफ़ाज़त से रख दिया। उस पत्र के चारों कोनों में हल्दी की बिंदियाँ लगाकर उसने उसे लोहे की एक पेटी में सुरक्षित रख दिया। उस पेटी में इस तरह के पत्र कई सौ हैं।

पेटी पर अंजुलि जितना चौड़ा ताला लटक रहा है। वह पेटी नंबरदार के भवन की दूसरी मंज़िल के एक कमरे में है। पेटी पर जिस तरह ताला लटक रहा है, उसी तरह उस कमरे के दरवाज़े पर भी अंजुलि जितना चौड़ा एक ताला लटक रहा है।

(18)

विक्रय-पत्र लोहे की पेटी में है। बिके हुए चक परती पड़े हुए हैं। विक्रेता बागि पेड़ के नीचे छह फ़ुट गहरे दफ़न हो गया है। फिर भी उससे संबद्ध स्मृतियाँ गाँव के लोगों के मस्तिष्क में निरंतर घूम रही हैं।

नंबरदार अपनी कचहरी में जब बैठता है, तब बहुत से लोग उससे मिलने आते हैं। अपनी अनेक व्यथा-कथाएँ सुनाते हैं। अनेक विनतियाँ करते हैं। लेकिन बक्कि रेड्डी ने जैसी विनती की थी, वैसी विनती उसने कभी नहीं सुनी थी। ''परान निकल जाने के बाद इस पिंजरे को मेरे चकों में बागि पेड़ के नीचे दफ़न करना होगा भैया! वादा करो कि यह काम करूँगा।'' कितनी विचित्र विनती थी यह! ''पिता के मरने से पहले मैंने उनसे वादा किया था भैया! वादा किया था कि पलक जिस तरह आँख की हिफ़ाज़त करती है, उस तरह चकों की हिफ़ाज़त करूँगा।

मुझे देखते ही पिता पूछेंगे, 'चकों का क्या किया रे बक्का, तूने?' तब मैं जवाब दूँगा 'यह देखो, मैंने क्या किया है! चकों में ही लेटा हुआ हूँ। जिस तरह नाख़ून उँगली की रक्षा करता है, उसी तरह चकों की रक्षा कर रहा हूँ। तुम ख़ुद देखो!' अब मुझे अपने पिता से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है भैया!'' कैसी विचित्र आस्था है!

मृत्यु के बाद भी जीवन होता है, यह बात नंबरदार ने सुनी है। लेकिन उसको लेकर उसने कभी सोचा नहीं है। मरने के बाद क्या वह सचमुच अपने पिता से मिलेगा? उसका पिता क्या उससे इस तरह पूछ सकता है? बक्कि रेड्डी ने जब अपने मुँह से बात कही थी तब नंबरदार ने उस पर ग़ौर नहीं किया था। उसे एक पागल का प्रलाप ही उसने माना था। परंतु हल की मूँठ को घेरकर कसी बाएँ हाथ की मुट्ठी, पैने को कसकर पकड़े दाएँ हाथ की मुट्ठी और कीचड़ में आधे धँसे शरीर को देखने के बाद नंबरदार का विचार बदलने लगा।

(19)

सिंचित और असिंचित खेत जोतने के लिए हल बाँधते समय किसानों को 'रास्ते वाले चक' याद हो आ जाते हैं। ''चकों के निकल जाने के बाद अब करने को है ही क्या? चूहों वाली दवाई अब खा लेनी चाहिए। या इमली के पेड़ से फाँसी लगा लेनी चाहिए। दोनों में से कोई एक काम करूँगा। चकों के हाथ से निकल जाने के बाद इस धरती पर मेरा क्या काम? सोने जैसे चकों को खोकर ख़ाली हो गया हूँ मैं। अब खाना पेट में जाएगा कैसे रे? अब आँख में नींद आएगी कैसे?'' ज़मीन को चीरते हल से निकलने वाली आवाज़ में और भरे-पूरे पेड़ों से होकर बहती हवा से निकलने वाली आवाज़ में ये ही बातें उन लोगों को सुनाई पड़ती रहती हैं।

चकों को खो देने के बाद आगे गाँव में रह न पाने की वजह से दूर प्रांतों में जाकर बसे हुए लोगों को वे जानते हैं। चकों के प्रति मोह को तोड़ने में असमर्थ होकर खेत की मेंड़ों पर खड़े पेड़ों से जिन लोगों ने फाँसी लगा ली थी, ऐसे किसानों को भी वे जानते हैं। ऐसे किसानों को भी वे जानते हैं जो खेत के बीच में बैठ, कीटनाशक दवाई पीकर ज़मीन पर लुढ़क गए थे। परंतु उन लोगों ने ऐसे किसान को पहली बार देखा था, जिसने बिकी हुई अपनी ज़मीन को जोतते हुए उसी ज़मीन में प्राण त्यागे थे। कीचड़ में आधे धँसे हुए उसके चेहरे पर कैसी शांति थी! होगी क्यों नहीं? उसने जहाँ प्राण त्यागे थे, वह उसकी अपनी ज़मीन थी! बाएँ हाथ की उसकी मुट्ठी में जो कसी हुई थी, वह उसके अपने हल की ही मुठिया थी! उसके दाएँ हाथ में जो था, वह उसका अपना पैना था! इस बोध के साथ ही उसने अंतिम साँस ली थी। इसीलिए उस चेहरे पर ऐसी शांति और संतुष्टि थी! दुर्योधन में राज्याधिकार के प्रति कितना मोह था! युधिष्ठिर को सत्यनिष्ठा से कितना मोह था! उससे दस गुना अधिक मोह एक किसान को अपने चकों से रखते हुए उन लोगों ने पहली बार देखा था।

ये स्मृतियाँ दिमाग़ में घूमने लगती हैं तो किसान अन्यमनस्कता से खेत जोतने लगते हैं। उस समय हल के कूँड़ टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं। थोड़ी देर इस तरह जोतने के बाद उन लोगों को अपने हल की चाल का और अपनी अन्यमनस्कता का भान होता है। उस समय उनके मन अन्यमनस्कता के ही नहीं, वैराग्य के भी अवलंब बन जाते हैं। कूँड़ टेढ़े-मेढ़े ही नहीं, मंद गति से भी आगे बढ़ते हैं।

(20)

लुहार जब अपनी भट्ठी के पास बैठा रहता है और भट्ठी में कोयले सुलगते रहते हैं, तब उसके मन में 'रास्ते वाले चकों' से संबं[धित] स्मृतियाँ ताज़ा हो जाती हैं। "आचा[री] इन बादलों को उमड़ते देखता हूँ, तो लगता [है] कि दो-तीन दिन में मौसम की पहली बा[रिश] शुरू हो जाएगी। पंडित ने भी पंचांग देख[कर] यही बात कही है। बूँद ज़मीन पर गिरी तो सम[झो] कि पैर टिकाने तक की फ़ुर्सत नहीं मिलेगी। बैलों के खुर घिस गए हैं और उनमें से ख़ून [...] रहा है। नाल ठोकने में अब एक दिन की भी [...] नहीं की जा सकती। बैलों को यहाँ ले आऊँ[...] औज़ार लेकर तुम ही घर तक आ जाओगे [...]" भट्ठी की लपटों से निकलती आवाज़ में से लुह[ार] को ये बातें हमेशा सुनाई देती रहती हैं। तब उ[से] ऐसा लगने लगता है जैसे वह अपनी भट्ठी [में] खेती के उपकरण नहीं, किसानों का सफ़ा[या] करने में उपयोगी मारक हथियार तैयार कर र[हा] हो। उसे लगता है जैसे उसकी भट्ठी में जो ज[ल] रहा है, वह कोयला नहीं किसानों की हड्डि[याँ] हैं।

(21)

पटवारी पहले हर रोज़ बिला नागा अपनी कचह[री] में आया करता था। लेकिन आजकल व[ह] नियमित रूप से नहीं आ रहा है। जब आता है तब असमय ही आता है। कचहरी में रखी क[...] की अलमारी वह खोलता नहीं है। उसे लग[ता] है जैसे ढेरों पाप ने उस पूरी अलमारी पर क़ब्[ज़ा] जमा लिया है।

अब वह ज़मीनों के पट्टों से संबद्ध पुस्त[कें] अलमारी से निकालकर मेज़ पर नहीं डालता। [...] उनकी जाँच ही करता है। वह ज़मीन पर बैठ[ता] है और सामने पोथी टेक पर भगवद्गीता रख[कर] उसका पारायण करता रहता है। चार श्लोक प[ढ़ने] के बाद उसे लगता है जैसे अक्षर एक-दूसरे [से] घिचपिच हो रहे हैं। वह चश्मा उतारता है [और] तौलिए से उसे पोंछकर फिर से पढ़ने का प्रय[त्न]

करता है। श्लोकों की जगह विक्रय-पत्र के वाक्य उसे दिखाई देने लगते हैं। "मुझे प्राप्त समस्त अधिकारों समेत आज मैंने इस ज़मीन को आपके अधिकार में दे दिया है। आज के बाद बेची गई उक्त संपत्ति का उपभोग करने के समस्त अधिकार आपके अधीन होंगे। ज़मीन के भीतर जो भी तरु, जल, पाषाण आदि निधियाँ या भंडार हैं, उन सबको भी पुत्र पौत्र आदि समेत दान विक्रय आदि समस्त अधिकारों के साथ स्वेच्छा से और सुखपूर्वक आप भोग करेंगे।" इसके साक्षी तीन हैं और पटवारी भी उनमें से एक है।

तब वह किस चीज़ का साक्षी है? जिस तरह श्रीराम को अयोध्या से अलग कर दिया गया था, उसी तरह एक किसान को उसकी ज़मीन से अलग कर दिया गया था। इसका वह साक्षी है। जिस तरह पुत्रशोक से दशरथ की मृत्यु हो गई थी, उसी तरह भूमिशोक से एक किसान की मृत्यु हो गई थी। इसका वह साक्षी है।

भगवद्गीता को बंद करके पटवारी उसे दूर रख देता है। फिर पीछे को झुककर दीवार से पीठ लगाकर वह बैठता है और सामने रखी अलमारी को निस्तेज आँखों से देखता रहता है।

(22)

लोक नाटक वालों की मड़ई परदेस चले गए आदमी के घर की तरह हो गई है। मड़ई के चारों ओर बालिश्त-भर ऊँची हरी घास उग आई है। कहीं-कहीं आक और खजुरिया के पेड़ बढ़ रहे हैं। मड़ई के दरवाज़े के दोनों तरफ़ की उठी हुई ज़मीन पर हवा में उड़कर आए सूखे पत्तों की मोटी परत जमी है। मड़ई के दरवाज़े पर ताला लगा है। बल्कि रेड्डी की मृत्यु वाले दिन जो ताला उस पर पड़ गया था, उसके बाद उसे किसी ने खोला नहीं है। लोकगीतों का गाना उसी दिन बंद हो गया था।

"कँटीले पत्थर मार्ग में हैं, सुभगे, सँभल-सँभलकर चलना।" हरिश्चंद्र नाटक के गीत का यही चरण उन लोगों द्वारा गाया गया अंतिम चरण था। मड़ई में तबला, हार्मोनियम जैसे वाद्य यंत्र दीवार पर लटक रहे हैं। उनके बीच मकड़ी के जाले बढ़ते जा रहे हैं। मड़ई के एक कोने में तख़्त पर नाटक से संबंधित पुस्तकें पड़ी हैं। उन पर मोटी धूल जमी हुई है। लोकगीत गाते समय इस्तेमाल में लाई जानेवाली लालटेन एक-दूसरे कोने में है। उसका तेल भाप बनकर कब का उड़ गया है।

कोई भी नाटक का अभिनेता आजकल मड़ई के पास फटक नहीं रहा है। नाटक के गीत और संवाद वे भूलते जा रहे हैं। हरिश्चंद्र की भूमिका निभाने वाला अभिनेता ज़रूर कभी-कभी मड़ई की ओर आ जाता है। हर जगह से दुत्कारे हुए कुत्ते की तरह वह धीरे-धीरे क़दम बढ़ाता हुआ आकर चबूतरे पर बैठ जाता है। जंगल में घूमते हुए राजा हरिश्चंद्र ने जो विपत्तियाँ झेली थीं, उनको वह याद करता है। असूर्यंपश्या चंद्रमती[1] के कंकड़-पत्थर से भरी राहों पर चलने से उनके पैर छिल जाते हैं और रक्त बहने लगता है। जब वह मूर्छित हो जाती है, तब हरिश्चंद्र पत्नी से अनुनय करते हुए कहते हैं, "कँटीले पत्थर मार्ग में हैं, सुभगे, सँभल-सँभलकर चलना।" इस पंक्ति को गाते समय दुख का अभिनय करने में हरिश्चंद्र की भूमिका निभाने वाले अभिनेता के सारे प्रयत्न पहले निष्फल हो जाते थे। नाटक सिखाने वाले गुरु को ग़ुस्सा तक आ जाता था। एक ही पंक्ति को बार-बार गला बैठ जाने तक गवाता था। फिर भी उसके स्वर में या चेहरे पर दुखानुभूति झलकती नहीं थी।

1. तेलुगु साहित्य परंपरा में राजा हरिश्चंद्र की पत्नी।

लेकिन अब मड़ई के चबूतरे पर जब वह बैठता है, तब अनायास ही उसकी आँखें नम हो जाती हैं। हल की मूँठ को घेरकर कसी बाएँ हाथ की मुट्ठी, पैने को घेरकर कसी दाएँ हाथ की मुट्ठी और कीचड़ में आधे से ज़्यादा धँसा हुआ शरीर याद आते ही उसकी आँखों के कोरों में पानी उभर आता है।

इससे पहले तीन साल से सूखा पड़ा था। इस विश्वास से कि गाँव में हरिश्चंद्र नाटक खेला जाए तो बारिश होगी, नाटक की तैयारी शुरू हो गई थी। लेकिन नाटक खेलने से पहले ही वैसा भयावह दृश्य उपस्थित करती हुई महावृष्टि हुई थी। परिवाह से हरहराता हुआ पानी भँवरें बनाता हुआ बहने लगा था। पहाड़ी के पास वाली बारानी ज़मीनें और तालाब के नीचेवाली तर ज़मीनें पानी से भर जाने से उनमें चलने वालों के पैर टखनों तक धँसते जा रहे थे। कुएँ और नाले लबालब भर गए थे। यह सब एक ही रात में हो गया था।

तीन बरस तक चली ग्रामवासियों की प्रतीक्षा एक ही रात में पूरी हो गई थी। तीन बरस से उन लोगों में क्रमशः क्षीण होती जिजीविषा रास पूर्णिमा के दिन अचानक पुनरुज्जीवित हो गई थी। परंतु उसी पूर्णिमा के दिन तीन पीढ़ियों तक याद रह जाने वाली घटना देखनी पड़ेगी, इस बात की ग्रामवासियों ने कभी कल्पना नहीं की थी।

बीमारी और बुढ़ापे के भार से लोगों का शरीर त्यागना वे जानते हैं। पूरी या आधी भूख से लोगों के जीवन दीप का बुझना भी वे जानते हैं। हत्या या आत्महत्या से मनुष्यों की इहलीला का समाप्त होना भी वे जानते हैं। दुर्घटना या हिंस्र जंतुओं के आक्रमणों से होनेवाली अपमृत्युओं को भी वे जानते हैं। लेकिन बिकी हुई अपनी ज़मीन को पूरी रात धारासार वर्षा में जोतते हुए शैथिल्य के कारण हल के कूँड़ में ढेर हुए आदमी की आँख मुँद गई हो, ऐसी घट[ना] लोगों ने पहले नहीं देखी थी। जि[स] तक इस धरती पर चलते-फिरते रहें[गे] तक वे लोग इस दृश्य को भूल नहीं सकें[गे] की पीढ़ियों के लोग अपने दादा-नानाओं [से] घटना के बारे में सुनेंगे। उनमें से कुछ लो[ग] पर विश्वास करेंगे। कुछ दूसरे लोग इसे [...] कल्पना ही समझेंगे।

(23)

माघ का महीना लग गया है। बक्कि रे[...] मृत्यु हुए छह महीने बीत चुके हैं। इन छह [...] में गाँव में बहुत बदलाव आ गया है। छह [...] पहले तो तालाब सूखकर दरारों से भर ग[या] [...] अब वह पानी से लबालब शोभायमान है[...] महीने पहले जिन कुओं के पानी तक ती[...] लंबी रस्सी से भी पहुँचा नहीं जा सकता [...] इतने भर गए हैं कि उनसे पानी अब हा[थ] [...] बाल्टी से भी खींचा जा सकता है। छह [...] पहले सूखी घास और झाड़-झँखाड़ से भरे [...] अब हरी घास और रंग-बिरंगी तितलि[यों] [...] नयनाभिराम दिखाई दे रहे हैं। पहाड़ी के [...] वाली बारानी ज़मीनों में छह महीने पहले [...] कंकड़-पत्थर और लाल मिट्टी ही दिख[ती] थी। उन ज़मीनों में अब हरे-भरे पत्ते औ[र] फूलदार मूँगफली के खेत बिछे हुए [...] दिखाई पड़ रहे हैं। तालाब के नीचे वाली [...] छह महीने पहले आक और बबूल के [...] भरी थीं, लेकिन अब उन्हीं पर ख़ूब ऊँ[...] लहलहा रहा है और जब हवा चलती है [...] समुद्र की लहरों की तरह हिल उठता है [...] महीने पहले बकरियाँ चराने वाले ल[ड़कों के] अलावा खेती की ज़मीनें सुनसान हुआ [करती] थीं। अब उन ज़मीनों में भोर से लेकर स[ाँझ] [...] किसान खेती के औज़ार हाथ में लेकर [...]

घूमते हुए दिखाई दे रहे हैं। साँझ से ...र भोर तक बीच-बीच में पहरेदारों ... आवाज़ें भी अब सुनाई पड़ती रहती ...

...गाँव के लोगों के अंत:करण में भी इन छह ...हीनों में अनेक परिवर्तन हो गए हैं। रास पूर्णिमा ...दिन हुई घटना को वे लोग धीरे-धीरे भूलने ...गे हैं। बक्कि रेड्डी की याद अब उनको कभी-...भी ही आती है। उन लोगों की बातों में बक्कि ...की चर्चा भी अब कभी-कभी ही आती है। ...से पानी के नीचे कंकड़ की तरह और कोहरे ...पीछे छिपे पर्वत शिखर की तरह बक्कि रेड्डी ...यादें बिसरती जा रही हैं।

...कालचक्र की अनवरत गति में गाँव के लोगों ...मन:पटल से बक्कि रेड्डी पूरी तरह हट भी ...ता। लेकिन ऐसा होना काल-पुरुष को शायद ...संद नहीं था। बक्कि रेड्डी इस गाँव के इतिहास ...एक मील के पत्थर की तरह स्थिर बना रहे, ...ही शायद कालपुरुष का अभीष्ट था।

...चाहे कालपुरुष के अभीष्ट के कारण या ...योगवश, माघ के महीने में एक विचित्र घटना ...ई। उस घटना के कारण बक्कि रेड्डी की मृत्यु ...के इतिहास में शाश्वत उपस्थिति बन गई। ...घटना के कारण रास्ते वाले चक गाँव के ...गोल के अभिन्न अंग बन गए। इस घटना की ...शुआत नंबरदार की पशुशाला में हुई।

(24)

...बरदार अपनी पशु संपदा का विशेष ध्यान रखता ...। पशुओं के उसके झुंड में गाय, बैल, बछड़े ...व मिलाकर तीस से अधिक हैं। पशुशाला ...बरदार की हवेली से सटी हुई है। वह काफ़ी ...ड़ी है। उसके चारों तरफ़ ऊँची दीवारें हैं। ...हाते में घास के दो चट्टे और चरख़ीवाला एक ...आँ है। कुएँ की बग़ल में लंबी और पक्की ...ी नाँद है।

पशुओं को चराने के लिए एक चरवाहा है। वह बारह बरस का एक गूँगा लड़का है। वह गूँगा तो है पर बहरा नहीं है।

गूँगा हर रोज़ सवेरे बाँस-भर दिन चढ़ने तक पशुओं को शाला से बाहर निकालता है। पशु आगे-आगे चलते रहते हैं, तो वह बाँसुरी कमर में खोंसे और खाने की पोटली बग़ल में लटकाए पीछे-पीछे चलता रहता है। पशु दिनभर नंबरदार की परती ज़मीनों में, गाँव के चारों तरफ़ फैली बंजर ज़मीनों में और गाँव से दूर टीलों पर चरते रहते हैं। किस मौसम में कहाँ घास अच्छी मिलती है, यह बात गूँगा ख़ूब जानता है। पशु जब चरते रहते हैं, तब वह किसी पेड़ के नीचे या चट्टान के नीचे बैठकर बाँसुरी बजाता रहता है। सूरज के बीच आकाश में पहुँचते ही पोटली खोलकर वह खाना खा लेता है और पास की तलैया में या नाले में हाथ धोकर पानी पीता है। सूर्यास्त का समय होते ही वह पशुओं को गाँव की तरफ़ हाँककर शाला में पहुँचा देता है। कुएँ से पानी खींचकर नाँद भर देता है। पशुओं के पानी पी चुकने के बाद वह उनको खूँटों से बाँध देता है। चारे के चट्टों से चारा खींचकर पशुओं के सामने चरनी में डाल देता है। फिर फ़ुर्सत से नहाकर कपड़े धो लेता है। तब नंबरदार की हवेली पर जाकर मालकिन द्वारा पत्तल में दिया हुआ खाना खाता है। खाना खाने के बाद गाँव में जाता है और अपने मित्रों के बीच में बैठकर अपनी गूँगी भाषा में दीन-दुनिया की बातें करता है। रात गहराने से पहले वह फिर शाला में पहुँच जाता है। रात में उसके सोने के लिए एक कोने में झिंगली खटिया पड़ी रहती है।

पशुपालन के मामले में नंबरदार को गूँगे पर पूरा भरोसा है। फिर भी वह रोज़ कम-से-कम एक बार तो शाला में आकर पशुओं के भले-बुरे को

लेकर पूछ ही लेता है। पशुओं के शरीर पर डाँस हों तो उन्हें उड़ाने या मारने का यत्न करता है। और अगर किलोनी लगी हो तो तुरंत उसे छुटाने का प्रबंध करता है। पशुओं में कोई एक भी बीमार नज़र आए तो पशुवैद्य को बुलवाकर उसका इलाज करवाता है। बैलों के खुर घिस गए हों तो अगले ही दिन उनमें नाल ठुकवा देता है।

(25)

माघ के महीने की एक रात। पहला पहर बीत रहा था कि नंबरदार लालटेन लेकर पशुशाला में आ गया। खटिया पर बैठा बाँसुरी बजाता हुआ गूँगा उठ पड़ा और नंबरदार के पास आ गया। लालटेन नीचे रखकर नंबरदार ने पूछा, "गाभिन गाएँ कैसी हैं रे?"

गूँगे ने हाथ के इशारे से कहा, "ठीक-ठाक हैं मालिक! तीन तो इसी महीने ब्याने वाली हैं।"

नंबरदार ने लालटेन की रोशनी में गाभिन गायों को ध्यान से देखा। फूले हुए उनके पेट देखकर तसल्ली से साँस खींचकर उसने पूछा, "तीनों इसी महीने ब्या जाएँगी क्या रे? इतना सही-सही तुझे कैसे मालूम?"

"इसी महीने में ब्याएँगी मालिक। चैत के महीने में ही तो ये गर्माई थीं। इनको सुद्दपल्ली ले जाकर मैं ही तो मेल करवाकर ले आया था!" वाला भाव गूँगे ने अपने इशारों से व्यक्त किया।

नंबरदार ने मन-ही-मन थोड़ी देर हिसाब-किताब करके कहा, "ठीक है। ये तीनों ही चैत के महीने में ही गर्माई थीं। उस हिसाब से अब ये दस दिन में ब्याएँगी।" फिर गूँगे की तरफ़ मुड़कर उसने आगे कहा, "तू एक काम कर!"

गूँगा "कहो मालिक!" वाले भाव से हाथ बाँधकर खड़ा हो गया।

"आज से लेकर इनके ब्याने सिर्फ़ इन तीनों के साथ रह। कोई काम मत कर।" नंबरदार ने कहा।

गूँगे ने इशारों से पूछा, "दूसरे ढोरों को देखेगा मालिक?"

नंबरदार बोला, "दूसरे ढोरों का ख़याल के लिए कोई दूसरा आदमी लगाऊँगा। तुझे तो इन तीनों का इस तरह ध्यान रख जिस तरह पलक आँख का ध्यान रख बिला नागा वक़्त पर दाना-पानी दे दिया दिन ढलने और ठंडक हो जाने के बाद ही ले जाना और चराकर ले आना। दूर ले इनको थकाना भी मत। गाँव के पास ही जगह ले जाना।"

गूँगे ने सिर हिलाकर संकेत किया, मालिक!"

एक गाय की पीठ पर बैठे डाँस पर नं की नज़र पड़ी तो एक चपत मारकर उसे मारा और हथेली में लगे ख़ून को पत्थर के से पोंछते हुए कहा, "अगर तीनों ने ही दिए, तो समझो कि सोने की ही दीवार ख जा सकेगी।"

सुनकर गूँगा बोला, "बछड़े ही पैदा मालिक, मैंने भगवान की मन्नत मानी है। मानी है कि अगर तीनों के ही बछड़े हु पाकाला के सुब्रह्मण्य स्वामी के पहा आऊँगा।"

"पाकाला ही क्यों रे, सीधे तिरुपति के पर ही तुझे भेज दूँगा। भगवान को अपने बाल दे आना।"

लालटेन की रोशनी में सारे दाँत निकालकर हँसते हुए गूँगे ने इशारे से कहा मालिक, पहाड़ पर बाल दे देने के बाद तिरुपति में नई बाँसुरी खरीदूँगा।"

इस पर लालटेन उठाते हुए नंबरदार ने है, अब तू जाकर सो जा!" कहा औ

क़दम चलने के बाद पीछे मुड़कर उसने पूछा, ''कल से इनको तू कहाँ ले जाएगा रे?''

कुछ देर सोचकर गूँगे ने इशारों में कहा, ''गाँव के पास ही किसी जगह ले जाने को कहते हो न मालिक, रास्ते वाले चकों में ले जाऊँगा।''

''हाँ-हाँ वह जगह ठीक है। वहीं ले जा। छह महीने से रास्ते वाले चकों में किसी ने क़दम भी नहीं रखा है। घास बढ़कर घुटने तक हो गई है। वहीं ले जाना इनको। अलग से ले जाना, दूसरे ढोरों के साथ मिलने मत देना।'' नंबरदार ने चेताया।

(26)

अगले रोज़ दिन ढलने और धूप कुछ कम होने के बाद तीनों गाभिन गायों को गूँगा रास्ते वाले चकों में ले गया।

चौदह एकड़ ज़मीन आयताकार में है। पिछले छह महीने से न किसी आदमी ने उसमें क़दम रखा था न कोई पशु ही उसमें घुसा था। नंबरदार की संपत्ति होने से उस ज़मीन में घास काटने का भी कोई साहस नहीं करता था। अपने पशु भी किसी ने उसमें नहीं छोड़े थे। बढ़ने में कोई बाधा न होने से घास ख़ूब बढ़ी थी और चौदह एकड़ विस्तार वाली वह ज़मीन एक विशाल हरे क़ालीन की तरह दिखाई पड़ रही थी। कितने-कितने क़िस्म की थी वह घास! किसी की पत्तियाँ पतली और लंबी थीं, तो किसी की मोटी, तो किसी की गोल-गोल!

तीनों गायें थूथन झुकाए चपर-चपर चरने लगीं। घास इतनी अधिक थी कि गले की घंटियाँ बजाती, पूँछ दाएँ-बाएँ हिलाती वे चरने लगीं। जहाँ ज़मीन सपाट थी, वहाँ तो पूरी बाँसवाड़ी ही बन गई है। झाड़ियों के बीच मुर्ग़ाबियाँ केंचुओं की तलाश में घूम रही हैं। बाँसवाड़ी के उस तरफ़ अंधा कुआँ है। कुएँ के किनारे खड़े बबूल के पेड़ में बीस से भी ज़्यादा गौरैयों के घोंसले लटक रहे हैं। घोंसलों के ऊपर और डालों पर बैठे गौरैये लगातार किच-किच कर रहे हैं। पश्चिम की ओर कानुगा पेड़ों की एक पंक्ति है। हरे और चौड़े कानुगा पत्तों की आड़ में तोते झुंड-के-झुंड बैठे हैं। दक्षिण की ओर बागि पेड़ सिर ऊँचा किए खड़ा है। उसकी डालें ख़ूब छितरकर फैली हैं। पेड़ की पीली फलियाँ सोने की पत्तियों की तरह डालों से लटक रही हैं।

पेड़ के नीचे जहाँ बक्कि रेड्डी की समाधि बनाई गई थी, वहाँ मिट्टी का एक टीला-सा है। पिछले छह महीनों में वातावरण के प्रभाव से टीला आधा गल गया है। पूरे टीले को ढाँपती हुई घास फैली हुई है। पकी हुई बागि फलियाँ टुन्नों से छूटकर जब-तब टीले पर गिर रही हैं।

रास्ते वाले चकों में एक बार पूरा घूम आने के बाद गूँगा बागि पेड़ के नीचे आ गया। तने से पीठ लगाकर वह अधलेटा हो गया और पैर पर पैर चढ़ा लिया। फिर कमर में खुँसी बाँसुरी निकालकर वह बजाने लगा। बाँसुरी पर उसकी उँगलियाँ लयबद्ध नाचने लगीं।

घास चरती तीनों गायों ने एक के बाद एक अपना सिर उठाया। कान खड़े करके और आँखें बड़ी करके बाँसुरी से निकल रही धुन को वे सुनने लगीं। उनके मुँह से घास के तिनके लटकने लगे और वे स्थाणुओं की तरह खड़ी होकर गूँगे की ओर देखने लगीं। गूँगा अपनी बाँसुरी पर जो भी धुन सुनाता है, वे सब उनके लिए परिचित हैं। लेकिन वह आज जो सुना रहा था, वह नई थी। गायें चंचल होकर गूँगे की ओर और उसकी बाँसुरी की ओर ऐसे देखने लगीं जैसे किसी विचित्र दृश्य को, एक भयंकर दृश्य को सामने देख रही हों। थोड़ी देर इस तरह देखने के बाद गायों ने एक-एक करके सिर झुकाया और घास चरने लगीं।

माघ का महीना होने से बाँस-भर दिन रहते ही ठंड शुरू हो गई। ठंडी हवाएँ बाँसुरी से निकल रही ध्वनि तरंगों को ढोकर घास के मैदान के ऊपर से, पेड़ों की डालों के ऊपर से दौड़ रही थीं।

बाँसुरी पुत्रशोक भोग रही एक माँ की वेदना सुना रही थी— *आज शुक्रवार है, घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने आटे की रंगोली बनाई है। / घर के आँगन में घुटनों पर चलता कोई बच्चा मेरा नहीं है। / मेरी रंगोली फैल नहीं जाएगी। मैं एक बाँझ हूँ। / आज शुक्रवार है। घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने आटे की रंगोली बनाई है। / जवानी में मैंने तीन-तीन बेटों को जन्म दिया था। / तीनों ही अब नहीं रहे। अब मैं बाँझ हूँ। / आज शुक्रवार है, घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने आटे की रंगोली बनाई है। अगले शुक्रवार तक यह रंगोली ज्यों-की-त्यों रहेगी। यह रंगोली मेरे पेट में शूल उठा रही है। / आज शुक्रवार है। घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने आटे की रंगोली बनाई है। / मौलश्री के पेड़ पर बैठे गौरैयो, और तोतो, रंगोली के आटे में चोंच मार-मारकर तुम खाना। मेरा पुत्रशोक कुछ-कुछ शांत करना। आज शुक्रवार है, घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने रंगोली बनाई है। पिछवाड़े घूम रही मुर्ग़ियो और मुर्ग़ो, इस रंगोली को पंजों से खुरच देना। / आज शुक्रवार है, घर के आँगन में पानी छिड़ककर मैंने रंगोली बनाई है।*

गूँगे ने यह गाना पहले कभी बजाया नहीं था। आज पहली बार वह बजा रहा है। चार साल पहले रुदालियों को यह गाना गाते हुए उसने सुना था। उस गीत के बोल ज्यों-के-त्यों उसे याद नहीं हैं। लेकिन उस गीत का भाव और उसकी धुन उसके मन पर गहराई से अंकित हो गए हैं।

चार साल पहले एक संपन्न गृहस्थ के घर में एक शिशु की मृत्यु हो गई थी। बांसक रुदालियों ने शव को घेरकर यह गाना गाया था। गाना गाते हुए वे जूड़ा खोलकर बाल बिखेर रही थीं। ज़ोर-ज़ोर से छाती पीट रही थीं, चोली फाड़ रही थीं, ज़मीन पर लोट-लोटकर रो-बिलख रही थीं। गूँगे ने दस गज़ दूर खड़े होकर उन लोगों को यह सब करते देखा था। देखते-देखते उसका सारा शरीर एड़ी से चोटी तक काँप गया था। फिर हिचकियाँ ले-लेकर वह रोया था। फिर पशुशाला में लौटकर रुदालियों के गीत के पुत्रशोक को लेकर सोचते हुए उसने रात बिताई थी। उस रात उसे झपकी तक नहीं आई थी।

इन चार सालों में एक बार भी उसने यह गीत अपनी बाँसुरी पर नहीं बजाया था। एक बार भी इस गीत का अपनी बाँसुरी पर अभ्यास नहीं किया था। आज बागि पेड़ के नीचे बैठकर बाँसुरी को जब उसने होंठों से छुआया था तब भी यह गीत बजाने का ख़याल उसे नहीं आया था। जैसे उसकी इच्छा से निरपेक्ष होकर बाँसुरी अपने आप यह गीत सुना रही थी। ज्यों-ज्यों गीत आगे बढ़ता गया, उसे लगने लगा कि उसके होंठों या उसकी उँगलियों का बाँसुरी पर कोई वश नहीं है। उसे यह भी लगने लगा कि कोई अदृश्य शक्ति बाँसुरी बजा रही है। चार साल पहले उसने जो हृदय-विदारक दृश्य देखा था, वह उसकी आँखों के सामने तैरने लगा। शव को घेरी हुई रुदालियाँ उसे दिखाई देने लगीं। उन लोगों का बाल बिखेरकर ज़ोर-ज़ोर से छाती पीटना, चोली फाड़ना और ज़मीन पर लोट-पोट हो जाना उसे दिखाई देने लगा। ज़मीन पर उनके लोटने से धूल का उड़ना, आँसुओं का गालों से होकर फिसलना और विकृत स्वर में चीख़ते-चिल्लाते समय मुँह के किनारों से लार का गिरना उसे दिखाई देने लगा। रुदालियों के गीत का पुत्रशोक उसके सामने जैसे साकार हो उठा।

बाँसुरी से निकल रहे उस शोक-धुन को सुनते हुए बबूल के पेड़ों में बैठे गौरैये और कानुगा पेड़ों में बैठे तोते स्तब्ध और निश्चल बैठे रहे।

थोड़ी देर बाद गूँगे के शरीर में हल्का-हल्का कंपन होने लगा। होंठों से हवा निकलने में कठिनाई होने लगी। बाँसुरी पर उसकी उँगलियाँ लड़खड़ाने लगीं।

कुछ और देर बाद बाँसुरी गूँगी हो गई। इससे आसपास स्तब्धता छा गई। उस घनीभूत स्तब्धता में बाँसुरी को गोद में डाले, पेड़ के तने से पीठ लगाए, गूँगा शिला प्रतिमा की तरह निश्चल बैठा रहा।

गायों के गले की घंटियों की रुन-झुन से उसकी तंद्रा टूटी। उसे लगा, जैसे घंटियाँ उसे नाम लेकर पुकार रही हैं। सिर घुमाकर उसने देखा। तीनों गायें समाधिवाले टीले के पास हरी घास पर लेटी थीं। तीनों गायों के सामने जो दृश्य उसे दिखाई पड़ा उसे देखते ही वह ख़ूब झुकाकर छोड़ी गई मुलायम बेंत की तरह उछलकर खड़ा हो गया। उसकी गोद में रखी बाँसुरी हवा में उछली और चक्कर काटती हुई समाधि पर जा गिरी।

एक छलाँग में वह गायों के सामने जा पहुँचा। एक-एक गाय के सामने एक-एक मरा हुआ बछड़ा पड़ा हुआ था। उन मांस पिंडों से लिपटी आँवल को गायें चाट रही थीं।

घुटनों पर बैठकर गूँगे ने तीनों मरे हुए बछड़ों को हाथ की उँगलियों से छूकर देखा। पगलाई आँखों से उसने थोड़ी देर चारों ओर देखा और फिर उठकर गाँव की तरफ़ बेतहाशा दौड़ पड़ा।

(27)

नंबरदार की हवेली पर शाम की धूप तिरछी होकर पड़ रही है। हवेली के मुख्य द्वार पर घोड़ा खड़ा है। साईस ने उस पर जीन कस दिया है और मुँह में लगाम चढ़ा दी है। वह घोड़े की गरदन पर हाथ रखे हवेली की तरफ़ देखता खड़ा है।

थोड़ी देर बाद नंबरदार मुख्यद्वार पार करके बाहर आ गया। उसके पीछे-पीछे द्वार तक आई पत्नी से कुछ बात करके उसने रकाब में पैर रखा। इतने में उसे पच्छिम से आती चीख़ें सुनाई पड़ीं। सिर उठाकर उसने देखा। बदहवास चीख़ता-चिल्लाता और हवा में हाथ नचाता गूँगा इधर ही दौड़ा चला आ रहा था। रिकाब में पैर रखे-रखे ही नंबरदार खड़ा गूँगे की तरफ़ देखता रहा।

नंबरदार के पास पहुँचकर लड़खड़ाकर गिरते-गिरते अपने आपको सँभालते हुए गूँगे ने इशारों में कहा, "मरे बछड़े दिए हैं मालिक! हमारी गायों ने मरे बछड़े दिए हैं।"

नंबरदार ने रिकाब में से पैर निकाला और गूँगे के गाल पर ज़ोर का एक थप्पड़ कसकर बोला, "हरामी के पिल्ले! कितनी बार कहा है तुझसे कि उनका अच्छी तरह ख़याल रख! पचास बार तो कहा होगा मैंने! उनको कहीं घुमा-घुमाकर थका दिया होगा तूने। इसीलिए मरे बछड़े हुए हैं।"

गूँगा लकड़ी के गट्ठर की तरह ज़मीन पर औंधा गिरा और फिर चित होकर धूल अँटे हाथों से इशारे करते हुए बताया, "कहीं नहीं घुमाया था, मालिक! रात को जैसे सोचा था, वैसे ही रास्ते वाले चकों में ले गया था। वहीं मरे बछड़े दिए हैं मालिक!"

नंबरदार ने फिर से रिकाब में पैर रखा और उछलकर घोड़े पर बैठ गया। फिर दोनों टखने उसके पेट में गड़ा दिए। धूल उड़ाता हुआ घोड़ा दौड़ पड़ा।

रास्ते वाले चकों के पास आकर नंबरदार घोड़े से उतरा। तीनों गायें घास पर अभी उसी तरह पड़ी थीं। तब तक ही गाँव के कुछ लोग गायों

और मरे बछड़ों को घेरकर वह अजूबा देख रहे थे। नंबरदार ने गाँव से पशुवैद्य को बुलवाया। वैद्य ने अपने अनुभव का उपयोग करते हुए तीनों गायों की बारीकी से जाँच की। जाँच पूरी करके उसने नाले में हाथ धो लिए।

वैद्य जाने क्या कहेगा, इस उत्सुकता से वहाँ इकट्ठे सभी लोग पूरे शरीर को श्रवणमय बनाकर देखने लगे। वैद्य ने अपने गीले हाथों को गमछे से पोंछते हुए नंबरदार की तरफ़ देखा और कहा, "तीनों को ही गर्भदोष हो गया है भैया!"

"ऐसा कैसे हो गया? पिछली बार तो हीरे जैसे बछड़े हुए थे। यह दूसरी बियान है। इस बार ऐसा क्यों हो गया?"

वैद्य ने गमछा कंधे पर डाल लिया और आँख के इशारे से 'इधर आओ' कहकर आगे चलने लगा। भीड़ से कुछ दूर जाकर दोनों अंधे कुएँ के किनारे बैठ गए। नंबरदार प्रश्नाकुल दृष्टि से वैद्य की तरफ़ देखने लगा। उसके प्रश्नों का उत्तर देने की भूमिका-सी बाँधते हुए वैद्य ने कहा, "चालीस साल से ढोरों का इलाज करता आ रहा हूँ भैया, ऐसी विचित्र बात मैंने कभी नहीं देखी। तीन गायों का एक साथ मरे बछड़े देना कभी नहीं देखा। तीनों गायों के गर्भ बिगड़ गए हैं। बिगड़ कैसे गए, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है। यह भी सोचा कि किसी ज़हरीले कीड़े ने शायद काट लिया हो। लेकिन लगता नहीं कि ऐसा हुआ होगा। फिर सोचा कि शायद कोई ज़हरीली घास या पत्ते खा लिए हों, लेकिन ऐसी चीज़ें हमारी ज़मीनों में कहीं है ही नहीं। गर्भ बिगाड़ने वाली घास या पेड़ इधर आस-पास कहीं नहीं है फिर..." कहते-कहते वह रुका।

"तब क्या किसी ने इनको कोई ज़हर खिला दिया होगा?" नंबरदार ने सवाल किया। उसके स्वर में उद्विग्नता थी।

उस सवाल को अहमियत देते
वैद्य ने कहा, "यही बात तो मैं कहने
रहा था। एक साथ तीन गायों ने मरे बछड़े
दिए हैं, इसे देखकर लगता है कि किसी
उनको ज़हर ज़रूर खिला दिया होगा।"

"किसने किया होगा यह काम?"

"अब इसी को लेकर तो सोचना है!"

(28)

नंबरदार अपनी हवेली की तीसरी मंज़िल आराम कुर्सी में पसरकर बैठा है। वह खिड़की में से दूर से दिखाई पड़ रही पहाड़ियों को देख हुआ सोच रहा है।

गायों को किसने ज़हर खिला दिया होगा नंबरदार के शरीर का प्रत्येक अणु इस प्रश्न उत्तर माँग रहा है। उत्तर न मिलने से उस एक-एक अणु तपकर खौल रहा है।

नंबरदार के पास बैलों, गायों और बछड़ों अलावा एक-एक रेवड़ भेड़ और बकरियाँ हैं। हर साल हज़ारों की आमदनी करवाने वा आम और नारियल के बग़ीचे हैं। सैकड़ों एक खेतीवाली ज़मीनें हैं।

फिर भी तीन बछड़ों की मौत उसके मन को बुरी तरह मथने लगी है।

दस साल पहले उसके पास एक पालतू कुत्ता होता था। रात-दिन वह उसके साथ ही रहता था। नंबरदार सवेरे नित्यकर्म के लिए जाता, खेतों-बग़ीचों का मुआयना करने जाता, तो वह उसके पीछे-पीछे ही रहता। नंबरदार कचहरी अपना काम करता रहता तो वह उसकी मेज़ नीचे लेटा रहता। नंबरदार पैदल या घोड़े आस-पड़ोस के गाँवों में जाता, तब भी वह उसके पीछे-पीछे चल पड़ता। नंबरदार रात सोता तो वह उसकी चारपाई के नीचे सिकुड़कर लेटा रहता। पास में कहीं चींटी की भी आहट होती तो पट से वह उठ पड़ता और जाकर देख आता।

एक दिन कुत्ता मुँह से लार टपकाता, बुरी तरह पेट उछालता, और ज़ोर से पैर फेंकता चारपाई के नीचे दिखाई पड़ा। नंबरदार ने फ़ौरन पशुवैद्य को बुलवा भेजा। वैद्य ने जो कुछ संभव था, वह सब किया। लेकिन कुत्ते के प्राण बचा नहीं सका। उसने इतना निश्चय करके बता दिया कि कुत्ते को ज़हर खिला दिया गया है। लेकिन उस समय रोग निर्धारण पर या कुत्ते की मौत पर नंबरदार ने विशेष ध्यान नहीं दिया था।

कुत्ते के मरने के बाद आठवें दिन नंबरदार के जीवन में एक अत्यंत भयानक घटना घटी। आधी रात के वक़्त वह गहरी नींद सो रहा था कि नक़ाबपोश एक आदमी ने उसकी हत्या करने की कोशिश की। उसका पहला वार चूक जाने से तकिया और चारपाई की पाटी ही उससे चिर गई थी। इतने में जगकर नंबरदार ने आँखें खोलीं। काला-नक़ाब पहना हुआ एक आदमी चारपाई की बग़ल में खड़ा था। दूसरा वार करने के लिए उसने कटारी ऊपर उठाई! नंबरदार ने कसकर कटारी पकड़ ली और बाएँ हाथ से आक्रमणकर्ता के चेहरे से नक़ाब खींचकर अलग करने का प्रयत्न किया। कटारी का फल तेज़ होने से नंबरदार की हथेली कट गई और ख़ून बहने लगा। फिर भी उसने कटारी पर कसी अपनी मुट्ठी ढीली नहीं की। हत्यारे के साथ संघर्ष करते हुए उसने बाएँ हाथ से हत्यारे के चेहरे से नक़ाब खींचकर अलग कर दिया। परंतु दोनों आँखें ख़ून की परतों से ढके होने से उसे कुछ दिखाई नहीं दिया। मौक़ा पाकर हत्यारे ने कटारी वहीं छोड़ दी और दीवार फाँदकर अँधेरे में ग़ायब हो गया।

हत्यारे की कटारी को पूरी ताक़त से कसकर पकड़ने से नंबरदार के दाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यमा दोनों कट गईं। इन घावों को भरने में कई महीने लग गए। उँगलियाँ कट जाने से उसका हाथ विकलांग हो गया।

नक़ाब पहनकर आया हुआ आदमी कौन था, इसका पता लगाने के लिए नंबरदार द्वारा की गई सारी कोशिशें बेकार साबित हुईं। आज भी वह एक रहस्य ही बना हुआ है। लेकिन कुछ दिन बाद उसने इतना समझ लिया कि उस घटना से आठ दिन पहले उसके कुत्ते को जो ज़हर खिलाया गया था, वह उसकी हत्या के प्रयत्न क़ी पूर्व सूचना अवश्य थी। कुत्ते की मौत के मामले में वह उदासीन बना रहा, इसको लेकर वह बार-बार अपने आपको कोसता रहा।

दस बरस बाद आज उसकी गायों पर विष प्रयोग हुआ है। यह किस बात की पूर्व सूचना है?

नंबरदार आरामकुर्सी से उठा। वह कमरे में देर तक चहलक़दमी करता रहा। फिर खिड़की के पास खड़े होकर उसने बाहर की तरफ़ देखा। तीसरी मंज़िल पर से देखने पर लगा जैसे चाँदनी में सारा गाँव सोया पड़ा है। निर्मेघ आकाश में चंद्रमा प्रकाश बिखेर रहा था। उसे लगने लगा, जैसे चाँद चाँदनी का नहीं, रक्त का उत्पादन करके पृथ्वी पर छिड़क रहा है। उसने अपने अपंग हाथ की ओर एक बार देखा। उसे लगा, कटी हुई उँगलियों से ख़ून टप-टप गिर रहा है।

गायों को जिसने भी ज़हर खिला दिया हो, उसका पता लगने तक मैं विश्राम नहीं करूँगा। तब तक मेरे मन को शांति नहीं मिलेगी, उसने सोचा।

(29)

अगले दिन ही नंबरदार ने कचहरी के सारे काम पटवारी को सौंप दिए। पारिवारिक मामले और खेती की ज़िम्मेदारियाँ बेटे को सौंप दीं।

गायों के मरे हुए बछड़े देनेवाली बात हुई कैसे? इसे किस घटना की पूर्व सूचना के रूप में माना जाना चाहिए? इन प्रश्नों का जब तक

सही-सही उत्तर नहीं मिलेगा, तब तक किसी दूसरी बात पर मन को केंद्रित न करने का उसने निश्चय किया।

नंबरदार ने अपने गाँव तथा आस-पड़ोस के गाँवों में रहनेवाले संबंधियों और हितैषियों को बुलवा भेजा। उनसे मंत्रणा की और उनकी राय चाही।

संदिग्ध व्यक्तियों को पकड़कर उनकी धुनाई की जाए, तो सच्चाई बाहर निकल आएगी, यह सलाह कुछ लोगों ने दी, तो कुछ दूसरे लोगों ने पुलिस में शिकायत दर्ज़ कराने की बात सुझाई।

बाटा गंगम्मा की विशेष पूजा कराएँ, तो वह देवी पुजारी पर आकर सच-सच बताएगी, यह कुछ दूसरे लोगों का अभिमत था।

कुछ और लोगों ने कहा कि पास की एक़ पहाड़ी गुफा में एक सिद्ध पुरुष रहता है और जब नाख़ून पर काजल लगाकर देखता है तो फिर दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, सब बता देता है।

कल्लूरु में भविष्य बताने वाली एक बंजारिन रहती है और वह अपने मंत्रदंड के सहारे हर शंका का समाधान कर सकती है, इस बात की कुछ लोगों ने याद दिलाई।

कुछ और लोगों ने सुझाया कि मद्रास में पार्थसारथी के मंदिर में रहनेवाला एक पुजारी सभी शास्त्रों में निष्णात है और उसके शास्त्रों से परे कोई भी चीज़ नहीं है।

नंबरदार ने सबकी सलाह और अभिमत सुने। दस साल पहले कटी उसके हाथ की उँगलियों से टप-टप गिरता ख़ून उसकी आँखों के साम ने तैर रहा था, तो उसने मिले हुए सभी सुझावों को कार्यरूप देना शुरू कर दिया।

गाँव के कुछ संदिग्ध व्यक्ति हवेली में खींच लाए गए। फिर इमली के दर्जनों बेंत उनके शरीर पर टुकड़े-टुकड़े हो गए। पुलिस थानों में एक-के-पीछे एक अनेक शिकायतें पहुँचीं।

बाटा गंगम्मा की विशेष पूजा बड़ी धूमधाम से हुई। घोड़ागाड़ी पहाड़ी गुफा की ओर, कल्लूरु के जंगल और मद्रास शहर की ओर निरंतर दौड़ती रही।

इमली के बेंत की चोटें खाए हुए लोगों द्वारा, पुजारी पर आई देवी गंगम्मा द्वारा दिए गए संकेतों द्वारा, पहाड़ी गुफा के सिद्ध पुरुष के प्रवचनों द्वारा, विशेष सिद्धि प्राप्त बंजारिन की भविष्यवाणी द्वारा, पार्थसारथी के मंदिर के पुजारी के शास्त्र-ज्ञान द्वारा उद्घाटित रहस्यों और पुलिस से प्राप्त सूचनाओं द्वारा नंबरदार के प्रश्नों के उत्तर मिल गए। परंतु वे उत्तर सपने में झलक पड़ने वाले दृश्यों की तरह अस्पष्ट और असंबद्ध थे।

शिशिर और वसंत के बाद ग्रीष्म ऋतु का पदार्पण हुआ। घोड़ागाड़ी के पहियों में लगे रबड़ टायर पूरी तरह घिस गए। घोड़े के खुरों में चार-चार बार नए सिरे से नाल ठुकवाए गए। इन छह महीनों में नंबरदार कभी-कभार ही घर पर मिलता है। उसका अधिकतर समय यात्राओं में ही बीतता है। उसके चेहरे पर बुढ़ापे के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। चेहरे की सलवटें दुगुनी हो गई हैं। कमर और घुटने उम्र के हिसाब से कुछ अधिक ही झुक गए हैं। परंतु उसके हृदय में प्रश्न निरंतर प्रज्ज्वलित हैं।

जेठ का महीना आते-आते नंबरदार के प्रश्नों के उत्तर के रूप में, उसकी निरंतर खोज के परिणाम के रूप में एक सिद्धांत ने रूप धारण किया। मोटे तौर पर उस सिद्धांत का स्वरूप इस प्रकार था :

''मूसलाधार वर्षा ऐसे हो रही है, जैसे घोर रूप धरे आकाश के सारे बादल एक ही साथ पिघलने जा रहे हों। तेज़ हवा लगातार ऐसे बह रही है जैसे वह पर्वतों को उखाड़ देने के लिए कृतसंकल्प हो। पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र बिजली की गड़गड़ाहट गूँज रही है। आकाश

को खंड-खंड चीरती हुई बिजली चमक रही है।

पंचभूतों ने जिस बीभत्स दृश्य की सृष्टि की थी, उसकी परवाह न करते हुए एक हल आगे बढ़ रहा है। हल के पीछे-पीछे साठ वर्ष का एक मनुष्य चलता जा रहा है। वह बाएँ हाथ में हल की मूँठ और दाएँ हाथ में पैना पकड़े हुए है। कमर की काछनी को छोड़कर उसका पूरा शरीर अनाच्छादित है।

बैल दोनों मुँह के किनारों से झाग उगल रहे हैं। वह मनुष्य कीचड़ में धँसते पैरों को बहुत प्रयत्न से ऊपर खींचता हुआ हल के पीछे-पीछे चलता जा रहा है। थकान से उसकी कमर और घुटने झुकते जा रहे हैं। शरीर का सारा भार वह हल के ऊपर डाल रहा है। पैने को थामा हुआ उसका हाथ आधा ही उठने के बाद काँपकर गिर रहा है। विवशता ने उसे आ घेरा है। ऐसे में उसने अपनी समस्त शक्तियाँ बटोरीं और पगहियाँ खींचकर हल को रोक दिया। बुरी तरह हाँफता हुआ वह हल के पीछे कीचड़ में घुटनों पर बैठ गया।

प्रकृति का उग्र रूप उग्रतर होता जा रहा है। उसकी समझ में आ गया कि उसकी अंतिम घड़ी आने को है। झुकती पलकें ऊपर उठाकर बिजली के प्रकाश में उसने अपनी ज़मीन पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक नज़र डाली। उसकी आँखों में आँसुओं के भँवर उठने लगे। आँसू बारिश के पानी में मिलकर गालों पर फिसलने लगे।

तभी पंचभूत उसके निकट आ पहुँचे। उसे अंक में भरकर बोले, 'अब कुछ क्षणों में हमारे भीतर लीन होने जा रहे हे मानव! चिंता मत करो। तुमने अपने पिता को वचन दिया था कि पलक आँख की और नाख़ून उँगली की जिस तरह रक्षा करते हैं, उसी तरह तुम इस ज़मीन की रक्षा करोगे। उसके हम साक्षी हैं। साठ बरस तक इस ज़मीन का एक-एक कण तुम्हारे पसीने से भीगता रहा है। तुम्हारा रक्त, मांस और हड्डियाँ इसी भूमि में नष्ट हो गई हैं। तुम्हारी बाल्य, यौवन आदि सभी अवस्थाएँ इसी भूमि में विलीन हो गई हैं। इसके भी हम साक्षी हैं। इतने बरस जो तुमने इतना कठोर श्रम किया उसके बदले जो तुम्हें मिला, वह लाज ढकने के लिए एक चिथड़ा, पेट भरने के लिए कुछ दाने, बस! ये चीज़ें भी तुम्हें काकतालीय न्याय से ही मिली थीं; न कि उन्हें पाने के लिए ही तुमने परिश्रम किया था। अपने कृषक जन्म को सार्थक कर लेने के लिए, अपने वृत्ति-धर्म का निर्वाह करने के लिए ही तुमने ऐसा श्रम किया था। ऐसा श्रम करके तुम कर्मवीर बन गए हो। हे कर्मवीर! इतने बरस तक तुम्हारा हल जिस भूमि में चलता रहा है, उस भूमि में आज से किसी दूसरे का हल नहीं चल सकेगा। इतने बरस जिस भूमि में तुमने खेती की है, उस भूमि में कोई दूसरा खेती नहीं कर सकेगा। इसके लिए ज़रूरी बंदोबस्त हम करने जा रहे हैं। आज से जो भी लोग इस भूमि में उगी फ़सल खाएँगे, उनकी घोर हानि होगी और उनका वंश नहीं बढ़ेगा। आज से इस भूमि पर उगी घास जो भी पशु खाएँगे उनके थन सूख जाएँगे, उनके गर्भस्राव होंगे, वे बाँझ हो जाएँगे। हे कर्मवीर! हमने यह जो पाबंदी लगाई है वह तब तक अमल में रहेगी जब तक सूरज और चंद्रमा आकाश में घूमते रहेंगे। यह भूमि सदा तुम्हारी ही रहेगी। हे कर्मवीर! हम पंचभूत तुम्हें निमंत्रण दे रहे हैं। तुमको हम अपने में विलीन कर लेंगे।

तभी घुटनों के बल बैठा वह मनुष्य एक तरफ़ को झुककर हल के कूँड़ में लुढ़क गया। कीचड़ भरे पानी ने उसके आधे शरीर को ढाँप दिया।"

नंबरदार, उसके संबंधी, हितैषी, और ग्रामवासी, सबको पिछले छह महीनों से जो प्रश्न

व्यथित कर रहे थे, उनका उत्तर मिल गया। यह सिद्धांत कहाँ से उत्पन्न हुआ? किसने इसका प्रचार किया? किसने इसको बढ़ाया? किस रूप में इसका प्रारंभ हुआ? कितनी बार यह रूपांतरित हुआ? कोई नहीं जानता।

चेतनारहित अंडा जिस प्रकार सचेतन हो उठता है, सचेतन अंडे से विकृत आकार वाला कीड़ा जिस प्रकार फूट निकलता है, जिस तरह एक कीड़ा सुंदर तितली में बदल जाता है, उसी प्रकार यह सिद्धांत विकसित हुआ।

वर्षा का पानी धाराओं का, धाराएँ नालों का, नाले झरनों का और झरने नदियों का जिस तरह रूप धारण करते हैं, उसी तरह यह सिद्धांत रूपायित हुआ।

किसने और कहाँ इस सिद्धांत को जन्म दिया था, कहाँ, किस प्रकार यह विकसित हुआ था, इसका पता किसी को न होने पर भी यह सिद्धांत सबके मन में गहराई से अंकित हो गया।

नंबरदार ने अपनी खोज बंद कर दी। एक दिन सवेरे वह अपने सभी नौकरों को रास्ते वाले चकों के पास ले गया। सारे नौकर फावड़े, कुदाल और खंतियाँ कंधे पर लेकर आ गए। रास्ते वाले चकों के चारों ओर एक गहरा गड्ढा खोद दिया गया। दो आदमियों की लंबाई वाले सैकड़ों पत्थर चकों को घेरकर गाड़ दिए गए। मनुष्य या पैरों से चलनेवाला कोई भी प्राणी अंदर घुस न सके, इसकी व्यवस्था करने के लिए पत्थर आपस में ख़ूब सटाकर गाड़ दिए गए। नंबरदार ने स्वयं अपने पर्यवेक्षण में यह अनुष्ठान पूरा करवाया। जब यह काम पूरा हो गया तब उस चौदह एकड़ ज़मीन ने बिना छत की एक विशाल समाधि का रूप ग्रहण कर लिया।

नंबरदार ने अपना कर्तव्य पूरा करके संतोष की साँस ली। फिर बछड़ों की बात भुलाकर यथापूर्व वह कचहरी और खेती के अपने कामों में लीन हो गया। तीन दशाब्द बीत गए। रास पूर्णिमा तीस बार आई और चली गई।

चौदह एकड़ में फैले रास्ते वाले चकों ने एक छोटे-से जंगल का रूप धारण कर लिया। उस जंगल का नाम 'बक्कि रेड्डी का जंगल' प्रचार में आ गया। चारों तरफ़ दो आदमियों की ऊँचाई वाले पत्थर गड़े हुए होने से पिछले तीस सालों में उस वीराने में आदमियों के पैर या पशुओं के खुर नहीं पड़े थे। जंगल के पेड़ों ने पिछले तीस सालों में कुल्हाड़ी या आरी का वार जाना ही नहीं था। अनेक प्रकार के पेड़ और लताएँ निर्बाध बढ़कर प्रबल हो गई थीं। बागि, बबूल, कानुगा और तंगेडु के पेड़ एक-दूसरे से होड़ लगाकर बढ़ते हुए आकाश को छूने का प्रयत्न कर रहे थे। उन पेड़ों की डालें इतनी घनी होकर बढ़ गईं कि सूरज की धूप या चंद्रमा की चाँदनी ज़मीन पर दो फ़ुट से अधिक फैलाव में पड़ नहीं सकती थी।

जहाँ तक आँख जाती थी वहाँ तक फैले धान, गन्ना और मूँगफली के खेतों के बीच 'बक्कि रेड्डी का जंगल' बौनों के बीच भीमकाय की तरह खड़ा था। आज भी वह उसी तरह खड़ा है।

उपसंहार

1

ग्रामवासी विश्वास करते हैं कि कई हज़ार वर्ष पूर्व राम और रावण के बीच युद्ध हुआ था। युद्ध में लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए थे। हनुमान संजीवन पर्वत उठा लाए थे। थकान मिटाने के लिए इस गाँव के दक्षिण में दिखाई पड़नेवाले गोल पत्थर पर क्षणभर के लिए उन्होंने पैर टिका लिया था और उनके पैर के स्पर्श से वह गोल पत्थर पवित्र हो गया है। यह स्थलपुराण ग्रामवासियों को किसी ने नहीं सुनाया था। यह उन लोगों की घुट्टी में पड़ता है। इसकी संभावना और असंभावना को

लेकर सवाल उठाने वाले लोग भी हैं और इस गाथा को प्रश्नों और शंकाओं से परे एक दिव्य घटना मानकर पूरी श्रद्धा और भक्ति से उस पर विश्वास करने वाले लोग भी हैं। कोई चाहे विश्वास करे या न करे, 'हनुमान पत्थर' ने सांस्कृतिक और प्राकृतिक दृष्टि से हमारे गाँव में एक शाश्वत स्थान प्राप्त कर लिया है। पुजारी हर रोज़ उस गोल पत्थर की पूजा करता है। ग्रामवासी मिलकर साल में एक बार बजरंग बली का अभिषेक कराते हैं।

2

गाँव के लोग यह विश्वास करते हैं कि कई शताब्दियों पूर्व इस प्रांत के एक नायक ने इस गाँव के उत्तर में एक तालाब खुदवाया था। तालाब के कगार में हर साल रहस्यमय ढंग से दरार पड़ जाती थी, देवी बाटा गंगम्मा ने सुझाया था कि किसी कुँआरी लड़की को जीते जी उस दरार में भर दो तो कगार टिक जाएगा। जागीरदार की सबसे छोटी बेटी चिन्नम्मा ने स्वेच्छा से दरार में बैठकर सजीव समाधि ली थी और उस दिन के बाद तालाब के कगार में एक बार भी दरार नहीं पड़ी। ग्रामवासियों ने यह स्थलपुराण अपने दादा-परदादाओं से पाया है। इस गाथा की संभावना और असंभावना को लेकर सवाल उठाने वाले लोग भी हैं और इस गाथा को प्रश्नों और शंकाओं से परे एक दिव्य घटना मानकर पूरी श्रद्धा और भक्ति से उस पर विश्वास करने वाले लोग भी हैं। कोई चाहे विश्वास करे या न करे, 'चिन्नम्मा का देवरा' ने सांस्कृतिक और प्राकृतिक दृष्टि से हमारे गाँव में एक शाश्वत स्थान प्राप्त कर लिया है। हर शुक्रवार को चिन्नम्मा की पूजा होती है। साल में एक बार चिन्नम्मा का पर्वोत्सव मनाया जाता है।

ग्रामवासी विश्वास करते हैं कि कई दशाब्द पूर्व हमारे गाँव में बक्कि रेड्डी नाम का साठ साल का एक किसान अपनी चौदह एकड़ ज़मीन में खेती करके जीवनयापन करता था। उसकी ज़मीन क़ुर्क़ी में निकल गई थी। उसी ज़मीन को जोतते-जोतते उसकी मृत्यु हो गई थी। साठ साल के श्रम के बाद भी लाज बचाने के लिए एक चिथड़ा और पेट भरने के लिए चार दाने तक ठीक से जिस ज़मीन ने नहीं दिए थे, उस ज़मीन के प्रति और अपने पेशे के प्रति उसने जो ममत्व बढ़ा लिया था, उसे देखकर पंचभूतों ने एक कर्मवीर के रूप में उसे मान्यता दी थी। वह ज़मीन किसी दूसरे आदमी के हाथ में न आए, ऐसा शाप दिया था। वही ज़मीन क्रमशः एक छोटे-से जंगल में बदलकर अब 'बक्कि रेड्डी का जंगल' के नाम से जानी जाती है। ख़ुद अपनी आँखों से देखकर कुछ ग्रामवासियों ने इस घटना को याद रखा है, तो कुछ दूसरे लोग अपने माता-पिता के मुँह से सुनकर इसे जान गए हैं। इसकी संभावना और असंभावना को लेकर सवाल उठाने वाले लोग भी हैं, और इस गाथा को प्रश्नों और शंकाओं से परे एक दिव्य घटना मानकर पूरी श्रद्धा और भक्ति से उस पर विश्वास करने वाले लोग भी हैं। कोई चाहे विश्वास करे या न करे, 'बक्कि रेड्डी का जंगल' ने सांस्कृतिक और प्राकृतिक दृष्टि से हमारे गाँव में एक शाश्वत स्थान प्राप्त कर लिया है। पश्चिम दिशा से गाँव में प्रवेश करने वाला हर आदमी उस जंगल के निकट पहुँचते ही अनायास ही अपने सिर से पगड़ी हटा देता है। अनायास ही उसका सिर झुक जाता है।

हर्षद त्रिवेदी

नियति

सब कहते हैं मैं बेहोश हूँ, पिछले छह महीने से। डॉक्टरों की तदबीर काम नहीं कर रही है, और मिलने आने वालों की मेरे पलंग के चारों ओर गिद्धों की तरह जमा होती रहती है। एक बाद एक आते, पंख फैलाते, लंबी गर्दन ऊँची करते, कर्कश आ करते, फिर दूर जैसे कुछ देख लिया हो, उस तरह प्रफुल्लि जाते। मेरे पास आने के लिए आपस में आपाधापी करते। स देने की स्पर्धा...कोई कहता इसके तो नाख़ून में भी रोग न था, बेचारा कितना लाचार हो गया है। आधुनिकतम दवाओं से तं तंत्र-मंत्र, ताबीज़, मनौती तक के चोंचले...। विशाखा स ध्यान से सुनती। सलाह देने वाले, जाने के बाद सब भूल ज अभी-अभी किसी ने मुझे मीरांदातार ले जाने की बात कही। ले जाना संभव न हो तो विशाखा अकेली भी जाकर आ सक अब शायद इन सब बातों में विशाखा को श्रद्धा हो भी, लेकिन थोड़ी देर के लिए भी मुझे किसी के भरोसे छोड़कर नहीं सकती।

देखते-देखते छह माह बीत गए। कैलेंडर थम गया है। मि आने वालों में कुछ लोग ज़्यादा ही संवेदनशील हैं। वे मुझ पर दिखाने की बजाय विशाखा पर अधिक दया दर्शाते हैं। सब सामने ही कहते हैं, ''विशाखा तुम अपना ध्यान रखना तो भूल गई हो! देखो तो कैसी हो गई है! उसकी बीमारी का तो इलाज ही नहीं है। जब डॉक्टरों ने ही हाथ धो लिए तो हम कर सकते हैं? तुम दिन-रात यहाँ पड़ी रहोगी तो वह होश में नहीं आ जाएगा? तुम्हें भी तो अपनी ज़िंदगी जीनी है या नहीं कुछ नहीं तो दो-चार दिन के लिए घर चली जाओ! घर न कैसी दशा में होगा? घर नहीं तो पापा के यहाँ...थोड़ा मन हल्का हो जाएगा।'' बाहर निकलते-निकलते प्रार्थना भी करते जाते ''बेचारे को भगवान...'' पर यह कोई धागा तो नहीं है जो दिया जाए। पिछले एक महीने से आने-जाने वालों की भीड़ हुई है। आने वाले एक बार आएँगे, दो बार आएँगे, फिर...?

विशाखा कब से बैठी-बैठी मैगज़ीन के पन्ने पलट रही है। कभी खिड़की से बाहर देखती रहती। अचानक एक पक्षी ने ती सीटी-सी बजाई। विशाखा चौंककर खड़ी हो गई। उसने खि

गुजराती कवि, कथाकार हर्षद त्रिवेदी का जन्म 1958 में हुआ। कविता, कहानी, बाल-कहानी तथा संपादित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : गुजरात साहित्य अकादमी, पुराना विधानसभा भवन, सेक्टर-17, गांधी नगर 382017
फ़ोन : 079-23256797/98

अनु. मीनाक्षी जोशी की कविताएँ तथा हिंदी-गुजराती के परस्पर अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी, नागपुर तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत हुई हैं। संपर्क : 'मधुरा', रामायण नगरी, रवात रोड, भंडारा 441904, मो. 9890987644

से बाहर देखा। बाहर अशोक का वृक्ष झूम रहा था—हवा से इधर-उधर। क्षण भर के लिए उसकी आँखें पक्षी को देखना भूलकर अशोक में खो गई। मैं उसे कहने के लिए व्याकुल हो उठता हूँ, ''अरे, यह तो वही पक्षी... भूल गई? उस दिन शाम को मैंने तुम्हें बताया था...'' पर अपने होंठों पर मेरा वश नहीं है। मुझे लगा था कि विशाखा अभी पूछ बैठेगी, ''हे, यह किसकी आवाज़ है?'' पर ऐसी ग़लती करने की स्थिति से वह कब की उबर चुकी थी। उसे पूरा विश्वास था कि जवाब नहीं मिलेगा। मेरे पलंग की बाजू में टेबल पर रखे थरमस पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। ''विशाखा, सुन रही हो? देखो न, यह कितना गंदा लग रहा है!'' विशाखा कैसे सुनती! शुरू के एक महीने की बात अलग थी। अब तो उसे भी याद नहीं होगा कि मुझे क्या पसंद है क्या नहीं!

अभी नर्स आकर पूछ गई, ''जूस दे दिया?'' विशाखा ने शिथिल पैरों से खड़े होकर जम्हाई ली एक अँगड़ाई के साथ। मुझे इच्छा हुई कि मेरे सिर पर हाथ फेर दे तो अच्छा, पर वह तो सीधी पहुँची टेबल के पास। उसकी नज़र थरमस पर पड़ी। लड़खड़ाती चाल से वॉश बेसिन की ओर मुड़ी। कँपा देनेवाली नल की तेज़ आवाज़। उसने नल धीमा किया। थरमस धोया। नल खुला छोड़कर ही वह खिड़की के पास आई। थोड़ा-सा वॉशिंग पाउडर लेकर वापस गई नल के पास। फ़र्श पर कितनी सारी बूँदें यहाँ-वहाँ बिखरी। लगता है यह विशाखा है ही नहीं। मैं उसे टोकूँगा, अब तो वह डर भी नहीं रहा होगा। थरमस साफ़ कर उलटा रख दिया टेबल पर। हज़ार बार समझाया है कि इस तरह उलटा नहीं रखते, थोड़ा-सा तिरछा दीवार से टिकाकर रखना चाहिए नहीं तो वैक्यूम होता है और अंदर का काँच तड़ाक से टूटकर चूरा हो जाता है। वैक्यूम तो मेरे अंदर भी हो गया है, पर...!

बगल वाले कमरे में फ्रिज है। विशाखा फ्रिज में रखा जूस निकालकर ले आई। बिलकुल ठंडा देने के लिए डॉक्टर ने मना किया है, इसलिए थोड़ी देर टेबल पर ही रखेगी। किंतु मेरा सोचना नितांत ग़लत था। उसने तो यह उठाई सिरिंज। धीरे-धीरे पिचकारी जैसा बड़ा इंजेक्शन भरकर, मेरी नाक में लगी नली के द्वारा मेरे शरीर में धीरे-धीरे...हूँ...अब कुछ राहत मिली। मैं जूस के स्वाद की कल्पना करता हूँ पर गले में कफ़ भर गया है। जूस कभी खारा-खारा तो नहीं होता। आजकल मेरी बीमारी ने विशाखा को बिलकुल मूढ़ बना दिया है। संभव है कि पीसी हुई शक्कर के बदले नमक या फिटकरी डाल दी हो। पर डॉक्टर ने कहाँ मुझे मना किया है मीठे के लिए जो फ़िक्र की जाए। इंजेक्शन पर प्रेशर देने के कारण विशाखा का अँगूठा रक्तिम हो गया है। कुछ बोरियत के साथ उसने सिरिंज ठिकाने पर रखते हुए मेरी ओर देखा। मालूम नहीं अचानक क्या हुआ, वह आकर मेरे सिरहाने बैठ गई और धीरे-धीरे मेरे बालों की लटों को अलग-अलग करते हुए गोल घुमाने लगी। मैं कंधों पर उसकी जाँघ का स्पर्श महसूस करता हूँ। उसकी उँगलियाँ मेरे बालों में जिस प्रकार घूम रही हैं...पिछले छह-सात महीनों में ऐसा कभी नहीं हुआ। विशाखा तुम्हारी इच्छाएँ मेरे मन तक पहुँच रही हैं, पर लाचार हूँ, क्या करूँ? हालाँकि वह भी यह जानती है। कहता हूँ—छोड़ दो मुझे, विशाखा! इस अस्पताल के भरोसे और चली जाओ घर...कब तक घड़ी के पेंडुलम की तरह...मन हुआ उसे बाँहों में भींच लूँ, पर अभी तो वह ख़ुद अपनी इच्छाओं को मारने में लगी है, तब मेरी इच्छाएँ उस तक कैसे पहुँच सकती हैं?

विशाखा खड़ी हो गई। शायद उसे ठंड लगी होगी, पंखा धीमा किया। मुझे चादर ओढ़ा दी। मुँह खुला रखा, उसे इतना तो याद है कि मैं कभी मुँह ढाँपकर नहीं सोता, किंतु आज नहीं तो कल उसे ही मुझे चादर ओढ़ानी पड़ेगी, मुँह ढाँपकर...! हाँ, उसे ही।...अभी कल ही तो डॉक्टर

कह रहे थे, "अपने शरीर पर कंट्रोल नहीं है, पर चेतना जागृत है। जब तक दवाओं का असर होता रहेगा तब तक कोई कॉम्प्लीकेशंस नहीं होंगे। हमारा प्रयास यही है कि...ब्रेन जल्दी से जल्दी..." कहते हुए उसने मेरे पैर के तलुए पर पेन दबाया। मेरा पैर काँपा पर मैं पैर खींच न सका। डॉक्टर ने होंठ दबाए।

विशाखा मुझे एकटक देख रही थी। शायद पहली बार उसकी आँखों में दया के स्थान पर भविष्य की चिंता दिखाई दी। वक़्त की बात है, मुझे कुछ हो गया तो भी उसे आर्थिक रूप से कोई तकलीफ़ न होगी। ख़ुद का घर है, भले ही बीमा कंपनी के क़र्ज़ पर। मेरी मृत्यु के साथ ही क़िस्त बंद। मकान पूर्ण रूप से उसका। इसके बाद भी कम-से-कम दो-ढाई लाख तो उसे मिलेंगे ही और हाँ... ग्रैच्यूटी फ़ंड के कम से कम गिनो तो भी डेढ़ लाख तो होंगे ही, साथ में हर माह दो-एक हज़ार पेंशन। कोई दिक़्क़त नहीं होगी। वैसे तो इन छह महीनों में ही उसकी कमर टूट जाती, पर हॉस्पिटल और दवा का पूरा ख़र्च सरकार दे रही है। बिल पास होने में देर-सवेर होती है, फिर भी 'कल क्या करेंगे?' ऐसी स्थिति तो नहीं आई।

अब लग रहा है कि विशाखा ने यदि पाँच वर्ष तक 'एंजॉय' करने की ज़िद न की होती तो आज में एक बच्चा भी होता। कितना अच्छा होता उसके सहारे वह जी लेती। लेकिन...लेकिन क्या...एक तरह से अच्छा ही है कि संतान नहीं है वरना इस तरह दिन-रात वह मेरे पास कैसे रहती? बच्चे को स्कूल भेजने से लेकर हज़ार चिंताएँ...पर मैं अभी कहाँ मर गया हूँ जो इतना अधिक सोच रहा हूँ! दुनिया में कुछ भी असंभव नहीं। क्या पता, कल शायद किसी दवा का असर हो जाए...पर नहीं...डॉक्टर कहते हैं ऐसी कोई संभावना नहीं लगती। पेशेंट पाँच-दस साल तक भी इस तरह बेहोश रह सकते हैं...। और कुछ न हो तो मौत नहीं होती। बाक़ी तो डॉक्टर ही सच्चे हैं कि "कुछ नहीं होता!"

तो क्या यही मेरी नियति है? 'विशाखा, अभी तो केवल पैंतीस वर्ष उम्र है तुम्हारी...अपना भविष्य बर्बाद मत करो। कोई अच्छा आदमी देखकर...मुझे छोड़ दो अपनी नियति पर!' इतना कहने लायक़ होश में आ जाऊँ तो भी बहुत है। एक बार मैं बिलकुल ... जा...
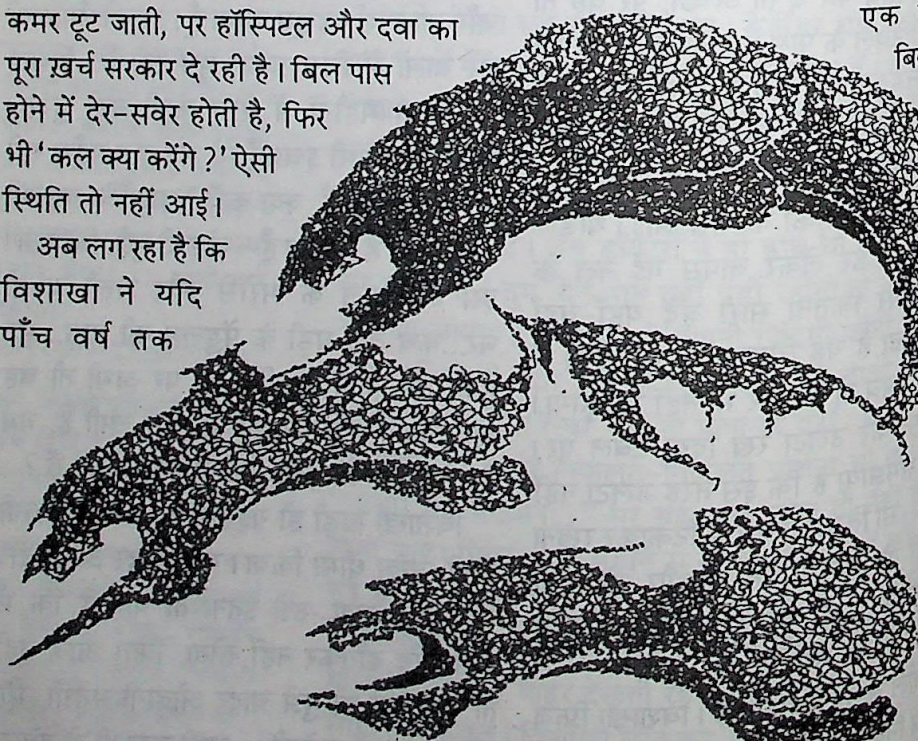
उसके कान में कहा था, "विशाखा, तुम्हारे बिना एक साँस भी..." कहीं वह इसी बात को याद रखकर तो नहीं जी रही होगी? दो साल पहले मैं सरकारी काम से तीन दिन के लिए बाहर गया था, तब वह कैसी बावरी बन गई थी। कहती थी बड़ी मुश्किल से निकले यह तीन दिन। उस रात बरसते पानी के साथ हम भी कैसे बरस पड़े थे। यह वही विशाखा है। छह महीनों में उसकी कितनी ही बदल गई है...अभी वह गहरी नींद में सो रही है। कोई सपना तो नहीं देख रही होगी! अचानक चीखकर जाग जाए तो समझना चाहिए कि उसे कोई अच्छा स्वप्न आया होगा! इस ...ने के बाद तो उसे हमेशा ऐसे ही चीख़ते ...ना होगा न? इससे तो अच्छा...क्या अच्छा ...सुन, बेचैनी?

एक क्षण के लिए मैं भूल जाता हूँ कि यह अस्पताल की खिड़की है। ऐसा लगता है मैं अपने घर की खिड़की के पास कुर्सी पर बैठा हूँ। बाहर अशोक के दो वृक्ष लहरा रहे हैं। एक चिड़िया उसमें बार-बार जाती है, फिर थोड़ी देर हवा में मँडराते हुए उड़ जाती है, शायद अशोक में उसका घोंसला है। विशाखा भी इसी तरह ...ती रहती थी। आज खमण तो कल खांडवी। कुछ-न-कुछ नया बनाती रहती। मैं खांडवी नाम बार-बार भूल जाता, तो वह कहती, "इसे हांडवा की बहू कहते है। खांडवी..." मैं खांडवी का एक रोल मुँह में रखकर, विशाखा की गरदन को ...-से सहलाता। आज मेरा हाथ बहरा-गूँगा हो गया है। हाथ क्या, मैं ही पूरा बहरा-गूँगा... ठूँठ वृक्ष में किसी शाखा के फूटने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। फिर भले ही उस डाली के पत्ते-पत्ते पर मृत्यु का संदेश हो। विशाखा भी इस ठूँठ के साथ ठूँठी हो गई है। छह महीने से आनंद क्या है, उसका भी उसे पता नहीं है। अब तो उसे समय का भी ध्यान नहीं रहता। घंटों मेरे पास बैठी रहती है।

अचानक धूप निकल आई है। सीधे मेरे मुँह पर ही पड़ रही है धूप। कहीं विशाखा जाग न जाए। नहीं तो धूप देखते ही खिड़की बंद कर देगी। उसे कौन बताएगा कि मुझे धूप अच्छी लग रही है, खिड़की खुली रहने दो। पर अब उसे कुछ कहने की ज़रूरत ही कहाँ रह गई? धूप को बादल निगल गए। कब से उनका खेल चल रहा है। थोड़ी ही देर में लगता है कि अभी बरसात होगी...और फिर अचानक तपती हुई धूप। मेरे हाथ-पैर खिंच क्यों रहे हैं? सारी नसें तन रही हैं...प्राण छटपटा रहे हैं, शायद उल्टी के साथ जान निकल जाएगी...पर ऐसा अचानक क्यों? हूँ...जूस का टाइम हो गया है। जल्दी कोई मुझे...मैं...लग रहा है मैं पूरा का पूरा उछल रहा हूँ...हाथ-पैर काँप रहे हैं। कह रहा हूँ, 'कोई मुझे...विशाखा कहाँ गई? सोना छोड़ो...जल्दी दो मुझे...मैं लाचार नहीं होता तो कहाँ कभी कुछ माँगता?' मेरे गले की घरघराहट सुनकर एक वार्ड-ब्वॉय दौड़ता आया। मुझ पर नज़र डाली न डाली और फिर दौड़ गया। विशाखा तो बग़ल के कमरे में गई थी, उसे बुलाकर ले आया।

विशाखा शांत मन से आई। वार्ड-ब्वॉय से बोली, "जाओ फ्रिज में जूस रखा है ले आओ।" फिर बड़बड़ाती-सी बोली, 'बाजू के कमरे में एक औरत को भर्ती किया है। इनकी तरह ही पड़ी है, पर वह तो पैरालिटिक है। मैं भी कहाँ उसे देखने चली गई।' वार्ड-ब्वॉय के आने तक फटाफट सिरिंज साफ़ हो गई...सब गले के नीचे तुरंत उतर गया जैसे नदी से बाढ़ का पानी उतर गया हो। थोड़ी देर में डॉक्टर आए। मेरा चेकअप किया फिर विशाखा से बोले, "हर दो घंटे में जूस देना, भूलना मत...मैं दवा भेजता हूँ वह नाक से...।" हाथ से इशारा करते हुए कहा, "अभी सो जाएँगे।" मेरी जीभ में मरोड़-सी उठने लगी। अचानक चीख़कर कहना चाहता हूँ, 'मैं हमेशा के लिए सो जाऊँ, ऐसी कोई दवा दे दो न।'

आज देसाई देखने आए हैं। विशाखा को कुछ पुरानी बातें याद आ गईं। मेरी टेबल के पास ही देसाई की टेबल थी। शादी होते ही मैंने इस्तीफ़ा दे दिया था। देसाई ने कहा था, ''विशाखा बेन भविष्य का तो विचार करो। आजकल किसी को नौकरी मिलती नहीं और आप चालू रोज़ी-रोटी को लात मार रही हैं? दो-चार साल में सारा रुमान पिघल जाएगा। फिर कल किसने देखा है?'' मैं चिढ़ गई थी उसकी बात सुनकर, पर चुप रही। उस समय एक ही धुन सवार थी, मुझ पर अपने पति को जीवन से भर देने की, एक-एक क्षण को उत्सवमय बनाने की। नौकरी करते हुए यह संभव नहीं होता। इनकी पगार भी तो अच्छी है, इसलिए कुछ और सोचने की आवश्यकता नहीं। हालाँकि देसाई की बात सच है, 'कल की किसको ख़बर है?' मान लो, यदि कहीं इन्हें कुछ हो गया तो...नहीं, नहीं, मैं नहीं सहन कर पाऊँगी। फिर सोचा कि ये तो बात करने की स्थिति में भी नहीं हैं तब? इनके होने न होने से क्या फ़र्क़ पड़ता है? इस तरह कब तक अस्पताल में बैठे-बैठे साँसें गिनती रहूँगी! इस समय उनका श्वासोच्छ्वास सुनाई दे रहा है और मैं अपना भाग्य सोच रही हूँ? क्या करूँ?

अभी-अभी जिस औरत को भर्ती किया है। ओह...मुश्किल से वह मेरी उम्र की होगी। बेचारी पैरालिटिक हो गई। दो-तीन दिन बुख़ार था। डॉक्टर ने दवा दी। कहते हैं कि दवा की गड़बड़ के कारण उसे पैरालिटिक हो गया। ये डॉक्टर भी...। मैंने अख़बार में एक घटना पढ़ी थी। एक रोगी को दर्द कम करने के लिए दी जाने वाली दवा से ही उसका रोग और बढ़ गया था। जब मरीज़ की मौत हो गई, तब इन कारणों का पता चला। कहीं इनका केस भी तो...? रीढ़ की हड्डी के पास सुपारी जैसी गाँठ निकली थी। छोटा-सा ऑपरेशन...डॉक्टर कहते, 'चिंता करने लायक़ कुछ नहीं है, यह तो सामान्य बात है...' पर मैं

पूछती हूँ कि इनको होश क्यों नहीं आता?
तो गाँठ ही अच्छी थी। मैंने तो पहले ही
इनकार किया था, किंतु इनको कौन समझ
कहने लगे, ''बाद में गाँठ बढ़ जाएगी तो
परेशानी होगी, इससे पहले...।'' इन्हें शायद
का भी डर था...तो फिर डॉक्टरों ने मुझे
नहीं बताया?

यह औरत तो पूरे होश में है। क्या नहीं
होगी उस पर। देखा जाए तो मैं भी तो पैरालि
हूँ उसकी तरह। छह महीने हो गए, इस अस्प
के बाहर की दुनिया को देखे। एक के बाद
आने वाले लोगों का शोर, तरह-तरह की स
बेचारा...आदि का संबोधन सुनती रहती हूँ
भर। ऐसे में कहाँ ढूँढ़ूँ अपनी ज़िंदगी? देस
शायद ठीक ही कहा था। इस औरत ने कि
सपने देखे होंगे, सब चकनाचूर हो गए।
होता होगा उसकी इच्छाओं का? उसे तो
का साथ ही नहीं, जबकि यहाँ तो शरीर की
ही इच्छा विरुद्ध है! कल उनके बालों से उँग
फेरते हुए रोम-रोम वेदना से भर उठा था।
शांत करूँ यह वेदना? उन्हें दवाएँ और
देकर! कभी दिल में आता है कह दूँ कि
साथ पंद्रह-बीस डोज़ दे दो मुझे या फिर
लेकिन तुरंत अपने आपको सँभालती हूँ।
परिस्थिति में इतनी उत्तेजना...वे तो ख़ुद
भी नहीं सकते।

दिनभर देखती रहती हूँ—उस औरत का
आधा-पौना घंटा उसके पलंग के पास बैठ
और घंटा-डेढ़ घंटा बाहर बरामदे की बेंच
बैठे-बैठे या तो वह पेपर पढ़ता रहता है या
गुनगुनाता रहता है। वह भी मेरी तरह
होगा? दुख तो होता ही है मरीज़ की हालत
पर उसके साथ रहने वाले का दर्द तो...
कोई दवा नहीं खोजी गई होगी? इतने दि
यहाँ हूँ। घूम-फिरकर बरामदे में जाती हूँ,

किसी नर्स के साथ बातचीत में लग जाती हूँ। कैसे भी करके शायद मन कुछ हल्का हो जाए। कल रात तो रमा बेन नर्स ने मुझे अचंभित ही कर दिया। फ़ोन की घंटी कब से बज रही थी। कोई उठाता ही न था। मैं दौड़कर बाहर गई। रमा बेन कहाँ चली गई होगी? मैं बहुत देर तक उसकी टेबल के सामने की बेंच पर बैठी रही। लगा, कहीं से फुसफुसाहट की आवाज़ आ रही है। आवाज़ कहाँ से आ रही है, यह निश्चित नहीं हो रहा था। अचानक नज़र पड़ी और ध्यान गया कि जिस कमरे के दरवाज़े पर शाम तक ताला था, वह इस समय अंदर से बंद था। मैं बैठी ही रही। दस मिनट के बाद दरवाज़ा खुला। कोई पुरुष निकला और सरसराता-सा चला गया। टेबल पर रखे पेपर कब-से फड़फड़ा रहे थे। मैंने उन पर पेपरवेट रख दिया था। कहीं से कुत्ते के भौंकने की आवाज़ आ रही थी। एक क्षण के लिए मैं दहशत से भर गई। तभी दरवाज़े से रमा बेन बाहर निकली। वह आकर कुर्सी पर बैठ गई। मुझे देखकर बोली, "मेरे मिस्टर थे। क्या करें? मेरी हमेशा नाइट ड्यूटी...।" मैं उठकर अंदर आ गई। सोचने लगी, अस्पताल छोड़कर घर चली जाऊँ।

डॉक्टर कहते हैं कि उन्हें खिंचाव आना बंद हो जाए तो अस्पताल से छुट्टी देने में कोई दिक़्क़त नहीं। फिर दवा और जूस तो घर पर भी दिया जा सकता है। यदि आज मैं नौकरी करती होती तो? इतनी छुट्टियाँ कैसे मिलती? यहाँ आने के बाद मेडिकल स्टोर के सिवाय वह कहीं गई ही नहीं। दिन में तीन बार कपड़े बदलने वाली मैं छह महीने से तीन जोड़ी कपड़ों में दिन गुज़ार रही हूँ। तैयार होना, सजना-सँवरना तो भूल ही गई। दिनभर इस अस्पताल में दवाओं और फ़िनाइल की गंध तथा वही का वही वातावरण! क्या पता, कब घर जाना हो सकेगा? घर अकेली जाऊँगी या फिर? आजकल एक भी विचार अच्छे नहीं आते।

घड़ी पर नज़र डाली। रात के ग्यारह बज रहे हैं। कल रात से तो रमा बेन का ही ख़याल आ रहा है। चलो कुछ देर बरामदे में ही टहल लूँ। उस औरत का पति बैठे-बैठे जम्हाई ले रहा है। मुझे देखकर उसने बेंच पर मेरे बैठने के लिए जगह दी। फिर धीरे-से बोला, "कैसी तबीअत है अब उनकी?" क्या जवाब दूँ? "वैसी की वैसी ही।" मैंने कहा। वह मेरी ओर ताकता रहा। सोचा उसकी पत्नी की तबीअत पूछूँ, पर नहीं पूछी। मेरे मन की बात शायद वह समझ गया हो, इस तरह उसने ही बताना शुरू किया, "मेरी पत्नी को पूरा होश है, यही तो दुख है न! आधा शरीर जड़ हो गया है। एक माह हो गया। उसे भी नींद की गोलियाँ दी जा रही हैं। हमने तो सब ईश्वर के भरोसे छोड़ दिया है..."

"यहाँ बरामदे में सरसर हवा आती है, है न? अंदर तो..." मैं अचानक बोल पड़ी।

"आप तो छह महीने से यहीं हैं। ऊब गई होंगी न!" मैं क्या कहूँ? कुछ देर चुप रही। फिर पूछा, "आप दो दिन में ही ऊब गए क्या?"

"ऊबा तो नहीं। एक महीने से ऐसा ही चल रहा है। भाग-दौड़, टेंशन। यहाँ आने से पहले सिविल अस्पताल में थे। वहाँ कोई फ़ायदा नहीं हुआ, तो यहाँ लेकर आए। यहाँ के डॉक्टर होशियार हैं और स्टाफ़ भी अच्छा है!"

मेरी नज़रों के सामने रमा बेन का चेहरा घूमने लगा। फिर तुरंत इस औरत का ख़याल आया।

"इनकी उम्र ही क्या है? अभी से यह रोग..." मुझे लगा इस तरह उद्विग्नता व्यक्त करना ठीक नहीं था।

"आपकी तो ज़िंदगी जैसा कुछ बचा ही नहीं होगा न? आख़िर छह महीने क्या होते हैं..." उसने एक नज़र मुझ पर डालते हुए कहा। मैंने आँचल ठीक किया। कमरे से उसकी पत्नी की

कसक भरी आवाज़ सुनाई दी। वह उठकर अंदर गया। मैं बेंच से उठकर बरामदे में टहलने लगी। इधर से उधर एक चक्कर...दूसरा चक्कर...मैं उसके आने की राह देखने लगी। कुछ देर बाद वह बाहर आया। मुझे शांति मिली। "पानी पिला आया हूँ।" कहकर वह मेरे सामने खड़ा हो गया। मैं सचेत हुई। "उन्हें जूस देने का टाइम हो गया है।" बोलकर मैं अंदर गई। वह भी दबे पैरों से मेरे पीछे आया। मेरी धारणा भी एक तरह से यही थी। तय न कर सकी धारणा या अपेक्षा? सिरिंज तैयार कर जूस लाने के लिए पैर उठाए ही थे कि वह बोला, "ले आता हूँ।" उसने क़दम उठाए। मैंने कहा, "फ्रिज के निचले हिस्से में दाहिनी ओर..." मुझे उससे मदद लेने में कोई संकोच न हुआ, वह तो ठीक, पर मेरे बोलने में इतनी स्वाभाविकता कहाँ से आ गई?

नली में जूस डालते समय सिरिंज पर काफ़ी दबाव डालना पड़ता था। उसने मेरे हाथ से सिरिंज ले ली। हाथ का हल्का-सा स्पर्श भी हुआ। सिरिंज वापस लेते वक़्त एक बार फिर रोमांच महसूस हुआ। पता नहीं...यह सब क्यों अच्छा लग रहा है मुझे? पलंग की चादर ठीक कर मैं बाहर निकलने ही वाली थी कि वह फिर मेरे सामने खड़ा था। बड़ी मुश्किल से ख़ुद पर क़ाबू रखा। लग रहा था जैसे मैं अभी उसका हाथ पकड़ लूँगी। मैं जान-बूझकर उससे दो क़दम पीछे ही रही। बरामदे में हम दोनों के अतिरिक्त और कोई न था। चलते पंखे की आवाज़ सुनाई दे रही थी। मैंने हाथ ऊपर उठाकर अपने शरीर को थोड़ा खींचा, फिर गहरी साँस छोड़ते हुए बेंच पर बैठ गई। उसने फिर मेरी ओर देखा। मैं विह्वल हो दौड़कर अपने कमरे में आ गई। आकर बिस्तर पर गिर पड़ी। शरीर बेक़ाबू हो रहा था।

मैंने करवट लेकर दोनों पैर समेट लिए। बंद हो रही थीं। खिड़की का दरवाज़ा ह झोंके से खड़खड़ा रहा था। वह अभी भी बाँधे बेंच पर बैठा होगा?

अचानक, यह क्या! ये पलंग से उठकर हो गए। मेरी बग़ल में आकर लेट गए। सरकते पतवार की तरह इनका हाथ मेरी दे सरक रहा है। मैं आँखें बंद किए ही इनके निकट जाती हूँ। इनके आलिंगन ने मुझे पूरा पूरा दबोच लिया है। मैंने ख़ुद को खिड़की तरह पूरा खुला छोड़ दिया है। हवाओं का आ जाना जारी है...इनकी साँसें सिसकारियों में बदल गईं? अब तो सिसकारी भी नहीं... पीड़ा भरी चीख़...मौत की दर्दनाक चीख़ यह चीख़ किसकी है? कहीं इनकी तो न बस! इतनी ही देर? मैं एकाएक जाग जाती इनकी शिथिल-सी देह किसी क्षण विशेष प्रतीक्षा में पड़ी है। साँस तो बराबर चल रही तो फिर? मुझे भ्रम हुआ क्या? किसी की भ दौड़ की आवाज़ सुनाई दे रही है। क्या हो

मैं साड़ी का पल्ला ठीक करते हुए बरामदे की ओर। देखा...बेंच ख़ाली था। ही उस औरत के कमरे की तरफ़ लपकी। ज़ोर-ज़ोर से हिचकियाँ ले रही है। उसकी और मुँह से फुफकार भरी आवाज़ निकल है। सीना तेज़ी से ऊपर-नीचे हो रहा है। उस पूरा शरीर दो-तीन बार हवा में कुछ उछला। से फेन...और धीरे-धीरे...सब कुछ शांत हो ग पति ने उसका पकड़ा हुआ हाथ धीरे-से छ दिया...मैं चादर ओढ़ाती हूँ। गले तक आ हाथ रुक गए...फिर मुँह ढाँप दिया...दौड़ती वापस आई अपने कमरे में...इनके सिर पर ह फेरा और फिर फूट-फूटकर...

नागपति हेगड़े

त्रिशंकु

मूँडे हुए सर पर सफ़ेद साड़ी का पल्लू ओढ़कर, हर रोज़ तुलसी दल तोड़ते वक़्त सुब्बम्मा कम-से-कम चार-पाँच बार तो अपने आपसे पूछती हैं, "यह ऐसे कैसे हुआ? यह मंजू बिलकुल मेरे पति जैसा कैसे बना?" दीन-धर्म का नाम सुनकर चिढ़नेवाले अपने पति शिवराम भट्ट की तरह मंजू का बनना उसके लिए एक अबूझ पहेली बन गई थी। दूसरों के लिए स्वाभाविक लगनेवाली यह छोटी-सी बात छोटी समझकर ऐसे ही छोड़ी नहीं जा सकती। 'जैसा बाप वैसा बेटा' वाली कहावत यहाँ अपना अर्थ ही खो चुकी थी। क्योंकि अगर ऐसा होता तो मंजू को जप-तप, होम-नेम, पूजा-पाठ, भगवान आदि पर अचल निष्ठा होती लेकिन 'जैसा बाप वैसा बेटा' वाली बात झूठी हो गई थी और मंजू उनके लिए एक पहेली बन गया था।

जब तक पति ज़िंदा थे तब तक तो हो न सका, उनके चल बसने के बाद मनौती पूरी करने के लिए उसने मठ जाना चाहा तो साफ़ इनकार कर दिया मंजू ने! इतना ही नहीं उस बित्ते भर के लड़के के मुख से कैसी बात निकली थी, "अम्मा, 'भगवान बच्चों को देता है' वाली बात तुम्हारे समय में चलती थी। हमारे ज़माने में 'बच्चों को भगवान देता है या और कोई' इसे मैंने पढ़कर कब का जान लिया है। मेरे सामने फिर कभी पुराण-कथा मत छेड़ना, मैं इन सब बातों पर विश्वास नहीं करता।" उसने सहज रूप से कहा था, लेकिन सुब्बम्मा थोड़ी विचलित हो उठी थी। 'अरे, क्या यह मेरा रहस्य जान गया है? किसने बताया होगा?' आदि बातें सोचकर उसका दिमाग़ चकरा गया था। बाद में जिस बात को माँ के अलावा और कोई नहीं जानता, उसे यह कैसे जान सकता है? 'यों ही बक रहा है' सोचकर अपने आपको उसने तसल्ली दी।

फिर भी उस दिन से उसके मन की दृढ़ता में दरार-सी पैदा हो गई। उसे भ्रम होने लगा कि इतने सालों से सुरक्षित उसका मज़बूत विश्वास विचलित हो रहा है, ढह रहा है और भ्रमित मन न चाहते हुए भी पुरानी बातों को याद कर घायल रहता है।

गदराए यौवन के कारण सुब्बी वैसी सुंदर ही दिखती थी। शिवराम भट्ट के साथ शादी होने के बाद दाहिना पैर अंदर रखकर उसने

कन्नड युवा कथाकार नागपति हेगड़े का जन्म 1971 में हुआ। इनका एक कहानी-संग्रह उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुआ है। भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता से पुरस्कृत हैं। संपर्क : पी.एम. हाई स्कूल, अंकोला, उत्तरी कन्नड, कर्नाटक 581314

अनु. नंदिनी गुंडूराव के हिंदी-कन्नड में परस्पर अनुवाद छपते रहे हैं। संपर्क : 1,5वाँ क्रॉस, मालमड्डी, धारवाड़ 580007 (कर्नाटक)

पति-गृह में प्रवेश किया था और बारह कमरों का वह महल, उसकी भव्यता देखकर दाँतों तले ऊँगली दबाई थी। उसके पहले विवाह-मंडप में अंतरपट के दूर होते ही दुबले-पतले पतिदेव को देखकर जो आघात हुआ था वह इस भव्य-दिव्य घर को देखकर थोड़ा-बहुत कम हुआ था। गृह-प्रवेश तो हो गया पर पति महाशय उसमें प्रवेश कर न सके। हर महीने रज़ो दर्शन होते ही वह सोचती, 'क्यों मैंने इस वृषभ का हाथ थामा?' हर मास के इस ऋतु चक्र की कोई क़ीमत नहीं। इसी तरह सोचते-सोचते पता नहीं कितना समय बीत गया। सूखी धरती की तरह वह प्यासी ही रही, बारिश हुई ही नहीं। वर्षा की राह देखनेवाले अकाल की तरह पति-मिलन की उसकी प्रतीक्षा कभी समाप्त हुई ही नहीं।

भगवान की सेवा, शास्त्र, संप्रदाय की शरण में जाकर पति के निःसत्व बीजाणु में से कम-से-कम एक ठोस दाना प्राप्त करने की उसकी साध में पति का नास्तिकवाद आड़े आता था। गाँव के अश्वत्थ वृक्ष, नागदेवता, चौड़ी—सबकी प्रदक्षिणा वह करती रही पर प्रकृति की प्यास बुझी नहीं, कोख भरी नहीं। भगवान का नाम सुनते ही भड़क उठने वाले शिवराम भट्ट से उसने जब विनती की थी, "केवल एक बार मठ जाकर पूजा करके आइए, बाद में मैं कभी आपसे नहीं कहूँगी" तो उसने कहा था, "मैं किसी मठ-वठ को नहीं जाऊँगा, मुझे देवी-देवताओं पर विश्वास नहीं है। तू अगर जाना ही चाहती है तो अकेली जा; मुझे कोई एतराज़ नहीं है।"

किसी तरह से साहस जुटाकर, मठ जाकर, पूजा करने के बाद पुजारी शंकर भट्ट के सामने उसने अपना दुखड़ा रोया था। उस दयानिधान ने रात को धर्मशाला में आकर उसे पुत्रभिक्षा प्रदान की थी। वहाँ से लौटने के बाद उसकी माहवारी लौटी नहीं। पति ने आँखें तरेरकर पूछा था, "ऐ राँड़, तेरे पेट में किसका गर्भ पल रहा है? [मुझसे] तो हो नहीं सकता, सच बता?" उसने पलट[कर] पूछना चाहा था, "तुमसे तो हो नहीं सका, जो [नहीं] सका उससे ले लिया, अब धौंस जमा रहे [हो,] शरम नहीं आती!" लेकिन ये बातें उसके [मन] में ही अटक गई थीं और उसने कहा था, "[ये] मंजू के पिता? कैसी बातें कर रहे हैं आप? [मठ] से वापस आने के बाद दूसरे दिन आप ही [मेरे] साथ सोए थे न! सुबह उठते ही मेरी प्रा[र्थना] भगवान के कानों तक पहुँची होगी। उस [दिन] पता नहीं आपको कहाँ का जोश आ गया था। निश्चित रूप से यह बच्चा आपका ही है।" उसकी यह बात सुनकर विश्वास न होने पर [भी] मान लेने का नाटक करते हुए इसी दर्द के सा[थ] उसने महाप्रयाण किया था।

किसी तरह से पति को तो विश्वास दिला[या] था लेकिन कई दिनों तक वह ख़ुद को ही सम[झा] न सकी थी। व्यभिचार का अपराध बोध उ[से] निरंतर सालता था। उसके लिए मायक़े से उस[की] माँ को आना पड़ा। माँ ने उसे समझाया था, "सुब्बी, तुमने कुछ भी ग़लत काम नहीं कि[या] है, तुमने अपने लिए थोड़े ही इस काम में हा[थ] डाला है! पति के वंशोद्धार के लिए ही तुमने [यह] कष्टदायक क़दम बढ़ाया है और एक बात—इस तरह का नियोग अकेले तुम्हीं ने नहीं कि[या] है, महाभारत की कुंती ने पांडु से जब बच्चे न[हीं] हुए तो नियोग प्रथा से ही तीन बच्चे पाए थे। तु[म] तो उससे बेहतर हो। उसने तीन बार नियोग क[र] अप्रत्यक्ष रूप से अपनी कामवासना को पूरा क[र] लिया। तुमने केवल एक बच्चा चाहा है। इस[में] व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यर्थ ही सोच-सोचकर पागल मत बन!"

अब तक माँ की बातों पर विश्वास कर, म[न] से अपराध-बोध को हटाकर, पुत्र को जन्म देकर उसे हाथ का पालना, आँखों का दीपक बनाकर उस[ने] जिस बेटे को पाला था, उसी बेटे के बर्ताव ने

उसकी बातों ने उसे आत्म-विश्लेषण के लिए प्रेरित किया था। सच, बड़ा अचरज हो रहा था उसे। 'जैसा कि माँ ने कहा था वंशोद्धार के लिए मैंने शंकर भट्ट को चाहा था। इस बात को मान लेने पर भी सबके सामने—भगवान-मठ के भगवान की कृपा से बच्चा पैदा हुआ, कहना कहाँ तक ठीक है? शंकर भट्ट की कृपा से पैदा हुआ, कह नहीं सकती, फिर भी बार-बार तुम भगवान की कृपा से पैदा हुए हो, मंजू से कहना क्या ठीक है? मन के कोने में कहीं छिपे हुए व्यभिचारी भाव की यह प्रतिध्वनि तो नहीं है? और फिर यह शंकर भट्ट की तरह न होकर पति के जैसा कैसे बना, उनकी बुद्धि इसमें कैसे आई? पति संशयग्रस्त न हो इसलिए मठ से लौटने के बाद दूसरे दिन उसने खीर बनाकर उसमें भाँग मिलाई थी और सारी रात उससे सटकर सोई थी लेकिन एक बार भी उसके शरीर ने गर्माहट का अनुभव नहीं किया था। शिशु जैसे माँ से सटकर सोता है वैसे ही पति सोया था। ऐसे में यह कैसे हुआ? यह क्यों भगवान के नाम से भागता है?' ख़ुद ही चक्रव्यूह रचकर, उसमें प्रवेश कर, बाहर न आ पाने के कारण परेशान हो रही थी सुब्बम्मा।

गाँव के मेले से पहले मंगलवार को सारा गाँव का गाँव ही तालाब के पास जमा हो गया था। सुब्बम्मा ने पोहा बनाया था। उसे लेकर, मंजू को साथ लेकर गाँव वालों के साथ वह भी गई थी। मंजू पेशाब के लिए पास की झाड़ी के पास गया था, किसी की फुसफुसाहट सुनाई दी। उसने झुककर देखा। सारा गाँव जिन्हें शीलवान मानता था वे रामा जोईस महापंडित सुब्बा शास्त्री की पत्नी की देह पर गिरकर लुढ़क रहे थे। वह चुपचाप वहाँ से खिसका। माँ सुब्बम्मा जपमाला लेकर ध्यानस्थ बैठी थी। दोपहर को उसने पोहा दिया। मंजू को भूख थी, पर खाने का मन नहीं था।

भरपेट भोजन कर रामा जोईस सुब्बा शास्त्री के साथ बातचीत कर रहे थे, "आजकल के युवकों को दीन-भगवान, आचार-विचार, भय-भक्ति का ख़याल ही नहीं रहता। आज मेले से पहले का मंगलवार है, पूजा करने के लिए एक भी लड़का नहीं आया है। सब हमारे साथ ही समाप्त हो जाएगा।" कहकर अपनी धर्मनिष्ठा प्रदर्शित कर रहे थे। वहीं पर बैठे बारह साल के मंजू का जी मतलाने लगा।

यौवन के आगमन के साथ मंजू में एक प्रकार की कशमकश शुरू हुई। देवी-देवताओं के नाम पर चलने वाला व्यभिचार, हिंसा, परंपराओं के आवरण में छिपी करालता को अनावृत्त करने की तीव्र इच्छा उसके मन में जगने लगी। जो भी मिलता, उसके सामने अपने इस मानसिक तुमुल को प्रकट करने की इच्छा होती। तब उसने लिखना शुरू किया। "भगवान है ही नहीं, अत: ये पूजा की विधियाँ, ये विभिन्न संप्रदाय भी अर्थहीन हैं" वाली भावना से भरे, बर्फ़ की चुभन लिए हुए उसके लेखों का मतलब समझ में न आने पर भी लोग उसे, उसके लेखन को पसंद कर पत्र लिखते थे। आडंबरहीन भाषा में लिखे गए उसके लेखों ने अनेक लोगों का दिल जीत लिया था। अपनी अनेक अमूर्त भावनाओं का मूर्तिकरण होते देखकर वे उसकी प्रशंसा करते।

इसका मतलब यह नहीं कि उसके लेखों की कोई आलोचना करता ही नहीं था। उसके साहित्य को भूसा लेखन कहकर नाक सिकोड़ने वाले भी हैं। 'सनातन विचारों के ख़िलाफ़ लिखने से सर के टुकड़े हो जाएँगे' कहकर उसे सचेत करने वाले भी हैं। उसे पागल समझने वाले भी हैं।

अपने जन्म से पहले ही चल बसे अपने बाप को मंजू ने देखा ही नहीं था। सामने वाले दरवाज़े के ऊपर चंदन की माला से अलंकृत फीके पड़ते भावचित्र के रूप में पिता को देखते हुए वह

बड़ा हुआ था। वही उसके मन में अमिट छाप छोड़ गया था। 'मंजू बिलकुल अपने बाप पर गया है। दीन-धर्म नहीं, मठ नहीं, मठाधिपति नहीं।' गाँव वालों की इस बात को मंजू निर्लिप्त होकर सुनता। 'बाप की तरह या माँ की तरह' उसके लिए यह बात कोई मायने नहीं रखती थी। 'पैदा हुआ हूँ, जैसे चाहता हूँ वैसे जिऊँगा, मेरी मर्ज़ी' वाली बात उसके लिए महत्त्वपूर्ण थी।

बेटे को अपने आँचल की छाँव में ही बड़ा करने की सुब्बम्मा जितनी कोशिश करती थी वह उतना ही दूर छिटक गया था। जब बच्चा था तो कम-से-कम पिता का श्राद्ध तो श्रद्धापूर्वक या बिना श्रद्धा के करता था। जैसे ही बड़ा हुआ उसने उसे अर्थहीन परंपरा के खाते में डाल दिया। मृत पिता का कौवे के रूप में आना...कैसे हो सकता है? फिर भी बाप की याद में उस तिथि को एक जोड़ा कपड़ा ख़रीदकर उसने चौड़ा और उसकी पत्नी को दान में देने की नई श्राद्ध-विधि प्रारंभ की। सुब्बम्मा ने उसे समझाना चाहा लेकिन वह केवल अरण्य रोदन ही होगा, यह जानकर वह चुप रही।

आजकल मंजू और सुब्बम्मा का संबंध केवल व्यावहारिक हो गया है। चौबीसों घंटे परहेज़ करती सुब्बम्मा परदादाओं के ज़माने के गहने-चीज़ें रखी हुई पेटी को अलीगढ़ के ताले से जकड़कर उसकी चाबी अपनी करधनी में लटकाकर, पेटी के पास ही जप करती है। ख़ज़ाने की रखवाली करने वाले सर्प की तरह वहीं कुंडली मारकर बैठी रहती है। बीच-बीच में 'मंजू ऐसे कैसे बन गया' वाली पहेली का हल न पाकर छटपटाती रहती है।

मंजू अपने भोजन की व्यवस्था के लिए लक्ष्मी को ले आया है। लक्ष्मी विधवा है, साथ ही सुंदर भी है। मंजू को रसोई बनाकर खिलाने के साथ-साथ उसके कपड़े धोकर इस्त्री कर देने का काम भी उसने सँभाल लिया है। ''पता नहीं कै
कमजात है?'' कहकर सुब्बम्मा ने प्रारंभ में अपनी नाराज़गी जताई लेकिन बाद में वह इ
ओर से उदासीन होकर अब आदी हो गई है फिर भी अपना खाना बनाने वाले चूल्हे के पा
उसको फटकने नहीं देती। कभी-कभी उस
मन में बेटे की शादी कर बहू को लाने की, ए
वंशोद्धारक को देखने की आस जगती, लेकि
बेटे से कहने में डर लगता।

मंजू को विवाह नामक व्यवस्था से ही एलर्
थी। दो अपरिचित युवक-युवती, पाँच मि
परस्पर देखने का शास्त्र कर, गर्दन हिला देते हैं
बस शुरू हो गई जीवन-यात्रा। माँ-बाप तो ले
देन में ही ज़्यादा आसक्ति दिखाते हैं। ज़िंद
भर साथ देने वालों को कम-से-कम समान
मनस्क तो होना चाहिए। इस विवाह के करार
लिए अगर चेहरा देखकर ही पसंद करना है
आंतरिक मन से बाहरी चमड़ी का ही मू
आँकना है तो ज़िंदगी भर तड़पाने वाला य
व्यापार-व्यवहार किसलिए? बाहरी सौंदर्य को
ही अधिक महत्त्व देने वाले इस विवाह नाम
झमेले में फँसने से वारांगनाओं का सहवास ही
अच्छा है। चाहे जब जाओ, नहीं चाहते, म
जाओ। थोड़ा-सा ढूँढ़ने पर हर रोज़ एक मोहि
मोनिका, चंद्रिका, चाँदनी या चमेली मिल सक
है।

विवाह के बाद तीन महीने में ही लक्ष्मी
गले में मंगलसूत्र पहनाने वाला उसका पति इ
लोक के व्यापार-व्यवहार का हिसाब चुका
स्वर्गवासी बन गया था। उन तीन महीनों में रा
दिन पति के साथ स्वप्न लोक में विहार क
वाली लक्ष्मी अब उदर-निर्वाह के लिए को
रास्ता ढूँढ़ रही थी, तभी नेहरू रोड पर मो
साइकिल को किक् मारते वक़्त मंजू ने उसे दे
लिया। पीछे बिठाकर वह उसे घर ले आ

तब से मंजू की घरेलू आवश्यकताओं को वह चूँ किए बिना सहज भाव से पूरा कर रही थी।

कभी-कभी मंजू 'ऐसा कैसे बन गया?' सोचती, बेटे के विवाह, पोते-पोतियों का सपना देखती बूढ़ी सुब्बम्मा ने एक दिन उस पेटी के पास, जिसकी रखवाली वह करती थी—नींद में ही प्राण त्याग दिए। उसके बूढ़े, सूखे, निष्प्राण शरीर को चार लोगों की मदद से मंजू ने अग्नि देवता के हवाले कर दिया। रामा जोईस के पुत्र गणपति जोईस ने उससे कहा, "माँ का क्रिया-कर्म तो करो मंजू!" मंजू ने उत्तर दिया था, "मुझे क्रिया-कर्म करने का, भोज खिलाने का मन नहीं है। जन्म-जन्मांतर में मुझे बिलकुल विश्वास नहीं है। निष्प्राण होकर पड़ी हुई देह मेरी दृष्टि में मुख्य है, वह सड़कर दुर्गंध न फैलाए, इसलिए मैंने उसका दाह-कर्म किया है।"

मंजू के उत्तर से वह सनातन ब्राह्मण आग बबूला हो गया, "ओ हो, पुनर्जन्म में तुम्हारा विश्वास नहीं है? तुम्हारी माँ की अचेतन देह को प्राधान्य देकर तुमने उसे जलाकर राख कर दिया, लेकिन पहले तो वह सचेतन थी। उस देह में से आत्मा कहाँ गई? बताओ तो!"

मंजू ने उसकी बातों का अंतरंग-मंथन किया, "जोईस जी, आपके विचारानुसार जीव में आत्मा होती है, यह बात मान लेंगे। इस मर्त्य शरीर का चैतन्य वही है यह भी मान लेंगे। अगर वह चैतन्य स्वरूप आत्मा जीव से अलग होते ही देहावसान होता है तो किसी मार्ग से वह देह को छोड़कर जाती है? माँ के मरते वक़्त मैं उसके पास ही था। आप जिस चिरंजीवी आत्मा की बात कर रहे हैं उसे मैंने उनकी छाती को फटाक से चीरकर या मस्तक फोड़कर दूर जाते नहीं देखा। अब बताइए, 'आत्मा चिरंतन होती है, अमर होती है' वाला निरर्थक विचार सामने रखकर आप पुरोहित-वर्ग जो श्राद्ध वग़ैरह करते हैं, वह झूठा आडंबर है या नहीं?"

"मंजण्णा, इतना नास्तिक न बनो। अगर आत्मा-परमात्मा नहीं है तो सकल चराचर जीवकोटि को चैतन्य कहाँ से प्राप्त हुआ? हम दोनों जो बातें कर रहे हैं, इस संसार में हर रोज़ जो नाना प्रकार के व्यवहार चलते रहते हैं, जीव या आत्मा के अस्तित्व के कारण ही चलते हैं, इसे कोई झुठला नहीं सकता।"

"जोईस जी, आपकी बातें सुनकर आप पर तरस आ रहा है। इस इक्कीसवीं सदी में भी अठारहवीं सदी की बातें कर रहे हैं आप? यह धरती, संसार, यहाँ की सकल चराचर जीव राशि, उनकी सृष्टि, स्थिति-लय का कारण ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति नहीं। जीवन के जन्मते ही कोई आत्मा को देह नामक थैले में नहीं डालता। वंशोत्पत्ति सिद्धांत के अनुसार सारा लोक पैदा होता है। इस बात की समझ हमें विज्ञान ने कब की दी है। अब भी आप जैसे पुराने संप्रदायवादियों ने रस्सी को साँप समझना छोड़ा नहीं।"

"ये सब बातें समझ में नहीं आतीं। थोड़ी-बहुत धार्मिकता का पालन करने वाले हम जैसे लोगों के अस्तित्व के कारण ही इस दुनिया में इतनी बारिश और लहलहाती फ़सल दिखाई देती है। आप जैसे लोगों को न परमात्मा का डर है न धर्म का। नास्तिकता का ठप्पा लगाकर आप लोक-कंटक बन रहे हैं।"

"देखिए जोईस जी, आप यहीं ग़लती कर रहे हैं। भगवान पर विश्वास न रखने वाला बुरा होता है, ऐसा निर्णय नहीं लिया जा सकता। नास्तिक लोगों में मानवीयता नहीं होती, कहने में कोई अर्थ नहीं है। मुझे ही लीजिए। मेरा भगवान पर विश्वास नहीं है, पर ग़रीब, दीन, दुर्बलों की मदद करने में मैं कभी पीछे नहीं हटता और तीनों बेला त्रिकाल नाक पकड़कर संध्या-वंदन, जप-तप, पूजा-पाठ करने वालों

में भी ख़ूनी, डाकू, दग़ाबाज़ों की कमी नहीं होती।''

''मैं जानता हूँ, फिर भी तुम्हारी माँ की आत्मा को शांति प्रदान करने के लिए तो तुम्हें उसका क्रिया-कर्म करना ही चाहिए।''

''नहीं, जिन बातों पर मुझे विश्वास नहीं है, ऐसी दूसरों की कही बातों को पुरस्कृत कर कोई भी कार्य करना मुझे पसंद नहीं है। अम्मा की पेटी में मन भर गहने भरे पड़े हैं। उन सबको बेचकर एक अनाथालय स्थापित करना चाहता हूँ। इस कार्य में अगर आप सहयोग देना चाहते हैं तो मैं आपका हृदयपूर्वक स्वागत करता हूँ।'' मंजू ने बात समाप्त की, लेकिन उसकी बातों से वह द्विजोत्तम तृप्त नहीं हुआ। दुर्दान पाकर जाने वाले की तरह चला गया।

मठ से माँ के नाम पर एक पत्र आया था, मंजू सोच-सोचकर हैरान हो गया था। शंकर भट्ट नामक आदमी द्वारा लिखे गए उस ख़त को पढ़कर वह कुछ भी समझ न सका था। ''श्रीपाद कारंत मृत्युशय्या पर पड़े हैं। बार-बार आपका नाम लेकर बड़बड़ा रहे हैं। सुब्बम्मा एक बार आ जाए।'' इन पंक्तियों को पढ़कर मंजू के मन में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए। ''यह श्रीपाद कारंत कौन है? माँ को याद क्यों कर रहे हैं? माँ का श्रीपाद कारंत के साथ क्या संबंध है?'' अंत में उसने एक बार वहाँ जाना ही ठीक समझा और वह मठ जाने के लिए तैयार हो गया।

पत्र में दिए गए पते के सहारे मठ के पुजारी शंकर भट्ट से मिलकर उसने अपना परिचय दिया। पत्र दिखाकर पूछा, ''क्या बात है?''

शंकर भट्ट ने कहा, ''मंदिर में पूजा का समय हो गया है, घर जाकर बातें करेंगे। वैसे आप सही समय पर आए हैं, अपनी माँ के नाम से एक अर्चना कराइए।''

''नहीं भट्ट जी, मुझे पूजा आदि में थोड़ा भी विश्वास नहीं है। आप पूजा समाप्त करके आइए। मैं बाहर आपकी राह देख रहा हूँ?'' इतना कहकर मंजू बाहर निकल गया।

मंजू की बातें सुनकर भट्ट जी अपनी सुध-बुध भूलकर बोल पड़े, ''जैसा बाप वैसा बेटा वाली बात आख़िर सच हो गई। श्रीपाद कारंत भी ऐसे ही नास्तिक थे।''

भट्ट जी ने यह बात अपने आपसे कही थी लेकिन बाहर जाते मंजू के कानों पर भी पड़ी। वह वापस लौट आया।

''भट्ट जी, मेरी माँ के नाम से एक अर्चना करा दीजिए।'' और वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

भट्ट जी के अंदर जाते ही कुछ भी कहे बिना वह लंबे-लंबे डग भरता हुआ बस स्टैंड पहुँचा। मंगलूर जाने वाली बस खड़ी थी। उसमें बैठकर मंगलूर पहुँचा। मंगलूर से उसने बेंगलूर की बस ली। बेंगलूर पहुँचकर किसी और बस में सारा देश घूमने का संकल्प कर आँखें बंद कर बैठ गया। उसे लगा बंद आँखों के सामने एक नारी आकृति खड़ी है। 'अम्मा' कहकर वह कराह उठा। उसका सारा शरीर थर्रा उठा। उसे घिन आई। जी मितलाने लगा। जल्दी से बस से उतरकर वह गाँव जाने वाली बस में जाकर बैठ गया।

रामशंकर द्विवेदी

महिमामयी : ब्योरों का सौंदर्य

1857 के विद्रोह को उपजीव्य बनाकर भारतीय भाषाओं समेत हिंदी में कितने आख्यान, उपाख्यान, कहानियाँ, उपन्यास, रहस्य-रोमांच लिखे गए, इसकी कोई इयत्ता नहीं है। कांति देव का उपन्यास *महिमामयी* भी उन्हीं में आता है। इस उपन्यास की प्रेरणा लेखिका को उड़ीसा के एक छोटे-से रजवाड़े के शौर्यपूर्ण कारनामों से मिली। उसके अपने शब्दों में "*महिमामयी* की कथा दक्षिण उड़ीसा स्थित 'महूरी' रजवाड़े के इतिहास पर आधारित है। इस परिवार के कुछ सदस्यों—सानदेव, मझियादेव और महिमामयी ने मुझे यह उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित किया।"

लेखिका को जिस बात ने अधिक प्रेरित किया वह सानदेव, मझियादेव एवं महिमामयी की असाधारण वीरता थी। विफल होकर भी उनमें सतत् संघर्ष का सौंदर्य था। लेखिका के शब्दों में महिमामयी ने तलवार उठा ली; मुझमें तलवार उठाने की न तो सामर्थ्य है, न कुशलता, इसलिए मैंने क़लम उठा ली। इस तरह हुआ इस उपन्यास का जन्म (*कथायात्रा,* पृष्ठ 7)।

इतिहास पर आधारित जब भी किसी उपन्यास की रचना की जाती है उसमें तथ्य और कल्पना का सम्मिश्रण होना लाजिमी है। उसमें सत्य कितना और कल्पना कितनी हो सकती है इसे बताना मुश्किल है। फिर भी कल्पना के सहारे उपन्यास में इतिहास का सत्य साँसें लेने लगता है। इतिहास पर काल की पर्तें चढ़ जाती हैं इसलिए ऐतिहासिक घटनाओं के आसपास किंवदंतियों का जाल बुन जाता है। इन किंवदंतियों के पीछे लोक विश्वास संभावना के सत्य को अतिकल्पना का जामा पहना देता है। एक उपन्यासकार को इन्हीं किंवदंतियों को भेदते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचना पड़ता है। इस उपन्यास की लेखिका को भी सानदेव और महिमामयी के संबंध में प्राप्त इतिहास की छानबीन कर अपने उद्देश्य के अनुकूल तथ्यों को एक कथा विन्यास में गूँथना पड़ा है।

कहीं-कहीं *महिमामयी* उपन्यास में 1857 में घटा और बुंदेलखंड का महत्त्वपूर्ण झाँसी की रानी का उपाख्यान पृष्ठभूमि में झलक मारने लगता है, लेकिन उड़ीसा की 'महूरी' रियासत को अंग्रेज़ों से जो संघर्ष करना पड़ा वह न तो इतना व्यापक था और न ही उड़ीसा के बाहर अपना कोई प्रभाव छोड़ सका। इसीलिए अपनी भूमिका

समीक्षक, अनुवादक रामशंकर द्विवेदी का जन्म 1937 में हुआ। इन्हें साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बग़ीचा के पास, उरई-205001 (उ.प्र.)

'कथायात्रा' में लेखिका को कहना पड़ा, "जो इतिहासकार केवल बड़ी-बड़ी घटनाओं को ही महत्त्व देते हैं और उन छोटी-छोटी घटनाओं को छोड़ देते हैं, जिनसे बड़ी-बड़ी घटनाओं का स्वरूप बनता है, वह वास्तविकता से कहीं चूक जाते हैं। इतिहास का पाठक इतिहास के मुख्य पात्रों की रोज़मर्रा की बातों को जानना चाहता है, जिससे उनके व्यक्तित्व को संपूर्णता प्राप्त हुई।" (पृष्ठ 6)

अगर कथा-विन्यास की दृष्टि से देखा जाए तो इस उपन्यास में कथाओं की श्रृंखला कम उन पर टिप्पणियाँ अधिक मिलेंगी। इसलिए कथावस्तु की जटिलता इस उपन्यास में न के बराबर, उसे ब्योरो, वर्णनों, वृत्तांतों से पूरा किया गया है। एक प्रकार से इस उपन्यास के चेहरे में ब्योरों और वृत्तांतों के सौंदर्य का ही प्रतिबिंबन अधिक हुआ है। हिंदी उपन्यास के इतिहास में ब्योरेवार वर्णन के *उस्ताद भूतनाथ* और *चंद्रकांता संतति* के लेखक देवकी नंदन खत्री माने जाते हैं लेकिन उनके वृत्तांतों का सौंदर्य रहस्य, रोमांच और विस्मय को अंत-अंत तक बरक़रार बनाए रखने पर निर्भर था। *महिमामयी* में ब्योरों की प्रकृति 'डिटेल्स' से भरे रेखाचित्रों की तरह है। इसलिए लेखिका पात्रों के चरित्र-चित्रण के समय भी उनके मानसिक द्वंद्वों, भावनाओं के ऊहापोहों में उतनी नहीं जाती है जितने उनके नख-शिख वर्णन और कार्यकलापों के ब्योरों में। पात्रों के चरित्र अपने आप नहीं खुलते, लेखिका बिना पाठकों के धैर्य की परीक्षा लिए या उनकी समझदारी पर कुछ भी विश्वास किए वह स्वयं ही सब कुछ कह देना चाहती है—इसलिए कहीं-कहीं इस उपन्यास में अति वर्णन अथवा सपाट बयानी-सी संक्रांत हो गई है।

इस उपन्यास के दो ही मुख्य पात्र हैं, एक सानदेव दूसरी महिमामयी। सानदेव और महिमामयी का व्यक्तित्व घटनाचक्र को मोड़ देने वाला, प्रवाह के विरुद्ध संघर्ष करने वाला और अपनी ज़मीन पर अंत तक खड़ा रहने वाला है। इन दोनों के साथ एक महत्त्वपूर्ण पात्र और है और वह है महिमामयी का बचपन का प्रेमी कमल जो वेश और नाम बदलकर महूरी राज्य में आ जाता है और अपने शौर्य, साहस, पराक्रम के बल पर सानदेव का प्रिय बन जाता है। अंत में छल से सानदेव गिरफ़्तार होकर अंग्रेज़ों द्वारा जब मार दिया जाता है, तब शेर सिंह और महिमामयी ही अंग्रेज़ों से लड़ते हुए काल के गर्भ में समा जाते हैं। झाँसी की रानी की मृत्यु के स्पष्ट प्रमाण मिल गए थे किंतु, *महिमामयी* की लेखिका ने महिमामयी और शेर सिंह की मृत्यु पर रहस्य का पर्दा डाल दिया है। उसने लिखा है, "इस घटना के बाद महिमामयी कहाँ गई, इस बारे में अटकलें ही चलती रहीं। किसी ने कहा कि अंग्रेज़ों ने उसे मच्छलीपट्टनम् में क़ैद करके मरण-पर्यंत वहीं रखा, पर अधिकतर का विश्वास था कि उसे रंगून भेज दिया गया। वह जहाँ भी गई, अपनी दृढ़ता के बल पर भाग्य के उलटे थपेड़ों को सहकर, शाश्वतता के फलक पर अपना नाम तो लिख ही गई; फिर इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि अंग्रेज़ों ने उसे मच्छलीपट्टनम् भेजा या रंगून।" (वही, पृष्ठ 351)

इस उपन्यास का प्रारंभ ही गढ़ के वर्णन से होता है, "खजूर, सुपारी, साल, सागवान और पीपल के घने जंगलों के बीच स्थित मल्हारपुर का एक हज़ार पच्चीस फ़ीट ऊँचा क़िला, अमावस की रात में शिव की जटा और विशाल शरीर की तरह फैला था। क़िले के गवाक्षों, द्वारों और सीढ़ियों पर जलती मशालें पेड़ों के झुरमुट से झलकतीं तो लगता, किसी अनाड़ी कलाकार ने काली चादर पर सितारे जड़ दिए हों। क़िले से उतरती सीढ़ियाँ जब मशाल की रोशनी में रह-रहकर चमक उठतीं तो लगता था, स्वयं गंगा क़िले के स्थापत्य से खिलवाड़ करती दाएँ-बाएँ बह रही हो। दो तुरतुरियों के बीच उकेरे हिरण वाली,

राज्य की पताकाएँ अँधेरे में पेड़ के पत्तों की तरह हिल रही थीं।'' (वही, पृष्ठ 11)

यह तो हुआ अमावस्या की रात्रि में क़िले का वर्णन अब दिन के उजाले में इसी का चित्र देखिए, ''सूरज की रोशनी में क़िले की छटा ही और हो जाती थी। लाल पत्थरों का गुंबज और चौथे महल तक के चौरस हिस्से के नीचे मस्ती से नाचते खजूर, पीपल के पेड़ किसी लाल पत्थर पर झूलते पन्ना के लटकनों से लगते थे। महाराज का महल कंगूरे दार दीवार से घिरा था। वहाँ से एक संपीला रास्ता क़िले के जनाने तक पहुँचता था। जनाने को घेरती दीवारों पर संभोगरत स्त्री-पुरुषों की विभिन्न मूर्तियाँ उकेरी गई थीं।'' (वही, पृष्ठ 14)

उपन्यास में आए इन ब्योरों ने दो काम किए। एक तो तत्कालीन परिवेश को जीवंत कर दिया, दूसरा उस युग की संस्कृति की थोड़ी झलक दे दी। शिल्प की दृष्टि से एक तीसरा काम भी कहा जा सकता है और वह है उपन्यास के ढाँचे की भरावट। जहाँ कहीं अवसर मिलता लेखिका जंगलों, पहाड़ों, मैदानों, मंदिरों, घरों, प्रांगणों, व्यक्तियों, जन समारोहों के ब्योरों में उतर जाती है।

मल्हापुर रियासत का महूरी राजवंश का कर्ता-धर्ता हरिहर देव एक सच्चरित्र, प्रजा वत्सल राजा था। उसके दो पुत्र हुए—बड़ा रुद्रप्रताप जिसे मझिया देव भी कहते थे—उससे छोटा सानदेव। रुद्रप्रताप भोग विलासी था। सानदेव इसके विपरीत चरित्रवान, दृढ़ प्रतिज्ञ, वीर और प्रजा का हितचिंतक था। यही रुद्रप्रताप स्त्री-आखेट और बलात्कार ने कारण राजा की आँखों को खटकता था। एक बार पुजारी की पुत्री के अपहरण के कारण इसे प्राणदंड दिया गया। उसी से यह जंगलों में भाग गया। इसे ख़र्चे के लिए एक सौ गाँव मिले हुए थे। उन्हीं में से एक गाँव में यह छिपा हुआ था। सानदेव सदल बल इसे खोज रहा था जिस घर में यह छिपा हुआ था उसका वर्णन देखिए : ''मकान मध्यम वर्गीय स्तर का लग रहा था। भीतर जाने के लिए पाँच सीढ़ियों पर से होकर जाना था। सीढ़ियों पर चावल के आटे का चौक पूरा हुआ था और द्वार पर पानी से भरा एक पीतल का कलश रखा था। द्वार पर गेंदों के फूलों और आम के पत्तों की माला किसी उत्सव या विशेष अतिथि की ओर संकेत कर रही थी।'' (वही, पृष्ठ 36)

रुद्रप्रताप फाँसी के तख़्ते से भागकर जहाँ छिपा था उस कक्ष का वर्णन देखिए : ''कक्ष छोटा किंतु साफ़-सुथरा था। ज़मीन पर रेशम के तागों से कढ़ी दो चटाइयाँ बिछी हुई थीं। एक चटाई पर एक रेशमी गमछा बिछा था। उस पर दो गाव तकिये रखे थे। पास ही पीकदानी थी और पानदान भी रखा था। दीवार पर बाँस के रंग-बिरंगे पंखे कीलों के सहारे टँगे थे। आले पर सस्ते इत्र की आधी ख़ाली कई बोतलें रखी थीं। टेढ़े-मेढ़े गाव तकियों और खुले पानदान से लगता था, अभी-अभी कोई उठकर वहाँ से गया है। खूँटी पर टँगी दो चुन्नटदार साड़ियों को देखकर दीवान समझ गया था कि यह किसी वेश्या का बसा है। वह सतर्क होकर बैठ गया और उसने सानदेव को अपनी ओर खींच लिया।'' (वही, पृष्ठ 36)

जब रुद्रप्रताप फाँसी के तख़्ते से अपने साथियों की सहायता से भाग गया और उसे दंड न दिए जाने के कारण प्रजा में विद्रोह फैला तो उसके पिता महाराज हरिहर देव ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिए। सिंहासन ख़ाली होने के कारण कहीं अंग्रेज़ महूरी राज्य को अंग्रेज़ी राज्य में न मिला लें इस भय से सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि चाहे जैसा हो राज्य को बचाने के लिए रुद्रप्रताप को ही गद्दी पर बिठा दिया जाए। और उसके नाम पर राजकाज सानदेव चलाए। सानदेव नाबालिग होने से गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। उसके बाद रुद्रप्रताप का विवाह चक्रधरपुर के राजा की पुत्री सूर्यमुखी के साथ कर दिया गया। सूर्यमुखी रूपगुण संपन्ना तेजस्विनी नारी

थी। पहले तो वह रुद्रप्रताप के प्रेम में डूबी रही, बाद में जब उसे रुद्रप्रताप के बहु स्त्री भोगी स्वभाव का पता चला और उसे कई प्रमाण भी मिल गए तो वह नाराज़ होकर अपने भाई के पास चली गई। काफ़ी समझाने-बुझाने के बाद आई भी तो फिर रुद्रप्रताप में उसका मन नहीं लगा। रुद्रप्रताप का पुत्र समरदेव अपने पिता के स्वभाव की हू-ब-हू तस्वीर था। वह शुरू से ही मदिरा में डूबा, वेश्याओं में रत एक कापुरुष था। उधर चक्रधरपुर का राजा अंग्रेज़ों से मिल गया था। उसने एक बार सानदेव को अपने यहाँ छल से बुलवाकर उसे अंग्रेज़ों को सौंप दिया। अंग्रेज़ों ने उसका वध कर दिया।

इधर सानदेव पहले ही शतहस्ती राजकुमारी महिमामयी के साथ समरदेव का विवाह करा चुका था। जैसा कि होना था महिमामयी की समरदेव से कभी नहीं पटी क्योंकि समरदेव एक ओर कापुरुष दूसरी ओर मदिरा और परस्त्रियों में डूबा रहता था। महिमामयी इंग्लैंड में पढ़ी-लिखी, चतुर, वीरांगना थी। उसका मुख्य लक्ष्य अंग्रेज़ों से बदला लेना था। इधर वसंता नाम का एक नाई राज्य की समस्त सूचनाएँ अंग्रेज़ों को मुहैया करवाता था। उसी के षड्यंत्र से जब काली माता के पूजनार्थ महिमामयी मंदिर गई हुई थी, तब अंग्रेज़ों ने मंदिर को घेर लिया। महिमामयी को क़ैद कर जब अंग्रेज़ उसे अपने साथ ले जाने लगे तो उसने पलटकर कहा, ''मैं स्वयं ही आपके साथ चलती हूँ, पर मुझे अपनी प्रजा को कुछ संदेश दे देने दीजिए।'' उसने जिन शब्दों में संदेश दिया वे इतिहास के अँधेरे को भेदकर आज भी नसों में बिजली-सी भर देते हैं : ''अब मल्हारपुर की स्थिति आपके हाथ में है। हम अगर आने वाली स्वतंत्रता की इमारत की ईंट भी बन पाए हों तो हमें विश्वास है कि इमारत आप स्वयं खड़ी कर लेंगे। आपकी सहायता का शत-शत धन्यवाद! हमारे साथ आख़िरी बार कहिए, मल्हारपुर की जय! उड़ीसा की जय! भारत की जय!'' (वही, पृष्ठ 350)

पर लेखिका ने उपन्यास का अंत एक असंभावित अप्रत्याशित घटना के रूप में किया है और यही इस उपन्यास का सौंदर्य है। ''अंग्रेज़ जब महिमामयी को ले जाने लगे तो उल्का की तरह कहीं से शेर सिंह आकर अपने सैनिकों के साथ उन पर टूट पड़ा। प्रोत्साहित जनता भी अंग्रेज़ सिपाहियों पर टूट पड़ी। पलक झपकते अंग्रेज़ सिपाही सँभलते और स्थिति पर नियंत्रण करते, मंदिर के प्रांगण में उपस्थित जनता ने एक मानुष सुरंग बना डाली, जिसमें से होकर महिमामयी और शेर सिंह एक अनजान गंतव्य की ओर निकल गए।'' (वही, पृष्ठ 351)

उपन्यास में रोचक वर्णन हैं, ऐतिहासिक घटनाओं की प्रामाणिकता के लिए खोज रिपोर्टें, गज़ेटियरों और इतिहास ग्रंथों के खँगालने में लेखिका के परिश्रम के उदाहरण हैं। भाषा पर उसका अधिकार है, अपनी विषयवस्तु के तुरंग की बागडोर सँभालने की क्षमता भी है। महिमामयी की रंग-रेखा पर कहीं-कहीं झाँसी की रानी की छाप है। उसकी उक्तियों में आज के नारी विमर्श की झलक भी मिलती है। जहाँ वह कहती है कि अगर पति मन का न हो, कापुरुष हो तो स्त्री को दूसरा पति करने का अधिकार है। यद्यपि स्वयं वह ऐसा नहीं करती है। उसने अपना स्त्रीत्व समरदेव को देना चाहा था, पर वह स्वयं ही उसे नहीं सँभाल पाया। इस घटना के द्वारा लेखिका ने महिमामयी के चरित्र को मनोवैज्ञानिक स्पर्श देने का प्रयास किया है। उपन्यास पठनीय है और 1857 के स्वाधीनता प्रसंग पर लिखे हिंदी उपन्यासों में एक कड़ी जोड़ता है।

चर्चित उपन्यास :

महिमामयी : कांति देव; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 300 रुपए

राजकुमार सैनी

ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता

स्वतंत्रता के बाद, भारत के इतिहास को विषय बनाकर हिंदी में कुछ उपन्यास लिखे गए हैं किंतु पाकिस्तान के इतिहास की विषय-वस्तु पर केंद्रित कोई उपन्यास नहीं लिखा गया सिवाय दामोदर दत्त दीक्षित के *धुआँ और चीख़ें* शीर्षक उपन्यास के। यह उपन्यास 1947 के आसपास और उसके बाद के उस भूखंड की अंतर्कथा है जिसे पाकिस्तान कहा जाता है। साथ ही तत्कालीन पाकिस्तान के पूर्वी क्षेत्र के स्वतंत्रता-संग्राम की कहानी भी इसमें समाहित हो गई है, जिसे आज *बांग्ला देश* के नाम से जाना जाता है। उपन्यास लियाकत अली, इस्कंदर मिर्ज़ा, अयूब ख़ाँ, याह्या ख़ाँ, भुट्टो (बेनज़ीर के पिता) और मुजीबुर्रहमान जैसे ऐतिहासिक चरित्रों की तो ख़बर लेता ही है, साथ ही जावेद, नसीम अख़्तर, एजाज़ खटक, ताहिरा, मियाँ इफ़्ताखारुद्दीन, आफ़ताब आदि जैसे काल्पनिक किंतु जीवंत पात्रों के माध्यम से पाकिस्तान में जागरूक, सेक्यूलर और प्रगतिशील चिंतनधारा के आरोह-अवरोह को भी अभिव्यंजित कर देता है। इस प्रकार इस उपन्यास में भारत-विभाजन से उपजे पाकिस्तान और पाकिस्तान-विभाजन से अस्तित्व में आए बांग्ला देश का संघर्षपूर्ण इतिहास रचनात्मक स्तर पर चरितार्थ हुआ है; साथ ही उसी के समानांतर, सर्जनात्मक औपन्यासिकता का भी कलात्मक निर्वाह हुआ है, इसमें संदेह नहीं।

अपनी तरह के इस रोचक उपन्यास में इस्लाम धर्म और संस्कृति संबंधी मान्यताओं, परंपराओं, विश्वासों, संस्कारों और विचारों का प्रामाणिक और सुरुचिपूर्ण चित्रण है। उपन्यास का कथानक राजनीतिक तो है ही; सामाजिक और पारिवारिक परिवेश को भी अर्थपूर्ण परिप्रेक्ष्य के साथ उभारता है तथा ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक उद्देश्यों को सर्जनात्मकता के साथ संप्रेषित करता है और इस प्रकार ऐतिहासिक प्रयोजन तथा औपन्यासिक संयोजन की यह एक सफल तथा सार्थक बानगी पेश करता है।

पाकिस्तान के जन्म से ही वहाँ सत्ता-लोलुप सैनिक तानाशाही, अफ़सर-नौकरशाही और मुल्लाशाही का घालमेल तथा सामंती वर्चस्व और कट्टरपंथी सांप्रदायिक ताक़तों का बोलबाला रहा है। ऐसे माहौल में वहाँ लोकतंत्र का गला घुटता रहा है। जनविरोधी क्रूर कृत्यों एवं जनता के उत्पीड़न तथा दमन के काले कारनामों के कारण पूर्वी पाकिस्तान के बंगालियों ने विद्रोह और क्रांति का रास्ता अपनाया और मुक्तिवाहिनी के दुर्धर्ष-संघर्ष ने बांग्ला देश को जन्म दिया। भारतीय सेना और जनता ने भी इस स्वतःफूर्त क्रांति में अपना योगदान किया। इन सभी कारगुज़ारियों का सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है कहीं स्पष्ट रूप से तो कहीं सांकेतिक ढंग से। यह चित्रण ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक है और औपन्यासिक दृष्टि से रचनात्मक भी। इसी कारण दामोदर दत्त दीक्षित का यह उपन्यास निस्संदेह एक विशिष्ट कृति है।

हिंदू-मुस्लिम और शिया-सुन्नी दंगों के चित्रण में उपन्यासकार जो टिप्पणियाँ करता है वे पैनी सूझ-बूझ और जागरूक दृष्टि की परिचायक हैं। इन्हीं प्रसंगों में कथाकार तत्कालीन पाकिस्तान की दमनकारी सत्ता की प्रतीक सेना, पुलिस, कचहरियों और जेलख़ानों की भूमिका को दिगंबर करता है। ऐसे विवरणों में उपन्यासकार की शैली ध्वन्यात्मक और धारदार बनी रहती है।

ताहिरा और आफ़ताब का प्रेम-प्रकरण कथा को सरस, रोचक और सुरुचिपूर्ण बनाए रखता है। पारिवारिक प्रसंगों में पाकिस्तान की लोक-संस्कृति और साझी संस्कृति (Composite culture) की सुंदर झाँकियाँ पाठक के मन को छूती हैं।

लाहौर, रावलपिंडी, कोहाट, बन्नू आदि नगरों-उपनगरों के भौगोलिक वर्णन और स्थानीय प्रतिवेश के विवरण में लेखक की बहुज्ञता रेखांकित होती है।

कथाशैली रोचक और पठनीय है। उपन्यास का नरेटिव मुहावरेदार है तथा लक्षणाओं और व्यंजनाओं से परिपूर्ण है। कथोपकथन सरल, सहज तथा रमणीय अर्थोत्पादक हैं; उबाऊ और नीरस नहीं हैं। भाषा प्रवाहपूर्ण है।

शोषक सत्ता और यथास्थितिवाद की पोषक व्यवस्था के ग़ैर-लोकतांत्रिक, जन-विरोधी तथा दमनकारी स्वरूप और अंतर्वस्तु को बेनक़ाब करने में लेखक की लेखनी ने कोताही नहीं बरती। साधारण जनता, जन-प्रतिनिधियों, बुद्धि-जीवियों और पत्रकारों की संघर्षधर्मी कारगुज़ारी को वाणी देती हुई कथाकार की क़लम नि... गति तथा निर्झर-प्रवाह से आगे बढ़ती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यासकार दामोदर दत्त दीक्षित इस उपन्यास द्वारा हिंदी समकालीन उपन्यास-लेखन में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे हैं। पिछले पचास वर्षों पाकिस्तान के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जन-जीवन के प्रामाणिक और कलात्मक चित्रण के लिए वे याद किए जाएँगे।

तथापि उपन्यास में प्रयुक्त कुछ शब्द और पद अप्रतीति दोष के द्योतक प्रतीत होते हैं यथा-याद दिहानी, कठ हुज्जती, डेसिबल, पूछप... बंद किंकिहाव, हड़बोंग (पृष्ठ 99, 127, 1... 179, 208, 259) आदि।

चर्चित उपन्यास :

धुआँ और चीख़ें : दामोदर दत्त दीक्षित; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2005; 190 रुपए

उपन्यासकार, कवि, आलोचक राजकुमार सैनी का जन्म 1942 में हुआ। कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : अर्चना 122, दिन अपार्टमेंट, सेक्टर-4, प्लॉट नं. 7, द्वारका फ़ेज़-1, नई दिल्ली 110075

सत्यकाम

जिजीविषा की जंग

कामतानाथ का उपन्यास *पिघलेगी बर्फ़* एक व्यक्ति को दुर्धर्ष जिजीविषा और जीवन से लड़ते-लड़ते सब कुछ खो देने; फिर भी हार न मानने और जीते रहने की ज़िद की करुण कथा है। कामतानाथ की यह कथा सिहरन तो पैदा करती ही है, मनुष्य के जीवन से जुड़े कुछ आधारभूत सवाल भी खड़े करती है। यानी मनुष्य के जीने का मक़सद क्या है? उसे क्यों ज़िंदा रहना चाहिए? केवल पेट भरने के लिए या फिर जीने का कोई उद्देश्य भी होता है। इतना ही नहीं, इसमें द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर भारत की आज़ादी, विभाजन और आज़ादी के बाद होने वाले मोहभंग को भी सवाल के घेरे में लाया गया है।

इस उपन्यास में आए तिब्बत प्रसंग से हिंदी पाठकों को नई ख़ुराक मिल सकती है; हालाँकि राहुल सांकृत्यायन ने अपने यात्रा-संस्मरणों में बड़े विस्तार से इस इलाक़े का वर्णन किया

जो अपने आप में एक बृहद् कथा ही है बिलकुल एक उपन्यास की तरह। इस उपन्यास में भी चीनियों द्वारा तिब्बत को धीरे-धीरे निगलने और लामा के भाग निकलने की कथा जासूसी उपन्यास से कम रोमांच पैदा नहीं करती। आज़ाद हिंद फ़ौज से भागकर जंगलों में भटकने और अँधेरे में जीवन की तलाश के दृश्य भयानक हैं।

लाहौर में रहने वाले घड़ीसाज का बेटा बाप से प्रताड़ित होकर कैसे अंग्रेज़ों की सेना में भर्ती होता है, आज़ाद हिंद फ़ौज में शामिल होता है, फिर किन परिस्थितियों में वहाँ से भागता है और नियति उसे कैसे भारत की बजाय तिब्बत पहुँचा देती है और जब वह भारत लौटने का प्रयास करता है तो यहाँ पहुँचते-पहुँचते उसका सब कुछ लुट गया होता है—उसका बच्चा, उसकी पत्नी, उसका याक, उसका कुत्ता। बच्चे और पत्नी की मौत से ज़्यादा दिल दहलानेवाला प्रसंग है याक को मारकर खाने की घटना। भूख लगने पर अपने पुत्र जैसे याक को मारकर खाना एक ऐसा सच है जिसे भूखा व्यक्ति ही महसूस कर सकता है। आप उसे पशुता कह लें, अमानवीयता कह लें क्योंकि यह सब भरे पेट का दर्शन है। भूख इन सबको परास्त कर केवल ज़िंदा रहने का रास्ता खोजती है और इस रास्ते में कोई रिश्ता नहीं बच जाता। प्रेमचंद के *क़फ़न* को समझने के लिए भूख के इस दर्शन को समझना ज़रूरी है। *क़फ़न* को या फिर *पिघलेगी बर्फ़* के तथाकथित अमानवीय प्रसंगों को समझने के लिए कम-से-कम एक सप्ताह भूखा रहना ज़रूरी है।

पिघलेगी बर्फ़ साम्राज्यवादियों के चेहरे को बेनक़ाब करता है। ब्रिटेन, जापान और बाद में चीन के मंसूबों में कोई फ़र्क़ नहीं—दूसरों का हक़ मारना और अपने को ज़्यादा से ज़्यादा मज़बूत बनाते हुए क्षेत्रों को निगल जाना। इसमें खुलकर बताया गया है कि चीन की नियत शुरू से ही ख़राब थी और कोई-न-कोई बहाना बनाकर उन्होंने तिब्बत को निगलना शुरू कर दिया। आज तिब्बत की बात कोई नहीं करता जिस पर चीन का 'अवैध' क़ब्ज़ा है क्योंकि वह मज़बूत है; लीग ऑफ़ नेशंस और अब संयुक्त राष्ट्र संघ को मज़बूत देश और ख़ासकर अमेरिका किस प्रकार धता बताता है, यह किसी से छिपा नहीं। जिस तरह चीन तिब्बत के साथ पेश आया, अमेरिका इराक के साथ पेश आ रहा है। चीन ने भारत को ग़फ़लत में रखा और कमज़ोर जानकर आक्रमण किया, पराजित-अपमानित किया और अपनी सीमा बढ़ा ली। आज भी चीन तिब्बत में मनमानी करता है, बाँध बनाता है जिसका सीधा असर भारतीय प्रदेशों पर पड़ता है और बिल्ली के गले में घंटी बाँधे कौन? इस संपूर्ण राजनीतिक परिदृश्य और एक संस्कृति के कुचले जाने और अपना वतन छूटने और विस्थापन का दर्द इस उपन्यास को करुणा से भर देता है। कश्मीरी पंडितों के दर्द के साथ तिब्बतियों के दर्द के तार कहीं-न-कहीं जुड़ते हैं क्योंकि दोनों ही विस्थापित हैं, उनका घर-बार छूट चुका है।

उपन्यास की शुरुआत जिस प्रश्न से होती है वह अंत होते-होते मुख्य अंश की जगह परिशिष्ट बन जाता है। कहानी इस प्रश्न के साथ शुरू होती है कि कथावाचक ज्योतिषि कैसे बना? इसके जवाब में कथानायक जो कथावाचक भी है अपनी बीती ज़िंदगी को बड़े सिलसिलेवार ढंग से सुनाता है। कथा का एक श्रोता भी है जिसने कथानायक से उत्कंठा ज़ाहिर की थी कि आप ज्योतिषि कैसे बने? ज्योतिष बनने की कथा उसके जीवन का एक हिस्सा थी उसका जीवन नहीं; अंततः वह आपबीती सुनाता है। इस 'विद्या' के पाखंड का पर्दाफ़ाश करते हुए कथावाचक बताता है कि उसे ज्योतिष विद्या जैसा किसी

विद्या का ज्ञान नहीं क्योंकि ऐसा कुछ होता ही नहीं है; सब कुछ तुक्के और मनोविज्ञान की परख पर चलता है। अपने इसी हुनर के कारण ज़िंदगी भर दुनिया भर की ठोकरें खाने वाला व्यक्ति एकाएक अमीर हो जाता है, गाड़ियों में घूमने लगता है, कोठी ख़रीद लेता है। वह भारतीय प्रजातंत्र के भ्रष्ट तंत्र का हिस्सा बन जाता है और दलाली करने लगता है। ऐसे भविष्यवक्ता दलाल जोंक की तरह हिंदुस्तान का रक्त चूसकर मुटिया रहे हैं और मंत्री, सेना के संत्री तक और अनपढ़ से लेकर पढ़े लिखे तक उनके पीछे दौड़ लगा रहे हैं। यह अवनति का लक्षण है। प्रगति और उन्नति की ओर उन्मुख देश बाबाओं और पुजारियों की ओर नहीं बल्कि अपने कर्मक्षेत्र की ओर बढ़ता है जहाँ कष्ट है, परिश्रम है पर सुकून और शांति भी है। कथावाचक कर्मपथ का पथिक है पर कुछ देर के लिए वह भटकता है; जीवन से पलायन करता है पर इस ऐशो-आराम की निस्सारता उसे जल्द ही समझ में आ जाती है और वह सारे ऐशो-आराम छोड़कर वापस लौट आता है। जीवनभर वह अपना ठिकाना खोजता फिरता है और ठिकाना नहीं मिलता। मनुष्य का जीवन इसी भटकन में बीत जाता है और राह नहीं मिलती।

पिघलेगी बर्फ़ का कथारस पाठक को बाँधकर रखता है। कई बैठकों में सुनाई गई यह कथा कभी संस्मरण, कभी यात्रा-वृत्तांत, कभी आत्मकथा तो कभी इतिहास का वेश धरती रहती है। उपन्यास बहुरूपिया होता है। वह कोई भी रूप धर सकता है। यही एक अकेली ऐसी साहित्यिक विधा है जो सबको समेटकर चलती है। इसका स्वरूप इतना विराट है कि इसमें सारा ब्रह्मांड समा सकता है। उपन्यास का कलेवर उपन्यासकार को ऐसा ओढ़ना उपलब्ध कराता है जिसे ओढ़कर वह कुछ भी बोल सकता है, सुना सकता है, दिखा सकता है उस पर किसी तरह की पाबंदी नहीं है। इस तरह सारी विधाएँ उपन्यास की पिछलग्गू लगने लगती हैं। पर कथा उपन्यास का प्राण है जिसके बिना उपन्यास निष्प्राण होता है। जब तक उपन्यास नाम की विधा है तब तक कथा की मौत नहीं हो सकती और जब तक मनुष्य है, उसका जीवन है उपन्यास का जीवित रहना अटल सत्य है। *पिघलेगी बर्फ़* के 'संस्मरण', 'आत्मकथा', 'यात्रावृत्तांत' और 'इतिहास' में एक कथा है जो इसकी संजीवनी है।

यह कथा जीवन का मक़सद तलाशने की जद्दोजहद है। यही मक़सद इसकी कथा को रोचक, रोमांचक और जीवंत बनाती है। इसमें आया एक-एक ब्योरा सच लगता है, चाहे वह अंग्रेज़ सेना की पलटन का क़िस्सा हो या आज़ाद हिंद फ़ौज का या फिर तिब्बत का। इसका कलेवर कुछ-कुछ रेडियो पर सुनाए जाने वाले 'आँखों देखा हाल' जैसा है जिसमें हम आँखों से कुछ देखते नहीं पर सब कुछ अपनी आँखों के सामने होता हुआ देखते हैं। इस कथा में आशा है, उल्लास है, जीवन के प्रति आस्था है, जीवन को पलायन मानने वालों के लिए एक सीख है। मक़सद ऊँचा है, कथा रसीली है, अंदाज़ेबयां मनमोहक है। इसलिए रचना भी ख़ूबसूरत है।

चर्चित उपन्यास :

पिघलेगी बर्फ़ : कामतानाथ; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006; 155 रुपए

सत्यकाम की आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068, फ़ोन : 29533534

गीता शर्मा

सार्थक सांस्कृतिक सेतु

दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार और स्वाधीनता आंदोलन प्राय: ताने-बाने की तरह एक-दूसरे से गूँथे रहे हैं। पाँचवें-छठे दशकों में, विशेषकर तमिलनाडु में द्रविड़ कऴकम और आगे चलकर उसके राजनीतिक मंच डी. एम. के. के उत्तर-विरोधी, ब्राह्मण-विरोधी और हिंदी-विरोधी आंदोलनों से निश्चय ही वहाँ के हिंदी सेवियों की कठिनाइयाँ बढ़ी होंगी। यही नहीं तमिलनाडु सहित चारों दक्षिणी राज्यों में आज़ादी के बाद लगातार अंग्रेज़ी के बढ़ते वर्चस्व और एकाधिकार से भी दक्षिण में हिंदी-प्रचार के काम को धक्का लगा होगा। लेकिन फिर भी साहित्यिक आदान-प्रदान और अनुवाद की परंपरा प्राय: जारी रही। कहना न होगा कि इससे बहुत सार्थक परिणाम भी सामने आए हैं।

वैसे तो दक्षिण भारत में हिंदी सेवियों की लंबी और पुरानी परंपरा रही है, पर इस समूची फ़ेहरिस्त में एक नाम सर्वाधिक लोकप्रिय और मान्य रहा है वह है तमिलनाडु के तमिल भाषी हिंदी सेवी र. शौरिराजन का। उत्तर और दक्षिण के बीच सार्थक और जीवंत साहित्यिक-सांस्कृतिक सेतु निर्मित करनेवालों में शौरिराजन का नाम अन्यतम है। वे संस्कृत, तमिल और हिंदी के मूर्धन्य विद्वान ही नहीं एक इतिहासकार, भाषा-शास्त्री एवं सर्जक साहित्यकार भी हैं। हिंदी और तमिल में उनकी 50 से अधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं, जिनमें 25 मौलिक एवं शेष अनुवाद हैं। इन पुस्तकों के अलावा फुटकर लेख तो न जाने कितने होंगे, जो हिंदी और तमिल की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में असंकलित पड़े होंगे। ऐसी ही बिखरी हुई ज्ञानराशि का एक संग्रह उनके हिंदी निबंधों के संग्रह *अभिज्ञान* के रूप में प्रकाशित हुआ है।

इस संग्रह में तमिल साहित्य, संस्कृति, समाज और लोक-जीवन से संबंधित बीस निबंधों को संकलित किया गया है। विषयवस्तु की परिधि की तरह ही इन निबंधों में लक्षित काल की परिधि भी अत्यंत व्यापक और विस्तीर्ण है। *धर्मयुग, आजकल, नवनीत, भारती* और *कल्याण* से लेकर *ज्ञानभूमि* (चेन्नै), *युग प्रभात* (केरल) और *हिंदी प्रचार समाचार* (चेन्नै) तक उत्तर और दक्षिण की विभिन्न हिंदी पत्रिकाओं में छपे इन निबंधों में से कई साहित्य अकादेमी, ऑथर्स गिल्ड ऑफ़ इंडिया, हिंदी अकादमी और भारतीय संस्कृति संसद, कोलकाता—जैसी सुप्रतिष्ठित संस्थाओं की विभिन्न संगोष्ठियों-समारोहों में पढ़े गए थे और अत्यंत प्रशंसित भी हुए थे। इनमें से कुछ यदि 1953 तथा 1957 के हैं तो कुछ एकदम हाल के 2000 और 2004 के हैं, जबकि अन्य सातवें, आठवें और नौवें दशक के। इन छोटे-बड़े निबंधों में अंतिम दोनों अत्यंत सुदीर्घ हैं : कंब-रामायण पर 50 पृष्ठों में तथा तमिल संस्कृति पर 84 पृष्ठों में। इसमें संदेह नहीं कि इन महत्त्वपूर्ण निबंधों के पारायण से न केवल हिंदी भाषी पाठकों को तमिल साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की एक आधिकारिक स्रोत से प्रामाणिक जानकारी मिलती है, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास का भी ज्ञान होता है। साथ ही तमिलनाडु के इतिहास, वहाँ की संस्कृति, लोकजीवन और मनोरचना का भी मनोहारी साक्षात्कार होता है। विद्वत्ता, सूक्ष्म विश्लेषण और तलस्पर्शी दृष्टि के साथ ही सहज सर्जनात्मकता का ऐसा दुर्लभ और विरल संयोग शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। शौरिराजन जैसे तमिलभाषी के पुष्ट, प्रसन्न एवं सृजनात्मक गद्य

तथा सहज प्रवाहमयी शैली से हिंदी भाषियों में से अनेक आज भी, गद्य के इस चौतरफ़ा पतन के दौर में, सीख सकते हैं। इनकी यह पुस्तक हिंदी पाठकों के लिए एक अनुपम और अनूठा प्रेमोपहार है।

'भारत भाग्यविधाता' के जनगण में 'द्रविड़' या 'द्राविड़' भी एक हैं, यह लिखते हुए शौरिराजन बताते हैं कि द्राविड़ का अर्थ दक्षिणापथ से लिया जाता है। अर्थात् आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल—इन चारों प्रदेशों के निवासियों को द्राविड़ कहने की परिपाटी पाश्चात्य विद्वानों की तथाकथित 'खोज' की उपज है। पाश्चात्य भाषा शास्त्रियों और उनके अनुगामी भारतीय विद्वानों की रूढ़ मान्यताओं का सप्रमाण खंडन करते हुए शौरिराजन लिखते हैं कि " 'तमिऴ' शब्द भाषापरक है, 'तमिळर' जातिवाचक है, 'तमिळम' या 'तमिळकम' प्रदेशवाचक है। 'द्रविड़' शब्द मूल की अनुकृति में पहले भाषापरक रहा। बाद में अर्थविकास से देश तथा जाति का बोधक बन गया।" (पृष्ठ 54) उनके मतानुसार " 'द्रविड़' शब्द संस्कृत का है। किंतु वह उसका मौलिक या देशज भी नहीं है। वह निपाती शब्द है, जिसका कोई वैयाकरण प्रमाण या समर्थन नहीं है। 'तमिऴ' शब्द का विकृत या संस्कृत-जनित रूप है द्रविड़। 'द्रविड़' से 'अण्' प्रत्यय लगाकर नियमानुसार 'द्राविड़' (द्रविड़-वासी या भाषी) बनाया गया। उस शब्द का रूप-परिवर्तन का क्रम है—तमिऴ-दमिऴ-द्रमिऴ या द्रमिल-द्रमिड़-द्रविड़।" (पृ. 54) शौरिराजन बताते हैं कि तमिऴ, चेंतमिऴ (परिष्कृत या स्वच्छ तमिल) आदि शब्दों का प्रयोग तमिल के प्राचीनतम लक्षणग्रंथ तोलका-प्पियम् में मिलता है। इसके रचनाकार तोलकाप्पियर पाणिनि (ई.पू. 400-470) के परवर्ती स्वतंत्र तमिल-वैयाकरण हैं। ई.पू. दूसरी शती से दूसरी शती ई. के परवर्ती संघकालीन तमिल ग्रंथों में भी तमिऴ, तमिऴकम आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके स्थान पर तमिल का कोई भी अपभ्रंश रूप प्रयुक्त नहीं हुआ है। शौरिराजन के अनुसार लगभग तीन हज़ार वर्षों से तमिल भाषा अपने विशिष्ट स्वरूप, विपुल शब्द-भंडार और स्वतंत्र शैली के बरक़रार रखे हुए है, जबकि संस्कृत और प्राकृत के प्रभाव से कन्नड़, तेलुगु और मलयालम अपने स्वतंत्र अस्तित्व को ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शतियों में ही खो चुकी थीं।

भारत पर आक्रमण कर उसे उपनिवेश बनाने वाली पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों की रणनीति शुरू से ही यह रही है कि इस देश के एक जनगण को दूसरे जनगण से लड़ाया जाए और यहाँ बसने वाली प्राय: सभी जातियों को बाहर से आए आक्रमणकारी बताकर अपनी औपनिवेशिक अवैध सत्ता को वैधता प्रदान की जाए। तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान तथा प्राचीन भारतीय इतिहास से संबंधित तथाकथित पाश्चात्य 'खोजों' का प्राय: यही मक़सद रहा है। इसी से ये अनैतिहासिक कपोल कल्पनाएँ फैलाई जाती रही हैं कि द्रविड़ों ने पश्चिमोत्तर से हमला करके यहाँ के मूल निवासियों को खदेड़ा, जो पर्वतों और जंगलों में रहने वाली आजकल की जनजातियाँ हैं। मज़े की बात यह है कि ये जनजातियाँ भी भारत की मूलनिवासी नहीं हैं। वे आस्ट्रेलिया और अफ्रीका से यहाँ आई थीं। बाद में एक के बाद एक आर्यों की आक्रमणकारी लहरों ने द्रविड़ों को धुर दक्षिण में ढकेल दिया। इन्हीं कपोल कल्पनाओं के तहत द्रविड़ों को आर्यों का शत्रु (दस्यु) बताया जाने लगा, जबकि आर्येतर या दस्यु उन लोगों को कहा जाता था जो "अकर्मा (यज्ञ न करने वाले), अदेवयु, देवपीयु (देवों से घृणा करने वाले), अब्रह्मन् (देवों को न मानने वाले), अयज्वन, अयज्यु, अव्रत (यज्ञ न करने वाले), संस्कारहीन, विचित्र व्रतों से लिप्त) आदि शब्दों से वर्णित हैं।" (पृ. 61) शौरिराजन के

अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें दस्यु कहा गया है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के बाहर थे, चाहे वे म्लेच्छों की भाषा बोलते हों, या आर्यों की। इसी तरह महाभारत में भी पतित क्षत्रियों को 'दस्यु' बताया गया है। वे लिखते हैं कि, "भारतीय पुराण, स्मृति ग्रंथों में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि तथाकथित द्राविड़ ही दस्यु थे। वैदिक तथा पौराणिक ग्रंथों की नए ढंग से व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वान तथा उनके अनुगामी इतिहासकार एक अंधमत बराबर व्यक्त करते आ रहे हैं कि द्राविड़ ही दस्यु थे, जो आर्य विरोधी थे, चपटी नाक वाले थे, असभ्य थे, म्लेच्छ थे, आदि, आदि। इसमें तथ्यान्वेषण कम और कोरा ऊहापोह अधिक प्रतीत होता है।" (पृ. 63) निष्कर्षत: "अनेक भारतीय विद्वान अब इस निर्णय पर आ चुके हैं कि आर्य मूलत: भारतवासी हैं, मध्य एशिया से आए प्रवासी या यायावर नहीं हैं। उसी प्रकार तथाकथित द्राविड़ लोग भी मूलत: दक्षिणापथ के निवासी हैं।" (पृ. 64) पाश्चात्य विद्वानों और उनके अंधानुगामी भारतीय विद्वानों द्वारा फैलाई गई ये दंतकथाएँ हमारे इतिहास, भाषा-विज्ञान और शिक्षा-क्षेत्रों में इतना जड़ जमा चुकी हैं कि आज भी हमारे स्कूली और उच्चशिक्षा के पाठ्यक्रमों का हिस्सा बनी हुई हैं।

ये तमाम अनैतिहासिक कपोल कल्पनाएँ केवल इतिहास को ही विकृत नहीं करतीं, बल्कि समकालीन राजनीति का हिस्सा बनकर हमारे वर्तमान को भी विषाक्त करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़तीं। इसीलिए शौरिराजन सचेत करते हैं कि "यह सब विदेशी इतिहासकारों की अधकचरी खोज की उपज है। मनगढ़ंत स्थापनाएँ हैं। इनका चर्वित चर्वण अधिकांश भारतीय तथा अभारतीय इतिहासकारों ने भी किया है। आर्य और द्रविड़ में आपसी फूट और दुश्मनी की बात फैलाने में उन इतिहासकारों की कोरी स्थापनाएँ सतत प्रयत्नशील रही हैं। मौक़े-बेमौक़े उनसे अनुचित लाभ उठाने का श्रेय तमिलनाडु के द्राविड कळ्कम को तथा उसके हिमायतियों के लीडरों को प्राप्त है। स्वार्थवश, अपनी खीज दर्शाने के लिए उस 'सिद्धांत' का उल्लेख करनेवाले तथाकथित 'आर्येत्तर' भी कम नहीं हैं। ऐसे ही प्रतिक्रियावादी, संदर्भवादी तथा स्वार्थवादी लोगों के निर्माण में वह ऐतिहासिक अयथार्थ स्थापनाएँ बहुत कुछ साथ देती हैं। सबसे अधिक ख़तरा है भारतीयों में आपसी फूट का, दक्षिण और उत्तर में जलनभरी रुझान का, सवर्णों और अवर्णों में विद्वेष की लपटों का। विगत वैभवों के उत्तराधिकारी होने का दंभ भरने एवं छाती फुलाकर इतराने में वर्तमान और भविष्य से बिलकुल आँख मूँद लेने का ख़तरा भी अब फैला हुआ है।" (पृ. 61) कहना ना होगा कि हिंदी प्रेमी तमिल विद्वान की 1966 में दी गई यह चेतावनी आज भी अत्यंत सामयिक है।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है कि इस पुस्तक में भाषा-विज्ञान, इतिहास और तमिल लोक जीवन तथा साहित्य-संस्कृति विषयक आलेख भी संकलित हैं। इनमें शौरिराजन ईसा पूर्व शतियों से लेकर 13वीं शती तक के चेर, चोल, पांडिय, पल्लव वंशीय शासकों के कालखंड के दौरान तमिल संस्कृति एवं लोकजीवन के विविध पक्षों से हिंदी पाठकों को परिचित कराते हैं। एक लेख राजराज चोळन (985-1016 ई.) पर है, जिनका महत्त्व सम्राट अशोक, चंद्रगुप्त, हर्षवर्धन, राजा भोज, अकबर और कृष्णदेवराय की तरह है। कर्नाटक संगीत के महान प्रवर्तक और संवर्धक संत त्यागराज स्वामी (1767-1847 ई.) पर भी एक लेख है। इसी तरह एक लेख महान संगीतज्ञ वीणावादक कारैक्कुडि सांबशिव अय्यर पर भी है। एक ओर यदि तमिळ रामकथा-काव्य कंब-रामायण के कुछ अंशों का हिंदी भाष्य है तो दूसरी ओर तमिल लोकगीत 'मेंढकी का रुदन' का हिंदी अनुवाद भी है। एक लेख यदि वैष्णव भक्त

रामानुजाचार्य पर है तो दूसरा लेख तिलक के अनुयायी और महाकवि भारती के सहयोगी महान स्वतंत्रता सेनानी चिदंबरम् पिल्लै और एक लेख न्यायाधिपति सर टी. मुत्तुस्वामी अय्यर पर भी है। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख महाकवि सुब्रह्मण्य भारती पर भी संकलित है, जिसमें उनके क्रांतिकारी काव्य के साथ ही उनके तेजस्वी विचारों और जुझारू व्यक्तित्व के अनेक पक्षों से हिंदी पाठकों को परिचित कराया गया है।

भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में तो इस पुस्तक के कई निबंधों का विशेष महत्त्व है, जिनमें नौवीं सदी के आळ्वार वैष्णव कवियों और न्यायनमार शैव कवियों, विशेषकर सर्वाधिक लोकप्रिय कवयित्री आण्डाळ के काव्य एवं जीवन का परिचय दिया गया है। अप्पर ज्ञानसंबंधर, सुंदरर, माणिक्कवाचकर आदि 63 न्यायनमार शैव संतों की कविताओं को बारह खंडों में संकलित किया गया है जिन्हें 'तिरुमुरै' कहते हैं। उसी काल में पेरियाळवार, नम्माळवार, कुलशेखर और आंडाळ आदि एक दर्जन वैष्णव आळवार कवियों की चार हज़ार कविताओं को 'दिव्य प्रबंधम्' संकलित किया गया है। इन भक्त कवियों के अलावा शौरिराजन ने संघकाल और संघोत्तर की रचनाओं का भी परिचय दिया है। वे कवि इळंगो अडिगळ की रचना शिलप्पदिकारम् (चौथी शती ई.) और बौद्ध कवि शीत्तलैचात्तनार की रचना मणिमेखलै (चौथी शती ई. का अंतिम चरण) से भी हिंदी पाठकों का साक्षात्कार कराते हैं। स्मरणीय है कि *शिलप्पदिकारम्* को तमिल का पहला महाकाव्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त शौरिराजन हिंदी पाठकों को तमिल के राष्ट्रीय जागरण कालीन प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और अद्यतन धाराओं के साहित्य से भी परिचित कराते हैं। इस प्रकार यह पुस्तक हिंदी पाठकों के लिए सही अर्थों में गागर में सागर है। हिंदी संसार को इस अनुपम उपहार के लिए निश्चय ही शौरिराजन के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

चर्चित पुस्तक :
अभिज्ञान : र. शौरिराजन; सरोजन प्रकाशन, 24, [illegible] 41, सेक्टर-8, के.के. नगर, चेन्नै-600078; 2005; [illegible] रुपए

गीता शर्मा के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली 110096, फ़ोन : 011-22629238

महेश कटारे

हिंदी पत्रकारिता की रीढ़ नापते हुए

स्वयं को दूसरों तक पहुँचाने अथवा अन्य को स्वयं तक लाने का सबसे प्रभावी माध्यम शब्द का होना तो तय है, भले ही वह मौखिक हो या मुद्रित, चीख़ हो या अट्टहास, अपने आपको प्रकट करने का ज़रिया ही तो है वह। और यही शब्द चाहे वह आह बनकर निकले या किलकारी जहाँ का तहाँ घोंट दिया जाए तब?...ऊपर से यह घुटन या घोंटन दिन, महीने, वर्षों के बाद सदियों का छोर छूने लगे तब?

तब वे सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियाँ आगे आती हैं जो शब्द का बंधन खोलने का दुस्साहस रचती हैं। स्वाभाविक है कि यथास्थितिवादी, दमनकारी सत्ता तिलमिलाती है, वह नए तरीक़े से नए रूप धर बंधन और कसती है किंतु मुक्ति की पक्षधर आवाज़ें कहीं न कहीं गूँज ही जाती हैं कि 'जागते रहो'।

संतोष भदौरिया ने हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक *शब्द-प्रतिबंध* में भारतीय प्रेस के स्व[illegible]

पूर्व इतिहास में इस सबकी पड़ताल की है। इस आपाधापी भरे हाँफते समय में जब लोगों के पास मुड़कर देखने तक का समय नहीं है। दौड़ती-भागती भीड़ के बीच खड़े रहने या अपनी जगह बनाए/बचाए रखने तक के लिए आदमी को विवश होकर दौड़ना पड़ रहा है तब अपनी ऐतिहासिक स्मृति के पन्ने पलटते हुए इक्कीसवीं सदी का भारतीय आश्चर्य में पड़ सकता है कि बीती सदियों में हिंदियों की रीढ़ क्या सचमुच इतनी दमदार थी? पाठक कृति के साथ 'संघर्ष और बंधन' नाम के अध्याय में राष्ट्रवाद के विकास और स्वाधीनता आंदोलन में अपनी भूमिका तय तथा विकसित करती संस्थाओं का परिचय पाते हुए हमराह होता है। लेखक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को ही आंदोलन का पहला चरण मानता है।...यद्यपि इसके पहले भी छोटे-बड़े पैमाने पर प्रयास हो चुके थे। मोटे तौर पर इन कांग्रेस आंदोलनकारियों का नेतृत्व उदारवादियों के हाथ में था। दूसरे दौर में उग्रवादी नेताओं का बोलबाला रहा। 'लाल बाल पाल' की त्रयी इसी काल की उपज थी। इनकी माँग थी–ब्रिटिश शासन की तुरंत समाप्ति।...विदेशी भाषा, भूषा, वस्तुओं का बहिष्कार। प्रथम विश्वयुद्ध तथा रूसी क्रांति इसी दौर की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं जिन्होंने विश्व की राजनीति और अर्थनीति दोनों को दूर तक, गहरे तक प्रभावित किया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन पर भी इसका असर होना ही था। पुस्तक इन स्थितियों के साथ तत्कालीन भारतीय मानस में हो रहे परिवर्तन की सरसरी थाह लेते हुए अपने विषय पर पहुँचती है कि लेखी शब्द के प्रतिबंध से उसका आशय है और इसमें पत्रकारिता व साहित्य प्रमुख हैं। पत्रकारिता मूलतः समसामयिक इतिहास है जो शीघ्रतापूर्वक लिखा जाता है। दैनिक जीवन में घटित राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक घटनाओं का रहस्योद्घाटन पत्रकारिता का जीवन है।

यहाँ लेखक साहित्य और पत्रकारिता का अंतर दर्शाते हुए भारत में पत्रकारिता का उद्भव, विकास ज़िक्र में लाता है। देश में पहली प्रेस या छापाख़ाने की सूचना, पहले अंग्रेज़ी पत्र के आरंभ का उल्लेख कर वह पत्रकारिता की परिसीमा में प्रवेश करता है। दरअसल किताब का अभिप्रेत आशय यहीं से स्पष्ट होता है गो कि ऐतिहासिक पीठिका भी कम आवश्यक नहीं। सच है कि हिंदी पत्रकारिता कब कैसे कहाँ शुरू हुई? इस पर प्रचुर परिमाण में पुस्तकें/सामग्री है किंतु लेखक उस पत्रकारिता को फ़ोकस में लाता है जो व्यवस्था के सामने और विरोध में भी तन कर खड़ी हुई। जिसने राष्ट्रीय आंदोलन और जनआकांक्षाओं को वाणी दी। जो न केवल प्रतिबंधित हुई। बल्कि जेल, ज़ब्ती, जुर्माने भुगते। वस्तुतः *शब्द-प्रतिबंध* से हमारी स्मृति के जालों को साफ़ करने की प्रेरणा मिलती है। इस उपभोक्तावादी दौर में जब हमारी सांस्कृतिक चेतना कहीं लुप्त, कहीं कुंठित हो रही है/की जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं की मुखौटों डूबी देह व्यवसाय का माध्यम बन रही है और सूचना तंत्र मीडिया के चोले में सनसनी व उत्तेजना का विक्रेता बन गया है। जब मीडिया के लिए अकाल और आत्महत्या करते किसानों की जगह क्रिकेट की जीत-हार तथा किसी मॉडल के अंग वस्त्रों का खिसकना महत्त्वपूर्ण हो गया है तब हिंदी पत्रकारिता की उस तेजस्विता का ध्यान दिलाने की ज़रूरत बहुत शिद्दत से महसूस होती है। ठीक है कि अब शब्द पर प्रतिबंध नहीं। शब्द स्वतंत्र है।...हाँ, भ्रष्ट होने के लिए भी। अब यह आपकी क्षमता और कौशल पर निर्भर है कि भ्रष्ट होने की क़ीमत किस विधि से कितनी वसूल पाते हैं। इस समय 'सरस्वती' और संपा. महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ इन दिनों विज्ञापनों के लिए बिस्तरों पर बिछ जाने वाले पत्र-पत्रिकाओं के बरक्स स्वदेश, प्रदीप, चाँद आदि

की तस्वीर दिखाई जानी ज़रूरी लगती है। भले ही उसका कोई असर हो, न हो। शर्म कहीं बची हो, शायद!

'जेल ज़ब्ती जुर्माना' खंड प्रतिबंधित पत्र-पत्रिकाओं के विवरण में धँसता है और 'देश दुनिया', सामाजिक आर्थिक समस्याओं से जुड़ती-जोड़ती प्रेस का अप्रतिहत रूप सामने रखता है क्योंकि मुक्ति का कोई भी संघर्ष बहुआयामी होता है। छोटे-बड़े सामाजिक संदर्भ की अनेक धाराएँ संघर्ष के मुख्य प्रवाह को शक्ति तथा तेजस्विता बढ़ाती हैं। स्त्री शिक्षा, जाति, दहेज़ प्रथा कुरीतियों पर प्रहार, विधवा विवाह, मानवीय संबंध, वैज्ञानिक चेतना आदि के साथ सांस्कृतिक पक्ष भी राष्ट्रीय संघर्ष में महती भूमिका अदा करते हैं। यहाँ पत्रकारिता साहित्य को आगे रखती है क्योंकि साहित्य दिल, दिमाग़ बदलने वाला कारक है। इसीलिए हम पाते हैं कि *शब्द-प्रतिबंध* के दौर में पत्रकार मात्र 'प्रोफ़ेशनल जर्नलिस्ट' नहीं बल्कि 'मिशनरी' है।...तभी वह साहित्यकार भी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला, गणेश शंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे बीसियों नाम हैं जो पुस्तक में आदर्श की तरह आए हैं। ये व्यक्तित्व अपने होने की क़ीमत वसूलने नहीं, चुकाने के लिए स्मरणीय हैं। इस पत्रकारिता की प्रेरणा संघर्षशील भारतीयता थी।
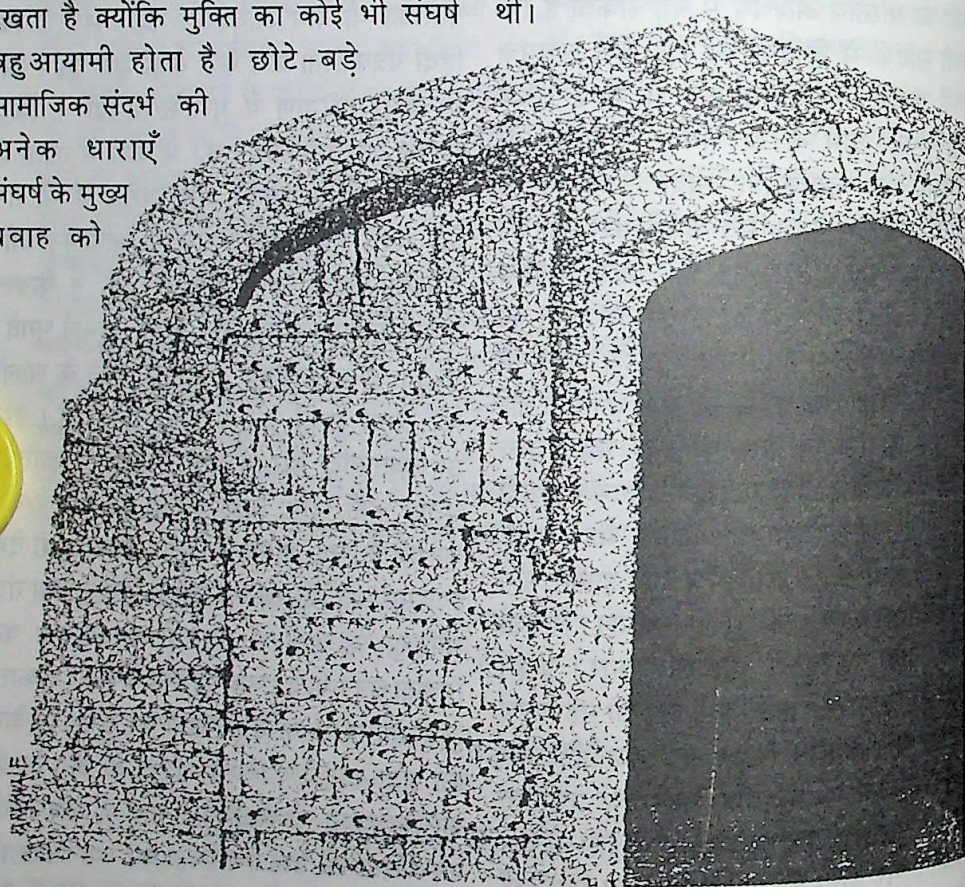
ध्यान देने योग्य है कि भारत में आधुनिक पत्रकारिता *हिक्की गजट* (अंग्रेज़ी साप्ताहिक) से शुरू हुई। हिक्की गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्स की आलोचना तक से न हिचके। फलस्वरूप पत्र बंद हुआ और संपादक जेम्स आगस्टक हिक्की को जेल जाना पड़ा। 1857 के बाद अंग्रेज़ी पत्रकारिता का स्वर सरकार समर्थक हुआ जो आज तक श्रीमंतों की रुचि का ध्यान रखता

जाता आ रहा है। इसके लिए मेधा पाटकर की अपेक्षा ऐश्वर्या राय अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शब्द-प्रतिबंध में उल्लेखित पत्रों की भाषा बोलचाल वाली होती थी। भाषा-परिष्कार भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से आरंभ हुआ। उन्नीसवीं सदी के बाद जनता के स्वराज का अर्थ समझ में आने लगा था। बंगाल में पत्र जागरण में जुटे थे तो महाराष्ट्र में तिलक स्वयं पत्रकार थे। साहित्य में इसे द्विवेदी युग से जोड़ा जा सकता है। 'भारतीय जनता की निर्धनता, अंग्रेज़ों की आर्थिक लूट, ज़मींदारों के अत्याचार, देशी उद्योगों की समाप्ति से सभी त्रस्त थे।' अंग्रेज़ी सत्ता पत्र-पत्रिकाओं को नाना नियम-क़ानूनों में जकड़कर अंकुश लगा रही थी। पुस्तक के 'जेल ज़ब्ती जुर्माना' खंड में किंचित् विस्तार से उन पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख हुआ है जो हर दमन के बाद और भी उग्र तेजस्विता से सिर तानकर खड़ी हुईं। *वर्तमान, अभ्युदय, प्रताप, हलधर* (पाक्षिक), *सत्याग्रह समाचार, सुधा, युद्धवीर, सैनिक, नया हिंदुस्तान, स्वदेश, चाँद, बलिदान, अलंकार, क्रांति, विप्लव प्रभृति* के साथ *कल्याण* जैसी धार्मिक पत्रिका की जनजागरण भूमिका को भी रेखांकित किया गया है। 'बुंदेलखंड केसरी' जैसे साइक्लोस्टाइल पत्र भी अपनी आहुति देने में पीछे न थे। कहते हैं कि इस पत्र का कार्यालय दफ़्तरों में बदलता था और छापे से बचने के लिए इसके संपादक श्री गुप्त खंडहरों में बैठे संपादकीय व लेख लिखते थे।

शब्द-प्रतिबंध के 'देश दुनिया' अध्याय के अंतर्गत भारतीय प्रेस विशेषतः हिंदी प्रेस के देश के साथ दुनिया के संदर्भों में देखने का उपक्रम है। विश्वयुद्ध, मार्क्सवादी विचार व व्यवस्था से प्रभावित राजनीति और संस्कृति एवं नई आर्थिक समग्र स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जुड़ी। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण का प्रभाव बीसवीं सदी की सामाजिक संरचना पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा था। हिंदी प्रेस समाजार्थिक सरोकारों, वैज्ञानिक चेतना व सामाजिक संस्कृति की पक्षधरता से जुड़ चुकी थी। सरकार को यह भी अपने विरुद्ध लगता था। सत्ता जाने का भय शासक को संशयी बना देता है।

पुस्तक का अन्य अध्याय 'पग पग प्रतिवाद' 'संघर्ष और बंधन' का ही विस्तार है किंतु 'कहन विस्तार' इसलिए विशेष है कि इसमें भाषिक प्रयोग और संरचना का जायज़ा है। प्रतिबंधित पत्र-पत्रिकाएँ जनसामान्य में नई चेतना, नया विश्वास, सांस्कृतिक चेतना का विकास तो कर ही रही थीं, भाषा के परिष्कार के प्रति भी सचेष्ट थीं। बोलचाल के शब्दों का प्रयोग, नित नवीन शब्दों का निर्माण, दिन-प्रतिदिन घटित होने वाली विविध प्रकार की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में निर्मित नई शब्दावली का प्रयोग प्रतिबंधित पत्र-पत्रिकाओं के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाली भाषा की अन्यतम विशेषताएँ हैं। शब्दों पर शास्त्रार्थ जैसी घटनाएँ हो जाती थीं। विशेष बात यह है तत्कालीन हिंदी पत्रकार, क्रांतिकारी साहित्यकार भी थे। वह मानते थे कि 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।'

आज हिंदी पत्रिका में 'सबसे तेज़' जैसी तेज़ी और अरबों की पूँजी है। योग्य संपादक, संवाददाता हैं, शाबासियाँ, सहूलियतें, पुरस्कार और तोलमोल की क्षमता है। बस संकल्प की दृढ़ता नहीं दिखती। समर्पित व्यक्तित्व नज़र नहीं आते। 'मूल्य' का नाम सौदागरी और पाखंड के लिए उपयोग होने लगा है। ऐसे में *शब्द-प्रतिबंध* स्वतंत्रता पूर्व हिंदी पत्रकारिता का स्मरण कराए यह भी राहत देने जैसा है।

चर्चित पुस्तक :
शब्द-प्रतिबंध : संतोष भदौरिया; मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2006; 200 रुपए

कटारे का जन्म 1948 में हुआ। कहानी और नाटक की चार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कृत हैं। संपर्क : निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार, ग्वालियर 474006 (म.प्र.)

राजाराम भादू

ख़त्म होती नहीं कविता कभी

कथा कहो कविता दिनेश कुमार शुक्ल का नया कविता संकलन है, जिसमें उनकी सात लंबी कविताएँ संकलित हैं। समकालीन कविता में दिनेश कुमार शुक्ल अपने अंदाज़े बयाँ के कारण जाने जाते हैं। इनकी काव्य भाषा और शैली की अपनी पहचान है, बेशक इसमें विषयवस्तु का विस्तार और नयापन है। समकालीन कवि प्रायः लंबी कविता लिखने से बचते रहे हैं। हो सकता है, उन्हें इसके लिए स्वाभाविक दबाव नहीं अनुभव हुआ हो। जो भी, विगत डेढ़ दशक में ऐसी लंबी कविताएँ कम रही हैं जिन्होंने ख़ास ध्यान आकर्षित किया हो।

हिंदी में लंबी कविताओं पर नई अंतर्दृष्टि के साथ विमर्श मुक्तिबोध के समय शुरू हुआ। इसे सुविधा के लिए उत्तर नई कविता काल कह सकते हैं। 'अकविता' जैसे कथित काव्य-आंदोलन भी इसी दौर में चले। यह विडंबना है कि इस दौर की काव्य-प्रवृत्तियों को बहुत स्वस्थ और गुणात्मक नहीं माना जाता लेकिन इसी समय में बेहतरीन लंबी कविताओं का सृजन हुआ। मुक्तिबोध और उनके बाद धूमिल, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन जैसे कवियों की लंबी कविताओं ने शिल्प और विषय वस्तु के साथ काव्य-संरचना के नए क्षितिज उद्घाटित किए। इन्होंने विचारोत्तेजक सौंदर्यशास्त्रीय बहसों को जन्म दिया। अब प्रबंध और खंड काव्य के काव्य ढाँचों में तो कविता को देखना संभव नहीं ही रहा, वरन् यह धारणा पुनर्स्थापित हुई कि अभी भी 'एपिकल' संवेदना का वहन करने की सामर्थ्य कविता नामक इस विधा में है। यद्यपि इससे पहले निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'कुकुरमुत्ता' जैसी लंबी कविताएँ थीं। लेकिन कहा जाता था कि 'राम की शक्ति पूजा' तो मुक्त छंद में प्रबंध (खंडकाव्य) है, और इसी प्रकार 'कुकुरमुत्ता' मुक्त छंद में कथा है।

मुक्तिबोध की कविताओं ने धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' को भी अलगा दिया। ऐसा लगा कि यह कोई दूसरा ही इस्पात है जिसमें लंबी कविता ढलती है। इस कविता का नायक 'आवेग त्वरित काल यात्री' है जिसकी यात्रा कभी समाप्त नहीं होती। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और रघुवीर सहाय की लंबी कविताओं में हम नई शक्ति और संभावनाएँ देखते हैं। इस दौरान इनके शिल्प-विधान, अंतर्वस्तु और प्रस्तुति-शैली को लेकर कई विश्लेषण अध्ययन सामने आए हैं। इन अध्ययनों में दी गई प्रस्थापनाएँ हालाँकि विवादित रही हैं तथापि इनकी गंभीरता से इनकार नहीं किया जा सकता। इनमें एक तो लंबी कविता की अंतःसूत्रता की अनिवार्यता के बारे में है, दूसरी इस तरह की कविताओं में अंतर्निहित भावधारा का रेखांकन है और तीसरी अर्थान्विति के संदर्भ में है। लेकिन यह एक चिंतनीय मसला है कि समकालीन लंबी कविताएँ लोगों का उतना ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाईं। मैं समझता हूँ 'समकालीन' से आशय यहाँ बहुत स्पष्ट है। थोड़ा और पीछे जाएँ तो आलोक धन्वा, विजेंद्र और राजेश जोशी की लंबी कविताओं पर जीवंत चर्चाएँ हुई थीं। लीलाधर जगूड़ी की कविता का तो मंचन भी हुआ। इसके बाद हम लंबी कविता विमर्श को क्षरित होते हुए देखते हैं। कोई कह सकता है कि इस दौरान सामान्य कविता विमर्श

[हां] कौन-सा उन्नत हुआ है और ऐसा कहने में [कि]सी एक हद तक सच्चाई है। किंतु लंबी कविताओं [का] अचर्चित रह जाना निश्चय ही एक त्रासद [विडं]बना है। निश्चय ही इसके लिए हम सभी [लो]ग ज़िम्मेदार हैं।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस दौरान [श्रे]ष्ठ लंबी कविताएँ नहीं लिखी गई हैं। बहुधा [य]ह कहा जाता है कि जब श्रेष्ठ सर्जना ही नहीं [हो]गी तो आलोचना कैसे उत्प्रेरित होगी। मान [ब]हादुर सिंह, स्वप्निल श्रीवास्तव से देवी प्रसाद [मि]श्र तक कई कवियों ने महत्त्वपूर्ण लंबी [क]विताओं का सृजन किया है। यहाँ तक कि [ह]मारी पत्रिकाएँ इन्हें अलग से रेखांकित नहीं [क]रतीं। लंबी कहानी को कई पत्रिकाएँ विशिष्टता [से] प्रकाशित करती हैं। इन पर अलग से बात [क]था-आलोचना में भी नहीं होती।

दिनेश कुमार शुक्ल की लंबी कविताएँ इस [सं]दर्भ में महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। संकलन के [शी]र्षक में कविता से कथा कहने का आह्वान किया गया है। किंतु इन कविताओं में सतही [अ]र्थ में कोई 'स्टोरी लाइन' नहीं है। 'कथा' [य]हाँ आख्यान के अर्थ में है—अपने समय का [ए]क काव्यात्मक आख्यान और यह आख्यान [अप]ने ही इन्हें लंबी कविता बनाता है। शुक्ल के [पा]स समृद्ध भाषा है और बिंब रचने की ज़बर्दस्त [क्ष]मता, इसके चलते वे बिंबों की एक के बाद [ए]क शृंखला खड़ी करते चलते हैं। उनके आख्यान [इस] बिंबावली से ही उद्भुत होते हैं—

हमने जीवन-छायाओं के ही देखे स्वप्न,
और जीवन की प्रतिध्वनियों से ही
बनाई अपनी भाषा, संगीत,
और प्रार्थनाएँ और टोने-टोटके...

इनमें यथार्थ का कहीं एकायामी वर्णन नहीं है, बल्कि उसका बहुआयामी वृत्तांत है। पहली [क]विता "लपटों से घिरा आकाश" एक फ़ंतासी है। इसमें कानपुर शहर में स्थित घंटाघर काल की एक प्रतीक धुरी है, जहाँ से वर्तमान और अतीत तथा गाँव से महानगर की एक यात्रा-कथा का ताना-बाना संबद्ध है। दूसरी कविता 'ध्वनि का पहाड़' में पराधीनता की परिधियों से मुक्ति-प्रसंग है। 'चौखट के भीतर चौखट के बाहर' मौजूदा समय के गतिरुद्ध हो जाने का वृत्तांत है जबकि सर्जना का साथ यात्रा में एक 'ट्रांज़िट स्टेशन' की तरह सृजन, दूसरे शब्दों में कहें तो कविता की महत्ता का स्थापन है। 'उस पार की कथा' 'गंगदेस की कथा' और 'जंगम जल' शहरी सभ्यता के बरक्स ग्रामीण जीवन प्रणाली की बर्बादी का आख्यान हैं।

कथ्य की दृष्टि से सभी कविताएँ मौज़ूँ और प्रासंगिक हैं। दिनेश कुमार शुक्ल की भाषा-सामर्थ्य और शैली की सराहना पहले ही की जा चुकी है। फिर भी इन कविताओं से गुज़रने के बाद भी पता नहीं क्यों एक रिक्तता की प्रतीति होती है। बेशक यह नितांत व्यक्तिगत राय, प्रतीति भी करना चाहूँगा। कविताएँ पढ़ते वक़्त लगता है, आप जैसे एक झंझावात से गुज़र रहे हैं और इसके गुज़र जाने पर आप वैसे के वैसे रह जाते हैं। अधिक से अधिक इससे गुज़र जाने की राहत महसूस कर सकते हैं। यह प्रतीति ही वह प्रस्थान बिंदु है जहाँ से हम इन कविताओं का पुनरावलोकन शुरू कर सकते हैं। नरेंद्र मोहन जैसे आलोचकों ने लंबी कविता की रचना-प्रक्रिया को बहुत महत्त्व दिया है। मुक्तिबोध की ऐसी कविताओं में इसकी झलक भी मिलती है। यही वो निर्णायक तत्त्व है जो लंबी कविता को सामान्य कविताओं से अलगाता है। पहले हमने लंबी कविता विषयक जिन प्रस्थापनाओं/विशेषताओं का उल्लेख किया, वे तो इसका सहज प्रतिफल हैं। रचना-प्रक्रिया की विशिष्टता से ही लंबी कविता की एकान्विति और प्रभाविता

निर्णीत होती है। आपके पास कोई ऐसी अंतर्वस्तु है जिसे आप वैसे नहीं कह सकते जैसे कहते रहे हैं, एक ऐसी चेतना दीप्त अंतर्वस्तु जो अपना स्वतंत्र, इसीलिए विशिष्ट, रूपाकार ग्रहण कर लेना चाहती है। अंततः रचना-प्रक्रिया अंतर्वस्तु और संरचना का सृजनात्मक द्वंद्व है।

शुक्ल की इन कविताओं में भावधारा की अंतःसूत्रता है। लेकिन यह नैराश्य की भावधारा है। त्रिलोचन जी कहा करते थे कि निराशा भी यथार्थ है, एक सत्य भाव स्थिति है। त्रिलोचन जी से सहमत होते हुए भी कहना होगा कि सृजन में निराशा का चित्रण भावक में कुछ भिन्न उद्वेग पैदा करता है। बहुत सारा यथार्थवादी साहित्य त्रासद और दुखांत है किंतु इसकी प्रभान्विति नितांत भिन्न है। हम किसी 'लाल सवेरे' के पक्ष की प्रस्तावना नहीं करने जा रहे हैं किंतु मुक्तिबोध की कविता के उस 'रक्त कुसुम' की याद दिलाना चाहते हैं जो चेतना प्रस्यूत था। शुक्ल की कविताओं के हाहाकारी और भयावह वृत्तांतों में भी लाल फूल का ज़िक्र है : *सहमति के मलबे में / जैसे खिल उठा हो / तर्क के पलाश का / अकेला फूल लाल-लाल!*

लेकिन इस अकेले लाल फूल के मुरझाने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगता क्योंकि तर्क के तिरोहित हो जाने की इतनी आवृत्ति है कि दुनिया का भविष्य भासमान नज़र नहीं आता।

दुखांत गाथाओं की गंध से लदा-फदा
लुढ़कता चला जाता था
समय की ढलान पर
क्रूर रोड रोलर-सा वर्तमान!

यह भी देखने की ज़रूरत है कि कवि की इस निराशा के उद्गम-स्रोत क्या हैं? कविताओं के पुनरावलोकन से लगता है कि यह निर्णायक नैराश्य जन-सामान्य के रुझानों/अभिव्यक्तियों से नहीं आया है। बल्कि ये मध्यवर्गीय नज़रिए का काव्यात्मक सामान्यीकरण है। कविताएँ मेधा पाटेकर और दूसरे प्रतिरोधों की पराजय-स्थिति का मंज़र है लेकिन क्या ये संघर्ष समाप्त हो गए हैं। पराजयों का अपना इतिहास और निहितार्थ होता है जिनमें भविष्य की जय के बीज विद्यमान होते हैं। कविता जैसी कलाएँ इन बीजों को चीन्हती और स्फुटित करती हैं।

इन कविताओं के पुनरावलोकन की प्रक्रिया में कवि की भाषा और शैली का तिलिस्म भी टूटता है। कवि उत्तर-आधुनिक और चमकीले बाज़ार तंत्र के आभासी यथार्थ के विखंडन का उपक्रम करता है और उदार अर्थव्यवस्था के छायाभासों, दूसरे शब्दों में अर्थ-सत्यों को प्रश्नांकित करता है और उचित ही करता है। लेकिन बिंब-शृंखलाओं का घटाटोप और आख्यानों की अतिरेकी काव्य-भाषा स्वयं ऐसा यथार्थ रचती है जिसमें धूप-ताप और ऊर्जा नहीं महज आभास मात्र है। इन कविताओं पर मुक्तिबोध और निराला की लंबी कविताओं की छाया इतनी प्रभावी है कि कई जगह पैरोडी लगने लगती है। उनके वाक्य-विन्यास के विपरीत शुक्ल तुकबंदी का सहारा लेते हैं। हो सकता है, शुक्ल के मौखिक पाठ में प्रभान्विति भिन्न होती है, लिखित पाठ में तो यह मिथ्या साबित होती है। दोहराना चाहूँगा कि अंततः यह एक निजी प्रतिक्रिया है।

चर्चित कविता-संग्रह :
कथा कहो कविता : दिनेश कुमार शुक्ल; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2005; 75 रुपए

राजाराम भादू की कविताएँ एवं समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : समांतर, 43 हिम्मत नगर, टोंक रोड, जयपुर 302018

रवि श्रीवास्तव

धुरीहीन चिंतन का आक्रोश

उत्तर आधुनिकतावाद पूँजीवाद की भौतिक निस्सारता से अधिक एक मानवीय व्यवस्था के रूप में उसकी असफलता के अध्ययन का विषय है। उसकी आलोचना या एकदम तिरस्कार निरर्थक है चाहे उसका चेहरा कितना ही बदरंग हो। आधुनिक पूँजीवाद ने अपनी औचित्य सिद्धि के लिए उत्तर आधुनिकतावाद की जिस मूल्य-प्रणाली का निर्माण किया है उसके वर्चस्व को तोड़ने के लिए ज्ञान के सभी मोर्चों पर प्रतिप्रभुता के समानांतर निर्माण की आवश्यकता है। बौद्धिक एवं शैक्षिक स्तर पर निरंतर चलने वाले इस सांस्कृतिक कर्म को रैमेंड विलियम्स ने ठीक ही 'लंबी क्रांति' कहा था। इस दृष्टि से उत्तर आधुनिकतावाद का अध्ययन उसकी कुछ सामान्य प्रवृत्तियों पर आधारित नहीं हो सकता जिसे हम स्वीकार या नकारकर तुरंत आगे बढ़ जाएँ। अगर वह एक बौद्धिक फ़ैशन है तब भी उसे तुच्छ मानकर ख़ारिज करने से काम चलने वाला नहीं है क्यों संस्कृति के क्षेत्र में जन्म लेने वाला कोई भी मतवाद अपने जन्म की आकस्मिकता से कहीं अधिक किसी वृहत्तर सच्चाई को ही उजागर करता है। इस दृष्टि से देखना यह चाहिए कि उत्तर आधुनिकता की संकल्पना क्यों विकसित हुई और किस विचार-प्रणाली के विरुद्ध एक वैकल्पिक विचार-व्यवस्था की समानांतरता में उसे चालू रखा गया? उत्तर आधुनिकतावाद की आलोचना या प्रशंसा स्वयं एक फ़ैशन या बौद्धिक शगल बनकर न रह जाए इसलिए उसकी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु की पड़ताल आवश्यक है कि कृष्णदत्त पालीवाल की पुस्तक उत्तर आधुनिकतावाद की ओर से ऐसी कोई मूल्य-दृष्टि नहीं उभरती फिर भी मैं इस पुस्तक के उद्देश्य और उसके व्यावहारिक प्रतिफलन को समझने की कोशिश करूँगा। शायद उत्तर आधुनिकतावाद की इस धौलागिरी में कोई संजीवनी बूटी मिल जाए। पूरी पुस्तक में निष्कर्षों, निर्णयों और उनको समर्थन देने वाले नामों का निरापद साम्राज्य है। हर पृष्ठ पर आए बड़े-बड़े नाम यह आतंक पैदा करते हैं। ये नाम प्रमेय भी हैं और उनका हल भी। वे समस्या भी हैं और समाधान भी। वे तर्क भी हो सकते हैं और समर्थन भी। वे 'वीटो' भी हो सकते हैं और सजावट के उपकरण भी। उनसे उत्तर आधुनिकतावाद की किसी सार्थक अध्ययन-पद्धति को खोज निकालना हथेली पर सरसों उगाने जैसा है। आलोचना में यह 'प्रकृतवाद' का अद्भुत नमूना है।

कृष्णदत्त पालीवाल की एतदर्थ समझ की सामान्य वैचारिक भावभूमि क्या है? पता ही नहीं चलता कि वह किस ज़मीन से बोल रहे हैं। वह योगियों-हठयोगियों का 'अनहदनाद' है, सूफ़ियों का 'हाल' है, कापालिकों की 'नाड़ी साधना' है, अस्तित्ववादियों का 'मनस्ताप है या गांधीवादियों का अध्यात्मवाद है? विज्ञापित डिटर्जेंट टिकिया से धुले दाग़ की तरह आप उसे ढूँढ़ते रह जाएँगे।' छानबीन के बाद जो हाथ लगा उसे उन्हीं के शब्दों में पढ़ें। ''उत्तर आधुनिकतावाद पर अपने ढंग से सोचने-विचारने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह विचारों-विकृतियों के पूँजीवादी पोखरों में किल्लोल करते ज्ञान का सूअरवाद है।'' (225) ''वाइलेंस, नॉलेज और वेल्थ का संश्लिष्ट त्रिक्

दर्शन या माइंड-मनी-मसल तीन मकारों की मायावादी लीला।...एक नए ढंग की विश्वयारी का कुचक्र या वेश्यावाद।'' (14) उत्तर आधुनिकतावाद के चरित्र में अभी और सलमे-सितारे बाक़ी हैं। ''उत्तर आधुनिकतावाद का सबसे दिलचस्प पहलू यह है कि यह यौनवाद का पुजारी है यहाँ संडास में सेक्स के फूल खिलते हैं।...धन्य है गूमालिंग दर्शन की ध्वनि।'' (17) धन्य है, लेखक की प्रबल घ्राणशक्ति। वह उत्तर आधुनिकतावाद के गुह्यांगों को बड़ी जल्दी सूँघ लेते हैं। किंतु 'दिलचस्प' है कि सेक्स के फूल और कहाँ-कहाँ खिलते हैं? नारी की देह में क्योंकि 'नारी भी एक पाठ है।' नारी की योनि भी पाठ है। उसकी गोलाई भरी मांसल जंघाएँ पाठ हैं। ''एक नारी अस्सी आदमियों के साथ संभोग करके मस्त बनती है। एक आदमी के साथ नियमित संभोग करने में वह मस्त नहीं होती, उसका स्वाद नहीं बदलता, वह ठंडी-पीली होकर रह जाती है। यह पाठ ही नवफ्रायडवाद है।'' (23) ''यानी सेक्सुअल-टेक्सचुअल पॉलिटिक्स।'' (132) यही है, उत्तर आधुनिकतावाद!

पालीवाल जी का सौंदर्यबोध ही नहीं उनके विचार-बोध का स्तर भी वही है जो एक दौर में हिंदी के अराजक अकवितावादियों का था। फ़ास्ट फ़ूड, यूज़ एंड थ्रो, माइकेल जैक्सन-मैडोना, मोनिका-क्लिंटन, यौनवाद-भोगवाद-संभोगवाद, देहवाद, उपभोक्तावाद रति रस से भरपूर नई कृष्ण-लीला—चालाकी-षड्यंत्र-धोखा अर्थात् देरिदा, ल्योतार्ड, फ़ूको, बौद्रिला, बाख्तिन, इहाब हसन, पाल डी मान, देल्यूज़, लाकाँ, डेनियल बेल यानी उत्तर आधुनिकतावाद! क्या खाकर मुक़ाबला करेगा उदय प्रकाश का कथानायक पॉल गोमरा उत्तर आधुनिकतावाद के इस सिद्धहस्त भाष्यकार के मानसिक विक्षोभ का। यह मानसिक विक्षोभ पालीवाल जी का अपना नहीं है। ''वह पूरे भारत की स्वाधीनता के पचास वर्षों का राष्ट्रीय परिदृश्य भी है जिसने देश को 'संडासवाद' के घिनौने मलबे में बदल दिया है।'' (271) ''बेचारा उत्तर आधुनिकतावाद अकेले क्या बिगाड़ लेगा। हम भारतीय तो बहुत पहले से वय-कुल-शील से उत्तर आधुनिकतावादी रहे हैं। किस पर भरोसा करें? कहाँ जाएँ? राजनेता तो दोषी हैं ही, जनता भी दग़ा दे गई है। उसमें भी सांप्रदायिकता, धर्मवाद से ऊपर उठकर सोचने की शक्ति ही अब कहाँ बची है?'' (297)

मार्क्सवाद पिट गया है। समाजवाद का अंत हो गया है। वामपंथ के प्रेत चिल्ल-पों कर रहे हैं। ऐसे में सर्वव्याधिहर औषधि जड़ों की ओर वापसी है। इस पूरे उत्तर आधुनिकतावादी माहौल में भारतीय संस्कृति अलौकिक शक्ति वाला 'स्पाइडर मैन' है और गांधी-लोहियावाद 'जेम्सबांड'। क्षेपकों के इस समूह राग में उत्तर आधुनिकतावाद बनाम भारतीय संस्कृति का वाद्य-वृंद पार्श्व संगीत की तरह कब बज उठेगा और पाठक को उत्तर आधुनिकतावाद के खूँटे की ओर खींच कर कब चल देगा, यह बताना बहुत मुश्किल है। उत्तर आधुनिकतावाद पर पालीवाल जी जिस आत्मविश्वास से लिखते हैं वह या तो महात्माओं का लक्षण है या फिर विवेकहीनों का। उनकी पुस्तक में धर्म-सेक्स-राजनीति, टेलीविज़न, फ़िल्म टेक्नीक, प्रिंट मीडिया, सूचनाक्रांति, इलेक्ट्रॉनिक क्रांति, थर्ड वेव, पूँजी की ताक़त, नवसांस्कृतिक साम्राज्यवाद, नारी आंदोलन, दलित, राजनीति, कामसूत्र, कलाओं में मिथक, पितांबर पर तिरंगा, रस्तोगी कमेटी, लाठी पर टँगा लोकतंत्र का जूता, शिक्षा का सड़ता पानी, बबूल का पेड़, हिंदी का विषधर, तिलक, गांधी, अरविंद, विवेकानंद, कुमारस्वामी,

वर्मा की इतनी बार आवृत्ति हुई है कि लगता है कि नीम बेहोशी में सन्निपात का कोई बड़बड़ा रहा है। पुस्तक के मुक्त क्षेत्र में शामिल आज़ादी है। अपनी भीतरी संगति में को पूरी प्रजातांत्रिक स्वतंत्रता ठीक उसी प्राप्त है जिस तरह लेखक ने स्वयं उत्तर आधुनिकता के सारतत्त्व के बावजूद अलग से हासिल की है। छंद की लय भले बिगड़ अर्थ की लय बरक़रार है। लेखक को हिंदी से शिकायत है कि वे उत्तर आधुनिकतावाद बिना जाने जपते हैं। उनकी नीम हकीमी तब ज़ाहिर होती है जब वे उत्तर आधुनिकतावादी संस्कृति की फ़सल काटने वाले विचारकों शल्य-क्रिया करते हैं। मिशेल फूको गोरखधूनी नाद है। लाकाँ बौद्धिक ज्ञान से पगला गया है। ल्योतार्ड नवयौवनवाद की तांत्रिक अवधूती व्याख्या करता है। यह सब पृष्ठ 124–125 पर। पालीवाल जी को ज्ञान का इल्हाम होता है। देरिदा उनकी विशेष कृपा है। देरिदा में उन्हें पूँजी और मुनाफ़े को ज़रा भी क्षति पहुँचाए बग़ैर बहुराष्ट्रीय निगमों के उपभोक्तावाद का सिद्धांतकार दिखाई देता है। उन्हें लगता है कि देरिदाई विखंडनवाद की पद्धति और निर्मिति में एक शैतान सक्रिय है।'' (124) इस शैतान ने "एक अभिनव साहित्य क्रांति को जन्म दिया।'' (125) ऐसा शायद किसी ईश्वरीय चमत्कार से हुआ हो।

ध्यातव्य है कि एजाज़ अहमद ने विखंडन की न्यूनताओं और विरोधाभासों को स्वीकार करते हुए भी देरिदा के उस नैतिक साहस की प्रशंसा की है जिसने येल विश्वविद्यालय के डी मान एवं अन्य संगी-साथियों तथा कुख्यात मार्क्सवाद विरोधी उग्र सुधारवादियों से उन्हें अमूमन दूर रखा। एजाज़ अहमद ने देरिदा को सामाजिक प्रतिक्रियावाद की श्रेणी में बैठाने से साफ़ इनकार किया है और विखंडनवादी अलंकृत सांकेतिकता की देरिदाई भाषा में निहित असीमित संभावित अर्थ, उत्तर आधुनिकता के मोहाविष्ट माहौल में भी वर्तमान दुनिया में मूलभूत ढाँचागत परिवर्तन के तत्त्व भूमंडलीय पूँजीवाद के राजनीतिक प्रभुत्व एवं सांस्कृतिक वर्चस्व को क़ायम करने वाली पश्चिम की सर्वोपरि सत्ता और उसकी ज्ञान-मीमांसा के विरुद्ध ज़बर्दस्त प्रतिरोध के स्वर को खुले मन से स्वीकार किया है। देरिदा के गंभीर पाठक जानते हैं कि उनका विखंडनवादी पाठ सामाजिक मनोविज्ञान को बहुराष्ट्रीय निगमों वाली आवारा पूँजी के पक्ष में उसकी सुरक्षा के लिए क़तई तैयार नहीं करता। लेकिन जहाँ अज्ञान अहंकार से होड़ ले रहा हो वहाँ उच्छेदवाद पनपेगा। उसी की कृपा से उत्तर आधुनिकतावाद की 'फ़ैंसी' 'फ़ैंटेसी' में बदलकर 'फ़ैंटास्टिक' बन जाती है।

पालीवाल जी अपने धुरीहीन चिंतन के जामा-जोड़े में कितना फबते हैं, इसकी नज़ीर उनका दलित चिंतन है। उन्हें ही पढ़ लें। बात बोलेगी, हम नहीं। ''दलित साहित्य थोड़ी देर के लिए मंच पर छा जाने वाले टुच्चे-कमीने प्रगतिशीलों का फ़ैशनेबुल विषय है।'' (135) ''सड़ता संडास में बदलता देश जहाँ पहले ही मूल्यांधता का अँधेरा तना हुआ है, दलित साहित्य की बात करना ख़तरनाक है।'' (148) ''भारतीय परंपरा को ठुकराकर दलित साहित्य के भाग्य में ठोकरें खाना ही बदा है।'' (149) दलित लेखकों का पूरा रचनाकर्म एक फुफकार के सिवा और क्या है? ''यहाँ क्रांति, विद्रोह, अस्वीकार अपना अर्थ खोकर उछालू भावधर्मिता में गर्क हो जाते हैं।'' (147) हिंदी-गुजराती, तमिल-कन्नड़ में 'दलित साहित्य' का कोलाहल इधर सुनाई पड़ने लगा है। ''इसके मूल में कोई बड़ी आंतरिक प्रेरणा नहीं है, केवल नवीनता प्रदर्शन की लोभी आकांक्षा

है।'' (147) ''मंथरा बुद्धि से दलित साहित्य को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में प्रवेश दिलाया जा रहा है।'' (148) वह आज के युग में प्रतिगामी एवं संप्रदायवाद विशेष का साहित्य है। ''सवर्णों को गाली-गलौच की मुद्रा अपनाने वाला, घृणा को बढ़ावा देने वाला, आदमी आदमी में दरार डालने वाला रचना-कर्म है।'' (137) इसलिए ''दलित साहित्य को साहित्य कहने में भी संकोच होता है।'' (138) ''डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने वाले दलित लेखकों के धर्मगुरु अंबेडकर की संस्कृति विषयक पूरी समझ गड़बड़ थी।'' (136) दोनों के चिंतन का क्षेत्र सीमित है। ''दलित-लेखन की समस्या है कि परंपरा को, संस्कृति को, इतिहास को, मिथक दर्शन और धर्म दर्शन को नकार कर किस भूमि पर टिकें?'' (137) यह सब अनुत्पादक श्रम के हठयोग का कारुणिक व्यायाम है। उस पर अलग से टिप्पणी करने की कोई ज़रूरत नहीं है। ख़ैर! पूरी पुस्तक को पढ़ने के बाद जो प्रश्न शेष बचता है कि आख़िर उत्तर आधुनिकतावाद है क्या?

चर्चित पुस्तक :

उत्तर आधुनिकतावाद की ओर : कृष्णदत्त पालीवाल; आर्य प्रकाशन मंडल, IX/221, सरस्वती भंडार, गांधी नगर, दिल्ली; 2005; 350 रुपए

रवि श्रीवास्तव के आलेख एवं रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 62, वन विहार कॉलोनी, टोंक रोड, जयपुर 302014, मो. : 9829059126

कुहू चानना

हिंदी कहानी में नई आमद

ज्ञानपीठ की नवलेखन प्रतियोगिता में चयनित अरुण कुमार 'असफल' का कहानी-संग्रह *पौ फटने से पहले* आज के सच की अनेक स्तरों पर पड़ताल करता है, समाज में व्याप्त वर्ग-वर्ण भेद जन्य परस्पर कटुता की अभिव्यक्ति करने वाली कहानी 'पुनर्जन्म' मनुष्य के लालच और उससे उत्पन्न स्थितियों में उसके भय आशंका, चालाकी और अवसरवादिता पर गहरी और सूक्ष्म दृष्टि डालती है। हमारे सामंती संस्कारों से आमूलचूल ग्रस्त समाज में पाखंड के द्वारा धनार्जन करने वाले बेनी माधवों की कमी नहीं है और इनके बाद स्पर्श से धन्य होती अंधश्रद्धालु जनता भी कम नहीं है। रात्रि का अंधकार आसन्न है और सूने मार्ग पर चलते-चलते पंडित भटक जाते हैं और उन्हें मिलती है एक भयानक मानवाकृति। जैसे-तैसे बेनी माधव उससे बातचीत शुरू करते हैं पर अजनबी की अक्खड़ शैली उन्हें अखरती है। फिर भी वह अपना और यजमान का परिचय देता है। अजनबी के हाथ का छुरा उसे भयग्रस्त बनाता है। परस्पर व्यंग्य करते हुए एक-दूसरे की जाति पूछते हैं। चमार सुनते ही बेनी माधव के चित्त में विद्रूप उभरता है। जातिवाचक यह शब्द जैसे उन्हें मंडल-कमंडल के अखाड़े में उतार देता है। सवर्ण और असवर्ण का ऊँच-नीच की भावना से भरा सामाजिक विभाजन और मानसिकता जन्य विद्वेष और वैमनस्य फूट पड़ते हैं। तैश और तंज़ परस्पर संवाद का धमनीय प्रवाह हो जाता है। परस्पर आशंका, असुरक्षा और चिढ़ विडंबनापूर्ण स्थिति को तीव्रतर कर देती हैं। कहानी में दूर तक

झलकी चलती रहती है। अजनबी पंडित को अच्छी तरह पहचान लेता है और की प्रतिशोध भावना से लगातार उसे ही चला जाता है। आर्थिक विषमता का दोनों को दो पालों में खड़ा किए रखता है। कहानी इसी जातीय विद्वेष के विभिन्न पहलू रखती-सी चलती है। अचानक बुलेट दो लोग पंडित की मुक्ति का साधन बन हैं उनकी रायफल शक्ति का प्रतिनिधि है पंडित की सवर्णता भी। दोनों मिलकर के सारे दुख, द्वंद्व, द्वेष, वैमनस्य, प्रतिशोध प्रतिहिंसा की भावना को धता बताकर रूप में सामने आ जाते हैं। कहानी में सामाजिक जीवन की विषमताओं, विद्वेषों, वर्ग-वर्ण विभाजन जातीय संरचना जन्य अविश्वासों को खोल कर रख देती

पारिवारिक जीवन की रूढ़ियों और का एक चित्र 'मउगा' कहानी में मिलता पति-पत्नी के सहज संबंध भी दबावों और के कारण तनाव का विषय बन जाता है। कहानी में इसके सूक्ष्म ब्योरे विस्तार से बुने हैं। बेटे-बहू के परस्पर संबंधों पर सतर्क रखते बुजुर्गों को बेटे का बहू की ओर -सा भी झुकाव नागवार गुज़रना, स्त्री- के संबंधों के बीच आड़ें, दबाव आदि इस में बड़ी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत है। ' शब्द स्थिति के बीच विडंबना बनता इतिहास की धारा में धर्म परिवर्तन एक सच्चाई है। ऐसे में अनेक अल्पसंख्यक मुस्लिम ईसाइयों में पूर्व धर्म का जाति-सूचक शब्द के साथ अनेकशः जुड़ा मिलता है। ऐसे नाम हमारे बहुधर्मी समाज में प्रचलित पूर्वक मछली खाने वाला बालक भी के नाम से अरुचि और अस्वीकार लेकर बड़ा होता है। मनुष्य की पहचान उसके व्यक्ति रूप से न होकर जब धर्म के आधार पर होती है, तो चेतना में चौड़ी दरार पड़ ही जाती है। 'अपराध' कहानी में एक ऐसा मुस्लिम पुरुष है जो अपने शीर्षनाम 'मजूमदार' के नाम से बहुसंख्यक समाज में सहजग्राह्य है, पर पूरे नाम का खुलासा होते ही अजनबी बन जाता है। एक अनकिए अपराध का बोझ उसे सालता रहता है और वह निरंतर जैसे सफ़ाई देने की स्थिति में बना रहता है।

'शुभकामनाएँ' कहानी में दो युवा हृदयों के परस्पर आकर्षण, बुने गए सपनों और महत्त्वाकांक्षा के वास्तविकता के धरातल पर आकर बिखर जाने का अंकन है। अफ़सर बनने की उच्च आकांक्षा लड़की शादी अन्यत्र होने की स्थिति के कारण उनका प्रेमस्वप्न ही नहीं टूटता, अफ़सरी का सपना भी टूट जाता है।

उसी युवक के पास आकर बैठ जाने मात्र से लड़की आशंकित हो उठती है जिसे कभी उसने चाहा था। हमारे परंपरावादी समाज में ग़ैरजातीयता और बेरोज़गारी प्रेम-प्रसंगों में जटिलताएँ लाकर विद्रोह को असंभव-सा बनाती रही हैं। प्रेम की हवाई कामनाएँ व्यावहारिकता और वस्तुस्थिति के धरातल पर कैसे दम तोड़ती है, कहानीकार ने इसे बख़ूबी दिखाया है।

कार्यालयों में स्तर-भेद, गुणों और विशिष्टताओं के बावजूद औक़ात दिखाते रहने की राजनीति चापलूसों की उन्नति आदि जैसे अनेक पक्षों को 'ऑनरेरियम' कहानी में सहज उभार दिया गया है। भारतीय परिवार की अनेक निजी विशेषताओं में से एक है बेटी के विवाह का संघर्ष, जो परिवार की नींदें उड़ाए रखता है। लड़का ढूँढ़ने की प्रक्रिया कितनी तोड़ देने वाली होती है, इसे विश्वजीत बाबू ताबड़तोड़ प्रयासों की असफलता के द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा

सकता है। पिता में विटिलैगो जैसे बाहर से ही दिखाई देने वाले रोग की उपस्थिति बेटी और पिता की सारी विशेषताओं को नगण्य और उपेक्षणीय बना देती है। विवाह की व्यवस्था स्वयं में जैसे एक विटिलैगो ग्रस्त प्रक्रिया है, जिस समस्या का समाधान युवावर्ग की पहल से होना संभव है। दहेज़ प्रथा पीड़ित हमारे जीवन की विडंबना तब सामने आती है, जब पिता ऐसे समाधान को स्वीकार करने को ही तैयार नहीं होता। कहानी पर्याप्त लंबी है—'अंतहीन अंत'—और वर अन्वेषण में आने वाली अनेक विसंगतियों से रू-ब-रू कराती है। विटिलैगो पिता के अहम को भी प्रतीकायित करता है। वंशानुगत समझी जाने वाली विरूपता की भी वास्तविकता इससे सामने आती है। श्वेत कुष्ठ के नाम से ज्ञेय यह रोग वस्तुतः हमारी समाज व्यवस्था का प्रतीक भी है।

'धब्बे' कहानी हमारे जीवन में व्याप्त भ्रष्ट आचरण के कई रूपों को सामने रखती है। विभिन्न वर्गों की मिलीभगत से अनेक स्तरों पर चलने वाली लूट को अंजाम देने के लिए रचे गए गठजोड़, चालाकियाँ, रचना स्वयं को व्यवस्थित करने की चेष्टा में, बहुत दूर से ऑफ़िस पहुँचने में देर होने से मकान बदलने की ज़रूरत के चलते एक अपरिचित स्वभाव चरित्र और पृष्ठभूमि वाली लड़की को सह-किरायेदार बना लेती है। बीमारी के अकेलेपन में किसी के साथ की आवश्यकता एवं उसके कारण उत्पन्न विषम अनुभवों और स्थितियों का सामना करती हुई। वह आर्थिक कारणों से अपने पुरुष मित्र को अपने किराये के आवास में ठहरा लेती है। सहायता की आवश्यकता के समय अनुपलब्ध रहने वाले चाचा जी का मौन, इस विषय में कुछ न कहते हुए भी सख़्त नापसंदगी दिखाता है। उनके घर जाने के अवसर पर रचना की घबराहट, भय और बस स्टॉप पर बैठे आदमी का पोस्टर 'अपने शहर को प्रदूषण से बचाएँ', सभी अके लड़की के संघर्ष का हिस्सा ही होते हैं। छोटी छोटी बातें मिलकर—नौकरी के दबाव, पैसे तंगी सहायता विहीन लड़की का स्थितियों पड़ जाना आदि सभी साधारण दिखती कहानी का कथ्य-घटना परिस्थिति और नज़ का संजाल बुनती हैं।

'तालाब कहो या पोखर' नामक कहानी बदलते समय के साथ जीवन के बदलते को प्रस्तुत किया गया है। विकास और प्रगति नाम पर कुछ के द्वारा बहुजन की त्रासदा हालातों में डालना, नाग चंपा की विलुप्ति रूप में जीवन में कोमल संवेदनाओं की समा अनुपयोगी दिखते तालाब को पाटकर मक खड़े कर लेने की प्रवृति का परिणाम वर्षाज बाढ़ के रूप में सामने आना, घरों में कई-क दिन तक पानी भरा रहना आदि अनियोजि परिवर्तन क्रम सूचित करते हैं। आरामशीन क वहाँ से हट जाना पुरानी तकनीक अर्थव्यवस्था के अपदस्थ होने की य अभिव्यक्ति तो है ही परिवर्तन के प्रतीक की प्रस्तुति है। पुरानी पर्यावरणीय व्यवस्था स्थानापन्न किसी नई व्यवस्था के अभाव परिणाम कहानी में संदर्शित है। पुराने जीव बोध का निम्न वृत्तियों का विस्फार, इस कह में घिनौने सच का एक चेहरा सामने रखते हैं, वैवाहिक जीवन का एक अन्य बदनुमा पक्ष सामने आता है। पति-पत्नी संबंध का यह पारिवारिक विघटन को उजागर करता है। ओर 'मउगा' कहानी के ग्रामीण परिवेश विडंबना है, तो दूसरी ओर 'धब्बे' कहानी भद्दा सच।

'पौ फटने से पहले' कहानी आधुनिक जी के दबावों और स्थितियों के बीच बद पारिवारिक बोध को सामने लाती है। नई पी की बढ़ती संवेदनहीनता का जो रूप पिता मृत्यु के संदर्भ में सामने आता है वह वृद्ध

...सकते में डाल देता है। युवा पीढ़ी मतलब ...पीढ़ी के रूप में चित्रित हुई है।

...इस संग्रह की कहानियाँ समाज के व्यापक ...को प्रस्तुत करती हैं। निम्नतम समझे जाने ...दलित वर्ग की स्थिति, उसके प्रति उच्चवर्ण ...नज़रिया, गाँव से शहर आकर छोटी-सी ...नौकरी करने वाले युवक की ग्राम्य परिवेश जन्य ...अल्पसंख्यक वर्ग की अकारण त्रासद ...आर्थिक विषमताओं के मध्य पलनेवाले ...आय वर्ग की ऊपर उठने की आकांक्षा के ...में अनेक अवरोध, समाज में व्याप्त बहुमुखी ...आचार आदि अनेक विसंगत स्थितियों का ...सूक्ष्म अंतर्निरीक्षण क्षमता के परिचायक ...शिल्प कौशल की दृष्टि से ये कहानियाँ ...समर्थ हैं। संवेदना को तीव्रतम स्तर तक ...कर, अचानक झटके के साथ कहानी का ...होता है।

...लेखन प्रतियोगिता की एक अन्य प्रतिभा- ...पंखुरी सिन्हा का कहानी-संग्रह *कोई दिन* हमारे इर्द-गिर्द हर रोज़ जो ज़रा-ज़रा- ...हो रहा है—एक अजीब-सा विघटन' उसकी ...की कहानियाँ सामने रखता है। मनुष्य ...अंतर्बाह्य जीवन को प्रभावित करने वाली ...छोटी अनुभूतियों व अनुभवों को यह संग्रह ...शाली एवं मर्मोद्घाटक शिल्प में बाँधकर ...करता है। पहली कहानी 'प्रदूषण' ...जीवन के आर्थिक और भावनात्मक ...से जुड़ी है। नौकरी के लिए बड़े शहर में ...चंपा का विशाल वृक्ष, कर्म-दृष्टि की ...बारिश में सारा जल समेट लेने वाला ...(पुरानी बहुआयामी व्यवस्था) के समाप्त ...और ऊँचे नए मकानों का निर्माण उसके ...पूरे मोहल्ले का पोखर में परिवर्तित हो ...लाभकर समुचित तंत्र की कमी का ही ...है।

प्रदर्शन प्रधान इस युग में अतीत की गरिमामय स्थितियों को जानना-सुनना किसी के लिए महत्त्व नहीं रखता। हर कोई किसी भी वस्तु और तत्त्व को अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर लेना चाहता है। पूरे जीवन और समाज को हर ओर से व्याप्त कर लेने वाला मीडिया भी चटपटेपन और बिकाऊपन की गिरफ़्त में है। वहाँ भी वही स्वीकार्य है जो दर्शकों को खींचता है। आज आदमी आत्मश्लाघ एवं चालाकियों के बल पर आगे आना चाहता है। सच को जानने और प्रस्तुत करने की चिंता किसी को नहीं है। 'कहानी का सच' इसी को व्यक्त करती है। हम ग़ुलामी और स्वतंत्रता दोनों को अकसर नस्लीय दृष्टि से जाँचते परखते हैं। किंतु मानवीय स्वभाव में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सर्वत्र हैं। श्रीमती हस, पति की हत्या के बाद अपने रक्षक, पति के सेक्रेटरी के साथ विवाह कर लेती है और निष्ठापूर्वक आजीवन निबाहती हैं। कभी यह भी पता नहीं चलता कि उस विवाह में प्रेम था या नहीं किंतु निर्वाह की निष्ठा थी। यह घटना स्वतंत्रता के आंदोलन के मध्य घटी। गोरी सरकार परायी थी और ग़ुलामी का प्रतीक थी। किंतु स्वातंत्र्योत्तर भूरी सरकार की बदइंतज़ामी, भ्रष्टाचार—छोटी से छोटी ज़रूरत पूरी करने के लिए धक्के खाने और रिश्वत देने की मजबूरी—वाली ज़िंदगी को लेखिका ग़ुलामी से कम नहीं मानती। अन्याय केवल ग़ुलामी के समय नहीं होते। अपनी सरकार के बावजूद तंत्र की भ्रष्टता छोटी से छोटी चीज़ में दीखती है। इंसानों के बीच गोरे-काले की विभाजन रेखाएँ बेमानी हैं। पंखुरी 'बहुत साल बाद' कहानी में दिखाती हैं कि किस तरह गोरी मेम श्रीमती हस काले भारतीय के प्रति निष्ठावान बनी रहीं और भारतीयों ने निरीह जुब्बा सहनी की बलि दे दी। इसके द्वारा लेखिका ने इंसानों को गोरे-काले में बाँटने पर प्रश्नचिह्न लगाया है। लेखिका छोटी-छोटी विसंगतियों और विडंबनाओं

को बड़ी बारीकी से पकड़ भी लेती है, और सूक्ष्म अभिव्यक्ति भी देती है।

इस संग्रह की एक अन्य कहानी 'सांत्वना' बड़ी सहजता और अंतर्भेदिनी मार्मिक पकड़ के साथ व्यावसायिक शिक्षा में कैरियर के क्षेत्र में आगे और आगे बढ़ने के दायित्व से उत्पन्न दबाव और वैषम्य को सामने लाती है। आधुनिक समय में मध्यवर्गीय सोच वाले परिवार में नायिका स्वाति को लगातार माँ की अपेक्षाओं और भाई की प्रतिस्पर्धी भावनाओं का सामना करना पड़ता है। उसकी स्वाभाविक कामनाएँ, ज़रूरतें तथा अपेक्षाएँ हरदम पुराने सोच से टकराती और चोट खाती हैं। घर में भी वही दबाव है और तीक्ष्णबुद्धि लड़की बाहर भी पुरुष सहपाठियों की ईर्ष्या की तचन झेलती है। उसे सहज और सामान्य रहने का जैसे अवसर ही नहीं है। पढ़ाई के तनाव के बीच, हॉस्टल जाने की उसकी आवश्यकता को भी माँ नकारात्मक दृष्टि से ही देखती है। तनाव से छुटकारे के पुरुषों वाले रास्ते भी उसके लिए नहीं हैं। कैरियर की आवश्यकता आज की युवा स्त्री से क्या कुछ छीनकर उसकी सोच एवं उसके जीवन में कैसे परिवर्तन कर रही है, अंतर्विरोधिनी स्थितियाँ किस तरह उसे वैपरीत्य के बीच डाल रही हैं, लेखिका इसी तोड़ देने वाले विघटन को झेलती स्वाति के द्वारा प्रत्यक्ष कराने में सफल हुई है। सामाजिक परिवर्तन परिवार में अलग तरह का विघटन ला रहा है। भाई-बहन, माँ-बेटी, माता-पुत्र, पति-पत्नी सभी इसे झेलने को मजबूर हैं। परिवार का बिखराव सबको अकेला करता जा रहा है। सब इस तनाव को साधने का प्रयत्न करते हैं और करने के क्रम में टूटते हैं। पार्क को देखकर स्वाति को लगता है जैसे कबीर ने कहा हो 'मैं जा रहा हूँ स्वाति'। परिवर्तन की गति उसके प्रभाव की अपरिहार्यता ही इस कहानी का मूल बिंदु है।

इसी संग्रह की कहानी 'अपने पराये' आधुनि
जीवन के एक अन्य आयाम को सामने रख
है। घर से दूर पराए देश में जीने का आया
घरवालों की याद के साथ ही भोजन, वातावर
परायापन झेलता आज का नवयुवा अनेक तना
से गुज़रता है। भले ही अपने देश में भी वैसी ही
स्थितियाँ झेलनी पड़ें पर विदेश में पराएपन का
बोध सालता है, चाहे वह अस्वीकार हमारी ओर
से ही क्यों न हो। क्षेत्रीयता का दंश अपने देश में
भी एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी महसूस
होता है। उत्तर और दक्षिण भारतीय परस्पर क्षेत्रीय
सभ्यता, संस्कृति और भाषा आदि के स्तर पर
परस्पर बँटे हुए हैं और वही अलगाव यहाँ भी
मौजूद है। पंखुरी सिन्हा अपनी विशेष अभिव्यंजना
शैली में, साधारण से दिखते व्यवहारों, वार्तालापों
सांकेतिक अभिव्यक्तियों के मूल बिंदु को
स्पृहणीय ढंग से सम्मुख ले आती हैं। अ
शब्दों में अमित कथन, प्रश्न उठाने की योग्यता
सामान्य बातों और विवरणों में विसंगतियों
विडंबनाओं और स्थितियों की व्यंग्यात्मक
उभारकर उजागर करने में लेखिका का साम
सराहनीय है। 'बेलगाम रेस' कहानी की 'मैं'
अंतर्मन में आसपास के प्रभाव और अंतर्वृत्ति क
गतिशीलता से होनेवाली प्रतिक्रियाएँ सोच
रूप में समक्ष आती हैं और पाठक को अ
साथ-साथ बहाती ले जाती हैं। 'होने', यह सं
नाम की स्त्री की कहानी है पर कितनी तरह
त्रास-यात्रा अपनी तरह से स्त्री की जीवन या
को सामने लाती है। यहाँ भी आम जिंदगी की
छोटी-छोटी बातें, आवाज़ें, रोज़मर्रा
अविचारणीय अलक्षित रह जाने वाले
लेखिका के लेखनवृत्त में आते हैं। न वे चौंका
हैं न बड़बोलेपन से ग्रस्त हैं और न लेखिका की
क़लम कभी बहकती है। एक बहती धारा
बीच से अंजुलि में उठाए जल के जैसी

कहानियाँ लगातार प्रवहमान-सी रहती हैं। आत्मचिंतन और लेखन का सबूत यह संग्रह और भी कहानियों की पाठक की ओर से लेखिका के सामने रखता है।

आज के इस उपभोगवादी युग में, जब भौतिकवाद की तूती बोलती है, प्रेम का रूप भी बाजार के मूल्यों में तुलता नज़र आता है। ऐसे में कुमार मांदले का कथा-संग्रह *राजा कोयल और तंदूर* एक अलग प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। भावना की कोमलता और गहराई—मनुष्य के अंतर्तम की यात्रा—इस संग्रह की कहानियों की उपलब्धि है। 'मृगनयनी' एक कल्पना (फ़ैंटेसी) के रूप में सामने आती है और 'बोध' प्रेम की शक्ति विश्वास को स्थापित करने वाली कहानी का रूप लेती है। आशंका, बेचैनी, कठिनाइयाँ, तलाश, उलझन, अस्पष्टता, अनिर्णय, पीड़ा, कातरता चुनौती सभी बीच-बीच में आकर प्रेम की अनुभूति को झकझोरते हैं किंतु परस्पर विश्वास उन्हें सारी बदलियों से निकालकर प्रेम की उजली धूप में ले आता है। मांदले की इन कहानियों में कभी काव्यात्मक रचनाओं और कभी नित्यप्रति की छोटी-छोटी बातों और स्थितियों के माध्यम से प्रेमानुभूति की संवेदना से गुज़रना पाठक के लिए एक सुखद अनुभव है। प्रेमानुभूति का एक रूप 'नीरजा' कहानी में सामने आता है। प्रेम के नाम पर पीड़ा की प्राप्ति होती है। कई बार कच्ची उम्र का प्रेम आवेग भरा होता है। वह हर बंधन से मुक्ति की आशा तो जगाता है, पर मुक्ति की वह उम्मीद अक्सर छलना ही प्रमाणित प्रतीत होती है तो कभी उसकी आत्मरूपा सखी। दोनों ही मानवीय संवेदनाएं चेतना और उपेक्षा की भेंट चढ़ जाती हैं। प्रेम के इनकार के बाद भी नीरजा, संपूर्णता की कामना करने वाले स्वप्नदर्शी विशेष से विवाह कर लेती है। पारिवारिक दायित्वों और अनिवार्यताओं के प्रति विशेष का कल्पनाशील रवैया आम पति की तरह पत्नी को उतनी स्वतंत्रता देने को तैयार नहीं था जितनी उसे स्वयं के लिए चाहिए थी। उसने किसी भी प्रकार सामंजस्य की अपेक्षा को स्वीकार नहीं किया और संबंध टूट गया। प्रेमानुभव ऐसी सच्चाइयों से दो-चार होता रहता है। 'अपेक्षा' शीर्षक कहानी का 'मैं' प्रेम के लिए जीवन संघर्ष में जीत हासिल करके प्रेम को ही हारकर जीवन से विमुख हो स्वयं को काम में डुबो देता है। आवासीय स्थल पर उसकी भेंट संयोगवश मनीषा से होती है, जो कच्ची उम्र में ही जीवन के दबावों से त्रस्त है। 'मैं' और मनीषा एक-दूसरे की स्थितियों को समझते हुए एक अपेक्षाहीन प्रेमचेतना में बँध जाते हैं। प्रेम यह भी एक रूप है जिसे कहानीकार ने सहजता से उकेरा है। कहानी में मानवीय करुणा का सघन स्पर्श है, जो द्विपंक्तीय बात को संवेदनीय कथा का विस्तार देता है तथा संभाव्य विश्वसनीयता तक पहुँचाता है।

प्रेम का ही एक अन्य चेहरा 'चलो मुनिया' कहानी में उभरता है। एक रूढ़िवादी परिवार की लड़की एक महत्त्वाकांक्षी लड़के को लेकर भावनाबद्ध हो जाती है। एक दिन पिता के द्वारा रिश्ता अन्यत्र तय किए जाने की बात जानकर अंतिम निर्णय करना चाहती है। अब तक संजोए गए सारे सपने, भाव, लड़के की अतिशय महत्त्वाकांक्षाजन्य उपेक्षा को अनदेखा करना आदि सब कुछ अपना रूप खो बैठते हैं जब लड़के की कायरता उसके सामने आती है। सिपाही के भय से लड़के का उसे बहन बताना प्रेम के इंद्रजाल को तोड़ देता है। लड़की अपनी अंतरंग सहेली का हाथ पकड़कर कहती है, 'चलो मुनिया', लड़का कुछ समझ ही नहीं पाता। मुनिया लड़की की संवेदना को भली-भाँति समझकर उसका हाथ दबाती है। 'मंशाराम' कहानी

अप्रत्याशित ढंग से चौंकाती है। कहानी में औत्सुक्य का तत्त्व आरंभ से ही पाठक को पकड़ लेता है। मंशाराम की कर्तव्यनिष्ठा, लगन, स्वभाव की मृदुता आदि भारतीय अफ़सरशाही के लिए अनुकरणीय प्रतीत होने लगते हैं। पाठक की ऊँची अपेक्षाएँ एक पंक्ति के द्वारा ढेर हो जाती हैं : 'मंशाराम के घर सी.बी.आई. का छापा। दस करोड़ बरामद।' व्यंग्य की तीखी धार कहानी को लपेट लेती है। संशय कहानी के बीच मँडराता-सा लगता है, पर सच जिस तरह सामने आता है, वह लेखक की क्षमता का द्योतक है। 'तकदीर की लाठी' बहुत प्रभावित करने वाली कहानी नहीं है किंतु 'वो शाम कुछ अजीब थी' का केंद्रीय पात्र सूरज सहज ही यहाँ-वहाँ दीख जाने वाला एक छात्र नेता है, जो अकसर विद्यार्थी जीवन की तेजस्विता खोकर दिशाहीन भटकाव का शिकार हो जाता है। यहाँ तक कि आत्मीय व्यक्ति भी उससे कतराने लगते हैं। 'राजा, कोयल और तंदूर', चर्चित नैना साहनी हत्याकांड को ही जैसे काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत कर कहानी में डाल दिया गया है। कहानी की शैली नानी की कहानियों वाली है : 'एक था राजा...।' राजा और कोयल की यह प्रेमकथा, आगे बढ़ते हुए त्रासद अंत तक पहुँचती है। पुरुष के द्वारा अपने उपयोग के प्रति स्त्री का प्रतिरोध उसे किस भीषण अंत तक पहुँचा सकती है, संग्रह के शीर्षक की यह आधार कथा पाठक को जैसे सकते में डाल देती है। मांदले ने प्रेम के अनेक पक्ष प्रस्तुत कर अपनी रचनाशीलता पर विश्वास जगाया है। ये सारी कहानियाँ प्रेम के मनोभाव की कहानियाँ हैं। देह की पैठ इन कहानियों में बहुत कम है। प्रेम के सेक्स पक्ष से अछूती इन कहानियों में जैसे एक अलग ही मृदुता है। चित्त की वृत्ति को छूने वाली इन कहानियों के साथ कुछ कमज़ोर कहानियाँ भी इस संग्रह में हैं। कहानी की भंगिमा में अंतर्गुंफित कविता मांदले को अलग ही खड़ा करती है।

आज जीवन यात्रा के क्रम में औरत जिस जगह आ खड़ी हुई है, वहाँ आश्रिता की परंपरागत भूमिका से हटकर एक नई आत्मनिर्भरता, स्वातंत्र्य और नई जीवन पद्धति के दबावों को झेलने की तत्परता उसमें दिखाई देती है। नए जीवनास्वाद के साथ नए दायित्व और संबंधों के रूपों से भी उसका सामना होता है। पुरुष की एक नई भूमिका उसके सामने है। पुरुष मित्र न तो पति है न भाई, न वह अन्य किसी परिजन की जगह लेता है। वह मनचाहे तक का साथ है, जो निर्बंध तो है ही किसी प्रकार की प्रतिबद्धता तक का दबाव उस पर नहीं है। कविता के कथा-संग्रह में *नाप के कपड़े* की कहानियाँ इसी नई स्त्री के नज़रिये के आंतरिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। उसके डर, आशंका, साहस, स्थितियों के आकलन, प्रतिहिंसा, द्वंद्व, संघर्ष, विश्वास-अविश्वास, पीड़ा सभी इन कहानियों में प्रतिफलित हुए हैं। उसकी प्रतिबद्धता अपने प्रति है। वह स्वयं होने के लिए बज़िद है। इस कारण आत्मनिर्णय का अधिकार अपने ही पास रखने का सफल प्रयास, सारी आशंकाओं और भय के बीच भी लगातार घटित होता दीखता है। यह स्त्री अभी युवा है, अतः उसके सारे अनुभव तथा उसकी वृत्तियाँ युवजनोचित हैं। 'भय' की नायिका शालू, उसकी कम उम्र मामी के प्रति अपने पुरुष मित्र के व्यवहार को लेकर शंकालु है। शंकित चित्र उसके भय की साक्षात्कारी स्थितियाँ उसके सम्मुख प्रस्तुत करने लगता है। कभी मुसी चादर कभी उतरा पेटीकोट, तकिये के पास रखा बैकक्लिप उसे त्रस्त कर देते हैं, तो कभी अपने विचारों की तर्कधारा उसे किनारे तक लाने में सहायक होती है। सह-जीवन की अवधारणा विश्वासाधृत है। शालू, लोगों में इसके

प्रति स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही प्रतिक्रियाओं से परिचित है। इस प्रकार के संबंधों को लेकर शंकास्पदता है, इसलिए विवाह व्यवस्था की आवश्यकता भी है। शंका से आश्वस्ति तक की एक लंबी तर्क शृंखला शालू के मन को तो खोलती ही है, सहजीवन की व्यवस्था का सच भी सामने लाती है।"

भय का ही एक और चेहरा 'चार घंटे' नामक कहानी में उभरता है। यह कहानी स्त्रीविहीन डिब्बे में रेलयात्रा करती लगातार आशंका अकेलेपन से उत्पन्न त्रास और हिम्मत टूटने एवं बनाए रखने की जद्दोजहद झेलती युवती की मनोयातना और उसकी अंतश्चेतना में प्रवाहित विचारों के रूप को सामने लाती है। अपने नए रोल में घर की चारदीवारी से बाहर निकली युवा लड़की को परस्पर विरोधी भावनाएँ कैसे लगातार ग्रस्त करती रहती हैं, पुलिस वाले के साथ एकाकी यात्रा करने वाली लड़की की यह कहानी सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करती है। पुलिस वाला चूहे-बिल्ली के खेल की तरह बातें करके लड़की को कभी डराता है तो कभी सहज सामान्य मनुष्य लगता है। 'फ़ुरसत के चार दिन' कहानी की 'मैं' एकांत की दबी कामना के पूरा होने पर भी उस फ़ुरसत में प्रसन्न नहीं रह पाती। करने को कुछ न रहने पर अपने पुरुष साथी के बिना स्वतंत्रता भी स्पृहणीय नहीं रह जाती। न कोई मित्र न कोई परिचित इस रिक्तता को भर पाता है और न कोई क्रिया-कलाप ही चित्त को बाँध पाता है। स्वयं के साथ होने की इच्छा बियाबान सूनेपन का भाव भरती है। इसी में से निकलकर आती है एक मन:स्थिति, जिसमें ईजल पर धीरे-धीरे रंग उभरने लगते हैं। स्त्री-मन की एक अन्य अंतर्दशा तथा छोटी-छोटी घटनाओं को एक मन:स्थिति में पिरोकर कहानी गढ़ दी गई है। इसी संग्रह की एक अन्य कहानी 'स्मृति दंड' स्त्री की अंतश्चेतना में गहरे बैठे भय को ग्रंथि रूप में सामने लाती है। बचपन के जंगल-निवास में सुनी भेड़ियों की कहानियाँ, स्त्री के प्रति पुरुष के काम व्यवहार की धारणा में रूपांतरित हो जाती है। रीनी के साथ पिता तुल्य गुरु का व्यवहार, पिता की मृत्यु के बाद जीवन संघर्ष में आने वाली कठोर स्थितियों में बॉस की लोलुप चेष्टाएँ और इरादे, उसकी चेतना में बसे भेड़ियों में बदल जाते हैं। अपने मित्र विनय के प्रति उसके मन में कोमल भाव हैं। किंतु उसका व्यवहार भी उसे भेड़िये जैसा ही लगता है। 'खेल खेल में' कहानी की मानुषी उर्फ़ मन्नू भी एक हीनता ग्रंथि से ग्रस्त लड़की है जो बचपन में अपने खेल के साथियों के द्वारा सताई जाती है। एक नाना हैं, जिनकी वह चहेती है। अपनी सहेली श्वेता के साथ वह एक दुनिया रचती है और कल्पना से कहानी-कविता बनाने लगती है। शेष बच्चों से अलग उनकी एक दुनिया है। इसी में एक बूढ़े के व्यवहार का अनुभव भी शामिल है, जिसमें शिखा बूढ़े की काम लोलुपता का शिकार होती है। बड़ी होती मानुषी को एक संवेदनशील मित्र मिलता है शरद, किंतु काल भ्रम में वह भी दूर हो जाता है। प्रतिभाशालिनी मानुषी की मनोबौद्धिक क्षमताएँ बढ़ती रहती हैं। सहृदय मानुषी अपनी मनोग्रंथियों से बेचैन रहती है। स्थितियों और लोगों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ हिंस्र हो रही हैं। उसके भीतर एक बिल्ली जन्म ले रही है। अंत में अपने ही खेल में धरती मन्नू जैसे फिर से कमज़ोर और रोनी लड़की हो उठती है। नारी मन की द्विचित्तता इस कहानी में बड़ी शिद्दत से उभरी है।

मायके पर लड़की के हटते अधिकार को लेकर लिखी गई 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफ़िर' एक मर्मस्पर्शी कहानी है। वृद्ध माँ की परिवार में क्रमशः घटती हैसियत और छिनते अधिकार, बेटी के सब समझते-बूझते इच्छा होने पर भी माँ को अपने साथ न ले जा पाने की

सामाजिक स्थिति, भाई-भाभी का सब कुछ पर अधिकार के बीच माँ की स्मृतियों का एक तार पूरी कहानी में पिरोया हुआ है। बेटी का मायके में पराया होते जाने की संवेदना इस कहानी का अंतस्तत्व है। 'सुख' कहानी अकेली स्त्री के मनोलोक और सामाजिक जीवन का चित्र है। कच्ची अवस्था में कई महत्त्वाकांक्षाएँ पालनेवाली लड़की उम्र के बढ़ने पर किस तरह परिवार और बच्चों की इच्छा पालने लगती है, प्रस्तुत कहानी इसी का आलेख है। बचपन से ही नारी मन अपने सुख को बच्चों से जोड़कर देखने का आदी हो जाता है। परिस्थितिवश शादी तक न पहुँचने वाला प्रेम कैसे जीवन को विफल अनुभव बना देता है, कहानी इसकी सुंदर अभिव्यक्ति है। बच्ची के द्वारा फूलों को चुनकर फ्रॉक में भरने का दृश्य अकेली रह गई। स्त्री के मन में सुख का सपना बनकर बस गया है। कोई अन्य उपलब्धि ऐसे सुख की बराबरी नहीं करती।

'आईना' इस संग्रह की एक सशक्त कहानी है। एक-दूसरे के प्रति समग्र निष्ठा और प्रेम के बावजूद, जीवन के किसी एक अंश का अलग बचे रह जाने को लेखिका की सूक्ष्म अंतर्भेदिनी क्षमता से पहचाना और व्यक्त किया है। पुरुष के समान ही स्त्री भी एकात्मता की छाया से निकलकर जीती है। अंतरंग का खुलाव आता है और चला जाता है। लेखिका इसे बारीकी से अंकित करती है। सामाजिक व्यवस्था में अब तक स्त्री केवल दूसरों की ज़रूरतों—भावनात्मक, बौद्धिक एवं व्यवहारगत की पूर्ति का माध्यम मात्र है। इसे वह स्वीकार करना नहीं चाहती। पृथक मनुष्य के रूप में जीने की आकांक्षा ने उसके भीतर सिर उठाना आरंभ कर दिया है। 'देहदंश' की नायिका भयानक अनुभवों से गुज़रती है जो उसकी चेतना में गहरे पैठ बना लेते हैं। एक लंबे अर्से तक उसके मनोजगत में पुरुष और पशु एकमेक हुए रहते हैं। उस त्रासकारी यात्रा में जीती एक दिन वह अपनी मनोग्रंथियों से मुक्ति पा ही लेती है। जीवन एक मंगलकारी अनुभव में परिवर्तित होता है। कृष्णा सोबती के उपन्यास *सूरजमुखी अँधेरे के* में रति कुछ ऐसी ही मुक्ति का अनुभव करती है। 'मेरी नाप के कपड़े' प्रतीकात्मक कहानी है। यह कहानी एक ओर अभावों और कठिनाइयों के बीच कड़वे अनुभवों से जूझती लड़की के मन को सामने रखती है, तो दूसरी ओर निर्णय का क्षण आने पर सारी कमज़ोरियों को छोड़कर वही लड़की साहस के साथ सारी अपेक्षा और लांछनों की उपेक्षा करके स्वेच्छा से जीवन का चयन करती है और एक स्वानुकूल संसार गढ़ती है। इस साहस और आत्मस्वातंत्र्य के बाद ही पाती है अपनी नाप के सुंदर कपड़े। ये कपड़े उसके आत्मनिर्णय के अधिकार, अपनी इच्छा और मूल्यों वाला जीवन जीने के अवसर के प्रतीक हैं जो उसने आत्मबल से अर्जित किए हैं। उसे इन कपड़ों को अपने नाप का बनाने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि ये उसी के अनुरूप हैं, जो उसने अपने पुरुष मित्र के तीव्र विरोध के बावजूद लक्ष्य तक पहुँच की ललक के बल पर पाए हैं।

अल्पना मिश्र का कथा-संग्रह *भीतर का वक़्त* मनुष्य, विशेषत: स्त्री के हौसले का दस्तावेज़ है। इसकी अधिकतर कहानियों में आज की वह संघर्षशील स्त्री दिखाई देती है, जो परंपरागत अज्ञानुवर्तिनी, पालतू स्त्री की छवि से भिन्न वर्तमान स्थितियों से तालमेल बिठाने परिवर्तित परिवेश के अनुकूल स्वयं को ढालने, अपनी जगह बनाने, अपने हिस्से की ज़िंदगी को पाने के अथक और अनवरत प्रयास में लगी है। उपस्थिति कहानी की 'मैं' का आत्मसत्व है 'वह' जिसे परंपरागत छवि के अनुकूल ढालने के प्रयत्न में लगातार मारने की चेष्टा करती रहती है। उसकी वह आत्मचेतना लगातार अपनी

उपस्थिति उसके जीवन में बनाए रखती है। यह चेतना उसे त्रस्त-ग्रस्त बनाए रखती है। उसकी येन-केन प्रकारेण बची रह जाने वाली जिजीविषा उसके समक्ष अस्मिता के सवाल उठाती रहती है—कावेरी से सिमरन बनी, रंजना से सुलोचना हुई औरत क्या सचमुच बदल जाती है? कभी अपने मूल अस्तित्व की चेतना नहीं उठती उसके भीतर? ऐसे सवाल लगातार अपना सर्प फण उठाकर उसके आत्ममंथन को बढ़ाते रहते हैं। पूरी कहानी 'मैं' के इसी आत्म द्वंद्व का अंकन है। इस द्वंद्व के अनेक अंत:पक्ष कहानी में अभिव्यंजना पाते हैं। औरत के सपनों, आकांक्षाओं और उम्मीदों को आरंभ से ही तरह-तरह के कारण देकर जैसे विलोपन की एक सतत प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है; पूरी कहानी इसी के आंतरिक रूप का व्याख्यान है। संग्रह की दूसरी कहानी 'भय' गर्भावस्था से उत्पन्न शंकाओं, देह स्थितियों के अनुभव और अनुभूतियों, उनसे जुड़ी ढेरों सामाजिक धारणाओं, परिस्थितियों, सोच, स्त्री के आचरण और उसके अंतर्मन आदि के अत्यंत सूक्ष्म और विश्वसनीय ब्योरे प्रस्तुत करती है। दीदी की डायरी के संदर्भ स्त्री के प्रति समाज और परिवार में पलने वाली उपेक्षा और द्रोह को सहज ही रेखांकित कर देते हैं। लेखिका की अंत:स्पर्शिनी प्रतिभा एक-एक बिंदु को उठाकर सम्मुख रख देती है। स्त्री देह और जीवन से जुड़ी और भी अनेक बातें, विडंबनाएँ, स्थितियाँ, शंकाएँ, प्रश्न बहुत बारीकी से पूरी कहानी में अनुस्यूत हैं। कैसे माताएँ, बेटियों के लिए सामाजिक जीवन में उनकी दोयम दर्जे की भूमिका के लिए एक छिपा प्रशिक्षण चलाती हैं और फिर भी उन्हें प्रताड़नाओं और अनर्थकारी दबावों के त्रासद परिणामों से नहीं बचा पातीं। इस समग्र व्यापार को यह कहानी बड़ी जीवंतता से प्रस्तुत करती है। 'कथा के ग़ैरज़रूरी प्रदेश में' शीर्षक कहानी में लेखिका ने स्त्री-पुरुष के लिए सामाजिक मानदंडों, दायित्वों, अधिकारों के असमान और अन्यायपूर्ण विभाजन और इसके परिणामों का अंकन किया है। वस्तुत: अल्पना मिश्र की कहानियाँ आज की प्रश्न करती स्त्री के माध्यम से समाज के विभेदकारी, असंवेदनशील अतर्कसंगत स्वरूप को उद्घाटित करती हैं। जगत का ग़ैरज़िम्मेदार चरित्र और स्वभाव के साथ पत्नी का निरंतर आर्थिक सामाजिक एवं दैहिक सहयोग करते जाना, उसके बावजूद निरंतर तिरस्कार झेलना अरुंधती को असंतोष और कुंठा के चक्र में डाल देता है। बचपन से विभिन्न रूपों में पुरुष की कामचेतना का अप्रिय अनुभव करने वाली अरुंधती पति के संग के बावजूद अपनी देह को जैसे अनछुआ ही महसूस करती है। न तो पति के साथ उसका मानसिक मेल होता है और न देह संतुष्टि। कुंठित पति का निरंतर आक्षेप करता व्यक्तित्व उसे अकेला करता जाता है। असंतुष्ट कामचेतना को लेकर स्त्री की तड़प और कामभावना का दबाव उसे कैसे यातना देने लगता है, कहानी में इसका बख़ूबी अंकन है। एक अन्य कहानी 'अँधेरी सुरंग में टेढ़े-मेढ़े अक्षर' परिवार को संतुष्ट रखने की आजीवन चेष्टारत, स्त्री के मन में भी कैसे दबाई हुई निजता और आकांक्षा कैसे कारुणिक रूप लेकर फूट पड़ती है, एक मरणासन्न वृद्धा के माध्यम से रेखांकित हुआ है। आज की स्त्री अपनी चाहतों और आकांक्षाओं के अस्वीकार से जूझकर शक्ति संचित करती है। उपयोग की वस्तु बनने का उसे दर्द है, पर वह स्वयं से और स्थितियों से लड़कर लहूलुहान होती हुई अपनी मंज़िल पाने के लिए प्रयत्नशील है। हर स्तर पर व्यावहारिक रूप से भेदभाव का शिकार होती नारी के मन की कई झाँकियाँ इस कहानी में मिलती हैं। इस संग्रह की कहानी 'बेतरतीब' वृद्धदंपति के संबंधों का लेखा-जोखा करती है, जो उनके दांपत्य के आरंभ से लेकर आज तक पहुँचती है तथा नई-

पुरानी सारी कड़वाहटों को जैसे सँजो लेती है। कहानी संतान की दृष्टि से कही गई है और अतीत की वर्तमान तक यात्रा है। गत जीवन के मृदु अनुभव और आज उनका अभाव भी कहानी का हिस्सा है। बदलते युग में विगत की रक्षाशील मान्यता के घेरे को तोड़कर लड़कियाँ बाहर आई हैं। मुक़ाम हासिल किए हैं, किंतु माता-पिता के वैवाहिक जीवन के कष्टदायी स्मृतिजन्य भय ने उन्हें विवाह विमुख बनाया है। कथा-संग्रह का शीर्षक बनी कहानी 'भीतर का वक़्त' आज की स्त्री के संघर्ष की द्रावक स्थितियों का नए सिरे से परिचय कराती हैं। उसकी कमज़ोरियों और शक्ति-संबंधों का टूटना नए संबंधों को गुज़रकर जीने की ज़रूरत को रेखांकित करती है। इन कहानियों में स्त्री के प्रति अन्याय और तिरस्कार का उद्घाटन करने की प्रक्रिया में कहीं-कहीं कारुणिकता की चरमावस्था भी सामने आती है और हम सोचने को विवश हो जाते हैं यही है हमारा समाज? 'भीतर का वक़्त' के विवरण इसका प्रभाव हैं।

एक अन्य लेखक श्यामल बिहारी महतो का कथा-संग्रह *बहेलियों के बीच* कोयला क्षेत्रों के हालात, मज़दूरों की स्थिति, राजनीति, एक-दूसरे को लूटने और निगल जाने की साज़िशों का ख़ुलासा करता है। ये कहानियाँ लेखक के भोगे हुए यथार्थ की कहानियाँ हैं। वह स्वयं इनका पात्र भी है और रचनाकार भी। सारी कहानियों में वह जैसे ख़ुद को ही रचता और कष्ट भोगता है। लेखक ने अपना जीवन इन्हीं मज़दूरों के बीच जिया और वही त्रास और बेबसी झेलते हुए जिया है, जो इनके जीवन में हैं। लूट-खसोट के बीच निरंतर दुर्घटनाओं और मृत्यु से जूझते मज़दूर को उसके मानवीय पक्षों को निगल जाता है, महतो की कहानियाँ इसका गवाह हैं। इन कहानियों में जिए गए भीषण सत्य का सर्जनशील रचनात्मकता के साथ अंकन है। सभी कहानियों में न्याय पाने का अदम्य साहस भी उभरता दिखाई देता है। शोषित प्राणी उठकर अपना अधिकार माँगता है। बाज़ारवाद के विस्तार ने जीवन में जिस तरह सब तत्त्वों से ऊपर पैसे को स्थापित कर दिया है और लोग धन के लिए जिस तरह कुछ भी बेहिचक कर डालने को तैयार रहते हैं, झारखंड कोलियरी क्षेत्र से जुड़ी ये कहानियाँ भी समाज के अमीर-ग़रीब में बँटते चले जाने की ओर भी संकेत करती हैं।

विभिन्न रचनाकारों की इन कहानियों में युवा चिंतन की सर्जनशील ताज़गी से भरी विशिष्टताएँ सामने आती हैं। महतो की रचनाओं में भाषिक स्तर पर अंचल विशेष के शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग मिलता है, तो पंखुरी की रचनाओं में कम-से-कम शब्दों में अधिकतम अभिव्यक्ति का कौशल। कविता की रचनाओं में वह नई स्त्री है, जो सारी वर्जनाओं से संघर्ष करती हुई अपनी राह बनाती है, तो अरुण कुमार की रचनाओं में जीवन के सतत प्रवाह के अनेक विध अनुभवों के विस्तार का अंकन। नारी, दलित और अल्पसंख्यक मुसलमान की सामाजिक विडंबनापूर्ण स्थिति का संवेदनशील चित्रण कहानी की अंतर्निरीक्षण क्षमता का निदर्शन है। अल्पना की कहानियाँ अंतर्मन की गुत्थियों को सामने रखती हैं। पराग कुमार की रचना शैली में काव्यात्मक तत्त्वों का कहानी में रूपायन एक अलग प्रकार की ताज़गी देता है। इन रचनाकारों की अधिकांश कहानियाँ वर्तमान जीवन की गहन परख और उसे प्रस्तुत करने की निजी सृजनात्मक ऊर्जापूर्ण अंतर्दृष्टि से युक्त हैं। पारस्परिक सामाजिक संबंधों पर सूक्ष्म दृष्टि डालती ये कहानियाँ स्त्री-पुरुष के पुरुष-पुरुष के, स्त्री के स्त्री से अनेक प्रकार के राग-द्वेषात्मक संबंधों का लेखा प्रस्तुत करती हैं। प्रेम और यौन भावना के संदर्भ में स्त्री और पुरुष के दृष्टिकोण का अंतर तो स्पष्ट होता ही है, आज के समय इनके

प्रति बदला दृष्टिबोध अधिकारी ही नहीं उसके हितैषी कहे जाने वाले मज़दूर नेता भी कम संत्रस्त नहीं करते। इतना ही नहीं उसके पड़ोसी भाई-बंधु सहयोगी तक इस शोषण में शामिल हो जाते हैं। गणपत बाबू, संपत ठाकुर, बालम महतो सभी मज़दूर की मृत्यु की कढ़ाई में अपनी मछली तलने की फ़िराक़ में हैं। 'सौदा' कहानी इसी का निदर्शन है। मृत मज़दूर की पत्नी की जगह लाभान्वित होते ये नेता उस तरफ़ देखते तक नहीं। सारा का सारा मामला अंततः नेताओं की स्वार्थपूर्ति में ही सिमटकर रह जाता है। शोषण का यह क्रम कभी दफ़्तरी कार्यकलाप की बेईमान शैली के बीच ईमानदार आदमी के पिसने के रूप में आई है और कभी 'क्लीन चिट' के रूप में अफ़सरों की लूट-खसोट और परस्पर हित-साधना के रूप में। मज़दूरों की जान की किसी को परवाह नहीं है; वे निरंतर होती दुर्घटनाओं में मरते हैं तो मरें। 'दफ़्तर का आदमी' कामता बाबू हो या 'बहेलियों के बीच' की मेघना, सभी दूसरों के कारण पीड़ा भोगते हैं। भाई मेघना को बेच देता है, तो ससुराल वाले उसकी हत्या की फ़िराक़ में है, बॉस रमेश हमेशा अपने कामुक इरादों में फँसाने को तत्पर रहता है। जिन राजेश बाबू को वह आदर से देखती है वे भी उसके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रख देते हैं। हर कोई जैसे उसका अपने-अपने ढंग से इस्तेमाल करना चाहता है। इस संग्रह की कहानी सही भात में एक बेटा जीवित पिता की मृत्यु घोषणा पत्र बनवाकर संपत्ति हथिया लेता है। समग्र प्रसंग कमलेश्वर के उपन्यास *समुद्र में खोया हुआ आदमी* की याद दिलाता है। काशी की नौकरी छीनकर बेटा सारे गाँव को भोज दे रहा होता है और काशी वहाँ पहुँचकर कहता है, 'मैं ज़िंदा हूँ'। छल के माध्यम से जीवन का एक विचित्र अनुभव सामने आता है। एक-एक क़दम करके शोषण का विस्तार कैसे होता है और कैसे सीधा-सादा आदमी अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने के लिए बंदूक़ उठा लेता है। 'बाँध' कहानी इसे प्रस्तुत करती है। इन कहानियों में स्त्री अपनी काम चेतना, अपने अस्तित्व, पुरुष के प्रति अपने दृष्टिकोण और अनुभूति को स्पष्टतया जानती और व्यक्त करती है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निम्नतम पायदान पर रहकर जीवनयापन करने वालों के पारिवारिक, सामाजिक और वैयक्तिक संकटों से ग्रस्त स्थितियाँ खुलकर रेखांकित हुई हैं तो उनके संघर्ष की ताक़त भी सामने आई है। अर्थ की महत्ता के विस्तार से उत्पन्न विषमताओं से कैसे इंसान उग्रता, अशांति और भ्रष्टाचार की ओर चला जाता है, इन कहानियों में इसे प्रभावशाली ढंग से कहा गया है। ये सभी कथाकार अपनी कुछ अपरिपक्व और कमज़ोर रचनाओं के बावजूद भविष्य की संभावना जगाते हैं।

चर्चित पुस्तकें :

पौ फटने से पहले : अरुण कुमार 'असफल'; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

कोई भी दिन : पंखुरी सिन्हा; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

राजा, कोयल और तंदूर : पराग कुमार मांदले; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

मेरी नाप के कपड़े : कविता; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

भीतर का वक़्त : अल्पना मिश्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

बहेलियों के बीच : श्यामल बिहारी महतो; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

...चानना के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : डी-23, लाजपत नगर-1, दूसरी मंज़िल, नई दिल्ली

पाठांतर

ज्यों ही अंक का मुख पृष्ठ देखा तो मन गदगद हो उठा क्योंकि उस पर महाप्राण निराला विराजमान थे। आपने 'निराला पर विशेष' स्तंभ के अंतर्गत जो दो लेख दिए हैं वे रम्य रचनाएँ ही हैं। आपको किस प्रकार धन्यवाद दूँ क्योंकि आपने निराला के एक चर्चित गीत को मय चित्र के प्रकाशित किया है। इस कार्य के लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ।

प्रकाशित गीत का विशद् विश्लेषण विश्वनाथ त्रिपाठी की लेखनी ने जिस प्रकार से किया है वह बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है। जहाँ तक शंकरी प्रसाद वसु के लेख का प्रश्न है वह अब तक प्रकाशित निराला पर सभी सामग्री से बिलकुल अलग है। लेखक ने निराला और बंगाल के जिन संबंधों की चर्चा की है, वे अनूठे हैं। अब तक तो हम केवल यह जानते थे कि महाप्राण का जन्म बंगाल में हुआ था। लेख से यह पूरी तरह सिद्ध हो चुका है कि निराला के व्यक्तित्व व कृतित्व की आधारशिला ही नहीं अपितु उसको निखारने का कार्य भी बंगाल ने ही किया था। निराला और बंगाल विषयक लेख की सामग्री अद्वितीय है।

अंक की अन्य रचनाएँ भी अच्छी हैं। विशेषकर मलयालम् आलेख के अंतर्गत सुश्री प्रमीला जी के लेख ने बहुत प्रभावित किया है। लेख के अंतर्गत जिन कविताओं को उद्धृत किया गया है उससे लेखिका के हिंदी साहित्य के विशद अध्ययन का पता चलता है।

कृष्ण दत्त तिवारी, कानपुर

समकालीन भारतीय साहित्य का सितंबर-अक्तूबर का अंक बड़ी सार्थक सामग्री समेटे अनूठा बन पड़ा है। आपने आमुख में ही इस ओर इंगित करके कि किस प्रकार नई शब्द संयोजना की ओर लपक लेते हैं हम और कभी-कभी कैसी हास्यास्पद स्थिति पैदा कर लेते हैं–बहुत कुछ नए सिरे से सोचने समझने के लिए प्रेरणा दी है। फिर जावेद अख़्तर का अनूठा लेख तो भीतर तक पैठ गया।

मुझे याद है जब सन् 1953-54 में मैं इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में हिंदी साहित्य में एम.ए. की पढ़ाई कर रही थी तब एक परचा हिंदी साहित्य के इतिहास का होता था, जिसके एक हिस्से के रूप में हमें उर्दू साहित्य का इतिहास भी पढ़ाया जाता था। उसी पढ़ाई के दौरान उर्दू साहित्य के प्रति मेरी रुचि दिनोंदिन बढ़ती गई थी। देवनागरी लिपि में लिखा उर्दू साहित्य जहाँ भी मिलता, मैं चाट डालती। मेरी एक बड़ी प्यारी किताब थी; नाम तो याद नहीं पर जाँनिसार अख़्तर के नाम उनकी बीवी साफ़िया के ख़तों का संकलन था वह। तब इफ़रात पैसे तो होते नहीं थे—ज़रूरी ख़र्चों में किसी तरह कतर ब्योंत करके वह किताब ख़रीदी थी। उसमें एक ख़त में साफ़िया ने अपने बेटे का ज़िक्र करते हुए लिखा था कि महज़ छह साल की तोतली उम्र में ही यह बच्चा ऐसी गहरी अदबी समझदारी से भरी बातें करने लगा है कि हैरानी होती है। उन्होंने लिखा था कि "देखो यह जौहर यूँ ही ज़ाया होता है या अपनी पूरी आबोताब से चमकता है।"

उन्हें शायद इतना अंदाज़ भी नहीं होगा कि अपनी असीसों से जिस चंदोबे को बुनकर उन्होंने बेटे को छाँह दी थी वह इतना फैल जाएगा कि उनके बेटे जावेद अख़्तर की प्रतिभा एक दिन आकाश पाताल बेधकर चमकेगी ही नहीं—पूरी आबोताब से दमदमा देगी।

आँखों के कत्थई रंग से हमारी अनोखी पहचान रखने वाले जावेद के पास एक 'बादयबानी कश्ती' है जिस पर सवार हो के वे 'किरन किरन अलसा करके' अपने लिए एक नया सूरज बना लेने की कुव्वत रखते हैं यह तो मुझे मालूम था, लेकिन यह नहीं मालूम था कि जिन्हें हम बड़े लाड़ से 'जादू' कहकर पुकारते रहे हैं, उनके दिलो-दिमाग़ के पास एक जादुई पिटारा भी है जो उन्हें साहित्य को इस क़दर गहरी बारीक़ी से समझने, गुनने और व्यक्त करने की सामर्थ्य देता रहता है। एक शायर के लिए शायरी कर लेना शायद कठिन नहीं होता होगा पर शायरी के मर्म को पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नुक़्ता-नुक़्ता समझकर बात करना और श्रोता के मन में बड़ी सहजता से, आराम से उतार देना—सबके वश की बात नहीं होती। क़ाश यह भाषण जब जावेद साहब दे रहे थे उस वक़्त मैं वहाँ होती और कान लगाकर चुल्लू चुल्लू पिया होता हर जुमला! इस भाषण को छापने के लिए मेरे जैसे तमाम पाठकों ने दुआएँ दी होंगी आपको। बधाई!

सुधा भारती, मुंबई

समकालीन भारतीय साहित्य का जुलाई-अगस्त अंक मिला। धन्यवाद। दमदार 'आमुख' के साथ मुन्नी सिंह की कहानी, पद्मा सचदेव, भगवानदास ऐजाज़, पंकज पराशर की कविताएँ, शैला के.पी. का आलेख और ख़ासतौर पर निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विश्वनाथ त्रिपाठी और शंकरी प्रसाद वसु की विशेष प्रस्तुति अत्यधिक हृदयस्पर्शी प्रतीत हुई। यूँ तो *समकालीन भारतीय साहित्य* का हर अंक पठनीय है फिर भी सादर सुझाव है कि नए रचनाकारों के लिए भी अलग से थोड़ा स्थान मिलता रहे तो शायद ज़्यादा अच्छा रहे। अधिकार आपके, फ़ैसला आपका। कृपया मेरा सुझाव स्वीकारें।

...प नूरानी, राजस्थान

127 अंक में प्रकाशित लेख, रचनाएँ अच्छी लगीं। आर. शांता सुंदरी की रचना 'तेलुगु कविता की नई प्रक्रिया—नानीलु' अधिक पठनीय एवं जानकारीप्रद रही। कहानियों में खडकराज गिरी की 'आख़िरी ठौर', रज़ा जाफ़री की 'आईने' आदि सभी रोचक हैं। नेपाली कथाकार गिरी का लेखन नए प्रयोगों को लिए हुए है। कविताओं में सतीश जायसवाल की कविताएँ और मनोरमा विश्वाल महापात्र की कविताएँ अधिक पठनीय एवं मानवीय भावनाओं तथा वर्तमान की विडंबनाओं को उद्रेक करने में सक्षम हैं। चलते-चलते जावेद अख़्तर की 'उर्दू साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन' और संपादकीय काफ़ी रोचक एवं ज्ञानप्रद रहा।

वैद्यनाथ उपाध्याय, उदालगुड़ी, असम

समकालीन भारतीय साहित्य का सितंबर-अक्तूबर 2006 का अंक मिला। मुखपृष्ठ से लेकर अंदर तक हर रचना ने प्रभावित किया। अच्छे एवं प्रभावशाली मुखपृष्ठ हेतु श्री तीर्थंकर विश्वास को आभार। आलेख में 'उर्दू साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन' (श्री जावेद अख़्तर), हिंदी साहित्य के अभिमन्यु भुवनेश्वर (सुश्री सुषमा भटनागर) ने प्रभावित किया। सबसे महत्त्वपूर्ण आलेख 'तेलुगु कविता की नई प्रक्रिया—नानीलु' (सुश्री आर. शांता सुंदरी) ने केवल प्रभावित ही नहीं किया बल्कि मेरे जैसे सामान्य पाठक को 'नानीलु' लिखने को प्रेरित किया।

कहानियों में वैसे सभी ठीक थीं किंतु पंजाबी कहानी 'साँझी दीवार' (श्री संतोख सिंह धीर) ने अत्यधिक प्रभाव डाला। कहानी पंजाब परिवेश में थी किंतु उसका कथानक हिंदुस्तान के प्रत्येक गाँव का लगता है। श्री संतोख सिंह धीर को

साधुवाद। कुल मिलाकर *समकालीन भारतीय साहित्य* बेहद पठनीय, दर्शनीय एवं संग्रहणीय लगी।

बंशीलाल परमार, सुवासरा, मध्य प्रदेश

समकालीन भारतीय साहित्य का सितंबर-अक्तूबर 2006 अंक मिला। यह एक पत्रिका नहीं, बल्कि एक पूर्ण पुस्तक है। 'आमुख' पत्रिका की समस्त सामग्रियों के विषय में सब कुछ कह देता है। जावेद अख़्तर का आलेख 'उर्दू साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन' एक विशेष प्रस्तुति है।

राजी सेठ की कहानी 'एक कटा हुआ कमरा' अच्छी लगी। अन्य कहानियाँ भी प्रभाव छोड़ने में सक्षम हैं। वरिष्ठ लेखक रमेशचंद्र शाह का आलेख 'निर्मल वर्मा का नैबंधिक कृतित्व' भी सुंदर बन पड़ा है। यह वर्मा जी के रचना-संसार से रू-ब-रू कराता है।

ज्योतिष जोशी का आलेख 'सामूहिकता का संकल्प' आंचलिक कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु के रचना-संसार की झाँकी प्रस्तुत करता है। कुछ कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं। अगले अंक के इंतज़ार के साथ प्रस्तुत अंक के सुंदर संपादन की बधाई।

मनानंद हर्ष, पूर्णियाँ, बिहार

निवेदन

1. रचना की मूल प्रति अपने पास अवश्य रखें। रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँगी। रचना के साथ टिकट लगा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें। बार-बार मना करने पर भी रचनाकार लिफ़ाफ़ा भेज देते हैं।
2. अब आप चैक द्वारा भी *समकालीन भारतीय साहित्य* के ग्राहक बन सकते हैं। दिल्ली के ग्राहक को कोई अतिरिक्त शुल्क नहीं देना होगा। दिल्ली से बाहर के ग्राहक 25 रुपए अतिरिक्त शुल्क भेजें।
3. जिन ग्राहकों को कोई अंक प्राप्त न हो तो पत्र संपादक को न लिखकर सीधा उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001 को पत्र लिखें; आपको अंक की प्रति भेज दी जाएगी।

है पर अपने आंतरिक और बाह्य प्रारूपों में नितांत जातीय और राष्ट्रीय है।''

कमलेश्वर ने स्वयं लिखा—'कहानी मुझे औरों से जोड़ती है या यह कहूँ कि बहुतों से संपृक्त होने की सांस्कृतिक स्थिति ही कहानी की शुरुआत है।' यह सार्वजनीन है कि कथा-लेखन के प्रारंभ से ही कमलेश्वर का जुड़ाव जन-संप्रेषण माध्यमों से रहा है। रेडियो, टेलीविज़न, फ़िल्म, नाटक, कमेंट्री, पत्रिका, अख़बार और स्तंभ-लेखन उनके आजीविका के ही नहीं, कलात्मक संप्रेषण के साधन भी रहे। वे अव्वल दरजे के संप्रेषक थे।

आधुनिकतावादी आलोचक भले ही सुशिक्षित पाठक की माँग करते रहें, कमलेश्वर ने ख़ास और आम दोनों तरह के पाठकों को तरज़ीह दी और लोकप्रियता को कला का शत्रु नहीं माना। वे यहाँ उपनिवेश-केंद्रित आधुनिकतावादियों से अलग हो जाते हैं। जिसे कुछ लोग उपन्यास नहीं मान रहे हैं, उसी उपन्यास *कितने पाकिस्तान* के देखते-देखते 11 संस्करण हो गए, 10 भाषाओं में अनुवाद हो गया। जहाँ कलात्मक संप्रेषण अपने उत्कर्ष पर हो, वहाँ पाठक आलोचकों की राय की परवाह कम ही करते हैं।

कमलेश्वर के यहाँ समकालीनता का स्वीकार्य ही नहीं, उससे एक तनावपूर्ण संबंध भी निरंतर सक्रिय है। यथार्थ ही नहीं, विकासमान यथार्थ भी। जहाँ रहे, जो पाया, उसे रचना में व्यक्त किया। मैनपुरी, दिल्ली और मुंबई तीनों उनकी कहानियों के स्थल हैं। यह नहीं कि पहुँच गए मुंबई और कहानी लिख रहे हैं पुराने मैनपुरी पर। कमलेश्वर यथार्थ से आक्रांत नहीं होते, यदि समकालीन यथार्थ दमघोंटू, अजनतांत्रिक और उत्पीड़क हैं तो उससे मुठभेड़ भी करते थे। किशोर कमलेश्वर कभी क्रांतिकारी योगेश चटर्जी के संपर्क में थे और उनके क्रांतिकारी दल के लिए हरकारे का काम करते थे। यह कार्यकर्तापन उनमें अंत तक बना रहा। वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक कट्टरता से टकराते रहे। जनतंत्र, समानता, अभिव्यक्ति की आज़ादी और धर्मनिरपेक्षता के मसलों पर कभी समझौता नहीं किया। उनके लिए आज़ादी का मतलब सोच की आज़ादी भी थी। बग़ैर औपनिवेशिक प्रभाव से मुक्त हुए 'जॉर्ज पंचम की नाक' जैसी धारदार व्यंग्यात्मक कहानी आप नहीं लिख सकते।

यह कटु सत्य है कि नई कहानी आंदोलन हिंदी समाज के सवर्ण हिस्से के इर्दगिर्द ही घूमती रही। वह पुरुष-वर्चस्व और सवर्ण-वर्चस्व से नहीं टकराती है। जबकि प्रेमचंद और यशपाल ने इसकी शुरुआत कर दी थी। कमलेश्वर की प्रारंभिक कहानी 'देवा की माँ' भी पुरुष-वर्चस्व की चुनौती को देखा जा सकता है तो मराठी दलित लेखन को प्रतिष्ठित करने में उनकी भूमिका में सवर्ण-वर्चस्व वाले ढाँचे से टकराव का स्वर सुनाई पड़ता है। साथ ही निम्नवर्गीय प्रसंग भी ख़ूब आते हैं। कमलेश्वर का टेलीविज़न कार्यक्रम 'परिक्रमा' को यूनिसेफ़ ने सर्वाधिक लोकप्रिय कार्यक्रम घोषित किया था। वह संचार-माध्यम में हिंदी समाज के सबआल्टर्न की आमद का घोषणा पत्र था।

विकट से विकट परिस्थिति में वे स्तब्ध नहीं होते थे। उनकी तुरत बुद्धि रास्ता निकाल लेती थी। आपातकाल का सेंसर अभिव्यक्ति से संपादकगण सकते में थे। कमलेश्वर स्तब्ध नहीं हुए, *सारिका* का संपादकीय पृष्ठ काला कर अपना विरोध प्रकट कर दिया।

जहाँ भी बदलाव की बेचैनी और सक्रियता होगी, कमलेश्वर हमसे वहाँ मिलेंगे।

राजा राव भारतीय अंग्रेज़ी उपन्यास की आधारशिला रखने वालों में एक थे। पिछले वर्ष उनका निधन हो गया। उन पर इस विशेष आयोजन में उनके निकटस्थ एस. रामास्वामी का दीर्घ आलेख हम प्रकाशित कर रहे हैं। यह उन्होंने हमारे लिए विशेष रूप से लिखा है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

—अरुण प्रकाश

राजा राव (1908–2006)

राजा राव

कांतापुर की भूमिका

भारत में कोई ऐसा गाँव नहीं है जिसका अपना कोई महान स्थल पुराण न हो या अपनी कोई पौराणिक कथा का इतिहास न हो। कोई भगवान या भगवान जैसा नायक उस गाँव से गुज़रा न हो—राम ने इस पीपल के वृक्ष के नीचे आराम किया होगा, सीता ने स्नान के बाद इस पीले पत्थर पर अपने कपड़े सुखाए होंगे या फिर ख़ुद उस महात्मा ने, जिसके पूरे भारत में कई तीर्थस्थल हैं, ने इस कुटिया में रात बिताई थी, वही कुटिया जो हमारे गाँव के मुहाने पर स्थित है। इस तरह तुम्हारी दादी-नानी की कहानियों को चमकाने के लिए अतीत वर्तमान में घुलमिल जाता है और भगवान साधारण आदमी में घुलमिल जाते हैं। इसी तरह की एक कहानी को मैंने अपने गाँव के समकालीन इतिहास में से निकालकर यहाँ बताने की कोशिश की है।

कहानी कहना आसान कार्य नहीं है। वह भी ऐसी भाषा में संप्रेषित करना जो उसकी अपनी नहीं है जबकि आत्मा उसकी अपनी है। किसी विचार या आंदोलन के विभिन्न रंगों और भूलों को बताना होता है जोकि उस परदेसी भाषा में अजीब-से लगते हैं। मैंने 'परदेसी' शब्द का प्रयोग किया है हालाँकि वास्तव में अंग्रेज़ी हमारे लिए परदेसी भाषा नहीं है। अंग्रेज़ी तो उसी तरह हमारे बौद्धिक प्रदर्शन की भाषा है जैसे पहले कभी संस्कृत या फ़ारसी होती थी लेकिन हमारे भावनात्मक प्रदर्शन की भाषा कदापि नहीं है। हम सब लोग कुदरती ही द्विभाषी हैं। हममें से अधिकतर अपनी भाषा में भी लिख रहे हैं और अंग्रेज़ी में भी। हम अंग्रेज़ों की तरह नहीं लिख सकते। हमें लिखना भी नहीं चाहिए। हम सिर्फ़ भारतीयों की तरह भी नहीं लिख सकते। हम इस तरह पले-बढ़े हैं कि इस विशाल विश्व को अपना ही हिस्सा मानें। इसीलिए हमारी अभिव्यक्ति का तरीक़ा यह होना चाहिए कि हम बोलियों में जाएँ जो कि एक दिन आयरिश और अमेरिकियों की तरह सुस्पष्ट और बहुरंगी सिद्ध होंगी। केवल समय ही इस बात को सही सिद्ध करेगा।

भाषा के बाद अगली समस्या शैली की आती है। हमारी अंग्रेज़ी भाषा की अभिव्यक्ति में उसी तरह भारतीय जीवन की ख़ुशबू रची-बसी होनी चाहिए जैसे कि अमेरिकियों और आयरिशों में होती है। हम, भारत में, जल्दी-जल्दी सोचते हैं, जल्दी-जल्दी बोलते हैं और जब हम चलते हैं तो जल्दी-जल्दी चलते हैं। भारत के सूरज में ज़रूर कुछ ऐसा है जो हमें जल्दी करने और ठोकर खाने तथा फिर भागने पर उकसाता है और हमारे रास्ते बहुत लंबे हैं, असीम हैं। महाभारत में 2,14, 778 श्लोक हैं और रामायण में 48,000। पुराण तो अनंत और असंख्य हैं। हमारी शैली में न तो विराम-चिह्न और न ही अन्य फ़रेबी चीज़ें हमें परेशान करती हैं—हम तो एक ही अनंत कथा कहते हैं। एक घटना के बाद दूसरी घटना आती रहती है और जब हमारे विचार रुकते हैं, तभी हम साँस लेते हैं और उसके बाद हम दूसरे विचार की ओर दौड़ पड़ते हैं। हमारी कहानी कहने की, पहले भी और अभी भी, यही साधारण शैली है। मैंने ख़ुद भी इस कहानी में यही शैली अपनाने की कोशिश की है।

शायद किसी एक ऐसी शाम, जब अँधेरा घिर आया होगा, अचानक रोशनी चुपचाप एक घर से दूसरे घर में छलाँग लगा रही होगी और तब बरामदे में अपना बिस्तर बिछाती हुई, दादी ने अपने गाँव की इस उदास कथा को, तुम नए आनेवाले को बताया होगा। और मैंने उसी कहानी को यहाँ आगे बढ़ाया होगा।

(फ्रांस, नवंबर 1937)

अनु.: शांता ग्रोवर

एस. रामास्वामी

राजा राव : श्रद्धा और कला का संगम

सन् 1964 में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत महान भारतीय उपन्यासकार और दार्शनिक राजा राव 8 जुलाई 2006 को ऑस्टिन, टेक्सास में अपनी देह त्याग अमरत्व में लीन हो गए और यह उनको मात्र एक विनम्र श्रद्धांजलि है।

I

राजा राव का जन्म 8 नवंबर 1908 को कर्नाटक प्रदेश के हसान ज़िले में हुआ था। 1929 में उन्होंने अंग्रेज़ी और इतिहास में ग्रेज्युएशन किया था। सर पेट्रिक गिडे के निमंत्रण पर ये फ्रांस में फ्रेंच भाषा और साहित्य का अध्ययन करने मांटपलीर विश्वविद्यालय गए। उसके अगले तीन वर्ष उन्होंने सोरबॉन-पेरिस विश्वविद्यालय में लुईस केजामियाँ की निगरानी में 'आयरिश साहित्य पर भारतीय प्रभाव' विषय पर शोधकार्य किया।

1938 में उनका पहला उपन्यास *कांतापुर* लंदन में प्रकाशित हुआ। विषय और प्रस्तुतीकरण दोनों प्रकार से भारतीय-आंग्ल उपन्यास के रूप में यह मील का पत्थर साबित हुआ। इसकी पृष्ठभूमि स्वराज आंदोलन है जो महात्मा गांधी की दांडी-यात्रा के संदर्भ में वीरोचित संघर्ष को दिखाती है। एक छोटे-से गाँव के ग्रामीण समाज को लेकर इसकी कहानी रची-बुनी गई है। किसी रेखाचित्र की चौखट पर बने सुंदर बेलबूटे-से इसके पात्र हैं— मूर्ति, रंगे गावदा, रामकृष्णैया, रंगम्मा, भट्ट, वेंकम्मा इत्यादि। अंग्रेज़ी में लेखन के नए अंदाज़ के लिए यह उपन्यास चर्चित हुआ। वे ख़ुद कहते हैं, "कहानी कहना आसान कार्य नहीं है। वह भी ऐसी भाषा में संप्रेषित करना जो उसकी अपनी नहीं है जबकि आत्मा उसकी अपनी है। किसी विचार या आंदोलन के विभिन्न रंगों और भूलों को बताना होता है जो कि उस परदेसी भाषा में अजीब से लगते हैं। मैंने 'परदेसी' शब्द का प्रयोग किया है हालाँकि वास्तव में अंग्रेज़ी हमारे लिए परदेसी भाषा नहीं है। अंग्रेज़ी तो उसी तरह हमारे बौद्धिक प्रदर्शन की भाषा हैं जैसे पहले कभी संस्कृत या फ़ारसी होती थी लेकिन हमारे भावनात्मक प्रदर्शन की भाषा कदापि

एस. रामास्वामी अंग्रेज़ी, कन्नड एवं संस्कृत के जाने-माने विद्वान हैं। संपर्क : 20358, वेस्ट पार्क रोड, मलेश्वरम्, बैंगलोर 560055

अनु. शांता ग्रोवर का जन्म 1959 में हुआ। इनकी बाल-साहित्य की पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट से पुरस्कृत हैं। पंजाबी-अंग्रेज़ी से हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। लेख एवं कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : डी-14, अजय एनक्लेव, तिलक नगर, नई दिल्ली

हैं। हम सब लोग क़ुदरती ही द्विभाषी हैं। हमें से अधिकतर अपनी भाषा में भी लिख रहे और अंग्रेज़ी में भी। हम अंग्रेज़ों की तरह नहीं लिख सकते। हमें लिखना भी नहीं चाहिए।'' ये उद्घोष *कांतापुर* में अपनाए जाने के महत्व रखते हैं, पर राजा राव के संप्रेषण सिद्धांत भर्तृहरि के *वाक्यपदीय* और *शब्द* के विचारों से भी मेल खाते हैं। इसके में विस्तार से बाद में चर्चा करेंगे।

यह भी देखा गया कि राजा राव न केवल द्विभाषी थे बल्कि बहुभाषी थे। उन्होंने धारवाड़ से निकलने वाली *जय कर्नाटक* पत्रिका में कन्नड में लेखन शुरू किया था और समापन फ्रेंच में किया था। वे पेरिस में *मरक्यूरे डे फ्रांस* के संपादक मंडल में कई वर्षों तक रहे जहाँ उन्होंने अपनी कहानी 'ए क्लाइंट' का फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया था। इसी तरह पेरिस से निकलने वाली पत्रिका *वेंदरेदी* में उनकी 'इंडियन ग्राम शॉप' का और *जवनी अकय्या* का ...स डू सूद में फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित हुआ। फ्रांसीसी में उनकी अभिव्यक्ति इतनी त्रुटिहीन और अच्छी थी कि 1998 में जब आंद्रे मालरो 'चार्ल्स द गॉल' का दूत बनकर भारत आया तो राजा राव ने ही उन्हें और उनकी पत्नी मेडेलिन को भारत-भ्रमण करवाया और 'शाश्वत' भारत से परिचित करवाया था। यह एक विशेष घटना थी क्योंकि मालरो संस्कृत के विद्वान थे और उन्हें 1965 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा '...आचार्य की उपाधि' से नवाज़ा गया था। उन्हें 'पंडित मालरो' कहकर संबोधित किया गया था। दरअसल उन्होंने फ्रांसीसी में कहा था, "...: मैं आपको बता ही दूँ कि मैं क्या कहना चाहता हूँ। महान् शंकराचार्य भारत में पथ-प्रदर्शन करें, यही मेरी प्रार्थना है।'' यह कहा जाता है कि जब मालरो से पूछा गया कि वह भारत में क्या करना चाहते हैं तो मालरो ने उत्तर दिया कि वे आदि शंकराचार्य से बातचीत करना चाहते हैं। उन्होंने इस काम के लिए एक अच्छा दुभाषिया भी ढूँढ़ लिया था। भारत की उन्होंने नौ बार यात्रा की और भगवद्गीता को मूल भाषा में पढ़ने के लिए उन्होंने संस्कृत सीखी। मालरो ने राजा राव को इस तरह वर्णित किया है, ''उनका चेहरा रोमन था, निचला अधर थोड़ा मोटा था जिससे उनकी मुस्कुराहट सम्मोहक हो उठती थी और एक महान व्यक्ति को भोला होने की सलाह देती-सी लगती थी।'' राजा राव अभी तरुणावस्था में पहुँचे ही थे कि उनकी भेंट रोमां रोलां से हो गई थी जिसका वर्णन उन्होंने भारत पर लिखी अपनी पुस्तक में किया है।

1960 में लंदन में प्रकाशित 'द सर्पेंट एंड द रोप' उनकी कालजयी रचना है हालाँकि उनकी बहुत बड़ी पुस्तक द *चेसमास्टर एंड हिज़ मूव्स* है जो कि जून 1988 में उसके बीस साल बाद लिखी गई थी। इसे लिखने में उन्हें दस वर्ष लगे थे। इस पुस्तक के 735 पृष्ठ हैं और प्रकाशकों ने इसे मोटा मानकर इसे एक तिहाई छोटा करने के लिए कहा था लेकिन राजा राव ने मना कर दिया था और मज़े की बात यह है कि तीन भागों में लिखे जाने के विचार से यह केवल पहला ही भाग था। यह कहना शायद संदर्भ से हटना न होगा कि राजा राव इस काम को आगे बढ़ाने में मेरी सहायता चाहते थे। हालाँकि उन्होंने जो मेरे प्रति प्यार और स्नेह दिखाया और मेरी क्षमताओं के बारे में विश्वास जताया, उसके प्रति मैं आभारी हूँ, लेकिन मैं इतने महत्त्वपूर्ण काम की ज़िम्मेदारी नहीं उठा पाया क्योंकि ऑस्टिन में बने रहने के मेरे पास आर्थिक साधन नहीं थे। यह और बात है कि द *चेसमास्टर* लोगों को ख़ास पसंद नहीं आई और उसकी प्रतिकूल समीक्षाएँ भी लिखी गई थीं।

ख़ैर, यह मेरी राजा राव के प्रति केवल श्रद्धांजलि है और इसके बारे में ज़्यादा कुछ

कहना श्रद्धांजलि के बाहर होगा तो मैं *द सर्पेंट एंड द रोप* पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता हूँ। 1964 में इस उपन्यास को साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। उसके अगले साल उनकी *द कैट एंड शेक्सपीयर : ए टेल ऑफ़ इंडिया* न्यूयॉर्क से प्रकाशित हुई। *कामरेड किरीलोव* का फ्रांसीसी संस्करण भी पेरिस से प्रकाशित हुआ। 1966 में उन्होंने ऑस्टिन के टेक्सास विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन पढ़ाना शुरू किया था। 1969 में उन्हें भारत सरकार ने 'पद्म विभूषण' से नवाज़ा। 1984 में वे अमेरिका के 'आधुनिक भाषा संघ' के महत्तर सदस्य चुने हुए। 1988 में उनकी *चेसमास्टर एंड हिज़ मूव्स* प्रकाशित हुई और उन्हें साहित्य के लिए 'न्यूस्तद इंटरनेशनल' पुरस्कार मिला। 8 जुलाई 2006 को वे दिवंगत हो गए।

राजा राव संस्कृत भाषा के प्रति बहुत लगाव रखते थे। उन्होंने एक बार कहा था, ''जिसने संस्कृत को जान लिया, उसने अपने आपको जान लिया।'' मैंने ख़ुद उन्हें कहते सुना था कि संस्कृत एक महान भाषा है क्योंकि यह निराकार संकल्पनाओं को गणितीय शुद्धता से व्याख्यायित करती है। उन्होंने कहा था, ''मैं संस्कृत पर मोहित हूँ। हाल के वर्षों में मैं मलयालम से आनंदित और प्रभावित हूँ (भई, मलयालम में 80% शुद्ध संस्कृत के शब्द जो हैं)। यह तो स्वाभाविक ही है कि मेरी मातृभाषा कन्नड ने मेरे मन के मौलिक तारों को छुआ होगा। फ्रांसीसी भाषा मुझे मेरी आत्मा की अभिजात-तंत्र प्रतीत होती है। इतालवी स्वर्णिम मानवता की भाषा है। अंग्रेज़ी शेक्सपीयर की है। हिंदी में भोलापन है हरिद्वार में बहती गंगा नदी की कलकल ध्वनि-सा...''

यह उनके भाषाओं के प्रति विचार थे। उन्हें जिन पुस्तकों ने प्रभावित किया, उसके बारे में वे कहते हैं, ''मेरे परिपक्व वर्षों में दो लेखकों, दोनों फ्रांसीसी (संयोगवश दोनों एक-दूसरे के मित्र हैं) ने मुझे प्रभावित किया। वे थे—पॉल वेलरी और आंद्रे ज़ीद। वेलरी न केवल इस सदी के महान कवियों में से एक हैं बल्कि वे एक संपूर्ण गद्य लेखक भी थे। उनके आलोचनात्मक लेख और विशेषकर, उनका लघु उपन्यास *माश्ये टेस्ते* ने मेरी बौद्धिक प्रक्रिया को धार दी, साहित्यिक अनुशासन की सख़्ती को अति आह्लादक काम बना दिया। वेलरी के साथ आंद्रे ज़ीद ने उच्च मानवता का पाठ पढ़ाया और नैतिक और काव्यात्मक संवेदनशीलता सिखाई...''

II

उनकी कहानियाँ और उनका *कांतापुर* तो कोई मुश्किल खड़ी नहीं करते क्योंकि वे सीधे कहानी कहते हैं, उसे संस्कृत भाषा-शैली में कहें तो *स्वाभावोक्ति* कहेंगे। उनकी *द कैट एंड शेक्सपीयर* और *कामरेड किरीलोव* में कुछ दार्शनिक जटिलताएँ हैं इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले अपनी-अपनी पृष्ठभूमि और प्राथमिकताओं के चलते अलग-अलग व्याख्याएँ करते हैं। गोविंदन नायर और पद्मनाभ अय्यर एक दूसरे के विपरीत मज़ेदार व्याख्या देते हैं। ख़ैर यह उनकी *द सर्पेंट एंड द रोप* और *द चेसमास्टर* ही है जो किसी भी पाठक या आलोचक के लिए एक चुनौती है। यह याद रखा जाएगा कि हालाँकि *द सर्पेंट एंड द रोप* अंग्रेज़ी में लिखा गया, पर वास्तव में तीन भाषाओं में लिखा है। पर भी यह 'त्रिभाषी' उपन्यास नहीं कहलाया। अंग्रेज़ी की एक तरफ़ संस्कृत ने तो दूसरी ओर फ्रेंच ने क़िलेबंदी की हुई है। *द सर्पेंट एंड द रोप* के रामास्वामी और *द चेसमास्टर* के शिवराम के अपने दार्शनिक दायरे हैं और वे सीधे-सादे नज़रिए से बचते हैं। समय और स्थान को ध्यान में रखते हुए केवल *द सर्पेंट एंड द रोप* की दो पहलुओं

जाँच-पड़ताल की जाएगी—भारत और फ्रांस
का चित्रण और औपनिषदिक चिंतन। लेकिन
उससे पहले, राजा राव के संप्रेषण के मत से भी
अवगत होना ज़रूरी है जो कि उन्होंने अपने दो
निबंधों, 'द राइटर एंड द वर्ड' और 'द अल्टीमेट
...' और अपने उपन्यास *कामरेड किरीलोव* में
विस्तार से बताए हैं। जबकि पहले दो तो उनके
लेखन के सिद्धांत के घोषणा-पत्र हैं, उपन्यास
कामरेड किरीलोव व्यंग्य का पुट लिए हुए है
और एक 'राजनीतिक उपन्यास' है जिसमें गांधी
जी, कार्ल मार्क्स और फ़ादर स्टालिन के साथ
... गए हैं। राजा राव लिखते हैं—किरीलोव
का वास्तविक नाम पद्मनाभ अय्यर था लेकिन
... टाई में बकवादी और निक्षिप्त वक्रताएँ
थीं। उसने मुझसे अपनी नई पुस्तक के बारे में
बातचीत की थी। वही पुस्तक, जिस पर वह
... से अधिक सालों से मनन कर रहा था।
... में किसी अज्ञात प्रकाशक ने अच्छा
पारिश्रमिक देकर उनकी उत्कृष्ट पुस्तक *महात्मा
गांधी—ए मार्क्ससिस्ट इंटरप्रटेशन* ख़रीद ली थी
और एक भूमिका देकर इसे सुव्यवस्थित कर
दिया था। यह उपन्यास *कांतापुर* का 'प्रतिकारक'
है। राजा राव का एक कम जाना-पहचाना चेहरा
—राव, एक व्यंग्यकार।

III

... एंड द रोप को हम उपनिषद् पर आधारित
उपन्यास मान सकते हैं क्योंकि यह *बृहदारण्य-
कोपनिषद्* की मैत्रेयी की उपकथा पर सीधे
आधारित है। वास्तव में यह उपन्यास तो उसका
... और स्पष्टीकरण ही है।

बिलकुल पहली ही पंक्ति है :

"मैं ब्राह्मण जाति में पैदा होने से ब्राह्मण
हूँ—जो कि सत्य तथा अन्य गुणों के प्रति
कटिबद्ध होता है। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म
को जानता है—लेकिन मेरे कितने पूर्वज

जहाँ तक कि महान याज्ञवल्क्य से लेकर
मेरे पौराणिक और औपनिषदिक पितर तक
ने क्या वास्तव में सत्य को जाना। सिर्फ़
ऋषि माधव ही अपवाद थे। वही ऋषि
माधव जिन्होंने साम्राज्य की नींव रखी या
यूँ कहना चाहिए कि साम्राज्य बनाने में
सहायता की और वेदांत से संबंधित किताबों
का सार लिखा। बाद में श्री शंकर इसी राह
पर चले।" (पृ.5)

उपन्यास के अंत में हम फिर उसी स्रोत पर
आ जाते हैं :

*यह एक उपहार है जो याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को
दिया / यह एक उपहार है जो गोविंद ने श्री
शंकर को दिया / यह एक उपहार है जो मेरे
भगवान ने मुझे दिया।*

(पृ. 403)

संस्कृत रचना में एक परंपरागत ढाँचा होता
है। शुरुआत उपक्रम से होती है और अंत उपसंहार
से। उपक्रम और उपसंहार के मध्य अभ्यास ही
है जो उपन्यास के केंद्र का पाठक को विवेकपूर्वक
याद दिलाता है। इस उपन्यास में जो पद्धति
अपनाई गई है वह है आदि शंकराचार्य की कृतियों
से लिए गए संदर्भ, जिनको पूरे उपन्यास में
योजनाबद्ध तरीक़े से स्थान दिया गया है। ऊपर
दिए उद्धरण में पहली ही पंक्ति में शंकर का
उल्लेख है। पृ. 21 पर शंकर के 'निर्वाणषट्कम्'
की पहली पंक्ति 'मनोबुध्यहंकारचिंतानिनाहं' और
इसकी टेक 'चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं'
है। यह टेक उपन्यास का नायक रामास्वामी
समय-समय पर दोहराता है ताकि *अद्वैतवेदांत*
जो अभेद भावना सिखाता है, फिर से सुदृढ़ हो।
यह अभ्यास ही है जो उपन्यास की बुनावट का
ताना-बाना है और बिलकुल अंत (पृ. 399) में
हमारा फिर 'चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं'
पंक्ति से सामना होता है। इस तरह के गोलाकार
निर्माण की पद्धति 'एकवाक्यता' कहलाती है।

संस्कृत में यह कला-कौशल एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और सिद्धांततः संपूर्ण कृति और कुछ नहीं एक वाक्य ही है क्योंकि इसमें एकसमान भावप्रवणता विद्यमान है। संस्कृत में 'अर्थैकत्वात् एकं वाक्यं' कहा जाता है।

इस उपन्यास के शीर्षक *द सर्पेंट एंड द रोप* के बारे में यदि बात करें तो यह यथार्थ और भ्रांति/विभ्रम के विषय पर विचार करने का स्तरीय उदाहरण या दृष्टांत है। यह 'रज्जुसर्पदृष्टांत' आदि शंकराचार्य की कृति 'विवेक चूड़ामणि' के श्लोक 197 से सीधा लिया गया है :

रज्वां सर्पो भ्रांतिकालीन एव।
भ्रांतेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत्॥

(रस्सी तभी तक साँप नज़र आती है जब तक हमें भ्रांति रहती है, भ्रांति के ख़त्म होते ही साँप भी नहीं रहता।)

यही मुख्य विचार अद्वैतवेदांत का सारतत्त्व है जिसको इस उपन्यास में सुव्यवस्थित रूप से चित्रित किया गया है। साँप असली है यह ग़लत सोच तभी तक रहती है जब तक सही यथार्थ के अज्ञान पर से पर्दा नहीं हट जाता।

छद्म ज्ञान—'भ्रम' का विपरीत शब्द है 'प्रम'—सम्यक् ज्ञान। राजा राव ने यह उदाहरण देते समय इस 'संसार' को भ्रम माना है और यथार्थ उस 'परम ब्रह्म' को माना है। *द सर्पेंट एंड द रोप* का नायक रामास्वामी अपने 'स्व' के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने की कोशिश में है। 'स्व' या 'आत्मन्', 'ब्रह्म' का ही समानार्थी है। उपन्यास की प्रथम पंक्ति में इसे ही समझाया गया है, ''ब्राह्मण वो है जो ब्रह्म को जानता है।'' (पृ. 5)। आध्यात्मिक साधना में यही जानना अंतिम लक्ष्य और उद्देश्य होता है। रस्सी में जो साँप प्रतीत होता है वह तकनीकी रूप से कहें तो 'प्रातिभासिक सत्ता' के कारण होता है। तीन तरह की सत्ता—यथार्थता सच्चाई होती है—व्यावहारिक, प्रतिभासिक और पारमार्थिक। स्पष्टतया दृष्टिगोचर, भौतिक, अपूर्व, अनुभूति-मूलक 'सच्चाई' व्यावहारिक है। स्वप्न की दशा यानी स्वप्नावस्था प्रतिभासिक है। यह केवल तब तक ही 'वास्तविक' लगती है जब तक सपना रहता है। यह मिथ्याज्ञान है, जिसे रस्सी को साँप समझने के दृष्टांत द्वारा बताया गया है। साँप यह संसार है। रस्सी 'ब्रह्म'—परम, मूल तत्त्व, पारमार्थिक सत्य सत्ता है। यह राजा राव का इस उपन्यास में शोध—तर्क है। राजा राव की महानता इसमें है कि इस तात्त्विक और दार्शनिक सच को उन्होंने उपन्यास जैसी साहित्यिक विधा द्वारा दर्शाया है। साहित्यिक फलक पर यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि है।

राजा राव को यह साहित्यिक सफलता अनूठी लेखन-शैली अपनाने के कारण ही मिली। और यह अनूठी शैली उनके परंपरागत भारतीय सौंदर्य-बोध और काव्यात्मक माहौल में परवरिश होने से आई है—आख़िरकार भारतीय विचारधारा में काव्यात्मकता, सौंदर्यबोध और आध्यात्मिकता एक-दूसरे में घुले-मिले जो हैं। एक नज़र उनके संप्रेषण के सिद्धांत पर डालते हैं—शब्द तत्त्व शब्द और अर्थ का दर्शन बहुत ज़रूरी है। वे संस्कृत साहित्य रस में निमग्न हुए और कालिदास की 'वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थः प्रतिपत्तये' पंक्ति उनके हृदय में बस गई। वे अपना वाक्य और पद जानते थे और इस तरह भर्तृहरि का वाक्यपदीय द *सर्पेंट एंड द रोप* को समझने के लिए बीजग्रंथ पाठ बन गया। 'सर्प' और 'रस्सी' के साधर्म्य की बात पर फिर आएँ तो यह संभव है कि स्फोट को हम रस्सी मानें और जो आवाज़ पैदा होती है उसे साँप मानें। यही राजा राव का शब्द तत्त्व या 'शब्द का सिद्धांत' है। जब हम अँधेरे (अज्ञान का प्रतीक) में रस्सी को साँप मानने की भूल करते हैं तो रस्सी हमारी ग़लती का माध्यम या वस्तु बन गई लेकिन ग़लती तो साँप के रूप में है। रस्सी एक

वस्तु है क्योंकि अंततोगत्वा यह रस्सी ही है जो हमारी इंद्रियों के संपर्क में आती है न कि साँप। इसी तरह, स्फोट हर आवाज़ के संज्ञान का माध्यम है लेकिन यह आवाज़ प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जब हमें स्फोट का साफ़ संज्ञान अंत में प्राप्त हो जाता है, तो यह लगातार कई त्रुटियाँ करने के बाद हमें प्राप्त होता है।...जो कि आवाज़ के रूप में स्फोट में होने के कारण होती हैं और वह आवाज़ हम अंततः स्फोट के रूप में ही ग्रहण करते हैं...स्फोट का अपना कोई भी रूप हो... वाक्य, शब्द या ध्वनिग्राम—भर्तृहरि इन तीनों का उल्लेख करते हैं—वह आवाज़ों द्वारा ही व्यक्त होता है। राजा राव ने ऐसे ही नहीं कह दिया, "जिसने संस्कृत को जान लिया उसने ख़ुद को जान लिया" और वे अपना लेख 'द राइटर एंड द वर्ड' यह कहते हुए ख़त्म करते हैं, "इसलिए इन अभिव्यक्तियों पर जैसे पढ़ने वाले पाठक, संप्रेषण' इत्यादि पर ध्यान न दें। हमें भारत में और कुछ नहीं केवल अपनी विरासत को पहचानने की ज़रूरत है। इसलिए आओ, भर्तृहरि को कभी न भूलें।"

यही सब उन्होंने 'द राइटर एंड द वर्ड' में लिखा था। 1984 में टेक्सास विश्वविद्यालय में दक्षिण एशियाई भाषाओं का विश्लेषण संबंधी 'लैंग्वेज कॉन्फ्रेंस' के अपने समापन भाषण में उन्होंने इसे 'द अल्टीमेट वर्ड' कहा था जो संस्कृत भाषा और साहित्य के सभी क्षेत्रों का ध्यान रखता है—एक तरफ़ यदि वह 'मांडूक्योपनिषद्' द्वारा ऋग्वेद संहिता से शंकराचार्य तक तो दूसरी तरफ़ भर्तृहरि और अभिनवगुप्त तक का। मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि उन्होंने न केवल मुझे इस भाषण की एक प्रति दी थी बल्कि, मुझे अनुरोध भी किया था कि मैं संस्कृत में 'शब्द' की संकल्पना को खोजूँ जिसको मैंने तीन साल बाद मैं न्यूयॉर्क के कारनेल विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित उसी कॉन्फ्रेंस में पूरा कर दिया था।

भर्तृहरि ने अपना 'वाक्यपदीय' इस श्लोक से शुरू किया है :

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

(जिसका न आदि है न अंत हैं, अविनाशी ब्रह्म जिसका आवश्यक तत्त्व शब्द है, सभी वस्तुओं में विद्यमान है और जिससे सारी सृष्टि की रचना हुई है।)

वर्तमान संदर्भ में एक महान लेखक को विनम्र श्रद्धांजलि देते हुए, शब्द और संप्रेषण के उनके सिद्धांत का जो ज़िक्र किया गया है वह उनको 'उपासक' सिद्ध करता है। वे 'पवित्र शब्द' के 'मौलिक अक्षर' के एक सफल प्रयोगकर्ता थे, 'भाषा की घनीभूत प्रगाढ़ता' को कूदने वाला तख़्ता बनाकर 'परावाक्' प्राप्त करने के लिए अनंतता में छलाँग लगाते हैं। ऐसा राजा राव लिखते भी हैं, "जब तक लेखक उपासक नहीं बन जाता और स्व में स्व (जो कि 'रस' कहलाता है) का आनंद नहीं लेता तब तक 'शब्द' अपनी शाश्वतता प्रकट नहीं करता।" उनका यह संप्रेषण का सिद्धांत है। अब हम उनके बेजोड़ 'आध्यात्मिक उपन्यास'—*द सर्पेंट एंड द रोप* के औपनिषदिक आयामों की ओर मुड़ सकते हैं।

पूरे उपन्यास में जो मूल भाव विचरता है वह है 18 बार बनारस का संदर्भ आना। हो भी क्यों न, आख़िर बनारस भारत का आध्यात्मिक दिल है।

IV

राजा राव का काशी, जिसे वाराणसी या बनारस भी कहते हैं, के प्रति अनुराग विशेष रूप से ज़िक्र करने योग्य है क्योंकि यह उनकी आध्यात्मिक ज़िंदगी और शंकराचार्य से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उन्होंने 1988 में 'क्रिएचर्स ऑफ़ बनारस (1))और (2)' नामक लेख भी लिखे थे।

यह सर्वविदित है कि आदि शंकराचार्य ने काशी को लेकर कई स्तोत्र रचे थे जैसे कि—काशीपंचकम्, कालभैरवाष्टकम्, मणिकर्णिकाष्टकम्, गंगाष्टकम्, अन्नपूर्णाष्टकम् इत्यादि। यह सच है कि काशी जो कि बनारस या वाराणसी के नाम से जानी जाती है, भारत के मानचित्र में भौगोलिक स्थान पाती है। वह काशी "प्रत्यक्ष वस्तु या स्थान" की तरह है लेकिन काशी का हिंदुओं के लिए प्राचीन समय से एक अलग ही मतलब है—मानसिक स्तर पर—शांति, प्रशांति, मोक्ष और अमरत्व। यह मनुष्य के लिए मोक्षद्वार है। इसीलिए इसको भारतीय मानसिकता के अनुसार ही विचारा गया है। महान कवि-दार्शनिक शंकराचार्य ने इसकी महानता को गीतों द्वारा गाया है। अपने 'काशीपंचकम्' में तो उन्होंने 'काशी' शब्द को लेकर ही कई अर्थ निकाल दिए हैं—

काश्यां हि काशते काशी काशी सर्वप्रकाशिका।
सा काशी विदिता येन तेन प्राप्ता हि काशिका॥

इस तरह काशी ज्ञानोदय का स्रोत है। यह प्रत्येक मनुष्य के आत्मिक हृदय 'हृदयाकाश' में भासित होती है। मनुष्य का शरीर ही काशी है। उसी स्तोत्र में एक पंक्ति है—

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगंगा।

राजा राव ने अपने *द सर्पेंट एंड द रोप* में 18 बार काशी का संदर्भ दिया है। ऊपरलिखित पंक्ति को ही लेते हुए उन्होंने काशी और गंगा के प्रति अपने विचार उपन्यास में रखे हैं :

काशीक्षेत्रं, शरीरं त्रिभुवनजननी
और तट के पास तक बिखरा है जल तुम्हारा
कुशा घास और फूल,
वहाँ फेंके जाते हैं सुबह-शाम
ऋषियों द्वारा
गंगा का वह जल हमारी रक्षा करे।

(पृ. 33)

काशी प्रत्येक मनुष्य के शरीर में रहती है और गंगा नदी उसमें बहती है। इस ज्ञानगंगा को प्रसादित करना है। यह हमारी रक्षा करे और पवित्र करे। 'गंगाष्टकम्' की सुमधुर कविता में इसी भाव को उजागर किया गया है :

ब्रह्मांडं खंडयंती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयंती।
स्वर्लोकादापयंती कनकगिरिगुहागंडशैलात्स्खलंती॥
क्षोणीपृष्ठे लुठंती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयंती।
पयोधिं पूरयंती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु॥

गंगाघाट की सीढ़ियों पर बैठते ही व्यक्ति ख़ुद-ब-ख़ुद जीवन, मरण और अमरत्व के बारे में गहन चिंतन करने में डूब जाता है—ऐसा विशेषकर हरिश्चंद्र घाट पर होता है। राजा राव जिन्होंने अपने उपन्यास में वाराणसी का बार-बार गुणगान किया है, लिखते हैं :

> "मैं वापिस हरिश्चंद्र घाट गया और छोटी माँ, जो घाट की सीढ़ियों पर बैठी थी, को उठाया...और उन्हें अन्नपूर्णा देवी के मंदिर में पूजा करने के लिए ले गया। गेरुआ साड़ी और आभूषणों से सुसज्जित देवी कितनी सुंदर लग रही थी! कितनी गहन शांति और शक्तिपुंज उनसे निकल रहा था!"

अन्नपूर्णा देवी काशीपुराधीश्वरी है। काशी की माता है। इसीलिए शंकर ने अपनी 'अन्नपूर्णा स्तुतिः' के दसों पद्यों के अंत में यह टेक प्रयुक्त की है—'काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपावलंबनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी।' उदाहरण के लिए पद्य चार देखिए :

कैलासाचलकंदरालयकरी गौरीह्युमाशांकरी।
कौमारी निगमार्थगोचरकरी ह्यांकारबीजाक्षरी।
मोक्षद्वारकवाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलंबनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥

राजा राव इसी स्तुति के एक पद्य का अनुवाद यूँ करते हैं :

ओ वह देवी! पहने हैं जिन्होंने सोने के कपड़े,
...णों से सुसज्जित क़िस्म-क़िस्म के हीरों जड़े;
...का स्तनमंडल गोल है लोटे-सा।
...मान है अपने मोतियों वाले हार से;
...ता बढ़ गई है ज़िसकी कश्मीरी अगरू की
...बू से;
...वह देवी जो अधिष्ठात्री है काशी नगरी की,
ओ दया की भंडार मुझ पर कृपा करो।

...कि इससे पहले वाला पद्य, पद्य 4 तो ...वेदांत आधारित है। पद्य दो को देखिए :

...रत्नविचित्रभूषणकरी हेमांबराडंबरी
...मुक्ताहारविडंबमानविलसद्वभोजकुभांतरी
काश्मीरागरुवासिता काशीपुराधीश्वरी
भिक्षांदेहि कृपावलंबनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥

राजा राव शंकर को उद्धृत करते हुए बिलकुल ...िक अनुवाद नहीं करते थे बल्कि मूल की ...मा के ज़रूरी तत्त्व ग्रहण करके उन्हें अंग्रेज़ी ...पुनःसृजित करते थे। उनकी पसंदीदा पंक्तियाँ ...:

अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकरप्राणवल्लभे।
ज्ञानवैराग्यसिध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वती॥

मैंने उन्हें ये पंक्तियाँ भावपूर्वक गाते हुए सुना था।

द सर्पेंट एंड द रोप में हम पढ़ते हैं :

अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकर प्राणवल्लभे
...सदा पूर्ण तथा प्रचुर शंकर की दैवीय स्त्री!
(पृ. 171)

राजा राव शारीरिक रूप से चाहे कहीं भी ...—बैंगलोर, तिरुअनंतपुरम, पेरिस, केम्ब्रिज या ...किसी अन्य प्रांत में, वह मानसिक रूप से कभी काशी से दूर नहीं रहे—'अंतरकाशी' में स्थित ...जैसे कि पहले भी मैंने कहा है कि अंतरकाशी ...का आत्मिक दिल है। यदि अन्नपूर्णा ...पुराधीश्वरी है तो कालभैरव काशिका-पुराधिनाथ हैं। शंकर का 'कालभैरवाष्टकम्' राजा राव को बहुत प्रिय था, मेरा भी प्रिय है, जगह की कमी उसे पूरा उद्धृत करने से मुझे रोक रही है। आठ पद्यों की अंतिम पंक्ति की टेक एक ही है—"काशिकापुराधिनाथ काल-भैरवं भजे।" पद्य दो देखिए :

भानुकोटिभास्वरं भवाब्धितारकं परं
नीलकंठमीप्सितार्थदायकं विलोचनम्।
कालकालमंबुजाक्षमस्तशून्यमक्षरं
काशिकापुराधिनाथकालभैरवं भजे॥

राजा राव का अनुवाद :

मैं पूजता हूँ काशीपुरीनाथ कालभैरव को,
प्रदीप्त है कोटिसूर्य सम;
भव पार कराने वाला खेवैया,
नीलकंठ, त्रिनेत्रधारी, वांछित फलदायक;
वह नीलकमल जो कालों के भी काल हैं,
अविनाशी,
मानव अस्थिमाला और त्रिशूल पकड़े
काशिकापुराधिनाथ कालभैरवं भजे।
(पृ. 22)

कितनी अच्छी तरह राजा राव ने इस प्रार्थना की आत्मा को पकड़ा है। इस अनुवाद के बाद ये पंक्तियाँ आती हैं :

बनारस को अमरत्व प्राप्त है। यहाँ मरे हुए मरते नहीं हैं। मृत यहाँ गंगा किनारे खेलने आते हैं और जीवित उसके बारे में और जानने आते हैं। (पृ. 23)

और आगे कहते हैं :

एक बार फिर छोटी माँ की प्रार्थना पर
मैंने श्री शंकर का एक स्तोत्र गाया और
इस बार वह था श्रीदक्षिणामूर्ति स्तोत्रं।
(पृ. 22)

'दक्षिणामूर्ति अष्टकम्' को ही पूरे उपन्यास में 'टेक' की तरह प्रयुक्त किया है। राजा राव ने

इस स्तोत्र के पहले पद्य का रूपांतर इस तरह किया है :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी
'नगरी दर्पण में दिख रही विश्वतुल्य,
निज अंदर झाँका लेकिन माया उत्पन्न प्रतीत,
जैसे निद्रा में हो;
क्या यह सचमुच अंदर आत्मा में ही है?
प्रबोध समय में जो उसके दर्शन करता है
अपने अंदर ही, अद्वितीय, निर्विकार—
उसे श्रीगुरु की मूर्ति मानो,
ऐसे श्रीदक्षिणामूर्ति को मेरा प्रणाम।

शंकर विरचित मूल संस्कृत इस तरह है :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजांतर्गतं।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

काशी से संबंधित राजा राव के शंकर में से लिए गए उद्धरणों के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं लेकिन सिर्फ़ एक और ही दिया जा रहा है। दूसरी 'टेक' जो यथार्थ और भ्रम को प्रतीक बनाकर *द सर्पेंट एंड द रोप* के पूरे उपन्यास में विचरती है वह उपर्युक्त दिए गए 'दक्षिणामूर्ति अष्टकम्' के पहले ही पद्य में स्पष्ट हो जाती है जिसे स्वप्न के सादृश्य से समझाया गया है। जब तक सपना रहता है तब तक सब सच लगता है (वह अज्ञान की वजह से होता है), जागने पर यथार्थ का सही ज्ञान होता है (गुरु के ज्ञान देने से आत्मतत्त्व के बोध होने से) ज्ञान का बोध होने से जो साँप प्रतीत होता था वह सचमुच रस्सी है, यह पता चल जाता है। जब आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है 'मैं' का वास्तविक ज्ञान इस अज्ञान रूपी अँधेरे को अर्थात् इस विचार को कि 'मैं शरीर हूँ, दिमाग़ हूँ इत्यादि' को समाप्त कर देता है। आत्मतत्त्व का बोध इस उक्ति से व्यक्त हो जाता है, "मैं शिव हूँ"। "निर्वाणषटकम्" से ली गई दो पंक्तियों का राजा राव का अनुवाद इस प्रकार है :

मैं कल्पना से परे हूँ, निराकार का आकार हूँ,
चैतन्य और परमानंद रूप हूँ,
शिव हूँ मैं, मैं शिव हूँ।

मूल संस्कृत पद्य इस प्रकार है—

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
न चासंगतं नैव मुर्क्तिर्न बंधः
चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं॥

यह आत्मा की पूर्ण, चरम अनुभूति है। पाठ में से दो ही उद्धरण अद्वैत दर्शन के 'दृक दृश्य विवेक' को समझाने के लिए बहुत हैं।

हम उपन्यास में से सिर्फ़ दो ही अनुच्छेद लेते हैं जिसमें 'आत्मा' पर विचार किया गया है–

"...अनुभूति में कोई वस्तु विद्यमान नहीं होती। केवल अनुभूति होती है।"

"अच्छा, वह कैसे?"

"ज्ञान का उदय होने से पहले इंद्रियों को अपना काम करना होता है। ज्ञान में कोई वस्तु विद्यमान नहीं है—यदि ऐसा है तो इसके बारे में किसे ज्ञान है? तुम कह सकते हो 'मुझे'। और 'मुझे' ज्ञान है 'मैं' का, किसके द्वारा..."

"ज्ञान के द्वारा।" मेडलिने ने कहा।

"इस तरह ज्ञान को 'मैं' का ज्ञान है ज्ञान के द्वारा। इसका मतलब है ज्ञान 'मैं' है।"

"हाँ, बिलकुल ऐसा ही है।"

अब दूसरे अनुच्छेद पर नज़र डालते हैं—

"होना एक सच्चाई है।"—उसने उत्तर दिया।

"और होना क्या है?"

"किसने यह प्रश्न पूछा?"

"मैंने।"

"कौन?"

"मैं।"

"कहाँ है ?"

"कहीं नहीं।"

"तो 'मैं हूँ' है।"

"बल्कि, मैं हूँ, हूँ।"

"पुनरुक्ति!" वह हँसने लगी।

"सावित्री कहती है, सावित्री, सावित्री है।"

"और तुम कहते हो सावित्री क्या है ?" वह पूछने लगी।

"मैं।"

"चंद्रमा और ख़ामोशी इस पर स्वीकृति की मोहर लगाते प्रतीत होते हैं कि केवल 'मैं' प्रकाशित होता है।"

"कोई सावित्री नहीं है।" मैंने कुछ देर बाद बात को फिर बढ़ाया।

"नहीं, कोई नहीं है। यह मैं जानती हूँ।"

"कुछ भी नहीं है।" मैंने ज़ोर देकर कहा।

"हाँ", वह बोली, "सिर्फ़ इसके कि देखने में देखने के लिए एक द्रष्टा है।"

"और द्रष्टा क्या देखता है ?"

"कुछ नहीं।" उसने उत्तर दिया।

"कब 'मैं' है और 'कुछ नहीं' कहाँ है, 'कुछ नहीं' क्या है 'मैं' ही है।"

"इसलिए जब मैं वह पेड़ देखता हूँ, उस चाँदनी में, वह सरू का पेड़ है, वह चीड़ का पेड़ है, मैं देखता हूँ मैं को, मैं देखता हूँ मैं को— मैं देखता हूँ मैं को।"

"हाँ।"

इन दोनों अनुच्छेदों में 'मैं' की प्रकृति और कुछ नहीं केवल आत्मा यानी आत्मतत्त्व की खोज है। इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल आत्मा का ही अस्तित्व है बाक़ी और कुछ नहीं है। 'बाक़ी सब कुछ'—पेड़, वह चाहे सरू हो या चीड़, बाक़ी लोग, चाहे किसी व्यक्ति का नाम मेंडिलने हो या सावित्री, वे मात्र नाम ही हैं। असंख्य दृश्यों वाले बाहरी जगत के पास 'समाज' के स्तर पर केवल व्यावहारिक सत्ता—भाषा शैली की विद्यमानता मौजूद है। 'मैं' के रूप में व्यक्ति के पास केवल नाम और आकार है जो माया में मिल जाता है, वे केवल विद्यमानता के स्तर तक रहेंगे। वे वास्तव में हैं नहीं। केवल आत्मा है। यही होना है, यही सच्चाई है। इसीलिए 'सावित्री' नहीं है लेकिन 'सावित्री का स्व यानी आत्मा' है, यही रामास्वामी कह रहा है सावित्री 'मैं' है।

विशेष रामास्वामी के संदर्भ में 'आत्मा' से क्या अभिप्राय है, इसका स्पष्टीकरण उपन्यास में 'शिवोऽहं शिवोऽहं' टेक से दिया गया है। यह टेक 'निर्वाणषट्कम्' से ली गई है जो रामास्वामी की चेतना में हरदम रहती है। यह उपन्यास में थोड़े-थोड़े अंतराल में बार-बार दोहराई जाती है क्योंकि यह अभ्यास 'मनन'— ध्यान लगाने की प्रक्रिया का एक अंग है। जब भी समाज का ज़ोर—संसार अपना प्रभाव डालने की कोशिश करे, तब यह आवश्यक है कि इस अनुस्मारक द्वारा उसका सामना करना चाहिए कि केवल 'आत्मा' ही वास्तविक है और मनुष्य को कृत्रिमता, जो कि 'समाज' है, का शिकार नहीं होना चाहिए। वास्तविक वह है जो हमेशा रहता है, कभी परिवर्तित नहीं होता (वह आत्मा है) और इसीलिए उसकी प्राप्ति ही एक अर्थपूर्ण लक्ष्य है।

इस तरह द *सर्पेंट एंड द रोप* एक आध्यात्मिक उपन्यास है जो आत्मा समाज की बजाय परम आत्मा की खोज करता है किसी भी समाज में, कहीं भी, किसी भी समय।

V

मैं राजा राव के साथ अपनी व्यक्तिगत स्मृतियों के साथ अपनी बात ख़त्म करना चाहूँगा। द *सर्पेंट एंड द रोप* के लिए साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत राजा राव के 8 जुलाई 2006 को टेक्सास के ऑस्टिन शहर में निधन से भारत ने

अपना पश्चिम का साहित्यिक दूत खो दिया है। महान भारतीय उपन्यासकार और दार्शनिक राजा राव निहायत ही सज्जन, मधुरभाषी, आंतरिक द्रष्टा और अनात्मशंसी थे। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मुझे देश-विदेश दोनों जगह ही उनसे मिलने का कई बार अवसर मिला। यहाँ मैं उदास मन से उनकी कुछ यादों को आपसे बाँट रहा हूँ।

पहली बार मैंने उन्हें 1950 के शुरू में तब देखा था जब वे बैंगलोर के हमारे सेंट्रल कॉलेज में अंग्रेज़ी (ऑनर्स) के विद्यार्थियों से भेंट करने हमारे अंग्रेज़ी विभाग में आए थे। उनके लिए लेखन एक साधना थी और शब्द के प्रति उनका नज़रिया एक मंत्र की तरह था। वे कहते थे कि जब तक लेखक उपासक नहीं बनता तब तक ध्वनि की शाश्वतता—शब्द स्पष्ट नहीं होते हैं। ये दोनों विचार उनके दो लेखों—'द राइटर एंड द वर्ड' और 'द अल्टीमेट वर्ड' में विस्तार से उल्लिखित हैं। दूसरा वाला लेख तो 1984 में टेक्सास विश्वविद्यालय में 'दक्षिण एशियाई भाषा विश्लेषण गोलमेज कॉन्फ्रेंस' का समापन भाषण था। उन्होंने न केवल मुझे उसकी प्रति देने की कृपा की थी बल्कि मुझे उत्साहित भी किया था कि मैं संस्कृत में शब्द की संकल्पना की खोज करूँ। मैंने सचमुच उनकी सलाह मानी थी और इस विषय का एक लेख 1987 में न्यूयॉर्क के कारनेल विश्वविद्यालय में आयोजित उसी कॉन्फ्रेंस में पढ़ा था।

दूसरी बार 1976 में नई दिल्ली में कॉमनवेल्थ लिटरेचर कॉन्फ्रेंस में मैं उनसे मिला था। तब तक मैंने भी अंग्रेज़ी के साहित्य पर लिखना शुरू कर दिया था। जब मैंने उन्हें अपने लिखे कुछ अंश दिखाए तो बड़ी विनम्रता से उन्होंने संकेत दिया था कि जो कुछ मैंने लिखा है वह समालोचना नहीं है बल्कि टीका भर है। मुझे तुरंत ही विदित हो गया था कि उनकी टिप्पणी कितनी न्यायोचित और सटीक थी। अपने परामर्शदाता के प्रति श्रद्धानत होकर मैंने 'कॉमनवेल्थ साहित्य' पर लिखी तीनों पुस्तकों को 'टीकाएँ' कहा।

तीसरी बार अप्रैल 1987 में जब मैं उन्हें मिला तो तब मैं काफ़ी समय उनके साथ बिता सकता था क्योंकि वह मेरे घर के बिलकुल साथ ही राजमहल विलास एक्सटेंशन के एक अपार्टमेंट में रह रहे थे। उनकी कृतियों पर अपने लिखे तीन लेख दिखाने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। वे बहुत प्रसन्न हुए थे कि मैंने उनकी सलाह को ध्यान में रखा था। उन्होंने एक बार उल्लेख किया कि उनकी *द सर्पेंट एंड द रोप* फ्रांसीसी में अनूदित की गई लेकिन यदि उन्होंने ख़ुद उसे फ्रांसीसी में लिखा होता तो वह उससे अच्छी हो सकती थी। अब मेरी बारी थी प्रसन्न होने की क्योंकि न केवल मैंने इसे पढ़ा था बल्कि जॉर्जसी फ्रेडर द्वारा अनूदित फ्रांसीसी संस्करण (पेरिस में प्रकाशित) का प्रयोग राजा राव पर लिखे अपने उस लेख में भी किया था जो मैंने अगस्त-सितंबर 1978 में दक्षिणी फ्रांस के विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित चौदहवीं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा था। वे इतने ख़ुश हुए थे कि उन्होंने इंग्लैंड के एक प्रोफ़ेसर के नाम मेरा एक परिचय-पत्र मुझे दिया था क्योंकि मैं वहाँ जा रहा था।

राजा राव के साथ जान-पहचान में यह परिचय पत्र एक अहम् बिंदु है। इस पत्र में उन्होंने मेरी बहुत तारीफ़ की थी इसलिए मुझे कुछ लज्जा-सी भी महसूस हुई थी। आज भी मुझे सुखाभास महसूस होता है जब मैं याद करता हूँ कि लगभग 20 साल पहले उन्होंने मेरे बारे में क्या लिखा था। मैं जानता हूँ कि मुझे इस मौक़े का प्रयोग या दुरुपयोग कर ख़ुद को इस बेशर्मी से प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। मैं जानता हूँ कि न केवल यह ग़लत है बल्कि फूहड़ है। मैं यहाँ राजा राव को श्रद्धांजलि देने आया हूँ न कि अपनी प्रशंसा

रते। फिर भी, राजा राव की परम कृपा और
उदारता को याद करते हुए मैं उस लंबे
में से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :
"आप जानते ही हैं कि मैं पत्र कम ही लिखता
हूँ लेकिन यह एक विशेष मौक़ा है क्योंकि मैं
आपका परिचय एक विशेष व्यक्ति से करवाना
चाहता हूँ। यह द सर्पेंट एंड द रोप का रामास्वामी
नहीं है, लेकिन यदि ये होते तो मेरा रामास्वामी
दस साल और जीवित रहकर सचमुच का वेदांती
बन गया होता। ब्रिटिश काउंसिल के बुलावे पर
ये इंग्लैंड में अतिथि फ़ेलो के रूप में जा रहे हैं।
सिर्फ़ यही कारण उससे परिचय करवाने का
नहीं है। सच्चाई तो यह है कि ये ऐसे परिवार से
संबंध रखते हैं जिनके यहाँ लगभग सौ सालों से
पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कृत का ज्ञान रखने वाले हैं।
वहाँ संस्कृत की एक पाठशाला ही है, ऐसी
पाठशाला जहाँ उनके पिता, दादा पढ़े थे अब
उनका बेटा, हमारे रामास्वामी का बेटा भी संस्कृत
का विद्यार्थी है और एक कॉलेज में संस्कृत पढ़ाता
है...मैं उसे इसी दफ़ा स्थानीय बाज़ार मल्लेश्वरम्
में मिला था जहाँ सुसान और मैं सब्ज़ियाँ और
फल ख़रीदने गए थे...उस दिन दक्षिण भारतीय
कैलेंडर के अनुसार नववर्ष (उगादि) था...डॉ.
रामास्वामी पुराने फ़ैशन के आधुनिक व्यक्ति हैं—
अपनी नम्रता और पूर्ण भारतीयता (शायद पीढ़ियों
से संस्कृत से संबंध रखने से) के कारण पुराने
फ़ैशन के, लेकिन आधुनिक इसलिए हैं क्योंकि
उन्होंने टेनिसी विलियम्स (शायद यू.सी.एल.ए.
के लिए) पर अपना शोध-प्रबंध लिखा था..."
पत्र का इतना अंश पर्याप्त है। वह पत्र मैं
अपने साथ ले गया था और संबंधित प्रोफ़ेसर
को सौंप दिया था। कृपया मुझे इस अंतर्कथा के
लिए क्षमा करें।

मेरी चौथी और अंतिम भेंट राजा राव के
साथ पूरे एक माह तक जारी रही थी। और वह
भी लगभग रोज़। अप्रैल 1991 में ऑस्टिन में
ऐसा संभव हुआ था। मैं तीन माह येल विश्व-
विद्यालय में 'सीनियर फ़ुलब्राइट फ़ेलो' के रूप
में बिताकर रास्ते में ऑस्टिन में रुका था क्योंकि
मुझे एक माह के लिए विश्वविख्यात हेरी रेनसम
ह्यूमैनिटीज़ रिसर्च सेंटर में शोध कार्य करना था।
पर्ल स्ट्रीट पर स्थित राजा राव के घर से मेरा
फ़्लैट दस मिनट की दूरी पर था। जैसे ही मैं वहाँ
पहुँचा मैंने तुरंत राजा राव से संपर्क किया। उन्होंने
झट से मुझे हर शाम अपने साथ बिताने के लिए
निमंत्रण दे दिया। उनकी ख़ातिरदारी का तो कहना
ही क्या? यदि मैं कुछ दिन उनके पास नहीं
जाता तो वे टेलीफ़ोन करते और प्यार भरी झिड़की
लगा देते कि अनौपचारिक रहा करो। वे मुझे
प्रश्न करते, "क्या तुम्हें रोज़ मेरा निमंत्रण
चाहिए?"

एक बार वे मुझे एक निजी पार्टी में अपने
साथ ले गए थे जहाँ उन्हें अपने प्रशंसकों के एक
दल से मिलना था। वहाँ मैंने ख़ुद ही भाषण देने
की पेशकश की थी—संक्षिप्त-सा ही मैं बोला
था क्योंकि 'बुद्धि की आत्मा संक्षिप्तता है' और
राजा राव ने ख़ुद ही तो कहा था, "मैं ख़ामोश
क़िस्म का व्यक्ति हूँ।" सचमुच, कई शामों को
राजा राव ने अपने रामास्वामी की तरह मुझे
शंकराचार्य के उद्धरणों को लगातार बोलने दिया
था—दक्षिणामूर्ति स्तोत्रं, निर्वाणषट्कम् इत्यादि
से। सचमुच जितने सालों से मैं उन्हें जानता था
उनमें से यह सबसे अच्छा समय था। महीना
ख़त्म होने पर मुझे जाना था और वही आख़िरी
समय था जब मैंने राजा राव को देखा था। उस
अंतिम दिन हमारी बहुत लंबी बातचीत हुई थी
देर रात तक। इसलिए सुसान राजा राव ने अपनी
गाड़ी से मुझे घर तक छोड़ा था। यह मेरी उनके
प्रति नितांत व्यक्तिगत श्रद्धांजलि है—स्नेह और
आभार सहित।

यू.आर. अनंतमूर्ति

राजा राव : उपन्यास की आध्यात्मिक ऊँचाई

श्री राजा राव, जिन्हें आज साहित्य अकादेमी अपने सर्वोच्च सम्मान 'महत्तर सदस्यता' से विभूषित कर रही है, भारत में अंग्रेज़ी गल्प के उन महान रचनाकारों में से एक हैं जिन्होंने अंग्रेज़ी में भारतीय उपन्यासों को आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचाया है।

1988 में ओकलाहामा विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त प्रसिद्ध न्यूस्तदत पुरस्कार को स्वीकार करते हुए श्री राजा राव ने कहा था, ''मैं ख़ामोश स्वभाव का व्यक्ति हूँ और शब्द उस ख़ामोशी में से रोशनी के साथ रोशन होकर निकलते हैं और रोशनी पवित्र होती है...एक लेखक या कवि वह होता है जो एक साधारण शब्द को ख़ामोशी के मूल में से इस तरह ढूँढ़ निकालता है कि वह व्यक्त हुआ शब्द रोशनी बन जाता है।'' इसी चैतन्यता ने राजा राव की कृतियों को श्रेष्ठ बनाया है।

उनका प्रथम उपन्यास *कांतापुर* लंदन से 1938 में और उसके तुरंत बाद द *काऊ ऑफ़ द बेरीकेड्स एंड अदर स्टोरीज़* प्रकाशित हुआ था। राजा राव अपनी इन शुरुआती कृतियों के प्रति दिए वक्तव्य में बताते हैं, ''शुरुआत में मनुष्य के मानवीय और रोमांटिक पहलुओं को *कांतापुर* और द *काऊ ऑफ़ द बैरीकेड्स* में उजागर करते हुए मैं शीघ्र ही आध्यात्मिक उपन्यासों द *सर्पेंट एंड द रोप* और द *कैट एंड शेक्सपीयर* की ओर मुड़ गया। मेरी शुरुआती दोनों कृतियाँ यदि महात्मा गांधी के अहिंसा मार्ग वाले दर्शन से प्रभावित थीं तो बाद की ये दोनों कृतियाँ माया और यथार्थ के वेदांत मत पर आधारित थीं। मेरी मुख्य रुचि मनुष्य की जटिल स्थितियों (वह यह कि मनुष्य की सच्चाई उसके व्यक्तित्व से परे है) और मनुष्य के किसी विचार को प्रतीकात्मक रूप से दिखाने में बढ़ रही थी। सभी शब्द धर्मशासकों के प्रतीक, लगभग गणित की तरह शुद्ध, उस अनजानी शक्ति पर या उसके बारे में हैं।''

कांतापुर को ई.एम. फ़ॉस्टर ने किसी भारतीय द्वारा अंग्रेज़ी में लिखे उपन्यासों में सर्वोत्कृष्ट बताया। इस उपन्यास की कई विशेषताओं में एक यह है कि यह भारत के उन असंख्य गाँवों की तसवीर पेश करता है जो कि भारत की प्राचीन लेकिन अभी भी

उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना की लगभग 25 पुस्तकों के रचयिता कन्नड के विख्यात रचनाकार यू.आर. अनंतमूर्ति का जन्म 1932 में हुआ। इन्हें भारतीय ज्ञानपीठ, मास्ती पुरस्कार, कर्नाटक साहित्य अकादमी, पद्म भूषण आदि पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। संपर्क : 'अभय', 849, कांतराजा ऊर्स रोड, सरस्वतीपुरम्, मैसूर 570009 (कर्ना.)
फ़ोन : 0821-540522

अनु. शांता ग्रोवर

संस्कृति के प्रतीक हैं। विस्तार से कहें रोजमर्रापन, धार्मिक कार्यों और जातियों जिक ढाँचे को पेश करते हैं, साथ ही अपने पृष्ठों में एक दर्जन से भी अधिक णीय ग्रामीणों को जीवंत किया है। ऊपरी देखने से यह राजनीतिक उपन्यास है, शोषक मिल प्रबंधक और उसका साथ पुलिस के ख़िलाफ़ विद्रोह का वृत्तांत गहरे रूप से यह उपन्यास लंबे समय रही भारतीय आत्मा के जागने से उत्पन्न के कारणों को तलाशता है न कि कांग्रेस की गतिविधियों को बताता है। गाँव का युवक गाँव से बाहर रहते हुए सत्याग्रह की महिमा को जानकर जब गाँव लौटता है तो ग्रामीण भाइयों को अपने शोषकों का पूर्वक विरोध करने के लिए कहता है। वह अपने साथ हो रहे सामाजिक शोषण भावना को जगाता है बल्कि महत्त्वपूर्ण यह उनमें धार्मिक जोश भरता है जिससे उनमें आततायियों के विरुद्ध लड़ने के लिए शक्ति होती है।

कांतापुर ऐसा उपन्यास है जिसमें पाठकों मुख्यतया पात्रों और उनकी गतिविधियों रहती है तो *सर्पेंट एंड द रोप* और *द कैट शेक्सपीयर* आध्यात्मिक गूढ़ उपन्यास हैं कथा, संरचना और यहाँ तक कि पात्रों में पाठकों की रुचि गौण रहती है। अर्ध-कथात्मक *सर्पेंट एंड द रोप* एक विद्वान ब्राह्मण और फ्रेंच महिला प्रोफ़ेसर के का विश्लेषण मुख्यतया दार्शनिक आधार है। दोनों के झगड़े का कारण मुख्यतया एकमत न होना है। ब्राह्मण की वैदिक है कि 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' यानी मैं ही सत्य पत्नी की पाश्चात्य धारणा, हालाँकि बौद्ध धर्म की अनुयायी बन चुकी थी, कि इंद्रियाँ उस सत्य पर निर्भर हैं जो हमसे है।" संसार या तो मिथ्या है या फिर सत्य है—साँप है या फिर रस्सी है", ब्राह्मण अपनी पत्नी को समझाता है, "इन दोनों के बीच का कुछ नहीं...।" विद्वान मानते हैं कि राजा राव अपने पाठकों को पूरे विश्व के इतिहास, यूरोप और एशिया के धर्मों, दर्शनों और साहित्यों की सैर कराते हुए इस उपन्यास को थॉमस मान के *द मैजिक माउंटेन* लिखने तक आधुनिक उपन्यासों में बेजोड़ बना देते हैं। वे संस्कृत, लैटिन, इतालवी, पुरानी फ्रेंच इत्यादि के अलावा अन्य कई भाषाओं में से उद्धरण देते चलते हैं।

द कैट एंड शेक्सपीयर उपन्यास उससे छोटा और कम बोझिल है, इसमें आध्यात्मिकता का पुट भी कम है। इसकी विषयवस्तु प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य की समस्या को लेकर है और इसका समाधान सरकारी क्लर्क के इस उद्धरण से बताया गया है, "चूज़े की तरह बचने का तरीक़ा सीखो। तभी आप सुरक्षित बचेंगे।" राजा राव यहाँ वेदों के इस विचार का दोहन करते हैं कि यह संसार उस विधाता द्वारा रचा गया रंगमंच है, उसकी लीला है।

कामरेड किरीलोव में राजा राव ने साम्यवाद को भारतीय परंपरा में अनफ़िट बताया है। वह गांधीवाद में अपनी रुचि को छिपाते नहीं हैं और उसे विश्व की अगली होने वाली व्यवस्था मानते हैं। *द चेसमास्टर एंड हिज़ मूव्स* की जड़ें मज़बूती से भारतीय आध्यात्मिक परंपरा को चित्रित करती हैं। यह महाकाव्यात्मक उपन्यास तीन देशों—भारत, इंग्लैंड और फ्रांस—चौथे मानव मस्तिष्क को लपेटता चलता है। भारत की गुप्त विद्या का भाष्य यह उपन्यास है। इसमें बाण भट्ट की *कादंबरी* या *विक्रमादित्य की कहानियों* की तरह कई कहानियाँ हैं। इसमें अद्वैत वेदांत की आध्यात्मिक स्थिति औपनिषदिक सत्य 'तत् त्वमसि' को निरूपित किया गया है। उद्देश्य के प्रति गंभीरता, विचारों की मज़बूती, विस्तृत वर्णनात्मक शैली के प्रति लगाव, विशिष्ट अंग्रेज़ी

गद्य—इस समग्र योगदान के लिए राजा राव का नाम उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, "हम अंग्रेज़ों की तरह नहीं लिख सकते। हमें वैसा लिखना भी नहीं चाहिए। हम केवल भारतीयों की तरह भी नहीं लिख सकते। हम इस तरह बड़े हुए हैं कि इस विशाल विश्व को अपना ही हिस्सा मानें। इसलिए हमारी अभिव्यक्ति का तरीक़ा यह होना चाहिए कि हम बोलियों में जाएँ जो कि एक दिन आयरिश और अमरीकी अंग्रेज़ी की तरह सुस्पष्ट और बहुरंगी सिद्ध होंगी।" वस्तुतः अंग्रेज़ी में लिखे भारतीय उपन्यासों में से राजा राव के उपन्यासों की लेखन शैली अपनी ही तरह का एक विशिष्ट अंदाज़ थी।

88 की उम्र में भी राजा राव लेखन में जुटे हुए हैं। उपन्यासों की प्रचलित यूरोपियन परंपरा से ख़ुद को बहादुरी से अलग करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्यिक परंपरा से अपने उपन्यासों के लिए कच्चा माल जुटाया। उन्होंने संसार के लिए व अपने लिए अध्यात्म को आधार बनाकर लिखने का रास्ता अपने उपन्यासों द्वारा खोजा। उनका सरोकार मानवीय हालातों से है न कि किसी विशेष देश या विशेष लोगों से। उनके लिए लिखना साधना की तरह, आध्यात्मिक उन्नति के लिए है। इसीलिए वे कह सके कि वे लिखते चले जाएँगे चाहे वे विश्व में अकेले रह जाएँ। उपन्यास जगत में आध्यात्मिकता के प्रतिमान राजा राव ने अपनी खोजी इस नई विधा को पल्लवित-पुष्पित किया है।

बेजोड़ कथाकार के रूप में प्रसिद्ध श्री राजा राव को साहित्य अकादेमी अपनी महत्तर सदस्यता अर्पित करते हुए स्वयं को गौरवान्वित महसूस कर रही है।

अलका त्यागी

कांतापुर : भारतीय अंग्रेज़ी उपन्यास की आधार शिला

राजा राव का जन्म 1909 में कर्नाटक में हस्सान नामक एक दक्षिण भारतीय गाँव में हुआ था। उनके पिता हैदराबाद के निज़ाम के कॉलेज में कन्नड भाषा के प्राध्यापक थे। वे मैट्रिक तक हैदराबाद में पढ़े, ग्यारहवीं पढ़ने अलीगढ़ गए और फिर वापिस आकर बी.ए. हैदराबाद के निज़ाम के कॉलेज से उत्तीर्ण की। सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त कर उन्होंने फ्रांस के मोंतपेलिये और सोरबॉन विश्वविद्यालयों से फ्रेंच भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। यहीं फ्रांस में उन्होंने अपना पहला पौराणिक उपन्यास *कांतापुर* लिखा जो कि 1938 में प्रकाशित हुआ।

यह उपन्यास भारतीय अंग्रेज़ी उपन्यासों की श्रेणी में हर लिहाज़ से कालजयी सिद्ध हुआ। राजा राव के इस उपन्यास में लिखी भूमिका ने एक दिशा निर्धारित की जिसे उस समय भारतीय-अंग्रेज़ी उपन्यास कहा गया था। हालाँकि उनके समकालीन मुल्कराज आनंद और आर.के. नारायण ने भी अंग्रेज़ी में लिखे जा रहे भारतीय लेखन में उन्हीं के समान ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। मुल्कराज आनंद ने *अनटचेबल* और आर.के. नारायण ने *बैचलर ऑफ़ आर्ट्स* में ऐसे अद्वितीय विषयों को उठाया था जिसमें पूरी तरह भारतीय सामाजिक ज़िंदगी सन्निहित थी। लेकिन ये राजा राव थे जिन्होंने उपनिवेशवासियों के विषय को उपनिवेशकों की भाषा में ही लिखने की समस्या की सिर के बल खोज की। इस उपन्यास की भूमिका में उन्होंने अपनी संस्कृति को दूसरी भाषा में लिखने पर आनेवाली समस्या के बारे में लिखा है, उन्हीं के शब्दों में :

> कहानी कहना आसान कार्य नहीं है। वह भी ऐसी भाषा में संप्रेषित करना जो उसकी अपनी नहीं है जबकि आत्मा उसकी अपनी है। किसी विचार या आंदोलन के विभिन्न रंगों और भूलों को बताना होता है जो कि उस परदेसी भाषा में अजीब से लगते हैं। मैंने 'परदेसी' शब्द का प्रयोग किया है हालाँकि वास्तव में अंग्रेज़ी हमारे लिए परदेसी भाषा नहीं है। अंग्रेज़ी तो उसी तरह हमारे बौद्धिक प्रदर्शन की भाषा है जैसे पहले कभी संस्कृत या फ़ारसी होती थीं लेकिन हमारे भावनात्मक

प्रदर्शन की भाषा कदापि नहीं है। हम सब लोग क़ुदरती ही द्विभाषी हैं। हममें से अधिकतर अपनी भाषा में भी लिख रहे हैं और अंग्रेज़ी में भी। हम अंग्रेज़ों की तरह नहीं लिख सकते। हमें लिखना भी नहीं चाहिए...

(*कांतापुर*, पृ. 5)

राजा राव भाषा की इस समस्या से भली-भाँति परिचित थे जिस पर चिनुआ अचेबे और गुगी वा थिआंगो तथा दूसरे उत्तर-उपनिवेशी लेखकों और आलोचकों ने 1960 में वाद-विवाद करना शुरू किया था। राजा राव ने इस चुनौती का सकारात्मक तरीक़े से उनसे 30 बरस पहले अर्थात् 1930 में *कांतापुर* में सामना किया था। राजा राव अंग्रेज़ी को पूर्णतया विदेशी भाषा कहकर मुक्त नहीं हो जाते बल्कि वे स्वीकार करते हैं कि यह हमारे बौद्धिक प्रदर्शन की भाषा है। उनके शब्द भविष्यसूचक सिद्ध हुए क्योंकि अब इक्कीसवीं सदी में ये सच हो रहे हैं। भाषा के अतिरिक्त उन्होंने *कांतापुर* की अपनी भूमिका में अगली समस्या शैली की उठाई है। वे कहते हैं :

हमारी अंग्रेज़ी भाषा की अभिव्यक्ति में उसी तरह भारतीय जीवन की ख़ुशबू रची-बसी होनी चाहिए जैसे कि अमेरिकियों और आयरिशों में होती है। हम, भारत में, जल्दी-जल्दी सोचते हैं, जल्दी-जल्दी बोलते हैं और जब हम चलते हैं तो जल्दी-जल्दी चलते हैं। भारत के सूरज में ज़रूर कुछ ऐसा है जो हमें जल्दी करने और ठोकर खाने और फिर भागने पर उकसाता है और हमारे रास्ते बहुत लंबे हैं, असीम हैं।

(*कांतापुर*, पृष्ठ 6)

वस्तुतः यह *कांतापुर* की लेखन-शैली ही है जिसने इसको विशुद्ध भारतीय कथा बना दिया है। दक्षिण भारतीय ग्राम्य जीवन को इतनी सहजता और सूक्ष्मता से इसमें दर्शाया गया है कि इसे पढ़ते हुए पाठक यह भूल ही जाता है कि वह किसी विदेशी भाषा में यह उपन्यास पढ़ रहा है। (हालाँकि राजा राव अंग्रेज़ी को विदेशी भाषा नहीं समझते लेकिन हमें स्वीकार करना होगा कि 1930 में अंग्रेज़ी भाषा निश्चित रूप से आम भारतीय लोगों की भाषा नहीं थी।) अपने नवीन अंदाज़ में राजा राव ने ऐसी अंग्रेज़ी को चुना जो उनके वाचक के मुहावरों से मेल खाती हो। ख़ास बात यह है कि उन्होंने उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश लेखकों वाली मानक यथार्थ शैली में अपना लेखन नहीं किया जो कि परंपरागत रूप में स्वभावतः मौखिक थी। राजा राव का विचार था कि वे भारतीय उपन्यास नहीं लिख सकते केवल पुराण लिख सकते हैं जिसका उन्होंने *कांतापुर* की अपनी भूमिका में उल्लेख भी किया है। उनका कहना है :

भारत में कोई ऐसा गाँव नहीं है जिसका अपना कोई महान स्थल पुराण न हो या अपनी कोई पौराणिक कथा का इतिहास न हो। कोई भगवान या भगवान जैसा नायक उस गाँव से गुज़रा न हो—राम ने इस पीपल के वृक्ष के नीचे आराम किया होगा, सीता ने स्नान के बाद इस पीले पत्थर पर अपने कपड़े सुखाए होंगे या फिर ख़ुद उस महात्मा ने, जिसके पूरे भारत में कई तीर्थस्थल हैं, इस कुटिया में रात बिताई थी, वही कुटिया जो हमारे गाँव के मुहाने पर स्थित है। इस तरह तुम्हारी दादी-नानी की कहानियों को चमकाने के लिए अतीत वर्तमान में घुलमिल जाता है और भगवान साधारण आदमी से घुलमिल जाते हैं। इसी तरह की एक कहानी को मैंने अपने गाँव के समकालीन इतिहास में से निकलकर यहाँ कहने की कोशिश की है।

(*कांतापुर*, पृ. 5)

शब्द दर्शाते हैं कि जो कहानी वे कहने जा हैं निस्संदेह वह काल्पनिक नहीं है। यह पुराण है जिसे "मेरे (राजा राव) गाँव के लीन इतिहास" से लिया गया है। आर. रथी ने अपने लेख 'द एग्ज़ैम्पल ऑफ़ राव' में लिखा :

"राजा राव ने बड़ी कुशलता से भारत की परंपरागत मौखिक कहानियों का पुनर्गठन किया है। कांतापुर एक भारतीय गाँव है जिसमें लघु जगत समाया हुआ है, जिसने उपन्यास में एक सुदृढ़ और सार्थक छाप छोड़ी।"

(*वर्ड एज़ मंत्र*, पृ. 18)

अपना उपन्यास लिखने में उन्होंने जो शैली अपनाई उससे उन्होंने बड़ी कुशलता से उन समस्याओं का समाधान किया जो कि भारतीय अंग्रेज़ी लेखक के रूप में उनके सामने आई थीं। पहली तो वही विश्वदृष्टि ही थी। सर्वव्यापक कथाओं में लेखक भगवान की तरह हो जाता है, उसे अपने द्वारा सृजित जगत का पूर्ण ज्ञान होता है और उसके पास आदर्श न्याय करने का अधिकार भी होता है। लेकिन मौखिक कथाओं में वाचक के पास लोगों के ऊपर कोई अधिकार नहीं होता—वो जैसे होते हैं वैसे ही रहने देना होता है। इसीलिए कांतापुर की कहानी कहने के लिए एक बूढ़ी औरत अचक्का को नानी-दादी की तरह कहानी कहने वाली चुनकर राजा राव ने अपनी शिक्षा और ज्ञान प्रदर्शन की समस्या को बिलकुल ख़त्म कर लिया अन्यथा इस 'स्थल पुराण' के लिए भोला देहातीपन और स्थानिक मान्यता जो ज़रूरी थी उसमें वह बाधक हो जाता। कांतापुर के ग्रामीण लोग विश्वास से परिपूर्ण होते हैं और आधुनिक तरीक़ों से नावाक़िफ़ होते हैं। इस उपन्यास में वाचिका अचक्का तो दुगुनी भोली है क्योंकि वह औरत है और उसका संसार को देखने का तरीक़ा केवल गाँव की पुरानी पीढ़ियों के रस्मों-रिवाजों को देखने से ही बनता है। वह परिवर्तन को तभी स्वीकार करती है जब कोई घटना उसके गाँव के अंदर या गाँव के आसपास होती है। उसकी कोई पूर्वविमर्शित विचारधारा तो है नहीं, इसलिए वह पूर्वाग्रहों के बोझ से मुक्त है, और लोगों को उनके विचारों से नहीं बल्कि उनके कृत्यों से समझती है।

दूसरे राजा राव का अनपढ़, बूढ़ी महिला का चयन उन्हें अपने उस घोषित लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हुआ जो उन्होंने अपनी भूमिका में घोषित किया था कि उनका यह उपन्यास किसी बूढ़ी नानी-दादी द्वारा 'गाँव में नए आने वाले के फ़ायदे के लिए' कही गई कहानी की प्रतिकृति है। उस नानी की शब्दबाहुल्य वाली वाचालता और कहानियाँ कहने की अथक अभिरुचि जैसी विशिष्टताएँ कांतापुर की दिनचर्या और ज़िंदगी की रवानगी को दिखाने के लिए आवश्यक थीं। भारतीय परंपरा में, इस तरह की अनौपचारिक कहानियाँ कहने का ज़िम्मा महिलाओं पर डाला गया है और कोई सोच भी नहीं सकता कि कोई पुरुष इस तरह की पूर्ण और उसके साथ-साथ कभी ख़त्म न होने वाली कहानियाँ कहेगा।

इसके अलावा राजा राव का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अपने उपन्यास में अपनी वाचिका अचक्का को समूह का प्रतिनिधित्व करनेवाली आवाज़ बनाया है जैसे कि समवेत गान में सब मिलकर गा रहे हों। वह अपने गाँव की लगभग हर औरत के लिए बोलती नज़र आती है। उसका नाम तो है लेकिन इसके अतिरिक्त हम उसकी ज़िंदगी के बारे में बहुत कम (गांधी आंदोलन चलाने में मूर्ति के सहायक 'शीनू' से उसका कुछ रिश्ता था और उसके पास कुछ ज़मीनें भी थीं) जानते हैं। हम उसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

उपन्यास में बड़ी घटनाओं की बात करते हुए वह प्रथमपुरुषवाची 'मैं' के स्थान पर 'हम' शब्द का प्रयोग करती है क्योंकि वह हमेशा किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं बोलती है बल्कि पूरे समूह के लिए बोलती है। उपन्यास का यह अंश देखिए :

> ''कभी हम यह बात सुनते हैं कभी वह, और हम तो कहते हैं कि हमें भी शोलापुर की तरह विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करना चाहिए, हमें भी सिगरेट और ताड़ी की दुकानों पर धरना देना चाहिए। और हमारा तो कहना है कि हमारे कांतापुर को भी अपनी माँ के लिए लड़ना चाहिए और हमें हमेशा रानी लक्ष्मीबाई के चित्र को देखना चाहिए जो कि रंगम्मा के बरामदे में है...''
>
> (*कांतापुर*, पृ. 152)

वाचिका का इस तरह आत्मपरक हस्तक्षेप न करने और निर्णायक रवैया न अपनाने के कारण ही उपन्यास में घटनेवाली घटनाओं का तटस्थ प्रलेखन हो पाता है। यही कारण है कि यह उपन्यास भारत के स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष का सामाजिक दस्तावेज़-सा बन गया प्रतीत होता है। वस्तुतः पूर्वप्रभावी कांतापुर की कथा कहने वाली पद्धति ने ही महात्मा गांधी द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन की समीक्षा हेतु ज़मीन तैयार की।

बड़े पैमाने पर देखें तो यह उपन्यास एक तरफ़ तो वर्षों पुराने जाति-पाँति के संघर्षों में जकड़े भारतीय समाज को चित्रित कर पाया है तो दूसरी तरफ़ उपनिवेशवाद को। गांधी जी ने अपने समतावादी मूल्यों—अहिंसा और सत्याग्रह से अछूतों और ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध नैतिक युद्ध छेड़ा था। वे सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य के साथ-साथ धार्मिक परिदृश्य में भी पूरे देश के महात्मा थे। *कांतापुर* में मूर्ति जो कि महात्मा जी का प्रतिरूप है, शहरी ग्रेजुएट ब्राह्मण है। मूर्ति गांधी जी के मूल्यों का सही मायनों में प्रतिनिधित्व करता है और उनके सभी आदर्शों को आचरण में लाता है। वह ''जुलाहे के घरों में, कुम्हार के घरों में और दूसरे अछूतों के घरों में भी कांग्रेस का काम करने जाता रहता था। हालाँकि इसके लिए उसे जाति-बहिष्कार भी सहना पड़ा। उसकी माँ अपने बेटे के मूर्खतापूर्ण विचारों और अछूतों के घरों में जाने से पीढ़ियों के भ्रष्ट होने के दुख से मर जाती है। लेकिन मूर्ति को कोई अपने पथ से डगमगा नहीं पाया। वह तो पूर्णतया महात्मा गांधी और स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रति कटिबद्ध रहा।''

गाँव की महिलाएँ उसमें विश्वास रखती थीं और उसके एक बुलावे पर अपनी जान देने को तैयार थीं। वे सब मूर्ति और रंगम्मा में अटूट विश्वास रखने के कारण ही ब्रिटिश पुलिस के हाथों भयंकर यातनाएँ सहती हैं। ब्रिटिश-राज की क्रूरताएँ उपन्यास में सजीव हो उठती हैं :

> ''तब पुलिस इंस्पेक्टर ने कहा, 'उन पर पानी फ़ेंको।' पुलिस ताड़ी बूथ पर गई और अपने हाथों में घड़ों पर घड़े उठाकर लाई, उन घड़ों में बाज़ू में स्थित गटर में से गंदा पानी भरकर हम पर फेंका। इतना ही नहीं, हमारा मुँह खुलवाया और उसमें उड़ेल दिया, और उन्होंने हमारी साड़ी ऊपर उठाई और अकथनीय जगहों पर पानी फेंका, पानी हमारे अंगों से टपकता हुआ ज़मीन पर गिर जाता था। और मार, और मार, और मार पड़ने से हम एक-एक कर ज़मीन पर ढह जाते थे...''
>
> (*कांतापुर*, पृ. 200)

औरतें पिटती हैं, गालियाँ खाती हैं, बलात्कार की शिकार होती हैं लेकिन वे सब कुछ सहन करती हैं क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास है कि गांधी भारत में 'रामराज्य' लाने में समर्थ है। उपन्यास के अंत में अचक्का इस आदर्श राज्य की तसवीर खींचती है :
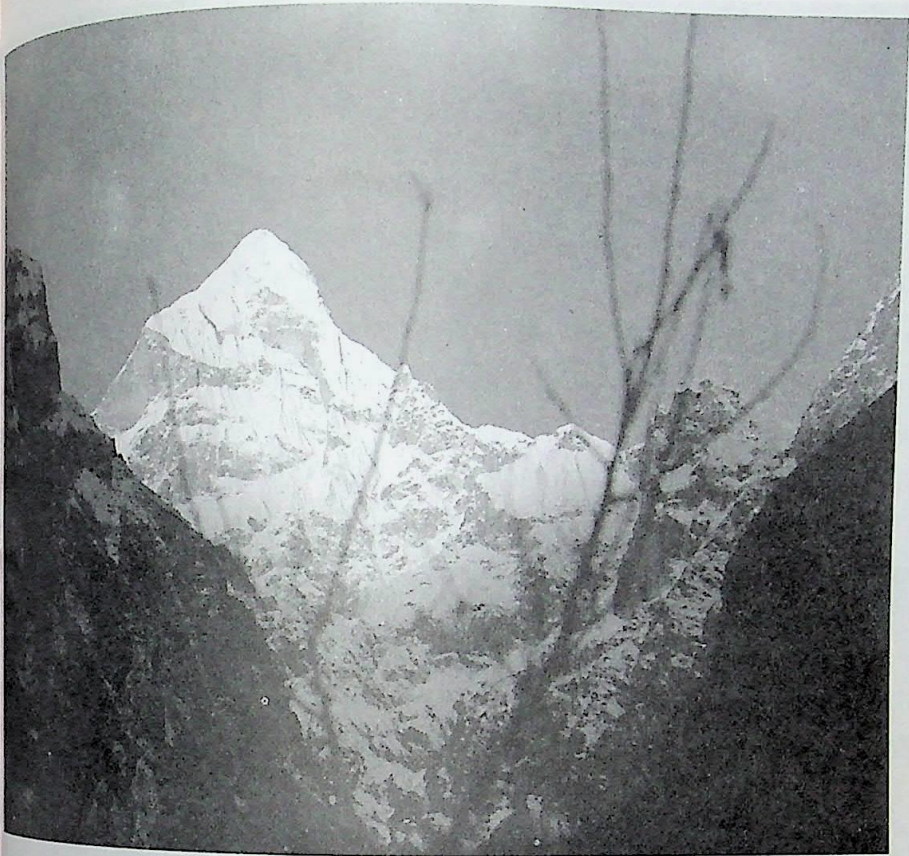
"महात्मा इन गोरे लोगों के देश में जाएगा और हमारे लिए स्वराज लेकर आएगा। महात्मा स्वराज लाएगा और हम ख़ुशियाँ मनाएँगे। राम वनवास से लौट आएँगे, सीता उनके साथ होगी क्योंकि रावण मार दिया जाएगा और सीता आज़ाद हो गई होगी, और वे विमान में सीता को दाएँ बिठाए हुए लौट आएँगे और भाई भरत अपने सिर पर उनकी पूजनीय खड़ाऊँ रखे उन्हें मिलने जाएगा और जैसे ही वे अयोध्या में प्रवेश करेंगे, उन पर फूलों की वर्षा होगी।"

(*कांतापुर*, पृ. 257)

...अचक्का कांतापुर का विनाश देने के ...हताशा में या भ्रमवश नहीं बोल रही है ...वह तो अपने उस सपने के बारे में बोल ...है जिसके बारे में उसे पक्का विश्वास है कि एक दिन वह सच होगा। उसके लिए महात्मा राम है, सीता हमारे देश की स्वतंत्रता है और भरत जवाहरलाल नेहरू है। उपन्यास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू है जिसमें भारत की सीधी-सादी, ग्राम्य, अनपढ़ महिलाओं को हमारे स्वतंत्रता प्राप्ति के आंदोलन की नायिकाएँ बनाकर इस तरह पेश किया गया है कि वे रानी लक्ष्मीबाई-सी प्रतीत होती हैं और उसकी तरह ख़ुद को बहादुर साबित भी करती हैं।

राजा राव का *कांतापुर* कई पहलुओं से अनुकरणीय है क्योंकि यह उपयुक्त भारतीय कथा कहाने वाली पद्धति की अगुआई करता है और हमारी संस्कृति और संवेदनशीलता को पुष्ट करने वाली शैली को अपनाता है। इसके साथ ही उस ऐतिहासिक आंदोलन को भी चित्रित करता है जिसने हमारे समाज की भीतरी परतों तक को भी प्रभावित किया था।
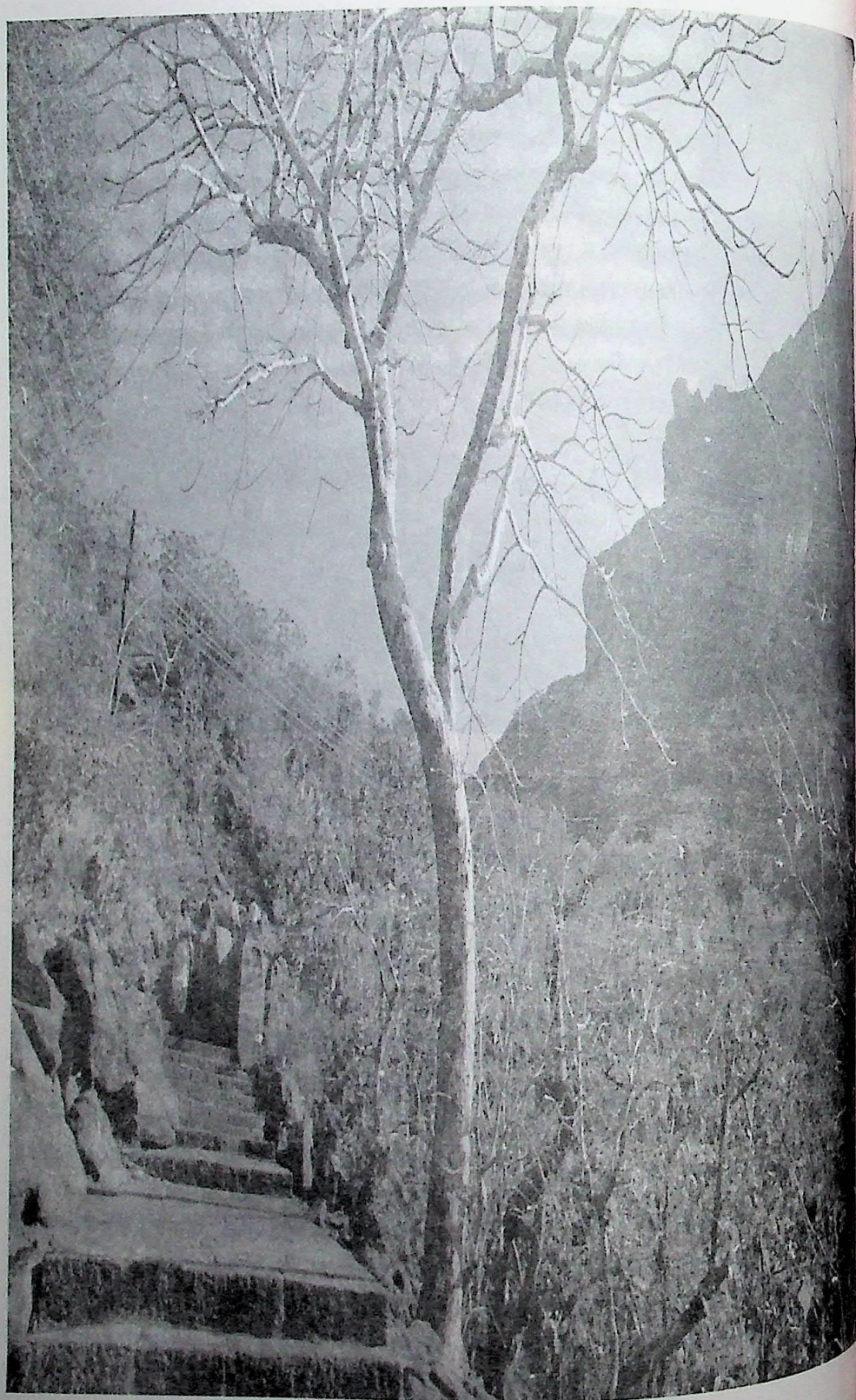
विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय

प्याऊ

वृद्ध माधव शिरोमणि महाशय यजमान के घर जा रहे थे। क़रीब एक बजा होगा। भगवान भास्कर सिर के ऊपर से थोड़ा नीचे की ओर खिसक आए थे। जेठ की तपती दोपहरी में रेत गरमा गई थी। हवा ऐसी चल रही थी मानो धू-धू धधकती हुई आग हो। मैदान में चारों तरफ़ दूर-दूर तक कहीं कोई पेड़-पौधे की हरीतिमा दिखाई नहीं दे रही थी। कहीं-कहीं एक-आध बबूल के पेड़ दिखाई भी देते, तो वह भी पत्रहीन। मैदान की घास-फूस धूप से झुलसी हुई—विवर्ण। ब्राह्मण के कपड़े-लत्ते गर्म हवा के स्पर्श से आग की तरह तपने लगे थे, उन्हें शरीर पर धारण किए रखना कठिन हो रहा था। रह-रहकर गर्म हवा के झोंकों से गर्म रेत उड़-उड़कर उनके मुख और आँख को तीक्ष्णता से बेध रही थी। जेठ की जलती दुपहरी में इस मैदान को पार करना जान-बूझकर जान देना है—यह बात नवाबगंज बाज़ार में उनसे बहुतों ने कही थी, फिर भी सबकी बात अनसुनी कर वे जो ज़बरदस्ती निकल पड़े थे, वह शायद इसलिए कि भाग्य में दुख भोगना बदा था।

पश्चिम की ओर बहुत दूर एक फूस का खेत गरम हवा के झोंके खा सिर हिला रहा था। जिधर भी दृष्टि जाती, केवल चमचमाता हुआ रेत का समुद्र दिखाई देता। ब्राह्मण को बड़े ज़ोर की प्यास लगी। गरम हवा के झोंके से मानो शरीर का सारा जल सूख गया, जीभ लटपटाने लगी। प्यास इतनी तेज़ लगी थी कि सामने यदि किसी गड्ढे में सड़े पत्तों वाला काला जल भी दिखाई दे जाता तो वे साग्रह उसे पी लेते। लेकिन नवाबगंज से रतनपुर तक साढ़े चार कोस का रास्ता—इस विशाल विस्तृत मैदान में कहीं भी पानी नहीं मिलता; यह बात तो बाज़ार में ही कइयों ने उन्हें कही थी। यह दुर्भोग उन्हें भोगना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण पसीने से तर-बतर हो गए थे। उनके नाक-कान-साँस से मानो गरम हवा की लपटें निकल रही थीं। जीभ जबरन चूसने पर भी उससे अब और रस नहीं निकल रहा था, धूल की तरह शुष्क हो गई थी जीभ। चारों ओर धधकता हुआ धू-धू मैदान तेज़ धूप में मानो नाच रहा था... चमचमाती हुई रेत धूप को वापस लौटा रही थी। रह-रहकर उठते हुए छोटे-छोटे चक्रवात से गर्म बालू,

...भूषण बंद्योपाध्याय : (...4-1950)। पाथेर ...ली, अपराजित, आरण्यक ...दि विश्व प्रसिद्ध उपन्यासों ...कारी रचयिता।

...जी प्रसाद 'वीरेंद्र' का ...938 में हुआ। कविता, ...त्रा, शोध आदि की ...5 पुस्तकें प्रकाशित हुई ...र्क : प्रभा प्रिंटिंग प्रेस, ..., सिलीगुड़ी 734005 ...र्जिलिंग (प. बंगाल) ...932041284

धूल-धक्कड़ उड़कर मुँह-कान-नाक में झपट्टा मार रही थी। असह्य प्यास के कारण उनकी आँखों के आगे अँधेरा-सा छाता जा रहा था। उन्हें ऐसा लग रहा था कि यदि कहीं से कोई हरी पत्ती भी मिल जाती तो वे उसे चूसते...जीवन में जितना भी ठंडा पानी पिया था, एक एक कर सबकी स्मृतियाँ उन्हें आ रही थीं। उनके घर के तालाब का पानी कितना ठंडा है,... पहाड़पुर की कचहरी के कुएँ का पानी तो बिलकुल बर्फ़ है...वे कब यजमान के घर गए थे बैसाख में, उन्होंने उन्हें बड़े सादे-से काँसे के लोटे में नई कलसी से पानी ढालकर पीने के लिए दिया था, वह पानी बिलकुल हिम की तरह ठंडा था, पीते वक़्त दाँत में सिहरन होती थी। काश, इस वक़्त यदि कोई उन्हें उसी तरह का एक लोटा ठंडा पानी लाकर दे देता!...उनकी प्यास अचानक इतनी बढ़ गई कि उनका कलेजा तक सूखकर काठ हो गया। इस मैदान को इस हल्के में कहते हैं, 'कच्चू-चूसी का मैदान'। उन्हें स्मरण हो आया, उन्होंने सुना है, इस ज़िले में इतना बड़ा मैदान दूसरा नहीं है। पहले बैशाख-जेठ की दुपहरी में इस मैदान को पार करने की चेष्टा कर सचमुच बहुतों ने प्राण गँवाए हैं, गरम रेत पर उनके निर्जीव शरीर को पड़े हुए लोगों ने पाया है। असह्य प्यास के कारण आगे चलने में अक्षम होकर गरम रेत पर छटपटा-छटपटाकर उन्होंने अपने प्राण गँवाए थे। सचमुच...अभी भी दो कोस दूर है गाँव...यदि वे भी... ?

केवल मन के ज़ोर पर वे आगे बढ़ने लगे। इस राह के अंत में कहीं मानो एक लोटा ख़ूब ठंडा पानी उनके लिए कोई रखे हुए है, राह चलने की बाज़ी जीतने के बाद ठंडे पानी से भरा हुआ वह लोटा ही मानो उनके लिए पुरस्कार है, यही सोचकर वे चाबी भरे खिलौने की तरह चलते चले जा रहे थे। आधा कोस रास्ता चलने के बाद उलूखड़ का जंगल दाहिनी ओर छोड़ जब आगे बढ़े तो देखा, आधे कोस की दूरी पर एक बरगद का पेड़ खड़ा है। पेड़ के नीचे शायद कोई तालाब हो, और न होने पर भी छाया तो है ही।

बरगद के पास पहुँचकर उन्होंने देखा—वहाँ एक प्याऊ है। चार-पाँच बड़े-बड़े घड़ों में पानी रखा हुआ है। एक ओर है कच्चे नारियल यानी डाब का ढेर। एक गमला भिगोया हुआ चना, एक बड़ी-सी जगह में ढेर सारा नए गन्ने का गुड़, एक छोटे-से गमले में आधा गमला बताशा। बीच से फाड़ा हुआ बाँस का एक लंबा खोल बाँस की एक खूँटी से बँधा हुआ है। एक आदमी घड़े से पानी निकालकर फाड़े हुए बाँस के खोल में ढाल रहा है। लोग बाँस के खोल के दूसरे सिरे में अंजुरी लगाकर पानी पी रहे हैं।

पेड़ के नीचे जो लोग बैठे हुए थे, ब्राह्मण को आया देख, शिरोमणि महाशय की उन्होंने ख़ूब आवभगत की। एक ने पूछा, ''पंडित जी का कहाँ से आगमन हो रहा है?''

दूसरे ने कहा, ''अरे, अभी यह सब पूछना-ऊछना छोड़ो। पहले पंडित जी को ज़रा सुस्ता लेने दो।''

शिरोमणि महाशय जिस जगह बैठे, वहाँ विशाल बरगद का पेड़ क़रीब दो-तीन बीघे ज़मीन को घेरे हुए था। हाथी की सूँड़ की तरह लंबे-लंबे बरोह डालों से निकलकर चारों ओर लटके हुए थे। एक ने चीलम सजाकर उन्हें दिया और एक बरगद का पत्ता तोड़कर ले आया खरखोदने के लिए।...आह! कितनी ठंडी हवा चल रही है। इस असह्य प्यास और भयंकर गर्मी के बाद इतनी ठंडी हवा और सजे हुए चीलम को पा प्यास मानो कुछ कम हो गई।

पंडित जी जब चीलम पी चुके तो एक ने कहा, ''पंडित जी! हाथ-पैर धोकर ज़रा ताज़ा हो लीजिए। बढ़िया संदेश आप ब्राह्मणों के लिए है, उसे खाकर थोड़ा पानी पी लें, इस धूप में अभी कहाँ जाएँगे, ज़रा धूप घटे तो जाइएगा।''

शिरोमणि महाशय ने पूछा, ''यह प्याऊ किसकी है?''

"जी, यह आमडोब के विश्वास लोगों की है। श्रीमंत विश्वास और निताई विश्वास का नाम सुना है आपने?''

शिरोमणि महाशय ने कहा, ''विश्वास? कायस्थ?''

"जी नहीं, तेली।''

सर्वनाश! नई मिट्टी के बने बड़े-बड़े घड़ों में भरा हुआ पानी और डाब के ढेर को देख प्यासे शिरोमणि को जो आनंद का अनुभव हुआ था, वह निमिष में कर्पूर की तरह उड़ गया। तेली के बनाए प्याऊ में वे कैसे पानी पीएँगे? वे स्वयं और उनका वंश हमेशा अशुद्र से दान ग्रहण करता रहा है। आज क्या वे—ओह! संयोग से उन्होंने पूछ लिया। नहीं तो अभी...

शिरोमणि महाशय ने पूछा, ''यह प्याऊ कितने दिनों से बिठाई हुई है?''

"क़रीब पंद्रह-सोलह वर्ष से। श्रीमंत विश्वास के बाप ताराचंद विश्वास ने यह प्याऊ बैठाई थी। बात क्या हुई थी, बता रहा हूँ।'' यह कह उस आदमी ने कहानी कहनी शुरू की :

"आमडोब गाँव का ताराचंद विश्वास जब छोटा था, चौदह-पंद्रह की उम्र होगी, उसी समय उसका बाप मर गया। परिवार में नौ-दस वर्ष की एक बहन के अलावा ताराचंद का और कोई नहीं था। भाई-बहन माथे पर केला, बैंगन, कोहड़ा लेकर हाट में बेचते, इसी से उनका गुज़र-बसर होता। एक बार बैसाख का महीना था। ताराचंद अपनी छोटी बहन को लेकर नवाबगंज के हाट में तरकुल बेचने गया था। लौटते वक़्त ताराचंद इसी मैदान से होकर लौट रहा था। नवाबगंज से रतनपुर तक यह मैदान साढ़े चार कोस से कुछ अधिक ही होगा, कम नहीं। कहीं भी एक पेड़ तक नहीं था। बैसाख की दुपहरी में मैदान से गुज़रते ताराचंद की छोटी बहन अवसन्न हो गई। ताराचंद के मुख से सुना है, छोटी बहन मैदान के बीचोंबीच आकर बोली, 'भैया, मुझे बहुत प्यास लगी है, पानी पीऊँगी।'

ताराचंद ने उसे समझाया, कहा, 'थोड़ा और आगे चल, रतनपुर के कैवर्तपाड़ा में तुझे पानी पिलाऊँगा।'

'थोड़ा' का अर्थ दो कोस से कम नहीं था। थोड़ी दूर और चलने के बाद लड़की मारे प्यास और धूप के बेहाल हो गई। बार-बार कहने लगी, 'भैया, तेरे पैर पड़ती हूँ, मुझे थोड़ा पानी दे...'

ताराचंद उसे गोद में उठाकर इस बरगद की छाया तक ले आया। तब तक उसकी हालत ऐसी हो गई थी कि वह बोल नहीं पा रही थी। ताराचंद उसकी हालत देख उसे वहीं बैठा दौड़ते हुए पानी की तलाश में गया। यहाँ से आधा कोस दूर रतनपुर के कैवर्तपाड़ा से एक लोटा पानी लेकर जब वह लौटा, तब तक उसकी छोटी बहन दम तोड़ चुकी थी और इसी पेड़ के नीचे पड़ी थी। उसके मुख में एक कच्चू का डंठल था। यह बरगद का पेड़ उस समय छोटा था। इसके नीचे कच्चू का जंगल-सा बिछा था। प्यास के मारे जंगली कच्चू का डंठल मुख में रखकर उसने चूसा था। उसी से इस मैदान का नाम पड़ा, 'कच्चू-चूसी का मैदान'।

ताराचंद विश्वास व्यापार करके धनी हुआ था। सुना है, उसकी वह बहन उसे स्वप्न में दिखाई देती और कहती, 'भैया, उस मैदान में सबके पानी पीने के लिए तू एक प्याऊ बैठा दे।' यह पंद्रह-सोलह या बीस बरस पहले की बात होगी। पंडित जी, कच्चू-चूसी के मैदान के इस प्याऊ की बात इस इलाक़े के सभी लोग जानते हैं। क्या कहें पंडित जी, अभी भी यह सुनने में आता है कि इस मैदान में प्यास के मारे तड़पते लोगों में से किसी-किसी को एक छोटी लड़की मैदान के बीच खड़ी मिलती है जो उनसे कहती है, 'मैं तुम्हें पानी पिलाऊँगी, तुम मेरे साथ आओ।'

उस आदमी ने अपनी कहानी यहीं ख़त्म कर दी और कहा, ''सच-झूठ नहीं जानता पंडित जी, लोग कहते हैं, वही सुनता हूँ, बैसाख का महीना है, ब्राह्मण से झूठ बोलकर क्या अंत में...''

उस व्यक्ति ने अपने दोनों हाथों से पहले दोनों कान छुए, फिर दोनों हाथों को माथे से लगा प्रणाम किया।

दिन ढलने लगा। बहुतेरे लोग प्याऊ पर आने-जाने लगे। एक हलवाहा बग़ल के खेत में हल खोलकर बरगद के पेड़ तले आया। पसीने से तरबतर था। थोड़ी देर आराम करने के बाद चना-गुड़ खाकर पानी पीया और गप करने लगा।

एक बुढ़िया दूसरे गाँव से भीख माँगकर लौट रही थी। पेड़-तले आकर उसने अपनी झोली उतारी और थोड़ा पानी माँगकर हाथ-पैर धो लिया। एक ने कहा, ''अब्दुल की माँ, एक डाब पीओगी?''

अब्दुल की माँ हँसकर बोली, ''तो दो न मुझे एक, आज पी लेती हूँ। मरूँगी तो खाकर ही मरूँगी।''

एक आदमी, कोरी धोती के ऊपर नया चमचमाता सफ़ेद टुइट की शर्ट, घुटने तक धोती, पाँव धूल से सने हुए, बरगद-तले आकर निराश-भाव से धप से बैठ गया। किसी ने पूछा, ''अरे छमिरुद्दी मियाँ, आज मुक़दमे की तारीख़ थी न?''

छमिरुद्दी ने एक ऐसा वाक्य मुँह से निकाला जो भद्रोचित नहीं था, और फिर भूमिका के साथ अपने मुक़द्दमे का संक्षिप्त इतिहास कह गया, और जिस वकील के हाथ में उसका केस था, उसके बारे में कुछ ऐसा मंतव्य किया कि यदि वे वकील वहाँ उपस्थित होते तो छमिरुद्दी के ख़िलाफ़ एक और केस दायर हो जाता। उसके बाद क़रीब एक पाव गुड़ के साथ आधा सेर के क़रीब भीगा हुआ चना खाकर और एक चीलम तंबाकू पीकर वह विदा हुआ।

धीरे-धीरे धूप ढलने लगी। अपराह्न की हवा में पास की ही एक झाड़ी से पके खजूर की सुगंध आ रही थी। पीले रंग के सोंदाली फूल का झाड़ मैदान के पिछले हिस्से को सुशोभित किए हुए था। एक चिड़िया पंख पसारकर आकाश में उड़ती हुई जा रही थी, ''बऊ कथा कओ, बऊ कथा कओ।''

शिरोमणि महाशय को बैठे-बैठे लगा, बीस वर्ष पूर्व, उनकी आठ वर्ष की बेटी उमा जैसी ही किसी छोटी-सी बच्ची ने इसी बरगद की छाँव तले असह्य प्यास से पीड़ित होकर पानी के अभाव में जंगली कच्चू के डंठल से कटु-कषाय रस चूसा हो, और आज उसी की स्नेह-करुणा ने इस विशाल बरगद की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फैलकर इस जल कष्ट पीड़ित पल्ली-प्रांतर के एक प्रांत में प्यासे पथिकों के लिए एक आश्रय का निर्माण किया हो।...इसी की छाँव तले आज बीस वर्षों से वह मंगलरूपिणी जगद्धात्री की तरह अपने दसों हाथ फैलाकर हर निदाघ-मध्याह्न में कितने प्यास से आतुर पल्ली-पथिकों को पानी-पिलाकर तृप्त कर रही है।...चारों ओर जब साँझ उतरती है...तप्त मैदान का रास्ता जब छाया-शीतल हो उठता है...मात्र तभी सारे दिन के परिश्रम के उपरांत वह नन्ही-सी बच्ची अस्फुट ज्योत्स्ना में अपने शुभ्र आँचल उड़ा किसी अज्ञात उर्ध्वलोक में अपने स्थान को लौट जाती है।...धरती के बालिका-जीवन के अपने उस इतिहास को वह भूली नहीं है।

जो आदमी पानी पिला रहा था, उसका नाम था चिनीवास और जाति का वह था सद्गोप। शिरोमणि महाशय ने उससे कहा, ''भाई, तुम्हारे उस बड़े लोटे को ज़रा अच्छी तरह माँजकर एक लोटा पानी मुझे दो, और हाँ, तुमने कहा था न, बढ़िया संदेश ब्राह्मणों के लिए है?''

बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य

शोन्ति

आवाज़ सुनकर शोन्ति चौंक पड़ा।

"कौन चिल्ला रहा है पानेई?"

उसके गिलास में आपंग (शराब...) डालते हुए पानेई कहती है, "काम पक्षी।"

एक घूंट पीते हुए शोन्ति ने कहा, "ताऊ की शिकारी बंदूक़ है या नहीं? आज काम पक्षी को मारकर खाना होगा। तुम पकाना।"

"नहीं-नहीं, तुम लोग यहाँ खाने-पीने की मुसीबत मोल मत लेना। ताई सुनेगी तो बुरा मान जाएगी, रहीम और मेरे पिता के मन में तो जाति-धर्म के प्रति कोई भेदभाव नहीं है। सब के सब समाज की दहलीज़ पर नहीं आना चाहते। बीते साल तक वे लोग चोरी करते रहे। और चोरी भी किस हालत में करते हैं। अमावस्या की रात लालटेन लेकर उफनती हुई ब्रह्मपुत्र नदी को पार करके आते हैं। माजुली की चोरी के सामान से घर भर जाता है। भोर होने के पहले ही नदी की बालिचापरि में बैठकर आपस में सामान बाँट लेने का काम ख़त्म करते हैं। गाय मिलने पर रहीम ले जाता है और अपने गाँव ले जाकर बेच देता है। दिन भर सोता है, रात को चोरी करता है। उन लोगों के लिए सामाजिक बंधनों का क्या महत्त्व हो सकता है?"

पानेई को याद आती है महाभारत की बातें। तब तक वह दुनियादारी समझने लगी थी। एक दिन बापू दो अजनबी लोगों से बातें कर रहे थे। मुझे याद नहीं कि वे लोग क्या बातें कर रहे थे, लेकिन एक आदमी की बात याद है, जो रो-रोकर बता रहा था, "मेरी माँ मर गई, पाहबर भैया! मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है। अब मैं कहाँ, कैसे, क्या खाऊँगा?" दूसरे ने कहा, "घर में चार समझदार भाई हैं। ज़मीन है नहीं इसीलिए आए हैं, जहाँ ठहरेंगे वहीं खा लेंगे।"

इनमें से एक था शोन्ति, दूसरा था रहीम। दोनों ही छह वर्ष पहले पाहबर के पास चोरी विद्या सीखने आए थे। पाहबर को भी उस समय आदमियों की ज़रूरत थी। इसीलिए उन्हें शरण देते हुए कहा, "मेरे पास ही रहो। तुम लोगों को मैं दुर्दांत चोर बना दूँगा।"

बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य : (1928-1977) असमिया के विख्यात रचनाकार। ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत। रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती वीनिता भट्टाचार्य, खारगुली, नवग्रह मंदिर के पास, गुवाहाटी 781004 (असम)

किशोर कुमार जैन का जन्म [illegible] में हुआ। असमिया हिंदी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : महात्मा गांधी पथ, फ़ैंसी बाज़ार, गुवाहाटी 781001 (असम), मो. 09864063790

पाहबर दरअसल दूध का व्यापार किया करता था। लेकिन अनजानी बीमारी के चलते एक-एक कर उसकी गाय-भैंसें मरने लगीं, तब उसने निश्चय किया कि आय का दूसरा रास्ता खोजना होगा। शोन्ति के आने के पहले ही वह दुर्दांत चोर बन गया था। पाहबर चोर को इस इलाक़े के सारे गाँव वाले जानते थे।

फिर भी लोग उसका आदर करते थे। आस-पास के लोगों का उसने कभी कोई नुक़सान नहीं किया था। उसके शिकार दूर के लोग हुआ करते थे और तो और पुलिस का मुँह बंद करने का जादू भी उसे आता था।

उन लोगों के रात के व्यापार की एकमात्र ज़िंदा साक्षी थी पानेई। उसका काम था, जब वे लोग चोरी के सामान का बँटवारा कर रहे होते तो वह बाहर रहकर पहरा देती और उन लोगों की थकान दूर करने के लिए आपंग डालती। खाना भी वही बनाया करती थी। लेकिन माँ उन्हें घर के भीतर खाना नहीं देती थी। माँ माजुली सत्र के पास एक गाँव के भगत की बेटी थी। एक ही थाली में हिंदू-मुसलमान का एक साथ खाना उसे सहन नहीं होता था।

लेकिन वे लोग इस बात को नहीं मानते थे...

लेकिन एक दिन उन्हें एक नया काम सूझा। तीनों नदी किनारे की नई उर्वर मिट्टी देख रहे थे। उसी साल ही इस तरह मिट्टी निकली थी। ब्रह्मपुत्र का प्रवाह माजुली की तरफ़ होने की वजह से यह मिट्टी निकलनी शुरू हुई थी। पाहबर का सीना आनंद से पुलकित हो उठा। अपनी आँखों से इस मिट्टी को देखते हुए उसने अचानक कहा, ''अब हम लोग चोरी नहीं करेंगे। इस बार खेती करेंगे।'' शोन्ति और रहीम उसकी तरफ़ आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। तब पाहबर ने उन लोगों को सारी बातें ठीक से समझाई।

जब पाहबर का बाप ज़िंदा था तब उसे अकसर कहा करता था, इस ज़मीन का हिस्सा कभी-कभी निकलता है और फिर डूब जाता है। जब निकलता है उस समय अगर खेती की जाए तब अच्छी फ़सल तैयार होती है। मरने के पहले बूढ़े बाप ने पाहबर को बताया, ''पाहबर, चोरी करना छोड़ दो, खेती करो। ऐसी ज़मीन का हिस्सा जब निकले तब खेती में लग जाना।''

पुरखों की बातों से दैवीय शक्ति प्राप्त होती है। शोन्ति और रहीम के मन में भी पाहबर की बाप की बातों का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने पाहबर से कहा, ''पाहबर तुम्हारा जो मन हो हम भी वही करेंगे। तुम्हारे साथ हम लोग भी खेती करेंगे।''

दो वर्षों से वे लोग खेती कर रहे हैं। इस साल भी धान की खेती करने का समय हो गया। पाहबर माजुली अपनी साली की शादी में गया हुआ था। रहीम गाँव में ईद के लिए गया हुआ था। वापस नहीं लौटा। शोन्ति भी बहुत दिनों से गाँव गया हुआ था, लेकिन उसका मन गाँव में नहीं लगा। अत: दो दिन बाद वह वापस पाहबर के घर की छत के नीचे चला आया।

आने के बाद पानेई के हाथों आपंग पीते हुए उसने काम पक्षी की आवाज़ सुनी।

तपती दोपहर को शोन्ति कंधे पर बंदूक रखकर निकल पड़ा। चारों ओर फैली धान की फ़सल से पानी टपक रहा था जैसे रोते-रोते बोल रहे हों—अब हमें काट लो, अब हमें काट लो। अगहन महीने की तेज़ धूप के कारण अपने शरीर में काफ़ी जकड़न महसूस कर रहा था। धान की पकी हुई बालियों को छूते-छूते वह दूर तक आगे बढ़ता जा रहा था। पाहबर की फ़सल, उसकी फ़सल और रहीम की फ़सल अग़ल-बग़ल में खड़ी हवा में हिल रही थी। शोन्ति ने सोचा पाहबर कितना बुद्धिमान है और उसका पिता कितना दूरदृष्टि संपन्न व्यक्ति था। चोरी

करने की बजाय इस तरह खेती करना कितनी अच्छी बात है।

कुछ दूर जाने के बाद उसने मुड़कर देखा। अचानक उसे अनगिनत पक्षियों का स्वर सुनाई दिया। शोन्ति की आँखें पथरा गईं। बहुत सारे पक्षी धान की बालियों को खा रहे थे। जहाँ तक उसे दिखाई दिया केवल पक्षियों की आवाज़ ही सुनाई दी। उसे अचरज लगा। इस तरह अगर धान खाने लगेंगे तो हमें क्या मिलेगा ?

हिम्मत करके उसने बंदूक़ में कारतूस भरी और नज़दीक से सामने नज़र आने वाले पक्षियों पर गोली चलाई। गोली की आवाज़ आई। उसने आशा भरी निगाहों से दूर तक देखा। लेकिन बहुत समय बीत जाने पर अपनी असफलता पर वह भयभीत हो उठा। उसने फिर कारतूस भरकर बंदूक़ चलाई। इस तरह उसके सारे कारतूस समाप्त हो गए। लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। कुछ पक्षी चिल्लाते हुए धराशायी हो गए। लेकिन बाक़ी पक्षी एक बाली से दूसरी बाली तक फुदकते हुए निश्चिंत होकर धान खाते रहे। ग़ुस्से और विषाद भरे मन से शोन्ति अस्थिर हो गया। अधैर्य होकर वह पागलों की तरह बंदूक़ के कुंदों से पक्षियों को भगाने लगा।

भगाते-भगाते उसे पता ही नहीं चला वह कितनी दूर चला आया है। थकान से उसका सारा शरीर चूर-चूर हो गया। भूख से उसका सारा शरीर तपने लगा। एक हारे हुए सिपाही की तरह वह जीते हुए सैनिकों का उल्लास सुनने के लिए अपने आपको तैयार करने लगा। चलते-चलते वह अचानक नदी के किनारे पहुँच गया। ऊँचे टीले के किनारे जाकर बैठ गया। धीरे-धीरे शरीर और बंदूक़ दोनों दो तरफ़ लुढ़क गए।

जब तक उसकी नींद टूटी तब तक शाम हो गई थी। इक्का-दुक्का लोग ही दिखाई दे रहे थे। वह काफ़ी सुस्ती महसूस कर रहा था। लेकिन धीरे-धीरे जब उसके कानों में पक्षियों का कोलाहल सुनाई देने लगा तब अपने निष्फल आक्रोश के कारण उसका सारा शरीर थरथराने लगा।

पास पड़ी बंदूक़ उठाकर पास ही धान खा रहे काम पक्षी के सिर पर मार दी। दर्द भरी चीख़ के साथ पक्षी ज़मीन पर गिर पड़ा। उसके बाद पागलों की तरह बाक़ी पक्षियों को भी खदेड़ने लगा। लेकिन थोड़ी दूर जाने के बाद किसी ऊँची चीज़ से टकराकर वह नीचे गिर पड़ा।

उसने जब उठकर देखा वह ऊँची चीज़ पानेई के अलावा कोई नहीं है, तब उसके सारे शरीर में एक अद्‌भुत सिहरन-सी दौड़ गई। वह भूल गया पक्षियों को उड़ा पाने की अपनी विफलता की बात। वह भूल गया, अपने मन की बेचैनी को। शाम के अँधेरे में पानेई उसकी तरफ़ देखते हुए खिलखिलाकर हँस रही थी।

उसने मुग्ध होकर पूछा, ''क्यों हँस रही हो ?''

''पागल, तुम पागल हो!'' कहकर वह पुनः खिलखिलाकर हँसती हुई नदी के टीले की तरफ़ दौड़ने लगी।

शोन्ति एकाएक समझ नहीं पाया कि पागल कौन है ? वह सम्मोहित होकर उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगा।

झिलमिल अँधेरे में बहुत देर तक वह रेत में इधर-उधर घूमता रहा, उसने देखा कि पानेई एक नाव में बैठी पतवार चलाना चाहती है।

उसने चिल्लाकर उससे रुकने के लिए कहा। वह फिर खिलखिलाकर हँसने लगी। उसे ऐसा लगा नाव चलने लगी है। उसने जल्दी उछाल भरी और नाव में कूद पड़ा। नाव टेढ़ी होकर डूब गई। वे दोनों पानी में गिर पड़े।

धीरे-धीरे अँधेरा गहराता जा रहा था। वे लोग पानी से बाहर निकलने की कोशिश कर रहे थे। दो-तीन मिनट बाद ही दोनों नदी के किनारे पर आ गए। दोनों का शरीर भीग गया। पानेई ने ग़ुस्से से कहा, ''तुम पागल हो गए हो!''

उसने भी ग़ुस्से से कहा, "तुम भी पागल हो गई हो।" जवाब में पानेई ने शोन्ति की तरफ़ देखते हुए मुँह गोलकर फूँक मारी। उसका बदला लेने के मन से उसने पानेई की पीठ ज़ोर से थपकाई। उसने किसी तरह अपने आपको गिरने से बचा लिया। बाद में वह अंचानक किनारे चढ़कर खिलखिलाकर हँसते हुए खेत के बीच से दौड़ने लगी। वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। बहुत दूर तक ऐसे ही दौड़ते-दौड़ते वह चिल्लाई, "मर गई!" उसने पास जाकर देखा कि पक्षियों ने उसे घेर लिया है और उसे काट रहे हैं। उसने तुरंत उसे अपनी बाँहों में भरकर गोद में उठा लिया और उसके पैरों से पक्षियों को खदेड़ने लगा। बहुत देर बाद उसे फ़ुर्सत मिली तब देखा कि पानेई उसकी बाँहों में आश्वस्त होते हुए अपने आपको समर्पित कर चुकी थी। उसे महसूस हुआ कि चाँद की रोशनी से उसके चेहरे पर पड़ी पानी की बूँदें मोती की तरह चमक रही थीं।

उसने धीरे से उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए पूछा, "बहुत तकलीफ़ हो रही है पानेई?"

उसने मुँह से 'उँहू' कहते हुए गर्दन हिलाई और उसकी तरफ़ देखते हुए हँसी। उसने धीरे-धीरे अपना चेहरा उसके चेहरे से सटाते हुए चूमना चाहा।

अचानक खेत के उस पार से 'पानेई' को पुकारे जाने की आवाज़ सुनाई दी। पानेई उसकी बाँहों से अपने आपको छुड़ाती हुई शंकित निगाहों से देखते हुए बोली, "माँ पुकार रही है।"

वह कुछ नहीं बोला। पानेई ने कहा, "पता नहीं आज माँ मेरे साथ कैसा सलूक करेगी?" इस पर भी उसने जवाब नहीं दिया। इधर उसकी माँ की पुकारने की आवाज़ और क़रीब आती जा रही थी। वह फिर बोली, "आज मुझे क्या हो गया, पता ही नहीं! मैं पागल हो गई थी। आज माँ मुझे इस हालत में देखेगी तो पता नहीं क्या सोचेगी?" इस बार संदेहभरी आवाज़ में शोन्ति ने पूछा, "बताओ, क्या सोचेगी?"

"सोचेगी—पिताजी के न होने के मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए हमने..." वह रुक गई। उसकी आँखें, उसका चेहरा लाल हो गया।

लेकिन वह चुपचाप, बिना हिले-डुले, बिना डरे कुछ समय के लिए खड़ा रह गया। डर के कारण वह अपने आपको हिला-डुला भी नहीं पाई। माँ के पुकारने की आवाज़ धीरे-धीरे क़रीब आती जा रही थी।

इस बार पानेई ने उससे पूछा, "तुमको क्या हो गया?"

"मेरे मन में अब तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है।" उसने धीरे-धीरे उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, "क्या तुम मुझे पसंद करती हो?" इस बार वह उसकी तरफ़ देखकर हँसी और थोड़ी देर बाद बोली, "मैं तुम्हें बहुत पहले से ही चाहने लगी थी। तुम्हें याद होगा जब तुम लोग चोरी करने के बाद आधी रात को घर लौटते थे तब मैं तुम लोगों को आपंग डालती थी? जब तुम्हें मैं आपंग देती तो मेरा मन-मयूर नाच उठता था।"

"और..."

"और आज तुम्हें पक्षियों को खदेड़ते देखकर भी मुझे बहुत अच्छा लगा। मुझे नदी, धान के खेत बहुत पसंद हैं। तुम लोग जब नाव में घूमते हो तब मेरा मन भी ललचाता है।"

"मुझे इन सब बातों से कोई मतलब नहीं। क्या तुम मुझसे प्यार करती हो?"

इस बार पानेई ने उसे अद्‌भुत नज़रों से देखा और केवल रहस्य भरी हँसी हँसकर रह गई। उसके बाद वह बोली, "तुम अपनी बंदूक़ ढूँढो, मैं जा रही हूँ। माँ अभी आने ही वाली है।" यह कहते हुए वह फ़सल के बीच से हिरणी की तरह कुलाँचे मारती हुई धीरे-धीरे अदृश्य हो गई।

शोन्ति फ़सल में पड़ी बंदूक़ ढूँढ़ने लगा। साथ ही साथ उसके मन में विचार आया कि पानेई ने अभी तक यह नहीं कहा कि वह उसे चाहती है। रहीम ने ख़बर भेजी कि वह हफ़्ते भर तक नहीं आ पाएगा। पाहबर भी माजुली से बाहर ही बाहर चला गया। कब आएगा कोई ठीक नहीं। काम पक्षियों के उत्पात निवारण का काम शोन्ति और पानेई के कंधों पर आ पड़ा। दिन-रात वे दोनों मिलकर खेत की रखवाली करने लगे।

उस दिन शोन्ति ने बड़ी निर्ममता से कई काम पक्षियों को मार डाला। मरे हुए काम पक्षी को उनके ऊपर से कई गिद्ध बार-बार नीचे की ओर झपट्टा मार रहे थे। पानेई उसका काम देखकर अचरज भरी नज़रों से उसकी तरफ़ ताकने लगी। लेकिन वह निर्ममतापूर्वक काम पक्षियों की हत्या करने में मशग़ूल था। काम पक्षियों को अगर इस तरह नहीं मारा गया तो धान बचाना मुश्किल होगा।

उससे सहन नहीं हुआ, उसके पास जाकर उसका डंडा हाथ में लेकर उसे रोकते हुए कहा, "मत मारो न! मुझे बहुत बुरा लग रहा है।"

उसने हँसते हुए जवाब दिया, "चलो हटो, तुम लोगों की बातें मान लूँ तो एक भी धान नहीं बचेगा।"

उसने दृढ़ता से जवाब दिया, "रुको। मैं तुम्हें एक तरकीब सुझाती हूँ।"

उसने बिना गर्दन उठाए जवाब दिया, "औरतों की तरकीब मुझे नहीं चाहिए। उसकी ज़रूरत तो खाने की पत्तल पर होती है।" उसने कहा, "मेरी सौगंध, सुनो तो! अगर तुम मुझसे थोड़ा भी प्यार करते हो तो सुनो, तुम और पक्षी मत मारो। देखो तो काम पक्षी कितने सुंदर हैं।"

उसने अचानक अपने नीचे पड़े डंडे को उठाकर खड़ा होते हुए पूछा, "क्या तुम मुझसे प्यार करती हो?"

"करती हूँ।"

उसने संतुष्ट होते हुए डंडा फेंक दिया और उसके कंधों पर अपने हाथ रखते हुए धीरे-धीरे बोलने लगा, "उस दिन तुम कितनी सुंदर लग रही थी—क्या बताऊँ! तुम तो जानती ही हो, पाहबर के अलावा मेरा इस दुनिया में कोई अपना नहीं है। तुमसे मिलने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे तुम्हें सदा के लिए अपना बना लूँ।"

वह खिलखिलाकर हँसने लगी, "ऐ पागल! अच्छा ज़रा रुको, मैं एक चीज़ लेकर आती हूँ। एक काम करना होगा।" इतना कहकर वह खेत के बीच से फिर दौड़ते हुए चली गई।

शोन्ति उसे प्यार भरी निगाहों से देखने लगा। जब वह आँखों से ओझल हुई तब वह अगहन महीने के आसमान की तरफ़ देखने लगा। सूरज ऊपर चढ़ रहा है। धान पकने लगे हैं। पके हुए धानों से मीठी-मीठी सुगंध निकल रही है। अचानक उसे ध्यान आया कि कुछ समय के लिए काम पक्षियों का शोर भी कम हो गया। इस वातावरण में एक अद्‌भुत शांति मिल रही है। अत्यधिक मेहनत के कारण उसका सारा शरीर पसीने से भीग गया था।

वह पुनः चली आई। उसके हाथ में दो हँसिया हैं और प्याला सहित एक घड़ा भर आपंग। उसने हँसिया रख दी और घड़े से प्याले में आपंग डालने लगी। उसके हाथों में देती हुई बोली, "तुम थोड़ी देर आराम करो। मैं काम करती हूँ।"

पानेई क्या करेगी यह देखने के लिए वह उत्सुकता भरी निगाहों से उसे देखने लगा।

पानेई थोड़ी दूर पर ही धान की पकी हुई फ़सल हँसिए से काटने लगी। वह बेचैनी से चिल्ला पड़ा, "क्या कर रही हो?"

"तेरा सिर!" उसने जवाब दिया।

उसने आपंग का प्याला ख़ाली किया और दौड़ते हुए जाकर उसका हाथ पकड़ लिया। "पिता जी ग़ुस्सा होंगे।"

"पिता जी का इंतज़ार करने तक काम पक्षी सारा धान खाकर रीता कर देंगे। धान काटने का समय हो गया है। तुम भी काटो, मैं भी काटती हूँ।"

इस बार उसकी समझ में बात आ गई। पानेई एक बुद्धिमान लड़की है। उसने धीरे-से पानेई के गालों पर चपत लगाई और दूसरी हँसिया हाथ में ले ली।

हँसिया से धान काटने की सरसराहट होने लगी। दोनों ने लगातार चार घंटे तक धान काटा, उसके बाद पानेई ने उसे आदेश दिया, "तुम धान बाँध लो।" वह एक आज्ञाकारी आदमी की तरह उसकी बात मानते हुए धान की डंठलों को एकत्रित कर छोटे-छोटे बंडल बनाकर पास पड़ी घास से बाँधने लगा।

इसके बाद दो घंटे तक धान काटने और मुट्ठा बाँधने का काम साथ-साथ चलता रहा।

काम के समय दोनों दो तरफ़ से दूर तक चले गए। शोन्ति बीच-बीच में कृतज्ञता भरी निगाहों से पानेई की ओर देखते हुए उसे उत्साहित करता था। पानेई भी उसे देख-देखकर मुस्कुराकर हँस पड़ती थी।

आठ क्यारियों के धान काटने के बाद वह बोला, "ऐ, आपंग दो, पीऊँगा।" वह भी थक गई थी, इसीलिए चुपचाप आपंग के घड़े के पास आकर बैठकर प्याले में आपंग डालने लगी। वह भी उसके साथ सटकर बैठ गया। दोनों के शरीर से पसीने की महक निकल रही थी। उसके लाल हुए गालों को वह ललचाई नज़रों से देख रहा था। आपंग का प्याला पीकर उसने धीरे-धीरे उसके कंधे पर हाथ रखकर पूछा, "क्या तुम मेरी हो जाओगी?"

"क्या तुम मुझसे शादी करोगे?"

"क्यों?"

"तुम लोग तो हिंदू हो!"

"इसमें क्या दोष है! मेरी तो कोई जाति नहीं है।"

उसने चुपचाप उसकी तरफ़ देखा। कुछ नहीं बोली।

शोन्ति ने पानेई को धीरे-धीरे अपने सीने से लगा लिया और उसके होंठों पर अपने होंठ रख दिए।

जब तक वे लोग उठकर खड़े हुए तब तक काम पक्षियों की कलरव के अलावा और कोई आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी।

शोन्ति अचानक बोल पड़ा, "पानेई!"

पानेई ने पूछा, "क्या?"

शोन्ति ने एक लंबा-सा जवाब दिया। शोन्ति ने जीवन जीने का सपना देखा था। खेत के मैदान में उसका घर बनाने का सपना जाग उठा। वह उसे पाहबर के घर पर ही रख देगा। फ़सल काटने के बाद वह एक चांग घर बनाएगा। आगामी बैशाख महीने में वे लोग शादी कर लेंगे। वे दोनों अपनी इच्छानुसार सुख से रहेंगे। उनके लड़के-बच्चे होंगे।

प्रकृति ने शोन्ति के जीवन की जड़ को उखाड़ दिया था। आज ज़मीन पर वह जड़ फिर से पाँव जमाना चाहती है। जंगली जीवन अब समाप्ति पर है। इस बार वह एक आदमी बनेगा।

पानेई चुपचाप उसके चेहरे की तरफ़ देखते हुए जैसे कहना चाह रही हो—ठीक है, ऐसा ही होगा।

लिली रे

सैलानी

दार्जीलिंग सैलानियों का शहर है। यहाँ हर तरह के लोगों के ठहरने का इंतज़ाम है। विभिन्न कंपनियों के हॉलीडे होम। विभिन्न आय वर्ग के लोगों के लिए विभिन्न स्तर के होटल। इसके अलावा टूरिस्ट लॉज, पेइंग गेस्ट आदि की व्यवस्था तो है ही।

क़ुली लोगों को देखकर ही पहचान जाते हैं कि किसे किस तरह का आवास चाहिए। सैलानियों के मुँह खोलने के पहले ही क़ुली पूछने लगते, ''हॉलीडे होम? कौन-सी कंपनी? होटल? बुकिंग? सलाम साब! विंडमेयर? सिंक्लेयर! माउंट एवरेस्ट तो अभी बंद है साब।'' आदि-आदि।

दो दल अभी भी हैं, जिधर क़ुली फटकते भी नहीं। एक दल है अति निम्नव्ययी विदेशियों का, सैलानियों का, जिसे हम घुमक्कड़ कहते हैं। वे सब कभी भी दल बाँधकर नहीं आते। झुंड-के-झुंड एक साथ बस से उतरते, मगर घूमते अधिकतर अकेले। कभी-कभी दो जने एक साथ। उससे अधिक नहीं। अपना ट्रैवलर्स बैग पीठ पर बाँध, मस्ती में भटकते रहते। जगह-जगह कैमरे क्लिक करते। भूख लगी तो ट्रैवलर्स बैग से पावरोटी या इसी तरह का कोई सस्ता खाद्य पदार्थ निकालकर खा लेते।

दूसरा एक दल है भिखमंगों का। अच्छा-ख़ासा बड़ा दल होता वह। हर साल वसंत ऋतु में बड़ी-सी बस रिज़र्व कराकर सिलीगुड़ी से सभी एक साथ ही आते। आठ-नौ महीने साथ ही रहते। जाड़ा जब असह्य होने लगता, तब सभी मिलकर राय-विचार करके दिन निश्चित करते और उस दिन रिज़र्व की गई बड़ी बस से सिलीगुड़ी लौट जाते। वहाँ से वे सब अपने-अपने गाँव के लिए अलग-अलग हो जाते।

भिखारियों का दल घुमक्कड़ों की तरह भटकता नहीं। वे सब एक ही जगह बैठते। मॉल के पूरब पार—जो सड़क महाकाल जाती है, उसके दोनों ओर, अपने-अपने परिवार के साथ महाकाल की सीमा तक। चाय की दुकान से पहले ही। उसके ऊपर भिखारियों का बैठना निषिद्ध था।

भोर से दोपहर एक-डेढ़ बजे तक सब वहीं बैठते। उसके बाद दौड़ लगाते पोस्ट ऑफ़िस के पिछवाड़े की ओर, जहाँ तिब्बतियों के

छोटे-छोटे रेस्तराँओं की क़तार थी। अधिकांश मध्यवित्त विदेशी सैलानी दोपहर में वहीं भोजन करते।

भिखमंगे विभिन्न सुरों में रिरियाने लगते, "खाना दो न!" सैलानी क्षुब्ध हो जाते। दिए बिना गले से उतर नहीं पाता। लगभग हर सैलानी एक प्लेट भोजन दान करता ही।

प्रत्येक भिखमंगे का अपनी तामचीन की प्लेट और मग था, जिसमें खा-पीकर, होटल के पानी से बर्तन धोकर, तृप्त होकर चल पड़ते, अपने व्यवसाय के लिए। लगभग सभी के अपने-अपने दुकानदार बँटे होते, जहाँ वे अपनी रेजगारी बदलते। अस्सी पैसे में एक रुपया। भीख का कमस्तरीय अनाज बेचते, जिसे दुकानदार 'भीख का अनाज' में ढालकर फिर से बेचते। अंत में अपने सौदा-सुलुक ख़रीदकर अपने डेरे पर लौट आते।

दारोगा बाज़ार की गली में पहाड़ का एक बड़ा-सा कांटर है, जिसे पक्का करके आवासगृह बनाया गया है। टाट, बोरे, पॉलीथिन, जिसके पास जो रहता, उसे टाँगकर अपने सोने का इंतज़ाम करते।

लँगड़े, लूले, अंधे, हड़ीले, जवान, बूढ़े, औरत, मर्द, बच्चे सभी एक ही जगह रहते। सभी के पास अपना-अपना टिन का चूल्हा होता, जिस पर वे खाना बनाते। दिन डूबते-डूबते सभी खा-पीकर सो जाते। उन लोगों में किसी-किसी के पास ट्रांजिस्टर-रेडियो भी होता; जिससे लोगों का मनोरंजन हो जाता।

भिखारियों के दल का एक नियम कड़ा था। वे अपने दल में कुष्ठ रोगियों को नहीं रखते, चाहे वह किसी का संबंधी ही क्यों न हो! कुष्ठ रोगी भिखमंगे को वे सब अपनी पंगत में बैठने भी नहीं देते। यदि कोई कुष्ठ रोगी उस पंक्ति में बैठने का साहस करता भी तो भिखारियों के लड़के-बच्चे पत्थर, रोड़ियों से प्रहार करने लगते। हारकर कुष्ठ रोगियों को अलग जगह खोजनी पड़ती।

राम प्रसाद कुष्ठ रोगी था। वह भी महाकाल पर बैठता। उसके बैठने की जगह दूसरों से अच्छी थी। अधिक खुला हुआ और गोलाकार। दूब के आसन की तरह। अन्य भिखमंगों को उसकी यह ख़ूबसूरत जगह ख़ूब खटकती, लेकिन वे सब कुछ कर नहीं सकते थे। बहुत दिन पहले विंडमेयर होटल की मालकिन ने उसे इस जगह पर बैठने की इजाज़त दे दी थी। भिखमंगे कुछ नहीं कर सकते थे।

राम प्रसाद आराम से अपने जूते खोलता, पैर फैलाता, कभी हाथ या पैर की पट्टी भी खोलता। पैर की उँगलियाँ गलकर ठूँठ हो गई थीं। हाथ की अधिकांश उँगलियाँ ठीक थीं। रोग एकदम से ज़ाहिर हो चुका था, मगर हाथ-पैरों से काम कर सकता था। अन्य भिखारियों की तरह राम प्रसाद होटल की ओर दौड़ नहीं लगाता। अस्तबल के पास जो चाय की दुकान थी, वहीं से ख़रीदकर खाता। अपनी रेजगारी भी उसी दुकानदार के हाथ बेचता। और दोपहर में फिर महाकाल के टो-टोकर जगह बदलता। जिधर-जिधर धूप उधर-उधर राम प्रसाद। उस समय उसे रोकने वाला कोई नहीं रहता। जो दर्शनार्थी दोपहर में महाकाल जाते, उसमें से जाने कितने लोग राम प्रसाद को नेपाली गीत गुनगुनाते भी सुनते।

मगर भोर में वह एकदम चुपचाप बैठा अपनी बीमारी की परिचर्या करता। प्लेट में भीख गिरती तो ऊपर ताकता। दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता। दाता के आगे बढ़ते ही भीख को अपनी पोटली में रखकर, ख़ाली प्लेट दूसरे दानियों के लिए सड़क पर रख देता।

उस दिन भी भोर में वह वही कर रहा था जब एक विदेशी सैलानी वहाँ पहुँचा।

सैलानी को न जाने क्या सूझा कि उसने अपने लिफ़ाफ़े में से एक केक निकालकर राम प्रसाद के हाथ में दे दिया और ख़ुद भी दूसरा केक निकालकर, ज़रा-सा हटकर खाने लगा। राम प्रसाद ने ठीक सैलानी की नक़ल करते हुए अपने

...को दाँत से काटा। सैलानी को हँसी आ ... राम प्रसाद भी हँसने लगा।

उसी दिन चाय बागान में भी चार जन ... लोग घूमने आए थे। घूमते-फिरते चढ़ गए ... महाकाल की सड़क पर। विंडमेयर होटल ... सैलानियों को धूप सेंकते देखा। फुलवारी की ... देखी। फिर वे सब बढ़ गए। महाकाल पर ... तो पूजा करने की इच्छा भी हो आई। ... रास्ता उतरकर पूजा की सामग्री ख़रीदी। ... ऊपर गए। महाकाल की पूजा की। महाकाली ... पूजा की। महावीर जी के दर्शन किए। हर ... तिलक लगाया। सभी छुट्टे पैसे चढ़ाए। ... सब करते-करते वे सब अच्छा-ख़ासा थक ... हवाघर में चाय बिकते देख लोभ संवरण ... कर सके।

... चाय के पैसे देते समय एक व्यक्ति ने अपने ... में से सौ रुपए के दो नोट ग़ायब पाए। उसने ... अपने साथियों से कहा। चायवाली ने ... सुना और कहा, "जिस रस्ते से आए हैं, ... रस्ते खोजते जाइए। कहीं गिर गया होगा। ... जाएगा।"

लेकिन रास्ता वैसा बढ़िया नहीं था। सोमवार ... दिन। पूर्णिमा तिथि। उस पर से धूप। लोगों ... गजगज भीड़। चारों जन सर निहुराए खोज ... थे। जूते-चप्पल के अलावा और कुछ भी ... नहीं रहा था।

भिखारियों ने इसे लक्ष्य किया। एक ने पूछा, "... खो गए हैं क्या?"

"हूँ।"

"कितने पैसे थे?"

"दो नंबरी (सौ का नोट)।"

"कहाँ पर गिर गया?" तीसरे ने पूछा।

"इसी सड़क पर।"

"यह सड़क तो बड़ी लंबी है।"

...चारों जन कोई जवाब दिए बग़ैर अपने रुपए ... खोजने में लग गए। भिखमंगे आपस में बतियाने ... "होटल के फाटक के पास जो मोड़ है, ... वहीं नहीं गिर पड़ा?"

"वहीं गिरा होगा।"

"सबसे एकांत जगह वही है।"

"यहाँ गिरता तो जो उठाता, वह पकड़ा नहीं जाता?"

"उसी कोढ़ी ने लिया होगा!"

"हाँ, हाँ, उसी का काम है।"

"मुझे तो वह कभी भी अच्छा नहीं लगा! वहाँ उसे बैठने देना ही ग़लती है।"

"एक मछली मरी और पूरा पोखरा गँधाया।"

"बाबू जी, जल्दी जाकर पकड़िए उसे।"

"मार जूते से ठीक कीजिए उस कोढ़ी को!"

"धर्म के रास्ते पर ऐसा कुकर्म!"

"इतने दिनों से हमलोग बैठते हैं यहाँ पर। क्या मजाल कि कभी किसी का एक पैसा भी उठाया है। हाँ, ख़ुशी से जिसने जो दे दिया, महाकाल की दया समझकर माथे से लगा लेते हैं।"

"उसी दिन की तो बात है। एक सेठ ने एक दस टकिया मेरी प्लेट में गिरा दिया। मुझे लगा कि ग़लती से यह गिर पड़ा है। लौटाने के लिए अपनी बेटी को दौड़ा दिया। मगर काहे के लिए लेता वह! उलटा मेरी बेटी को ही एक रुपया और दे दिया। महाकाल बरकत दे उसे।"

"किसी-किसी का हाथ ख़ूब खुला होता है। उन्हीं के मनोरथ पूरे करते हैं महाकाल!"

चाय बागान के सैलानियों के पास इतनी बातें सुनने का धीरज नहीं था। वे सब अन्य लोगों को ठेलते-ठालते बढ़े उस कुष्ठ रोगी की ओर और उसे घूरने लगे।

राम प्रसाद उस समय भी केक खा रहा था। चार लोगों को एक साथ अपनी ओर देखते पाकर उसे हँसी आ गई। सैलानियों का संदेह पुष्ट होने लगा।

"लिया है तो दे दे। हमलोग किसी से कुछ नहीं कहेंगे।"

"कौन-सी चीज़?"

"रुपए।"

"दो सौटकिया नोट।"

"इनकी जेब से यहीं गिर पड़ा था।"

"कौन-सी जगह पर?"

"यहीं पर। जिस समय तुम्हें पैसे दिए, उसी समय।"

"मुझे तो केवल दस पैसे दिए थे।"

"बीस पैसे। और ग़लती से नोट गिर गए, जिसे तुमने उठा लिया।"

राम प्रसाद ने जवाब दिए बग़ैर अपने पैसों की पोटली खोली। बीस पैसे के सभी सिक्कों को उलट-पुलटकर देखा। एक सिक्का आगे बढ़ाकर बोला, "हे, यही। यही बीस पैसे आपने दिए थे। देख लीजिए।"

"यह नहीं। नोट। सौ-सौ रुपए के दो नोट।"

दर्शकों की भीड़ खड़ी होकर तमाशा देखने लगी। कुछ भिखमंगे भी आ गए। कुछ मस्तान, जो ख़ुद को महाकाल के स्वयंसेवक की उपाधि देते हैं, वे सब भी वहाँ त्वंचाहंच सुनकर पहुँच गए।

चाय बागान के सैलानियों के बदले अब वे लोग ही बहस करने लगे। जिनके पैसे खो गए थे, वे सब तो दर्शक बने खड़े थे।

केक खाते-खाते वह सैलानी भी महाकाल तक पहुँच गया। जो दृश्य अच्छे लगे, कैमरे में समेटते हुए लौटने लगा। फूलवाले के पास किसी के किकियाने की आवाज़ कानों में पड़ी। भिखमंगों की संख्या भी कम जान पड़ी। ऊपर चढ़ते लोगों के भाव उत्तेजनापूर्ण और नीचे उतरते लोगों के चेहरों पर कौतूहल क़े भाव थे।

सैलानी अपनी स्वाभाविक चाल में नीचे उतर गया। देखा, राम प्रसाद किकिया रहा था। मस्तान लोग उसे पीट रहे थे। भिखारी छोकरे पेड़ से टहनी तोड़-तोड़कर उसे छौंकिया रहे थे, जैसे कोई खेल हो।

एक छौंकी राम प्रसाद के गाल पर पड़ा। राम प्रसाद किकिया उठा।

"स्टॉप इट!" सैलानी राम प्रसाद के गाल पर हाथ रखते हुए चिल्लाया।

"साहब! यह चोर है, चोर!"

सैलानी की समझ में कुछ भी नहीं आया। होटल का बेयरा भी तमाशा देख रहा था। वह अंग्रेज़ी में बोला, "इसने रुपए चुराए हैं।"

"कितने?"

"दो सौ?"

"तुमने देखा है?"

"नहीं, मगर सभी इसी का नाम ले रहे हैं।"

"साहब, आपने तो मुझे छुआ भी है। आप ही मेरा सब कुछ खोलकर दिखा दीजिए। मुझसे तो जितना बन पड़ा, दिखा दिया।"

सैलानी राम प्रसाद की भाषा नहीं समझता था, लेकिन चेहरे के भाव देखकर अनुमान लगा सकता था।

राम प्रसाद कलप रहा था, "साहब! ये लोग मुझसे छूत मानते हैं। आप तो मुझसे घृणा नहीं करते हैं। आपने मुझे अपनी रोटी जैसी ही रोटी खाने को दी। आप ही मेरा सब कुछ दिखा दीजिए। आप यदि मुझे नंगा भी कर देंगे तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।"

सैलानी ने अपनी पीठ से बैग उतारा। नाइलॉन की रस्सी से बँधी गाँठ खोली।

दर्शक वर्ग, मस्तानों का गिरोह, भिखमंगों का दल—सभी कौतूहल से भर गए। सैलानी ने अपने कपड़े वग़ैरह उलटते-पुलटते हुए अपना बटुआ निकाला। बटुए के भीतर हाथ देकर दस रुपए के नोट की गड्डी निकाली। गिनकर बीस नोट निकाले और पूछा, "किसके रुपए चोरी हुए हैं?"

"इनके।"

"ये लीजिए।"

"नहीं, नहीं। आपके रुपए हम क्यों लेंगे!" उसने अंग्रेज़ी में कहा।

"आप इंग्लिश जानते हैं?"

"हम लोग इंग्लिश जानते हैं।" चारों ने गर्व से कहा।

"रुपए भीतरी पॉकेट में रखा कीजिए। तात्कालिक ख़र्च के लिए थोड़े-मोड़े पैसे पॉकेट में रखिए। तब नुक़सान की संभावना कम रहेगी।"

भारी नुक़सान हुआ है। ये ले लीजिए।''
ने रुपए बढ़ाए।

"नहीं, नहीं, हमें नहीं चाहिए!''

"तो फिर इसे मत मारिए। मुझे यक़ीन है कि नहीं लिए हैं।''

"हम लोग भी दुखी हैं। मगर भीड़ का आक्रोश में रखना नामुमकिन हो जाता है।''

"वह अस्पताल नहीं जा सकता है?'' उन ने सैलानी के वाक्य का अनुवाद करके प्रसाद से पूछा।

प्रसाद ने साहब की ओर देखकर भीगे में कहा, "मैं अस्पताल में था साहब। अभी भी तीन महीने पर दवा लेने जाता हूँ। मगर वहाँ रह नहीं सकता। हम लोगों का राशन कर्मचारी आपस में बाँट लेते हैं। महाकाल साक्षी हैं, यदि एक शाम भी भरपेट खाना मिला हो। इसीलिए महाकाल की शरण में आ गया। सो आज महाकाल ने भी छोड़ दिया। चोरी का झूठा कलंक मढ़ दिया।''

सैलानी ने अनुवाद सुनने के लिए चाय बागान के सैलानियों की ओर देखा। सभी चुप थे। ऐसी कथा का अनुवाद कोई देसी सैलानी किसी विदेशी सैलानी को कैसे सुनाता?

इ. हरिकुमार

बेचारा गाँववासी

अंत में बहुत दिनों की नीरसता के बाद पड़ोस में एक घटना हुई। वहाँ अकेले रहने वाले बूढ़े ने आत्महत्या की। उस बँगले में अस्सी साल का बूढ़ा अकेला रहता था। उनकी बेटी मंगलापुरम में पति के साथ रहती थी। पोती बीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित कॉलेज में पढ़ रही है। वह हॉस्टेल में रहती है। दो हफ़्ते में एक बार या महीने में एक बार वह दादा के यहाँ आती थी जब उसे अकेले बैठ पढ़ने का मन करता था।

सुबह ख़बर पाकर जब हम वहाँ पहुँचे तो बूढ़ा चारपाई पर लेटा हुआ था। बाएँ हाथ के घाव से बिस्तर पर गिरा ख़ून सूखने लगा था। उनके चेहरे पर कोई ग़म नहीं, वे संतृप्त लग रहे थे।

कई सालों से हमारे गाँव में घटनाओं की पुनरावृत्ति होती आ रही है। हम लोग आपस में मिलने पर हँसते नहीं थे। यह इसलिए था कि मिलने पर पुरानी यादें ताज़ी हो जाएँ तो, इसलिए हम मुँह मोड़ लेते थे। गपशप के लिए कुछ नहीं था क्योंकि कोई घटना होती ही नहीं थी। हम उन बातों से डरते थे जिसमें कोई नयापन नहीं था। सुबह उठकर नहा-धोकर नाश्ता करके दुकान या कार्यालय जानेवाले पति, पीठ पर भारी बैग लेकर उतरे हुए चेहरे के साथ स्कूल जाते बच्चे, उसके बाद बुदबुदाकर घर का काम-काज निपटाकर दोपहर के लिए खाना पकाने में लगी औरतें। हर दिन यही दिनचर्या इसलिए हम किसी से संपर्क नहीं रखते थे। गाँव में साइकिल दुर्घटना में किसी का हाथ-पाँव टूटना तो दूर किसी की उँगली कट जाए तो भी बड़ी-सी घटना होती। हमें कभी-कभी चौंकाने वाले चोर भी ज़्यादा लाभ के लिए गाँव छोड़कर चले गए।

मीडिया को शुक्रिया कि हमें दूसरे देशों में होने वाली घटनाओं की जानकारी मिलती है। रेलयात्रियों को आलू भूनने की सरलता से भूनना, घर में घुसे लोगों को बाहर निकालकर हत्या करना, फिर उनके घरों को जलाना तथा मानव बम के रूप में कई लोगों की हत्या की जानकारी हमें मिलती है। टी.वी. के दृश्य हमें नशा पहुँचाते हैं। वहाँ के लोग भाग्यशाली हैं। केवल हमारे गाँव के लोग...इंतज़ार में हैं...ऐसे में...पुलिस के आने में देरी होगी। तब तक हम इस दुर्घटना को लेकर ख़ुश हो सकेंगे। आज हम कार्यालय

मलयालम रचनाकार इ. हरिकुमार का जन्म 1943 में हुआ। इनके 11 कहानी-संग्रह, छह उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। केरल साहित्य अकादमी, पद्मराजन तथा अन्य कई पुरस्कार प्राप्त। संपर्क : 404, गोविंद अपार्टमेंट, कलत्तिपरंपु रोड, कोच्चि-16

अनु. संतोष अलेक्स

जाएँगे, दुकानें नहीं खोलेंगे। कम-से-कम के आकर शव को एंबुलेंस में ले जाने हमें ख़ुशी मनाने की आज़ादी है।

के रिश्तेदार एक-एक कर आने लगे। लोगों ने अंदर चारपाई के पास जाकर एक देखा, फिर बाहर आकर अपने अन्य रिश्तेदारों ढूँढ़ निकालकर बनावटी गंभीरता में बातें लगे। जो रिश्तेदार नहीं पहुँचे उनको ख़बर के लिए युवकों को भेजा। यह भी पता कि बेटी को ख़बर दी है या नहीं। फिर से संपर्क करने की कोशिश हुई। आधे घंटे कोशिश के बाद अंत में मोबाइल कनेक्ट और जैसे ही बात पूरी हुई डिस्कनेक्ट भी हो गई।...बड़ा ही विचित्र दृश्य था। इस प्रकार के दृश्य के लिए गाँववालों को कितना समय इंतज़ार करना पड़ा।

रोती हुई सीढ़ियाँ पार कर पोती आई। रो-रोकर उसकी आँखें लाल हो गई थीं। जैसे ही वह सीढ़ियाँ चढ़ आई रिश्तेदार उसे अंदर ले गए। अंदर से उसकी सिसकियाँ सुनाई दे रही थीं। दस मिनट में गवाह बाहर निकले। अपनी ख़ुशी को छिपाकर नक़ली सांत्वना में वे यह समझाने लगे कि कैसे पोती दादा के ऊपर गिर रो पड़ी, दूसरों ने उसको कैसे समझाया वग़ैरह-वग़ैरह। पहला व्यक्ति जब बता रहा था तो बीच-बीच में वह रुक जाता था। यही नहीं वह सही

बात नहीं बता पा रहा था। यह देखकर दूसरे ने आँखों देखा हाल सुनाने का ज़िम्मा उठा लिया। बात करते-करते वे अंदर की ओर गए।

अब तो जैसे समाचारों का प्रलय ही था। पोती कल ही वापस हॉस्टल लौटी। दादा भूखे थे। ऐसा नहीं कि उनके पास रुपए नहीं थे। या तो उनसे खाना बनाना वग़ैरह नहीं होता या फिर जीने की निरर्थकता के कारण। सुबह खाना बनाकर घर की सफ़ाई करने वाली नौकरानी बीमार हो गई इसलिए एक हफ़्ते से वह नहीं आई। दादा की हालत देखकर हॉस्टल छोड़ हर दिन भीड़ भरी बस में चालीस किलोमीटर की यात्रा करने के बजाय दादा जी के पास रहना पोती की त्यागशीलता थी। सालों से हमें किसी प्रकार की ख़ुशी नहीं मिली, ऐसे में आज जो ख़ुशी मिली उसे बीस साल वाली की त्यागशीलता के आगे ठुकराना नहीं चाहते थे। एक दूसरा पहलू भी है। शायद पोती की त्यागशीलता से डरकर कई महीनों और सालों तक जी सकने वाले दादा ने अपनी ज़िंदगी ख़त्म कर ली। अपनी मृत्यु से उन्होंने पोती की त्यागशीलता का करारा जवाब दिया।

नौकरानी रसोई घर के बरामदे में बैठ रो रही है। उसको बहुत बड़ा धक्का लगा। रोती हुई उसने कहा, "बाहर के कमरे में पड़ी हुई चारपाई ले जाने की अनुमति दादा ने दी थी। उसी दिन ले जाना था। पति को बताया तो कहें कि व्यस्त हैं, बाद में ले जाएँगे। उनकी व्यस्तता की ऐसी की तैसी! अब मेरी बातों पर कौन विश्वास करेगा...मेरी नियति है।"

पुलिस की जीप पहुँच गई। लोग दोनों छोर पर खड़े हो गए। अब मज़ा आएगा। हम लोग टी.वी. में प्रसारित एक भी धारावाहिक नहीं छोड़ते, सब देखते थे। हमारी नीरसता को एक हद तक टी.वी. धारावाहिक दूर करती थी जो ज़िंदगी से किसी प्रकार की भी निकटता नहीं रखते फिर भी दर्शकों को अंत तक बाँधे रखती थी। हम यह जानते हैं कि व्यक्ति के आत्महत्या करने पर पुलिस आएगी और आस-पड़ोस के लोगों से पूछताछ करेगी। पुलिस के आने से माहौल बदल जाता है। पूछताछ के दौरान हाथापाई होगी। लेकिन हमें निराशा हाथ लगी। ऐसा कुछ नहीं हुआ। पुलिस को मालूम था कि लोगों का ध्यान उन पर है, इसलिए वे बड़े शान से चले। वे रसोई या अन्य कमरे में न जाएँ इसलिए रिश्तेदार उन्हें "आइए, आइए" कहकर कमरे में ले गए। हमको यह समझ लेना चाहिए था कि धारावाहिकों में ज़िंदगी की सच्चाइयों को नहीं दिखाया जाता। अब कहकर भी क्या फ़ायदा?

फिर एंबुलेंस और साथ में दो पुलिस वाले आए। रिश्तेदारों की सहायता से बूढ़े के शरीर को सूखी लकड़ी-सा उठाकर एंबुलेंस में रखा गया। एंबुलेंस के गेट पार कर जाने पर हमने सोचा, बस इतना ही। इतने सालों से हम लोग इंतज़ार किए यही देखने के लिए!

कमरे से बाहर निकले लोगों ने ज़्यादा विवरण दिए। बूढ़े के बारे में, परिवार के बारे में, उनकी पत्नी की मृत्यु छह साल पहले हुई आदि। यह तो हमें मालूम है। हमने तो उनकी पत्नी को देखा है। वह औरत हमेशा आँगन में या अहाते में दिखाई देती थी। नारियल के पेड़ का सूखा पत्ता गिरने पर उसे उठाकर रसोईघर ले जाती थी। बाड़े के उस पार झोंपड़ी में रहनेवाले उसे उठाकर ले जाएँ, उससे पहले ही ले जाती थी। रसोई में कूकिंग गैस की सुविधा है। बेटी लकड़ी जलाकर खाना पकाना पसंद नहीं करती। मंगलापुरम से छुट्टियों में आने पर रसोई से लकड़ी की गंध आने पर वह माँ को डाँटती, "माँ तुम इतनी कंजूसी किसके लिए कर रही हो...!" फिर वह सूखी टहनियों को नारियल के पेड़ के नीचे जमा कर जला देती। जो भी हो पड़ोस के ग़रीबों को फ़ायदा नहीं मिलता। उनका कहना

…कि ग़रीबों की सहायता कर उसे स्वर्ग नहीं …रना है। वह औरत एक दिन सूखी डाली …तरह आँगन में गिर पड़ी। सूखी लकड़ियों …जलाने जैसा उनका शरीर भी अहाते में…

…पत्नी की मृत्यु के बाद बूढ़ा अकेला हो गया। …ना कि दादा कुछ खाता-पिता नहीं था!" …ने कहा। इकट्ठे हुए लोगों में एक इतिहासकार …था जिनके चारों ओर भीड़ जमा थी। उन्होंने …सी जानकारी दी जो दूसरों के पास नहीं थी। …वह चाहता था कि दूसरे लोग उसकी बातों …नहीं समझे, इसलिए वह एक वाक्य या छोटे …शब्दों में कहता, "परसों वह लड़की कॉलेज …" बाक़ी की बात कहने के लिए वह होंठ …ताता…"तब पता चला।" शायद उनका …लब यही था। नौकरानी के एक हफ़्ते से छुट्टी …होने के कारण खाना नहीं बना। बूढ़ा बिना …जन के एक हफ़्ता रहा। सभी सुविधाओं के …ते…

"अरे, हम सबके पड़ोस में होते हुए भी …!" इतिहासकार का नज़रिया बदला। …री ख़ुशी में बाधा पहुँचाने वाला यह आदमी …रे गाँव का नहीं लगता। शायद किसी दूसरे …व का होगा। साले की हमदर्दी! मन में सोचा …कि उससे निपटूँ कि इतने में एक कार गेट के …स आकर रुकी। बूढ़े की बेटी और पति बाहर …कले।

पीले रंग की साड़ी और स्लीवलेस ब्लाउज़ …ने चालीस साल की औरत। उनके पीछे सफ़ारी …ट पहना हुआ पति। बाएँ हाथ की तर्जनी में …चाबियों को घुमाते हुए वह सबको देखकर हँसा। लोगों की भीड़ देखकर बेटी में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हुई। न दुख, न आँसू। रिश्तेदार उन्हें लेने गेट पर गए।

"हम नॉन स्टॉप ड्राइव कर आए।" उसके पति ने कहा, "सुबह साढ़े सात बजे रवाना हुए। अब एक बज गया है।"

"साढ़े पाँच घंटा!" एक आदमी ने कहा, "मतलब आपने बहुत बढ़िया ड्राइविंग की है।" पति के चेहरे पर गर्वीला भाव था। पत्नी आगे चली।

"ले गए…इस प्रकार की मृत्यु का बिना पोस्टमार्टम के…"

हम लोगों पर नीरसता छाने लगी। ऐसा ही रहा तो… ? अब पोस्टमार्टम के बाद शव लाने पर जो सीन होगा उसी की प्रतीक्षा है। अंतिम सीन। बूढ़े की बेटी और दामाद सुरक्षा दल के सहारे अंदर गए। अचानक पोती के रोने की आवाज़ सुनाई दी, क्षण भर के लिए। हम लोग इंतज़ार कर रहे थे, लाइव रिपोर्ट के लिए। इतिहासकार जो हमारा रिपोर्टर भी था—अंदर हो रही बातों की ताज़ा ख़बर लेकर आया, "बेचारी लड़की रो रही है। माँ उसे डाँट रही है। दादा को अकेला छोड़ मैंगलूर जाने पर…"

हम लोग बिना किसी रोमांच के जीने के लिए मजबूर हैं। अब इंतज़ार करने से कोई फ़ायदा नहीं है। एंबुलेंस आएगी, सफ़ेद कपड़ों में लिपटे शव को चार-पाँच लोग उतारेंगे, आँगन में उसे लिटाया जाएगा, फिर…

कुछ नहीं हुआ। दुखी मन से हम गाँव वाले उस घर की सीढ़ियाँ उतरे।

नंद भारद्वाज

दूसरी औरत

सब कुछ अचानक ही हो गया था जैसे। सगाई और ब्याह के बीच का फ़ासला इतना कम रहा कि उसे और कुछ सोचने-बूझने का अवसर ही नहीं मिला। कपड़े से बनी गुड़िया की तरह उसे यहाँ से वहाँ ऐसे कर दिया गया जैसे उसकी अपनी सहमति-असहमति का कोई अर्थ न हो। बस, इतनी जानकारी अवश्य थी कि अमुक तारीख़ को उसके साथ यह होना है और उसका मौन ही इसकी स्वीकृति थी। अलबत्ता गाँव की बड़ी-बूढ़ियों के स्वर में अचानक आ रही उस नई हमदर्दी से उसे कुछ आशंका तो अवश्य हो रही थी कि ज़रूर कोई नई बात हो रही है, लेकिन फिर यही सोचकर कि ऐसी हमदर्दी तो बिना माँ की बेटी के लिए इन मौक़ों पर हुआ ही करती है, उसने इस बात को ज़्यादा तवज़्ज़ो नहीं दी। वैसे भी उसके जैसी लड़कियों को आरंभ से ही यही समझाया गया था कि माँ-बाप और घर के बड़े-बुज़ुर्ग जो भी करते हैं, औलाद का अच्छा-भला सोचकर ही करते हैं।

आख़िर वह घड़ी आ ही गई। उसे घर-परिवार के रीत-क़ायदे के अनुसार सजा-सँवारकर समय आने पर ब्याह की वेदी पर लाकर बिठा दिया गया। चँवरी की मद्धिम लौ की ओर देखते हुए एकबारगी उसकी इच्छा हुई थी कि इस हल्के उजास में वह अपने होने वाले पति को एक नज़र देख अवश्य ले, लेकिन दुल्हन के गोटे-किनारीदार पहनावे और मोटे घूँघट के पार कुछ भी स्पष्ट देख पाना असंभव था। रोशनी के नाम पर फ़क़त दो लालटेनें थीं, जो आजू-बाजू की दीवारों पर टँगी थीं। चँवरी में रखी समिधा से उठता धुआँ सीधा उसी की ओर आ रहा था और ऐसी घुटन हो रही थी कि और कोई मौक़ा होता तो वह उठकर भाग गई होती। ताई जी की हिदायत के मुताबिक वह चँवरी में काठ की मूरत बनी बैठी रही। एकाध बार खाँसने और गला साफ़ करने की ज़रूरत महसूस भी हुई, लेकिन उसने जतन से खाँसी को अंदर ही दबा लिया। पंडित जी ने हथलेवे के बतौर पहली बार जब पास बैठे अनजान-से शख़्स के हाथ में उसका कोमल हाथ दिया तो वह एक ठंडे और खुरदुरे स्पर्श से सिहर-सी उठी। गनीमत थी कि उनकी हथेलियों के बीच मेंहदी का एक छोटा-सा पिंड भी रख

हिंदी-राजस्थानी रचनाकार नंद भारद्वाज का जन्म 1948 में हुआ। कविता, आलोचना, उपन्यास की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत हुए हैं। संपर्क : 71/247, मध्यम मार्ग, मानसरोवर, जयपुर 302020
फ़ोन : 0141-2782328, 2784179

अनु. स्वयं

...गया था और उस हस्त-बंधन को एक-...वस्त्र से ढँक दिया गया था। फेरों की पूरी ...के दौरान वह अपने-आपको एक खुरदुरे ...ठंडे बंधन में बँधा हुआ महसूस करती ...पूरे अनुष्ठान में चँवरी की वेदी से आग ...लपटें और धुआँ उठता रहा और पंडित जी ...ख़ास पूजा-पाठी लहजे में मंत्रोच्चार करते ...बीच-बीच में उनसे भी कुछ दोहराने को ...जाता रहा, जिसमें उसकी भागीदारी नगण्य-...ही रही—कुछ तो संकोच के कारण और ...शायद अपनी ओर आते उस धुएँ के कारण। ...की पीठ के ऐन-पीछे गाँव-घर की औरतें ...गाती रहीं। उसकी दो-तीन हमउम्र सहेलियाँ, ...उसके पास ही बैठी थीं, एक विचित्र-से ...में हँसती रहीं। उनकी फुसफुसाहट से ...तो ज़रूर लगा कि उनकी हँसी का लक्ष्य ...का होने वाला पति ही है, पर इससे आगे वह ...ई ख़ास अर्थ नहीं निकाल पाई। चँवरी के ...तरफ़ ताई और ताया जी गठजोड़ा किए बैठे ...उन्हें इस जगह बैठा देखकर फिर एक बार ...माँ के न होने का गहरा दुख हुआ, वे अगर ...होतीं तो आज वे और उसके पिता ही इस ...बैठे होते। ताई-ताया के कारण ही शायद ...कियाँ ज़्यादा खुलकर बात नहीं कर पा रही ...एकाध बार ताया जी ने उन्हें डाँट भी दिया ...फिर पूजा, अनुष्ठान, फेरों, सेवरों, गऊदान ...गीतों के बीच कब उसके भाग्य का निपटारा ...गया, उसे कुछ भी सुध नहीं रही।

...चँवरी का काम जल्दी ही निपट गया। ड्योढ़ी ...गठजोड़ा खुलने के बाद वह गीत गाती औरतों ...साथ वापस घर के आँगन में आ गई थी, ...जल्दी ही उसे आँगन से हटाकर फिर ...छोटी-सी अँधेरी कोठरी में लाकर बिठा ...गया, जहाँ डेढ़ घंटा पहले उसे दुल्हन के ...में सजाया गया था।

वह आँगन पर बिछी चटाई पर बैठ गई। दीवार के छोटे-से ताखे में दीया जल रहा था। छोटी भाभी ने पानी का लोटा लाकर रख दिया और फिर मनुहार करके पिला भी दिया। घर में यह भाभी ही एक ऐसी औरत थी, जो सही मायने में उससे लगाव रखती थी। बाहर आँगन में चहल-पहल थी—लोग जल्दी-जल्दी आ-जा रहे थे। शायद बारात को ख़ाना खिलाने की तैयारी हो रही थी। भाभी पानी पिलाकर वापस लौट गई थी और वह फिर कुछ क्षणों के लिए अकेली हो गई। चँवरी के धुएँ और घूँघट के कारण उसे जो अमूजा (घुटन) हुआ, उसके कारण वह सिर में हल्का दर्द महसूस कर रही थी। वह थोड़ा आराम करने के लिए चटाई पर ही लेट गई थी और थकान के कारण उसकी आँख लग गई।

उस कच्ची नींद में वह किसी सपने के बीच थी शायद, किसी तालाब के गहरे जल में उतरती हुई—अकेली। डूबने को ही थी कि जैसे उसे किसी ने आकर पकड़ लिया हो और वह ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ें दे रहा हो। लगा कि जैसे कोई उसे झिंझोड़कर जगाने का प्रयास कर रहा है। गर्मी और उमस के कारण वह पसीने से भीग गई थी। हड़बड़ाकर उठते हुए अनायास ही उसके मुँह से निकल गया, ''कौन है ?...ओह, भाभी!'' वह सीधी होकर बैठ गई।

''क्या हुआ, इतनी जल्दी ही नींद आ गई गीता बाई ?'' भाभी हँसते हुए पूछ रही थी।

''हाँ, यूँ ही थोड़ी आँख लग गई थी।'' उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

''अच्छा, चलो उठो, अब खाना खा लें! सब लोग तुम्हारा इंतज़ार ही कर रहे हैं।'' वह बिना कुछ बोले उठ गई और भाभी के साथ बाहर आँगन में आ गई। आँगन में गाँव की औरतें चार-चार, पाँच-पाँच के समूह में थालियों पर बैठी खाना खा रही थीं। उन्हीं के बीच एक

थाली पर उसकी चचेरी बहनें और भाभियाँ उसका इंतज़ार कर रही थीं। आज पहली बार उसे कोई बुलाकर खिला रहा था। वह उनके साथ ख़ाली जगह पर बैठ गई। उसे वाक़ई भूख लग आई थी। खाना खाते हुए वह फिर अपने आप में खो गई।

आधी रात को जब सारा घर शांत था, उसे भाभियाँ और उसकी सहेलियाँ धकेलते हुए पास ही ताऊ जी के घर में ले आईं, जहाँ नए बन रहे आसरे (झोंपड़े) में एक खाट बिछी थी। आसरा अभी नया ही बना था, दरवाज़े पर किवाड़ भी नहीं लगे थे। ऊपर छत के नाम पर लकड़ियों को आपस में जोड़-बाँधकर छाजन के लिए आधार तैयार कर लिया गया था, लेकिन छाजन का काम अभी बाक़ी था। छत की लकड़ियों के बीच से चाँद की पीली रोशनी छनकर अंदर आ रही थी, जिससे आसरे में थोड़ा उजाला था और ऊपर से खुला होने के कारण हवा भी अच्छी आ रही थी। वह संकोच करती हुई सूनी खाट के पास जाकर खड़ी हो गई। जो सहेलियाँ उसे यहाँ तक पहुँचाने आई थीं, उनमें से उसकी भाभी को छोड़कर बाक़ी सब लौट गई थीं। भाभी ने आग्रह करके उसे खाट पर बिठा दिया और ख़ुद भी कुछ क्षण के लिए उसके पास बैठ गई थी। वे आपस में कुछ बात करती उससे पहले ही उन्हें आँगन में प्रवेश करती औरतों का हँसी-ठट्ठा सुनाई दे गया और अगले ही क्षण एक पुरुष आकृति दरवाज़े पर प्रकट हो गई। भाभी के साथ वह भी खाट से उठकर खड़ी हो गई। भाभी ने हल्के-से उसका हाथ दबाते हुए उससे विदाई ली और आसरे से बाहर हो गई। वह फिर शर्म और आशंका से अपने आप में सिमटकर रह गई। आसरे में एकबारगी सन्नाटा-सा छा गया था। वह चुपचाप खाट के पायताने की ओर बैठ गया था। इस घर में आज कोई नहीं था। सब शादी वाले घर में थे। जो औरतें अभी-अभी उन्हें अकेला छोड़कर गई थीं, बाहर गली में अब भी उनके हँसी-ठट्ठे की आवाज़ें दूर जाती हुई सुनाई दे रही थीं। कुछ क्षण चुपचाप बैठे रहने के बाद उसने जेब से एक बीड़ी निकालकर सुलगाई। जलती हुई तीली की रोशनी में एकबारगी उसका चेहरा आलोकित हुआ-एक अधेड़-सा औसत चेहरा, जो अगले ही क्षण अँधेरे में आकृति भर रह गया था। उसने फिर एक कश खींचा और पीला उजास फिर उसके चेहरे पर फैल गया। इस बार उस चेहरे की ओर देखने का कोई उत्साह उसमें नहीं रह गया था। धुएँ का एक गुब्बार अनायास ही उसके मुँह से बाहर निकला और उसकी ओर बढ़ गया। शायद हवा का रुख उसी की ओर का रहा कि उस धुएँ के कारण वह खाँसी में उलझ कर रह गई।

"क्या हुआ?" कहते हुए उसने बीड़ी एक तरफ़ फेंक दी और खड़े होकर उसकी बाँह को थामते हुए उसे खाट पर बैठने का आग्रह किया, "आओ, बैठ जाओ!" वे दोनों खाट पर बैठ गए। उसकी पीठ सहलाते हुए उसने फिर पूछा, "कैसी हो, ठीक तो हो ना?"

इस अजनबी-से लगने वाले पुरुष से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करते हुए उसने इतना ही कहा, "जी मैं ठीक हूँ।" और वह सिरहाने की तरफ़ उससे थोड़ी दूर खिसककर बैठ गई।

"लो!" कहते हुए फिर उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया, जिसमें कुछ सुपारी, इलायची और गोलियाँ थीं शायद। उसने सकुचाते हुए एक सुपारी उठाकर अपने हाथ में ले ली, लेकिन खाई नहीं। वह अपने भीतर उससे बात करने का कोई उत्साह नहीं महसूस कर पा रही थी। वह उसकी बग़ल में धीरे-से लेट गया और उसके नर्म हाथ को अपनी खुरदुरी अँगुलियों से सहलाने लगा। उसे फिर एक बार उस खुरदुरेपन

सिहरन-सी होने लगी, लेकिन उसने अपना छुड़ाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। धीरे-धीरे वह उस स्पर्श से सहज होने का प्रयत्न करने लगी, लेकिन अभी अपनेपन का भाव कहीं आस-पास भी नहीं दीख रहा था। उसके संकेत पर वह भी उसकी बग़ल में लेट ज़रूर गई थी, लेकिन नितांत असहज-सी। बातचीत और हाव-भाव से वह उसे भला लगने लगा, लेकिन उसे यह देखकर अचरज भी हुआ कि उसमें अनुचित उत्साह, उत्तेजना या उतावलेपन का कोई भाव नहीं था। उसके बोलने के अंदाज़ में एक ख़ास तरह की प्रौढ़ता थी। वह देर रात तक अपने घर और ख़ानदान के बारे में उसे बताता रहा। वह शायद अपनी निजी ज़िंदगी के बारे में कुछ और भी बातें करना चाह रहा था, लेकिन उसकी उन बातों में जैसे कोई दिलचस्पी नहीं रह गई थी। बेमन से सुनते-सुनते कब उसकी आँख लग गई, उसे पता ही नहीं चला।

देर रात में देह पर बढ़ते दबाव के चलते जब उसकी आँख खुली तो उसने अपने आपको पहली बार एक पुरुष की बाँहों में अवश पाया। मन की थकान और कच्ची नींद ने चँवरी और फेरों के सारा प्रसंग को भी एकबारगी भुला-सा दिया था, सो अनायास उसके मुँह से चीख़-सी निकल पड़ी, लेकिन अगले ही क्षण उसने प्यार से डाँटते हुए अपनी हथेली से उसका मुँह बंद कर दिया और किसी अनहोनी की आशंका में वह स्वयं भी सहम-सी गई। आख़िर वही हुआ, जो बलात् उसने चाहा। एक अनजान-सी पीड़ा और असहजता में वह अपने आप में सिमटी पड़ी रही। थोड़ी ही देर में सब-कुछ शांत हो गया। सारी रात वह फिर नहीं सो पाई।

भोर के उजाले में जब पहली बार उसने ग़ौर से अपने पति के चेहरे की ओर देखा तो उसका घिनौना मुँह को हो आया। कोई चालीस के आस-पास की अधेड़ अवस्था को पार करता नरसाराम अब उसका पति नामजद हो चुका था। नींद में उसकी मुखाकृति और भी बिगड़ गई थी। सिर पर बिखरे हुए अधपके-से उड़ते बाल, बीड़ी और तंबाकू के सेवन से काले पड़ते होंठ और पक्का गेहुँआ रंग। हाथों-पाँवों की नसें उभरी हुईं और खुरदुरी हथेलियाँ। पति के रूप में मिली इस मानवीय आकृति को देखकर वह घबरा गई और एकाएक खाट से उठ खड़ी हुई। उसे चक्कर-सा आने लगा। वह आसरे के बीच लगे खंभे का सहारा लिए न जाने कितनी देर उस सोए हुए पुरुष को फटी आँखों से देखती रही, तभी बाहर आँगन में किसी के आने की आहट हुई। वह सँभलकर भारी मन से दरवाज़े से बाहर आई तो सामने अपनी भाभी को खड़ा पाया। भाभी को देखकर वह अपने मन पर क़ाबू नहीं रख पाई और उसके कंधे से लगकर सुबक पड़ी।

गीता की सिसकियों और भाभी की सांत्वना से शायद अंदर सोए नरसाराम की नींद खुल गई थी। वह खँखारकर उठा और कपड़े-जूते पहनकर आसरे से बाहर आ गया। झेंपता हुआ-सा वह दोनों के पास से गुज़र गया। उसके घर से बाहर चले जाने के बाद वह सुबकती हुई फिर उसी आसरे में घुस गई और खंभे को पकड़कर फफक पड़ी। न वह खुलकर रो ही पा रही थी और न अपने को सँभाल ही। उसकी हालत और रुलाई देखकर उसकी भाभी की आँखें भी भर आईं, उसने भर्राए हुए गले से गीता को सांत्वना देने की कोशिश की, लेकिन सब व्यर्थ। उन दोनों की उम्र में विशेष अंतर नहीं था और वह गीता के दर्द को समझ पा रही थी। वह स्वयं मन से इस शादी के पक्ष में नहीं थी, लेकिन अपने ससुर और ताऊ-ससुर की इच्छा के आगे विवश थी। उसने अपने पति और गीता के भाई दुरगे से भी कहा, लेकिन वह भी बड़ों के सामने अपने को असहाय पा रहा था।

गीता के जनम के डेढ़ बरस बाद ही उसकी माँ एक साधारण-सी बीमारी की चपेट में आकर चल बसी थी। कमज़ोर तो वह पहले से ही थी, गीता को जनम देने के बाद और भी कमज़ोर हो गई। पास के गाँव के वैद्य को दिखाने पर उसने बताया कि ख़ून की कमी है, थोड़ा खाना-पीना सुधारो। गीता के बाप जीयाराज ने बच्चों के हिस्से की ख़ुराक काटकर भी पत्नी को बचाने की कोशिश की, लेकिन आख़िर वह नहीं बच सकी। एक दिन रात को तेज़ बुख़ार आया और दूसरे दिन सवेरा होते-होते उसने प्राण त्याग दिए।

गीता अपनी माँ की सातवीं संतान थी। एक भाई और एक बहन तो बचपन में ही गुज़र गए थे। बाक़ी तीनों भाई और बहन हीरां उससे बड़े थे। सबसे बड़ा भाई गोमा बहुत बरस पहले घर से अलग हो गया था। उसका ब्याह होने के समय गीता तीन बरस की बच्ची थी। मँझला भाई रूपा बाप के साथ खेत में हाड़-तोड़ मेहनत करता था, लेकिन अकाल के आगे दोनों बाप-बेटे बेबस थे। रूपे से छोटा भाई दुरगा संयोग से पास ही क़सबे में जंगलात वाले महकमे में चौकीदार हो गया था। उसकी वजह से अकाल बरस में घर की थोड़ी-बहुत मदद हो जाया करती थी। हीरां दुरगे से दो साल छोटी थी और अभी तीन बरस पहले ही जीयाराम ने ज़माने के अच्छे आसार देखकर दोनों भाई-बहनों के एक हफ़्ते के अंतराल में साथ ही ब्याह माँड दिए थे। इस बार उसने बहू और दामाद दोनों अपनी बराबरी के ही ढूँढ़े, ताकि पहले वाले रिश्तों की तरह पछताना न पड़े। संयोग से छोटी बहू तो उसे मन-रुचती ही मिली लेकिन बेटी की तरफ़ से वह निश्चिंत नहीं हो पाया। दामाद यूँ तो दसवीं तक पढ़ा-लिखा है, लेकिन बेकारी और बुरी संगत ने उसे चिड़चिड़ा बना दिया है। वह कई बार हीरां के साथ मार-पीट कर चुका है। हीरां भी कई बार ससुराल से तंग आकर बाप के घर लौट आती है, जहाँ मँझली भाभी के तेज़ स्वभाव के कारण घर में आए-दिन कोहराम मचा रहता है। गीता और उसकी छोटी भाभी के साथ भी मँझली का बरताव कुछ ख़ास अच्छा नहीं है।

अकाल और अभाव में यों ही आदमी का चित्त और विवेक अपने ठिकाने नहीं रहता, इसलिए जीयाराम को इन पिछले दो बरसों में एक ही चिंता खाए जा रही थी कि किसी तरह गीता के हाथ पीले हो जाएँ। बेटी अगले घर पहुँचे तो वह भी सुखी रहे और उसके जी का संताप भी कुछ कम हो। बेटों में संपत न होगी तो अपना-अपना घर बसाकर अलग रहेंगे।

गया बरस ज़माने के लिहाज़ से कुछ ठीक गुज़रा तो जीयाराम को लगा कि यही अच्छा मौक़ा है। पता नहीं आगे क्या हो, इसलिए उसने चारों तरफ़ अपनी रिश्तेदारियों में बेटी के लिए वर ढूँढ़ने का काम शुरू कर दिया। गीता भी अब उन्नीस बरस की पूरी जवान युवती हो गई थी। यों भी क़द-काठी के हिसाब से उसने अच्छी सेहत पाई थी। जीयाराम बेटी का ब्याह तो ज़रूर करना चाहता था, लेकिन साधन उसके पास नहीं के बराबर थे, इसलिए वह ऐसे घर और वर की तलाश में था जहाँ ज़्यादा लेन-देन की माँग न हो। वह दो-वक़्त बारात और संबंधियों को भरपेट खाना खिला देगा और हँसी-ख़ुशी बेटी को विदा कर देगा, इसी सोच के साथ उसने बेटी का रिश्ता तय करने का मानस बना रखा था, लेकिन यह काम इतना आसान नहीं था।

एक दिन जीयाराम के बड़े भाई रावतराम के ससुराल वालों की तरफ़ से घर-बैठे एक रिश्ता आया। ख़ुद रावतराम उनके साथ रिश्ते की बात लेकर आए थे। इस रिश्ते की ख़ास बात यह थी कि लड़के वाले अपनी स्वेच्छा से लड़की के बाप को पाँच हज़ार तक की रक़म देने को तैयार थे। इस प्रस्ताव से जीयाराम के मन में आशंका हुई कि शायद लड़के में कोई कमी-खोट है।

...ज़ोर देकर पूछने पर रावतराम ने बताया ...लड़का दूज-वर है, उसकी पहली पत्नी दो ...पहले ही चल बसी थी। उससे दो बच्चियाँ ...हैं, लेकिन उम्र कोई ज़्यादा नहीं है, यही ...बत्तीस-पैंतीस के आस-पास है और बत्तीस ...उम्र कोई ख़ास बड़ी नहीं होती। जीयाराम ने ...लड़के को देखने की इच्छा दरसाई तो रावतराम ...अच्छा नहीं लगा। उसने चिढ़ते हुए कहा कि ...लड़का उसका अच्छी तरह देखा-भाला है, फिर ...अगर उस पर भरोसा न हो तो जब मर्जी हो ...लड़के को देख आए। जीयाराम को बड़े भाई पर ...भरोसा न करने वाली बात ठीक नहीं लगी, सो ...उसने हुज्जत नहीं की और हाँ भर दी। रक़म ...लेने-लिवाने की बात को उसने यह कहकर टाल ...दिया कि वे उसका उपयोग लड़की के गहने-...कपड़े में कर लें। बात पक्की होने पर लड़के ...वालों ने ब्याह के लिए दो महीने बाद की तारीख़ ...तय कर दी। जीयाराम थोड़ी और आगे की तारीख़ ...चाहता था, ताकि ठीक से इंतज़ाम कर सके, ...लेकिन सारी ज़िम्मेदारी रावंतराम ने अपने सिर ...ले ली और वह भी यह बड़प्पन दरसाते हुए कि ...इस बिन-माँ की बेटी का ब्याह तो एक तरह से ...वही करना चाहेंगे।

और इस तरह गीता की शादी हो ही गई।

आख़िर बाप के घर से विदाई का क्षण भी आ ...गया। सूरज अब पश्चिम की तरफ़ ढलने लगा ...था। सुबह से अब तक के सारे रस्मो-रिवाज में ...वह एक यंत्र की तरह अंदर से बाहर लाई, ले-...जाती रही। न कोई उछाव न कोई पछतावा। वह ...सारा आगा-पीछा देख चुकी थी। पसंद-नापसंद ...के सवाल ख़त्म हो चुके थे। सुबह जब देवताओं ...की पूजा के लिए उसे पति के साथ बिठाया ...गया, तब उसने झीने घूँघट की ओट से उसे फिर ...देखा था। वह उदास था, वैसे दूल्हे के कपड़ों ...में अब उतना बुरा भी नहीं लगा था उसे। उसे ...अपने सुबह के आचरण पर थोड़ा अफ़सोस भी हुआ। दोपहर में कुछ देर के लिए वह सो ली थी, इससे अब जी भी हल्का हो गया था।

विदाई के निमित्त जब गाँव की औरतों ने 'सीख' गानी आरंभ की तो अनायास ही उसके अंदर की रुलाई खुलकर फूट पड़ी। जिस विदाई गीत को वह स्वयं पहले अपनी सहेलियों के साथ उमंग से गाया करती थी, उसके बोलों में छिपी वेदना को आज पहली बार उसने स्वयं महसूस किया था : *आंबा पाका ए आंबली ए / इतरो बाबल कैरो लाड, छोड 'र बाई सिध चाली / ए आयौ सगां रौ सूवटो, वौ तौ लेग्यौ टोळी मांय सूं टाळ कोयल बाई, सिध चाली!*

औरतों के समवेत स्वर और उसकी वेदनापूर्ण रुलाई ने एक अजीब कारुणिक माहौल बना दिया था। आस-पड़ोस की औरतें और उसकी सहेलियाँ इस रुलाई का मर्म जान गई थीं। सभी की आँखें नम थीं। जब बेटी बाप के सामने पहुँची, तो बूढ़ा जीयाराम फफक पड़ा। भीतर के अपराध-बोध के कारण उसकी जीभ जैसे तालू से चिपक गई थी। पास खड़े लोगों ने किसी तरह समझा-बुझाकर बाप-बेटी को अलग किया। यही हाल भाइयों और छोटी भाभी का था। नरसाराम इस सारे वाक़ये के दौरान पछतावे और आत्म-ग्लानि से भीतर-ही-भीतर अपने को कोसता रहा—उसे क्या ज़रूरत थी एक ऐसी अबोध लड़की के जीवन से खेलने की, जो उसकी अपनी लड़की से बमुश्किल कोई दो-चार साल बड़ी होगी। वह तो शुरू से ही इस विवाह के पक्ष में नहीं था, लेकिन माँ-बाप की ज़िद के आगे आख़िर उसे हार माननी पड़ी। वह उनका इकलौता बेटा था। उसकी पहली पत्नी अभी दो साल पहले ही हैजे की बीमारी से चल बसी थी। दो लड़कियाँ हैं, बड़ी क़रीब तेरह साल की है और उससे छोटी आठ साल की। इनके बीच में और बाद में एक-एक लड़की और हुई थी, लेकिन वे भी चल बसीं। लड़का न

होने का अफ़सोस उसके माँ-बाप को तो था ही, कहीं भीतर उसे भी था। बस उसी एकमात्र चाह ने उसे इस दूसरी शादी के लिए हामी भरवा ली। लेकिन अब उसे लग रहा था कि शायद यह ठीक नहीं हुआ।

शाम ढलने तक बारात उसके अपने गाँव बरवाला लौट आई थी। चार ऊँट गाड़ियों पर दोपहर के बाद ठंडे पहर का सफ़र कितनी जल्दी कट गया, किसी को पता ही नहीं चला। बारात घर के दरवाज़े पर पहुँचते ही आँगन में चहल-पहल मच गई। ढोल बजने लगा। औरतों ने बधावा गाते हुए बेटे और बहू को घर के अंदर लिया। अगवानी की रस्म पूरी होने के बाद दूल्हा-दुल्हन का गठजोड़ा खोल दिया गया और बहू को गाँव की लड़कियाँ ओरे (कच्चा कमरा) के अंदर ले गईं। ओरा काफ़ी बड़ा था और अंदर तीन तरफ़ के ताखों में दीये जला रखे थे। दरवाज़े से दाहिनी तरफ़ वाली दीवार पर एक हाथ छापा और रंग-बिरंगे मांडणे बने हुए थे, उसी के पास रखे हुए बाजोट पर लालटेन जल रही थी।

औरतें और लड़कियाँ नई बहू का मुँह देखने को उतावली थीं, लेकिन गीता ने घूँघट कसकर पकड़ रखा था। तभी दो औरतें उसके पास आईं, ये दोनों उसी के गाँव की बेटियाँ थीं—पारो और तुलसी। पारो उसके दूर के रिश्ते की बहन थी। उन्होंने बाक़ी औरतों और लड़कियों को थोड़ी देर के लिए गीता के पास से यह कहकर हटा दिया कि नई बहू को थोड़ा आराम करने दो। मुँह दिखाई की रस्म अभी सुबह पूरी होगी। हालाँकि छोटी लड़कियों के लिए ऐसी कोई बंदिश नहीं होती, लेकिन पारो के तेज़ सुभाव से सभी परिचित थीं, इसलिए वे हट गईं। सिर्फ़ एक छोटी आठ साल की बच्ची दरवाज़े के पास डरी-डरी-सी खड़ी रही। पारो ने उसे आवाज़ देकर अपने पास बुला लिया, "अरे इधर आ पन्ना, देख कौन आई है री!"

तुलसी ने उसे ऐसा करने से रोकना चाहा, लेकिन तब तक बच्ची पारो के पास आ चुकी थी। गीता भी झीने घूँघट के भीतर से उसे देख चुकी थी। नए कपड़ों में सजी मासूम-सी बच्ची, लेकिन वह समझ नहीं पाई कि वह बच्ची कौन है? पारो आगे कुछ बोलती, इससे पहले ही तुलसी ने उसे रोक दिया और बच्ची को बाहर खेलने के लिए कहकर भेज दिया। फिर वे देर तक गीता से गाँव और घर के समाचार पूछती रहीं। बाहर आँगन में औरतों के गीत बदस्तूर जारी थे।

पारो थोड़ी वाचाल थी। उसने तुलसी के मना करने के बावजूद गीता को बातों ही बातों में बता दिया था कि वह छोटी बच्ची उसके पति की दूसरी संतान है। एक तेरह साल की बच्ची और है, जिसे अभी ननिहाल भेज दिया गया है।

इस रहस्योद्घाटन ने फिर एक बार गीता के मन को जैसे हिलाकर रख दिया था। वह कल रात से उम्र का जैसे एक बड़ा फ़ासला तय करने में लगी हुई थी। बच्चियों की सूचना ने फिर जैसे उस फ़ासले को और ज़्यादा लंबा कर दिया था। वह देर तक फटी-फटी आँखों से पारो और तुलसी को देखती रही और देखते-ही-देखते उसकी आँखों से आँसू बह निकले। तुलसी ने दबी जुबान में पारो को बुरा-भला कहा और गीता को सांत्वना देने में लग गई, "ऐसा जी छोटा करने की कोई बात नहीं है गीता, पारो को तो यूँ ही लगाने-बुझाने की आदत है। तेरे सास-ससुर बहुत भले लोग हैं। देवर जी भी बहुत धीमे सुभाव के आदमी हैं। तुझे यहाँ किसी बात की तकलीफ़ नहीं होगी। तू तो इस घर में राज करेगी, पगली! तुझे किस बात की चिंता है, और फिर हम जो हैं तेरे पास!"

पारो को भी अब अपनी बात पर अफ़सोस हो रहा था। वह भी कुछ इसी तरह समझाती रही, लेकिन वे दोनों यह नहीं समझ पाईं कि यह

...-सी लड़की किस तरह उम्र के इस अजीब ... को एक ही रात में पार करने के लिए ... से जूझ रही है। उसके लिए यह बात गौण ... कि सास-ससुर का घर कैसा है। पति जैसा ... वह पहले ही देख चुकी है।

...ससुराल की चहल-पहल, गाजे-बाजे और ... के गीत अब उसके लिए बेमानी थे। पारो ... तुलसी कब उसके पास से उठकर चली ... उसे कोई सुध ही नहीं रही। उसने यह ...महसूस किया कि अब वह वही उन्नीस बरस ... गीता नहीं थी, जो कल तक अपने पीहर की ... में बेरोक-टोक घूमा करती थी और न ... कोई इस घर में आई नई-नवेली दुल्हन। उसे ... दरअसल अपनी ज़िंदगी ठीक चौदह बरस ... से शुरू करनी थी, जहाँ से उसके पति की ... पत्नी ने अपना पारिवारिक जीवन शुरू ... था।

...नई बहू के लाड़-प्यार और मेहमानों के खाने-... के बाद आधी रात को पिछली रात की ही ... घर के एक खुले ओरे में जब उसे पति की ... तक पहुँचाया गया, तब तक वह एक दूसरी ... में ढल चुकी थी। दीये की मद्धिम रोशनी ... वह अंदर आकर खाट पर बैठ गई। थोड़ी ही ... में उसे अपने पति की धीमी आवाज़ सुनाई ... शायद वह अपनी भाभी से बोल रहे थे, ...नहीं भाभी, मैं बाहर ही ठीक हूँ। तुम बेकार ... मत करो!''

''कैसी अजीब बात करते हो देवर जी, शादी ... पहली रात को भी कोई अपनी पत्नी से दूर ... है भला!''

''ओ हो, मगर...''

''अब अगर-मगर कुछ नहीं! कमाल करते ..., विचारी वह लड़की...अच्छा अब मैं जा ... हूँ। और आप भी अंदर जाकर आराम ...।''

नरसाराम भारी मन से ओरे के अंदर आ गया था। ज्यों ही वह खाट के पास आया, गीता उठकर खड़ी हो गई। नरसाराम को लगा कि शायद वह बाहर निकलकर चली जाएगी। लेकिन उसने भी सोच लिया था कि अगर वह जाना चाहेगी, तो उसे वह रोकेगा नहीं। वह भी कुछ क्षण यूँ ही असमंजस में खाट के पास खड़ा रहा, फिर बैठ गया। गीता उसी तरह अपनी जगह खड़ी थी।

''क्या बात है, बैठोगी नहीं ?'' उसने अनायास ही गीता से पूछ लिया था, लेकिन एक गहरा अपराध-बोध जैसे अब भी उसके मन को घेरे था। वह ख़ुद जैसे अपने आपको माफ़ नहीं कर पा रहा था। सुहागरात की अगली सुबह की सिसकियाँ जैसे अभी तक उसके कानों में गूँज रही थीं। वह उसी तरह अपने-आप में डूबी हुई-सी खड़ी थी—शांत और गुमसुम। उसे मनाने के लिए वह और कुछ बोलता, उससे पहले ही वह धीमे-से उसकी ओर बढ़ी और पास आकर खड़ी हो गई। उसे लगा, वह कुछ कहना चाहती है, इसलिए वह भी उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगा। वह धीरे-से इतना ही कह पाई, ''आपको बड़ी बेटी को ननिहाल नहीं भेजना चाहिए था, हो सके तो कल ही उसे वापस बुला लीजिए।'' इतना कहते हुए उसका गला भर आया और वह फिर जैसे अपने आप में ही डूब गई।

नरसाराम को जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था। उस हल्की रोशनी में वह कुछ क्षणों तक अवाक् उसकी ओर देखता रह गया—उस ऊँचे क़द वाली दूसरी ही औरत की तरफ़ जिसके सामने उसका अपना अस्तित्व जैसे सिमटकर रह गया था। वह देर रात तक उसकी गोद में सुबकता रहा और वह उसे बच्चे की तरह सहलाती रही।

जगदीश महंती

दौड़

रिसेप्शन पर लौटने के बाद मैं जितना हल्का महसूस कर रहा था, उतना ही बोझिल। मेरे चेहरे की ओर देख भारती ने पूछा, ''क्या हुआ?''

मैंने कहा, ''कुछ नहीं। दरअसल ज़िंदगी से मुझे दो तरह के अनुभव हुए हैं। एक कि मनुष्य के पास ही वह शक्ति है और वह जानता है कि जीवन का अंत शीघ्र होता नहीं है। दूषित परिवेश, तेज़ी से पनपने की होड़ और आधे-अधूरे विकास के बीच सभी अपने जीवन रूपी पौधे को जिलाए रख सकते हैं। रखते हैं इसलिए कि इसी परिवेश और होड़ के चलते वह अपने अस्तित्व के लिए ऊर्जा पाता रहता है। दूसरे यह कि बेहद जटिल और ख़ूबसूरत है यह ज़िंदगी। लेकिन इस ख़ूबसूरती का केंद्र बेहद कुरूप, घिनौना और अश्लील है।''

भारती कुछ समझ नहीं पाई। आश्चर्य से पूछ बैठी, ''मतलब?''

भारती की जिज्ञासा का अर्थ है पुनः शुरू से सब कुछ बताना। उसे बताना, बादल भाई की मौत, माँ के तनाव और भुवनेश्वर जैसे शहर में हफ़्ते भर के भीतर किराए का मकान मिलने की समस्या के बारे में—और बताना कि मानी दीदी, उनकी परेशानी और उनकी नौकरी की कहानी।

फिर मानी दीदी नौकरी करेगी, वह भी होटल में, यक़ीन करने लायक़ बात थी नहीं! शुरू में जब उन्होंने अपनी इच्छा जताई, मैं भौचक्का रह गया था! इस क़दर कि—कि उनकी बात पर मुस्कुरा भी नहीं पाया था। मानी दीदी होटल में नौकरी करेंगी—इस पर जितनी हैरत हो सकती है, उतना हँसा भी जा सकता था। धुर गाँव में जन्मी, बढ़ी, उम्र के तीस बसंत घर कें कोने में बैठ बिता चुकी मानी दीदी भूल चुकी होंगी कि कभी गाँव के स्कूल में वे पढ़ी थीं। बाल-बच्चों के जंजाल, संसार सँभालते वे बाहरी दुनिया भूल चुकी होंगी। वही मानी दीदी जो आज भी गाँव की औरतों की तरह बिना कच्छा दिए साड़ी पहनती हैं, जब कहा, ''कान्हू, तू मेरे लिए किसी होटल में नौकरी ढूँढ़ दे'' तो मैं हँस नहीं पाया।

सच है कि मानी दीदी के ऐसे प्रस्ताव पर मैं हँस नहीं सकता, अगर वे विधवा न होतीं और चार मासूम बच्चों के साथ भुवनेश्वर

ओड़िया के चर्चित रचनाकार जगदीश महंती की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। कई संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : रामपुर कोलियेरी, ज़िला संबलपुर (उड़ीसा) 768225

अनु. पूर्णचंद्र रथ का जन्म 1945 में हुआ। इनके तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ओड़िया-हिंदी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : ई-8/58, भरत नगर, भोपाल (म.प्र.)

...होतीं। गाँव में उनके पास कुछ नहीं रहा। ...रिश्ते से वे मेरी बहन लगती हैं। पिता जी ...पहले उन्हें धर्मपुत्री बना लिया था। ...पति बादल भाई बहुत ही मस्त तबीअत ...गाँव की जात्रा-पार्टी के हीरो। सुबह का ...नाश्ता होता महीन चिउड़ा, नारियल और ...दोपहर में बासमती चावल का भात और ...का सिर। रात को मैदे की पूरी और ...-दम।

...लेकिन ऐसे राजसी भोजन करने वाले बादल ...कोई काम नहीं करते थे। पिता, ताऊ और ...के ख़ानदान के एकमात्र वारिस लाड़-प्यार ...मनुष हो गए थे। पिता, ताऊ और दादा की ...संपत्ति बेच-बाचकर खा लेने के बाद अपने ...पर भी हाथ साफ़ कर चुके थे। जब वे ...से लगे थे, आधा मकान बिक चुका था। ...उनकी दवा-दारू और शुद्धिक्रिया में बिका ...मानी दीदी चार बच्चों को लेकर अपने धर्मपिता ...पूछते-पूछते भुवनेश्वर चली आईं।

...हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी की सरकारी ज़मीन ...कब्ज़ा करके बग़ल की बनाई गई ...-मिट्टी का हमारा घर, जिसके भीतर ...बाहर अँधेरा, गोबर से लीप-लापकर जितना ...चिकना बनाओ, एक दिन नागा तो सारा घर ...चाट जाए। सड़क किनारे की बिजली के ...से लाइन चुराकर और हाउसिंग बोर्ड के ...लाइन के लीकेज से पानी इकट्ठा कर जहाँ ...गुज़ारा चल रहा है, वहाँ मानी दीदी के ...क्या जगह होगी, ख़ुद ही वह जान चुकी ...शायद इसलिए अपनी ओर से ही उसने ..."मेरे लिए एक घर तो ढूँढ़ कान्हू।"

...! हाउसिंग बोर्ड का एक एल.आई.जी. ...-पाँच सौ से कम किराए का नहीं मिलेगा ...हमारी तरह की झोंपड़-मिट्टी का घर बनाने ...आठ-दस हज़ार रुपए चाहिए। किराए ...भी दो-ढाई सौ से कम में नहीं मिलेगा। मानी दीदी की मौजूदगी पहले तो हमें खल गई। समझाया, "तुम पर विपत्ति आई है, बहुत दुखी हो तुम, तुम्हारा अपना कोई नहीं, इसलिए चार बच्चों को लेकर ख़ुद आई हो हमारे इस घर में! इसलिए कि हम तुम्हारे लिए मकान ढूँढ़ दें! मकान अगर ढूँढ़ भी दें तो उसका किराया देगा कौन? कैसे दोगी?"

मानी दीदी ने जवाब दिया था कि वह नौकरी करेगी। सुनकर हम सभी हैरान हो गए। कैसी नौकरी करेगी? इतनी पढ़ी-लिखी भी नहीं कि कहीं मास्टरनी बन सके या क्लर्क। ऐसा दिमाग़ भी नहीं कि किसी दुकान में सेल्स गर्ल या ब्यूटी पार्लर में काम कर सके। सिलाई भी नहीं जानती कि किसी लेडीज़ टेलर के यहाँ काम कर सके या घर में मशीन ख़रीदकर गारमेंट्स कंपनी वालों के सिलाई के ऑर्डर का काम कर सके! फिर कायस्थ जाति की बहू! क्या किसी दूसरे के घर जूठे बर्तन माँजेगी!

हमारे ख़ौफ़ की वजह माँ थी। क्योंकि, सबसे पहले जब उसे आया देखा तो—'मानी बिटिया, मेरी मानी बिटिया' कहने वाली माँ के ही दिमाग़ में पित्त चढ़ गया। मानी दीदी और उसके चारों बच्चे जब घर का सब कुछ अस्त-व्यस्त करने लगे तो माँ को ग़ुस्सा चढ़ गया और वह दया-धर्म, ममता सब भूल गई। और अब तक उसने ज़िद पकड़ ली कि घंटे भर के भीतर मानी दीदी घर से बाहर नहीं गई तो वह आफ़त मचा देगी।

इसी वजह से मानी दीदी के लिए एक घर और एक नौकरी ढूँढ़ना मेरे लिए बेहद ज़रूरी हो गया। जबकि इन दोनों का मिलना इस भुवनेश्वर में मुश्किल, बेहद मुश्किल था। वह भी मानी दीदी के लिए। ख़ैर! परिस्थितियों को समझ मानी दीदी ने अपनी ओर से कहा, "क्या मुझे तुम्हारे होटल में कोई नौकरी नहीं मिल सकती?"

"होटल में! तुम करोगी?"

"क्यों? क्यों नहीं कर सकती मैं, अनपढ़ हूँ, ठीक है खाते-बही का काम नहीं कर सकती—पर बिस्तर तो बिछा सकती हूँ, झाड़ू लगा सकती हूँ, बुलाने-लाने का काम कर सकती हूँ।"

"हमारा होटल छोटा होटल नहीं है मानी दीदी। स्टार होटल है। वहाँ नौकरी करने से पहले ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। होटल में खाना बनाने वालों का जो मुखिया है, वह वहाँ का एक बड़ा अफ़सर होता है। गाड़ी, बँगला, नौकर-चाकर रखने वालों की दुनिया का आदमी। हमारे जैसे पढ़े-लिखे भी उसे इज़्ज़त से सलाम करते हैं।"

"क्या झाड़ू लगाने, बिस्तर ठीक करने, बुलाने-लाने के काम के लिए भी ट्रेनिंग की ज़रूरत है? कान्हू तुम ज़रा पता तो करो, अपने मालिक से कहकर तो देखो!"

कैसे समझाऊँ इन्हें? साड़ी तक तो ठीक से पहन नहीं पातीं। गाँव की गलियों से भी जो पूरी तरह वाक़िफ़ नहीं, ओड़िया ठीक तरह से जो पढ़ नहीं सकती, ऐसी हमारी मानी दीदी स्टार होटल में क्या काम करेंगी! मान लो मैं अपने मालिक से कहूँ, वे निश्चित कहेंगे—तुम्हारा दिमाग़ तो ख़राब नहीं हो गया?

मैं मानी दीदी से लेकिन कुछ नहीं कह सका। मेरा उत्साह बढ़ाते हुए जब माँ ने पूछा, "मानी दीदी की नौकरी के सिलसिले में क्या परेशानी हो सकती है?" तो चिढ़कर उसे चुप रहने के लिए कहकर मैं घर से निकल आया था।

रात के शिफ़्ट में मैंने प्रदीप से मानी दीदी के बारे में बात की। जानता था प्रदीप सुनकर हँसेगा। लेकिन ताज्जुब, उसने बताया कि होटल में कुछ अनस्किल्ड मज़दूरों की, दिन के शिफ़्ट में काम करने वालों की ज़रूरत है। मानी दीदी को लगाया जा सकता है। उन्हें महीने में हज़ार रुपए के आस-पास मिल सकते हैं।

लेकिन मानी दीदी क्या होटल का काम कर सकेंगी? क़िस्म-क़िस्म के लोगों का आना-जाना, जिधर देखो उधर पुरुषों की जमात। सिगरेट और शराब का न थमने वाला कारोबार। मानी दीदी तो सिगरेट की गंध भी नहीं सह पातीं। किसी अनजाने आदमी को देख घर के कोने में घुस जाती हैं। उनकी ओर किसी ने सीधी नज़रों से देखा तो वे सकुचाकर अपनी छोटी साड़ी से सारा शरीर ढकने की कोशिश करतीं। वही मानी दीदी भला होटल में काम कैसे कर सकेंगी!

लेकिन मानी दीदी के लिए नौकरी विवशता थी। एक किराए के मकान की भी। क्योंकि माँ का ग़ुस्सा बढ़ने लगा था। मानी दीदी के बच्चे दिनभर धमा-चौकड़ी—शोर मचाते सारा घर तितर-बितर करने लगे थे। माँ जितनी बार नल से पानी लातीं—बच्चे पी जाते—वैसे ही जैसे कि बाज़ार से इन दिनों कहीं पर कीड़े लग जाने की वजह से पूरी प्याज की खेती चौपट हो गई थी और चालीस से साठ रुपए किलो बिक रही थी। ऐसी कुछ घटनाएँ—माँ का ग़ुस्सा बढ़ाने के लिए पर्याप्त थीं। माँ इधर बराबर बड़बड़ाने लगी थी। इसलिए हम लोगों ने तय कर लिया—स्थिति बदतर हो इसके पहले मानी दीदी को यहाँ से हटा देना चाहिए। इसलिए नौकरी और किराए का मकान उसके लिए बेहद ज़रूरी है।

"होटल में नौकरी करनी है तो इस ढंग से साड़ी पहनने से नहीं चलेगा। अठारह नं. एम.आई.जी. क्वार्टर वाले बिश्वाल बाबू की लड़की, वही जो रोज़ दस बजे ब्यूटीशियन का कोर्स करने जाती है, उसे देखा है? उस ढंग से साड़ी पहननी पड़ेगी! पहन सकोगी?"

मानी दीदी मुस्कुराकर कहती हैं, "पहन लूँगी भाई! तू तो पहले अपने मालिक से पूछकर देख।"

"बाल कटवाने पड़ेंगे मानी दीदी। ऐसे तिल्ली के तेल से चुपड़े बालों का अब फ़ैशन नहीं रहा। न हुआ तो स्टेप कट या यू कट तो रखना पड़ेगा।"

"क्यों? तेरे साथ जो लड़की काम करती है होटल में—सत्यनगर से आती है—वही जो तेरे न आने पर एक दिन तुझे ढूँढ़ने आई थी, उसके भी बाल तो लंबे हैं!"

"अब कैसे समझाऊँ तुम्हें? होटल में कई तरह के लोग आते हैं, शराब, मांस, सिगरेट जैसी बुराइयाँ, तुम सह नहीं पाओगी मानी दीदी!"

सुनकर मानी दीदी की आँखें छलछला आईं। कहने लगीं, "ठीक है, वैसे भी कुछ न हुआ तो रेललाइन पर सर रखकर मरना तो है ही। आदमी मरा मुझे बरबाद कर गया! कान्हू, तू मेरा भाई है न, मुझे थोड़ा-सा ज़हर कहीं से ला दे!"

ऐसी भावुक बातें सुनने के बाद और क्या कह पाता? किंतु नौकरी के लिए मानी दीदी का कहना बदस्तूर जारी रहा। जितना सोचूँ कोई समाधान नहीं निकल रहा था। अंत में हारकर होटल के मालिक बूढ़ा बाबू से मानी दीदी के बारे में चर्चा की। बूढ़ा बाबू ने इस सिलसिले में अपने बड़े लड़के बड़बाबू से बात करने के लिए कहा। और मानी दीदी की क़िस्मत अच्छी थी कि बड़बाबू ने मानी दीदी को बुला लाने को कहा। हालाँकि बड़बाबू ने जता दिया कि उसे ...मेनशिफ़्ट में ही नियुक्ति दी जाएगी और ...तरह के काम करने होंगे। लेकिन इसके पहले वे मानी दीदी से मिलना भी चाहेंगे।

मुझे पक्का विश्वास था कि मानी दीदी पहली मुलाक़ात में ही कट जाएँगी। फलतः मानी दीदी ...सुनकर जितनी ख़ुश हुईं, मैं नहीं हो पाया। साथ ही मानी दीदी होटल आईं। उन्हें लॉन में बैठाकर मैं काउंटर में चला गया चार्ज लेने। काउंटर में बैठा ध्यान से देख रहा था, लॉन के ...पर बैठी मानी दीदी कैसे सकुचा रही हैं। ...आँख जैसे भेदे जा रही थी उन्हें और मानी ...शर्म से, डर से लाल होती जा रही थीं। ...बार कंधे के ऊपर से आँचल खींचती, कछुए की तरह अपना सारा शरीर छुपाने की कोशिश कर रही थी।

मैंने फ़ोन किया। ऊपर, मालिक के घर। उनकी पी.ए. भारती से कहा मानी दीदी के बारे में। जिसके संदर्भ में मैं बूढ़ाबाबू और बड़बाबू से बात कर चुका था और बड़बाबू ने ही मानी दीदी को बुलाया है यह भी उसे बताया। भारती ने कहा कि वह कन्फ़र्म करके एक मिनट बाद बताएगी। रिसेप्शन में बैठा मैं कोई काम नहीं कर पा रहा था। मुझे लग रहा था जैसे कोई शराबी आ जाए और मानी दीदी के पास बैठ जाए तो मानी दीदी के चरित्र पर कलंक लग जाएगा, नहीं मैं यह नहीं सोच रहा था, बल्कि मैं सोच रहा था—मानी दीदी कोई सीन न क्रिएट कर दे! और उसे यहाँ लेकर आने की वजह से मुझे कैफ़ियत देनी पड़ जाए! हो सकता है इस बहाने मुझे नौकरी से निकालने का मुद्दा उन्हें मिल जाए!

लेकिन भारती ने मुझे ज़्यादा देर तक इंतज़ार नहीं कराया। जल्दी ही मुझे बताया, "सर का हुक्म, माल भेजो।"

"माल!"

"ओफ़्फ़ो! बकरी! कोई कैंडिडेट आई है नौकरी के लिए?...भेजो उसे।"

एक रूमसर्वेंट को बुलाकर मैंने मानी दीदी को उसके साथ मालिक के घर भिजवा दिया। चलो अब परेशानी ख़त्म! बूढ़ा बाबू हो या बड़बाबू, बहुत कड़े मिज़ाज के हैं। पहली नज़र में ही वे मानी दीदी को रिजेक्ट कर देंगे। मानी दीदी की परेशानी तो दूर होने से रही, लेकिन मुझे एक तरह से मुक्ति ज़रूर मिल जाएगी। वह अब मुझसे होटल में नौकरी के बारे में कहकर बोर नहीं कर सकेगी।

लेकिन पाँच मिनट के अंदर मानी दीदी लौटी नहीं। बल्कि भारती आई और कहने लगी, "चलो, घंटे भर की छुट्टी। एनी वे, छोटे बाबू हैं। तुम्हारी दीदी का इंटरव्यू चल रहा है।"

"छोटे बाबू?" मैं चौंका।

"हाँ, इसीलिए तो मैंने तुमसे माल, बकरी जैसे कोड वर्ड से इशारा किया था।"

छोटे बाबू...छोटे बाबू...। मेरी कनपटी से चिनगारियाँ फूटने लगीं। बूढ़ा बाबू और बड़ बाबू जितने अच्छे हैं, छोटे बाबू उतने ही दुष्ट-शैतान। लड़की देखी कि उनका दिमाग़ उलट जाता है। इसी भारती पर कितनी ही दफ़ा झपट चुके हैं। होटल में जितनी भी महिलाएँ काम करती हैं—सुशीला, पारमिता, देवयानी सभी छोटे बाबू से डरती हैं। कॉरीडोर में, अँधेरे में, घर के भीतर जिसे भी अकेली देखते हैं छोटे बाबू, उसकी ओर झपट पड़ते हैं। राक्षस कहते हैं सभी छोटे बाबू को।

वही छोटे बाबू ले रहे हैं मानी दीदी का इंटरव्यू! उस पर भारती को घंटे भर की छुट्टी भी दे चुके हैं! मैं सोच में पड़ गया। सोचने लगा। मानी दीदी पर ज़ोर-ज़बरदस्ती कुछ कर बैठे वह बदमाश! थाना, पुलिस, अस्पताल के झमेले! सबसे बड़ी बात तो यह कि इतना सब हो जाने पर फिर मेरी नौकरी क्या बची रहेगी?

मैं काउंटर छोड़, सीढ़ियाँ फलाँगता ऊपर गया। दफ़्तर के केबिन का दरवाज़ा खोल अंदर घुसा। एक छोटी गोदरेज की टेबल, टाइपराइटर, इंटरकॉम, कुछ फ़ाइलें, काग़ज़ात, यही था भारती का छोटा-सा केबिन। पास ही दरवाज़ा।...दरवाज़े के दूसरी तरफ़ छोटे बाबू और मानी दीदी। दरवाज़े तक आकर ठिठक गया। क़दम न आगे बढ़े न ही मुड़ पाए। दरवाज़े पर दस्तक देने के लिए भी हाथ नहीं उठे। मानी दीदी और छोटे बाबू। छोटे बाबू एक राक्षस! किसी को भी नहीं बख़्शा है आज तक। सड़क पर जाते-जाते अँधेरा पाते, घर के भीतर अकेली दिख जाने पर किसी को नहीं छोड़ा। दिल-दिमाग़ से वास्ता नहीं, चुनने की फ़ुरसत नहीं। औरत यानी उनके लिए उपभोग की चीज़ सिर्फ़ चीज़।

मानी दीदी निपट गाँव की औरत, गाँव की बहू। शहरी अदब-क़ायदों से अनजान जीवन में बहुत कम पुरुषों के साथ उसका साबका। मानो घर की अँधेरी कोठरी से निकल स्टार होटल के सोडियम लैंप की रोशनी वाले शो केस में खड़ी कर दी गई हो।

और कुछ सोचूँ तभी दूसरी तरफ़ से हँसी की आवाज़ें सुनाई दीं। उत्फुल्ल हँसी। वह हँसी छोटे बाबू की नहीं, मानी दीदी की थी। मैं हैरत में पड़ गया! मेरे सिर का बोझ हल्का हो गया। चलो, मानी दीदी की नौकरी पक्की हुई। अब माँ के सर पर पित्त नहीं चढ़ेगा। बहुत जल्द मानी दीदी किराए का घर लेकर चली जाएगी। कुछ ही समय में वह सँभाल भी लेगी अपना परिवार। फिर से ज़मीन में पाँव रख सकेगी। अपने लक्ष्य के अनुरूप बादल भाई के छोड़े वंशवृक्ष को बढ़ा पाएगी। मैं लौट आया। भारती वहाँ बैठे-बैठे एलिस्टर मेक्लीन पढ़ रही थी। उसने पूछा, "क्या हुआ?"

मैंने कहा, "कुछ नहीं। दरअसल ज़िंदगी से मुझे दो तरह के अनुभव हुए हैं। एक कि मनुष्य के पास ही वह शक्ति है और वह जानता है कि जीवन का अंत शीघ्र होता नहीं है। दूषित परिवेश, तेज़ी से पनपने की होड़ और आधे-अधूरे विकास के बीच सभी अपने जीवन रूपी पौधे को जिलाए रख सकते हैं। रखते हैं इसलिए कि इसी परिवेश और होड़ के चलते वह अपने अस्तित्व के लिए ऊर्जा पाता रहता है। दूसरे यह कि बेहद जटिल और ख़ूबसूरत है यह ज़िंदगी। लेकिन इस ख़ूबसूरती का केंद्र बेहद कुरूप, घिनौना और अश्लील है।"

भारती आश्चर्य से पूछ बैठी, "मतलब?"

मैंने कहा, "कुछ नहीं।"

सी. श्याम

राग शहनाई का

अरसे के बाद शादी के निमंत्रण पर निकला था। एकाएक निकल पड़ा था। घड़ी ऐसी थी कि कोई गाड़ी नहीं थी। हड़ताल थी। रेलगाड़ियाँ चल नहीं रही थीं। बस का समय नहीं था। एक लॉरी नज़र आई थी, रोक ली और चढ़ भी गया था।

लॉरी की यात्रा! गरम-गरम यात्रा! जैसे गर्मियों में कुनकुनी यात्रा! रह रहकर हवा चल रही थी। कई सालों से मैंने यह फ़ैसला कर रखा था कि शादी-ब्याहों में जाना बेकार है। कई साल हुए, शादी-ब्याहों में जाना छोड़ दिया था।

दरअसल शादी-ब्याह में न जाने से जो पहचान होती है वह जाने से नहीं होती। मगर शादी-ब्याह में पहचान का होना ज़रूरी है क्या? यह एक सवाल है। अरे छोड़ो—अब इस शादी-ब्याह में पहचान का होना ज़रूरी है!

पहचान, यानी? वह भी नामालूम!

सौदामिनी ने मुझे जान लिया था। पहचान लिया था। उसे मेरी बातें पसंद थीं। मुझसे मिलने का शौक़ था। वह मेरी बातों पर मुग्ध थी। जाने कितनी सारी घड़ियाँ मज़ाक़िया बातें करते हुए सौदामिनी के साथ गुज़ारी थीं। मेरी बातें सुनकर वह ठठाकर हँसती थी। मंद-मंद हँसी उसके होंठों पर फूटती थी। मुस्कुराती थी तो लगता था जैसे मुस्कुराहट ही सौदामिनी हो। मुस्कुराहट ऐसी चमकती थी कि बिजली हो। उसके मुँह पर पसीने की बूँदें होती थीं। जैसे प्रातःकाल की हवा में झूमते फूलों पर पड़ी ओस की बूँदें जो स्वप्नलोक की, स्वर्गलोक की याद दिलाती थीं।

जेब से निमंत्रण-पत्र निकालकर फिर देखा था। लगा जैसे रंगीन दुनिया से खिसककर कीचड़-भरे पानी की बौछार में भीग गया हूँ।

चि. सुब्बाराव। चि. यानी चिरंजीवी। सुब्बाराव जो फूहड़ और नाक़ाबिल। ऐवरेज फ़ेलो। सूई लेकर उसके बदन में कहीं भी चुभोकर देखो 'बियर' चुएगी। ऐसे सुब्बाराव से चंचल, शोख़, जूही की माला सौदामिनी की शादी। यही तो है विपर्याय। सुब्बाराव सुंदर नहीं है। मेरी नज़र से देखो तो बेडौल, कुरूप भी है। विद्या पूछो तो साधारण! नौकरी, वह भी साधारण! इस शख़्स में सौदामिनी ने क्या देखा है? सौदामिनी ने उसे वरण कैसे किया है?

कहानीकार सी. श्याम की ... पत्र-पत्रिकाओं में ... होती रही हैं। संपर्क : ... अपार्टमेंट्स, प्लॉट- ...-4, द्वारका, नई दिल्ली ..., फ़ोन : 25074358

... तुलसी के हिंदी, ..., अंग्रेज़ी, तेलुगु में ... अनुवाद प्रकाशित होते ... हैं। इनकी 14 पुस्तकें ... हैं। संपर्क : 5-127, ... नगर, तीसरी गली, ... 535003 (आंध्र) ...: 08922-274787

अरे, किसने कहा था कि सौदामिनी ने उसे वरण किया है!

ओहो! वरण नहीं किया है तो यह निमंत्रण-पत्र कैसे? इस पत्र पर छपा क्या है? इस छपे पत्र से भी बढ़कर प्रमाण सामने जो दिख रहे हैं—लिफ़ाफ़े पर लिखे ये अक्षर! इन अक्षरों की लिखावट को मैं कहाँ भूला था। वे अक्षर जैसे ज्योत्स्ना में क्रीड़ारत सुंदर नवयुवतियाँ हों। सौदामिनी की लिखावट मोतियों की लड़ी जो है!

सौदामिनी से मेरा परिचय साधारण नहीं था। यूनिवर्सिटी की पढ़ाई के वे तीन वर्ष। हमारा परिचय बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया...मैं सौदामिनी के साथ सिनेमा हाउस में, मैं सौदामिनी के साथ समुद्र तट पर, सड़क पर, बस में, बरामदों में, कॉरिडोर में, पेड़ों की छाया में, संध्या समय में, यूनिवर्सिटी के अन्य विद्यार्थियों के ईर्ष्या-भरे नेत्रों में, लड़कों के गॉसिप में, लड़कियों की फुसफुसाहट में...

उन दिनों यह सुब्बाराव रेत के अनेक कणों में से एक कण था। न कोई पहचान न कोई तुलना! कहीं कोने में पड़ा रहता था। सौदामिनी के उड़ते आँचल की हवा पाने की कोशिशों में लगे नालायक़ों में से यह भी कोई एक रहा होगा।

आज वह सुब्बाराव इस छपे हुए रंगीन अक्षरों में! हल्दी की लकीरों के नीचे! सच्ची? सच्ची? संदेह क्यों? साफ़-साफ़ दिख तो रहा है! सौदामिनी जैसी शोख़-हसीना किसी-न-किसी दिन किसी मेघराज के गले में अपनी कोमल बाँहें ड़ालेगी। यह अनिवार्य है। लेकिन वह मेघराज सुब्बाराव हो! हो ही नहीं सकता! अरे दिख जो रहा है न!

मंद मंद हँसी, उड़ते सिल्की बाल, थकने पर भी ऐसी चंचल आँखें कि थकावट न दिखे, बात करो तो फूल झड़ें। ज़िंदगी ख़ुशबू भरी हो, ख़ुशियों भरी हो, घोंघे की चाल की न हों—दरअसल इस तरह का वर सौदामिनी को मिलना चाहिए। भले ही ऐसा वर मैं हो न सकूँ—मगर सुब्बाराव कैसे हो सकता है जो आवेदन-पत्र भेजने के भी अयोग्य हो!

लेकिन यह दुनिया हमारी कल्पना के परे है। अजीब है। आवेदन-पत्र भेजने की योग्यता जिसकी है नहीं, उसे कहीं नौकरी मिल सकती है? जो बात हमारी समझ में नहीं आती उसे हम अपनी तिरछी नज़र से समझाते हैं कि वह रिकमेंडेशन है, रिज़र्वेशन है, फ़ोर्स है, बैक डोर है! सच पूछो तो यह पहचान नहीं पाते कि भीतरी परतों में किस तह के घेरे में बाक़ी परतें गूँथी हुई हैं। न जाने किस लपेट की वजह से इतनी लपेटें बलखाई हैं! यह सब मालूम भी हो, पर कुछ कह नहीं सकते कि कौन ईमानदार, कौन बेईमान, किसका दोष? किसका पाप?

सौदामिनी इसको वरण करेगी? सहेगी? ज़िंदगी में सुंदर नारियों के लिए भी समझौते अनिवार्य हैं? अगर यही सच है तो जीवन कितना निर्मम है!

झटके के साथ लॉरी रुक गई। वह आगे की तरफ़ झूल गया और उसकी सोच के झटके रुक गए।

"क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"हेड लाइट जल नहीं रही।" ड्राइवर ने बताया।

उसने बत्ती का बटन दबाकर बुझाया और जलाया। जलाकर बुझाया। थोड़ी देर तक इंद्रजाल करता रहा। फिर धीरे-से इंजन बंद करके लॉरी से नीचे उतर पड़ा।

पता लगाने की भी मेरी शक्ति नहीं रही कि उसने बीड़ी जलाई कि सिगरेट! ग़नीमत है कि वह वहीं बैठकर सुस्ताने लगे। शायद बोतल पूरी-की-पूरी पीने उतरा होगा।

मेरा शक है कि उसने आराम करने के लिए लॉरी रोक ली। बहाना बनाकर बताया कि हेड लाइट जल नहीं रही।

वैसे गाड़ी का इस तरह रुकना अच्छा ही था। थोड़ा आराम मिला।

चाँदनी स्वच्छ, धवल, झिलमिल, जगमग भरी ठीक वैसी ही थी जैसे दादी की कहानी की। लंबे-लंबे पेड़! उनकी छायाओं में झकझक चमक! ऊपर पत्ते चाँदी के, नीचे काले कटार जैसे प्रतिबिंब! सर्दी-सी लग रही थी। हेडलाइट ना भी हो, फिर ऐसी चाँदनी के उजाले में भला गाड़ी चलाई क्यों नहीं जाती? सुनेगा तो हर कोई हँस पड़ेगा।

दूर से आनेवाली गाड़ियों के जलते-बुझते हेड लाइट रह-रहकर देखने को मिल रहे थे। आधुनिक जीवन की एक नई दिशा चाँदनी में नज़र आने लगी।

इस तरह खुले में हर रात इतना आनंद बिछा हुआ पाया जाता है। मनुष्य जो प्रकृति की गोद में सिमटकर सोता है, उसी प्रकृति की सुंदरता से वह कितने हज़ार मील दूर पड़ा रहता है! फिर प्रकृति की सुंदरता के बारे में धुँधली रोशनी में थकी लगी आँखों से पढ़ता है। अँधेरे में इसी सुंदरता के कड़कड़ के राग-आलाप सुनता है। उसके लिए नाम देता है कि ख़ूबसूरत कमज़ोरी का अथवा संगीत की मिठास का।

एक ने अपना ट्रांज़िस्टर लगा लिया। क्या कहूँ, उस अँधेरे में कहूँ? अथवा उस चाँदनी में कहूँ?

ट्रांज़िस्टर ऊँची आवाज़ में सुनाने लगा। विदेश प्रसारण के गीतों का कार्यक्रम था। एकांत प्रदेश में रात के समय चाँदनी की छाया में आह्लाद भरा संगीत आनंद प्रदान कर रहा था। प्रख्यात दार्शनिक जिड्डु कृष्णमूर्ति ने कहा था कि रेडियो का संगीत एक पलायन है। सच कहो तो हर आह्लाद वास्तविकता से कल्पना लोक का पलायन है। फिर भी कैसे उसे छोड़ा जाए? संगीत और साहित्य ही क्या, बाक़ी सारी ललित कलाएँ पलायन ही तो हैं! है न? नहीं क्या?

रेडियो का गायक ऊँची आवाज़ में मधुर गीत गा रहा था : *जब तक चाँद और सूरज रहे / गंगा जमुना में पानी बहे / रहता है तब तक पक्का / हमारा प्यार।*

उस एकांत प्रदेश में जहाँ अँधेरा और उजाला घिरा हुआ था प्यार का वह गीत गूँज रहा था। उस गीत की शहनाई बार-बार गूँजती रही : *रहता है तब तक पक्का हमारा प्यार!*

हमारा? यानी मेरा और सौदामिनी का? या सौदामिनी और सुब्बाराव का?

गीत के गूँजते स्वर हमारे बारे में ही कह जो रहे हैं। सच क्या है? सपना क्या है?

नीली परछाइयों की शामों में समुद्र तट पर उसकी उड़ती लटों को मेरा सँवारना सच था या सपना? हरी-भरी शामों में कलंगी के पेड़ों के नीचे हरी घास पर चित लेटकर आसमान को दूर-दूर तक निहारना सपना था या सच? उसके गुलाबी गालों पर, लाल होंठों पर मेरे होंठों की मीठी बातें और गाए गए गीत भी सपने? झूठे ही थे? पागल मन के कल्पना-दृश्य मात्र थे? मन की बाँबी में सिमटकर पड़ी हुई नशीली धुँधली चाहों का सर्प सौंदर्य मात्र था?

होंगे ये सब कल्पना के टुकड़े! नासमझी के छींटे! चाहतों की टुकड़ियाँ।

मगर मेरा उससे पूछा गया सवाल! वह सवाल जो कि मर्द द्वारा औरत को दिया जाने वाला ऊँचा स्थान और अपार गौरव! वह सवाल कोई भी मर्द अपनी ज़िंदगी में औरत से पूछे कि क्या तुम मुझे नहीं अपनाओगी?

उस सवाल को सुनकर उसने न हाँ कहा न ना। बस इतना कहा कि मैं तुम्हें पसंद करती हूँ। बार-बार पूछने पर जवाब में कहा कि तुम मुझे पसंद हो। बहुत-बहुत पसंद हो।

उसने ज़रूर यह नहीं कहा कि "लेकिन..." पर वह 'लेकिन' ध्वनित हुआ। एक अभ्यास पूरा हुआ।

एक अध्याय समाप्त हुआ।

जाने ड्राइवर और क्लीनर ने क्या-क्या पापड़ बेले कि गाड़ी की हेड लाइट जल उठी। फिर निकल पड़े। लेकिन मेरा संदेह वैसा ही रहा कि सचमुच इन दोनों ने लाइट की मरम्मत की थी कि नहीं। जब लोगों से विश्वास उठ जाता है तो जीवन नीरस हो उठता है। जीवन की कोमलता और मसृणता नष्ट हो जाती है। कहते हैं कि सोच-समझकर समस्याओं को परखना होगा। जीवन में आलोचनात्मक दृष्टि हो। सही-सही समझदारी हो।

लगातार एक बिंदु पर देखते रहने पर आँखों को दिखना जैसे कम हो जाता है, वैसे ही सोच की ज़िंदगी में लगातार सोचते रहने पर सोचना भूल गया था!

वह विवेक अब नहीं रहा कि कौन विश्वास के क़ाबिल है, कौन नाक़ाबिल! किसके बोल भरोसे के हैं, किसके नहीं, फिर वह कोई भी हो, उसकी बातों में से किन बातों पर भरोसा कर सकते हैं, किन पर नहीं।

अनजाने ही हमारे सामने घना अंधकार फैल जाता है। एक सुबह जब तुम नींद से उठोगे तो उस घने अंधकार में कुछ नहीं दिखेगा।

लॉरी एक जगह रुक गई। नहीं, रुक नहीं गई, किसी ने रोक ली। भाव-ताव की बातें सुषुप्ति में से सुनाई दे रही थीं मगर दिमाग़ स्वीकार नहीं करता था।

वह शख़्स लॉरी पर चढ़ गया। चढ़ते ही मुझे देखकर ज़ोर की चपत मारी। चौंक उठा। वह और कोई नहीं—राजाराव, मेरा मित्र, मेरा क्लास फ़ेलो था।

उन दिनों मेरे बारे में सब कुछ जानने वाला। मेरा हित चाहनेवाला। वह जो हमेशा इस प्रयास में रहता था कि ज़्यादा-से-ज़्यादा सुख मुझे मिले और कम-से-कम दुख पहुँचे।

बड़े चाव और ख़ुशी से मिला। प्यार से पुलकित बीती हुई बातों की ख़ुशबू। इसके बाद बातचीत यांत्रिक हो चली। वह भी निकल पड़ा था सौदामिनी की शादी के निमंत्रण पर। लेकिन हमारी बातचीत में न सौदामिनी की बात उठी न सुब्बाराव की। यह साफ़-साफ़ कह नहीं सकता कि मैं बातचीत में उस प्रसंग को उठने नहीं दे रहा था या प्रसंग ही नहीं उठता था। मेरे ख़यालों में सौदामिनी और सुब्बाराव दोनों के विचार उलझ-उलझकर फैलते जा रहे थे।

शहर पहुँच गए। मेरे मन की परेशानी तीखी से तीखी होती जा रही थी। प्रयास कर रहा था कि चेहरे पर इस कमज़ोरी के भाव नज़र न आएँ। धीरे-धीरे सीटी बजा रहा था। रह-रहकर गीत की एक कड़ी गा रहा था।

कंघी चलाई। वैसे उसकी ज़रूरत नहीं थी। रिक्शे से दूरी कम नहीं की जा सकती। मगर पहुँचने की अवधि को कम कर पाए थे। उस घर के सामने रिक्शा रुका। शादी का मंडप जगमगा रहा था।

शहनाई धीमी-सी बज रही थी। लोग हड़बड़ी में इधर-उधर हो रहे थे। रौनक़ ही रौनक़ थी। मेरा चेहरा बेनूर और बेजान नज़र आ रहा होगा। लगता था कि बेहोश हो जाऊँगा।

आँगन में शहनाई का बजना रुक गया था।

मेरे कानों में किसी की फुसफुसाहट, "वधू लापता है। पत्र लिखकर कहीं चली गई। बता नहीं रहे कि पत्र में क्या लिखकर गई है।"

मेरे मुँह पर नूर आकर लहराने लगा। पाँवों की कँपकँपी बंद हो गई। बेहोशी की हालत से उबर गया। मन में शहनाई के गीत गूँजने लगे। आँगन में शहनाई बज नहीं रही है, वह मेरे मन में गूँज रही है। वह संगीत जो सुनाई नहीं देता और भी अधिक मधुर है उस संगीत से; जो सुनाई देता है।

मैंने चैन की साँस ली।

राजेश कौल

शिल्पकार

कहते हैं शिल्पकार का शरीर भी भारी-भरकम होना चाहिए और शरीर के अंदर की जान भी सख़्त होनी चाहिए, क्योंकि वह अपनी जीवनचर्या पत्थरों के बीच बिताता है—ठंडे और टेढ़े-मेढ़े पत्थरों को तराशकर मूर्ति का आकार देने का काम करने के लिए जितनी आवश्यक आदमी की प्रतिभा और कला होती है उतना ही अनिवार्य उसके शरीर का सुदृढ़ होना भी है। इस मापदंड पर यदि 'उसे' परखा जाए तो लगता है कि ईश्वर ने 'उसे' केवल इसी काम के लिए धरती पर भेजा है। शरीर भी हृष्ट-पुष्ट और प्रतिभा भी कमाल की। और तो और उसने भी स्वयं प्रभु के बनाए इस साँचे में कभी कोई फेर-बदल करने की आवश्यकता महसूस नहीं की, शायद उसने यह कभी सोचा ही नहीं कि "मैं जो कर रहा हूँ मुझे वही करना चाहिए या कुछ और।"

आप यह मत सोचें कि उसने कभी शिल्पकार बनने का कोई प्रशिक्षण लिया या किसी ने उसकी सहायता की या उसे किसी का मार्गदर्शन मिला—जी नहीं, बिलकुल नहीं।

लोग शुरू-शुरू में उसे और उसकी कला को वैसे ही देखते जैसे बरखा के बाद किसी मिट्टी की पुरानी दीवार पर घास अपने आप उग आती है—जिसका न कोई मूल्य है, न उपयोग—है तो है, नहीं होती तो क्या फ़र्क़ पड़ता—स्वयं उसे भी कभी यह ख़याल नहीं आया कि लोग क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं। पत्थर तराशते समय वह पहले किसी पहुँचे हुए संत की तरह पूजा-पाठ करता—लीन हो जाता, मानो वह सारी सृष्टि को और इसकी सुंदरता, असुंदरता, धूप और छाँव को और हर ऊबड़-खाबड़ चीज़ को समेटकर अपने शिल्प में भर देता, कभी-कभार तो यह क्रिया इतनी सूक्ष्म और नाजुक होती कि आपबीती और उसकी प्रतिक्रिया से इसे अलग करके देखना या दोनों के बीच एक लकीर खींचना असंभव हो जाता—स्वयं उसने कभी भी अपनी बनाई किसी आकृति के विषय में कोई दलील नहीं दी।

उसकी यह आदत शुरू-शुरू में यह आभास देती कि उसे शायद ख़ुद भी यह नहीं मालूम कि वह क्या बना रहा है—अच्छा ही है, चोरी-चकारी करने से तो बेहतर है कि पत्थर ही तराशता है। अपने

कश्मीरी कहानीकार राजेश कौल की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : ... एशिया हाउस, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली 110001

आपको ज्ञानी और बुद्धिमान मानने वाले कुछ लोगों का ऐसा भी ख़याल था। इसके पश्चात् क्या हुआ, यह कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता, परंतु जिस तेज़ी से समय बीता, उससे ज़्यादा गति से उसका काम-धंधा चलने लगा।

दूर-दूर तक उसकी प्रशंसा होने लगी—उसने अभी किसी कलाकृति को बनाना शुरू ही किया होता कि ख़रीदार उसके द्वार पर आ पहुँचता। यह रीति पहले से ही चली आई है कि जब भी किसी कला का भाव बढ़ा है, बिचौलिए मच्छरों की तरह अपने आप जमा होने लगते हैं। कुछ ऐसा ही उसके काम के साथ भी होता—बिचौलिए बिन बुलाए आन पड़े। अभी मूर्ति आधी भी तैयार नहीं होती कि बिचौलिया झट से सौदा तय कर लेता। ऐसे अवसर पर उसे बहुत ग़ुस्सा भी आता, इसलिए नहीं कि उसे दाम कम मिलता या ज़्यादा, बल्कि इसलिए कि उसे लगता कि उसकी कल्पना में और उसकी बनाई कृति में फ़र्क़ रह गया है और ख़रीदार के पास सुंदर कृति नहीं पहुँची। वह बिचौलियों के साथ भिड़ भी जाता।

कभी-कभी विवाद भी करता, पर कहने वालों का कहना है कि बिचौलियों के साथ भिड़ना पानी पर लाठी मारने जैसा है। उसकी अपनी ही दिमाग़ की नसें फट जातीं। मगर बिचौलिए टस-से-मन न होते। धीरे-धीरे उसने बेबस होकर बिचौलियों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया, क्योंकि वह अपना सारा ध्यान अपने काम पर केंद्रित करना चाह रहा है। उसे नाम, ख्याति और सम्मान मिले तथा बिचौलियों ने महल बनवा लिए। अब कोई भी बिचौलियों के विरुद्ध कुछ कहने की हिम्मत नहीं करता और शिल्पकार के बारे में कुछ कहने का तो प्रश्न ही नहीं था। यदि किसी को किसी बहाने उससे बातचीत करने का अवसर मिलता तो उसे लगता जैसे वह प्रतिष्ठित हो गया हालाँकि उसके दाएँ-बाएँ जो कुछ हो रहा होता, उसका उसे पता ही न चलता। उसका पूरा दिन पत्थरों के परखने, उनकी नसें जाँचने और उनके टेक्सचर को मूर्तियों में कुशलता से सँजोए रखने की समस्याओं को सुलझाने में ही बीत जाता और यह सब उसके लिए एक अवचेतन में होने वाली प्रक्रिया थी, किसी आम व्यक्ति की भूख जैसी। उसे कहीं अच्छी-सी शिला मिल जाती तो वह अपनी दुनिया ही भूल जाता। इस एकमात्र धुन और लगन से वह धीरे-धीरे बिचौलियों के अधीन हो गया।

बिचौलिए ही उसकी शिल्पकृतियों को पारखियों तक पहुँचाते और बिचौलिए ही इनका सौदा तय करते। उसे आप भी यह मालूम नहीं था कि उसकी तराशी मूर्तियों और बनाई हुई कलाकृतियों के ख़रीदार कौन थे और वह ख़रीद कर इनका क्या करते थे। वह केवल इस बात से संतुष्ट था कि उसे पत्थर भी उपलब्ध है और उसमें सृजन करने की शक्ति भी मौजूद है।

समय बीतता गया। मौसम बदले। बिचौलियों ने अपने कार्यक्षेत्र बदल दिए। नए-नए बिचौलिए सामने आए। मगर उसमें कोई फ़र्क़ नहीं आया और न ही उसे तब तक कोई बदलाव नज़र आया जब तक एक दिन सारे बिचौलिए अचानक ग़ायब हो गए बिलकुल ऐसे जैसे धूप खिलते ही बर्फ़ नज़र नहीं आती। मूर्तियों के ढेर लग गए। न कहीं बिचौलियों का नामो-निशान था, न कोई ख़रीदने वाला नज़र आ रहा था। वह जैसे सकते में आ गया—गला सूख गया और जीभ अटक गई। वह चीख़ने का प्रयत्न करता, पर गले से आवाज़ नहीं निकलती। चारों दिशाएँ जैसे शून्य बनकर जम गई थीं। जैसे आकाश से कोई विपदा टूट पड़ी हो। वह अपनी कर्मभूमि ही भूल गया और न जाने कितने समय तक अपने दाएँ-बाएँ के वातावरण को परखता रहा, पर उसके हाथ ऐसा कुछ भी न आया जिससे उसे मालूम होता कि आख़िर हुआ क्या था। पत्थरों पर काई जम गई, नसें और टेक्सचर धूल के नीचे छिप गए।

पत्थर तराशने के औज़ारों में ज़ंग लगने लगी—जीवन की आवश्यकताओं ने कोई और सहारा ढूँढ़ने पर विवश कर दिया—उसने बहुत ढूँढ़ा, बहुत बहुत समय तक ढूँढ़ता रहा।

समय का गोया उसे अब अहसास ही ख़त्म हो गया था—पर एक दिन भाग्यविधाता उस पर प्रसन्न हुए या शायद उस पर दया की—एक पुराना बिचौलिया वैसे ही सामने आ खड़ा हुआ जैसे किसी घने जंगल में बिजली कड़कने से जंगली कुकुरमुत्ते ज़मीन के अंदर से फूटकर निकल आते हैं—उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था—उसे अपने सीने से लगाते हुए उसने कहा, "छाले पड़ गए हैं मेरे पाँवों में, तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते।" वयोवृद्ध बिचौलिए ने चेहरे पर झूठी मुस्कान लाते हुए उत्तर दिया, "मुझे भी तुम्हारी ही तलाश थी। थक तो मैं गया हूँ तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते।"

शिल्पी के चेहरे पर निखार आने लगा। अपने होंठों पर अपनी जीभ फेरते हुए उसने कहा, "ऐसी मूर्तियाँ और ऐसी कृतियाँ तराशी हैं मैंने कि..."

इससे पहले कि वह अपना वाक्य पूरा करता और वयोवृद्ध बिचौलिए को फाँसता, उसने बात को बीच में ही काटते हुए कहा, "अब ऐसी चीज़ों का कोई मोल नहीं रहा..."

"क्यों?" शिल्पी ने हैरान होकर पूछा।

"बस, ज़रूरत ही नहीं रही ऐसी चीज़ों की।"

टका-सा जवाब सुनकर शिल्पकार बहुत ही मायूस हुआ क्योंकि उसे और कोई काम आता ही न था। इसी कारण वह बिचौलिए से फिर पूछ बैठा, "फिर क्या करूँ?"

बिचौलिया बूढ़ा हो या एकदम युवा, बिचौलिए के अवगुण उसमें किसी-न-किसी मात्रा में रहते ही हैं। क्षण भर के लिए वह शिल्पकार को यूँ देखता रहा, मानो उसकी बेबसी को अपने अभिमान के तराज़ू पर तोल रहा हो। एक कलाकार के रूखे अंदाज़ में अपने सूखे होंठों पर अपनी जीभ फेरते हुए उसने कहा, "तो फिर मैं क्या करूँ।"

"बस एक रास्ता है, पर वह स्वयं तुम्हें स्वीकार होना चाहिए।"

शिल्पकार ने कोई शंका व्यक्त करनी चाही थी, पर तभी बिचौलिए ने आश्वासन की मुद्रा में हाथ हिलाते हुए कहा, "नहीं-नहीं, घबराने वाली कोई बात नहीं है। कमाई तो पहले से ज़्यादा होगी। दामन तुम्हारा भर जाएगा—पर बनाना वही है जो हम कहेंगे।"

"क्या बनाना होगा?" शिल्पकार ने उत्सुकता से पूछा।

"क़ब्रों के पत्थर तराशने हैं।" बिचौलिए ने क़ब्र शब्द पर कुछ ज़्यादा ही ज़ोर देते हुए कहा।

"क़ब्र के पत्थर! मेरी समझ में कुछ नहीं आया?" शिल्पकार ने एक मूर्ख की भाँति पूछा।

"अरे क़ब्र...जिसमें मुर्दे दफ़ना दिए जाते हैं—इन्हीं क़ब्रों पर तराशे हुए पत्थर रखे जाते हैं, जिन पर मरने वाले का नाम, उसकी जन्म-मरण तिथि आदि लिखी जाती है। कभी देखा नहीं है क्या?"

प्रश्न सुनकर शिल्पकार के चेहरे का रंग पीला पड़ गया जैसे पीलिया का मरीज़ हो। उसके मुँह से बड़ी मुश्किल से "हाँ" का शब्द निकल पाया। "हाँ देखा तो है...एक जगह...मगर मैंने..."

वह अभी बोल ही रहा था कि बिचौलिए ने टोका, "दो-तीन बनाओगे तो हाथ अपने आप सध जाएगा।"

शिल्पकार भी ताव में आ गया, "हाथ तो ठीक है, पर यह तो मालूम होना चाहिए कि परलोक सिधारने वाले का नाम क्या है, उसकी जन्म या मरण तिथि क्या है!"

"तुम किसी काम के नहीं हो।" बिचौलिए ने आधी बात सुनकर रौब जमाना चाहा, "तुम कुछ भी नहीं कर पाओगे।...नाम-वाम की चिंता छोड़ो, क्योंकि अब हर नाम का एक पत्थर चाहिए। तुम्हारे मन में जो नाम आता है उसी
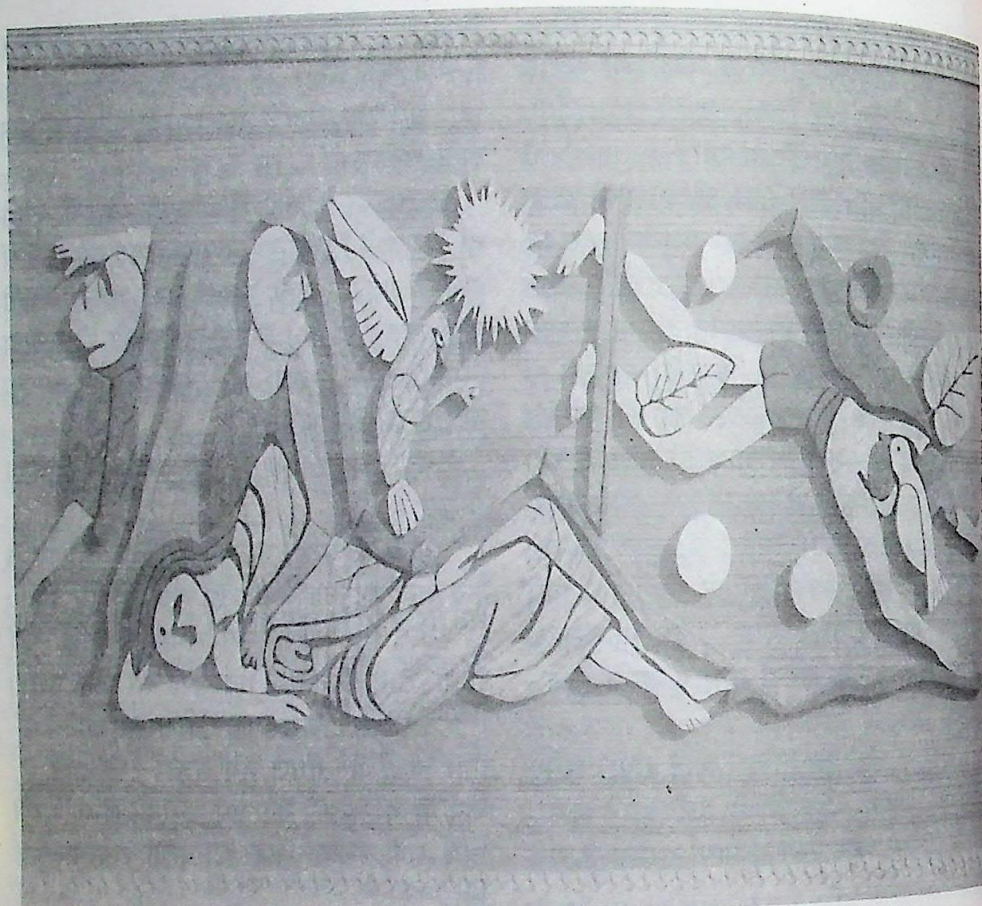
नाम का पत्थर तराश डालो—फिर देखना कि दौलत के लिए तुम्हारा दामन छोटा पड़ जाएगा—गिनते-गिनते तुम्हारे हाथ थक जाएँगे।''

''और जब सभी नामों के पत्थर बन जाएँगे, मतलब जब कोई नाम बाक़ी न बचेगा तो?'' शिल्पकार ने दबी हुई आवाज़ में पूछा।

''तब तुम दोबारा पहले वाले नाम से शुरू करो...क्योंकि एक नाम एक ही आदमी का तो नहीं होता।''

बिचौलिए की यह बात सुनकर जैसे वह ज़मीन के अंदर धँस गया। पर बिचौलिए ने ऐसी दहाड़ लगाई कि वह जैसे खाई से किसी बारूदी सुरंग की तरह फटकर बाहर निकल आया।

''तो फिर किस बात का इंतज़ार है! शुभ कार्य में देर नहीं करते।'' बिचौलिए के इन शब्दों की गूँजती आवाज़ को अपने कानों में रखकर शिल्पकार नाक की सीध में चलकर उस जगह पर पहुँचा जहाँ पर वह पत्थरों के ढेर में हथौड़ा चलाता और पत्थर तराशता था। बस वह दिन था कि शिल्पकार अपने काम में बहुत ही मगन रहने लगा। अभी उसने हथौड़ा चलाया ही नहीं होता कि क़ब्र पर रखने वाला एक पत्थर तैयार हो जाता और अभी पत्थर तैयार नहीं हुआ होता कि एक लाश क़ब्रिस्तान पहुँच गई होती।

जानने वालों का कहना है कि शिल्पकार का धंधा इतना चल पड़ा है कि शहर में पत्थरों की कमी होने लगी है। अब अपने लिए भी एक पत्थर तराशना चाहता है क्योंकि उसे आशंका है कि उसके मरने तक शायद ही कोई पत्थर बाक़ी बचेगा...।

करनजीत सिंह

ज्ञानात्मक संवेदन का पैरोकार : सोहन सिंह सीतल

"बचपन में यह विचार प्राय: मेरे मन में उठता रहता था कि मौत के साथ मर जाना कैसी ज़िंदगी है।"

सोहन सिंह सीतल मुझे बता रहा था। बहुत देर तक उसकी बातें सुनने के पश्चात् मैंने पूछा था, "आपको लिखने की प्रेरणा कैसे मिली ?"

हल्के-हल्के बादल थे जब शाम के छह बजे के क़रीब लुधियाना के मॉडल ग्राम में मैं 'सीतल भवन' जा पहुँचा। कोठी की ऊपरी मंज़िल के आँगन में सोहन सिंह सीतल एक कुर्सी पर टेक लगाए बैठा कुछ पढ़ रहा था। यह हिंदी की कोई पुस्तक थी या फिर बंगाली की किसी पुस्तक का हिंदी अनुवाद। मैंने जाकर सत्श्री अकाल कहा तो उठकर वह बड़े स्नेह के साथ मिला। कुर्सी मेरी ओर सरकाकर वह स्वयं सामने चारपाई पर बैठ गया, जिस पर पहले उसने टाँगें फैला रखी थीं। सिर पर पीले रंग की छोटी दस्तार, गले में कुर्ता और नीचे कच्छा, चमकता हुआ चौड़ा चेहरा, मोटी आँखें बोलती हुई, जिन पर भौंहें एक प्रकार का नृत्य करती मालूम होती थीं। बीमार होने के बावजूद शरीर शक्तिशाली प्रतीत होता था। मेरी इच्छानुसार मेरे लिए चाय का एक प्याला तैयार करने के लिए कहकर उसने बातों का सिलसिला शुरू कर दिया था। यह सिलसिला बीच में टूटता-जुड़ता रहा और बातों की यह कड़ी रात के कोई ग्यारह बजे तक जारी रही।

जब मैंने यह प्रश्न किया तो मेरे मन में यह बात थी कि शायद देवत्व के कारण ही वह उपन्यास रचना की ओर प्रेरित हुआ हो जिस प्रकार उसने एक ढाडी (वीर रस की कविताओं का गायन करने वाले धर्म गायक) के रूप में काम करना शुरू किया था और वह वर्षों तक इस पथ का अनुसरण करता चला गया। शायद आपको यह मालूम ही होगा कि उपन्यासकार सोहन सिंह सीतल वही व्यक्ति हैं जो पंजाब में ही नहीं वरन् भारत में तथा भारत के बाहर भी एक ढाडी के रूप में अधिक जाना जाता है। कई लोग इस बात पर यक़ीन नहीं करते कि एक ढाडी उपन्यासकार भी हो सकता है।

मैंने बातों ही बातों में उससे पूछा था, ''आपने दर्जन के लगभग उपन्यासों की रचना की है और मेरी राय में यथार्थ की पकड़ की दृष्टि से आपके उपन्यास अपने समकालीनों से बेहतर हैं फिर भी आपकी चर्चा बिलकुल नहीं हुई। आपने इसका कारण कभी सोचा है?''

''आपके खाने-पीने के बारे में तो मुझे मालूम नहीं, किंतु मैं ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने किसी के साथ बैठकर चाय तक नहीं पी। एक बार भाषा विभाग अथवा किसी यूनिवर्सिटी की ओर से पंजाबी साहित्य का इतिहास लिखवाया जा रहा था। इतिहास लेखक ने मेरे बारे में एक उपन्यासकार के रूप में कुछ पृष्ठ लिखे। शोधकर्ता ने (जो साहित्यिक क्षेत्र का जाना-माना व्यक्ति है) पूछा, ''क्या यह वही सोहन सिंह सीतल है जो ढाडी है?'' लेखक की ओर से हाँ का उत्तर पाने के बाद शोधकर्ता ने कहा, ''तो मैं उसे जानता हूँ। वह ढाडी तो अच्छा है, पर है तो एक ढाडी ही न! वह उपन्यास कैसे लिखता होगा?'' और इसके साथ ही उसने मेरे बारे में लिखे गए पृष्ठों को काट दिया। लेखक ने पूछा, ''आपने उसका कोई उपन्यास पढ़ा है?'' तो शोधकर्ता ने उसे दृढ़ता अथवा हठधर्मी से कहा, ''पढ़ा तो नहीं किंतु मेरे विचार में एक ढाडी उपन्यास नहीं लिख सकता।''

''दूसरी बात होती है व्यक्ति को प्रशंसा की भूख। ढाडी के रूप में मुझे इतनी प्रशंसा एवं इतना सम्मान मिला है कि मेरी इस रुचि की पूर्ण तृप्ति हो गई है। किंतु मेरा यह विश्वास सदा से बना रहा है कि मेरी इस रचना का मूल्यांकन अवश्य होगा।''

ढाडी का कृत्य भी सोहन सिंह सीतल का कोई सुविचारित चुनाव नहीं था। बात इस तरह हुई, उसकी आयु उस समय 24 वर्ष की थी कि उनके गाँव में रासधारिए आए। उन दिनों पंजाब में रास का प्रचलन था। रास रचाने वाले लड़के राम और सीता अथवा कृष्ण एवं राधा का स्वाँग करते थे और गाते थे। सीतल को नृत्य में रुचि नहीं थी किंतु संगीत से उसे गहरा लगाव था। इसलिए वह घर में चारपाई पर पड़ा-पड़ा संगीत का रस लेता रहता और उसके मित्र हमजोली झुंड में बैठकर रास का आनंद लेते। उसके कथनानुसार उसके साथियों ने एक संगीत मंडली बनाने का सुझाव दिया। सीतल ने कहा कि यदि वे कीर्तन मंडली बनाने के लिए तैयार हों तो वह उनके साथ सहयोग कर सकता है। मित्रगण मान गए।

सीतल को गुरुबाणी से प्रेम एवं कीर्तन की लगन विरासत में मिली थी। उन्हीं दिनों इलाके पर कीर्तन का बहुत प्रचलन था तब मित्रों ने मिल-जुलकर ढपली और सारंगी ख़रीद ली। पड़ोस के गाँव में रहनेवाले एक शेख से सारंगी बजाना भी सीख लिया। छह महीने के परिश्रम के बाद ही उन्हें इधर-उधर से निमंत्रण मिलने लगे।

एक बार पड़ोसी गाँव रत्तोके में लगे भारी मेले में अनेक गायक मंडलियाँ एकत्रित हो गईं। सीतल की मंडली सबसे कम उम्र के युवकों की थी और यह एक नई मंडली थी। इनकी मंडली दूसरी मंडलियों को मात दे गई जिसके कारण सीतल की कीर्तन मंडली को केवल अपने इलाके में ही लोगों की मान्यता नहीं मिली अपितु उसने शत्रुओं को भी मित्रों में बदल डाला। एक सज्जन जो रिश्ते में सीतल का चाचा लगता था और जो इलाक़े का माना हुआ बदमाश भी था; वह सीतल के परिवार के साथ पंगे लिया करता था; वह इस बात पर प्रसन्न था कि उसके भतीजे ने गाँव का सिर ऊँचा कर दिया है। उसके पश्चात् उसके व्यवहार में भारी तब्दीली आ गई।

''आपने ढाडी बनकर अथवा धार्मिक गायन करके अपना संपूर्ण जीवन सिख धर्म के प्रचार के लिए अर्पित कर दिया फिर आपने विशु

...की रचना कैसे कर डाली ? इन समस्त ...ों का आपने समन्वय कैसे किया ?''

"वास्तविकता यह है कि मैं आज जो कुछ ...हूँ मात्र इसीलिए हूँ कि मैं ढाडी अथवा ...गायक हूँ।'' सीतल ने बड़ी सार्थक बात ...और बात के संदर्भ को बिना मतलब ही ...-पीछे किया। उसकी दाईं भौं आँख के ऊपर ...लगी थी और उसके चौड़े माथे पर सलवटें ...ने लगी थीं।

"यदि मैं ढाडी न होता तो शायद मैं जीवित ...न रहता। ढाडी के रूप में मैं इसलिए सफल ...रहा क्योंकि मैं एक ऐसा गायक भी था जो ...से अधिक पढ़ा-लिखा था। मैंने स्वयं नई ...(अथवा वीर रस से परिपूर्ण लंबी कविताएँ) ...ली थीं। उन्हें गाने का अंदाज़ नया ढूँढ़ा था। ...ने अपने लैक्चर को सिख इतिहास के अतीत ...साथ और सिख क़ौम के वर्तमान के साथ इस ...प्रकार जोड़ा कि ऐसा अभी तक कोई और नहीं ...कर सका। धार्मिक होने के कारण ही मेरी सिख ...इतिहास में दिलचस्पी हुई। यह भी एक दिलचस्प ...घटना है। बात ऐसी हुई कि एक बार दीवान में ...कुछ गायकों ने मंगलाचरण के शब्द ही ग़लत ...दिए। इस पर बाबा फतेह सिंह माँगा ने जो उस ...की जान थे—गायकों को अनपढ़ कहकर ...उनकी खिल्ली उड़ाई और व्यंग्य किया। मैं ...जवान था और कुछ पढ़ा-लिखा भी था इसलिए ...गुस्सा तो आया किंतु मैं चुप रहा क्योंकि बात तो ...उन्होंने ठीक ही कही थी। किंतु बाबा माँगा के ...व्यंग्य के पश्चात् मैंने सिख इतिहास का ...भी गहन अध्ययन किया। 'सिख राज का ...अंत कैसे हुआ' यह अपने समय की एक ...ऐतिहासिक पुस्तक है। भले ही हमारे बुद्धिजीवी ...स्वीकार करने में झिझकते हैं। इस प्रकार मैं ...गायक एवं इतिहासकार बना।'' इसके पश्चात् ...उन्होंने एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे।

"आप राजनीतिक दृष्टि से अकाली दल के उद्घोषक रहे हैं। आप इस राजनीति की ओर कब आकृष्ट हुए ?''

सुबह नाश्ते के पश्चात् हमारी बातचीत प्रश्नोत्तरी के रूप में चल निकली। चारपाई से टाँगें लटकाकर बैठे हुए मैंने सामने पड़ी मेज़ पर डायरी खोलकर रखी थी और आवश्यकता के अनुसार नोट कर रहा था। मेरे सामने दाईं ओर करतार सिंह कालरा एवं बाईं ओर सोहन सिंह सीतल कुर्सियों पर बैठे थे। जब मैंने यह प्रश्न किया तो मेरे मस्तिष्क में वर्षों पहले का दृश्य साकार हो उठा था। अमृतसर ज़िले का शहर तरन तारन। विस्तृत मैदान में अकाली कॉन्फ्रेंस का पंडाल। ठीक से याद नहीं पर यह 1949-50 की बात होगी। केहर सिंह वैरागी के भाषण के बाद सीतल की गायक मंडली कीर्तन करने के लिए उपस्थित हुई। सीतल का लंबा ऊँचा और चौड़ा शरीर; भरवीं दाढ़ी वाला चमकता रोबदार चेहरा। सिर पर नीली पगड़ी, कुर्ता और चूड़ीदार पायजामा। हाथ में तीन फुटी किरपाण। सिखों एवं फिरंगियों की लड़ाई का प्रसंग था और इसमें महारानी जिंदा एवं शाम सिंह अटारीवाला की भूमिका।

"यह 1935 की बात है'', सीतल कह रहा था, "जब मैं मंच पर आया था। उस समय अकाली बहुत सक्रिय हुआ करते थे। मेरे मन में भी अंग्रेज़ों के प्रशासन के विरुद्ध घृणा थी। उस समय देश को स्वतंत्र कराने की नीति सबकी साझी नीति थी। सिख प्रचारक के रूप में मेरा उनके साथ जुड़ जाना बहुत स्वाभाविक था। 1955 तक मैं अकालियों के साथ रहा हूँ। उसके पश्चात् मेरा मन नेतृत्व से विमुख हो गया। आर्य समाजियों की मानसिकता पर सदा यह संदेह रहा है कि वे हमें तो चाहते हैं किंतु हमारी शक्ल को नहीं चाहते।'' सीतल ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "इसीलिए मैं पंजाबी सूबे

का समर्थक था किंतु जो पंजाबी सूबा बना है उसका नहीं।''

''जब आपने उपन्यास लिखने आरंभ किए तो पहले कुछ उपन्यास पढ़े भी तो होंगे?'' मैंने राजनीति से साहित्य की ओर लौटने का यत्न किया। मुझे यह बात तो सीतल ने पूर्व संध्या को ही बता दी थी कि उसका पहला शौक़ कविता लिखना था। स्कूल में पढ़ते समय ही वह कविता लिखकर मंच पर बोला करता था। दसवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उसने उर्दू के सुप्रसिद्ध कवियों हाली, ग़ालिब, ज़ौक, दाग़, इक़बाल इत्यादि की कविताएँ पढ़ी थीं। अपने मन की इच्छा को उसने एक शेर में इस प्रकार व्यक्त भी किया :

मरने के बाद सीतल अपनी करेगा कोई।
करते हैं हम जहाँ में, गुज़रे हुओं की बातें॥

इसलिए शायद आपको मालूम होगा कि सोहन सिंह सीतल का एक और रूप गीतकार का रूप है। उसने 70 से अधिक वारें (वीर रस की लंबी कविताएँ) लिखी हैं तथा दो गीत-संग्रह पाठकों को भेंट किए हैं। कई लोग यह देखकर दंग रह जाते हैं कि इतना गहन-गंभीर एवं धर्म प्रचार करने वाला व्यक्ति इस प्रकार के गीतों की रचना किस प्रकार कर लेता है। सीतल मुझे बता रहा था, ''आदमी के दिल की हसरतें कभी नहीं मरती-मिटतीं। जब गीत लिखता हूँ तो मैं अपनी जवानी को लौटा लाता हूँ।''

जब मैं गीत लिखता हूँ जवानी को बुला लेता।
जो थक कर सो गई हसरतें उन्हें फिर जगा लेता॥

इसलिए इस कल्पना को और साकार करने के लिए उसने अपने एक अन्य गीत के बोल सुनाए :

सूरज पर पल्ला डाल आई, नाजो रात न
बादलों के घूँघट में छिपे प्रभात न।

इसलिए उसने अपने दोनों हाथों तथा सिर के पल्ले के साथ सूरज रूपी चेहरे को ढक लेने का पूरा अभिनय करके दिखाया। मेरे समक्ष विराजमान धर्म प्रचारक सीतल युवक-युवतियों के दिलों की बात जानने वाला महबूब लोक कवि बना बैठा था...

हाँ, तो उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए सीतल ने कहा, ''मैंने उस समय अनेक उपन्यास पढ़े। मोहन सिंह वैद्य के, भाई वीर सिंह के और नानक सिंह के। नानक सिंह मुझे कुछ अलग-सा लगा। मेरे पहले दो-तीन उपन्यासों में नानक सिंह का प्रभाव भी प्रत्यक्ष है। प्रेमचंद को मैंने नानक सिंह के कहने पर पढ़ा था। तकनीक अथवा आलोचना की कोई पुस्तक उन दिनों मैंने नहीं पढ़ी थी। उसके पश्चात् मैंने नानक सिंह के मार्ग से स्वयं को अलग कर लिया। नानक सिंह अपने उपन्यास के जिस कथन को वास्तविक सच कहता था, मुझे बाद में भान हुआ कि वह आधा सच होता था। वह सच विशुद्ध रूप से कल्पना पर आधारित होता था। मैंने कहानी जीवन से प्राप्त करनी आरंभ कर दी थी। मेरा निश्चय है कि सहस्त्रों कल्पनाएँ मिलकर भी सत्य का मुक़ाबला नहीं कर सकतीं।'' सीतल ने बताया कि अब उसका शौक़ उपन्यास पढ़ना है। उसने दूसरी भाषाओं के अनेक उपन्यास पढ़े थे। उसे शरत् चंद्र और दोस्तोएवस्की बहुत प्रिय थे। मैं दोष भी उसी लेखक में से ढूँढ़ने की कोशिश करता हूँ जो मुझे पसंद हो। शरत् चंद्र का नाम पुस्तक से मिटा दें तो पाठक आठ-दस पन्ने पढ़ने के बाद किताब फेंक देगा। दोस्तोएवस्की स्थिति का चित्रण अद्भुत करता है और पात्र को साकार खड़ा कर देता है।

''नानक सिंह की भाँति आपको भी स्त्री से अथाह सहानुभूति है?''

कालरा ने कुछ इस प्रकार की बात की।

''यह मैंने अनुभव किया है। परंतु स्त्री अयोग्य भी हो सकती है और पुरुष सुयोग्य भी। 'अभी सुंदरता' में से उदाहरण देने के लिए कुमारी के

...में लता है और शोरी के मुक़ाबले में
...है।'' मैंने प्रश्न को प्रासंगिक बनाना चाहा।
... करामात को नहीं मानता, किंतु प्रकृति
... नियमों का भी उल्लंघन होता है। कइयों
... के स्थान पर छह उँगलियाँ हो जाती हैं।
... स्तन पान कराने से प्रसव के बिना ही
... छाती में दूध उतर आता है। मेरे सामने
... यह है कि स्त्री अधिक वफ़ादार है
...। मेरे विचार से वफ़ादारी औरत के हिस्से
... आई है।''

''...ने इतने पात्रों की रचना की है। आपकी
... दृष्टि में सबसे प्यारा पात्र कौन-सा है ?''
...।

''...रनजीत सिंह जी, आपने यह बहुत कठिन
... किया है। मूर्तिकार को अपनी हर मूर्ति
... लगती है। मैंने देखा है उपन्यासकार अपने
... बहुत ख़ूबसूरत पेश करते हैं। मैंने सोचा
... बदसूरत भी हीरो हो सकता है, जैसे *युग
... गया* के डूडे (अपंग व्यक्ति अथवा टुंडा)
... ले लें।''

''...किंतु यदि पारंपरिक ढंग से सोचें तो उसे
... हीरो नहीं कहा जा सकता!'' कालरा ने
... किया।

''...न सही!'' सीतल पूरे वेग के साथ कह
...।'' किंतु उस पात्र में उपन्यास की जान
...

''...पात्र का सृजन करके आपने यह सिद्ध
... है कि यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों
... क्या नहीं कर सकता। दर-दर भटकते
... पेट की आग की निश्चिंतता एक परिश्रमी
... बना देती है।'' मैंने अपनी प्रतिक्रिया
...।

''...मारी सबसे बड़ी बेचैनी ही यह है
... सिंह जी कि कल क्या होगा!'' सीतल
... था। पूँजीवादी समाज का सबसे बड़ा
... है। इसीलिए तो बसंत कौर
कहती...''घर की रोटी में सब्र होता है। जब डूडे को घर से रोटी मिलने लगती है तो उसकी अगली जून तक की रोटी की फ़िक्र समाप्त हो जाती है और वह ईमानदार कामगार बन जाता है।''

''वास्तविक समस्या तो तभी हल होगी जब समूचे समाज की कल की चिंता जाती रहे।'' मैंने कहा।

''हाँ, ऐसा समाज अवश्य आएगा। गुरु साहेबान ने इसी प्रकार के समाज का निर्माण करने के लिए प्रयत्न किए थे। किंतु वे नहीं कर सकते। राज वही कर सकता है जो बराबर का जुल्म करे, जो जुल्म नहीं कर सकता वह राज नहीं कर सकता। राज बंदा सिंह ही कर सकता था।'' सीतल सिख इतिहास टटोल रहा था।

''वास्तव में, समाज की बुनियादी तबदीली के लिए उन दिनों बहिर्मुखी हालात तैयार ही नहीं थे, न ही सामाजिक विज्ञान की ऐसी समस्या थी। मार्क्स तब पैदा ही नहीं हुआ था।'' कालरा ने अपना मत व्यक्त किया।

''वह हो नहीं सकता था। सिख लहर भी समाज में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी।'' मैंने कहा।

''नहीं ऐसी बात नहीं, सिख लहर का समाज पर प्रभाव पड़ा है।'' सीतल कह रहा था। ''सिखी ने औरत को बराबरी का दर्जा दिया। जीतो जी ने अमृत में पताशे डाले थे। इस लहर से स्त्री को धर्म और राजनीति में दख़ल देने का अधिकार मिला। साहिब कौर एवं सदा कौर का उदाहरण ही लें।''

''किंतु बात इक्का-दुक्का उदाहरण तक नहीं रह गई। अधिक-से-अधिक राजघराने तक समझ लीजिए।'' मैंने प्रश्न किया।

''यह ठीक है करनजीत सिंह जी, आर्थिक समस्या सबसे बड़ी समस्या है। बंदे के राज का यह परिणाम निकला कि पंजाब का किसान

ज़मीन का मालिक हो गया। अब यह पुनः ग़ुलाम नहीं बन सकता। फिर उदाहरण दिए गए। ''रणजीत सिंह आया...'' सीतल कह रहा था।

''मैं तो कम्युनिस्ट विचारों का व्यक्ति हूँ, आपकी सोच का स्रोत गुरुबाणी है...।''

''हाँ गुरुबाणी...'' सीतल ने मेरी बात बीच में ही काट दी।

''मैं पूछना चाहता हूँ कि गुरुबाणी की प्रेरणा से इस समस्या को बदला जा सकता है जब गुरुबाणी के नाम लेने वाले स्वयं माया की दलदल में फँसे हुए हैं।''

''हाँ, मेरा विश्वास है कि एक दिन ऐसा आएगा। मैं गुरुद्वारे को माथा टेकने का स्थान मानता हूँ, खाने का अड्डा नहीं। वास्तव में, रणजीत सिंह के बाद सिखी हिंदू धर्म में लीन हो गई। मेरा विश्वास है कि जब सियासत सामने रहती है तो धर्म पीछे हो जाता है। आज की सिखी सिंह सभा की देन है। गुरुबाणी क़दम-क़दम पर माया से विमुख होने की बात करती है। फिर सोहन सिंह सीतल ने बताया कि वह गुरुबाणी को उस तरह नहीं समझता जैसा साधारणतया समझा जाता है। वह गुरुबाणी को तीन भागों में बाँटता है। एक भाग गुरु साहेबान की अपनी रचना का है जिसको वह गुरुबाणी मानता है। एक भाग वह है जो गुरुओं की श्रद्धा भक्ति से रचा गया है। और तीसरा भाग पुराण वाणी का है जिसके अंतर्गत पौराणिक संदर्भ एवं भक्तों की वाणी है। सीतल का संकेत श्रीमुख वाक्य पर ही है। उसका यह निश्चय है कि गुरुबाणी की वास्तविक आत्मा वर्तमान स्थिति से मुक्त हो सकती है।''

''सीतल जी, केवल गुरुबाणी और सिख इतिहास ही नहीं पढ़ते। उन्होंने मार्क्स और लेनिन की रचनाएँ भी पढ़ी हैं। ये रचनाएँ उनकी निजी लायब्रेरी में मौजूद हैं।'' करतार सिंह कालरा ने मुझे बताया।

''हाँ, मैंने मार्क्स एवं लेनिन की कुछ रचनाएँ पढ़ी हैं और मैं महसूस करता हूँ कि कम्युनिज़्म भी हमारा अंतिम पड़ाव नहीं हो सकता। किंतु यह पूँजीवाद से बेहतर समाज है। कुछ दिन पहले मैं अमृता प्रीतम की पुस्तक *इक्कीस पत्तियों वाला गुलाब* पढ़ रहा था। उसमें भी उसने लिखा है कि कम्युनिज़्म वाले कुछ देशों में लिखने-बोलने का संपूर्ण स्वतंत्रता है। ख़ैर मुझे इस समाज की एक बात बहुत पसंद है कि उसमें रहकर कोई पैसे-से-पैसे नहीं बना सकता। ग़रीबी दुखदायी नहीं कालरा जी, आर्थिक असमानता अधिक दुखदायी है।'' सीतल ने अपना निर्णय सुनाया।

''आपने उस सिद्धांत को पढ़ा है। आपके विचार का सार क्या है?'' बात साहित्य से दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर गई।

''यदि मुझे एक वाक्य में अपनी बात कहनी हो तो मैं कहूँगा कि कम्युनिज़्म का सिद्धांत केवल शारीरिक आवश्यकताओं के लिए है। हमारी आवश्यकताएँ इसके आगे भी हैं। बात आत्मिक संतोष पर आकर टिकती है।'' सीतल ने दार्शनिक सार प्रस्तुत किया।

''चाचा जी, आत्मिक संतोष भी तभी रहता हैं यदि शारीरिक आवश्यकताओं की शर्तें हों।'' कालरा सीतल के बेटे का सहपाठी है। इसीलिए वह उन्हें चाचा जी कहकर संबोधन करता है। इक्के-दुक्के व्यक्ति की संतुष्टि तो पूँजीवादी समाज में भी मिल जाती है और वह आत्मिक आवश्यकताओं के विषय में सोच भी सकता है किंतु....कालरा ने बात जारी रखी।

''पूँजीवादी समाज में तृप्ति हो ही नहीं सकती।'' सीतल ने दाएँ हाथ की मुट्ठी बाँधकर बाज़ू को झटका देते हुए कहा, ''यहाँ पर तो होड़ है; पैसे के लिए, माया के लिए। मुझे ... याद नहीं है किंतु बात यह है कि माया की भूख आग की भाँति है। ज्यों-ज्यों लकड़ियाँ डालो

...जो यह और भड़कती जाती है। तृप्ति धर्म में ...है। धर्म से मैं अंधश्रद्धा का भाव नहीं लेता। ...एक विचारधारा है।"

"आपका आशय है तृप्ति के लिए वैयक्तिक ...नों का कोई अर्थ नहीं। संपूर्ण समाज की ...ति सुधारने की आवश्यकता है।" मैंने ...ष्टीकरण माँगा।
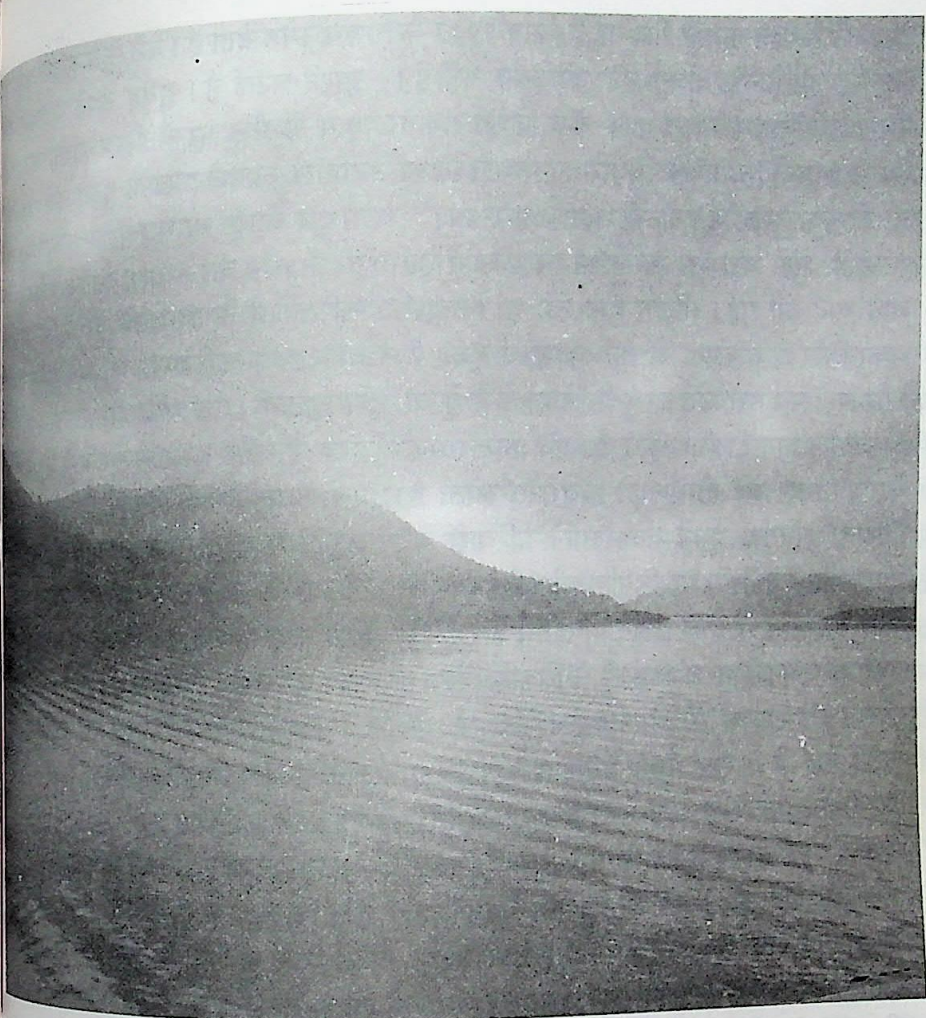
"बिलकुल! वाणी यही बात कहती है।"

...जब हर बात की पुष्टि गुरुबाणी से करता ...तो मुझे प्रो. किशन सिंह का स्मरण हो आया। ...का उद्देश्य गुरुबाणी का प्रचार, दूसरे का ...मार्क्सवादी विचारधारा की प्रस्तुति। किंतु ...की प्रस्तुति में अद्भुत समानता।

"यदि मैं कहूँ कि जिस आत्मिक संतोष की बात आप करते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए कम्युनिज़्म की स्थापना, इस समाज से अगला पड़ाव है तो आप मुझसे सहमत होंगे?" मैंने मूल बात कही।

"बिलकुल सहमत हूँ। मानव प्रगतिशील है। धर्म एवं समाज इसी कारण परिवर्तनशील हैं।" सीतल ने कहा।

"अपनी मानसिक एवं बौद्धिक पद्धति बदलने के साथ मनुष्य समाज को भी बदलना चाहता है..." कालरा अभी बात कर ही रहा था कि सीतल ने कहा, "मनुष्य के चाहने या न चाहने की बात नहीं। यह प्रकृति का नियम है। हमारे

देश की स्थिति काफ़ी गिर गई है। सन् 1947 के पश्चात् बेईमानी जीवन का अंग बन गई है। ईमानदारी से हम केवल दाल-रोटी ही खा सकते हैं। मैं अपनी कमाई से रघुवीर को केवल शिक्षा ही दिलवा सका हूँ, मकान नहीं बना सका।''

अतः मुझे घंटा भर पहले भोजन कक्ष में हुई बातें याद आ गईं। सीतल बता रहा था कि इस मकान पर एक लाख से अधिक ख़र्च हुआ है और यह सब उसके बेटे रघुवीर ने ही भेजे थे जो आजकल कनाडा में डॉक्टर है। एक हज़ार गज़ के प्लॉट पर यह दोमंज़िली ख़ूबसूरत कोठी है जिसके अंतर्गत अपने तथा अपने परिवारों के लिए 400 गज़ भूमि पर निर्माण हुआ है। रघुवीर सिंह ने इंग्लैंड में उच्च शिक्षा प्राप्त की है। उसने वहाँ पर एक आयरिश लड़की से विवाह किया। सीतल बता रहा था कि उसकी बहुधार्मिक रुचियों वाली स्त्री है। ''वह यहाँ पर आई एवं बिना किसी के आदेश-उपदेश के वह हमारे रीति-रिवाजों का पालन करने लगी। सुबह उठकर वह गुरुद्वारे माथा टेकने जाती। एक दिन वह गिरजा गई और वह भी अपने ससुर से आज्ञा लेकर।'' नाश्ते से फ़ारिग होकर जब मैंने सीतल की स्टडी में झाँका तो रघुवीर और उसकी पत्नी की तसवीर उस कमरे में देखी थी। वह सहजधारी बना हुआ था।

बाद में बातचीत में मैंने सीतल से पूछा कि रघुवीर के केस कटवा लेने पर उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ा। ''प्रभाव बुरा है,'' उसने बताया, ''और मैंने यह बात रघुवीर से छिपाई भी नहीं है। वह बहुत आज्ञाकारी एवं सेवादार बेटा है। मैं उससे बहुत प्रसन्न हूँ परंतु यदि उसने केस न कटवाए होते तो मेरी प्रसन्नता कहीं अधिक होती।'' मुझे प्रतीत हुआ कि सोहन सिंह सीतल का व्यक्तित्व एक अनोखा संगम है। उसकी यूरोपीय बहु जिसकी श्रद्धा ईसाई मत में थी, उसकी दृष्टि में गुरुमुख है। वह उसे पितृ प्रेम एवं स्नेह देता है। बेटे ने केस कटवाकर उसकी ख़ुशी घटाई है। सुबह नाश्ते के समय डाइनिंग रूम में मेज़ पर बैठे हम नाश्ता कर रहे थे तो सीतल आमलेट खाता हुआ कड़े वाले गिलास से दूध के घूँट भर रहा था। एक ओर वह गुरुवाणी पर निश्चय करने वाला आस्तिक है। दूसरी ओर नास्तिकता के सिद्धांतों पर निर्मित समाज को वह अपनी आस्तिकता की मंज़िल का एक पड़ाव समझता है। एक समय वह गहन-गंभीर प्रचारक होता है और दूसरे समय वह जवान हिरणियों एवं रोमानी भावों को गीत रचना में परिवर्तित कर रहा होता है। सीतल आस्तिकता तथा नास्तिकता का, नवीनता एवं पुरातनता का, पूर्व तथा पश्चिम का, बौद्धिकता एवं रोमानियत का एक संगम है।

''अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में कुछ बताएँ?'' मैं सीतल के भीतरी कलाकार के दर्शन करना चाहता था।

''पहले तो उपन्यासों के नोट्स ले लिया करता था। किंतु अब तो मैं बिना कुछ सोचे लिखने बैठ जाता हूँ। सिर्फ़ एक बात मैं सोच लेता हूँ कि इस उपन्यास में इन पात्रों के माध्यम से मैं अपनी बात कहूँगा।''

''*जुग बदल गया* में बसंत कौर को परंपरागत भारतीय नारी के रूप में प्रस्तुत करना था। स्वयं को बदल रही स्त्री के रूप में, जो अपने अधिकारों के लिए जागरूक है और राजो, जन्म सिद्धांत की प्रतीक है। बसंत कौर (*जुग बदल गया*), शामो (*ज्वालामुखी*) और पालो (*जंग जां अमन*) अपने-अपने ढंग से अपना रोष व्यक्त करती हैं। मैं कई-कई रातें अपने पात्रों के साथ बातें करता रहता हूँ।'' सीतल ने अपनी दाईं कनपटी को खुजलाते हुए मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में प्रभावशाली कलाकारी चमक थी। इन्हें साकार करते समय इनका चरित्र कई बार बदल जाता है किंतु इनकी सूरत नहीं बदलती।

"पहली पांडुलिपि में कितना संशोधन करते हैं?"

"बहुत अधिक नहीं। बहुत परिवर्तन भाषा में करना पड़ता है।" उस समय मुझे डॉक्टर ...र सिंह की याद आ गई। उसने एक बार ...ों-बातों में कहा था, "सीतल ऐसा उपन्यासकार है जो अपनी भाषा के लिए सचेत है। उपन्यास रचना में भाषा के प्रयोग का उसे पूर्ण ज्ञान है। *पतवंते कातिल* और *विभीक्षण* ऐसे उपन्यास भी हैं जिन्हें लिखते-लिखते बीच में ही छोड़ दिया और काफ़ी देर के बाद नए सिरे से लिखा। सात-आठ या दस बार मैं पांडुलिपि को दोहराता हूँ।"

"कई बार महसूस होता है कि आप पात्रों से बहुत निर्दयी व्यवहार करते हैं। बड़े भले इंसानों को आप मौत के मुँह में धकेल देते हैं। और मजबूरी केवल कहानी को आगे बढ़ाने की होती है।" मैं कह रहा था और पास बैठा कालरा कह रहा था, "यह बिंदु आपने ख़ूब उठाया है। मुझे भी यह बात चुभती थी किंतु मैंने इतनी शिद्दत के साथ महसूस नहीं किया।"

"मैंने देखा है, बड़े-बड़े उपन्यासकार भी कई बार कहानी को इस प्रकार आगे ले जाते हैं। यह ठीक कहानी की आवश्यकता के अनुसार ही होता है।"

"किंतु इस बात को इस रूप में दुर्बलता ही समझा जाता है।"

"अपना-अपना विचार है। हो सकता है आप ठीक कह रहे हों। मैं एक प्रचारक हूँ। मुझे तो अपने विचारों को प्रस्तुत करना होता है।" सीतल ने बात को विराम दिया।

"लिखने से पूर्व मानसिकता कैसी होती है?" मैंने रचनात्मक प्रक्रिया की और थाह पानी चाही।

सीतल एक क्षण के लिए ख़ामोश रहा। वह अपने हाथों से घुटने एवं पिंडलियाँ सहला रहा था। उसने पैर कुर्सी पर ही टिकाए हुए थे। अतः फिर उसकी आँखों पर भवें ज़ोर-ज़ोर से फड़कने लगीं।

यह स्थिति पूरी तरह पकड़ में नहीं। मन में कुछ उतावलापन होता ज़रूर है। भीतरी उकसाहट के बिना मैं कभी लिखने के लिए नहीं बैठा और लिखने के दौरान पहले दो-चार दिन तो छुट्टियाँ बीत जाने के बाद स्कूल गए लड़के की-सी हालत होती है। फिर धीरे-धीरे रवानी आ जाती है। मैं सुबह आठ बजे से बारह बजे तक लिखता हूँ और जब कुछ शुरू कर लेता हूँ तो फिर लगातार लिखता रहता हूँ। लिखते-लिखते काटने भी लग जाता हूँ। मुझे प्लूरसी हो गई थी। और उसके पश्चात् लिखना कुछ कम हो गया है। यूँ भी मेरा डॉक्टर कहता है कि लिखना बंद कर दूँ तो ज़िंदगी और 10 वर्ष बढ़ जाएगी। किंतु मैं सोचता हूँ कि 10 वर्ष बढ़ी हुई ज़िंदगी का लाभ क्या होगा। लिखे-पढ़े बिना मैं रह नहीं सकता। लिखना मेरी भौतिक आवश्यकता नहीं मानसिक अवस्था ज़रूर है। इसे आप लगन कह सकते हैं। आदमी से काम ज़रूरत करवाती है या लगन?"

अतः मैं सोच रहा था—रचना के क्षेत्र में यथार्थ की मज़बूत पकड़ कला की महारत के बग़ैर लगन का महत्त्व भी कम नहीं। लगन से ही हमारे साहित्य में किसी टॉलस्टॉय, हैमिंग्वे अथवा गोर्की का जन्म होगा।
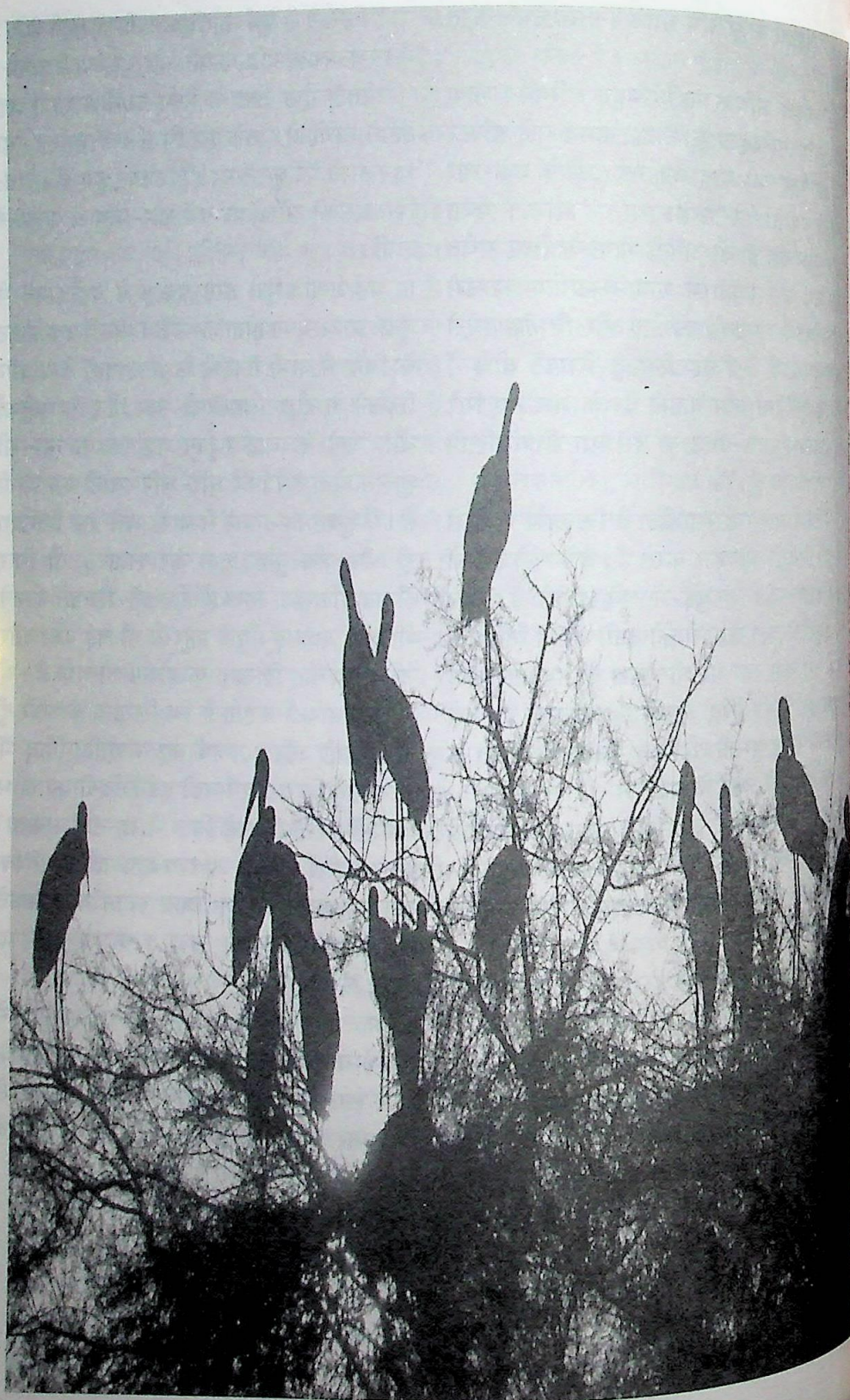
मलयालम कविता

ए. अय्यप्पन

कपोत

मेरे पास पाँच कपोत थे
मैंने इसे आखेटक से ख़रीदा
पिंजरे में बंद कपोत
आँगन में घुल-मिल गए
दाना चुगते-चुगते
आँगन में तिरछे उड़े

एक कपोत एक टहनी से दूसरी पर
एक छत पर
एक घोंसले से दूसरे घोंसले में
और एक मेरे कंधे पर बैठा है

शायद दाना ख़त्म होने के कारण
एक दिन चारों कपोत
चारों दिशाओं में उड़ गए।

पाँचवाँ कपोत
मेरे दिल में था
उसे शिकारी ने मार डाला।

फ़ासिस्ट

टूटे तारों के गिरने पर
पहाड़ों की चोटियाँ कट गईं
जले घर में
थमी हुई आवाज़
गोलियों से मरे लोग
दुर्घटनाओं में ख़ून बन बिखरे लोग

किसी भी मौत ने
मुझे नहीं रुलाया
सपनों में मरे टिड्डों के
बारिश बन बिखरने पर भी नहीं रोया

पुष्पित वृक्षों के
जड़ से उखड़ जाने पर
मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा।

चित्रकार की चिता

मृत चित्रकार की चिता में
उसके बनाए सारे चित्रों को
जलाया गया

इंद्रधनुष के चित्र से
सतरंगी आग उठी

आग का चित्र बनाने पर
उसको आग लग गई

आग में
हड्डियों के टूटने पर
उसमें से प्रकृति का रुदन
सुनाई देता था

उसका बनाया,
भरी हुई नदी
गरजते समुद्र, तालाब
माँ को बनाया आँसू,
कुछ भी उस चिता को बुझा नहीं सका।

मत्स्यन

जलाशय सूख जाने पर
मछलियों ने आग्रह किया
यह उबलते तेल का तालाब होता तो!

मर जाएँगे
फिर भी ख़ूब तैर तो सकते थे!

मछुआरे व
स्वाद खोए पेटों को
इन मछलियों की ज़रूरत नहीं।

अब एक जल-स्थल का सपना
देखने की हिम्मत नहीं।

मेरे बच्चे
लेटे हैं मरे हुए
उनकी दया भरी आँखें
बारिश के मेघों को देख नहीं पातीं।

चारा नहीं है
यह दुष्यंत की अँगूठी को
उगलने का पानी नहीं है।

शुरुआती अवतारों में से एक को
अब पानी से
भगा दिया जा रहा है।

फिर पता चला कि
यह सूखा तालाब
एक शाकाहारी ज़मींदार का है
उन्होंने हमारे जलवास को नष्ट किया।

अकाल की कँपकँपी
सह न पाने वाली मछलियाँ

धरती जाल व फंदा
शत्रु हैं

नेक इंसान के मरने पर
गाँव वाले अश्रू विदा करते हैं

मेरे बच्चों व
मेरे झुलसे शव पर
शायद ही बारिश गिरेगी

मछली कहती है
हे मनुष्य
हम दो ध्रुवों पर स्थित हैं

तू पानी में
मेरा जितना बन नहीं सकता
मैं
धरती पर तेरे जितना

जी नहीं सकती
सौंदर्य खोने के कारण
मुझे अक्वेरियम में जगह नहीं मिलती
आधी जल मछली
पानी में करतब नहीं दिखा पाती।

जल शैया की जानकारी के बग़ैर
गर्म मिट्टी में
सिर रखकर मरना है

हे आकाश
हाथ जोड़ने के लिए
हमारे हाथ नहीं हैं
मछली के जन्म के बावजूद
अंतिम साँस में भी
मुँह खोलकर बिना पानी पिए
विदा लेने की नियति है

अब मुझे
पानी में मत फेंको
जन्म नहीं चाहिए
अपने बच्चों के संग
मुझे मरना है

वरना
बच्चों का न मरा हुआ मन
मुझे माफ़ नहीं करेगा

सूखी मछली का स्वाद जानने वालों
हमें आग में भूनो।

ओड़िया की प्रतिष्ठित रचनाकार प्रतिभा शतपथी का जन्म 1945 में हुआ। कविता, आलोचना की लगभग 12 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। राज्य साहित्य अकादमी पुरस्कार आदि से सम्मानित हैं। संपर्क : 4 आर-11, यूनिट-9, भुवनेश्वर 751022 (ओड़िशा) फ़ोन : 0674-2543355

अनु. साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित राजेंद्र प्रसाद मिश्र का जन्म 1955 में हुआ। हिंदी-ओड़िया में परस्पर अनुवाद की 56 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : एन.टी.पी.सी, सेक्टर-24, ई.ओ.सी., नोएडा 201301

ओड़िया कविता

प्रतिभा शतपथी

मर चुका है वह...

ढहना और टूट जाना
ठीक मर जाने-सा है

छुटकारा नहीं उससे
कर लें चाहे कितना ही जतन।

भुवनेश्वर के अधटूटे मंदिर के बेड़े पर
ढलने लगी है साँझ चुपचाप
पल में रीत जाता है कोई वहाँ
क्या सचमुच था कोई
कभी नहीं रहा होगा वह
यदि आज नहीं
कहाँ है सबूत इस बात का?

कभी ईर्ष्या, कभी द्वेष, तो कभी लोभ
तोड़ डालता है सब कुछ
प्राणी हो, वस्तु या हो भाव।

बादल के टुकड़े को समझकर द्वार
खोल देता है चाँद
झुककर पूछता है
एक आलोक-वर्ष में ये जो है
कोटि-कोटि ढहना और टूट जाना
कैसे करें विश्वास समय का?

सूत भर दूरी
यदि नहीं थी उस दिन
एक विशाल मरुभूमि
दारुण परिहास कैसे फैल गया हमारे बीच
कोई इस पार तो कोई उस पार।

प्याज़ के छिलके-सी
पतली झुर्रियोंदार चमड़ी
उम्र की,
चाकू-सी शून्य को भेदती चीत्कार
मरी चिड़िया-सा लटका लेटर बॉक्स
ज़हरीले धुएँ से भरा टेलीफ़ोन
विवस्त्र होने से भी कहीं अधिक एक लाज
एक अँधेरे कमरे से
एक-दूसरे अँधेरे में जाते शब्द
पराजित कर देते हैं मुझे...

विश्वास नहीं होता मुझे
वह मर चुका है।

डरते हैं ईश्वर भी

साठ आलोक वर्ष में क़दम रख
तलाशती फिर रही है राह
चौराहे पर
इतने बड़े महादेश के दक्षिण में।

शोर-शराबे से भरा मणियों का बाज़ार
पृथ्वी को बेच-बाचकर खा जाने को तैयार लोग
चले जा रहे हैं राह बदल,
आ-जा रहे हैं
दिनभर में लाखों सौदागर
वहीं एक औरत परेशान है
कहाँ है उसका घर
राह ढूँढ़ती...
कुछ ही हाथ की दूरी पर
समुद्र में टूटती नीलिमा
प्रबल-लताओं से धड़कता है जीवन
संसार के सुख-दुख झेलकर
लौट जाएगी वह औरत, कहती है...
कहीं तो होगा उसका एक घर,
है सत्य की कसौटी
उसमें अपनी साँसों को उसने
छिन-छिन परखा है।

पगली है या कोई वेश्या
या सिद्ध देवी
न जाने कौन है वह औरत
उसे राह बताने में
खड़े होने में उसके पास
डरते हैं ईश्वर भी।

संस्कृत कविता

हर्षदेव माधव

बिक्री...सेल-बिक्री...

यहाँ दुकान में मिलती है
एक किलो ख़रीद के साथ
आधा किलो ठगाई।
सरकारी नौकरी में नियुक्ति के साथ
कामचोरी बिना मूल्य में है,
और घूस का लाभ मुफ़्त में उसके साथ।
निर्वाचन में
विजय के साथ
भ्रष्टाचार का परवाना उपहार में है।
परीक्षा के प्रमाणपत्रों के साथ
दी जाती है
आजीविका की तलाश–अतिरिक्त।
आप तो जानते ही हो कि
मानवता का कोई मूल्य नहीं है
अत:
बिक्री के समय
फेंक दी है इसे रास्ते पर।
यदि आपको
पसंद हो तो–

तो

रेत में थी
एक नदी,
जिसमें था वर्षा का यौवन।
पत्थरों में था
एक झरना,
जो करता इस प्रदेश को हरियाला।
डालियों में थी एक चेतना
जो बहती थी
प्रत्येक कोंपल में।

नक़्शे में
ख़ाली जगहों पर
थे महानगर,
थे संस्कृति के भव्य लम्हे।
जो था पूर्व-
वह फिर से नहीं होगा ऐसा नहीं है।
तुम भी दे सकते हो-
रेत को-नदी के पैर,
डाल को ऋतु का महोत्सव,
सूखे पत्थर को-जीवन का संचार
यदि
तुम कुछ नहीं कर सकते
तो
बना लो अपना क़ब्रिस्तान
वर्तमान के खंडहर में!

अंग्रेज़ी कविता

सी.वी. सुब्बाराव

शिव की मुस्कान

घनघोर गर्जन, आँखों में चकाचौंध भरती बिजली
हवाओं के थपेड़ों से तितर-बितर होते घने काले बादल
मूसलाधार वर्षा, थमने का नाम ही न ले
पहाड़ों को ढहाती हुई
पत्थरों, पेड़ों और मिट्टी को अपने साथ बहाती हुई
सर्वनाश करने वाली

जाह्नवी का कराल-नृत्य
मुड़ती-तुड़ती लहरें
विशालकाय सर्पों की भाँति सरसराती हुई
हिमालयों में अपने जन्मस्थान से लेकर
बंगाल की खाड़ी तक
धड़धड़ाती, काँपती, घरघराती नदी
भरे यौवन की असीम सुंदरता लिए
तरल जीवन से भरी नदी

सी.वी. सुब्बाराव (1933-1998) अंग्रेज़ी में कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कई संस्थाओं से पुरस्कृत हुए हैं।

अनु. आर. शांता सुंदरी का जन्म 1947 में हुआ था। हिंदी-तेलुगु-अंग्रेज़ी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 8-3-319/21, एल्लारेड्डी गूड़ा, हैदराबाद 500073
फ़ोन : 09440745709

कभी उमड़ती और कभी थमती
कभी एक ओर बढ़ती
तो कभी लहरों में कल्लोल भरती
बढ़ती जाती एक अज्ञात पागलपन के साथ

सड़कें काटती, गड्ढे भरती
कहीं किनारा बनाती, कहीं किनारे को तोड़ती
चुंबन-मात्र से पुलों को उखाड़ती
जीवन को दाँव पर लगाती।

पहाड़ों के आदिम-कुल की बेटी
क्रोध से भरी गिरिबाला की वीरता
पहाड़ों को गिराती है,
घरों को धराशायी करती है
ताकि शिव की योग-निद्रा टूटे!
नटराज! जागो, वरना युगांत हो जाएगा!
भूतनाथ! उठो, डमरू हाथ में ले लो!
इस आवेग से भरी बाला को
आलौकिक, आकर्षणीय नृत्य सिखलाओ!
उसके क्रोध को अपनी वीरतापूर्ण मुस्कान से बाँध लो!

कोंकणी कविता

नूतन साखरदांडे

कोंकणी कवयित्री नूतन साखरदांडे का जन्म 1958 में हुआ। कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 'काव्यांगण' बेप्सीन कॉलोनी, पंजाब नेशनल बैंक के पास, असाभाट, म्हापसा, गोवा 403507
मो. 09422061702

अनु. सोनिया सिरसाट का जन्म ...3 में हुआ। कोंकणी-हिंदी ... अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : 615, सालिस वाडा, ...सेस, गोवा 403510

चूल्हे पर पक रहे हैं चावल

आपका व्यवहार कैसा हो
इसके नियम आपके पास नहीं हैं
पर हम कैसा बर्ताव करें
इसके अनेकों नियम हैं
इन नियमों को लाँघने के बारे में
जब मैं सोचती हूँ
तब चूल्हे पर पक रहे होते हैं चावल

बेलगाम जिह्वा की तरह
जब चाहे, जैसी चाहे
जिसकी चाहे

आप खुलकर बातें करते हैं
मुँह पर प्रशंसा
पीछे उसकी धज्जियाँ उड़ाते हैं
तब चूल्हे पर पक रहे होते हैं चावल

एक के उस्तरे से
दूसरे की दाढ़ी
अपना भला, दूसरे का विनाश
करने के लिए आपका मन आतुर होता है
तब चूल्हे पर पक रहे होते हैं चावल

तुम्हारी जेब गरम है, तुम्हें सलाम
तुम्हारे पास सत्ता है, तुम्हें सलाम
आदु गोदु की किसे पड़ी है
जहाँ नरम हो खुदाई करते हो
जहाँ ज़्यादा दिखाई दे छँटाई करते हो
तब चूल्हे पर पक रहे हैं चावल।

रिश्ता

जो शुरू से रहता है
और कालांतर में पर्याप्त नहीं होता
वह रिश्ता

जो पहले ख़ून की तरह होता है गाढ़ा
और फिर बनता है पानी से भी पतला
वह रिश्ता

जो वास्तव में होता नहीं पर
हमें लगता है कि वह है
और हम अपने आपको लेते हैं ठग
वह रिश्ता

रिश्ता जो हुआ है जन्म तक सीमित
रिश्ता जो हुआ है मृत्यु तक सीमित

बनती नहीं आपस में भाई बहनों की
नहीं देखता शक्ल भाई भाई की
किसकी माँ

कहाँ के पिता
किसी को स्मरण नहीं रिश्तों का

पति-पत्नी का रिश्ता भी
होता है व्यवहार तक सीमित

कोई किसी का दबाता है गला
कोई किसी पर करता है वार हँसिए से
कोई किसी का सिर तोड़ता है
और यह सब रिश्ते में ही होता है

मन में बनी रिश्तों की सुंदर तसवीर बचपन की
अब हो रही धूमिल थोड़ी-थोड़ी।

अरुण साखरदांडे

इंतज़ार

गाँव में जो घर है
रहता नहीं उसमें कोई
बंद दरवाज़े पर
जाता नहीं कोई।

दहलीज़ की सीढ़ियाँ
चढ़ता नहीं कोई
गर्भगृह में दीया
जलता नहीं कभी

घर के सामने वाले आम के पेड़ पर
आता नहीं अब बौर
घर के पिछवाड़े नारियल के पेड़ पर
लगता नहीं अब फल

कुएँ से पानी
निकालता नहीं कोई
घर के कौए को
खाना परोसता नहीं कोई

ग़लती से किसी के
पहुँचने पर
दरवाज़ा नहीं खुलता
और न ही होता है बंद

...कवि अरुण साखरदांडे
...न्म 1948 में हुआ। एक
...-संग्रह प्रकाशित है।
...: 'काव्यांगण', बेप्सीन
..., असाभाट, म्हापसा,
...3507

...सिरसाट

पर प्रातःकाल की बेला पर
दरवाज़े की आड़ से
कोई है जो
कर रहा है इंतज़ार
कर रहा है इंतज़ार।

काग़ज़ की नावें

न रहे भाई, न बहनें रहीं
न रही स्मृतियों की बाँबियाँ
न रही रातें सुंदर सपनों की
न रही ईश्वर के सम्मुख रखी हुई बातियाँ

न रहा खेलना घुटनों में चोट लगने तक
न रहा एक-दूसरे के पीछे दौड़ते रहना
न रहा रोते-रोते हँस देना
न रहा हँसते-हँसते रो देना

कहाँ गई काग़ज़ की
नावें जिन्हें छोड़ दिया गया था पानी में?
अब हम कर रहे खुदाई
एक दूजे की लाशों की

दरवाज़े तथा खिड़कियाँ
बन गई हैं भित्तियाँ
बुझ गया गर्भगृह में रखा
एक अकेला दीया

एक की समझदारी
दूसरे की मूर्खता
किसी ने घर की
खोद डालीं सीढ़ियाँ

उखड़ गया घर के सामने वाला
हरसिंगार का वृक्ष
बाईं आँख में न देख पा रहे
दाहिनी आँख का सुख

अब एक-दूसरे की
नहीं है किसी को चिंता

अपने घर के लिए
अब मैं ही बन गया हूँ पराया।

सिंधी कविता

वासदेव मोही

व्यक्ति

कितने ही वर्षों ने
काग़ज़ों का रूप ले लिया
जिन पर किन्हीं विश्वविद्यालयों के नाम छपे थे
कितने वर्ष
अलग-अलग मकानों में बदल गए
कितने वर्ष परदेशी हो गए
ये सब मेरे वर्ष थे
मेरे अपने

जिनको हाड़-मांस का शरीर
मिलना चाहिए था
न मिला

जिनके संग बैठ
मैंने ख़ुद को बाँटना चाहा
न बाँट सका

इस घाटे पर
मुझे अफ़सोस होना चाहिए था
वो भी न हुआ

मेरे हाड़-मांस के भीतर भी
बहुत सारे रूप विचरते रहे हैं
'मैं' जैसा तो कुछ होता ही नहीं है

'मैं' यानी कौन
उस 'मैं' को भी मैंने कब जाना है
हर वह हिस्सा

जो अपना लगता है
होता नहीं है

इसलिए
ये वर्ष
जो जीवन के रूप में जाने जाते हैं
मेरे स्व के लिए
जल्लाद-से हैं

पर जल्लाद तो आदेश पालनकर्ता होते हैं
वे जो करते हैं
महज फ़र्ज़ निभाते हैं
वर्षों के रूप में
धड़कनें देकर

उनको रुकने का आदेश
निश्चय ही किसी दूसरे का है
किसी ठग का-व्यक्ति का
जो मैं भी हूँ।

प्रेम प्रकाश

आदमी

मैं एक आदमी बनकर रहना चाहता हूँ
पता नहीं क्यूँ
विरोध की भाषा बोल जाता हूँ!

लोग सयाने हैं
हर बात में
आगे निकल गए हैं
अब
इंसान बनकर रहने की इच्छा से ऊब चुका हूँ
कुछ कहने की
चाहत नहीं रही है
साँस लेते जो भी अहसास होता है आजकल
सोच उससे अड़ जाता है
इस जानने का भी क्या करूँ
वक़्त हर बार
चाँदी से पहचान की तरफ़
खिसक जाता है
मेरी सोच
मेरे अंतर्मन को
फटकारती रहती है!

...में नाटक, कविताएँ, ...नी, आलोचना की लगभग ... पुस्तकों के रचयिता प्रेम ... का जन्म 1945 में हुआ। ...हित्य अकादेमी से पुरस्कृत ... हैं। संपर्क : डी-64/1018, ... नगर, अहमदाबाद

... हरीश करमचंदाणी

वीना करमचंदाणी

गोर्की से

गोर्की!
मैं तुम्हारी माँ-सी बनना चाहती हूँ
फ़ौलाद जैसा मज़बूत बनाना चाहती हूँ बेटा अपना
मैं चाहती हूँ वह हक़ और सच की ख़ातिर लड़ सके

गोर्की!
मैं चाहती हूँ वह पढ़े तुम्हें
और समझ सके मुझको

... सिंधी रचनाकार वीना ...णी का जन्म 1962 में ...। सिंधी कविता-संग्रह ... साहित्य अकादमी से ... है। संपर्क : 9/913, ... नगर, जयपुर 302017

... हरीश करमचंदाणी

गोर्की!
मैं चाहती हूँ
मेरा बेटा अपनी मर्ज़ी का ख़ुद मालिक बने
साथ ही
यह भी चाहती हूँ कि
वह वीर तथा सत्यवान भी बने

क्या इन दोनों इच्छाओं में
कोई फ़र्क़ है?

मन

मैं हवा से बात करना चाहता था
हवा को कहाँ फ़ुरसत थी
बेशक जब ठहरी थी तब यह ख़याल
नहीं आया था मुझे

मैंने उसे पुकारा
यक़ीन मानिए वह रुकी ही नहीं
यह मेरे साथ पहली बार हुआ था
कि मेरी पुकार को अनसुना किया गया था
मेरा अहम् भन्नाया
सोचा, कर दूँगा नज़रअंदाज़ मैं भी
पर ख़ाक
हवा इतनी प्यारी थी
आप ही बताइए
कितने तो कम हैं प्यारे लोग और प्यारी चीज़ें
चाहकर भी कहाँ हुआ जा सकता है
उनके प्रति उदासीन रहना
और सच
ऐसा चाहता भी कौन कमबख़्त है!

फ़ज़्ले हसनैन

ललक एक झलक की

साहित्यिक समारोहों में शिरकत करने पर पहले प्रेस-फ़ोटोग्राफ़र ही क्या-क्या न परेशान करते थे, लेकिन अब जबसे दूरदर्शन और दीगर टीवी चैनलों ने इन समारोहों का कवरेज देना शुरू कर दिया है, मामला और भी संगीन और रंगीन होता जा रहा है। इस भूमिका को और तूल न देते हुए हम जल्दी से यह बता देना मुनासिब समझते हैं कि एक ज़माने तक क़लम घिसते-घिसते जब हमारी कोई रचना कभी-कभार कहीं छपने लगी तो ख़ुद को एक लेखक समझते हुए हमारा सीना चौड़ा हो जाना स्वाभाविक था। चुनाँचे पहले तो हम इन समारोहों के अमूमन शुरू में या फिर आख़िर में ही कुछ देर के लिए शरीक हो जाया करते थे क्योंकि फ़ोटोग्राफ़र अमूमन प्रोग्राम के शुरू या फिर आख़िर में ही अपना कैमरा एकाध बार चमका दिया करते हैं, जब समारोह का उद्घाटन होता है या अध्यक्षता करने वाला अंत में हरकत में आता है और कई बार हम अपनी तसवीर अख़बार में छपवा ले जाने में सफल भी हो गए, यह अलग बात है कि यह तसवीर हमारे अलावा और कोई नहीं पहचान सकता था। लेकिन जब से टी.वी. का चलन बढ़ा, स्थिति बिलकुल बदल गई है। चुनाँचे अब इन समारोहों में जल्द-से-जल्द पहुँचकर ज़्यादा से ज़्यादा आगे की सीट पर क़ब्ज़ा जमा लेने की होड़-सी लग जाती है। इन समारोहों में कौन क्या बोलता है, यह शायद ही कभी हम समझ पाते हों क्योंकि हमारा सारा ध्यान टी.वी. कैमरों का पीछा करते रहने में लगा रहता है और हम तरह-तरह के पोज़ देने की रिहर्सल में ही व्यस्त रहते हैं। शुरू में तो हम बिलकुल मंच के पास ही बैठने की कोशिश करते थे लेकिन एक बार ऐसा हुआ कि जैसे ही हमने सबसे आगे वाली सीट पर बैठकर नए-नए पोज़ की प्रैक्टिस शुरू की, एक साहब लपककर हमारे पास आए और पुलिसिया अंदाज़ में उन्होंने हमसे पूछा, ''कितना डोनेशन दिया है आपने आज के समारोह के लिए?''

''डोनेशन!'' हमारा मुँह जितना खुल सकता था, खोलते हुए हमने कहा।

''अच्छा! तो डोनेशन जानते तक नहीं और बैठोगे सबसे अगगल? यह देखो, पूरे पाँच सौ रुपए की रसीद है।'' उन्होंने अपनी तोंद

...में जन्मे फ़ज़्ले हसनैन के ...में तीन नाटक-संग्रह, दो ...-संग्रह तथा हिंदी में तीन ...-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ... प्रदेश, बिहार तथा प. ... की उर्दू अकादमियों द्वारा ...। संपर्क : ए-7, पत्रकार ...लोनी, अशोक नगर, ...बाद 211001 ...: 0532-2420603

लहराते हुए हमें रसीद इस तरह दिखाई जैसे उन्होंने यह डोनेशन हमें ही दे रखा हो। बहरहाल, हम उनका मतलब समझते हुए उस सीट से उठकर दूसरी सीट पर बैठ गए और वहाँ के हिसाब से पोज़ देने की प्लानिंग करने लगे लेकिन तब तक तो जैसे श्रोताओं का रेला आने लगा और हर व्यक्ति ज़्यादा से ज़्यादा आगे बैठने की फ़िराक़ में था। इतने में आयोजकों में से एक साहब आकर हमारे कान में बोले, "सर, आप तो कुछ राइटर-वाइटर टाइप की चीज़ लग रहे हैं?"

"बस यूँ ही छोटा-मोटा।" हमने बेहद विनम्रता से शरमाते हुए कहा।

"आप बहुत बड़े राइटर होते तो भी आज इस लाइन में न बैठ पाते क्योंकि आज आप लोगों की जगह तीसरी लाइन के बाद से है। चूँकि आज मुख्य अतिथि एक नामी-गिरामी डांसर हैं, इसलिए लंबा चंदा देने वालों की संख्या बहुत ज़्यादा है और ज़ाहिर है, जिसने जितनी ज़्यादा रक़म ख़र्च की है, उसे उतना ही बढ़-चढ़कर कार्यक्रम का आनंद लेने और 'शूटिंग' में हिस्सा लेने का हक़ पहुँचता है।"

"आज मुख्य अतिथि कोई डांसर है?" हमने हैरत से पूछा, "आप लोग तो साहित्यिक आयोजन करते हैं!"

"साहित्यिक आयोजन करते थे, लेकिन यह धंधा मंदा होते-होते बिलकुल ही डाउन हो गया, इसीलिए अब हम लोगों ने सांस्कृतिक कार्यक्रम पकड़ लिया है और यह धंधा बहुत अच्छा जा रहा है। इसलिए अब इसी को चलाते रहेंगे। आपने निमंत्रण-पत्र पर मुख्य अतिथि का नाम पढ़ा ही नहीं?"

अब हम यह कैसे बताते कि हमें निमंत्रण-पत्र मिला ही कब था। बहरहाल बात बनाते हुए कहा, "बात यह है कि इधर काफ़ी दिनों से होने यह लगा है कि निमंत्रण-पत्र पर मुख्य अतिथि या अध्यक्ष के रूप में जिसका नाम लिखा रहता है, वह मंच पर अमूमन नज़र नहीं आता, कोई-न-कोई 'स्टैंड-बाई' यह काम कर देता है, इसलिए अब मैंने नाम-वाम पढ़ना ही छोड़ दिया है। बस जगह और समय देख लेता हूँ, ख़ैर!" यह कहते हुए हम वहाँ से उठ खड़े हुए और अब तो चौथी पंक्ति क्या, सबसे अंतिम पंक्ति में भी बैठने की हमारी हिम्मत न हो रही थी लेकिन टी.वी. रिपोर्ट में अपनी एक झलक आ जाने की ललक हमारे पाँव की ज़ंजीर बनी हुई थी। चुनाँचे डरते-डरते सबसे पीछे की लाइन में किसी बेटिकट मुसाफ़िर की तरह बैठ गए। लेकिन अब हम किसी पोज़ की रिहर्सल पर अपना ध्यान कंसंट्रेट नहीं कर पा रहे थे क्योंकि बस यही धड़का लगा रहा कि पता नहीं कब कोई इससे भी ज़्यादा चंदा देनेवाला वी.आई.पी. आकर हमें वहाँ से भी न टरका दे।

दूसरी समस्या यह थी कि प्रकृति ने हमें बनाने में इतनी किफ़ायत से काम लिया है कि हमारे आगे बैठने वाले ज़्यादातर लोग लंबाई-चौड़ाई में अमूमन हमसे बीस क्या, कभी-कभी चालीस साबित होते हैं। ऐसी हालत में आप ख़ुद समझ सकते हैं कि बराबर दाएँ-बाएँ या उचक-उचककर पोज़ देते रहने की कोशिश करते रहना कितना जोखिम का काम है और वह भी सिर्फ़ इस उम्मीद में कि हमारी कोई झलक शायद बाज़ी मार ही ले जाए। वैसे हमारा स्वाभिमान ग़ैरत दिला-दिलाकर हमें शर्मिंदा करता रहा लेकिन मुश्किल यह थी कि यूँ तो इस तरह के किसी आयोजन में शिरकत करने के बाद हम लोकल टेलीकास्ट के वक़्त ज़रूरी से ज़रूरी काम छोड़कर टी.वी. सेट के स्क्रीन पर इस तरह नज़रें गड़ाए रहते जैसे विश्व-कप फ़ाइनल के आख़िरी ओवर की अंपायरिंग कर रहे हों और श्रीमती जी को भी किसी-न-किसी बहाने आसपास ही रखते कि स्क्रीन पर अपनी झलक

नज़र आते ही चिल्लाकर उँगली उठा दें। हालाँकि अभी तक यह सुनहरा मौक़ा आ न सका था, जैसा कि ज़्यादातर लोगों के साथ होता है। लेकिन आज हमारे लिए मसला और नाज़ुक हो गया था क्योंकि आज श्रीमती जी को, जो शहर से बाहर गई हुई थीं, हमने फ़ोन पर आज के लोकल टेलीकास्ट देखने से न चूकने की ताक़ीद कर दी थी, जिस पर श्रीमती जी ने पूछ लिया था कि "उस वक़्त आप क्या करते रहेंगे?"

"झक मारते रहेंगे।" ग़ुस्से में हमारे मुँह से निकल गया।

श्रीमती जी ने परंपरा के विरुद्ध बुरा न मानते हुए बड़े सुलझे अंदाज़ में कहा, "आप तो ख़ामख़्वाह नाराज़ हो रहे हैं। मेरा मतलब था कि टी.वी. पर इस तरह के दृश्य पलक झपकते एक्सप्रेस ट्रेन की तरह गुज़र जाते हैं, इसलिए अगर आपका उस वक़्त का संभावित पोज़ ज़ेहन में रहे तो शायद पकड़ लेने में कुछ आसानी हो।"

हमने कुछ नर्म पड़ते हुए कहा, "अरे भाई मैं एक राइटर हूँ तो उसी टाइप का कुछ करता रहूँगा। वैसे माइक पर तो जल्दी मैं जाता नहीं क्योंकि आत्म-प्रदर्शन मुझे पसंद नहीं..."

"वह तो मैं देख ही रही हूँ। श्रीमती जी ने हमारी बात बीच में ही उचकते हुए कहा जिसका मतलब हम अच्छी तरह समझ गए कि इस वक़्त हम एस.टी.डी. फ़ोन से उन्हें अपनी उस झलक को देखने की ताक़ीद कर रहे थे जिसके आने की संभावना बहुत कम थी। ख़ैर, हमने इस वक़्त उनके कटाक्ष को नज़रअंदाज़ कर देना ही मुनासिब समझा लेकिन हमारी समझ में ही न आ रहा था कि हम उस वक़्त क्या करते रह सकते हैं। हड़बड़ाहट में हमारे मुँह से निकल गया, "अरे भाई, ताली-वाली बजाते रहेंगे, और क्या!"

"ताली बजाते रहेंगे!" श्रीमती जी ने हँसते हुए ऐसे लहजे में कहा कि झल्लाकर हमने रिसीवर पटक दिया लेकिन यह यक़ीन हो गया कि आज श्रीमती जी लोकल टेलीकास्ट देखना हरगिज़ न भूलेंगी। अब हमें क्या पता था कि आज के समारोह में ऐसी मारा-मारी रहेगी। हम तो इसे कोई साहित्यिक आयोजन समझकर आए थे जहाँ चंद गिने-चुने लोग बैठे ऊँघते या जम्हाइयाँ लेते रहते हैं और हमारा दुर्भाग्य देखिए कि आज हमारे आगे की सीटों पर लगभग सभी काफ़ी खाए-पिए लोग ही बैठे थे। इसलिए हम अपनी सीट पर उकड़ूँ बैठकर मुसलसल उछलते रहे कि कैमरा किसी तरह हमारी एक झलक तो थाम ही ले, लेकिन आज तो हमारे सितारे शुरू से ही गर्दिश में थे और आख़िर भी उसी तरह हुआ। रात को बग़ैर खाए-पिए देर तक तमाम लोकल टेलीकास्ट बारी-बारी से इस तरह देखते रहे जैसे हम अपने रिमोट कंट्रोल और तमाम चैनलों की फ़ंक्शनिंग चेक कर रहे हों लेकिन मजाल थी कि किसी भी दृश्य में हमें तो ख़ैर छोड़िए, हमसे मिलता-जुलता कोई ख़ाका ही नज़र आ जाता। श्रीमती जी को फ़ोन करने की हिम्मत न हो रही थी क्योंकि उनकी व्यंग्यात्मक हँसी हम किस दिल से बर्दाश्त कर पाते। लेकिन दिल मान भी नहीं रहा था कि उनको फ़ोन करके कुछ लीपापोती की कोशिश करें। आख़िरकार हमारा हाथ अपने फ़ोन तक पहुँच ही गया और हमारी आवाज़ सुनते ही श्रीमती जी बेसाख़्ता कह उठीं, "देखते रहिए, शायद नेशनल टेलीकास्ट में आ जाए...तौबा, तौबा, फ़ोन का इतना बिल, प्रोग्राम की इत्तला देने में बढ़ाया और अब उसकी लीपा-पोती करने के लिए फिर फ़ोन उठा लिया..."

वह और जाने क्या-क्या कहती रहीं लेकिन हमने जल्दी से रिसीवर रख देना ही बेहतर समझा...और फिर हम यह सोचकर आइंदा प्रोग्राम की प्लानिंग करने में व्यस्त हो गए कि— *गिरते हैं शाहसवार ही मैदाने-जंग में।*

कृष्ण बिहारी

मरदानी

आज वह पचपन की होंगी...वक़्त के साथ-साथ उनके बारे में धारणा ही बदलती गई...लेकिन यह सब यक-ब-यक नहीं हुआ था। कुछ-कुछ या कि यह कहूँ कि बहुत कुछ मैंने अपने सामने घटते हुए देखा था। वे जब पहली बार दिखी थीं तो लगभग बाईस-चौबीस साल की रही होंगी, मैं सोलह-सत्रह वर्ष का था और इंटर में पढ़ रहा था। मेरी अवस्था इतनी तो हो ही गई थी कि औरत ख़यालों में आने लगी थी। उन दिनों मेरा एक नया-नया मित्र बना था। वे उसकी भाभी थीं। बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर की थीं और पटना में पली-बढ़ी थीं। शादी के बाद पहली बार मेरे दोस्त के बड़े भाई जिन्हें मैं भी भाईसाब कहता था, उन्हें कानपुर लाए थे। उनके आने से पहले ही उनका देवर रवींद्र, मेरा दोस्त बन गया था अत: मैं भी उन्हें भाभी जी कहने लगा था। लेकिन जब भाईसाब ने शादी नहीं की थी और कानपुर में अपने दो छोटे भाइयों के साथ मेरे पिता के सरकारी मकान के ठीक बग़ल में रहने के लिए आए थे, तब उनके दो भाइयों में से एक से मेरी दोस्ती हुई थी। भाईसाब को क़रीब से देखकर उनके बारे में जो राय मैंने बनाई थी, वह यह कि वे बड़े सज्जन, सौम्य और मितभाषी हैं। वे बहुत कम बोलते थे और जब बोलते थे तो ऐसा लगता था कि जैसे शरमा रहे हों। वह शर्मीले थे और उनका ऐसा होना मुझे उन दिनों उनका गुण लगता था लेकिन बाद में जब मैंने भाभी जी को देखा तो पहली बार समझ में आया कि भाईसाब स्त्रैण हैं और मर्द का ऐसा होना दुर्गुण है।

जब शादी के बाद भाईसाब उन्हें लाए तो मोहल्ले में उनकी जितनी चर्चा हुई उतनी किसी भी औरत या लड़की की पहले कभी नहीं हुई थी। वह लंबी थी। नयन-नक़्श कटीले थे। शरीर भरा-भरा था। शरीर पर चर्बी थी जो उन दिनों उन पर अच्छी लगती और उन्हें मांसल बनाती थी। या शायद यह कि गदबदी-गदबदी औरतें मुझे ही अच्छी लगती रही हों। चेहरे पर नमक था और रंग दृष्टि को बाँधने वाला साँवला था। और एक बात जो सबसे ज़्यादा ध्यान खींचती थी वो यह कि उनकी चाल में बेफ़िक्र मर्दानगी थी। सीधी तनी हुई, कंधे लहराते या कि झटकते हुए शत्रुघ्न सिन्हा की तरह चलती थीं। एक

1954 में जन्मे कृष्ण बिहारी के चार कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कविताएँ, एकांकी, लेख, समीक्षाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : पोस्ट बॉक्स-52088, आबू धाबी, यू ए ई

तरह से वे अपनी देह को उसी तरह से मथते हुए चलती थीं जैसे कभी-कभी भैंसे या साँड़ ज़मीन से अपने सींग और खुर अखड़ते, धूल उड़ाते या फिर किसी झाड़ी से देह रगड़ते हुए चलते हैं। यह बात उनके स्त्री होने के ख़िलाफ़ जाती थी। उनमें ...नेस या टफ़नेस नहीं थी बल्कि एक फूहड़ता थी जिसे वे कुछ गर्वीली-सी अभिमान-पूर्वक ...जाती थीं। यह फूहड़पन मुझे या मेरी उम्र के किशोरों की समझ में उनका खुलापन लगता था।

हम सभी उनके सामीप्य को थोड़ा-सा भी पाते तो ख़ुद को धन्य समझते। उनके देवरों में से एक जो कि मेरा पहले ही दोस्त बन चुका था उससे या फिर उनके दूसरे देवर विनोद से मोहल्ले के अन्य युवक भी केवल इसलिए दोस्ती करना चाहते थे ताकि दोस्ती के बहाने उनके घर जाने का और भाभी जी को क़रीब से देखने का कुछ तो मौक़ा मिलेगा। भाईसाब सुबह सात-साढ़े सात बजे साइकिल से सरकारी कारख़ाने चले जाते। लंच में एक बजे आते और आधे-पौन घंटे बाद फिर कारख़ाने चले जाते। लंच पर भाभी जी बेसब्री से उनके आने की प्रतीक्षा करतीं। भाईसाब भी हाँफते हुए साइकिल चलाते तीन किलोमीटर की दूरी तय करके आते और फिर उनके मकान में घुसते ही दरवाज़ा बंद हो जाता। मोहल्ले के सभी लोग सही अनुमान लगा लेते कि बंद दरवाज़ों के पीछे कितना वक़्त लंच लेने में लगा होगा और कितना दो जिस्मों के तड़ककर सुलग उठने में। पता नहीं क्यों लोगों को यह लगता था कि भाईसाब भाभी जी की मर्दमार मर्दानगी के आगे बेकार हैं। इसलिए भाभी जी का जिस्म सुलगता और आत्मा निश्चित ही प्यासी रहती होगी। मेरा भी ख़याल कुछ ऐसा ही था। लंच के बाद जब भाईसाब वापस काम पर जाते तो निढाल से दिखते और शाम को सूरज ढलने के बाद क़रीब साढ़े छह-सात बजे लौटते। अगर ओवरटाइम होता तो फिर आने का वक़्त निश्चित नहीं होता। फिर भी जब भी वे कारख़ाने जाने के लिए साइकिल निकालते या वापस आते; उस समय भाभी जी लॉन के फाटक पर खड़ी होतीं। टाटा, बाय-बाय या फिर मदभरे नयनों से पूरी देह को ऐंठते हुए स्वागत करतीं। आँखों में ऐसे भाव लिए होतीं कि भाईसाब यह सोचते हुए शरमाते कि तुम्हारे नयन के बाण से हम बिंध के रह गए...

हालाँकि, ऐसा कुछ लगभग दो-तीन साल तक ही चला होगा और उसके बाद हर मियाँ-बीवी की तरह वे दोनों भी हाय-हाय, किट-किट करते एक-दूसरे को नोंचते-खसोटते हुए जीने लगे...

भाभी जी हमारे मोहल्ले की पहली औरत थीं जिन्होंने मैक्सी या नाइटी पहनकर लोगों को चौंका दिया था। मैक्सी भी ऐसी डीप गले की कि उनकी छाती की गोलाइयाँ आधी से ज़्यादा हम लोगों की पुतलियों में धड़ल्ले से समा जातीं।

मोहल्ले की औरतों ने तो उनकी तुलना अंग्रेज़ मेमों से करनी शुरू कर दी थी। औरतें कानाफूसी करतीं कि छौंड़ी लेखा देखाती है जबकि है बूढ़ी घोड़ी अउर लाल लगाम वाली बात। मगर सच यह था कि भाभी जी जवान थीं और मोहल्ले की औरतें यक़ीनन बूढ़ी होने का अर्थ अपने हुए बच्चों से लेती थीं। हर साल जिसके बच्चे हों और शादी के बाद सात साल में ही पाँच बच्चे हो जाएँ वह औरत तो पच्चीस बरस की उम्र में ही बूढ़ी लगेगी। मोहल्ले की औरतों ने अगर किसी को कभी मैक्सी पहने देखा भी था तो शायद तब कभी जब वे चार-पाँच की संख्या में अफ़सरों की कॉलोनी सिविल लाइंस से शॉर्टकट लेते हुए पैदल हनुमान मंदिर जाया करतीं थीं। तब वे देखतीं कि उन बँगलों में रहने वाली अफ़सरों की बीवियाँ मैक्सी पहने बड़े से लॉन में अपने गोल-मटोल बच्चे या फिर झबरीले ल्हासा ऐप्सो, झक सफ़ेद पामेरियन या फिर दहशतनाक

डॉबरमैन कुत्तों के साथ टहल और खेल रही हैं। उन्हें हमारे मोहल्ले की औरतें मेम कहती थीं।

सभी कल्पना में मैक्सी पहने और ओढ़े हुए जीतीं। मगर जब भाभी जी इन पहनावों में अपनी फूहड़ मरदानी चाल में रात को खाना खाने के बाद भाईसाब के साथ टहलने के लिए निकलतीं और सरकारी मोहल्ले की खड़ंजे वाली सड़क पर चलतीं तो लोगों के सीने पर साँप लोट जाते। यह उनका रोज़ का नियम था। हफ़्ते में एक-दो दिन वे सिनेमा देखने नाइट-शो भी जातीं। तब वे सलवार-कुर्ते में होतीं। उनका कसा जिस्म धरती पर आवेश उपजाता।

भाईसाब की तो वे बीवी ही थीं, उन्हें फ़ैंटेसी में जीने की क्या ज़रूरत थी। मेरा उनके घर में उनके आने के पहले से ही आना-जाना था अतः वह अन्य लड़कों की अपेक्षा मुझसे कुछ ज़्यादा ही खुली थीं। पहले तो नहीं मगर भाभी जी के आने और उनके मैक्सी पहनकर बाहर-भीतर होने को जब पूरा मोहल्ला देख रहा था तो मेरे माँ-बाप कैसे न देख पाते। वह तो दिन में भी बरामदे में या फिर छोटे-से लॉन में स्लीवलेस मैक्सी में बाल खोले इज़ी चेयर पर बैठतीं और घर के सामने से आते-जाते लोगों को देखतीं। कभी-कभी मोहल्ले का ही कोई लड़का भी उनके साथ बैठा होता। मेरे घर का बरामदा तो ख़ैर उनके बरामदे से लगा ही हुआ था। उन्हें इस तरह देखकर मेरे बाबू जी को बेतरह ग़ुस्सा आता और वे उन्हें बेहया बोलकर उठ जाते और घर के भीतर चले जाते। उनका ऐसा बोलना ऊपर से था या वह सचमुच उन्हें बेहया समझते थे, इसके बारे में मैं यक़ीन से कुछ नहीं कह सकता। वैसे बाबू जी के बारे में यह ज़रूर कह सकता हूँ कि लोग उन्हें चरित्र का धनी कहते थे और मोहल्ले की औरतें अगर बाबू जी को देख लेतीं तो उनके आँचल ख़ुद-ब-ख़ुद उनके सिर ढँक देते थे।

रवींद्र के घर मेरा आना-जाना उन्हें फूटी आँख पहले भी नहीं भाता था। बात सिर्फ़ इतनी थी कि रवींद्र जब बेतिया (बिहार) से अपने बड़े भाई के पास काम की तलाश में कानपुर आया तो भाईसाब ने मेरे बाबू जी को उसके बारे में बताया था, "पराइ-लिखाई ठीक से करबे नहीं किए...फुटानी करते रहे...इसकूल-कौलेज में लरकिए सभके पीछे रहे...आर्ट्स साइड से किए हैं थर्ड डिभीजन में इंटर...अभ...नोकरी के लिए हेन्ने चले आए...नोकरी कहाँ रखी है कि मिलिए जाएगी...बड़े-बड़े बहल जाँ अउर गदहा कहे केतना पानी...ग्रेजुएट सभ का तो कोई पुछंतरे नहीं है...अउर...इनको नोकरी भी चाहिए तो नबाबिए वाली...मेहनत का कौनो काम नहीं करेंगे...साइकील तक तो चलाइए नहीं सकते... रेक्शा पर बइठ के नोकरी खोजेंगे...बड़का भाय होने के नाते बोलाए हैं...न बोलाते त माय-बाप भी चैन न नू लेने देते..." अजीब बात थी कि रवींद्र को साइकिल चलाने से बहुत डर लगता था। जब कभी मैं उससे कहता कि सीख लो साइकिल तो वह बोलता, "दू पहिया का साइकील हम नहीं चलाएँगे...इसका कवनों भरोसा भी नहीं है...पता नहीं लोग कैसे इस पर बैलेंस बनाते हैं...देखना एक दिन सभ देखबे करेंगे कि हम कार चला रहे हैं..." उसकी आँखों में सपने थे।

भाईसाब ने पॉलीटेक्नीक से डिप्लोमा किया था और उस ज़माने में उसकी क़ीमत भी बहुत थी। वे उसी के बल पर कानपुर के एक सुरक्षा कारख़ाने में सुपरवाइजर बी के पद पर नियुक्त हुए थे। उन दिनों यह एक बड़ी नौकरी थी। इसी नौकरी के चलते उनकी शादी भाभी जी से हुई थी। भाभी जी अपने सबसे छोटे देवर विनोद के काफ़ी क़रीब हो गई थीं। ज़ाहिर-सी बात थी कि जो कुछ भाईसाब ने अपने छोटे भाई रवींद्र के बारे में मेरे बाबू जी से कहा उससे उसकी अच्छी छवि नहीं बनी थी। यह बात भाभी जी

पहले से पता रही होगी। भाभी जी भी उसकी नारी को हेय दृष्टि से देखती रही थीं और लगता था कि वह उनके मियाँ की कमाई फुटानी कर रहा है हालाँकि वह बेकार ज़्यादा रहा नहीं। लेकिन वही मेरा दोस्त था इसलिए मान-जान भी उपेक्षित-सा ही होता था। भी उनकी यह कोशिश होती कि वे अपने व्यवहार को छिपा ले जाएँ। इसके पीछे भी उनका स्वार्थ था जो बाद में सामने आया था। का छोटा भाई भौतिक विज्ञान में एम.एस करना चाहता था लेकिन जिस कॉलेज से ने बी.एस सी. किया था उसमें इतनी सीट ही थी कि उसे उसी कॉलेज का छात्र होने के भी जगह मिल पाती। उसके प्राप्तांकों का कम था...

वह केमिस्ट्री में एम.एस सी. कर रहा था। स्वभाव से वह घरघुस्सू था। उससे किसी के संबंध पनप ही नहीं सकते थे। फिर भी मोहल्ले के कुछ लड़के उससे जबरन जुड़ गए लेकिन मेरी दोस्ती रवींद्र के साथ ही प्रगाढ़ गई। नौकरी पाने के लिए उसने एक ध्येय लिया था कि टाइपिंग और शॉर्टहैंड सीखना और एक दिन किसी बड़े अफ़सर का पी.ए. है। उसने इंप्लॉयमेंट ऑफ़िस में अपना बनवाया और छह महीने के भीतर मेहनत टाइपिंग और शॉर्टहैंड का टेस्ट पास करके भविष्य का एक रास्ता तो खोल ही लिया। जगह-जगह से नौकरियों के साक्षात्कार के बुलावे भी आने लगे। उसके बड़े भाई को उम्मीद नहीं थी कि जिस कारख़ाने में सुपरवाइज़र बी के पद पर हैं उसी में एक रवींद्र भी स्टेनो के पद पर भर्ती हो जाएगा साल भर के अंदर जी.एम. का पी.ए. बन गया।

भाभी जी के आने से पहले ही मोहल्ले में प्रचार पा गई थी कि नवींद्र सिन्हा की बीवी ग्रैजुएट है। जब भाईसाब शादी के लिए छुट्टी लेकर गए थे तभी सबको बता गए थे कि लड़की ग्रैजुएट है। शादी माँ-बाप तय किए हैं। ठीक ही तय किए होंगे। उनकी होनेवाली बीवी को लेकर उत्सुकताएँ तो जग ही चुकी थीं और जब वे आईं तो उनके पहनावे ने मोहल्ले में सबको इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि पढ़ी-लिखी लड़की से अपने बेटों की शादी मत करो वरना ऐसी ही लड़की घर में बहू बनकर आएगी। देवर तो क्या, ससुर तक बिगड़ जाएँगे। कुछेक लोगों ने तो अपनी बेटियों को हाई स्कूल के आगे पढ़ने ही नहीं दिया। डर भी कैसी शै है...

भाभी जी ने जब भाईसाब से कहा कि वे पढ़ना चाहती हैं तो वे चौंके थे, ''अब का पढ़िएगा... ग्रैजुएट त हइए हैं...''

''कहाँ ग्रैजुएट हैं...आठ के बाद पढ़इए छुट गईं थी...बाउ जी को जेल नू हो गई थी...हमको प्राइभेट पढ़ने दीजिए...''

भाईसाब को झटका लगा था। उन्हें नहीं पता था कि ससी के बाबू जी को जेल कब हुई थी या कि उनकी ससी केवल मिडिल पास थीं। यह तो ससी ने ही बताया कि उनके बाबू जी पी.डब्ल्यू.डी. में थे और रिश्वत के जुर्म में रंगे हाथ पकड़े गए थे। उस मामले में सज़ा हो गई थी। तीनों बहनों की पढ़ाई अचानक छुड़वानी पड़ी। एक बड़ा भाई था। वह घर ही छोड़कर चला गया। न जाने कहाँ है। बाबू जी की नौकरी चली गई। वो तो कुछ खेती थी...चंपारण में...और मुज़फ़्फ़रपुर में लीची के बाग़...कि किसी तरह चार कट्ठा-पाँच कट्ठा बेचते-बिकनते बेटियों की शादी कर पाए। अगर उनके बाबू जी की नौकरी रही होती तो उनको डॉक्टरी पढ़वाए होते और शादी भी किसी डॉक्टर से ही किए होते। भाईसाब बुझ-से गए थे यह सब सुनकर। उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा, ''सभ सुनेंगे तो क्या कहेंगे...सभको

पता है कि आप ग्रैजुएट हैं...यही तो आपके बाबू जी भी बोले थे..."

"बोले तो थे...सभी बाप लोक जो बोलते हैं अपना बेटी के लिए...यही न बोलते हैं बेटी के लिए की ऊ बहुत पढ़ी-लिखी है...देखने में सुंदर है...आख़िर बियहना भी तो उनको ही है न जी...आप हमरा आगे पढ़ने का इंतिज़ाम कीजिए...हम प्राइभेट से हाईस्कूल का परीच्छा देंगे..."

भाईसाब चुप रह गए थे और भाभी जी पढ़ने लगी थीं। मोहल्ले में चर्चा तो होनी ही थी। हुई भी। मगर भाभी जी पर उन चर्चाओं का कोई असर हुआ ही नहीं। एक मास्टर शर्मा जी थे जो उत्तर प्रदेश बोर्ड से संबंधित माध्यमिक कॉलेज में पढ़ाते भी थे। उनकी अच्छी-ख़ासी मार्केट थी। वही घर पर आते और भाभी जी को पढ़ाते। शर्मा जी की फ़ितरत थी कि जिन लड़कियों या महिलाओं को ट्यूशन पढ़ाते उन्हीं से प्यार करने लगते। वह भाभी जी से भी प्यार करने लगे थे। शायद भाभी जी की ओर से भी कुछ रहा हो और अगर कुछ न भी रहा हो तो इतना तो ज़रूर था कि जिन कपड़ों में वे ख़ुद को रखती थीं वे उनसे बग़ावत करते थे। इस तरह सहज आकर्षण को तो वे स्वयं ही जन्म देती थीं। पढ़ाई से संबंधित कुछ जिज्ञासाएँ वे अपने सबसे छोटे देवर विनोद से सुलझातीं तो कुछ मुझसे। मुझसे इसलिए कि उन्होंने जब पढ़ना शुरू किया और जो विषय लिए उनसे मैं इंटर कर रहा था तो इस तरह से हमारे मोहल्ले में ग्रैजुएट बनकर आई महिला ने अपनी स्कूली पढ़ाई की शुरुआत की और फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। लोग पीठ पीछे मज़ाक़ उड़ाते रहे मगर उसने कान नहीं दिए।

विनोद ने एम.एस सी. कर लिया और भाभी जी ने यू.पी. बोर्ड से हाई स्कूल की परीक्षा पास कर ली। रवींद्र के दफ़्तर में एक महिला एल.डी.सी. थी। उसे पति के असामयिक निधन के बाद सहानुभूति के तौर पर नौकरी मिली थी। दो छोटे बच्चे भी थे। रवींद्र का उससे प्रेम हो गया कि केवल वासना ही प्रमुख बन बैठी, कौन जाने! मैंने उसे बहुत कहा कि उसकी अच्छी-से-अच्छी शादी हो सकती है परंतु उसने जब मेरी नहीं सुनी तो किसी की भी नहीं सुनी और उस विधवा और दो बच्चों की माँ से कोर्ट में शादी कर ली। उसकी रही-सही इज़्ज़त का भी घर में फ़ालूदा निकल गया। शादी से पहले ही उसने अपने नाम सरकारी क्वार्टर अलॉट करवाया और उसमें शिफ़्ट हो गया। उसका क्वार्टर दूर भी नहीं था। बस एक-डेढ़ किलोमीटर की दूरी थी। वह भाईसाब के पास आता-जाता था। हालाँकि भाभी जी उसे फूटी आँख भी देखना नहीं चाहती थीं। उसके भाईसाब अगर उससे संबंध बनाए हुए थे तो शायद इसलिए कि वह जी.एम. का पी.ए. था और किसी भी वक़्त काम आ सकता था। वह काम आता भी था। महीने-दो महीने में भाईसाब को ऑफ़िस के काम से कलकत्ते या फिर जबलपुर का एक ट्रिप दिलवा देता जिससे सस्ती के उस ज़माने में भी टी.ए., डी.ए. के नाम पर दो-तीन सौ रुपए बच जाते। बाद में तो यह रक़म बढ़ती ही गई।

भाभी जी ने आगे इंटर का फ़ॉर्म जब भरा तब तक वह गर्भवती हो चुकी थीं। इम्तहान शुरू होने से कुछ दिन पहले ही उन्होंने अपनी पहली बेटी अपर्णा को जन्म दिया। बच्ची होने के बाद भी उन्होंने अपने मिशन को ब्रेक नहीं दिया। वे इम्तहान में बैठीं और उन्होंने इंटर की परीक्षा पास की। उन्हें पढ़ते देखकर मोहल्ले में नाक-भौं सिकोड़ने वालों ने फिर से अपनी लड़कियों को पढ़ाना शुरू कर दिया। हालाँकि भाभी जी के बारे में उनकी धारणा बिलकुल नहीं बदली। भाभी जी ने दस वर्षों के भीतर एक के बाद

एँ पास करते हुए आख़िर एम.ए. कर ही
। इस बीच उनकी चार बेटियाँ भी होती
गईं। इतनी बेटियाँ उन्हें बेटा होने की उम्मीद
होती गईं। लेकिन चौथी बेटी पैदा होने के
उन्हें यक़ीन हो गया कि उसे बेटा नहीं हो
। उन दिनों विज्ञान ने चीख़-चीख़कर यह
नहीं किया था कि बच्चे के लिंग निर्धारण
माँ नहीं बल्कि बाप ही ज़िम्मेदार होता है।
ने ऑपरेशन करा लिया। अब उनकी बेटियाँ
, सुवर्णा, नेहा और मेहा ही बेटों के समान
। उन्होंने अपने मन की वह कसक कि वे
नहीं बन सकी, अपनी बेटियों में पूरी
ने की भरपूर कोशिश शुरू कर दी। उन्होंने
एड. किया और फिर कॉलोनी में ही सरकार
ओर से चलने वाले लड़कियों के एक
लय में नौकरी के लिए आवेदन भी किया।
उनका भाग्य कि उन दिनों जो कारख़ाने के
एम. थे, वे बंगाली थे मगर उनकी श्रीमती
बिहारी थीं। भाभी जी उनके बँगले पहुँच गईं
बिना किसी सोर्स-सिफ़ारिश के अपने ही
पर बालिका विद्यालय में अध्यापिका हो
। भाईसाब भी उनकी इस हिम्मत के क़ायल
गए। जो कि वे चाहते नहीं थे कि उनकी
नौकरी करे। मगर उनकी ससी ने उन्हें
रित कर दिया, "इ जो चार गो जनमाए
इन सभ के बारे में भी कुच्छो करना है कि
...चार पइसा अभिए से नहीं बचाएँगे तो उस
कहाँ से लाएँगे जब सभ दहेज माँगेगा...
से दू पइसा हम भी कमाएँगे..." भाईसाब
न बोल सके। बोलते वे पहले भी कहाँ

जी आगे बढ़ती और खुलती गईं। खुलती
का मतलब यह कि स्कूल में जो भी कार्यक्रम
वह उसकी संयोजिका हो जातीं। सार्वजनिक
क्रमों में भी आगे बढ़कर भाग लेतीं।

विधानसभा और लोकसभा चुनावों तक में उनकी ज़रूरत महसूस की जाने लगी। सत्ताधारी पार्टी का साथ देना चाहिए कि विपक्ष का, यह बात वे बख़ूबी भाँप लेती थीं। कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि वे दोनों पार्टियों से चुनाव-प्रचार का पैसा लेती थीं और किसी को भी नाराज़ करना नहीं जानती थीं इसलिए उनकी गोटी हमेशा चम्म रहती थी। मगर गोटी का चम्म रहना जीवन को भी चमाचम कर दे, यह ज़रूरी तो नहीं।

भाभी जी ने जहाँ संघर्ष से बहुत कुछ प्राप्त किया था वहीं जो चार संतानें लड़कियों के रूप में मिली थीं वे असहज रूप से असुंदर निकलीं। न तो उन्हें माँ के तीक्ष्ण नयन-नक़्श मिले न बाप की गोराई और न ही आज की बहुवांछित लंबाई। वे बिलकुल ट्राइबल-सी नकबोची और बेडौल-सी बढ़ती गईं। लड़कियों का बढ़ना माँ-बाप भले ही न भाँप सकें, ज़माना ज़रूर भाँप लेता है। लेकिन भाभी जी दूसरी ही मिट्टी की बनी हुई थीं। अगर उन्हें कभी भी किसी से सुनने को मिलता कि कोई उनकी बेटी की शादी की बाबत कुछ कह रहा है तो वे एकदम से फट पड़ते हुए कहतीं, "किसी का करजा खाए हैं का कि हम उनका सुनें...ऊ लोक अपना घर देखें...हम तो जब बेटी को बियाहेंगे...जब हमरा मन लायक घर-वर मिलेगा...कुआँ में तो नहिए झोंकेंगे..." भाईसाब कोई बात करते तो बोलतीं, "पहिले डॉक्टर बनने दीजिएगा छौंड़ी को कि नहीं...सदिए भागी जा रही है...डॉक्टर हो गई अपनी अपू के लिए लरका लोक का कउनो कमी न होगा का...सभ इसी चउखट पर सलामी देंगे...बाप हैं तो बाप का कलेजा भी रखिए...हम जो पइसवा कमाए हैं...बचाए हैं...ऊ किस दिन के लिए है...दिन को दिन नहीं समझे अउर रात को रात...अपू को डॉक्टर बनाना ही है..."

भाईसाब सच को दूर तक देख रहे थे। उनकी बेटियाँ न तो सुंदर थीं न ही ज़माने के लिहाज़ से

तेज़ काठी। सभी लड़कियाँ माँ पर गई थीं। असुंदर होते हुए वे बढ़ रही थीं। उनकी चिंता वाजिब थी कि अगर समय से शादी न की गई तो आगे मुश्किल होगी। वे योग्य वर चाहते थे। भाभी जी डॉक्टर चाहती थीं। यह वह समय था जब लड़की देखकर शादी करने का चलन पैदा हो गया था। ऐसे में क्या डॉक्टर और क्या किसी अन्य व्यवसाय से जुड़ा लड़का जो भी अपर्णा को देखने आता वह जाते समय यही कहता कि घर जाकर सोच-समझकर अपनी राय देगा। ऐसे लड़कों की राय कभी वापस नहीं आती थी। ऐसे में परिवार और अपर्णा को तो कुंठाग्रस्त होना था ही।

भाभी जी की हालत बुरी होती जा रही थी। मगर जो उनमें जीवट था वह उन्हें जिलाए हुए था। वे जी रही थीं और अपने परिवार के लिए जी रही थीं। उन्हें कभी फ़ालतू के कामों में किसी ने नहीं देखा। स्कूल में करतीं तो उनके काम का नोटिस लिया ही जाना था। वे आगे बढ़कर कोई भी काम थाम लेतीं। उन्हें लाइम लाइट में रहना पसंद था। जहाँ जगह न होती वहाँ भी वे अपने लिए जगह बना लेतीं। स्कूल का वार्षिकोत्सव हो या गणतंत्र दिवस, शिक्षक-दिवस हो या बाल दिवस। भाभी जी हर जगह होतीं। मध्यावधि चुनावों की तो देश में बाढ़ आ गई थी। वे बड़ी सजगता से पाला बदलतीं और नहीं भी बदलतीं। उन्हें सत्ता-पक्ष और विरोधी दोनों ही पूजते। वे अपने बिहारी लहजे में सबको संतुष्ट करतीं, ''काहे फिकिर करते हंय...हम तो हंय ना...सभ सम्हाल लेंगे...फिकिर मत करिए...आप ही जीतेंगे इस इलाक़े से...हाँ... खरचा....बरचा जो लगेगा ऊ तो हमको पहिले से ही आप दे दीजिए...परचार में खरचा बहुत होता हय...''

दोनों पार्टियाँ पैसे देतीं और भाभी जी उनके भविष्य को देखते हुए प्रचार करतीं। एक क़िस्म से वे समय की नब्ज़ को समझने वाली नेता हो गई थीं। भाईसाब कुछ कहते तो बोलतीं, ''यही समय तो कमाने का हय...बाद में इ नेतवा सभ किसी को कुच्छू देते हंय... ?''

भाईसाब चुप रह जाते। क्या बोलते। भाभी जी ग़लत भी तो नहीं कहती थीं...ज़माना ही ऐसा आ गया था कि लोग कमाने में जुटे थे। भाभी जी ने दाएँ से बाएँ...बाएँ से दाएँ...हर तरफ़ से कमाया...

स्कूल में जब एक अध्यापिका की हैसियत से नियुक्ति मिली थी तब वेतन कुछ ज़्यादा नहीं था। विद्यालय सरकार की ओर से चलता ज़रूर था मगर सरकारी नहीं था। एक सामाजिक संस्था उसे चलाती थी और सुरक्षा कारख़ाने का जो भी जी.एम. होता था उसकी पत्नी संरक्षिका मान ली जाती थी। इस बहाने कुछ सुविधाएँ स्कूल को मिल जाती थीं। मगर भाभी जी का दिमाग़ कुछ और ही तरह का था। उन्होंने बहुत जल्द स्कूल में एक शिक्षिका-संघ बना लिया और उसकी सचिव भी ख़ुद ही बनीं। उसके बाद तो हर तीसरे महीने वह संघ के लेटर हेड पर रक्षा-मंत्री और शिक्षा-मंत्री तक जी.एम. से अग्रसारित अर्ज़ी भेजने लगीं। क्षेत्र में लड़कियों के स्कूल के नाम पर उन दिनों वही एकमात्र स्कूल था। उसे बचाए और बनाए रखने के साथ-साथ विकसित करने की उनकी दलील और कुछ नेताओं के मिले आश्वासनों ने उन्हें टूटने नहीं दिया। लड़कियों के अभिभावकों के हस्ताक्षरित आवेदनों ने भी अपना प्रभाव व विद्यालय के सरकारी होने की सार्थकता का औचित्य दिखाया और एक दिन केंद्र सरकार के रक्षा-विभाग ने विद्यालय को अपने संचालन में लेकर रातों-रात सभी अदना समझी जानेवाली अध्यापिकाओं, लिपिकों, चपरासियों, माली और आयाओं को सरकारी कर्मचारी का दर्जा दे दिया। उनके वेतनमान बदल गए। सुविधाएँ बढ़ गईं और भाभी

...सिक्का जम गया। स्कूल में सबके लिए ...जी हो गईं। कहते हैं कि बाद में नई ...काओं की नियुक्ति में भी उन्होंने हज़ारों ...और इस तरह से सस्ती के ज़माने में भी ...लाख रुपए से अधिक बैंक बैलेंस हो ...और घर में बहुत-सी सुविधाएँ भी हो गईं। ...स्कूटर, गैस, फ्रिज आदि। भाभी जी ने ...मुड़कर नहीं देखा। हालाँकि उनका लहजा ...ज़्यादा नहीं बदला लेकिन अपनी बोली-...में भी उन्होंने अपेक्षित तो नहीं किंतु कुछ ...ज़रूर कर लिया।

...नौकरी कानपुर से बाहर मिली। लेकिन ...में जब-जब आता तो उनके बारे में सब ...विस्तार से पता चलता। उधर भाईसाब भी ...भविष्यनिधि में हर महीने जमा होने वाली ...बढ़ाते गए। उन्हें लगता था कि दहेज़ देकर ...अपनी अपर्णा, सुवर्णा, नेहा, और मेहा के ...लड़के ख़रीदने में सफल हो जाएँगे। मगर ...के बल पर उन्हें कोई ऐसा समझदार लड़का ...मिला जो अपर्णा का हाथ थामने को तैयार ...। यह मामला भी भाभी जी ने ही फतेह ...मगर ईश्वर को कुछ और मंज़ूर था।

...कोशिशों के बाद भी अपर्णा को मेडिकल ...नहीं मिल सका। वह बी.एस सी. के ...केमिस्ट्री में एम.एस सी. करने लगी। दो-...साल उसने केवल मेडिकल में प्रवेश पाने ...चक्कर में निकाल दिए थे इसलिए उसकी ...भी छब्बीस-सत्ताईस की हो चली थी। ...भी बड़ी हो चली थी। अब भाभी जी को ...शादी की भी चिंता सताने लगी थी और ...डॉक्टर को अपर्णा के लिए पाने की जगह ...भी सुयोग्य पात्र तलाशना शुरू किया। ...बार रूप-स्वरूप को लेकर बिगड़ जाती। ...तरह से अब उन्होंने भी मान लिया था कि ...बेटियों को भगवान ने रूप नहीं दिया। ...लड़कियाँ ज़रा भी सुंदर कहलाने लायक़ होतीं तो निश्चित ही उन्हें उनके लिए मनचाहे वर मिल जाते। उन्होंने अपने सामने ही मोहल्ले की कई लड़कियों का विवाह कम दहेज़ में भी होते देखा था। वे लड़कियाँ उनकी बेटियों से उम्र में कम भी रही होंगी। लेकिन वे सब सुंदर कहलाती थीं। सुंदर थीं। उनकी सुंदरता दहेज़ की सीमाओं को सीमित कर देती थी। यह सब देखते हुए भाभी जी पेरशान तो होतीं मगर हारती नहीं। उन्हें यह विश्वास हमेशा रहता कि एक दिन उनके दरवाज़े भी बारात लगेगी। उन्होंने जो सोचा हुआ तो; पर कुछ दूसरी तरह से। या फिर शायद यह कहा जाए कि आपन सोचा होत नहिं हरि सोचा तत्काल...

भाभी जी के ससुर जी को गाँव में लकवा मार गया। उन्हें बिहार से कानपुर लाकर हैलट अस्पताल में भर्ती कराया गया। उसी वार्ड में एक और मरीज़ था। उसे भी लगभग वैसा ही पक्षाघात हुआ था। भाभी जी ने उसके परिजनों में केवल उसकी पत्नी और एक लड़के को ही देखा। बातचीत के दौरान उन्होंने जाना कि वह परिवार भी कायस्थ है और लड़के अजय की शादी अब तक नहीं हुई है। लड़का शहर में ही एक बैंक में क्लर्क था। भाभी जी ने अपनी मिलनसारिता के बल पर उस परिवार का दिल जीत लिया। ऐसा करने में उनका स्वार्थ था। यह बात तो विदित ही थी परंतु यह उनका स्वभाव भी था। अपर्णा और सुवर्णा भी जब कभी अपने दादा जी को देखने अस्पताल में आतीं तो वे भी अपनी मम्मी के निर्देशों का पालन करतीं और अधिक-से-अधिक अजय के पिता के पास होतीं। अजय की माँ से बहुत ही विनम्रतापूर्वक बातें करतीं। अस्पताल में मरीज़ों को तो कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ परंतु दोनों परिवारों में एक रिश्ता पनप गया। उसी की छाया में एक दिन भाभी जी ने अजय की माँ से अपने मन की बात कह दी, "बहिन जी, अजय का सादी के

मामले गें का बिचार हय...लड़का तो कमाइए रहा हय अ...उमिर भी तो होइए गई है...''

''शादी के बारे में सोच ही रहे थे कि बीच में इनके बाबू जी का ये हाल हो गया। अब तो इनके ठीक होने पर ही कोई बात होगी...''

''देखिए...हारी-बेमारी तो हर घर में रहबे करता हय...लेकिन काम जदि समय पर न हो त होने पर भी बदरंगे देखता है...हम भी अजय को जब से देखे हंय तब से मन में एक ठो बात बस गया है...आप तो बहिन जी अपर्णा को देखती ही हैं...एम.एस सी. कर रही है...अगले साल बी.एड. भी करवाएँगे...ऊ तो पहिलहीं हो गया होता जदि डॉक्टरी के चक्कर में छौंड़ी जान न दिए होती...सुवर्णा तो बी.एड. करके अब एम.एड. करेगी...आप जे उचित समझें त अजय क सादी हमारी अपर्णा से कर दें...दहेज में दुनिया जौन आपको देगी...हम भी देंगे...'' अजय की माँ ने उस समय कुछ कहा नहीं। भाभी जी ने भी उस समय मामले को ज़्यादा लंबा नहीं किया। हाँ, अपनी सेवाओं में वृद्धि और कर दी। फल-फूल, चाय-पानी, खाना-वाना और दवाई-सवाई जहाँ तक होता वे मँगवातीं या ख़ुद अस्पताल के सामने दुकानों से लातीं। कुछ तो व्यवहार और कुछ सामीप्य का असर अजय पर भी हुआ। गाहे-बगाहे भाभी जी पूछती भी रहतीं। अजय के प्रति उनका व्यवहार वैसा ही होता जैसा यदि उनके बेटा होता तो वे उससे करतीं। शायद कहीं उससे ज़्यादा ही प्रेम छलकता रहा होगा। आख़िर उन्होंने अपनी बुद्धि से एक दिन अजय की माँ को लगभग मना ही लिया, ''देखिए...बहिन जी सदिया त आपको करनी ही हय...आज करें चाहे दू दीन बादे में...आप अगर हँकार लेंगी त हमको भी मन में संतोख रहेगा कि हमरी अपरना का भी घर दुआर सहिए मिला...''

''अब मैं क्या बताऊँ...हमारे हाल तो ठीक नहीं हैं अभी...अजय के पिता जी को ही यह सब करना था...''

''बतिया त आप सहिए कह रही हैं लेकिन इ भी त सोचिए कि अभ सभ काज-प्रजोजन में आपे को आगे बढ़के फैसला करना होगा...कहाँ तक अगोरिएगा...'' भाभी जी की बातें और शायद अजय और अपर्णा के बीच कुछ हल्का रोमांस भी अस्पताल के परिसर में नैकट्य वश पनपा हो। अजय की माँ ने बेटे की राय जो जाननी चाही तो उसने लगभग चुप रहकर अपनी स्वीकृति ही दे दी। उस दिन भाभी जी बहुत प्रसन्न थीं। उन्होंने भाईसाब से कहा, ''अजय जी को देखे नू हंय...हम उनकी माता जी को सादी के लिए मना लिए हंय...अपनी अपरना भी समझदार नू हय...आपका देखे नहीं की केतना मन से अजय जी के बाबू जी की सेवा करती हय...मन मोह लेने में अपरना कोई हराइए नहीं सकता...''

''का कह रही हैं आप...हम तो समझे नहीं पा रहे हैं...''

''आप कभी कुछ समझे भी हैं...हम अपरना की सादी अजय जी से तय किए हैं जिनके बाबू जी अपने बाबू जी के साथ ही अस्पताल में हैं...''

''देखिए...जाँच-पड़ताल ठीक से करा लीजिए...कहीं एथि...'' भाईसाब अपनी बात पूरी नहीं कर पाए थे कि भाभी जी बोलीं, ''अब आप एथी-मेथी त करें नहीं...हमको जो करना है...करने दें...अजय जी बैंक में काम करते हैं...अकेले हैं...कवनो झंझटिए नहीं हय...अउर हमको सुभ काम में देरियो नहीं करना हय...''

''बाबू जी अभी ठीक कहाँ हुए जो सुभ काम ठाना जाए...''

''बाबू जी ठिकाएँगे की नहीं, ई कौन जानता हय...त...इसीलिए सदिया नहीं होगी...आप फंड से, सोसाइटी से पइसा का परबंध कीजिए...हम भी जो बचाए हैं उसमें से निकालेंगे...''

छेंका-बरच्छा सब भाभी जी ने आनन-फानन में करा लिया। शादी की तारीख़ भी बीस दिन

...निकलवा ली। लेकिन अभी चार-पाँच ...गुज़रे थे कि एक दिन सुबह-सुबह उन्होंने ...कि अपर्णा की आँखों की पलकें बहुत ...हुई हैं। हथेलियाँ और पाँव के पंजे भी ...ढंग से सूजे हुए थे। वे उसे सरकारी ...ले गईं। रक्षा-मंत्रालय के अस्पताल ने ...सैनिकों के अस्पताल में रेफ़र कर दिया। ...का आना-जाना और तरह-तरह की ...शुरू हुई। पता चला कि अपर्णा की दोनों ...पूरी तरह नाकाम हो गई हैं। सैनिक ...से अपर्णा को निकालकर लखनऊ के ...गांधी अस्पताल में दिखाया गया। एक ...टैस्ट फिर से हुए और परिणाम वही का ...रहा। ले-देकर घर वाले तबकी बंबई भागे। ...में किडनी के लिए विज्ञापन दिया गया ...उन दिनों किडनी देने वाले भी कहाँ आगे ...थे। जब कोई रिसपॉन्स नहीं मिला तो भाभी ...ख़ुद ही एलान कर दिया कि अपर्णा को ...एक किडनी देंगी। उनके शरीर की भी ...जाँच हुई और बंबई के एक अस्पताल ...की किडनी अपर्णा के शरीर में प्लांट कर ...। मगर इसके बावजूद भगवान को कुछ ...ही मंज़ूर था। किडनी का फ़ंक्शन सामान्य ...हो सका। केस बिगड़ गया। अजय भी उन्हें ...बंबई पहुँचा। उसने भाभी जी से कहा, "...तो यहीं होगी...अगर शादी के बाद अपू ...ऐसा ही हो जाता तो क्या मैं उसे छोड़ ...?" "देखिए अजय जी...आप हमें बंबई ...के लिए आए...हमारे लिए यही बहुत ...एक बात आप भी जानते हंय और हम ...की...अपरना अब जादा नहीं जीएगी... ...अगर उससे ज़रा भी मोहब्बत हय त ...छोटी बहन सुवरना हय न...उसी से बियाह ...जदि आप अइसा किए तो सभ ठीके ..." उन्होंने अजय को ब्रह्मास्त्र में लपेट लिया और रही-सही कसर तब पूरी हो गई जब वह अपर्णा से अकेले में मिला। वह बोली, "हम तो अब गिनती के दिन ही जिएँगे...आप सुवर्णा को अपना लें...वह भी तो आपको चाहती है..."

अजय के पास कहने को कुछ नहीं था सिवाय ख़ुद को हालात के आगे समर्पित करने के। भाभी जी ने अजय को ही नहीं उसकी माँ को भी समझा लिया कि ऐसे हालात में समझदारी से क्या करना चाहिए। उस लड़की का जिसकी ज़िंदगी का ही अब ठिकाना नहीं उससे शादी करके क्यों व्यर्थ में विधुर होने का दाग़ माथे पर लिया जाए। जहाँ तक नेह-छोह का मामला है वह तो आख़िरी साँस तक निभाया जा सकता है...

अपर्णा बंबई के अस्पताल में ही रही। वहाँ से जब निकली तो अस्पताल के पास ही एक किराए का कमरा उसके लिए लिया गया ताकि समय-समय पर उसका चेकअप हो सके। लंबी यात्रा के लायक़ उसका शरीर रह नहीं गया था। वह टूट तो पहले से ही रही थी। असाध्य बीमारी ने उसे और हताश कर दिया। उसके साथ प्रायः भाभी जी ही रहतीं। उन्होंने जो कुछ जैसे भी बचाया था उसे अपर्णा पर ख़र्च करने में कोई कोताही नहीं की। इसी माहौल में कानपुर में सुवर्णा की शादी अजय से हो गई। भाभी जी ने अपनी बेटियों के भविष्य को किसी अच्छे ज्योतिषी की तरह जान लिया। अब वे नेहा और मेहा को भी समय रहते ब्याह देना चाहती हैं। किसी डॉक्टर दामाद की उम्मीद अब उनको नहीं है। अपनी बहादुरी ही है जिस पर उन्हें भरोसा है। अब वह प्रधानाचार्या भी हो गई हैं...

मुझे यक़ीन है कि वे जो चाहेंगी उसमें सफल होंगी। आख़िर वे मरदानी हैं...

गंगा प्रसाद विमल

डर

सुबह के अख़बार के साथ ही ज़्यादातर दिनचर्याएँ शुरू होती हैं। लेकिन सुबह का अख़बार पढ़ते ही सुराना उदास हो गया। ऐसा पहली बार नहीं हो रहा था। बीते अर्से कई बार अख़बार की सुर्ख़ियाँ पढ़कर दिन भर के लिए वह अजीब क़िस्म की कोफ़्त का शिकार होता रहा है।

'शायद अब अंत ही आ गया', उसने ख़ुद से कहा। वह कुछ दिनों से, जब से बीवी मायक़े जाकर बैठ गई तब से, ख़ुद से ज़्यादा ही बतियाने लगा था। दोस्तों ने सलाह दी, "यार जाकर डॉक्टर को दिखा आओ, कहते हैं किसी बड़े रोग की शुरुआत इसी तरह होती है।" वह भी सोचता कि हर्ज ही क्या है डॉक्टर से मिलने में, एक बार मिल ही आता हूँ दिमाग़ी बीमारियों के डॉक्टर को, मुमकिन है सोने-सुलाने की कोई दवा दे दे, मुमकिन है मैं ख़ुद से बोलना बंद कर दूँ।

फिर दोस्तों की सलाह तमाम दूसरे कामों की सूची में सबसे आख़िर में जा पड़ी। कभी-कभी तो वह सलाह एक्टिव क़िस्म की चीज़ों की ख़ूबी से ग़ायब ही हो जाती और सुराना अपने ही तर्क से दूसरों को पराजित करने की योजना बनाने लगता। वह इस नतीजे पर पहुँचता कि लोगों को बिन माँगे सलाह देने की आज़ादी है पर ज़रूरी नहीं कि हर सलाह पर अमल किया जाए। बात सिर्फ़ बतियाने की है न और वह भी ख़ुद से। चलो यह ग़ौर करने की बात हुई पर ऐसा कौन होगा संसार में जो ख़ुद से कभी न बतियाता हो। आख़िर ख़ुद अपनी बात का पक्की तौर पर यक़ीन होने के बाद ही तो आदमी उसे सार्वजनिक कर सकता है। और फिर बतियाने का ताल्लुक़ अगर सोचने से हो तो क्या आदमी कभी भी सोचना बंद कर सकता है? वह अपनी खोज पर बेहद ख़ुश होता जैसे आर्किमिडीज़ ने अपना सिद्धांत खोजा हो, पर यह थोड़ी ही देर की ख़ुशी होती। वह जैसे इसी मसले पर गहराई से सोचने लगता उसे अपनी आत्ममुग्धता पर क्षुब्धता होती। ख़ुद आदमी इस क़दर अपने पर भरोसा करे तो समझो वह गया काम से।

ढेरों पक्षी आसमान में उड़ रहे थे। नीले आसमान की गहराई में उड़ते परिंदे छोटे-छोटे तिनके भर दिखाई देते। सुराना ने हसरत

12 कहानी-संग्रह, सात कविता-संग्रह, चार उपन्यास आदि के रचयिता गंगा प्रसाद विमल का जन्म 1939 में हुआ। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : 112, साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नई दिल्ली 110019

...निगाह से देखा—ऊँचाइयाँ आदमी को ...छोटा कर डालती हैं...उसे अपनी दादी ...आई। वह अकसर कहा करती थीं, रब ने ...के लिए ऐसी खंदक-खाइयाँ खोदी हुई ...बच्चा ख़ुद-ब-ख़ुद एक दिन उसका शिकार ...ही रहता है। अब जो आदमी बहुत ख़ुश ...समझो, रब ने खाई में धकेलने के लिए ख़ुशी ...औज़ार उसके हाथों थमा दिया है। वह ख़ुशी ...ही अपना काम तमाम करेगा। शुरू में वह ...ख़ुशी बेवक़ूफ़ियाँ करेगा, फिर उनके जाल ...फँसकर ख़ुद को बरबाद करने लगेगा। मसलन ...होने के चक्कर में वह काम कर देना ही ...कर देगा। बस यहीं से समझो वह खाई की ...की ओर चल पड़ा है। उसके कामों में ...-शनाप चीज़ें जुड़ जाएँगी और...दादी अभी ...बोलती कि वह सवाल कर बैठता, "तो ...आदमी ख़ुश ही क्यों रहे ?"

"तू नी समझेगा काका। बड़ा हो जा।"

वह चिढ़ जाता। बुढ़िया की निगाह में वह ...हमेशा ही छोटा रहेगा। "और दादी तुम्हारे लिए ...रब ने क्या तय किया हुआ है ?"

बुढ़िया उदास हो जाती, "ओय रब को मेरे ...में सोचने की फ़ुरसत ही कहाँ है !"

"क्यों...क्या रब बहुत से काम करता रहता ...एक तेरे लिए भी किया होगा बंदोबस्त।" मैं ...उठता।

बुढ़िया के होंठ प्रार्थना में बुदबुदाने लगते ...वह कहीं खो जाती। घाटियों और पर्वतीय ...की ओर खिसकती धूप से नज़ारे कुछ ...ही खिल पड़ते, परंतु ख़ास क़िस्म का ...जैसे चारों ओर धूप की तरह अपने होने ...घोषणा करने लगता।

वह बुढ़िया के बुदबुदाते होंठ देखता तो उसे ...जैसे वह किसी दूसरी दुनिया से संवादरत ...यह उसकी दूसरी दुनिया ही थी जो उसके ...विश्वास से जुड़ी थी।

वह साहस बटोरता और बुढ़िया को उसके ध्यान से अलग करने के लिए पूछ बैठता, "दादी, तू हर वक़्त अपने होंठों से क्या उच्चारती रहती है ?"

"तू नहीं समझेगा पुत्तर। बस इतना जान ले मैं सबकी ख़ैर माँगती रहती हूँ।"

"सब कुछ तो ठीक है दादी।"

वह झल्ला पड़ती, "अब चुप भी कर मुझे अपना काम कर लेने दे।" फिर कुछ देर बाद उसे प्यार उमड़ आता। कहती, "दुनिया बड़ी ख़राब है। बेड़ा गर्क हो उनका जो ज़्यादा ख़राब बना रहे हैं। मैं ऊपर वाले से सबकी ख़ैर माँगती हूँ। रब भला करे। तू नहीं जान सकेगा पुत्तर, यह माँ का दिल है न जो दुनिया के तमाम बच्चों की ख़ैर माँगता है।" दादी फिर अपनी दुनिया में खो जाती और वह इधर-उधर देखने लगता। आसमान में दूर-दूर तक गहरे नीलेपन के अलावा कुछ नहीं था।

'अरे वह कहाँ पहुँच गया', सुराना ने ख़ुद से कहा। वह दादी को याद करते हुए अपने बचपन और लड़कपन में पहुँच गया था। वह अकसर बचपन की सुख देने वाली यादों में लौटता तो उसे महसूस होता जैसे उस वक़्त के उसके सवालों के जवाब दादी के विश्वास में मौजूद थे। "हालत तब इतनी ख़राब नहीं थी", सुराना ख़ुद को बताता, "परंतु दादी का डर...डर तो उस वक़्त भी मौजूद था...। हाँ वह हर तरह से डर ही था जिससे बचने के लिए वह अपनी प्रार्थनाओं में डूब जाती थीं।"

वह कभी-कभी सोचता क्या यह एक आसान रास्ता नहीं है, ख़ुद से छिपने का कि किसी दूसरे की स्मृति में डूब जाओ। गरम हवा या ठंडक या किसी के ताने या किसी अभाव का तनाव—ये तो ऐसी चीज़ें हैं जो आदमी को एकदम निजी स्तर पर झेलनी पड़ती हैं। कहाँ क्या हो रहा है ? क्यों हो रहा है ? इससे बचने के लिए बेहतर है

कि हम तन्मयता से दूसरे को याद करने लगें—अल्लाह को या पैगंबरों को या पीरों को और अपनी हर प्रार्थना में जो कुछ हो रहा है उसके लिए माफ़ी माँगते रहें। गोकि जो हो रहा है उसके ज़िम्मेदार हम हैं। कुछ देर ही सही, जब तक आदमी अदृश्य से जोड़ बिठा रहा है वह दृश्य से अलग होता है और जितनी भी देर अलग होता है उतनी ही देर वह बेफ़िक्र होता है। अपने इन ख़यालातों पर सुराना पूरी तरह ग़ौर नहीं कर पा रहा था। उसे लग रहा था यह कोई दूसरा आदमी, एकदम अजनबी-सा आदमी जो उसकी तरफ़ से सोच रहा है।

उसने अपने चारों तरफ़ देखा—वहाँ कोई भी नहीं था। पर इस कोई नहीं के माहौल में दूसरा अदृश्य था—पर वह था क्योंकि सुराना को लग रहा था बहुत से निर्णय इस वक़्त कोई और ले रहा था वह तो केवल उन फ़ैसलों को आगे बढ़ा रहा था।

अब दुनिया की तसवीर बदल रही है। अख़बार बताते हैं। सुराना सोचने लगता, जिस तेज़ी से दुनिया बदल रही है आदमी भी तो बदल रहा है। बदलने दो—वह लापरवाह होने की बात पर चलने की सोचता लेकिन...बस यही लेकिन था जो दोस्तों के बीच की बहस में उसका सहारा होता था। उसकी बीवी को बहसें पसंद नहीं थीं। अख़बार की सुर्ख़ियाँ पढ़कर वह भी बोल पड़ती, ''ये क्या हो रहा है आजकल?'' अपने मायके जाते वक़्त वह हिदायत दे गई थी, ''देखना घर खुला न छोड़ना—कब कौन क्या कर जाए...किसका भरोसा...!''

वह हँस पड़ता, ''घर यहीं रहेगा—कहीं न जाएगा। और कौन तेरे फ़ालतू सामान को ले जाएगा!''

सुबह-शाम जब मौक़ा मिलता वह भी मंदिर गुरुद्वारे का चक्कर लगा आती। वह सुराना को कहती, ''कभी कभी रब को याद कर लिया करो।''

''याद...'' वह ख़ुद से ही कहता, ''मेरा यार कभी मिल जाए तो ख़ूब झगड़ा करूँ उससे...'' आख़िर ऐसा कुछ बनाने, बदलने का मक़सद क्या हो सकता है...यानी एक रहने लायक़ दुनिया में दो-चार चीज़ें ही तो चाहिए। आदमी का भरोसा, तहज़ीब, काम-काज और सेहत...पर यह सब कुछ हासिल करने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं।

सुबह का असर अभी ख़त्म नहीं हुआ था। वह खीज थी या ग़ुस्सा, उसे ठीक तरह समझ नहीं आ रहा था। वह चाहता था कि आज की हालत पर जमकर किसी से बहस करे। उसने इरादा किया कि वह सबसे पहले ख़ुद से बात न कर संवाद के लिए कहीं निकल जाए। रास्ते में ही सारे काम कर लेगा—तभी कामों की सूची उसके दिमाग़ में कौंध गई—उसे पहले तो अपनी बीवी को ही फ़ोन करना था। पिछले कई हफ़्तों से उसका फ़ोन ख़राब पड़ा था। मन-ही-मन टेलीफ़ोन कंपनी को कोसते हुए वह घर से निकल कर पास ही एस टी डी बूथ की ओर चल पड़ा। साईंस ने आदमी के लिए क्या-क्या कमाल खोज लिए हैं? उसे बनती हुई दुनिया की भौतिक सुविधाओं के बारे में सोचते हुए सुकून मिला पर यह थोड़ी ही देर का था। एस टी डी बूथ नौजवान लड़के-लड़कियों से पटा पड़ा था और सब अपनी बारी का इंतज़ार कर रहे थे।

''यार सुराना...'' किसी ने उसे आवाज़ दी तो वह मुड़ा। दूसरे मुहल्ले में रहने वाला दोस्त विनोय था। विनोय कभी बंगाल में पैदा हुआ था तो उसका अच्छा-भला नाम उच्चारण की भेंट चढ़ गया। दोस्त लोग विनोय ही क़बूल गए। ''यार संगीन मामला है। कल रात से बीवी की तबीअत कुछ ज़्यादा ही ख़राब है बच्चे भी स्कूल नहीं गए!''

''क्या हुआ?''

''अब डॉक्टर ही बताएगा।'' वह बोला।

"चल, डॉक्टर के पास चलते हैं।" सुराना ने तसल्ली देने के इरादे से कहा।

"मैं वहीं जा रहा था सोचा तुम्हें भी ख़बर कर दूँ।"

"हो गई ख़बर...चल डॉक्टर के यहाँ।" सुराना अपने काम भूल गया। मन ही मन उदास हो गया। इसके छोटे-छोटे बच्चे हैं। बीवी को कुछ हो गया तो यह तबाह हो जाएगा।

वे दोनों डॉक्टर के पास पहुँचे तो वहाँ भी ज़्यादा भीड़ का ही था। बारी आने में काफ़ी देर लग सकती थी। मुहल्ले का डॉक्टर था। दोनों को ही नहीं सभी लोगों की जान-पहचान थी। छोटी-छोटी बीमारियों के लिए उसकी दवाई कारगर थीं।

"तुम बारी का इंतज़ार करो, मैं पास ही से फ़ोन कर आता हूँ...।"

विनोय ने अपनी जेब से मोबाइल निकाला, "तुम इससे कर लो..."

"नहीं ओय...मुझे कुछ लंबी बातें करनी हैं।" वह विनोय को छोड़ आगे बढ़ गया। कुछ दुकानों के बाद एक फ़ोन बूथ था। उसे तसल्ली हुई, वहाँ ज़्यादा भीड़ नहीं थी।

अख़बार वह पढ़ ही चुका था, पर वहाँ टेलीफ़ोन बूथ पर भी एक अख़बार पड़ा हुआ था। अपनी बारी के इंतज़ार में उसने अख़बार उठा लिया।

बस यहीं से जैसे उसके भीतर का ग़ुस्सा फिर उबल आया। किसी क़सबे की ख़बर थी जहाँ कुछ लोगों ने सामूहिक बलात्कार किया था। पकड़े गए लोगों के चेहरों से नहीं लगता था कि वे दरिंदे होंगे। ख़बर में साफ़ लिखा था कि एक जाति के लोगों ने मिलकर वारदात की थी...

"क्या हो गया लोगों को?" वह अपने से बोला तो पास ही अपनी बारी का इंतज़ार करते सज्जन बोल उठे, "आपने मुझसे कुछ कहा..."

"माफ़ करना...मैं ख़ुद से ही कुछ बोल रहा था।"

"ओह!" उसने अपनी शर्मिंदगी में ऊपर आसमान की तरफ़ देखा और जैसे किसी निराकार निर्गुण से माफ़ी माँगने लगा हो।

थोड़ी ही देर में उसकी बारी आई। उसने फ़ोन किया तो उसकी सास ने ख़बर दी कि मुन्नी तो सहेलियों के साथ बच्चों को लेकर पीर जी की दरगाह गई है। उसने तुरंत सास को नमस्कार कहते अपने मन की बात कह दी कि बीवी जितनी जल्दी हो सके घर लौटे, यहाँ विनोय की बीवी भी बीमार है। मज़ेदार बात ही थी कि सास और उसकी बीवी की विनोय की बीवी से ख़ूब पटती थी। वह डॉक्टर के पास लौटा तो विनोय भीतर था। वह सीधे केबिन में घुसा तो डॉक्टर विनोय को दवा लिख कर दे रहा था।

"एक बार देख लेते डॉक्टर..."

"हाँ...हाँ...क्लीनिक बंद कर मैं उधर से ही लौटूँगा। देख भी लूँगा..."

"डॉक्टर साहब मैं ख़ुद से बहुत बोलने लगा हूँ।"

डॉक्टर हँसा, "इसे बीमारी न समझो, पर तसल्ली के लिए सायकाट्रिस्ट से मशवरा लेना बुरा नहीं।"

उसके कामों की सूची में दिमाग़ी इलाज करने वाले डॉक्टर का नाम पहले नंबर पर आ गया था। वे दोनों विनोय के घर लौट आए।

घर में सन्नाटा था।

विनोय अंदर गया तो छोटे-छोटे बच्चे सहमे खड़े थे। पड़ोस की औरतें विनोय की बीवी की साँसें टटोल रही थीं।

कोई घबराकर बोला, "जाओ जल्दी डॉक्टर को बुला लाओ!"

सुराना ही डॉक्टर के पास दौड़ा। पीछे-पीछे विनोय की चीख़ने की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं।

"क्या सचमुच सब कुछ ख़त्म हो गया...!" सुराना ने कातरता में आसमान की ओर देखा। पक्षी नीले आसमान में चक्कर लगा रहे थे।

डॉक्टर अपने आख़िरी मरीज़ों को देख ही रहा था कि सुराना हड़बड़ाहट में केबिन में घुसा...

"जल्दी चलिए...। लगता है वहाँ सब ख़त्म हो गया।"

डॉक्टर भी घबराया। "बस दो मिनट बाहर बैठो, मैं साथ ही चलता हूँ।"

वे दो मिनट दो युगों जैसे थे। अंग्रेज़ी अख़बार का जो पन्ना उसकी तरफ़ था, उसमें दर्ज था—एक मज़हबी भीड़ ने दूसरों के मुहल्ले में आग लगा दी थी। ख़बर विदेशी थी, शांति और अहिंसा निबाहने वाले बौद्धधर्मियों पर हमला हुआ था। एक पल के लिए उसकी आँखों के आगे भीड़ और हिंसक पशुओं के चित्र गुज़रे, जैसे औज़ार हाथ में उठाए असंख्य लोग दूसरी तरफ़ दौड़ रहे हों...उसे यक़ीन नहीं हुआ। वह अपने से बोला, "ऐसा ही अंत होगा दुनिया का..."

डॉक्टर ने उसे झिंझोड़ा, "चलो सुराना...चलें! ज़्यादा मत सोचा करो।"

डॉक्टर ने आख़िर में विनोय की बीवी के ख़त्म होने पर मुहर लगाई। एक पूरी दुनिया उजड़ गई थी। विनोय के बच्चे छोटे थे... ख़ुद विनोय एकदम पाक-साफ़ इंसान था। उसके साथ यह अन्याय क्यों हुआ? सुराना जितना सोचता उतना उलझ जाता...उसने हमेशा विनोय को ख़ुश देखा था। उसे अपनी दादी याद आई। "ख़ुशी भी एक औज़ार है..."

अख़बार बंद नहीं किए जा सकते आख़िर वारदातों की ख़बर तो आज़ाद वाशिंदों का हक़ है—सुराना अपनी ही सोच में फँसता जा रहा था...आज़ादी...उसकी स्मृति में अपना बचपन कौंध गया। ढेरों लोग आज़ादी के लिए क़ुर्बान होने को सड़कों पर निकल आते थे। उसकी माँ कहती, "बच्चे ये धरती ही क़ुर्बानों की धरती है। आदमी की कम अक़्लियत है कि वह क़ुर्बानियों को भूल जाता है। हमारे गुरुओं ने न्याय के लिए क़ुर्बानियाँ दी थीं...परंतु जो लोग जो छुप-छुपकर निहत्थों, बेक़सूरों, सोते लोगों पर जुल्म ढा रहे हैं वे...वे कौन हैं...सुराना ने आसमान की ओर देखा। कभी पक्षियों ने झुंड बनाकर हमले नहीं किए। इक्का-दुक्का बंदरों के हुजूम को उसने ग़ुस्साए ज़रूर देखा पर कभी भैंसे को बलात्कार करते नहीं देखा। उसने कबूतरों, कुत्तों के झुंड ज़रूर देखे थे पर वे हमलावर झुंड नहीं देखे जो आदमी की शक्ल में दिखाई दे रहे थे।"

बीवी से बहस करने से पहले, विनोय को दिलासा देने से पहले, तमाम कामों से पहले उसने दिमाग़ी इलाज करने वाले के रास्ते पर जाना चुना...इसलिए भी कि बहुत हो गया जो अंत का अहसास करा रहा है अंत का...और दुनियावी डर जैसे फुर्र से उसकी स्मृति से उड़ गया। अब न उसे दूसरे आदमियों की उपस्थिति का डर सता रहा था, न ऊपर वाली शक्तियों का, जिनके होने का डर बहुत बचपन से हरेक के मनोलोक में जमा दिया जाता था। हम बेहद ग़रीब लोग हैं, हर मानी में क्योंकि दिमाग़ में बचपन से उलटी बातें बिठा दी जाती हैं।...वह तो उसे अभी अहसास हुआ कि जो कुछ चल रहा था वह चल नहीं, चलाया जा रहा था। देखना यह है कि वह शातिर दिमाग़ कौन है? वही न, जो तेज़ी से दिमाग़ों पर हमला करता है और फिर किसी-न-किसी तरह हस्तक्षेप कर डालता है। बेहतर है कि न हम स्मृति में किसी अदृश्य के ग़ुलाम बनें और न ज़िद्दी...ज़ोरदार तरीक़े से उसे दिखाई दे रहा था जैसे पक्षियों की उड़ानों में एक नियम था—संगीत भरा नियम, पंखों से वह धीरे-धीरे उतरकर आसमान की ओर बढ़ रहा था...

उड़ती हुई फ़ाख़्ताओं में शामिल होने के लिए...नीले आसमान में ख़ूब जगह थी, न भीड़ थी...न जगह की कमी।

राजेंद्र चंद्रकांत राय

ठगी

भूगर्भशास्त्रियों ने जबलपुर को हिला दिया था। धड़-धड़-धड़-धड़...भूकंप नहीं था।

उसके कारण जो हिलना होता है उसे कुछ दिन पहले जबलपुर भुगत चुका था। ज़मीन हिली थी मात्र कुछ सेकेंड के लिए और जीवन की चूलें महीनों हिलती रह गई थीं। यह हिलना वैसा भयावह न था। सुखद था।

सुखद था, इसलिए बार-बार हिलने का जी होता था। उन्होंने जबलपुर-कटनी मार्ग पर स्थित स्लीमैनाबाद के लंबे-चौड़े भू-भाग में, जो सैकड़ों वर्ग किलोमीटर हो सकता था, संगमरमर की खानें खोज निकाली थीं। ज़मीन के नीचे छुपे हुए अकूत ख़ज़ाने को बेपर्दा कर दिया था उन्होंने। अख़बार उनसे ख़बरें झपट लाए थे और सवेरे-सवेरे दरवाज़ों की संध से उन विस्फोटक ख़बरों को उन्होंने घर-घर पहुँचा दिया था।

संग-ए-मरमर इटैलियन-कोटि का पाया गया था। राजस्थानी-संगमरमर से बेहतर। पूरा शहर इस पराई ख़ुशी से सराबोर हो चुका था। जैसे वे अरब के शेख हो गए हों अचानक। हालाँकि ज़्यादातर लोग उस दिन की सब्ज़ी-भाजी ख़रीदने के लिए भी जेबें टटोलने में सकुचा रहे थे। जिन लोगों की ज़मीनें उधर थीं, वे बेख़बर थे। किसी ने बताया भी तो चिंता में पड़ गए कि नीचे चट्टानें हैं तो नलकूप कैसे खुदेंगे। पर, सूचनाओं से तरंगित हो जाने की आदत जिन्हें पड़ गई है, वे संगमरमर भले ही ख़रीद-बेच न पाएँ, मगर अपने ज़िले की इस नई खनिज-संपदा की जानकारी से वे अमीर हो चुके थे।

शहर के सौ-पचास लोगों ने मोबाइल बंद किए और उनकी गाड़ियाँ उधर को मुँह उठाकर चल पड़ीं। वे अलग क़िस्म के नागरिक थे। रहते यहाँ थे, मगर लंदन, कैलीफ़ोर्निया, न्यूयॉर्क, सिडनी, बैंकॉक उनकी छाती में धड़कते थे। मित्तल, बिलगेट्स, अजीम प्रेम जी, नारायणमूर्ति वग़ैरह उनकी यादों में क़ाबिज़ थे। सपने इनकी आँखों में नहीं, अलमारियों में भरे थे। अलमारियाँ तहख़ाने में थीं और तहख़ाने बुसैली हवा से पोशीदा थे।

…हानी-संग्रह *बेगम बिन* …शाह के रचयिता राजेंद्र …कांत राय का जन्म 1953 में …। संपर्क : परिक्रमा, 1234, … नगर, आधारताल, जबलपुर …2004 (म.प्र.)

उधर किसी को पता न था कि भूगर्भशास्त्री कहाँ हैं ? कोई होटल न था। रेस्ट-हाउस दूर थे। या तो कटनी में या जबलपुर में। हाँ, दूसरी ख़बर ज़रूर ढाबे में तंदूर से निकाल-निकालकर परोसी जा रही थी। खोजी दल को एक जगह पर संगमरमर की चट्टानों की तलाश करते हुए नर-कंकाल प्राप्त हुए थे। अनगिनत। बंटू भाई ने अपने साथी को इशारा किया और जंगल के उस पहुँच-मार्ग में मुड़ गए, जहाँ हड्डियों के ढेर का पता चला था। धूल को रौंदकर कई गाड़ियों के उस तरफ़ जाने के निशानों ने उन्हें उत्साहित किया। तीनेक किलोमीटर और अंदर जाने पर जीप-कारों का एक छोटा-सा झुंड पीपल की भरपूर छाया में आराम फ़रमाता दिखा। झुंड में मारुति-800 भी शामिल हो गई।

ऊँचे टीले पर चढ़कर देखने पर वे दिखे। वे अनेक थे, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व, चिकित्सा-विज्ञान, सरकारी लोग, आदि-आदि। धीमी आवाज़ें, गुफ़्तगू, अनुमान, जिज्ञासाएँ, बेचैनी।

सादी वर्दी में आई.जी.शुक्ल। पानी की बोतल कंधे पे टाँगे सिपाही की ओर देखा। वह दौड़ा-दौड़ा आया। बोतल से ठंडा पानी गिलास में ढाला। वे पीते हुए बोले, यहाँ इतिहास दफ़न है। मैं इतने सालों से गजेटियर्स छान रहा था। शब्दों के अलावा कुछ नहीं मिलता था। असली चीज़ यहाँ है। 1812 से 1831 तक का भयावह कालखंड। काली और भवानी का नाम लेकर हत्याएँ करने वाले ठगों का लोमहर्षक अध्याय फूट पड़ा है। पीले रूमाल के बेजोड़ फंदेबाज़। व्यापारियों के काफ़िले लूटने वाले। ख़ूनी, क़ातिल। रूमाल में चाँदी का सिक्का बाँधकर गले में कस देने वाले हत्यारे ठग। उन्हीं का कारनामा है ये नर-कंकाल। इनका दमन करने वाला महानायक है कर्नल विलियम स्लीमैन। जबलपुर का संभागीय आयुक्त, वह बुंदेलखंडी बोलता था। बुंदेलखंडी!

उसकी पत्नी ने लोकगीत लिखे।

लोकगीत! चकरा गए लोग।

पर उसके कोई औलाद न थी! तो अंग्रेज़ों को भी वंशहीनता सालती थी। कोहका टोला के लोग उनके पास गए। बाबा हरिदास के मंदिर में मनौती मँगवाने ले गए। पत्नी को विश्वास था, ऐसी चीज़ों पर। आख़िर वह बुंदेलखंडी लोकगीत की रचनाकार भी तो थी। आस्था ने चमत्कार किया। अगले साल स्लीमैन पिता बने। मंदिर में पीतल के दो दीपक भेंट किए। पाँच रुपए मासिक की रक़म घी के लिए तय की गई। दीपक जलता रहे। इधर भी—उधर भी। जब स्लीमैन नहीं रहे तो कोहकाटोला वालों ने अपने टोले का नाम स्लीमैनाबाद रख लिया।

ओह! इतिहास कहाँ-कहाँ से आ धमकता है!

पर मार्बल! बंटू भाई को इतिहास में रुचि नहीं, मार्बल में है।

आई.जी. कंकाल लदवाकर चले गए।

"कितना मार्बल होगा यहाँ ?" उसने पूछा।

"कह नहीं सकते! लगता है सौ-दो सौ साल तक निकाला जा सकता है। उससे ज़्यादा भी हो सकता है। कह नहीं सकते अभी सर्वे की कई स्टेजेज़ बाक़ी हैं।"

"बहुत है।"

बंटू भाई की गाड़ी भी लौट गई।

आनन-फानन ज़मीनें ख़रीदी गईं। बहुत लोगों ने ख़रीदी।

देर हुई तो महँगी हो जाएगी। दे दो, कुछ भी दाम दे दो।

वे जबलपुर में रहते हैं। अब राजनीति में हैं। अतीत दाग़दार था। रात के अँधेरे में सक्रिय रहते थे। जुआ, सट्टा, शराब, पुलिस, मुक़दमा, गिरोह, रुतबा, बदनामी, लोग ईर्ष्या भी करते हैं और हिकारत भी।

हैसियत बढ़ी तो धंधा बदला। विवादित [ज़मी]नियाँ ख़रीदने-बेचने का काम। इसे लोगों ने [नाम] दिया। उन्होंने सफ़ेदपोश लोगों की कॉलोनी [में] मकान ख़रीद लिया। वे अपना लिए गए।

अब एक ही स्टेज बाक़ी रह गई थी। इसी [के] मार्फ़त ऊपर जाना था। सत्ता तक। पहले [वेश]-भूषा बदली फिर चाल-ढाल। संगी-साथी [ब]दले। पढ़े-लिखे लोग उन्हें लुभाते। राजनीति [क]रना है तो गाँव में जाओ।

बंटू भाई हर इतवार गाँव जाने लगे। चौपालों [में] बैठते। आँगनों में चाय पीते और गाँव वालों [की] दशा पर चिंतन करते। निरंतरता ने विश्वास [ज]गाया। लोग पहचानने लगे। राम-राम करते। [जी]प से गाँव जाते तो नंग-धड़ंग बच्चों की फ़ौज [आगे]-पीछे दौड़ती। वे उन्हें जीप में बैठा लेते। [ए]क चक्कर लगाते। टॉफ़ियाँ देते। बच्चे गाते— [बं]टू चाचा-बंटू चाचा। साल-दो-साल में तीस-[पच्]चीस गाँव जाने-पहचाने हो गए। अब वे दिवाली [पर] मिठाइयाँ, कपड़े, पटाखे लेकर गाँव जाते। [ए]क सामूहिक दिवाली मनाई जाती। वे घर-घर [प्र]साद पहुँचाते।

ग्राम पंचायतों, जनपदों और ज़िला पंचायतों [के] चुनाव लड़वाए। लोग हारे-जीते, मगर समूह [ब]नता गया। बाद में ज़िले की एक-तिहाई ग्राम-[पं]चायतों में उनकी पार्टी का प्रतिनिधित्व हो गया। [अप]ना बूता दिखाने के लिए वे साल में एक बार [गाँ]व का जुलूस शहर ज़रूर लाते। बैलगाड़ियाँ, [ट्रै]क्टर, मोटर साइकिलें जब शहर में प्रवेश करतीं [तो] शहर हकबका जाता। वे दिन भर कलेक्ट्रेट में [डे]रा डाले पड़े रहते। भाषण, नारे, समस्याएँ, [ज्ञाप]न, फ़ोटोग्राफ़ और ख़बरों से कुछ समस्याएँ [ह]ल हो जातीं, कुछ बनी रहतीं। गाँव वालों की [पै]ठ हो जाती। शाम को वे ख़ुश-ख़ुश लौट जाते। [बं]टू भाई के भरोसेदार लोगों की टीम बनी— [ज्वा]ला महाराज, भिम्मा पटेल, बंशीधर और [...]जान। तीसरे साल के बाद 'जेल भरो आंदोलन' किया गया। पहले तो गाँव वाले डरे मगर, बंटू भाई को भी जेल जाते देख वे भी हिचकते-हिचकते चले गए। न पत्थर तोड़ने पड़े, न चक्की चलानी पड़ी। समय पर चाय-डबलरोटी, समय पर भोजन। उलटे बंटू भाई ने जेल वालों को फटकार दिया। चाय में दूध कम था। कुछ स्त्रियाँ साथ गई थीं। अलग बैरक में थीं। खाना खाते समय आ जातीं। वे हौसलेमंद थीं।

वे सुबह-शाम प्रार्थना करातीं, जेल से लौटने पर बंटू भाई ने गाँव वालों के बीच सबका स्वागत किया। हार-मालाएँ डालीं, तिलक लगाया, सराहना की। जो जेल गए थे वे विशिष्ट हो गए। बंटू भाई के पक्के आदमी कहलाने लगे। औरों के मन में वैसा होने की चाहत जगी। इनके सिर तने। बंटू भाई के प्रति कृतज्ञता उमड़ी।

गाँव के गाँव बंटू भाई के आकर्षण में खिंचे उन पर न्योछावर होने को तत्पर रहते। हारे-पस्त गाँवों को शहर पर पेल देने की शक्ति पर फ़िदा। डरे-घबराए अफ़सरों को देखकर गाँव की मुस्कान के रचनाकार का दिलों पर राज हो जाता। अछूतों को दुरदुराहट से खींचकर दोस्ती-यारी तक ले जाने की मनुष्यता पर बिना मोल बिक जाने की तमन्ना रहती। तीज-त्योहारों और शादी-ब्याहों में घर का ज़िम्मेदार लड़का अगर बाप बनकर खड़ा रहता तो उत्सर्ग होता।

बंटू भाई ने ज़मीनें ख़रीदीं। कुछ और शहरियों का पैसा भी लगवाया। बैंकों की मदद हासिल की। जयपुर से मशीनें आईं। काम-धाम जमा। दफ़्तर बना। खुदाई शुरू हुई। मजूर-मजूरनें लगीं। अपने प्रभा-मंडल वाले गाँवों से एक परिवार पीछे एक आदमी और नए गाँवों को प्रभा-मंडल में लाने की गरज से हर गाँव के पीछे चार आदमी लगे।

ज्वाला महाराज— मज़दूर मुहैया कराने वाले मैनेजर। बंशीधर—खदानों से निकले माल का

हिसाब-किताब रखनेवाले मैनेजर। रामसुजान—तराश मशीनों के मैनेजर। भिम्मा पटेल—बाज़ार से ताल्लुक़ रखनेवाले विषयों के मैनेजर।

ओहदे ने उनकी क़द-काठी बढ़ाई। वे गाँववासियों और खानों के संपर्क-सेतु बने। बंटू भाई की आँख, कान, नाक और हाथ हुए। इनके ऊपर जयपुर से आए इंजीनियर थे, मगर वे पराए-पराए और काम-धाम तक सीमित रखे गए। हालाँकि बंटू भाई उनसे नियमित मीटिंग करते और गुणवत्ता के प्रति सतर्कता बनाए रखने की चाक-चौबंध व्यवस्था करते। बिजनेस-मैनेजमेंट करके आए महाराष्ट्रीयन नौजवान पर भरोसा रखते।

खेती-बाड़ी की तुलना में खदान का काम ज़्यादा आमदनी वाला क्षेत्र हुआ। खेतों में लाल मिट्टी, पत्थर और मुरम, इनमें क्या उपजता। बरसात में उड़द और थोड़ी धान। रबी की फ़सलों के लिए पानी का टोटा। जायद की फ़सल का सपना आँखों के कोटर से बड़ा था, कहाँ समाता। गाँव में लगभग सभी की यही हालत। मज़दूरी के लिए ले-देकर वही खेत। कटाई-बुवाई के चार दिन फिर अंधियारी रात। लुहार, कुम्हार, वंशकार, बढ़ई, कामकाज से हीन। छोटा-सा गाँव—छोटा-सा बाज़ार, बाज़ार भी लुप्त-लुप्त, लुप्त सरस्वती जैसा, अंदर-अंदर सरककर शहर में जा घुसा। हाँ खदानों में कमाई थी। पसीना था तो आमदनी भी थी। सत्तर-अस्सी रुपया रोज़ घर लाते। रोज़ की इतनी बड़ी रक़म कहाँ रखें? जंगल जाकर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करते थे। एक गट्ठा लकड़ी पर एक दिन जंगल में, दूसरा सात किलोमीटर दूर पैदल बाज़ार आने-जाने में, तब तीसरे दिन सात रुपए हाथ पर। अब रोज़ शाम को सत्तर रुपए। झोपड़ियाँ सुधरने लगीं। खपरे-कवेलू बदले जा सके। कपड़े ख़रीदे जाने लगे। भरपेट खाने का मतलब जाना। नींद भर सोने का सुख लिया। सूरज-चाँद से जान-पहचान हुई। बीवी-बच्चों को नज़र भर देखने को जी हुआ। गाँव में स्कूल का अभाव खटका।

लो बंटू भाई ने दो कमरों का स्कूल बनवा दिया। एक शिक्षक ला दिया। तनख़्वाह बाँध दी। बस्ते, किताबें, पेंसिल, स्लेट भेंट कर दिए। सिहोरा के बाज़ार से ड्रेस लाकर वे नए सिरे से बाप बने। बच्चों ने सीखा ए, बी, सी, डी; क, ख, ग, घ।

''बंटू भाई की जै।'' लोगों ने बंटू भाई की जय कहा तो बंटू भाई को कुछ याद आया। अगले मंगलवार शहर से एक पंडित जी आए और सत्यनारायण की कथा हुई। नहा-धोकर स्त्री-पुरुष चौपाल पर आए। व्रत रखा। कथा सुनी। जै-जै हुई। प्रसाद बँटा। पंडित जी के पाँव पड़े। बंटू भैया के पैरों पर सिर रखा गया।

दफ़्तर में शनिवार की शाम मेला रहता है।

बँटवारे का दिन। पगार का दिन। मज़दूरी का दिन। रजिस्टर और अँगूठे का दिन। भरी जेबों की शाम। थैलों के मुँह खुलने की शाम। तरकारी-भाजी की शाम। कजरी गाते हुए लौटने की शाम। शाम का रात में बदलना। दफ़्तर का भोज-शाला में बदलना। मुर्गे का निवालों में बदलना। मैनेजरों का दोस्तों-सखाओं में बदलना। बोतलों का सुरूर में बदलना। सुरूर का चैन में बदल जाना।

''ज्वाला महाराज थोड़ो सो मुरगा खा लो...बहुतई मजेदार बनो है...।''

''हमें नईं खाने। तरकारी खाके मस्त हैं।''

''महाराज खौं तंग नै करौ। महाराज को अहसान मानो।''

''काये?''

''बंटू भैया से मिलवाओ कौन ने?''

''हओ?''

''और बंटू भैया भये हमाए मालिक।''

''भए।''

''तें भी कछु बोल बंशीधर, चिमानो नै बैठ।''

"का बोलें, गले-गले तक भैया के उपकारों से हैं।"

"हाँ, गाड़ी।"

"हाँ, घर।"

"घरवारी।"

"चिकनी हो गई।"

"मोड़ा पढ़न लगे।"

"अंगरेजी इस्कूल में।"

"हाँ।"

"नेता ऐंसई भओ चइय्ये..."

"जौन अपने आदमियन को ध्यान धरै।"

"कार्यकर्ता कहौ कार्यकर्ता।"

"हाँ कार्यकर्ता।"

"पोलिटिकल वरकर...का?"

"हाँ वोई।"

"तो जे चुनाव में भैय्या हो जाएँ खड़े।"

"एमेले?"

"औ का।"

"पक्को?"

"पक्को।"

"मनान पड़ है।"

"ज्वाला मराज मना लैहें, काए मराज... ?"

"हओ।"

"एक काम करने पड़ है।"

"का?"

"हजार-हजार रुपैया दैके मजदूरों की महीना-महीना की छुट्टी।"

"काये?"

"चुनाव के बखत जादा काम निकारने पड़..."

"कदाचित् दूसरी खदानन में लग गए तौ?"

"लग हैं।"

"काये?"

"घर में धन होय तो बे काम नईं करैं...फिर रुपय्या एडवांस को अहसान सोई।"

"हओ।"

"खूबई चतुर हो गए भिम्मा।"

"तबई तो मनेजर हैं।"

"भैय्या से बात कर लौ महराज।"

"कर लैहें।"

चुनाव के दिन आए। लोकतंत्र में चुनाव जैसे यज्ञ। लाओ, मतों की आहुति दो। आहुति दो-भस्म लो। सिर पर चढ़ाओ मस्त रहो। भूल जाओ। यज्ञ रोज़-रोज़ कहाँ होते हैं? पाँच साल बाद अगली आहुति, आहुति-आहुति।

फ़ॉर्म भरने के दिन भी सबको दिखा दो अपनी चतुरंगिणी सेना। ढोल-ढमाकों, झंडे-बैनरों, गाड़ी-घोड़ों और आदमी-औरतों को उतार दो कलेक्ट्रेट में। शहर पर हल्ला बोल दो। तिल रखने की जगह न रहे। मुँह फाड़े रह जाएँ कैमरे। आँखें खुली की खुली रह जाएँ अख़बारों की। ट्रैफ़िक जाम हो जाए लोग सनाका खा जाएँ।

गाँव-गाँव घुस जाओ बाईक लेकर। हर गाँव में चार आदमी मुक़र्रर करो। वे लाएँगे पूरा गाँव। ट्रक, ट्रैक्टर, जीप रात में ही भेज दो। कपड़ों के थान ख़रीद लो। बैनर बनने डाल दो। झंडे तैयार करवा लो। बाँस कटवा लो। कमचियाँ लगेंगी। पेट्रोल-डीज़ल का स्टॉक भरो। कार्यकर्ताओं को ख़र्चा दे दो। उस दिन भंडारा चलेगा। चाय-नाश्ता सब । खाओ, गाड़ी में सैर करो। नारे लगाओ, चुकाओ, चुकाने का समय भगवान तय करता है। बंटू भाई का क़र्ज़ा चुकाने का वक़्त आ गया। चलो सिपाही चलो। एक दिन क़ुर्बान करने चलो। हाथ मज़बूत करने चलो। आहुति देने चलो।

मुहूर्त, नामांकन-पत्र दाख़िल करने की तिथि, समय, शुभ काम शुभ समय पर। स्लीमैनाबाद से प्रस्थान और कलेक्ट्रेट जबलपुर में मुक़ाम। रात होने से पहले गाँवों में ट्रक, ट्रैक्टर, जीपें पहुँच गईं। सजे हुए वाहन झंडे, बैनर और बंटू भाई का पोस्टर—गाँव का लाडला। प्रदेश की

तक़दीर। आशाओं का प्रतीक। भरोसे के क़ाबिल। जुझारू, संघर्षशील, लड़ाका, क्रांतिकारी, रंगों की करामात, ब्रश का हुनर, योग्यताओं की झड़ी, गुणों की झालर, ज्ञान के सागर, मिलनसार, कोमल, तरल, पारदर्शी, स्वच्छ, साफ़, खरे, अवतार, आभूषण, गर्व, गौरव, वाह! वाह!!

खदान दफ़्तर बन गया चुनाव दफ़्तर। सुबह से गहमागहमी। मैदान में भागमभाग। तंबू-शामियानों में भीड़-भाड़। खड़े लोग। बैठे लोग। आते लोग। चलते-फिरते लोग। लोग ही लोग। चाय नाश्ते पर लोग। आलू बोंडे, चाय, प्लास्टिक के डिस्पोज़ेबल कपों का कूड़ाघर, पानी का ड्रम, पाउच की बोरियाँ, टोपियाँ, बैज, झंडियाँ। स्पीकर पर अनाउंसमेंट, ''हैलो-हैलो माईक-टेस्टिंग। वन-टू-थ्री-फ़ोर। हैलो-हैलो। भाई-बहिनें नाश्ता-चाय कर लें। दरियों पे बैठ जाएँ। भीड़ ना लगाएँ। टिरक-टैक्टर लैन से लगाएँ। जबलपुर की तरफ़ मुँह करके आते जाएँ। झंडियाँ ले लें। कार्यकर्ता भाई बैज लगाएँ। टोपी पहनाएँ। समय का ध्यान रखें, नौ बजे रवाना होंगे।''

दस बज गए।

बंटू भाई शहर से कार पर आए; कारों का क़ाफ़िला आया। भीड़ दौड़ पड़ी। पाँव छुए। हाथ मिलाए। गले लगे। गुलाल लगा माला पहनाई।

वाह, मुस्कान कैसी मोहक है। आँखें कैसी ग़ज़ब की हैं। कुर्ता-पजामा कैसा फब रहा है। हाय नज़र न लग जाए। डिठौना तो लगा देते!

स्पीकर को उमंग आई, ''बंटू, भैया...!''

''ज़िंदाबाद ज़िंदाबाद!''

''देश का नेता कैसा हो?''

''बंटू भैय्या जैसा हो।''

''ऐसी मुहर लगाना है!''

''भोपाल तक पहुँचाना है।''

''मज़दूर एकता!''

''ज़िंदाबाद ज़िंदाबाद!''

''किसान एकता!''

''ज़िंदाबाद ज़िंदाबाद!''

''बंटू भैया शेर हैं।''

''बाक़ी सब ढेर हैं।''

ज्वाला महाराज भीड़ चीरकर आए, ''देर हो रई है...चलौ नरियल फोड़ो...काली-भवानी को सुमरो और कूच करौ...।''

बंटू भाई उधर चले। भीड़ उधर चली। अगरबत्ती जली। फूल चढ़े। ''जै माँ भवानी... किरपा करना मैया...''

''मनोरथ सफल बनाना।''

''बोल माँ काली की...!''

''जै।''

''माँ भवानी की...!''

''जै।''

निर्धारित वाहनों पर लोग बैठाए गए। नारों और जोश से भरा जुलूस ग्यारह बजे के बाद ही चला। हर वाहन में पानी के पाउच की एक-एक बोरी रखवा दी गई। सड़क मार्ग पर पड़ने वाले गाँव-क़सबों में स्वागतद्वार और बंदनवार लगे थे। गाँव-क़सबों को पता न था। कब लगे। कौन लगा गया। स्थानीय लोगों के नाम उन पर लिखे थे। वे भी बेख़बर। नाम की ख़ुशी। स्लीमैनाबाद, सिंहुड़ी, छपरा, खुड़ावल, सिहोरा, गोसलपुर, धरमपुरा, गांधीग्राम, पनागर, महाराजपुर, सुहागी, आधार-ताल से जबलपुर कलेक्ट्रेट तक बैनर ही बैनर। बहुत-सा इलाक़ा चुनाव-क्षेत्र से बाहर था।

सड़क के दोनों किनारों पर भीड़। दुकानों-मकानों से झाँकते लोग। हुलास में किलकते बच्चे। जिसका झंडा उसका ज़िंदाबाद। देहरी से झाँकती स्त्रियाँ। चकित हिरनियाँ। गोबर कंडे और बासन-पानी की एक रस ज़िंदगी में कुछ रंगीन छींटें। ट्रक पर औरतें उन जैसी।

"ठाठ हैं। चूल्हे-चौके से छुट्टी तो पा लेती ...।"

...एक ट्रक से पुकार, "महाराज...ऐ ज्वाला ...महाराज...।"

"हओ।"

"तन्नक इतै आनै।"

"आ रए हैं।"

...मोटर साइकिल पर पूरे जुलूस की व्यवस्था ...निरीक्षण और देखरेख में दौड़-पदौड़।" "

"काये का बात है?"

"जे देखो, दुबियारे की बिंदा के मौड़ा की ...कछु तबीअत-सी आ बिगड़ गई है।"

आठ महीने का पहलौठी—दुबला-पतला, ...सा, चूहे जैसा मुँह।

"काये बिंदा, का हो गयो?"

"लगत है घाम लग गओ हैगो...।"

"तो ऐसो करौ ट्रक से उतर जाओ...एक ठुल्ला ... भी है...आओ बा में बिठार दें।"

"इतईं ठीक है। गाँव जवार के सब एई में ...।"

ज्वाला महाराज का ग़ुस्सा, "अरै...छोटो-सो ...मौड़ा और, घाम ऐंसो तप रओ है...चलौ ...चलौ...चलखें बस में बैज्जाओ...इतै की चिंता नै ...करौ..." दूसरों ने भी ज़ोर डाला। बिंदा बस में ...बैठ गई। महाराज ने एक सीट ख़ाली करा दी। ...रंग की धोती के झीने आँचल में बच्चे का ...छुपा हुआ था।

...महाराज, ज़िम्मेदारी बड़ी चीज़ है। दो ...किलोमीटर लंबे जुलूस की पूँछ से मूँछ तक ...। अंतर बढ़ जाए तो घटाना। घट जाए तो ...। नारेबाज़ों को उकसाना, "भैय्या कौनऊँ ...भट्टी में जा रए हौ कि जुलूस में?"

"जीतैगा भाई जीतैगा...!"

"बंटू भैय्या जीतेगा...!"

"ग़रीबों का मसीहा!"

"जीतैगा!"

"अरै ऐसी मुहर लगाएँगे..."

"भोपाल तक पहुँचाएँगे।"

महाराज सबसे आगे पहुँचे, "भैय्या टैम से पहुँचने हैं...सिहोरा तक चाल बढ़ा लो..." धूप से डामर पिघलने लगा था। गर्मी की धूप दोनों तरफ़ पेड़ों की कतारें। सिहोरा में सभा, ट्रैक्टर-ट्रक शामिल स्थानीय नेताओं ने तिलक-माला से स्वागत किया। एक उत्साही कुर्ते-पाजामे ने माईक थामा, "दोस्तो, यह चुनाव भ्रष्टाचार के विरुद्ध हमारी लड़ाई है।"

"आपका एक वोट धारदार हथियार बन सकता है। उठिए, बेईमानों की सरकार बदल डालिए। आपका काग़ज़ी-वोट गोली बंदूक़ पर भारी होगा। मज़दूरों-किसानों-ग़रीबों के नेता को चुनिए। याद रखिए यह झंडा—यह निशान। धन्यवाद।"

बंटू भाई ने हाथ जोड़े, कहा, "मुझे जो कहना था, वो आपके युवा नेता ने कह दिया। मैं फिर आऊँगा, आशीर्वाद दीजिए।" लोग मुस्कुराए।

गोसलपुर। एक और ऐतिहासिक क़सबा। कल्चुरिकालीन रानी गोसलदेवी ने बसाया था। मंदिर भी बनवाया था। अब भी है। नर्मदा तट पर तेवर उनकी राजधानी थी। उत्खनन में वहाँ मूर्तियाँ, बावड़ी, नगर, बर्तन, सिक्के मिले; संगमरमर नहीं मिला।

महाराज बस में आए। एक गिलास में चाय, दूसरी में आधा गिलास दूध, "मौंड़ा को दूध पिबा दो और तुम चाय पी लो।"

"काये परेसान होरए मराज...खा-पीके तो चले रहे।"

"जादा नै बताओ। पी लो। जल्दी करौ। टैम नईयाँ।"

जूठी गिलासें लौटाने में संकोच। महाराज ने छीन लीं, "सबरे बरोबर हैं...लाओ।"

मोटर साइकिल घुर्र-घुर्र करके फिर दौड़ने लगी।

"काए बंशीधर विरोधियन की आँखें पटा जाहैं आज तौ।"

"हओ। तीन-चार मील लंबो जुलूस है। बीस हज़ार आदमी न हुईएँ ?"

महाराज ने तंबाखू की डिबिया निकाली। गदेली पर घिसाई की और गाल में दबा ली।

पनागर। इलाक़े का बड़ा क़सबा। बाज़ार यहीं भरता है। सड़क के दोनों ओर दुकानें ही दुकानें। टेंट, मंच, शरबत-पानी, हार-फूल, बैनर, बंदनवार। बंटू भाई ज़िंदाबाद। नगरपालिका का अध्यक्ष बंटू भाई का आदमी था। ख़र्चा उसी ने किया। उसके साथ दोक-सौ लोग और शामिल हुए। बंटू भाई ने मंच पर जाकर हाथ जोड़े और भीड़ से आशीर्वाद माँगा। समय न था। तीन बजे से पहले फ़ॉर्म जमा करना थां। उधर शहर की टीम इसी काम में लगी थी। वकीलों का समूह आठ सैट फ़ॉर्म भरे तैयार मिलेगा।

महाराज बस में पहुँचे, "काए बिंदा, मौड़ा की तबीअत अब कैसी है ?"

"बुखार चढ़ो सो लग रओ है।"

बस में चढ़कर बच्चे के हाथ-पाँव छुए। गर्म थे। वे उतरे और डॉ. सेठ की डिस्पेंसरी से दवाई ले आए। पीने का सिरप। साथ में होटल से आधा गिलास दूध।

"लो पिबा दो।"

दोनों गाल दबाकर सोए बच्चे का मुँह खोला और दवा पिलाई।

बच्चा कुनमुनाया। दूध डाल दिया। बच्चे ने जीभ चलाई। कुछ दूध गालों पर बहा।

"तुम ऐसो करो बिंदा, गाँव लौट जाओ...हम लौटबे को इंतजाम कर दै रए हैं..."

"अरे बुखार-उखार तो आतई रहत है...आज भैय्या को इत्तो बड़ो काम पड़ो और हम घरै चले जाएँ...चिंता नै करौ गरीब-गुरबन के बच्चा मजबूत होत हैं।"

आधारताल। इसका भी इतिहास है। रानी दुर्गावती के दीवान आधारसिंह ने तालाब खुदवाया था। गौंड़कालीन जबलपुर का प्रवेशद्वार। तिराहे पर महाराज ने जुलूस रुकवाया। बंटू भाई को उतारकर लाए। बिरसा मुंडा की मूर्ति पर माला पहनवाई। बंटू भाई को वापस बैठाया। ट्रैफ़िक फँस गया। महाराज ने ट्रक पर चढ़ी भीड़ से पूछा, "काए भैया मौन-बरत है का...?"

"अरे जे भैय्या वोट किसे देंगे...?"

"बंटू भैय्या की पेटी में...।"

"वो अम्मां वोट किसे देंगी ?"

"बंटू भैय्या की पेटी में...।"

"जे कक्का वोट...।"

"बिंदा तुम वापस चली जाओ।"

"अब तो जबलपुर आ गओ है।"

"तो का भओ, अबै दो-तीन घंटा लग हैं। रात होगी।"

"हमाये काजै एक गाड़ी फँस जैहे।"

"मौड़ा की तबीअत... ?"

"तुम जुलूस देखौ महाराज।"

"मानत नैंया बहुतई जिद्दन है जा बिंदा।"

"बंटू भैय्या!"

"जिंदाबाद-जिंदाबाद!"

"ऐसी मुहर लगाएँगे..."

"भोपाल तक पहुँचाएँगे!"

शोर। भीड़। मदार टेकरी की संकरी सड़क। दोपहर के दो बजे का समय। महाराज ने बंटू भाई के ड्राइवर से कहा, "तुम तौ गाड़ी कौनऊ तरीका से निकाल लै जाओ। जुलूस आत रैहै। देर हो रई हैगी...।"

घमापुर पर फिर भीड़ पहाड़ बन गई। ड्राइवर ने चतुराई दिखाई। दाएँ-बाएँ की ज़रा-सी ख़ाली जगह का फ़ायदा उठाया और किसी तरह उड़न छू हो गया। कलेक्ट्रेट परिसर में, गेट के पास ही वकीलों का एक समूह नामांकन-पत्र भरकर तैयार खड़ा था। उनकी सेवा और सहयोग के लिए बंटू भाई की शहरी टीम मौजूद थी। जीत-

लंबे-लंबे बालों वाले, कान में बालियाँ
छोकरे भी थे। जो बंटू भाई के पुत्र के
थे। पार्टी पदाधिकारियों में से दो-तीन
आए हुए थे। उन सबने आगे बढ़कर बंटू
का स्वागत किया।

"एकदम टाइम पर पहुँचे आप...वकील।"
"इतने बड़े जुलूस में समय तो लगता ही है,
भाई।"

"चलिए। पंद्रह मिनट बाक़ी हैं।" पार्टी-
अधिकारी ने कहा।

"चलिए...।"

बंटू भाई पीठासीन-अधिकारी के कक्ष में जाने
के लिए बढ़े। इसी समय कई जीपें-मोटर
साइकिलें धड़धड़ाती हुई पहुँचीं। कार्यकर्ता और
समर्थक उतर-उतरकर कलेक्ट्रेट में दौड़े और
नारे लगाते हुए आ गए। उनके पीछे-पीछे सड़क
पर ट्रक और ट्रैक्टर भी पहुँचते हुए दिखाई दे रहे
थे।

बंटू भाई ने भीड़ के साथ कक्ष में प्रवेश किया।
धक्का-मुक्की हुई। घुस पड़ने का जज़्बा फ़ूट
पड़ा। कमरा ठसाठस भर गया। बंटू भाई ने अल्हड़
और अराजक भाव से चलते हुए पीठासीन
अधिकारी को देखा।

पीठासीन अधिकारा सहज रहे। उन्होंने कई
चुनाव देखे थे। कई-कई प्रत्याशी और क़िस्म-
क़िस्म के समर्थक। इस दिन दूसरे पक्ष को थोड़ा
छूट दे दी जाती है। अनुशासन ढीला कर दिया
जाता है।

बंटू भाई ने शपथ ली। हस्ताक्षर किए। फ़ॉर्म
के सभी सैट सौंपे। नमस्कार किया और निकलने
के लिए मुड़े। उनसे पहले भीड़ मुड़ी। नारे लगने
लगे। जोश छल-छल बहने लगा। झंडे उचकाकर
निकलने की होड़ लग गई। निकलने वाली और
आने वाली भीड़ गेट पर मिली।

ट्रकों, ट्रैक्टरों, जीपों, मोटर साइकिलों, कारों
को जहाँ-तहाँ पार्क कर दिया गया था और डॉ.
राजेंद्र प्रसाद चौक से कलक्ट्रेट-गेट तक का
क्षेत्र मनुष्य-मय हो गया था। सरक-सरककर
चलना पड़ रहा था। पुलिसवाले असहाय हो गए
थे। वे थककर किनारे जा खड़े हुए थे। गर्मी से
बेहाल समर्थक ट्रकों-ट्रैक्टरों में खड़े-खड़े थक
गए थे। भीड़ पानी पी रही थी। हवा खा रही
थी। पसीना पोंछ रही थी। और बिखरे हुए बालों
को सुधारते हुए लघुशंका-निवारण के लिए जगह
तलाश रही थी। जल्दी ही पी.एस.एम. कॉलेज
से उस दरीख़ाने तक की दीवारें गीली हो गईं,
जिसे कर्नल विलियम स्लीमैन ने ठगों को फाँसी
पर लटका देने के बाद उनके अनाथ बच्चों और
बेसहारा बेवा औरतों को आत्मनिर्भर बनाने के
लिए खुलवाया था। दरीख़ाने के सामने जहाँ
अब सरकारी स्कूल है, वहीं वे पेड़ अब भी
खड़े हैं, जिन पर ख़ूँख़्वार ठगों की लाशें कई
दिनों तक लटकती रही थीं। वे सदियों पुराने पेड़
अब विशाल काया और लंबी शाखों वाले हो
चुके हैं।

बंटू भाई असंख्य नर-देहों से घिरे हुए थे।
गुलाल से पुते। बिखरे हुए बाल। थका चेहरा।
तुड़ा-मुड़ा कुरता-पाजामा। काले जूते धूसर रंग
ग्रहण कर चुके थे। शरीर चूर-चूर हो रहा था।
भीड़ छोड़ना नहीं चाहती थी। समर्थक चिपके
रहने को उतावले हो रहे थे। कहीं बैठ जाना
चाहते थे मगर मुस्कुराने, हाथ मिलाने और बधाई
लेने से फ़ुरसत न थी। अच्छा भी लग रहा था
और बुरा भी। वे परिसर के बाहर गन्ने की चरखी
लगाकर रस बेचने वाले की कुर्सी खींचकर धम्म
से उस पर ढह गए। गन्नेवाले ने जल्दी से गन्ना
पेरा, रस निकाला, बर्फ़ मिलाई और भीड़ चीरकर
उनके हाथों में गिलास पकड़ाने में सफल हो
गया। उन्हें बहुत राहत मिली। वे सूखे और पपड़ाए
होंठों को तर करने लगे। फाँसी वाले पेड़ की
एक लंबी शाखा लंबी होती हुई बाहर सड़क
तक आई और उनके सिर पर उसने अपनी छाया
फैला दी।

शहरी वर्कर्स दो जीपों में साग-पूड़ी के पैकेट और पानी के पाउच लाए थे और बाँट रहे थे।

हाथ उन पैकेटों को खींचने में लगे थे। हाथ-ही-हाथ। गोरे, काले, साँवले, छोटे, बड़े, मँझले, कठोर, खुरदरे, कोमल। हाथ ही हाथ। वे किन शरीरों से निकले थे, क्या पता।

ज्वाला महाराज पस्त होकर अपनी मोटर साइकिल की सीट पर बैठे थे। बंशीधर चार-छह पैकेट छाती से दबाए आए और महाराज से कहा, "एक खैंच लो।"

महाराज ने भूख की व्याकुलता से पैकेट लिया।

"और सबखों बँट गए...?"

"अब बँट तो रए हैं...देख तो रए हो...कौन कहाँ है केहे पता...? खाओ तुम तो महराज। अब अपनी ड्यूटी नईयां। जबलपुर बारे जानें...।"

महाराज ने पुड़ी का टुकड़ा तोड़ा, आलू दबाया और मुँह में रखा। मुँह में जाते ही निवाले ने उन्हें बिंदा और उसके लड़के की याद दिलाई। उन्होंने बंशीधर से दो-तीन पैकेट और छुड़ाए और बस की तलाश में भागे। दूर-दूर तक देखा। अनगिनत वाहनों में बस दिखाई नहीं दी। वे उलटे राजेंद्र प्रसाद प्रतिमा की तरफ़ आए। वन-विभाग वाली सड़क पर भी वह नदारद। तब वे और पीछे चले। तहसीली चौक तक ट्रक ही ट्रक। हकबकाए बस ढूँढ़ते रहे। मनुष्यों की भीड़ में लंबी-चौड़ी बस तक बिला गई क्या? वे ज़िला-पंचायत भवन की ओर बढ़े। लगा कि बस का पिछवाड़ा झलक रहा है। रंग भी वैसा ही। वे दौड़े, बस ही थी। वही, मगर एकदम ख़ाली। सूनी, सन्नाटे से भरी। ड्राइवर, कंडक्टर और क्लीनर तक न थे। महाराज ने बस की परिक्रमा लगाई। ज़िला-पंचायत भवन पर नज़र पड़ी। छाती ताने खड़ी इमारत। बड़ा प्रवेश-द्वार। खुले हुए मुँह जैसा।

ज्वाला महाराज थके क़दमों से फिर लौटे आता-जाता हर मुखड़ा ताकते हुए। चौराहा क़रीब आने लगा। पर बिंदा न दिखी। महाराज कैंटीन के सामने लगे पेड़ के चबूतरे पर सुस्ताने लगे। रास्ते लोगों को ले जा रहे थे। स्कूटर, साइकिलें, रिक्शे, मोटर साइकिलें, कारें, पैदल। सर्र-सर्र महाराज से बेख़बर। पैकेट के अंदर रखी साग-पूड़ी स्वादहीन होती जा रही थी। कहाँ ढूँढ़े? गुम गई बिंदा। उसका मौड़ा?

बाँईं ओर गर्दन घूमी। डॉ. अंबेडकर की प्रतिमा के नीचे बने घेरे में बिंदा दिखी। थकी और सुस्त। ज्वाला महाराज ने ग़ौर से देखा। वही थी। वे झटके से उठे और भागे-भागे से पहुँचे। घेरदार जाली पकड़कर आवाज़ दी, "बिंदा...!"

बिंदा ने खोई-खोई आँखों को महाराज की ओर घुमा दिया। कहा, कुछ नहीं।

"इतैं बैठी हो...? हम कहाँ-कहाँ ढूँढ़ आए...पाँव दुखन लगे..."

फिर भी वह चुप रही।

"भूख नईं लगी...? हम साग-पुड़ी ले के आए हैं..."

फिर भी वह चुप रही।

"बोलो काए नईं...?" फिर महाराज को लड़के का ध्यान आया, "मौड़ा की तबीअत कैसी है?"

रामकली ने धीरे से कहा, "मौड़ा नईं रहो..."

महाराज का मुँह खुला का खुला रह गया। पैकेट देने को बढ़ा हाथ लौट आया।

"कहाँ है...?"

रामकली ने बिंदा की गोद में रखे थैले की तरफ़ इशारा किया, "झुल्ला में।"

राजेंद्र सिंह गहलौत

ख़ाली

"हैलो अंकल!" ड्राइंगरूम के दरवाज़े के पर्दे को थोड़ा-सा हटाकर एक नन्ही-मुन्नी 8-9 वर्ष की सुंदर-सी बच्ची झाँक रही थी। स्कूल की यूनीफ़ॉर्म में पीठ पर बस्ता लादे तथा हाथ में वाटर बैग लिए शरारत से आँखों की पुतलियों को नचाते हुए वह पर्दे को पकड़कर थिरक रही थी। उसकी तरफ़ मुख़ातिब होते हुए मैंने कहा, "हैलो नॉटी गर्ल! आपको क्या चाहिए?"

"हमने तो शरारत की ही नहीं फिर आपने हमको नॉटी गर्ल क्यों कहा?" थोड़ा नाराज़ होते हुए उसने कहा। "सॉरी सॉरी! वेरी सॉरी!" कहते हुए मैंने अपने कान पकड़ लिए और वह खिलखिला कर हँस पड़ी। मैं समझ गया था कि उसे अपने वॉटर बैग में फ्रिज का ठंडा पानी भरवाना है अतः वाटर बैग लेकर उसमें फ्रिज का ठंडा पानी भर दिया।

बस स्टैंड के सामने स्थित मेरे आवास के बरामदे में बिछी बेंच पर स्कूल एवं कॉलेज के, नगर के आसपास से आकर अध्ययन करने वाले छात्र-छात्राएँ बैठकर बस का इंतज़ार करते हैं तथा विशेष तौर पर गर्मी के मौसम में फ्रिज के ठंडे पानी की लालसा में वे अकसर घर के अंदर आकर अपनी माँग प्रस्तुत करते हुए मुझसे दोस्ती कर लेते हैं। एकाकी जीवन जीते हुए मेरी ज़िंदगी के वे पल बच्चों के कलरव से सरस हो उठते। उनकी शरारतें, मीठी बोली, उलाहने, आपस में बतकही, रूठना—मनाना, सब मुझे अत्यंत कौतूहलभरा खेल लगता जिसमें कि वे मुझे भी अनायास ही शामिल कर लेते।

नटखट नन्हे मेहमानों में से उस नन्ही-सी गुड़िया से वह मेरी पहली मुलाक़ात थी। लेकिन धीरे-धीरे घनिष्ठता बढ़ती गई और फिर स्नेह का न जाने कौन-सा अनजाना बंधन था कि वह मुझ पर और मेरे घर पर अपना अधिकार जताने लगी। थोड़े भी गंदे कपड़े या बढ़ी दाढ़ी में मुझे देखती तो लड़ने लगती, "छीः, अंकल कितने गंदे दिखते हैं!" और अपनी उस गुड़िया की नाराज़गी से डरकर मुझे हरदम साफ़-सुथरा और चुस्त-दुरुस्त बना रहना पड़ता। अब वह अपने वॉटर बैग के लिए फ्रिज का ठंडा पानी मुझसे नहीं माँगती बल्कि पूरे अधिकार के साथ फ्रिंज खोलकर पानी निकाल लेती और अपने वॉटर बैग के साथ ही अपनी सहेलियों के वॉटर

...सिंह गहलौत का जन्म ...में हुआ। कहानी, व्यंग्य, ...पत्र-पत्रिकाओं में ...होते रहे हैं। संपर्क : ...प्रेस, बस स्टैंड के ...484110, जिला ...(म.प्र.) ...9329562110

बैग में भी पानी भर देती। फ्रिज में खाने की कोई चीज़ दिखलाई पड़ती तो अधिकारपूर्वक ख़ुद निकालकर खाती और अपनी सहेलियों को भी खिलाती। मैं उसे मना कर ही नहीं पाता बल्कि उसकी उन्मुक्त खिलखिलाहट, इस भाँति अधिकार जताना सब न जाने क्यों बड़ा अच्छा लगता। जिस दिन वह न आती पूरा दिन रीता-रीता-सा लगता। फिर मैं स्वयं उसकी पसंद की मिठाइयाँ, चॉकलेट, आइसक्रीम आदि फ्रिज में रखने लग गया। जब भी मैं उसके मनपसंद सफ़ेद रसगुल्ले लाकर फ्रिज में रखता तो उससे कहता, ''गुड़िया! जाओ तो देखकर आओ फ्रिज में कितने रसगुल्ले हैं?'' वह दौड़ती हुई जाती और फ्रिज खोलकर एक रसगुल्ला मुँह में रखकर जवाब देती, ''फ्रिज में पाँच रसगुल्ले हैं अंकल।'' मैं नक़ली ग़ुस्सा करके कहता, ''अरे! अभी तो छह रसगुल्ले थे अब पाँच ही कैसे बचे?'' तो वह मुँह बनाकर कहती, ''अंकल! आपको गिनती-विनती आती भी है, पाँच रसगुल्ले तो हैं। कहिए तो फिर से गिनकर आऊँ!'' मैं हँसकर कहता, ''रहने दे बाबा! अब तू गिनेगी तो चार रसगुल्ले ही रह जाएँगे फ्रिज में।'' और फिर हम दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़ते।

बेहद बातूनी, शरारती, पर सीधी-सादी, भोली-भाली, मासूम वह लड़की जब तक मेरे घर में रहती घर उल्लास में डूबा रहता। उसकी बातें, उसकी शरारतें तो लुभाती ही, उससे लड़ाई भी मजेदार होती। जो भी मैं कहता, उसका प्रत्युत्तर भी उसी लहज़े में तुरंत मिल जाता। यदि मैं कहता, ''पगली'' तो वह कहती, ''पगलू अंकल'', मैं कहता, ''बंदरिया'' तो वह झट से कहती, ''बंदर अंकल'' और फिर लड़ाई के चरमोत्कर्ष पर वह अँगूठे को दाँत से लगाकर फिर हाथ झटककर कहती, ''अट्टी-बट्टी! अंकल जी से जनम भर की खुट्टी।'' लेकिन यह खुट्टी दूसरे दिन ही टूट जाती और वह फिर से मिट्ठी कर लेती। कभी-कभी घर में घुसते ही वह बस्ते को झुलाते हुए शरारत भरे अंदाज़ में कहती, ''अंकल जी नमस्ते, हम आपको नहीं समझते!'' और फिर खिलखिलाकर हँस पड़ती। उसके साथ बिताए पलों में कभी-कभी लगता कि मैं भी एक छोटा-सा बच्चा बन गया हूँ।

धीरे-धीरे वह एक-एक कक्षा पास करके आगे बढ़ती गई, साथ ही उसकी उम्र भी एक-एक पायदान पर चढ़ती हुई बढ़ती गई। लेकिन मुझे लगता कि उसका तो सिर्फ़ क़द भर बढ़ा है, अभी भी वह तो छोटी-सी, नन्ही-सी बच्ची ही है। फिर क़ुदरत के करिश्माई जादू से उसका शरीर ऐसा भरा कि पता ही न चला कि कब वह नन्ही गुड़िया कमनीय किशोरी बन गई। लेकिन फिर भी मुझे तो वह अभी भी वैसी ही मासूम, वैसी ही नटखट, वैसी ही बातूनी, वैसी ही शरारती नन्ही गुड़िया ही नज़र आती। और वह तो क़ुदरत के इस करिश्माई जादू से बिलकुल ही अनजान लापरवाही से अपने हमउम्र लड़कों से भी उसी उन्मुक्तता से हँसती-बोलती, लड़ती-झगड़ती, खेलती-कूदती नज़र आती जैसे कि वह अपनी हमउम्र लड़कियों के साथ हँसती-बोलती, लड़ती-झगड़ती, खेलती-कूदती थी। लेकिन जब सुंदरता की सुगंध से खिंचकर मधुरस अभिलाषी मधुप उसके चारों ओर मँडराने लगे तो मैंने उसे समझाना चाहा। लड़कों से दूर रहने की हिदायत देनी चाही। लेकिन वह तो बस अल्हड़ता से ''तो क्या हो गया? अरे अंकल! ये तो मेरे साथ पढ़ने वाले लड़के हैं।'' जैसे जवाब इस मासूमियत से देती कि मैं माथा ही ठोक लेता कि न जाने यह लड़की बड़ी कब होगी?

एक दिन तो हद ही हो गई जबकि वह शायद ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ती थी, मेरे पास एक पत्र लेकर आई और बोली, ''देखिए तो अंकल! अनिल ने मुझको कितना बढ़िया पत्र लिखा है।'' पत्र पढ़कर फिर मैंने अपना माथा ठोक लिया कि वह किस शान से अपने लिए लिखे गए प्रेमपत्र को मेरे जैसे बुज़ुर्ग व्यक्ति को दिखा रही
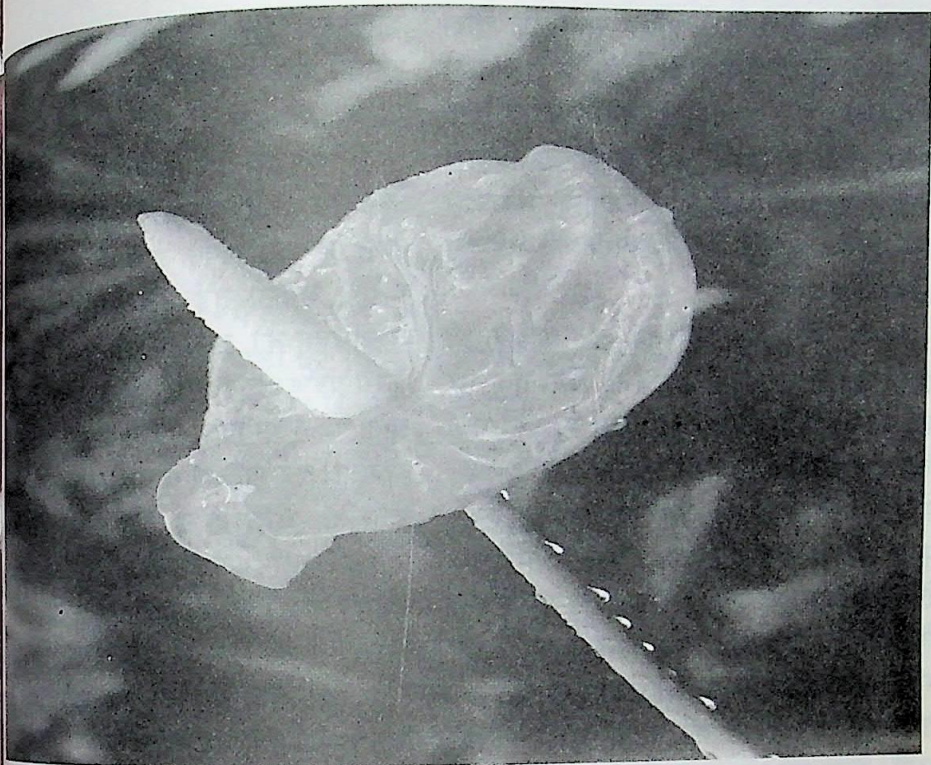
। उस पर ग़ुस्सा भी आया और उसकी मासूमियत पर तरस भी आया। फिर उस बुद्धू लड़की को बहुत कुछ समझाने का प्रयास किया, पर सब बेकार! वह कुछ समझ न आने वाले भाव भरे चेहरे से बस मेरी ओर टुकुर-टुकुर ताकती रही लेकिन मेरे कहने पर उसने प्रेमपत्र लिखने वाले लड़के को ख़ूब फटकारा और पत्र को फाड़कर फेंक दिया। इस घटना के अगले साल वह हायर सेकेंड्री की परीक्षा पास कर कॉलेज में आ गई तो उसने ख़ुशी से चहकते हुए मुझे बताया, "अंकल! सबसे बड़ी ख़ुशी की बात तो यह है कि अब स्कूल ड्रेस नहीं पहननी पड़ेगी, और न ही बस्ता लेकर आना पड़ेगा।" फिर थोड़ा रुककर उसने रहस्य भरे स्वर में कहा, "अंकल! पापा से कहकर चार जोड़ी सूट हमने सिलवा लिए हैं! ख़ूब सुंदर सूट! पहनकर आऊँगी तो आपको दिखलाऊँगी।" मैं हँस पड़ा उसके कॉलेज में पढ़ने की तैयारी एवं उमंग को देखकर।

कॉलेज आते-जाते वह लगभग रोज़ ही मेरे पास आती और कॉलेज की, अपनी सहेलियों की, साथ पढ़ने वाले लड़के-लड़कियों की, प्राध्यापकों की, सबकी ढेर सारी बातें मुझे बताती। ऐसा लगता कि उसके पास बातों का ख़ज़ाना, कुबेर के ख़ज़ाने जैसा है जो कि कभी ख़त्म ही न होगा।

कॉलेज में अध्ययन के 5-6 माह के दौरान ही जब उसने यह बताया कि फलाँ प्राध्यापक (जो कि अपने मनचलेपन के लिए कुख्यात थे) नोट्स देने एवं इंपोर्टेंट क्वेश्चन बताने के लिए अपने घर बुला रहे हैं तो मेरा माथा ठनका और मैंने उसे उस प्राध्यापक के घर न जाने की हिदायत दी। लेकिन वह तो मुझसे ही लड़ पड़ी कि फलाँ-फलाँ लड़कियाँ सभी तो उनके घर जाती हैं, तो फिर मेरे उनके घर जाने में क्या हर्ज है। फिर उलाहना देती हुई बोली, "आपको क्या है, इंपोर्टेंट क्वेश्चन न मिले तो फेल तो हम होंगे ना!" जवाब में उसकी चिंता के कारण ही शायद थोड़ी कड़ाई से मैंने उसे उस प्राध्यापक के घर जाने से मना किया और वह नाराज़ होकर चली गई। मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि मैं

उसे कैसे समझाऊँ? दूषित मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों के प्रलोभनों के जाल से उसे कैसे आगाह कराऊँ? कभी मैं उसकी सुरक्षा के लिए चिंतित होता, तो कभी-कभी झुँझलाहट भी होती कि यह नादान नासमझ लड़की आख़िर समझदार कब होगी! अच्छे-बुरे व्यक्तियों की पहचान करना कब सीखेगी!

शायद मेरे समझाने से वह कुछ अधिक ही नाराज़ हो गई थी तभी वह 4-5 दिनों तक मेरे घर नहीं आई, लेकिन 4-5 दिनों के बाद एक दिन दोपहर को अस्त-व्यस्त हालत में कुम्हलाई-सी वह मेरे घर आई और मेरे पास पहुँचकर फूट-फूटकर रो पड़ी। आज तक कभी मैंने उसे रोते नहीं देखा था, जब भी देखा हँसते-मुस्कुराते, खिलखिलाते हुए देखा था। आज एकाएक इस भाँति उसके रुदन ने विचलित कर दिया। तरह-तरह की आशंकाओं की घटाएँ दिल में छाने लगी। रुदन का कारण जानना चाहा पर उसने कुछ नहीं बताया, बस सिसक-सिसककर रोती रही। बहुत समझाने, दिलासा देने, प्यार से पूछने पर भी उसने कुछ नहीं बताया। बहुत ज़ोर देने पर उसने सिर्फ़ इतना ही कहा, "अंकल! यहाँ के लोग अच्छे नहीं हैं।" आशंकित होते हुए मैंने जानना चाहा, "कौन लोग अच्छे नहीं हैं? किसने तुम्हें परेशान किया? तुम्हारे साथ क्या हुआ है? कुछ तो बताओ? किसी लड़के ने या प्राध्यापक ने कुछ कहा हो तो बतलाओ। मैं उस लड़के या प्राध्यापक से जाकर मिलूँगा।" लेकिन वह तो बस इतना ही कहकर चुप हो गई, अपने आप में सिमट गई। गुमसुम, उदास, अनमनी-सी, कुम्हलाई-सी, वह उठ खड़ी हुई। मैंने फिर जानना चाहा कि आख़िर हुआ क्या है? प्रत्युत्तर में मलीनमुख, डबडबाई आँखों से, कातरता से मेरी ओर देखकर थरथराते होंठों से बस "...कुछ नहीं..." कहकर वह अस्त-व्यस्त हालत में, डगमगाते क़दमों से अपने घर की ओर जाने वाली बस की ओर इस भाँति बढ़ चली जैसे कि उसकी कोई अनमोल वस्तु उसके पास से छिन गई हो।

लेकिन उस दिन के बाद फिर मैंने उसे कभी खुलकर हँसते-मुस्कुराते नहीं देखा। जब भी देखा गुमसुम अपने आप में खोया हुआ उसे पाया। सहमी हुई उस मासूम लड़की की मासूमियत को, ख़ुशियों को, उमंगों को न जाने कैसा ग्रहण लग गया था कि उसकी भोली मासूम बातों का कभी ख़त्म न होने वाला ख़ज़ाना ख़ाली हो गया। वह ख़ुशियों से चहकना भूल गई, शोख़ी, चपलता, चंचलता न जाने कहाँ गुम हो गई। दिनभर चटर-पटर कैंची की तरह चलने वाली उसकी ज़बान को तो मानो लकवा ही मार गया। मुझसे भी वह कम ही बात करती, और घर के अंदर तो आना ही भूल गई...शायद अब उसे किसी भी पुरुष पर भरोसा न था।

जबकि मैं चाहता था कि वह फिर से पहले वाली नन्ही, मासूम गुड़िया बन जाए और मुझसे ख़ूब बातें करे। अपने इस बूढ़े होते अंकल को फिर से 'पगलू अंकल' कहे, फिर से दौड़कर घर के अंदर जाए और फ्रिज खोलकर रसगुल्ला निकालकर खा ले तथा शरारत से बोले, "अंकल! आपको गिनती-विनती आती भी है? फ्रिज में तो पाँच ही रसगुल्ले हैं।" फिर से वह उसी मासूमियत से, भोलेपन से मुझसे कभी 'खुट्टी' तो कभी 'मिट्ठी' करे, फिर से वह शरारत से बोले, "अंकल जी नमस्ते! हम आपको नहीं समझते।"

लेकिन उसका वह बातूनीपन, उसकी वह मासूमियत, उसका वह भोलापन सब एक पल में ही न जाने कैसे उससे छिन गया? एक गुमसुम, उदास, अपने आप में खोई हुई, पूरे ज़माने से भयभीत, सहमी हुई उस लड़की में मैं अपनी उस मासूम, नटखट, बातूनी गुड़िया को काफ़ी प्रयास करने के बावजूद भी ढूँढ़ नहीं पाता हूँ।

हिंदी कविता

रामकुमार आत्रेय

खुला दरवाज़ा

पहाड़ों ने मुझे पुकारा
मैं दौड़ा चला गया
उन्हीं का सहारा ले उनकी ऊँचाई को छुआ
पर ख़ुद ऊँचा नहीं हो पाया
अपना छोटापन कसकता रहा
क़दम-क़दम पर पल-पल
गहरे मांस में धँसे काँटे की तरह

नदियों ने मुझे निमंत्रण दिया
मैं उन तक भी पहुँचा
उनमें उतरा, डुबकी लगाई
पर उतार नहीं पाया अपने जीवन में
उनका बहाव उनकी गहराई
उनका प्यार पाकर भी
मैं हमेशा प्यासा ही रहा

जंगलों ने भी मुझे
अपनी रहस्य से भरी जादुई दुनिया में खींचा
मैं घुसा वहाँ एक अनूठा चाव लिए
पर डरता-डरता फूँक-फूँक डग भरता
किसी चालाक चौकन्ने चीते की तरह
शेर, हाथी, चीते को देख रोमांचित हुआ
सच कहूँ, पर गीदड़ तक नहीं बन सका
जंगल को अपने ख़ून में नहीं मिला पाया
और वहाँ से भाग आया

जब भी बाहर से लौटा
मैंने अपनी प्रतीक्षा में घर का
दरवाज़ा हमेशा खुला पाया
मुझे अपनी गोद में
एक माँ की तरह समेट लेने को आतुर
वही दरवाज़ा जिसे मैं हर बार
सख़्ती से बंद करके जाता रहा।

...आत्रेय का जन्म 1944 ...हुआ। इनके चार कविता-...तीन लघुकथा-संग्रह तथा ...की पुस्तकें प्रकाशित ...हैं। हरियाणा साहित्य ...तथा अन्य संस्थाओं ...हुए हैं। संपर्क : ...-/12, आज़ाद नगर, ...136119
...09416272588

प्रजापति

सिर्फ़ प्रजापति के हाथ का स्पर्श पाकर ही
चाक पर चढ़ी मिट्टी
क्यों सजीले मुँह बोलते
पात्रों का रूप धारण करती है ?
इस प्रश्न का सटीक उत्तर
न कोई पात्र दे पाया
और न ही नए-नए पात्र गढ़ता कोई प्रजापति

प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने की धुन में
एक दिन मिट्टी से ही पूछ बैठा मैं
कि तुम्हीं बता दो इस अबूझ रहस्य को
मैं भी कितना पागल हूँ
जो तुमसे पूछ रहा हूँ
तुम तो मिट्टी हो
मिट्टी थोड़े ही बोला करती है !

क़दम उठाते ही अचानक पाँव फिसल गया मेरा
और मैं पड़ा धड़ाम से मिट्टी पर
तभी मिट्टी ने मुझे बाँह पकड़ उठाते हुए कहा,
''उठो ! मैंने ही गिराया था तुम्हें अभी
यह बताने के लिए
कि जो भी मिट्टी का अपमान करता है
मिट्टी में मिल जाता है
परंतु जो मिट्टी बनना सीख जाता है
वही प्रजापति बन जाता है
सिर्फ़ प्रजापति ही मिट्टी का दर्द समझता है
इसीलिए उसके हाथ से ही मिट्टी
पात्रों का रूप धारण करती है।

यहाँ इतना और बता दूँ कि
प्रजापति बनने के लिए
किसी प्रजापति के यहाँ जन्म लेना ज़रूरी नहीं
और मिट्टी की अपनी कोई जात नहीं होती
सबके सुख और शांति के लिए माध्यम बनना
उसका धर्म होता है
और जो भी इंसान मिट्टी बनकर

सबके लिए पात्र गढ़ना शुरू कर देता है
वही सच्चा प्रजापति होता है!''

मिट्टी की गंध

जब भी मैं गाँव को छोड़कर
शहर चले जाने के लिए तैयार होता हूँ
तो गाँव की स्नेहिल मिट्टी
चिपक जाती है मेरे हाथों से
मेरे पाँवों से
ठीक वैसे ही जैसे कि चिपक जाती थी
मेरी अपनी बिटिया जब वह छोटी थी
जब भी मैं
घर से बाहर निकलने को तैयार होता
जाने कैसे उसे पता चल जाता
कि मैं जा रहा हूँ कहीं

मैं बार-बार झटक कर
अपने से दूर करता हूँ मिट्टी को
पानी से धोता हूँ बार-बार
हाथ-पाँवों को
साबुन की टिकिया भी घिस लेता हूँ
पर बेटी ने कभी मुझे छोड़ा हो तो
मिट्टी भी मुझे छोड़ देती।

आज भी मुझे याद है
कि जब मैं बेटी को झिड़क कर
परे धकेलते हुए
घर से बाहर निकल जाता था
तो उसकी भीगी आँखों से चिपकी होती थी
मेरी पीठ पर उसे भिगोती हुई
उसकी अबोध मुस्कुराहट से झरती ख़ुशबू
मुझे खींचती रहती क़दम-क़दम पर वापस
मेरी उँगली पकड़कर।

साबुन से बार-बार धोने के बावजूद
मेरे हाथ पाँवों से आती रहती है
मिट्टी की सोंधी गंध

वह गंध बचपन में पिए
माँ की छाती से निकले दूध की-सी गंध है
मैं उसे छोड़ूँ भी तो कैसे छोड़ूँ
जिसे तथाकथित आधुनिक लोग
बदबू समझकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं!

तसवीर का वह आदमी

तसवीर का वह आदमी
इस दृष्टि से बहुत ही अलग है
अन्य साधारण आदमियों से
कि औरतों पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध
उसने उठाई है बार-बार आवाज़
जहाँ भी उसे अवसर मिला
आग उगलने लगती है उसकी ज़ुबान
अत्याचारियों के ख़िलाफ़
रोंगटे खड़े हो जाते हैं श्रोताओं के
रोने को अकुला उठता है उनका मन
जब वह कन्या भ्रूण-हत्या का करता है ज़िक्र
उसके मुँह से निकले शब्द
प्रकाशित होते हैं पत्र-पत्रिकाओं में सचित्र

श्रोताओं और पाठकों को नहीं मालूम
कि जो औरत उसके साफ़-सुथरे ड्राइंगरूम की दीवार पर टँगी
तसवीर में उसके साथ मुस्कुराती नज़र आती है
तसवीर से बाहर आकर
सामाजिक समारोहों में जो उसका साथ निभाती है
उसकी पीठ पर पड़े नीले निशान
जो अपनी व्यथा-कथा कहने को आतुर रहते हैं
सुंदर ब्लाउज़ और धोती के कसाव में
जिनके होंठ नहीं खुल पाते हैं
गालों के धरातल पर उभरे
आँसुओं की नदी के बहने के चिह्न
पाउडर की तह में छिप जाते हैं

उस औरत को तसवीर से नीचे उतारकर
कई बार कर दिया जाता है

मकान की पिछली अँधियारी कोठरी में बंद
उस तक पहुँचने वाली रसद की राह भी
नहीं रह पाती है स्वच्छंद

तसवीर की औरत को आज भी याद है अच्छी तरह
जब उसने अपने पेट में पल रहे मादा भ्रूण को
क़त्ल किए जाने में
सहयोग देने से कर दिया था इनकार
उस दिन ऐसी पड़ी थी उस पर मार
कि कुंभीपाक नर्क से हो उठा था साक्षात्कार
वह भ्रूण बेचारा होकर शर्मसार
बाहर आ पड़ा था मांस के एक लौंदे की तरह

और तसवीर का वह आदमी
दूसरे साधारण आदमियों से
किसी भी तरह से नहीं है भिन्न
जब उसे लगती है भूख
एक मादा देह को नोचने-खसोटने की
तो वह उस तसवीर वाली औरत के पाँवों पर गिरकर
अपने किए की क्षमा माँगता हुआ बहाने लगता है आँसू
फिर माँ की पीठ पर चढ़ते हुए
कामांध सूअर-शावक की तरह
ऐसा कहते हुए उसे ज़रा-सी भी शर्म
नहीं होती है महसूस
कि वही तो है जो उस औरत से
करता है इतना ज़्यादा सच्चा प्यार

उसकी देह से खेलकर तृप्ति की डकार लेते हुए वह
उसे कुतिया कहने से भी नहीं चूकता है
इस तरह वह अपने आप पर थूकता है
सच वह कवि है बहुत ही विशिष्ट
शब्दों का व्यापारी चालाक
साधारण आदमियों से भी कहीं ज़्यादा साधारण
इतना साधारण कि उसको
उसके असली रूप में देखकर
कोई भी निःसंकोच कह सकता है
कि वह कवि तो हो ही नहीं सकता!

तालों का बहुमत

दरवाज़े पर लगे ताले के पास जाकर देखिए
वह बतलाएगा ख़ुद बोलकर
कि उसके पीछे रखा है
एक बहुत ही क़ीमती सामान
और उसे सौंपा गया है दायित्व
कि वह उस सामान को
चोरों और लुटेरों से बचाए
ताला कभी नहीं कहेगा
कि जिस क़ीमती सामान को
छिपाकर रखा गया है उसके पीछे
चोरों और लुटेरों की नज़रों से बचाकर
वास्तव में वह सामान
वहाँ लाया गया है चोरी और लूट के माध्यम से ही
नहीं तो उसकी रक्षा के लिए
ताले ठोंकने की ज़रूरत ही क्या थी!

ताले को यह भी मालूम है
कि उसके पीछे छिपी है बहुत-सी ख़ुशियाँ
जिन्हें हथियाने के लिए लालायित हैं
बहुत से हृदय
ख़ुशियाँ ही अक्सर वह सामान होता है
जिन्हें क़ैद करके रखा जाता है ताले के भीतर
उन ख़ुशियों को आज़ाद कराने के लिए
(यह आज़ादी व्यक्ति विशेष के
ख़ुद के उपयोग तक ही सीमित होती है)
बहुत से दिल और दिमाग़
चाहते हैं लड़ाई लड़ना
मतलब यह कि ताले को तोड़कर
कहीं दूर अँधेरे में फेंक देना उसकी चाबी सहित।
पर ख़ुद को ताला तोड़ पाने में असमर्थ पाकर
उस ताले के ऊपर अपने नाम का
एक ताला और ठोंककर ख़ुश हो लेते हैं
कि उन्होंने ख़ुशियों को
ग़लत हाथों में पड़ने से रोक दिया है
कभी-कभी पहले से लगा ताला टूट भी जाता है

तो भी ख़ुशियों को ख़ुला छोड़ देने की अपेक्षा
उन्हें बंद रखने में ही समझते हैं अपना भला
कहीं ख़ुशियों का अपहरण न हो जाए
अथवा ख़ुशियाँ ही अपनी ख़ुशी से
किसी को कर लें न वरण

हर गली हर भवन पर जड़े तालों की संख्या
बढ़ती जा रही है निर्बाध रूप से
जिससे तालों को हासिल हो चुका है स्पष्ट बहुमत!

इंतज़ार

तरह-तरह के
फूल सजाकर काग़ज़ के
घर के आँगन में
एक पगला बैठा था
तितलियों के इंतज़ार में।

बाज़ार

दरवाज़े-खिड़की
कितने ही ज़ोर से
बंद कर लो तुम
बदमाश बाज़ार
कहीं न कहीं से
फिर भी
घर में घुस आएगा।

दिल्ली में

गोपियाँ अभी तक भी
मथुरा की राह
तक रही थीं बेचारी
उन्हें मालूम ही नहीं था
कि कृष्ण और उद्धव आजकल
दोनों ही दिल्ली में हैं!

पेड़ का दुख

वह हरा-भरा पेड़
ख़ुद ही ठूँठ हो आया
उसका दुख
कोई नहीं समझ पाया

वह इस अन्याय को
नहीं सह पाया
कि जिसने उसे पाला-पोसा
उगाया
वह भूखा-प्यासा ही रहा
फलों का आनंद मगर
किसी और ने उठाया।

नचिकेता

यह गली

यह गली भी तो
कहीं जाकर मुड़ेगी

इस गली के
भी मुहाने पर कुआँ है
घिरा कोहरा घना
मटमैला धुआँ है
है डरी बच्ची
नहीं खुलकर हँसेगी

यह इमारत
जो बहुत ऊँची खड़ी है
हाथ में यह लिए जादू की
छड़ी है
हो अगर भूकंप
तो निश्चित गिरेगी

सुनो
चेहरे की चमक पर

लगभग 15 पुस्तकों के रचयिता नचिकेता का जन्म 1945 में हुआ। इनमें गीत, ग़ज़ल, आलोचना की पुस्तकें हैं। संपर्क : द्वारा श्री प्रेमचंद प्रसाद, पथ सं. 1, आज़ाद नगर; कंकड़ बाग़, पटना 800020
मो. 09835260441

मत फ़िदा हो
नाचना होगा तुम्हें
इस जानवर को
कैक्टस में
बू न चंपा की मिलेगी।

आँख में सपने नहीं

यहाँ पर
कुछ फूल, कुछ पत्ते
झरे हैं

यहाँ पर फिर
हादसा ऐसा हुआ है
पृष्ठ पूरा हो गया अब
हाशिया है
दाँत
सारे ही मसूढ़े से
परे हैं

आँख में
सपने नहीं, खाते-बही हैं
होंठ पर मुस्कान की
रेखा नहीं है
दृष्टि से
ओझल हुए सब
आसरे हैं

भेड़िया हँसने
लगा है खिलखिलाकर
चुप रहे हम-तुम व्यथा से
तिलमिलाकर
नयन में
हर दृश्य के
आँसू भरे हैं।

सन्नाटा हिल रहा

मैना री
कुछ नहीं माँगना
बस गाना

आग नदी में
लगी, हवा बहती सहमी
पेड़, लता, तृण की खोती
जा रही नमी
भूल गया
तुलसी का पौधा
मंजराना

पत्तों को है
याद नहीं हिलना-डुलना
देखा नहीं कली के
अधरों का खुलना
उघरा-सा
है जीवन का
ताना-बाना

अश्वत्थामा के
घायल मस्तक जैसा
सन्नाटा हिल रहा, समय
ढोलक जैसा
बजे, मगर
उसकी धुन में मत
खो जाना।

छली निर्गुन

ओ री! मकड़ी
जाला बुन

बुनो कि
घर-दीवार ढँके
चौखट और किवाड़
ढँके

धरखा, द्वार
दरीचा चुन

जिसके अंदर
छिपे जिरह
दिखे न
कोई जोड़-गिरह
इतना गझिन
बुनो काकुन

जिसमें सच
मतलब भरमें
दाग़ी-बाग़ी सब
भरमें
गा बन संत
छली निर्गुन

साझा कार्यक्रमों का
गुर
ज़्यादा कंकड़
कम चाउर
कहो जेठ को ही
फागुन।

बदली अदा

हवा नहीं बदली है
सिर्फ़ अदा ही बदली है

पेड़ों के पत्ते
अब भी तो नोचे जाते हैं
छिपकलियों के द्वारा
कीट दबोचे जाते हैं
फूलों से परहेज़
कहाँ कर पाई तितली है

सूखा कहीं पड़ा
तो भीषण बाढ़ कहीं पर है

सच कहने से दुखने वाले
दाढ़ यहीं पर हैं
सूत कातती
बिन रूई, बिन नाचे तकली है

घर के अंदर छिपा
भेड़िया खिल-खिल हँसता है
साँप नहीं जंगल में, आस्तीन में
बसता है
ख़ून-सने इन होंठों पर
मुस्कानें नक़ली हैं

बदला नहीं कहीं कुछ
सब कुछ पहले जैसा है
रोशनियों पर अंधकार का
अब भी क़ब्ज़ा है
हार रहा खोटे सिक्के से
सिक्का असली है।

सुदर्शन वशिष्ठ

शिमला में बारिश

एक

कौन नहलाता रोज़
इन पहाड़ों को
बच्चों की तरह
मल मल कर।

पहाड़ हैं कि रोज़
मिट्टी में खेलते मचलते
गंदे होते
वह फिर नहलाता
मैल उतार
एकदम उजला
ताज़ा कर देता।
है कौन वह
पहाड़ भी हैरान है।

कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, यात्रा आदि की लगभग 30 पुस्तकों के रचयिता सुदर्शन वशिष्ठ का जन्म 1949 में हुआ। जम्मू अकादमी, साहित्य कला परिषद्, हिमाचल अकादमी से सम्मानित। संपर्क : 34/1, नाभा एस्टेट, शिमला 171004
मो. 09816085595

दो
यह किसने घोल दिया रंग
बादलों में
जो बिखर रहा है अलग-अलग
हरे में हरा
अलग-अलग पहचान लिए
सभी पेड़ हरे सभी पत्ते हरे
सभी झाड़ सभी घास हरे
फिर भी अलग-अलग
ऐसा बरसा कि
एक होते हुए
सबको अलग पहचान दे गया।

शिमला में चाँद

जाख़ू पहाड़ी के पीछे
रोशनी की लहरें ऊपर ऊपर तक उठ रहीं
छा रहा उफान
उड़ रहा रोशनी का झाग
उगता एक दिपदिपाता गोला
पेड़ों से झाँकता
आप चोटी पर चढ़ो
तो हाथ से छू लो।

पीला चाँद
जैसे गिरने गिरने को
फैलाओ अपनी गोद
शायद उसी में गिरे।

शिमला में चाँद
मक्की की रोटी
सुनहरा थाल
बादलों से माँजो
चाट पोंछ कर चटखारे ले खाओ।

शिमला की सड़कें

एक

शिमला की ठंडी सड़कें
कभी हुआ करती थीं सुनसान
मिल जाता जहाँ
इक्का-दुक्का प्रेमी जोड़ा
आहट से उड़ते पक्षी
अब उड़ते हैं आकाश में
कब आहट हटे
वे नीचे आएँ।

दो

सैलानी दौड़ रहे पागलों की तरह
माल रोड से रिज मैदान
बदहवास हैं सब
कोई न कोई नशा किए हैं
कहीं बज रहा ऊँचा संगीत
कहीं रहे हैं नाच बोतलें हाथों में लिए

कहीं आ गई नौबत हाथापाई की
कहीं गाली-गलौच
बाँसुरी बजाने वाले पहाड़ी सिपाहियों
के हाथ में छड़ियाँ हैं
वे बंदरों की तरह आँख बंद किए खड़े हैं
जैसे कुछ देखा ही नहीं।

ठसाठस भर गए सभी होटल
लोग घूम रहे इधर-उधर परेशान
रात बारह बज गए रिज पर नाचते
बर्फ़ नहीं गिरी
सड़कों पे बेतरतीब पार्क हैं गाड़ियाँ
जाम लगा है रात भी
सुबह के पहर कैसे और कहाँ जाएँ।
उतर गए हैं सारे नशे
होश फिर भी नहीं।

आज त्योहार है 25 दिसंबर
आज त्योहार है 31 दिसंबर।

माल रोड

अब भी है माल रोड
जमी नदी की तरह
तभी पूछते हैं सैलानी माल रोड का पता
जहाँ घूमते लोग इधर-से-उधर बेमतलब
जहाँ सॉफ़्टी खातीं बुढ़ियाएँ
बच्चे देखते हैं
जहाँ सरपट भागती माएँ
बच्चे रोते हैं
जहाँ नहीं आ सकतीं गाएँ
बंदर झूमते हैं
जहाँ नहीं आ सकते मज़दूर
कुत्ते घूमते हैं।

श्याम कश्यप

केरल-प्रकृति

हरा रंग हरा है
गहरा हरा चमकीला
वनस्पतियों से घिरे हुए
केरल में—

नीला नील सागर
ख़ंजर-सा चट्टानों में
कटी-फटी तटरेखा से
भीतर तक धँसा हुआ।

नील पद्म
नीलाकाश
नीलावरण
नील चरण
महावर से रँगे हुए

हरीतिमा से आच्छादित
झमाझम बारिश में...

...कश्यप की कविताएँ पत्र-...ओं में प्रकाशित होती रही ... कविता-संग्रह भी ...हुए हैं। संपर्क : बी-... जनयुग अपार्टमेंट्स, ... एनक्लेव, दिल्ली ..., मो. 09891250940

यति गति
अंग-अंग
अनंग-संग
सती रति
नर्तित नव नृत्य में
ज्यों कथकलि—

केरल की ज्योतित
खिली-खिली प्रकृति!

नीलावरण हरीतिमा में

चमकते हीरों की
कणियों से भरी
बंद मुट्ठियों की तरह
दिखती है ऊटी—
नीलगिरी पर गुंफित घनी

कुन्नूर, जैसे पसरी हुई बाँह
उस पर क़सीदाकारी—
जुलूस लंबा झिलमिलाते तारों का।

अत्यंत ऊँचे इस शिखर से
ऊटकमंडलम् दाहिने—
बाएँ दिख रहा कुन्नूर फैला...

चारों ओर छितरी
नीलावरण हरीतिमा को
ढँके जा रहे हैं—
घने बादलों के दल के दल

दौड़े आ रहे हैं, छा रहे हैं
सैकड़ों ऐरावत सदल-बल
यूकेलिप्टस के सघन जंगल
अपनी भीनी-भीनी—
बोझिल महक के साथ इनमें खो गए हैं!

हरे प्रकाश उपाध्याय

खिलाड़ी दोस्त

खिलाड़ी दोस्तों के बारे में
बताने से पहले ही सावधान कर दूँ कि
मेरा इशारा ऐसे दोस्तों की तरफ़ नहीं है
जो ज़िंदगी को ही एक खेल समझते हैं
बल्कि यह उन दोस्तों की बात है जो
खेल को ही ज़िंदगी समझते हैं
जो कहीं भी खेलना शुरू कर देते हैं
जो अकसर पारंपरिक मैदानों के बाहर
ग़ैर पारंपरिक खेल खेलते रहते हैं

वे दोस्त
खेल के बाहर भी खेलते रहते हैं खेल
जब भी जहाँ
मौक़ा मिलता है पढ़ाने लगते हैं
पत्ते फेंकने लगते हैं
बुझौव्वल बुझाने लगते हैं
गोटी बिछाने लगते हैं
आँखों पर कसकर बाँध देते हैं रूमाल
और दुखती रग को दुखाने लगते हैं

वे दोस्त अच्छी तरह जानते हैं
दोस्ती में खेलना
सही तरह पैर फँसाना वे जानते हैं
जानते हैं वे कब
कहाँ से मारने पर रोक नहीं पाएगा गोल
जानते हैं कितनी देर दौड़ाएँगे
तो थककर गिर जाएगा दोस्त
वे हाथ मिलाते हुए अकसर
हमारी भावनाएँ नहीं
हमारी ताक़त आँकते रहते हैं
अकसर थके हुए दौर में
भुला हुआ गेम शुरू करते हैं दोस्त
वे आँसू नहीं मानते

...1 में जन्मे हरे प्रकाश
...ध्याय की कविताएँ पत्र-
...ओं में प्रकाशित होती रही
... : 9/11, ग्राउंड फ़्लोर,
... नगर, नई दिल्ली
...9868403373

तटस्थ वसूलते हैं क़ीमत
हमारे हारने की।

सुख और ख़ुशी में भले भूल जाते हों
दुख में अकेला नहीं छोड़ते
आ जाते हैं डंडा सँभाले
उदासी और थकान में
शुरू करते हैं खेल
और नचा-नचा देते हैं

दोस्त अवसर देखते रहते हैं
काम आने का
और मुश्किल समय में अकसर
ऐसे काम आते हैं कि भूल नहीं सकते हम

हमारे गहरे अभाव
टूटन और बर्बादी के दिनों में
जब दुश्मन उपेक्षा करते हैं हमारी
दोस्त आते हैं ख़ैरियत पूछने
और हास्य के शिल्प में पूछते हैं हाल
हमारे चेहरे की उड़ती हवाइयाँ देखकर
हताश नहीं होते
वे मूँछों में लिथड़ाती मुस्कान बिखेरते हैं।

दोस्त हमें हारकर
बैठ नहीं जाने देते
वे हमें ललकारते हैं
चाहे जितने पस्त हों हम

उठाकर हमें मैदान में खड़ा कर देते हैं वे
और देखते रहते हैं हमारा दौड़ना
गिरना और हमारे घुटने का छिलना
ताली बजाते रहते हैं वे
मूँगफली खाते रहते हैं
और कहते हैं
धीरे-धीरे सीख जाओगे खेल

जो दोस्त खेल में पारंगत होते हैं
खेल से भागने पर कान उमेठ देते हैं

कहते हैं, कहाँ-कहाँ भागोगे
भागकर जहाँ जाओगे
हमें वहीं पाओगे।

खेल में पारंगत दोस्त
खेल में अनाड़ी दोस्त से ही
अकसर खेलते हैं खेल!

महान-आत्माएँ

महान-आत्माएँ देर से आती हैं सभागार में
जब तक हममें से कई लोग इंतज़ार में ऊबने लगते हैं
महान आत्माओं का इंतज़ार
हममें से कई लोग करते हैं प्रेम से

महान-आत्माओं के इंतज़ार में ही
हम हर दिन जुटते हैं सभागार में
अपनी-अपनी तालियाँ लेकर
बैठे रहते हैं
तालियों को दबाए रहते हैं
और क़यास लगाते हैं महान-आत्माओं के बारे में
महान-आत्माएँ देर से आती हैं सभागार में

जब हमारी बीड़ियाँ ख़त्म होने लगती हैं
बतियाने के लिए कुछ बच नहीं जाता
तब आती हैं महान-आत्माएँ
आसन ग्रहण करती हैं
और माइक पर बेसुरे राग में
एक आदमी उनकी अश्लील प्रार्थना करने लगता है
हमारी तालियाँ बेक़ाबू हो जाती हैं
और हमारे ऊपर ही हमारा वश नहीं रह जाता

हम इस प्रार्थना के आदी होते हैं
और इस स्खलन के दीवाने
इसीलिए जुटते हैं रोज़ सभागार में
हम सभागार में जुटते हैं
अपनी आत्मा से महान-आत्माओं के मिलन हेतु
और मिलन के अभाव का दुख भोगते हैं

महान-आत्माएँ आगे बैठती हैं
हम पीछे
और हम मंच पर चील के
बैठने के भय से भर उठते हैं
धीरे-धीरे
इस भयानक आकांक्षा में हमें मज़ा आने लगता है

महान-आत्माएँ चील को
इस क़दर समेटकर बैठती हैं अपने भीतर
कि हम चील देख नहीं पाते
सिर्फ़ पंख का फड़फड़ाना सुनते हैं
और सब नज़रअंदाज़ करते हैं
हर रोज़ यही सुनते हैं
करते हैं यही
और लौट आते हैं रोज़ उदास-उदास

हमारी उदासी बढ़ती जाती है
मगर हम सभागार में जाना बंद नहीं करते
और किसी दिन हमारे भीतर भी
चील का स्वप्न अपने पूरे वजूद के साथ
कुलाँचें भरने लगता है।

बुराई के पक्ष में

कृपया बुरा न मानें
इसे बुरे समय का प्रभाव तो क़तई नहीं
दरअसल यह शाश्वत हक़ीक़त है
कि काम नहीं आई
बुरे वक़्त में अच्छाइयाँ
धरे रह गए नीति-वचन उपदेश
सारी अच्छी चीज़ें पड़ गईं ओछी
ईमानदारी की बात यह कि बुरी चीज़ें
बुरे लोग, बुरी बातों और बुरे दोस्तों ने बचाई जान अकसर
उँगली थामकर उठाया साहस दिया
अच्छी चीज़ों और अच्छे लोगों और अच्छे रास्तों ने बुरे समय में
अकसर साथ छोड़ दिया

बचपन से ही
काम आती रही बुराइयाँ
बुरी माँओं ने पिलाया हमें अपना दूध
थोड़ा-बहुत अपने बच्चों से चुराकर
बुरे मर्दों ने ख़रीदी हमारे लिए अच्छी क़मीज़ें
मेले-हाटों के लिए दिया जेब-ख़र्च

गली के हरामज़ादे कहे गए वे छोकरे
जिन्होंने बात-बात पर गाली-गलौज
और मारपीट से ही किया हमारा स्वागत
उन्होंने भगाया हमारे भीतर का लिजलिजापन

और किया बाहर से दृढ़
हमें नपुंसक होने से बचाया
बददिमाग़ और बुरे माने गए साथियों ने
उन्हें सिखाया लड़ना और अड़ना
बुरे लोगों ने पढ़ाया
ज़िंदगी का व्यावहारिक पाठ
जो हर चक्रव्यूह में आया काम हमारे
हमारी परेशानियों ने
किया संगठित हमें

सच ने नहीं, झूठ ने दिया संबल
जब थक गए पाँव
झूठ बोलकर हमने माँगी मदद जो मिली
झूठे कहलाए बाद में
झूठ ने किया पहले काम आसान

आत्महत्या से बचाया हमें उन छोरियों के प्रेम ने
जो बुरी मानी गईं अकसर
हमारे समाज ने बदचलन कहा जिन्हें

बुरी स्त्रियों और सबसे सतही मुंबइया फ़िल्मों ने
सिखाया करना प्रेम
बुरे गुरुओं ने सिखाया
लिखना सच्चे प्रेम-पत्र
दो कौड़ी के लेमनचूस के लालच में पड़ जाने वाले लौंडों ने
पहुँचाया उन प्रेम-पत्रों को
सही मुक़ाम तक

जब परेशानी, अभाव, भागमभाग
और बदबूदार पसीने ने घेरा हमें
छोड़ दिया गोरी चमड़ी वाली उन ख़ुशबूदार प्रेमिकाओं ने साथ
बुरी औरतों ने थामा ऐसे वक़्त में हाथ
हमें अराजक और कुंठित होने से बचाया
हमारी कामनाओं को किया तृप्त

बुरी शराब ने साथ दिया बुरे दिनों में
उबारा हमें घोर अवसादों से
स्वाभिमान और हिम्मत की शमा जलाई
हमारे भीतर के अँधेरे में
दो कौड़ी की बीड़ियों को फूँकते हुए
चढ़े हम पहाड़ जैसे जीवन की ऊँचाई
गंदे नालों और नदियों का पानी काम आया वक़्त पर
बोतलों में बंद महँगे मिनरल वाटर नहीं

भूख से तड़पते लोगों के काम आए
बुरे भोजन
कूड़े पर सड़ते फल और सब्ज़ियाँ
सबसे सस्ते गाजर और टमाटर

हमारे एकाकीपन को दूर किया
बैठे-ठाले लोगों ने
गपोड़ियों ने बचाया संवाद और हास्य
निरंतर आत्मकेंद्रित और नीरस होती दुनिया में

और जल्दी ही भुला देने के इस दौर में
मुझे मेरी बुराइयों को लेकर ही
शिद्दत से याद करते हैं उस क़सबे के लोग
जहाँ से भागकर आ गया हूँ दिल्ली!

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

संस्कृत में पनप रही साहित्यिक पत्रकारिता

बहुत से लोगों को इस कथन पर विश्वास करना कठिन लगेगा कि संस्कृत जैसी प्राचीन, क्लासिकल और कठिन मानी जानेवाली भाषा में आज भी अच्छी संख्या में पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं जिनमें दैनिक से लेकर साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक और अनियतकालीन पत्रिकाएँ शामिल हैं। इनमें साहित्यिक और शोध पत्रिकाएँ तो हैं ही, समाचार-पत्र, समीक्षा पत्रिकाएँ आदि भी हैं। सारी सामग्री संस्कृत भाषा में छापने वाली ये पत्रिकाएँ किसी एक प्रांत या अंचल से निकल रही हों, ऐसी बात नहीं, हिमालय से कन्याकुमारी तक और गुजरात से बंगाल तक प्रत्येक क्षेत्र से निकलने वाली ये पत्रिकाएँ सारे देश में समान रूप से फैली हुई हैं। ये ही तो प्रमाणित करती हैं कि संस्कृत भाषा जो हमारे संविधान की आठवीं अनुसूची में अंकित 22 आधुनिक भाषाओं में से एक है, जीती-जागती, थिरकती और खेलती-कूदती भाषा है।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत में पत्रकारिता का उद्‌भव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ही हो गया था। भारत में पत्रकारिता के जन्म के बाद चालीस वर्ष भी नहीं बीते होंगे जब संस्कृत की पहली पत्रिका *काशी विधासुधानिधि* जिसका लोकप्रिय नाम था पंडित पत्रिका, बनारस से 1866 में शुरू हुई। यह तो विमर्शात्मक और अनुवादात्मक साहित्य की पत्रिका थी जिसमें अंग्रेज़ी ग्रंथों के संस्कृत अनुवाद भी धारावाहिक रूप से छपते थे किंतु इसके बाद देश के विभिन्न अंचलों से संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की ऐसी सुदीर्घ श्रृंखला प्रारंभ हुई जिसने इस भाषा का इतिहास ही पूरी तरह बदल डाला। 1873 में बंगाल के विद्वान् पं. हृषीकेश भट्टाचार्य ने जो देश के दूसरे कोने में स्थित लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में प्रोफेसर बनकर गए थे, लाहौर से ही *विद्योदय* नामक संस्कृत मासिक पत्र निकालना शुरू किया जिसमें कहानियाँ, कविताएँ, व्यंग्य, विनोद, ललित-निबंध आदि भी प्रकाशित होते थे। संपादक भट्टाचार्य जी जब बंगाल लौट आए तो 1887 से यह बंगाल से निकलने लगा और 1919 तक चला। किंतु इसकी प्रेरणा

...कृत में कहानी, कविता, ...न्यास, नाटक एवं जीवनी की ...त तथा हिंदी में 11 पुस्तकों ...के लेखक देवर्षि कलानाथ ...स्त्री का जन्म 1936 में हुआ। ...हित्य अकादेमी, राजस्थान ...स्कृत अकादमी सहित अनेक ...स्थाओं से पुरस्कृत हुए हैं। ...र्क : सी/8, पृथ्वीराज रोड, ...पुर 302001 (राज.) ...न : 0141-2376008

से देश के कोने-कोने से जो संस्कृत पत्रिकाएँ निकलने लगीं उनका इतिहास तो पूरी तरह रोमांचकारी ही है।

1888 में केरल से *विज्ञान चिंतामणि* नामक मासिक पत्र शुरू हुआ और 1893 में बंगाल से संस्कृत चंद्रिका पत्रिका। यह पत्रिका संस्कृत के इतिहास में युगांतरकारी सिद्ध हुई क्योंकि इससे देश के प्रत्येक अंचल के रचनाकारों को नई-नई विधाओं में कविता, कहानी, निबंध, पत्र, प्रश्नोत्तर, व्यंग्य विनोद, वाद-प्रतिवाद आदि लिखने को प्रोत्साहित किया क्योंकि 1897 से यह महाराष्ट्र के कोल्हापुर नगर से सुप्रसिद्ध पत्रकार पं. अप्पाशास्त्री राशिवडेकर के संपादकत्व में निकलने लगा जो देशभर के संस्कृत-सर्जकों से जुड़ गए थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में संस्कृत पत्रकारिता की जो लहर आई उसने बीसवीं सदी में सारे देश में एक बड़ी संख्या में *सूनृतवादिनी, मित्रगोष्ठी, सूक्तिसुधा, सहृदया, शारदा, सूर्योदय, सुप्रभाति, मंजूषा* आदि संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ करवाकर ऐसी धूम मचाई कि इस प्राचीन भाषा में केवल शास्त्र लेखन होते रहने की बजाय नई शैली के उपन्यासों, कहानियों, चुटकुलों, निबंधों, समीक्षाओं आदि का सर्जन विपुल परिमाण में होने लगा। शिवाजी के जीवन पर लिखे अंबिकादत्त व्यास के जिस उपन्यास *शिवराज विजय* को पाठ्यक्रम में शामिल होने के कारण आज बच्चा-बच्चा जानता है वह सर्वप्रथम *संस्कृत चंद्रिका* पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपा था।

बीसवीं सदी में तो काशी, जयपुर, बंगाल, मद्रास सभी अंचलों से संस्कृत पत्रिकाएँ निकलने लगीं। 1904 में जयपुर से प्रारंभ होनेवाला संस्कृत मासिक संस्कृत रत्नाकर भी इतिहास में उल्लेखनीय हो गया क्योंकि इसके संपादक आधुनिक विधाओं के सर्जक मह मथुरानाथ शास्त्री थे जिन्होंने इसमें पुस्तक समीक्षा, समाचार समीक्षा, समाचार, विचार, चित्र और पत्र आदि के साथ नई शैली की कहानियाँ, नए छंदों में कविता और व्यंग्य विनोद के साथ चुटकुले छापने शुरू करवाए। काशी से *सूर्योदय, अमरभारती* आदि पत्रिकाएँ तो निकलने ही लगीं, *उच्छृंखलम्* नाम से एक कार्टून और व्यंग्य विनोद की पत्रिका भी निकली। दक्षिण भारत में कर्नाटक से निकलने वाली *मधुरवाणी* बंगाल से निकलने वाली *संस्कृत साहित्य परिवार* पत्रिका, हिमालय की तलहटी से निकलने वाली *दिव्य-ज्योति,* ऐसी पत्र-पत्रिकाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत भाषा सारे देश को, देश के प्रत्येक भू-भाग को एक सूत्र में बाँध सकती हैं। ये पत्रिकाएँ प्रत्येक प्रांत से निकलती थीं, प्रत्येक प्रांत का लेखक एक परिवार के होने के अहसास के साथ प्रत्येक पत्रिका में लिखता था। ये पत्रिकाएँ किसी राजकीय वित्तपोषण से निकलती हों, सो बात भी नहीं थी। सभी स्ववित्तपोषित थीं, संस्कृत सेवियों और पाठकों के बल पर चलती थीं।

संस्कृत पत्रकारिता का डेढ़ सौ वर्षों का यह इतिहास एक युगांतर का डिंडिम घोष भी है और नवलेखन को जीवनदान देनेवाली संजीवनी भी। इस पत्रकारिता को नया प्रोत्साहन मिला स्वतंत्र भारत में हमारे अपने शासन के द्वारा अपनाई गई नीति के तहत केंद्रीय और राज्य स्तर पर संस्कृत के उन्नयन हेतु स्थापित की गई अकादमियों तथा अन्य संस्थानों से जिन्होंने अपनी संस्कृत पत्रिकाएँ भी निकालीं और अन्य पत्रिकाओं को भी समर्थन दिया। पहले तो संस्कृत पत्रिकाएँ अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन या बंग संस्कृत साहित्य परिषद् जैसी स्वायत्तशासी संस्थाओं के मुख पत्र के रूप में निकलती थीं। *संस्कृत रत्नाकर* और *परिजन* पत्रिका ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। दिल्ली में जब साहित्य अकादेमी की स्थापना हुई तो *कंटेंपररी इंडियन लिटरेचर* जैसी अंग्रेज़ी की और *समकालीन भारतीय*

...हित्य जैसी हिंदी की पत्रिका के साथ ही संस्कृत ...षाण्मासिक पत्रिका *संस्कृत प्रतिभा* भी अप्रैल ...59 से प्रारंभ की गई जिसके संपादक डॉ. वे. ...वन् ने इसे सर्जनात्मक और समीक्षात्मक ...हित्य की पत्रिका बनाया। राज्यों में जो संस्कृत ...कादमियाँ प्रारंभ हुईं उन्होंने भी अपनी पत्रिकाएँ ...रंभ कीं। विश्वविद्यालयों से जो शोध पत्रिकाएँ ...स्कृत में निकलती थीं और जैसी आज भी ...कल रही हैं उन्हें हम पत्रकारिता के खाते में ...हीं गिनते। सर्जनात्मक साहित्य और समाचार ...हित्य की पत्रिकाएँ ही पत्रकारिता की परिभाषा ...में आती हैं।

इस परिभाषा में आनेवाली पत्रिकाओं को देखें ...तो आज भी देश के प्रत्येक अंचल से प्रकाशित ...हो रही पत्र-पत्रिकाओं की संख्या सौ के आँकड़े ...को पार कर रही हैं। सर्वाधिक प्रभावित करने ...वाला घटक है इनका विषय वैविध्य और प्रकृति ...वैविध्य। इनमें अख़बार की तरह निकलने वाले ...दैनिक भी हैं जैसे मैसूर का *सुधर्मा* और कानपुर ...का *नवप्रभातम्*. *सुधर्मा* 1970 से निकल रहा है। ...प्रथम दैनिक पत्र *विजयः* पूना से 1961 में ...निकला था। वैसे पूना के एक पत्रकार बसंत ...गाडगिल संस्कृत सम्मेलनों के अवसर पर संस्कृत ...में प्रतिदिन की रिपोर्ट के दैनिक बुलेटिन अपनी ...मासिक पत्रिका *शारदा* के अंकों के रूप में ...निकालने के लिए प्रसिद्ध हैं।

...साप्ताहिक पत्रों में नागपुर से निकलने वाला ...संस्कृत *भवितव्यम्* और बनारस से निकलने वाला ...गांडीवार आज भी चाव से पढ़े जाते हैं जिनमें ...समाचार भी होते हैं, कविताएँ और लेख भी। ...*वैजयंती*, *युगगति* आदि अनेक साप्ताहिक ...निकलते रहे हैं, कुछ अनियमित हो गए हैं। ...पाक्षिक पत्रों का इतिहास बहुत पुराना है। ...*सुरभारती*, *संस्कृतवाणी*, *हितसाधिका*, *दिशा–* ...*...ती*, *कृतांत*, *मित्र*, *भक्तिसुधा* आदि का नामके अंतर्गत लिया जा सकता है। आज भी *हितसाधिका*, *गोरखपुर चर्चा* ये दो पाक्षिक गोरखपुर से निकलते हैं।

मासिक पत्रिकाओं की एक बहुत बड़ी संख्या पूरे देश में लोकप्रिय है जिनमें कुछ तो महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय शिक्षण कार्य के लिए भी लोकप्रिय हुई हैं जिनसे भारत में संस्कृत को व्यवहार भाषा के रूप में सिखाने के अभियान को बहुत बड़ा सहारा मिलता है। संस्कृत संभाषण सिखाने का ऐसा अभियान संस्कृत भारती आदि अनेक संस्थाओं ने चलाया जिसकी विशिष्ट गतिविधियाँ कर्नाटक, उड़ीसा आदि में इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय रहीं कि कर्नाटक के शिमोगा क्षेत्र का एक गाँव तो पूरा संस्कृत बोलने लगा। ऐसे अभियान के अंग के रूप में बंगलोर से 1994 में प्रारंभ किए गए मासिक का नाम इसीलिए *संभाषण संदेश* रखा गया किंतु वह आज बहुत लोकप्रिय है। जयपुर से गत 56 वर्षों से नियमित रूप से निकल रही मासिक पत्रिका *भारती* ने भी सातत्य के कीर्तिमान बनाए हैं। वैसे कानपुर से *पारिजातम्* , उड़ीसा राज्य की पुरी से *लोकभाषासुश्रीः* , कोलकाता से *सत्यानंदम्*, कानपुर से *अभिनवसंस्कृतम्*, बालेश्वर उड़ीसा से *अमृत भाषा* आदि अनेक मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। *प्रियंवदा*, *प्रियवाक्*, *भारतमुद्रा* आदि द्वैमासिक पत्रिकाएँ भी केरल, उड़ीसा आदि से निकलती हैं।

संस्कृत पत्रिकाओं में त्रैमासिक पत्रिकाओं की संख्या पिछले कुछ दशकों में बहुत अधिक बढ़ी है, उनके स्तर को भी अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना जा रहा है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि स्वतंत्रता के बाद उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, दिल्ली, हिमाचल आदि राज्यों में जो संस्कृत अकादमियाँ राजकीय वित्तपोषण से प्रारंभ हुईं उन्होंने अपनी पत्रिकाएँ त्रैमासिक या षाण्मासिक रूप से निकालना सुविधाजनक पाया। उन्हें वित्तीय संबल प्राप्त है अतः मुद्रणादि

में उन्हें असुविधा का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, त्रैमासिक आदि पत्रों में शोध सामग्री और विद्वानों के बड़े लेख अधिक छपते हैं जिनका स्तर अपने आप सुनिश्चित हो जाता है जबकि मासिक पत्रों में छोटी कहानियाँ, संस्कृत सिखाने के पाठ आदि भी छात्रों की सुविधा के लिए देने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ जयपुर की *भारती* मासिक पत्रिका में संस्कृत सिखाने के पाठ, हिंदी अनुवाद सहित बालकथाएँ, शब्दावली आदि के साथ नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। त्रैमासिक पत्रिकाओं की प्रकृति अधिकतर शोधात्मक तथा सर्जनात्मक साहित्य की होती है।

बहुत बड़ी संख्या में निकल रही त्रैमासिक पत्रिकाओं में स्वायत्तशासी संस्थाओं की *अर्वाचीन संस्कृतम्* (दिल्ली), *विश्वभाषा* (बनारस), *विश्व संस्कृतम्* (होशियारपुर), *गुजारर्व:* (अहमदनगर), *संगमनी* (इलाहाबाद), *संविद* (मुंबई), *व्रजगंधा* (मथुरा), *लोकसंस्कृतम्* (पांडिचेरी) आदि तो सुविदित रही ही हैं। अकादमियाँ और विश्वविद्यालयों की मुख पत्रिकाओं के रूप में *स्वरमंगला* (राजस्थान संस्कृत अकादमी), *संस्कृतमंजरी* (दिल्ली संस्कृत अकादमी), *पूर्वा* (मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी), *सागरिका* और *प्रख्या* (सागर विश्वविद्यालय), *सारस्वती सुषमा* (संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस), *शोधप्रभा* (लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय, दिल्ली), *अक्षरा* तथा *वयम्* (राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर) आदि भी अपना स्तर बनाए हुए हैं। इनमें शोध लेख अधिक होते हैं किंतु सर्जनात्मक सामग्री, संस्कृत समाचार आदि भी शामिल रहते हैं।

शोध पत्रिकाओं के रूप में तो अनेक षाण्मासिक अर्थात् छमाही पत्रिकाएँ भी वर्षों से प्रसिद्ध हैं जिनमें केंद्रीय साहित्य अकादेमी की *संस्कृत प्रतिभा* सर्जनात्मक रही है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान की *संस्कृत विमर्श*, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान की *परिशीलनम्*, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) दिल्ली की *शोधप्रभा*, हिमाचल अकादमी की *श्यामला*, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान जयपुर की *जयंती* आदि अकादमियों या विश्वविद्यालयों की शोध पत्रिकाएँ हैं, छंदेस्वती (कर्नाटक), *भारती मंदार* (कानपुर) आदि स्वायत्तशासी संस्थाओं की। शोध-पत्रिकाओं से अतिरिक्त षाण्मासिक में दो पत्रिकाएँ ऐसी भी हैं जो जीता-जागता अजूबा कही जा सकती हैं। एक तो है गुजरात से निकलने वाली *नंदन वन कल्पतरु* जो विरक्त जैन मुनियों का प्रकाशन है किंतु जिसमें व्यंग्य विनोद और अन्य सर्जनात्मक सामग्री न केवल संस्कृत में छपती है अपितु प्राकृत में भी छपती है। दूसरी पत्रिका है इलाहाबाद से निकलने वाली *दृक्* जो केवल संस्कृत की पत्रिका न होकर अधिकतर हिंदी में सामग्री देती है किंतु जिसमें केवल संस्कृत प्रकाशनों की समीक्षाएँ ही निकलती हैं, सर्जनात्मक अन्य सामग्री नहीं। हिंदी में भी जब समीक्षा पत्रिकाएँ चिरजीवी नहीं हो पातीं, संस्कृत की यह समीक्षा पत्रिका 1999 से बराबर निकल रही है जिसे देखकर ही यह अंदाज़ा हो सकता है कि आज भारत में और बाहर भी संस्कृत में कितनी बड़ी संख्या में प्रकाशन हो रहे हैं जिनकी समीक्षा इसमें छपती है।

संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं की यह छोटी-सी झलक यह अहसास करा सकती है कि इस प्राचीन भाषा में भी पत्रकारिता किस प्रकार पनप रही है। संस्कृत में आकाशवाणी से प्रतिदिन दो बार प्रसारित होने वाले तथा दूरदर्शन से प्रतिदिन एक बार प्रसारित होनेवाले समाचार बुलेटिन यह अहसास करा ही देते हैं कि संस्कृत भाषा न केवल प्रिंट मीडिया के मुद्रित समाचारों और विचारों का माध्यम हो सकती है अपितु दृश्य
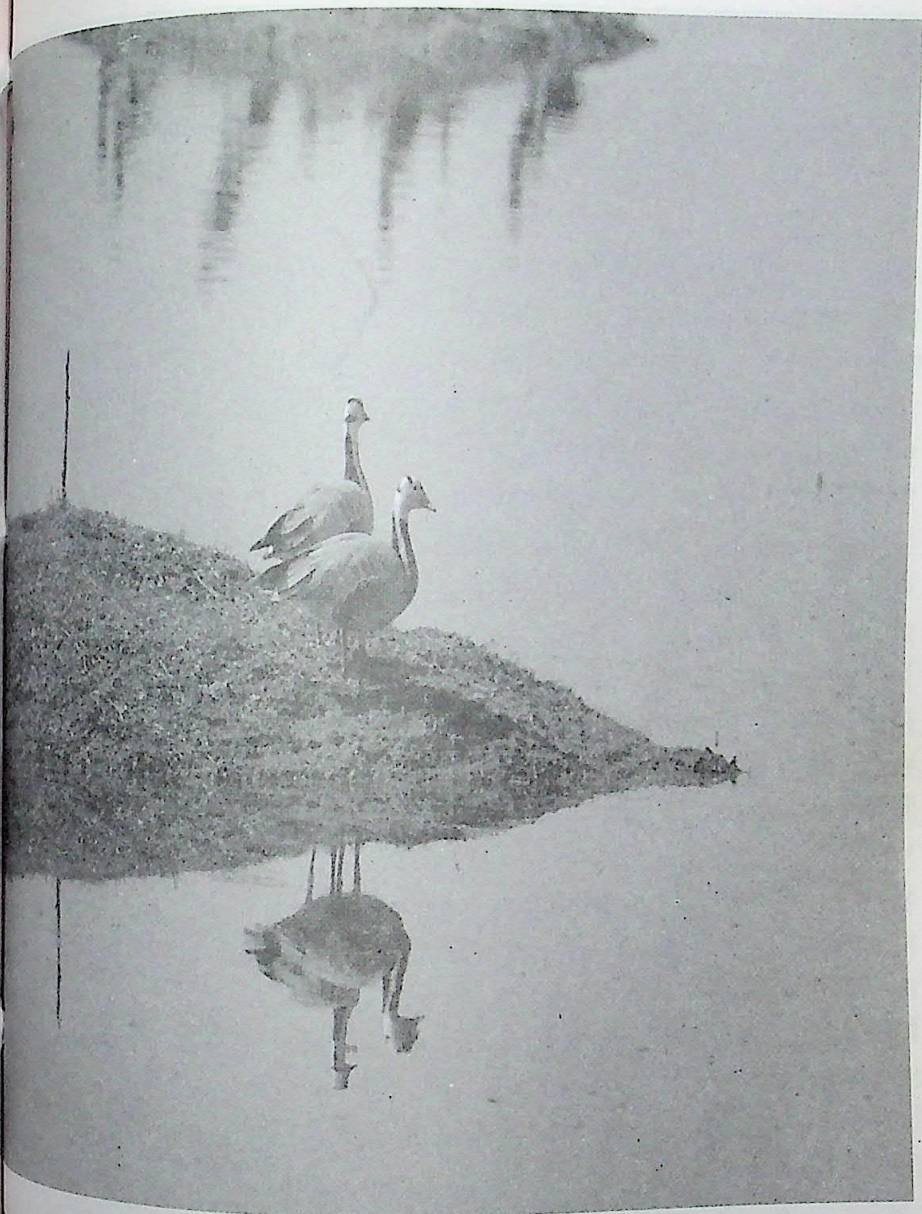
समाचारों का माध्यम भी हो सकती है। एक जीती-जागती आधुनिक भाषा है प्रमाण यह भी था कि मुंबई से लगभग पूर्व *बाल संस्कृतम्* नामक संस्कृत पत्र केवल बच्चों के लिए निकलता था। शास्त्री इसके संस्थापक-संपादक चित्र, कार्टून, नर्सरी राइम्स, लघुकथाएँ पाठ्य सामग्री सरल संस्कृत में होती थी। यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि दक्षिण भारत से निकलने वाले बाल साहित्य के सुप्रसिद्ध मासिक *चंदामामा* का संस्कृत अनुवाद प्रस्तुत कर प्रकाशित होनेवाला संस्कृत बाल मासिक *चंदामामा* एक दीर्घजीवी पत्रिका सिद्ध हुई है। जिन भाषाओं में अनूदित होकर यह पत्रिका निकलती है उन इनी-गिनी भाषाओं में संस्कृत भी है, यह क्या सुखद आश्चर्य नहीं!

रामसरूप अणखी

पंजाबी कहानी : एक यात्रा

पंजाबी कहानी की उम्र बहुत छोटी है, मुश्किल से 70–80 साल।

एक मत के अनुसार छोटी कहानी का प्रारंभिक स्वरूप हमारी पुरातन लोक कथाओं से मिलता है, जो *पंचतंत्र, बृहत् कथा, कथा साहित्य सागर* और *रामायण–महाभारत* की प्रचलित कथाएँ थीं। पर ज़्यादा ठीक दूसरा मत लगता है, जिसके अनुसार पंजाबी कहानी के मूल रूप को पश्चिम की देन माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि वास्तविक आधार वे छोटी कहानियाँ हैं जो ईसाई मिशन द्वारा एक *चौपतरिया* नाम के परचे में छपती थीं। सन् 1849 में पंजाब पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े के बाद ईसाई धर्म के प्रचार के लिए लुधियाना में एक छापाख़ाना खोला गया था। यहीं से पंजाबी में यह परचा छपता था। अनुवाद रूप में ये कहानियाँ बाइबल में से ली जाती थीं। जिनका मुख्य उद्देश्य आम आदमी को सदाचारक शिक्षा देना था। सुधारवादी क़िस्म की अन्य कहानियाँ भी छपती थीं।

विद्वान आलोचकों और साहित्य के शोधार्थियों ने लाल सिंह कमला अकाली की कहानी 'सरबलोह दी बहुटी' को पंजाबी की पहली कहानी माना है। कमला अकाली का जन्म 1889 में हुआ था। उन्हीं दिनों या ज़रा पहले कमला अकाली के साथी लेखकों चरन सिंह शहीद, हीरा सिंह दर्द, गुरबख्श सिंह प्रीतलड़ी, नानक सिंह, गुरमुख सिंह मुसाफ़िर और मोहन सिंह दीवाना ने कहानियाँ लिखनी शुरू कर दी थीं। इन कहानियों का सुर मुख्यतः सुधारवादी था या रोमांसवादी और स्वतंत्रता–संग्रामी। इन लेखकों की प्रारंभिक कहानियाँ चाहे आधुनिक छोटी कहानी के निश्चित मापदंडों पर ही खरी उतरती थीं पर उनमें कलात्मक छोटी कहानी के लक्षण नज़र आने लगे थे। हीरा सिंह दर्द के मासिक पत्र *फुलवाड़ी* में 1928 के एक अंक में छोटी कहानी के संबंध में एक लेख भी छपा था। ये कहानियाँ उद्देश्यात्मक कहानियाँ होती थीं। इन कहानियों का महत्त्व इसलिए माना जाना चाहिए कि इन कहानियों ने आधुनिक कहानियों को एक आधार दिया।

असली कलात्मक छोटी कहानी सदी के चौथे दशक में ही लिखी जाने लगी, जब संत सिंह सेखों, देवेंद्र सत्यार्थी, सुजान सिंह

और कर्तार सिंह दुग्गल की कथा चौकड़ी मैदान में उतर चुकी थी। कुछ विद्वान सेखों की 'भत्ता' कहानी को पंजाबी की पहली छोटी कहानी मानते हैं, जो सोहन सिंह जोश के पंजाबी रसाले *परभात* में 1935 के एक अंक में छपी थी। वास्तव में यह कहानी सेखों के एक अंग्रेज़ी उपन्यास का एक अध्याय ही थी। यह उसकी कहानी का स्वतंत्र रूप नहीं थी। इन चार लेखकों के पहले कहानी-संग्रह भी 1941 और 1943 के बीच लगभग इकट्ठे ही प्रकाशित हुए—सुजान सिंह का *दुख सुख,* देवेंद्र सत्यार्थी का *कुंग पोष,* कर्तार सिंह दुग्गल का *सवेरसार* और संत सिंह सेखों का *समाचार।*

1857 के विद्रोह के बाद पूरा भारत अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में था। देसी रियासतें भी उनके अधीन थीं। रियासती प्रजा दोहरी ग़ुलामी भोग रही थी। उधर सारे भारतीय लेखकों में आज़ादी की तड़प और सामाजिक चेतना की आग प्रचंड रूप से जलने लगी थी। 1917 के रूसी इंकलाब ने भारतीय लेखकों पर भी गहरा प्रभाव डाला। विश्व स्तर पर पूँजीवाद के क़िले की नींव हिलने लगी। प्रगतिशील लेखकों को संगठित करने के लिए लंदन में पढ़ रहे सज्जाद ज़हीर, मुल्कराज आनंद और हीरेन मुखर्जी आदि नौजवान लेखकों ने 1935 में एक मेनीफ़ेस्टो तैयार किया, जिसके अनुसार प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और उसकी पहली कॉन्फ्रेंस अप्रैल 1936 में लखनऊ में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में हुई। इस कॉन्फ्रेंस का प्रभाव पंजाबी लेखकों पर भी पड़ा। फलस्वरूप पंजाबी लेखक भी प्रगतिशील लेखकों के रास्ते पर चलने लगे, जिनमें से संत सिंह सेखों जैसे लेखक प्रगतिवाद-मार्क्सवाद का असर ज़ाहिर तौर पर क़बूल रहे थे। पंजाबी कहानी में सुधारवाद और आदर्शवाद की जगह प्रगतिवादी विचार पेश होने लगे। कर्तार सिंह दुग्गल जैसे लेखकों ने प्रगतिवाद और फ्रायडवाद को अंतर्संबंधित कर लिया। 1947 से कुछ साल बाद पंजाबी कहानीकारों का एक बड़ा समूह सामने आया, जिनमें से ज़्यादातर लेखकों की सोच प्रगतिवादी थी। इन कहानीकारों के साथ-साथ चल रहे थे—संतोख सिंह धीर, कुलवंत सिंह विर्क, महेंद्र सिंह सरना, नवतेज सिंह, सुखबीर, अजीत कौर, दिलीप कौर टिवाणा, हरि सिंह दिलबर, जसवंत सिंह कंवल आदि। कुलवंत सिंह विर्क किसी राजनीतिक सोच से नहीं जुड़े हुए थे, पर वह मानववादी ज़रूर थे। वह मनुष्य के अंदरूनी सच को बाहर ले आने वाले रचनाकार थे। विद्वान पाठकों ने उनकी तुलना रूसी कहानीकार चेखव के साथ की है। कई अन्य कहानीकार भी चाहे किसी राजनीतिक प्रतिबद्धता से नहीं बँधे हुए थे फिर भी उनकी रचना का सुर प्रगतिवादी विचारधारा से जा मिलता था। ज़माने की हवा जो ऐसी थी। कुछ साल के बाद गुरदयाल सिंह, गुलजार सिंह संधु, गुरबचन सिंह भुल्लर, मोहन भंडारी और रामसरूप अणखी आदि कहानीकार भी पहले वालों में शामिल हो गए। गुरदयाल सिंह पहले कहानीकार थे जिसने गाँव के जीवन को, वहाँ के सभ्याचार को और मनुष्य की छिपी हुई रम्ज़ों का बड़ी गंभीरता और शिद्दत के साथ अध्ययन किया और अपनी कहानियों में बड़ी सरलता और संयम से धीमे मिज़ाज के साथ पेश किया। चाहे बाद में वह उपन्यासकार के तौर पर मशहूर हुए पर कहानी के क्षेत्र में भी उनका योगदान अमूल्य है। यही सुखबीर, टिवाणा और अणखी के बारे में कहा जा सकता है। जसवंत सिंह कंवल और अमृता प्रीतम कहानीकार के तौर पर ही उभरकर सामने आए थे, पर कंवल की प्रसिद्धि उपन्यासकार और अमृता की प्रसिद्धि कवयित्री के तौर पर ज़्यादा हुई।

अमृता प्रीतम पंजाबी की पहली स्त्री लेखिका हैं जिनका कहानी के अलावा उपन्यास, कविता, वार्ता और संपादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय

...दान है। अमृता प्रीतम के काफ़ी बाद कई ...स्त्री कहानीकार सामने आईं जिनमें दिलीप ...टिवाणा, अजीत कौर, चंदन नेगी, बचिंत ..., राजेंद्र कौर, शरन मक्कड़ और सुखवंत ...मान के नाम लिए जा सकते हैं। इनसे काफ़ी ...में रुपिंदर रश्मि, कुलबीर बडेसरों, मनमोहन ..., बलविंदर कौर बराड़, गुरचरन कौर थिंद ने ...अपना स्थान बनाया। विदेशों में इंग्लैंड से ...ना वर्मा, अमेरिका से परवेज संधु और ...रजीत कौर पन्नू और कनाडा से सुरजीत ...लसी, बलबीर कौर संघेड़ा, मिन्नी ग्रेवाल और ...नजीत कौर मोमी ने अपनी कहानियों में प्रवासी ...जाबी जीवन को पेश करके समूचे पंजाबी ...हित्य में विषय वस्तु और वृत्तांत के तौर पर ...ई पेशकश की। यह अत्यंत चिंताजनक तथ्य है कि पंजाबी में स्त्री कहानीकारों की संख्या चालीस से ज़्यादा नहीं, जबकि मर्द कहानीकार पाँच सौ से ज़्यादा होंगे। एक सौ से ज़्यादा कहानीकार तो ...री तरह स्थापित लेखक हैं। यह शायद औरतों की कोई घरेलू, निजी और सामाजिक सीमा या कोई मजबूरी ही होगी कि वे साहित्य के क्षेत्र में ...म मात्र ही आगे आ रही हैं।

चाहे विभाजन के दृश्य और उन दिनों में हिंदू ...मुसलमानों की भाईचारक साँझ के भावुक क़िस्से ...हों, नक्सलवादी लहर का प्रभाव हो, नौवें-दसवें ...दशक के दौरान काले दिनों की गाथा हो, छोटी ...किसानी के पतन का मसला हो या वैश्वीकरण के भयंकर परिणाम, समूची पंजाबी कहानी को ...इन काल-टुकड़ों में विभाजित करके नहीं परखा ...जा सकता। देखना यह होता है कि किस रचना ...ने वक़्त को कितना कलात्मक तरीक़े से और ...विवेकपूर्ण सलीक़े के साथ पेश किया। इसी ...तरह पंजाबी कहानी को भौगोलिक खानों में ...बाँटकर उसका मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। जैसे ...जम्मू-कश्मीर की कहानी, ग्रामीण कहानी और ...शहरी कहानी, प्रवासी कहानी। देखना यह चाहिए कि किसी लोक समूह या स्थान विशेष के मसलों को कैसे पेश किया गया है। पंजाबी कहानी अब केवल पंजाब क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह गई है बल्कि दुनिया के किसी भी कोने में जहाँ एक भी पंजाबी रह रहा है, वह वहाँ के परिवेश को पंजाबी कहानी में पेश कर रहा है और सारा ब्रह्मांड पंजाबी कहानी का क्षेत्र बन गया है। मर्द-औरत लेखकों का विभाजन भी ग़लत है। ज़िंदगी को जो भी पेश कर रहा है, औरत हो चाहे मर्द, वह बस लेखक है। आंदोलन वक़्ती उबाल होते हैं जिस दौरान फ़ैशन के तौर पर भी लिखा जाता है। साहित्य वही परवान चढ़ेगा जो चिरस्थायी साबित होगा, जो सचमुच शिद्दत से लिखा हुआ, विद्रोह पैदा करने वाला और भविष्योन्मुखी होगा।

बीसवीं सदी के आख़िरी ढाई-तीन दशकों के दौरान पंजाबी कहानी का चेहरा ही बदल गया। प्रगतिवाद का सुर मद्धम पड़ गया। जैसे कभी सुधारवाद और आदर्शवाद ख़त्म हो गया था। पंजाबी कहानी अधिक यथार्थवादी होने लगी। साहित्य चाहे आम ज़िंदगी से एक क़दम आगे रहता है, पर यह इच्छित यथार्थ आम जन-जीवन में से मन्फी नहीं किया जा सकता। अर्थात् चित्रित यथार्थ व्याप्त यथार्थ से कोई ज़्यादा आगे नहीं जाता। लेखक की कला इसी प्रयोजन में निहित है कि वह प्राप्त यथार्थ को इच्छित यथार्थ में पेश करता रहे। बीसवीं सदी के अंतिम दशकों की कहानी 'दिशा' और 'दशा' की क़हानी बन गई। इस कहानी का शाहसवार हमारे सामने आया वरयाम सिंह संधू, जो उम्र में चाहे छोटे थे पर समकालीन कहानीकारों में बड़े साबित हुए। वह लंबी कहानी लिखने की वजह से नहीं बल्कि कथा-शिल्प के कारण बड़ा कहानीकार था। उसने ग्रामीण किसानी को बड़ी शिद्दत से और विभिन्न पक्षों से विस्तृत रूप में पेश किया। यथार्थ बोध के अन्य कहानीकार बलदेव सिंह मोगा,

मेहर सिंह, लाल सिंह, अतरजीत, एस. साकी, नृपिंदर रतन, गुरचरन चाहल भीखी, गुरमेल मडाहड़, गुरपाल सिंह लिट, प्रेम गोरखी, नछत्तर दलबीर चेतन आदि भी सामने आए। इनमें से जसबीर भुल्लर और कृपाल कजाक का बिलकुल अलग स्थान है। वाक्य की योग्य बनावट और नफ़ीस पेशकारी में दोनों ही माहिर लेखक हैं। विषय का निर्वाह इनका प्रमुख गुण है। इनकी कहानियों में काव्यात्मकता और भावनाशीलता का गहरा पुट होता है। ये दोनों कहानीकार शब्दों से खेलते हैं। दोनों ने ही यादगार कहानियाँ लिखी हैं। जसबीर भुल्लर तो अपनी कहानियों में सैनिक जीवन पेश करने के कारण ही प्रमुख लेखक हैं। सबसे अलग हैं प्रेम प्रकाश। वह औरत-मर्द के वर्जित रिश्तों की कहानियाँ लिखते हैं। आमतौर पर उनके पात्र अधेड़ उम्र के होते हैं। उन जैसी कहानी वही लिख सकते हैं। कलात्मकता ऐसी कि वह अपनी रचना को कहीं भी अश्लील नहीं होने देते। उन्होंने 'डेडलाइन' जैसी उच्च स्तर की कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कई कहानियों को अखिल भारतीय स्तर पर रखा जा सकता है।

पंजाबी कहानी ही नहीं, समूचे पंजाबी साहित्य के लिए बीसवीं सदी का अंतिम दशक बहुत महत्त्वपूर्ण था। नौवाँ दशक पंजाब का संकट काल था। इस समय के दौरान मनुष्य को मनुष्य नहीं पहचानता था। अच्छे-भले बस रहे पंजाबी अपनी महान विरासत और सभ्याचार भूलकर सिर्फ़ हिंदू-सिख बनकर रह गए थे। बस क़त्ल हो रहे थे, दिन के उजाले में भी और रात के अँधेरे में भी। वास्तव में पंजाब के लिए नौवाँ दशक एक घोर काली लंबी रात थी। कोई बोलता तो क़त्ल हो जाता, कोई न भी बोलता तो भी क़त्ल हो जाता। कोई दाद-फ़रियाद नहीं थी। पंजाब की जवानी तबाह हो रही थी। पंजाबीयत तबाह हो रही थी। लिखने की आज़ादी तो थी, पर कोई लेखक लिखता नहीं था। कोई लिखता भी था तो सच नहीं लिखता था। असल में किसी को पता भी नहीं था कि सच क्या है। दो-चार उदाहरणों के अलावा पंजाबी लेखक चाहे फिरकों में नहीं बँट पाए थे, पर वे क्या लिखें, उन्हें पता नहीं था। आज का लिखा हुआ कल को ही ग़लत सिद्ध हो जाता। उसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रह जाता था। पंजाब का लेखक दुविधा में था। एक तरफ़ सरकार का डर, दूसरी ओर उनका डर, जिन्हें मौत की कोई परवाह न थी।

और फिर काले बादल छँटने लगे, अंतिम दशक शुरू होने तक पंजाब संकट आख़िरी साँसें लेने लगा। भय की परछाइयाँ हटने लगीं। आसमान साफ़ हो गया। सूरज निडर होकर चमकने लगा। क़लमें काँपनी बंद हो गईं। इस दशक के शुरू के सालों में ही पंजाबी लेखक सत्य की थाह पाने लगा। जिसने जो खोजा, वह लिखा। पर सच यह भी था कि सच किसी के भी पल्ले न पड़ा।

पंजाब संकट की बात न भी करें तो बीसवीं सदी का अंतिम दशक इसलिए भी विचारणीय है कि यहाँ तक पहुँचते हुए न तो पंजाबी कहानी में आठवें दशक के प्रगतिवाद की बची-खुची सोच क़ायम रही और न ही नौवें दशक के अनिश्चित निष्कर्ष। हर तरफ़ ज़िंदगी का यथार्थ चित्रण होने लगा। पंजाबी क़लमें किसी बंदिश की मोहताज न रही थीं। पंजाबी लेखक खुली आँख से ज़िंदगी को परखने और पेश करने लगा।

ख़ास करके पंजाबी कहानी के लिए पिछले दशक की प्राप्ति वर्णनीय है। इस दशक के दौरान पंजाबी कहानीकारों की एक नई फ़सल सामने आई। इन्होंने प्रेम प्रकाश और वरयाम सिंह संधू से आगे की कहानियाँ लिखीं। इनकी कहानियों के विषय अछूते, कथानक नए-नए, वृत्तांत विधि अनोखी, भाषा की ताज़गी, कहानी का स्पष्ट और सरल निर्वाह, कुछेक ख़ास विशेषताएँ थीं। इन कहानीकारों की कहानियाँ पढ़कर आप बहुत

...के कहानीकारों की कहानियाँ नहीं पढ़ ... उनकी माँजी-तराशी भाषा, पात्रों के बासी ...ताप, घिसे-पिटे थीम और नीरस ...त्मक अंत आपके ताज़ा पाठक मन को ... भी आकर्षित नहीं कर पाएँगे। नए ...कारों में अजमेर सिद्धू, बलविंदर सिंह ..., सुखजीत, केसरा राम, तलविंदर सिंह, ... बलबीर परवाना, बलदेव सिंह ढिंडसा, ...ंदर सिंह, जसवीर सिंह राणा, जतिंदर सिंह ... गुरमीत कड़ियालवी, भोला सिंह संघेड़ा, ... सिंह चौहान और भगवंत रसूलपुरी आदि ... थे। इन सभी के एक-एक, दो-दो कहानी ... प्रकाशित हो चुके थे।

...ज़्यादातर लेखक घिसट-घिसटकर स्थापित ... हैं। साहित्य में स्थापित होने का वैसे भी ... शॉर्ट कट नहीं होता। पर कुछ होते हैं जो ... हैं और बस आते ही छा जाते हैं। बीसवीं ... के आख़िरी दशक में पंजाबी कहानी के ...चमत्कार सामने आए। एक थे मनमोहन ...। चाहे उनके दो कहानी-संग्रह कई दशक ... छप चुके थे, पर उसे कहानीकार के तौर ... कोई नहीं जानता था। 1996 में जब *अजात* ... कहानी-संग्रह छपा तो बावा अचानक ... हो गए। वह हज़ारों साल पहले के भारतीय ... को लेकर कहानियाँ लिखते हैं। उनकी ... इतनी सजीव है कि पाठक जैसे सदियों ... संसार में विचर रहा होता है। उनकी ...यों में उस समय का समाज, सभ्याचार ... इतिहास पुनर्जीवित हो उठता है। कमाल ... उनकी इस क़िस्म की कहानी वर्तमान ... को भी कोई संदेश दे जाती है। कहानी का ... वर्तमान जीवन मूल्यों से टकराने लगता ...कार यह भी कि *अजात सुंदरी* छपने के ... मनमोहन बावा की उम्र 64-65 साल थी। ...ड़ा, ज़िला मानसा में जन्मी, पली और ... बसी वीना वर्मा भी एक चमत्कार थीं। उनकी कहानियाँ साउथ हॉल के *देस परदेस* साप्ताहिक में छपती थीं, जिनकी जानकारी इधर कम ही थी। पर जब उनका पहला कहानी-संग्रह *मुल्ल दी तीवीं* 1992 में छपकर सामने आया तो पंजाबी साहित्य में दूर-दूर तक वीना वर्मा, वीना वर्मा होने लगी। वह औरत मर्द के नाजायज़ संबंधों के बारे में लिखती थीं। परदेस में बस रही पंजाबी औरत की कष्टों भरी ज़िंदगी के बारे में उनकी कहानियों में सेक्स पीछे रह जाता और ज़िंदगी का कोई असल मुद्दा सामने आ खड़ा होता। पीड़ित पात्र के साथ पाठक की हमदर्दी जागने लगती। यही वीना वर्मा का कमाल था। उनकी बेझिझक और स्पष्ट बयानी ने उनकी कहानियों को पाठकीय चिरस्थायीत्व प्रदान किया। कला और वस्तु के लिहाज़ से वह पहले की किसी भी पंजाबी लेखिका से आगे थी।

पंजाबी कहानी में प्रवासी कहानीकारों का बहुत योगदान है। 1960 के आसपास जब ये लोग बाहर गए तो इनका मक़सद था कि ये वहाँ से पौंड, डॉलरों की गठरियाँ बाँधकर अपने ठिकानों को लौट आएँगे और ऐश की ज़िंदगी व्यतीत करेंगे। वहाँ जाकर उन्हें अपने खेत याद आते, गाँव की चौपाल, सगे-संबंधी याद आते मेहनत-मशक़्क़त करते हुए, वे अपने वतन की मिट्टी को तरसते। उनकी पहली कहानियों में हू-हेरवा था। फिर वे वहाँ बस गए और आदमी जहाँ का अन्न खाता है वही उसका देश बन जाता है। उसके बाद अपने परिवार को भी उधर ही ले गए। इधर से साथ गए बच्चे या उधर जाने के बाद पैदा हुई औलाद, उनके अजीब मसले, सभ्याचार संकट, काले गोरे की आपसी खींचतान, अनेकों समस्याएँ सामने आने लगी तो वे इस नई प्रवासी ज़िंदगी को पेश करने लगे। प्रवासी पंजाबी जीवन की यह प्रस्तुति समूचे पंजाबी साहित्य में एक नया आयाम थी। ऐसा साहित्य इधर के पाठकों को हैरान भी करता था। इंग्लैंड के रघुबीर

ढंड, तरसेम नीलगिरी, स्वरन चंदन, दर्शन सिंह धीर, गुरनाम गिल, हरजीत अटवाल, बलदेव सिंह लंडन, गुरदयाल सिंह राय, संतोख धालीवाल, कनाडा के जरनैल सिंह, अमनपाल सारा, अवतार गिल, कुलजीत मान, रवींद्र रवि, इक़बाल अरपन, मेजर मांगट, हरप्रीत सेखा, जरनैल सिंह सेखा, जरनैल सिंह गरचा और अमेरिका के जगजीत बराड़, गुरप्रीत धालीवाल, करम सिंह मान, प्रेम सिंह मान, प्रो. हरभजन सिंह आदि कुछ प्रमुख नाम हैं।

पंजाबी में हिंदी की तरह अकहानी, समानांतर कहानी, सचेतन कहानी, अब्सर्ड कहानी, फ़ैंटेसी कहानी या कोई और कहानी आंदोलन कभी नहीं चला। हाँ, 'कहानी का असली रूप कहानी' का मूल सिद्धांत प्रारंभ से ही बना रहा है। जिस कहानी में कथा रस नहीं और जिसे पढ़ने के बाद कोई कथा बोध उत्पन्न न हो, वह कहानी नहीं कहलवा सकती, कोई और रूप चाहे हो। दुनिया भर में तीन तथ्यों के कारण कहानियाँ सदा-सदा के लिए ज़िंदा रहती हैं। पहली बात कि कहानी में कोई कहानी ज़रूर हो। कहानी का कथा तत्त्व ही पाठकों या श्रोताओं को बाँधे रख सकता है। कहानी तत्त्व बलवान हो तो कहानी चाहे कितनी भी लंबी क्यों न हो, सारी रात बैठकर पढ़ी-सुनी जा सकती है। केवल चुस्त फ़िक़रेबाज़ी या दिलचस्प दृश्य वर्णन ही कहानी को पार नहीं लगाते। दूसरा तथ्य है कहानी के मुद्दे का। मुद्दा ही कहानी की जान होता है। जिस कहानी में मुद्दा ही कोई नहीं वह कहानी बेकार साबित होगी। उत्सुकता—भड़काने वाली चालाकियाँ भी किसी काम नहीं आतीं। तीसरा तथ्य पात्र का अद्वितीय होना भी है। उस पात्र जैसा दुनिया में दूसरा और कहीं न हो। ऐसे अनोखे और विलक्षण पात्र हमेशा याद रहते हैं। प्रायः ऐसे पात्र आम ज़िंदगी में कहीं होते भी नहीं, पर साहित्य में वे पैदा हो जाते हैं। साहित्य वही नहीं होता जैसी ज़िंदगी है। साहित्य हमेशा ज़िंदगी से आगे चलता है। सो ऐसे अद्भुत पात्र ज़िंदगी से ज़रा हट कर या आगे होने की वजह से भावुक आकर्षण पाते हैं। पंजाबी साहित्य में इन तीनों तथ्यों वाली कहानियों की कोई कमी नहीं है।

कुछ आलोचक और लेखक ख़ुद भी पंजाबी कहानी को पीढ़ियों में बाँटने बैठ जाते हैं। एक बात तो साफ़ है कि उम्र कम या ज़्यादा होने से लेखक का साहित्यिक स्तर नहीं नापा जा सकता। कई बार ऐसा भी होता है कि बड़ी उम्र का लेखक कला और शिल्प के तौर पर अच्छी कहानियाँ लिख रहा होता है, जबकि उससे कम उम्र का कोई नया लेखक बेकार कहानियाँ लिखता है। एक ही उम्र के नए लेखकों में से एक लेखक कमाल किए जा रहा होता है जबकि दूसरा पचास साल पहले की कहानी लिख रहा होता है। वरयाम सिंह संधू अपने से दस-पंद्रह साल पहले पैदा हुए कहानीकारों को पीछे छोड़ गए थे। वीना वर्मा तीस-पैंतीस साल की उम्र में ही अपने से बीस-बीस साल बड़ी लेखिकाओं से ज़्यादा अच्छी कहानियाँ लिखने लगी थीं। करतार सिंह दुग्गल और संतोख सिंह धीर बीसवीं सदी के अंत तक नए लेखकों के मुक़ाबले अनूठा भाव बोध पैदा करने वाली कहानियाँ लिखते रहे। सो पंजाबी कहानी में पीढ़ी विभाजन निराधार है।

नई पंजाबी कहानी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। यह किसी भी भारतीय भाषा की कहानी के बराबर पाँव जमाए खड़ी है। पंजाबी कहानी अनुवाद होकर अन्य भारतीय भाषाओं में भी बड़ी तेज़ी से जा रही है और नाम कमा रही है। भारतीय स्तर पर पंजाबी कहानी की एक अलग और गौरवशाली पहचान है।

समय बीतने के साथ-साथ मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र, सौंदर्य बोध और संवेदनशीलता में काफ़ी कुछ नया जुड़ता रहता है। यह मान लेना चाहिए

के 20-30 साल पहले पंजाबी कहानी का जो था उससे आज की पंजाबी कहानी का स्वरूप अलग है या यह भी कह सकते हैं कि पंजाबी कहानी पहले की अपेक्षा आगे बढ़ गई पर यह बात हजम होने वाली नहीं कि पंजाबी कहानी में कई पीढ़ियाँ पैदा हो गई हैं और आज की कहानी पहले की कहानी से बहुत ज़्यादा आगे निकल गई है।

पहले की अपेक्षा पंजाबी कहानी का शब्द-भंडार बहुत बढ़ गया है। विषयों की बहुतायत है। तकनीकी तजुर्बे हुए हैं। सामाजिक हदबंदियाँ तोड़ती हुई कहानियाँ लिखी गई हैं। काफ़ी कुछ नया जुड़ा है। पर पंजाबी कहानी की साहित्यिक गति इतनी तीक्ष्ण नहीं जितना इसे समझा और प्रचारित किया जाता है। हमारे शुरू के कहानीकारों से पंजाबी कहानी कुछ क़दम ही आगे बढ़ी है। जितनी भी आगे गई है उसकी तारीफ़ की जानी चाहिए। पर ऐसा कुछ बिलकुल नहीं हुआ जैसे कि अचानक पंजाबी कहानी की कड़ाही में कोई उबाल आ गया हो।

पंजाबी कहानी जगत में कभी-कभी बात के गलत अर्थ भी निकाले जाते रहे हैं। कर्तार सिंह दुग्गल के अलावा हमारे कई पुराने कहानीकारों ने वक़्त से पहले ही लिखना छोड़ दिया। जैसे संत सिंह सेखों, सुजान सिंह, कुलवंत सिंह विर्क अपनी पिछली उम्र में कभी-कभी ही कहानी लिखते थे या कई साल तक कोई कहानी लिखते ही नहीं थे। तब के नए कहानीकारों ने इसका यह अर्थ निकाला कि इन पुराने कहानीकारों के दिन ख़त्म हो गए हैं, अब नए कहानीकारों के लिए मैदान ख़ाली है। सुजान सिंह पंजाबी कहानी के बड़ा स्तंभ थे। जब उन्होंने कहानी लिखनी छोड़ दी तो कई जगहों पर उन्होंने यह भी कह दिया कि जहाँ पहुँचाकर मैंने कहानी लिखनी छोड़ी थी, फलाँ कहानीकार ने वहाँ से कहानी शुरू की है। ऐसे बयान के कारण उस कहानीकार में हवा भर जाती और वह वहीं रह जाता। उसके लिए यह बहुत बड़ा सर्टीफ़िकेट था कि जहाँ सुजान सिंह ने छोड़ा, वह वहाँ से शुरू हुआ है। दूसरे शब्दों में वह सुजान सिंह का शिखर है। जबकि बड़े लेखक द्वारा नए लेखक को यह सिर्फ़ एक आशीर्वाद ही था।

वरयाम सिंह संधू और प्रेम प्रकाश दोनों हमारे प्रतिभाशाली कहानीकार हैं। यह तथ्य विद्वानों, आलोचकों और पाठकों द्वारा काफ़ी हद तक मान लिया गया है। वरयाम सिंह संधू ने लंबी कहानी लिखकर विषय की गहराई तक जाकर स्थिति को बहुत नज़दीक से परखने का यत्न किया है। चाहे उसने पहले बहुत छोटी-छोटी कहानियाँ भी लिखी थीं पर लंबी कहानी को उसने हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया। लंबी कहानी पंजाबी कहानी के रूपक को भी तोड़ती थी। लंबी कहानी में पूरी गुंजाइश रहती है कि लेखक खुलकर अपनी थीम पेश कर सके। ऐसा करने से कहानी की कई और परतें खुलने की संभावना बनी रहती है। वरयाम सिंह संधू ने अपनी कहानी में समूची पंजाबी कहानी को वह सब दिया जो उनसे पहले के लेखक या उनके समकालीन लेखक दे तो सके थे पर बहुत कम। अब संधू तो परवान चढ़ गए। पर उनके कुछ समकालीन और नए लेखकों ने नए अर्थ निकाल लिए कि लंबी कहानी लिखने से ही कोई कहानीकार के तौर पर स्थापित हो सकता है। जैसे कभी क़िस्साकारों में पक्का विश्वास था कि 'हीर' लिखने से ही कोई क़िस्साकार बन सकता है। लंबी कहानी हथियार तो है, पर बरतने वाला भी तो प्रवीण हो। वरना पानी मथने से कुछ नहीं निकलता। एक जैसे ही वाक्य पर वाक्य की तहें लगाते जाना कहाँ की हुनरमंदी है। बात तो तब और भी आगे चली जाती है जब कोई कहता है कि वरयाम सिंह संधू से पहले तो उन्होंने लंबी कहानियाँ लिखी थीं।

ऐसे ही प्रेम प्रकाश के बारे में कहेंगे। उन्होंने वर्जित रिश्तों की बात चलाई। सेक्स के वृत्तांत भी जुड़ गए। इस तरह नए ढंग और बेबाकी से प्रेम प्रकाश ने कहानी लिखनी शुरू की। अल्हड़ उम्र के लड़के लड़की के कच्चे रोमांस से आगे जाकर उन्होंने प्रौढ़ उम्र के व्यक्तियों के नाजायज़ संबंधों का यथार्थ चित्रण किया। पर इसका यह अर्थ निकाला गया कि लेखक तभी जल्दी परवान चढ़ सकता है यदि वह अपनी कहानियों में सेक्स का नंगा वर्णन करे। कुछ नए लेखक ऐसा करने भी लगे। सआदत हसन मंटो का भी कभी ऐसा ही प्रभाव लिया गया था, जबकि उन कहानियों में समाजिक क्षोभ मुख्य रहता है, सेक्स तो एक वसीला बनकर बहुत पीछे रह जाता है।

इंसानी ज़िंदगी में सिर्फ़ सेक्स ही प्रधान नहीं है, दुख-सुख और भी बहुत हैं। पर हुआ यह कि आज की कहानी में अब जानवरों की संभोग क्रिया का वर्णन भी आने लगा है। लेखक के लिए यह ग़लत रास्ता है। कहानी के सामाजिक या आर्थिक बहाव में सेक्स की प्रासंगिक दख़ल ही काफ़ी होती है।

अच्छे नए कहानीकारों, जो गिनती में कम हैं, के पास नई भाषा और शैली का तीखा इस्तेमाल है। अछूते विषय हैं। अंदरली बातें उनकी क़लमों से पन्नों पर उतरने लगी हैं। यह एक शुभ शगुन है। कभी-कभी तो नए कहानीकार की रचना पढ़कर हैरान रह जाते हैं। इतना तीक्ष्ण अहसास! ये कहानीकार पहले वालों की अंधाधुंध नक़ल नहीं करते। निश्चय ही पंजाबी कहानीकारों की यह नई पनीरी एक दिन पंजाबी कहानी की लहलहाती फ़सल बनकर उभरेगी।

पीढ़ियों के फ़र्क़ की बात का काफ़ी प्रचार किया जा रहा है। यह धारणा ठीक नहीं कि पुराने कहानीकार जो अभी भी लिख रहे हैं, कमाल की कहानी कोई लिख ही नहीं सकते। या नए कहानीकार जो लिखेंगे, बहुत अच्छा लिखेंगे। कुलवंत सिंह विर्क ने, जो अंतिम दिनों में लिखना बिलकुल छोड़ ही चुके थे, आख़िर में पाँच-सात कमाल की कहानियाँ लिखीं। लेखकों की उम्र के हिसाब से पीढ़ियाँ नहीं बनतीं, पंजाबी कहानी की अपनी उम्र क़े अनुसार पीढ़ियों का दर्जा वाजिब है।

आख़िरी बात, पंजाबी कहानी का विश्व स्तर भी क्या तय किया जा सकता है? कहानी का अपना विश्व स्तर भी क्या है, जहाँ पंजाबी कहानी कहीं फिट बैठती हो? कहते हैं, कई मुल्कों की कई भाषाओं की कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें भारत की दो कहानियों में से एक पंजाबी की थी। यह कहानी कहीं छपने के साथ ही क्या पंजाबी कहानी विश्व स्तर की चोटी पर जा बैठी? पंजाबी कहानी ने कोई ओ. हेनरी, बाल्ज़ाक, टॉलस्टॉय, मोपासां या फिर प्रेमचंद ही पैदा किया हो? हाँ, व्यापक मानवीय पीड़ा के अहसास की कहानियाँ या अजीब पात्रों की कहानियाँ पंजाबी में ज़रूर लिखी गई हैं, जिन्हें किसी भी भाषा में अनुवाद किया जाए तो उस भाषा के पाठकों को वह कहानी उनकी अपनी कहानी महसूस होगी। ऐसी पंजाबी कहानियों का चुनाव कोई विद्वान पारखी ही कर सकता है। तब ये कहानियाँ दुनिया की प्रमुख भाषाओं, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, चीनी, जर्मन आदि में अनुवाद की जाएँ और विश्व स्तर पर उनका मूल्यांकन हो।

रामवचन राय

प्रयोगवाद और हिंदी आलोचना का विकास

हिंदी में 'प्रयोगवाद' का आरंभ सन् 1943 में *तारसप्तक* के प्रकाशन से माना जाता है। वैसे इस धारा की कविताएँ छुटपुट रूप में पहले भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं; किंतु इनका समवेत स्वर *तारसप्तक* में ही मुखरित हुआ। इसलिए निकाय-विशिष्ट अर्थ में *तारसप्तक* को ही 'प्रयोगवाद' का प्रस्थान-बिंदु माना जाता है। प्रयोगवादी कवि किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं थे, सभी राही थे, बल्कि राही नहीं, राहों के अन्वेषी। कविता की नई राह खोजने की ज़रूरत उन्हें इसलिए महसूस हुई कि पुरानी राहों पर इतने लोगों के चलने के निशान थे कि इनके पैरों की छाप उन पर पहचानी नहीं जा सकती थी। तारसप्तक के संकलनकर्ता और संपादक अज्ञेय का यही तर्क था। इसमें दो राय नहीं कि इन कवियों ने अपनी अलग पहचान बनाई; भले ही किन्हीं 'आचार्यश्री की कृपा-दृष्टि' इन पर नहीं गई। इस खोज में एक दूसरा बड़ा काम आलोचना के क्षेत्र में भी इन्होंने किया कि रचना और आलोचना के टकराव को काम करने की कोशिश की।

यह एक विदित तथ्य है कि रचना का आलोचना के साथ आधार-आधेय भाव-संबंध है। दुनिया के साहित्य का इतिहास इसका प्रमाण है कि पहले रचना सामने आई, फिर उसके विवेचन-विश्लेषण की प्रक्रिया शुरू हुई और तब मूल्यांकन का मानदंड निर्धारित हुआ। रचना और आलोचना के आधार-आधेय संबंध को इसी रूप में परिभाषित किया जाता रहा है। किंतु दोनों की परस्परता को प्रतिस्पर्धा का रूप देकर श्रेष्ठता की तुला पर रखने के कारण साहित्य जगत में एक अप्रिय विवाद का जन्म हुआ। रचनाकार आलोचना को दोयम दर्जे का काम समझने लगा। मैथ्यू ऑर्नल्ड जैसे आलोचक ने अपने एक आलेख 'दि फ़ंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म ऐट दि प्रेजेंट टाइम' में मान लिया कि रचना की तुलना में आलोचना कमतर दर्जे का काम है (दि क्रिटिकल पावर इज़ ऑफ़ लोअर रैंक दैन दि क्रिएटिव)। ऑर्नल्ड स्वयं कविताएँ लिखते थे; लेकिन 1851 में अट्ठाइस साल की उम्र में स्कूल

...कवि एवं आलोचक ...राय का जन्म 1943 ...हुआ। इनकी लगभग दस ...प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : ...138, बहादुरपुर हाउसिंग ...नी, भूतनाथ रोड, पटना ...020 (बिहार) ...: 0612-2351435

इंस्पेक्टर बनने के बाद कविता से विदा लेकर आलोचना को उन्होंने अपना जीवन-व्यापार बना लिया। फिर 1857 से 1867 तक वे ऑक्सफ़ोर्ड में कविता के प्रोफ़ेसर रहे। सर वाल्टर रेले ने मैथ्यू ऑर्नल्ड के बारे में लिखते हुए बहुत पीड़ा के साथ कहा है कि ऑर्नल्ड के आलोचक ने उनके कवि की हत्या कर दी, वह भी युवा-काल में। (दि क्रिटिक इन मैथ्यू ऑर्नल्ड कील्ड दि पोएट, एंड कील्ड हिम यंग)।

कुछ प्रयोगवादी कवियों के साथ भी ऐसी दुर्घटना हुई। रामविलास शर्मा और नेमिचंद्र जैन इसके उदाहरण हैं। लेकिन प्रयोगवादी कविता का सबसे बड़ा योगदान लेखक और आलोचक के बीच की खाई को पाटने में है। अधिकांश प्रयोगवादी कवियों ने स्वयं आलोचक की भूमिका भी निभाई। यह सुअवसर न तो छायावाद को मिला और न प्रगतिवाद को। छायावाद को शांतिप्रिय द्विवेदी और नंददुलारे वाजपेयी की तलाश करनी पड़ी और प्रगतिवाद को रामविलास शर्मा और प्रकाशचंद्र गुप्त की। परंतु प्रयोगवादी कवि स्वयं अपनी कविता के वकील थे। इसके बावजूद सप्तकों तक तो संपादक ने ख़ुद को भी महाधिवक्ता की भूमिका में रखा था। बीस साल के अंतराल के बाद प्रकाशित 'चौथासप्तक' के कवियों का वकालतनामा उन्होंने स्वीकार नहीं किया, यह मानते हुए कि उन्हें अपना मुक़दमा ख़ुद लड़ना चाहिए। प्रयोगवादी कवियों की इस दोहरी भूमिका ने हिंदी आलोचना के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया। अधिकांश प्रयोगवादी कवियों में काव्य-संवेदन के साथ-साथ प्रचुर बौद्धिक क्षमता थी, जिसका उपयोग उन्होंने काव्य-विवेचन में किया और नई आलोचना का स्वरूप निर्धारित हुआ। उनके समक्ष अंग्रेज़ी के एजरा पाउंड और टी.एस.एलिअट जैसे कवियों का उदाहरण था, जिन्होंने काव्य-रचना के अलावा मूल्यांकन का निकष भी तैयार किया था। साहित्य में एक प्रकार से यह रचनात्मक आलोचना (क्रिएटिव क्रिटिसिज़्म) का सूत्रपात था। हिंदी के प्रयोगवादी कवियों ने भी यह भूमिका बख़ूबी निभाई। प्रयोगवादी काव्य, जिसका विस्तार नई कविता के रूप में हुआ, उसके विवेचन और मूल्यांकन का शास्त्र भी इस दौर में रचा गया। अज्ञेय जो हिंदी में टी.एस. एलिअट के समान-धर्मा माने जाते रहे, उन्होंने *आत्मनेपद* में सर्जनात्मक आलोचना की आधारशिला रखी।

चौथे-पाँचवें दशक में ही प्रयोगवादी कविता की दूसरी धारा *प्रपद्यवाद* के नाम से नलिन विलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रवाहित हो रही थी। इस धारा के कवियों ने भी स्वीकार किया कि 'प्रयोगवाद' दृष्टिकोण का अनुसंधान है। 'अन्वेषण' और 'अनुसंधान' की प्रक्रिया ने ही आलोचना के नए क्षितिज का संधान किया; जिसमें रचना और आलोचना के बीच की खाई पटती नज़र आई। नलिन विलोचन शर्मा ने यहाँ तक कहा कि आलोचना भी एक तरह से रचना ही है; पुनर्रचना (रिक्रिएशन)। इस पूरे दौर में रचना और आलोचना को लेकर एक ऐसी सोच और समझ विकसित हुई कि दोनों के बीच का पुराना झगड़ा लगभग समाप्त हो गया। प्रयोगवादी दौर की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह कवि पर नहीं, बल्कि कविता पर केंद्रित थी। यहाँ तक कि किसी कवि विशेष पर लिखते हुए भी उस समय की पूरी कविता-धारा और उसके विविध परिदृश्य को दृष्टि-पथ में रखकर विवेचन किया जाने लगा; जिससे आलोचना का फलक विस्तृत हुआ। टी.एस. एलिअट की स्थापना थी कि ईमानदार आलोचना और संवेदनशील परिशंसन को कवि पर नहीं, बल्कि कविता पर केंद्रित होना चाहिए (ऑनेस्ट क्रिटिसिज़्म एंड सेंसिटिव एप्रीसिएशन इज़ डायरेक्टेड नॉट अपॉन दि पोएट, बट अपॉन दि पोएट्री)। इस क्रम में जॉन ड्राइडेन को पुन-
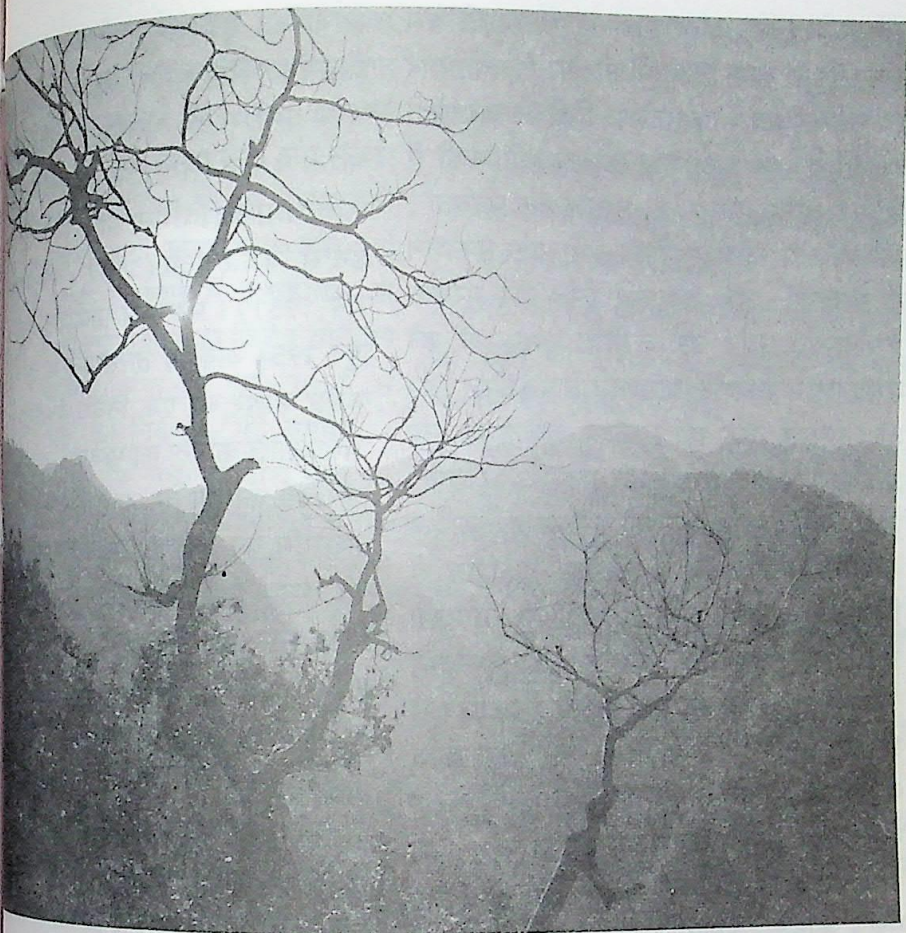
...कित कर एलिअट ने उन्हें मुख्य धारा का ...पित किया; जबकि मैथ्यू ऑर्नल्ड ने ...र पर डाल दिया था। प्रयोगवादी काल की ...चना में इस दृष्टिकोण का विन्यास मिलता ...र इसके सबसे प्रमुख प्रवक्ता अज्ञेय हैं। ...ने भी 'स्मृति लेखा' में मैथिलीशरण गुप्त ...ना काव्य-गुरु कहकर उनके पुनर्मूल्यांकन ...रत की ओर इशारा किया, जिन्हें ...कों ने सरल और हल्का कवि कहकर ...र पर ढकेल दिया था।

...तरह इस दौर की आलोचना के विकास ...कवियों की भूमिका थी जो कविता- ...के साथ-साथ कविता-विमर्श भी कर ...और आलोचना के माध्यम से अपनी ...रख रहे थे। इनमें सप्तक-परंपरा के अलावा अनेक प्रमुख सप्तकेत्तर कवि भी थे। सप्तक कवियों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, रामविलास शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही आदि अनेक नाम हैं, जिन्होंने अपनी आलोचनाओं और टिप्पणियों द्वारा इस नई काव्य धारा का प्रतिमान निरूपित किया और इसके मूल्यांकन का निकष तैयार किया। दूसरी तरफ़ सप्तक-परंपरा से अलग बालकृष्ण राव, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, नंद चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, अजित कुमार, प्रयाग शुक्ल, परमानंद श्रीवास्तव आदि अनेक ऐसे कवि थे जिन्होंने इस दौर की आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लक्ष्मीकांत वर्मा की आलोचना पुस्तक

नई कविता के प्रतिमान 1959 में भारती प्रेस प्रयाग से छपकर निकली और इसने प्रयोगवाद एवं नई कविता का व्यवस्थित विवेचन कर हिंदी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। इसी कड़ी में गिरिजा कुमार माथुर की पुस्तक *नई कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ* 1966 में अक्षर प्रकाशन से निकली। डॉ. शंभुनाथ सिंह की पुस्तक *प्रयोगवाद और नई कविता* 1966 में ही समकालीन प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित हुई। डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक *कविता के नए प्रतिमान* 1968 में राजकमल प्रकाशन से छपी। डॉ. परमानंद श्रीवास्तव की पुस्तक *नई कविता का परिप्रेक्ष्य* 1968 में नीलाभ प्रकाशन से निकली। नई कविता के संपादक डॉ. जगदीश गुप्त की पुस्तक *नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ* 1969 में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से छपकर आई। इनके अतिरिक्त भी अनेक कवि थे जिन्होंने कविता-विमर्श में हिस्सा लेकर समकालीन आलोचना को समृद्ध किया।

दूसरी तरफ़ ऐसे आलोचक थे, जिनका प्रत्यक्ष संबंध कविता-लेखन से नहीं, आलोचना-कर्म से था। प्रयोगवादी कविता और नई कविता इस दृष्टि से भाग्यशाली थी कि उसे अनायास एक साथ अनेक संवेदनशील प्रखर आलोचकों का साथ मिला जो पूर्ववर्ती काव्यांदोलनों के लिए प्रायः दुर्लभ था। डॉ. रघुवंश, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त, डॉ. नामवर सिंह जैसे आलोचकों ने प्रयोगवादी काव्य को स्वीकृति दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभाई ही; साहित्य के नए परिप्रेक्ष्य में कविता के नए प्रतिमान प्रस्तुत कर हिंदी आलोचना को नई दिशा दी।

इस संदर्भ में पत्र-पत्रिकाओं ने भी ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अज्ञेय के संपादन में *प्रतीक* का प्रकाशन हो रहा था, जिससे प्रयोगवादी काव्यांदोलन को बड़ा बल मिला। 1951 में *प्रतीक* की ओर से 'प्रयोगशील कविता' पर एक परिचर्चा आयोजित हुई थी, जिसमें सुमित्रानंदन पंत, शिवमंगल सिंह सुमन, उपेंद्र नाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, स.ही. वात्स्यायन अज्ञेय और धर्मवीर भारती ने भाग लिया। इस परिचर्चा में प्रयोगवादी काव्यधारा के विभिन्न पक्षों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार हुआ (*प्रतीक* : वर्ष-3 संख्या-5, जून 1951)। पटना से प्रकाशित *अवंतिका* के जून 1954 अंक में *तारसप्तक* के कवि गिरिजा कुमार माथुर का एक निबंध प्रकाशित हुआ– 'प्रयोगशील कविता का भविष्य'। इसमें प्रयोगवाद और नई कविता के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए उसके भविष्य की संभावनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया था। हैदराबाद से प्रकाशित *कल्पना* वर्ष-5, अंक-8, अगस्त 1954 में विष्णु स्वरूप का आलेख प्रकाशित हुआ—'प्रयोगवाद का स्वरूप'। लेखक ने प्रयोगवादी कविता के लिए नई कविता की संज्ञा का समर्थन किया। *कल्पना* के कई अंकों में एक नियोजित निबंधमाला के रूप में बालकृष्ण राव ने नई कविता का विशद विवेचन किया और उसे आधुनिक मूल्य-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। *कल्पना* में ही डॉ. रघुवंश का दो क़िस्तों में एक निबंध प्रकाशित हुआ—'नई कविता की समसामयिक भावभूमि' (*कल्पना* : वर्ष-9, अंक-10, अक्तूबर 1958 तथा वर्ष-9, अंक-11, नवंबर 1958)। इसमें बदलते परिवेश के अंतर्गत नई कविता की मूल्य-दृष्टि पर विचार करते हुए इसके नूतन भावबोध को रेखांकित किया गया। *कल्पना* में ही नित्यानंद तिवारी का लेख छपा—'आज का सामाजिक संस्कार और नई कविता' (वर्ष-12, अंक-6, जुलाई 1961)। लेखक ने परंपरागत काव्य-रुचि और नए भावबोध की समस्या पर विचार करते हुए नई कविता के लिए नई मूल्य-दृष्टि के विकास की आवश्यकता पर बल दिया।

इसी प्रकार *आलोचना* के अंक-32, अक्तूबर ... में गोविंद रजनीश का लेख प्रकाशित ...–'यौन परिकल्पनाएँ और हिंदी की नई ...'। इसमें कविता में व्यक्त कुंठा और संत्रास ... मनोवैज्ञानिक स्थिति पर विचार किया गया ... वस्तुतः प्रयोगवादी काव्यधारा और नई ...ना को प्रतिष्ठित करने में इलाहाबाद से ...शित *नई कविता* पत्रिका का विशेष योगदान ...। *नई कविता,* अंक-2, वर्ष-1955 में ...कांत वर्मा का निबंध—'नई कविता : ...वैज्ञानिक पृष्ठभूमि' तथा जगदीश गुप्त का ...ई कविता : नया संतुलन' प्रकाशित हुआ। ...तरह *नई कविता,* अंक-4 वर्ष-1959 में ...व्य की रचना प्रक्रिया' पर गजानन माधव ...बोध का लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें नई ...ता की रचना-प्रक्रिया पर गंभीरतापूर्वक ...र किया गया। *नई कविता* के अंक-5, वर्ष-...0-61 में 'नई कविता की वर्तमान स्थिति' ...एक परिचर्चा आयोजित की गई। इसमें डॉ. ...ज और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आलोचक ...हैसियत से तथा शंभुनाथ सिंह और गिरिजा ...र माथुर ने कवि की हैसियत से हिस्सा ...। इसी अंक में मलयज का 'नई कविता ...र पौराणिक प्रतीक' शीर्षक निबंध प्रकाशित ...। विजयदेव नारायण साही का बहुचर्चित ...ध 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर ...बहस' इस अंक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ...इसी तरह *नई कविता,* अंक-6, वर्ष-1963-... में 'आधुनिकता : स्वरूप और प्रयोजन' पर ...परिचर्चा आयोजित हुई। विपिन कुमार ...ल, रामस्वरूप चतुर्वेदी, मलयज, नित्यानंद ...ी और जगदीश गुप्त ने परिचर्चा में भाग ...। काव्य के स्तर पर आधुनिकता को मूल्य-...के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से ...एक गंभीर विमर्श था। इस प्रकार अनेक पत्रिकाओं ने प्रयोगवादी दौर की कविता और आलोचना के समानांतर विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नई आलोचना की मुख्य स्थापनाएँ :

1. नई आलोचना काव्य के साथ-साथ काव्येतर मूल्यों को भी स्वीकारती है।
2. यह कवि से अधिक कविता पर केंद्रित है।
3. इसमें काव्य शास्त्र से ज़्यादा समाज शास्त्र पर बल दिया गया है।
4. यह किसी रचना के उसकी समग्रता में मूल्यांकन का पक्षधर है।
5. इसमें बौद्धिक विमर्श की प्रधानता है।
6. पूर्वग्रहों का निषेध है।
7. रचना एवं रचनाकारों के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास है।
8. आधुनिक जीवन-मूल्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण है।
9. कथ्य की प्रेषणीयता के लिए भाषिक उपकरणों के सरल एवं सटीक प्रयोग पर बल है।

वस्तुतः प्रयोगवादी काल में हिंदी आलोचना का विकास जिस रूप में हुआ, उसकी कुछेक स्थापनाओं का सूत्र रूप में ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रौढ़ता और विस्तार दोनों दृष्टियों से हिंदी आलोचना प्रयोगवादी काल में वह ऊँचाई पा सकी, जो समृद्ध मानी जानेवाली अनेक भारतीय भाषाओं के लिए आज भी सपना है। इसमें प्रयोगवादी कवियों के साथ-साथ उन आलोचकों की भी उल्लेखनीय भूमिका है जो कविता-वृत्त के बाहर आलोचना की सरहद पर खड़े थे और इस दौर की कविता की हर धड़कन और आहट पर पैनी नज़र रख रहे थे।

के. नारायण

बीसलदेव रासो के परिप्रेक्ष्य में : आधुनिक-चेतना की प्रतीक 'राजमती'

नरपतिनाल्ह कृत *बीसलदेव रासो* आदिकालीन हिंदी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। अन्य रासो काव्य की अपेक्षा इसका कलेवर छोटा होने के बावजूद भी कथा-आख्यान के स्तर पर इसे न तो पूर्णत: वीर-प्रधान काव्य कहा जा सकता है और न ही विशुद्ध श्रृंगार-प्रधान। प्रधान है तो इस काव्य की नायिका-'राजमती' का ओजस्वी व्यक्तित्व, जो अपने पति में पूर्णत: अनुरक्त होकर भी अपने जीवन को कटुता से मुक्त करने हेतु निरंतर संघर्ष करती है। *बीसलदेव रासो* की यह नायिका आधुनिक नारी-चेतना की प्रतीक इसलिए मानी जानी चाहिए क्योंकि आधुनिक-कविता में व्यक्त नारी-चेतना के पूर्व राजमती जैसा व्यक्तित्व हिंदी-कविता में कहीं नहीं दिखाई देता। न तो पद्मावत की नागमती में और न ही सूर और तुलसी की राधा और सीता में। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' अथवा 'अबला हाय तुम्हारी यही कहानी' जैसी उक्तियों को झुठलाने वाली चौदहवीं शताब्दी की राजमती सचमुच पुरुष-सत्ता को चुनौती देती हुई दिखाई देती है। हज़ार वर्ष की हिंदी-कविता में यह पहली बार देखा गया है कि 14वीं शताब्दी की एक नारी अपने पति की हठवादिता से नाराज़ होकर अपनी सखियों से कहती है कि "उसका पति फड़िधर साँप की तरह है।" राजा तो वह हो ही नहीं सकता— *राउ न सखी! भइंस पिड़ार।*

दरअसल *बीसलदेव रासो* की नायिका राजमती का जीवन-संघर्ष हिंदी कविता में वर्णित अन्य नायिकाओं के जीवन-संघर्ष से बिलकुल भिन्न है। इसके जीवन में न तो 'सौत' का आगमन होता है और न ही सती-प्रथा का अनुकरण करने के लिए रानी को विवश किया जाता है। बल्कि जीवन-संघर्ष की कहानी शुरू होती है—विवाहोपरांत प्रथम रात्रि-मिलन के दिन से। होता यह है कि नायक बीसलदेव और नायिका राजमती विवाहोपरांत जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो प्रथम दिन वे वार्तालाप कहाँ से शुरू करें, यह भारी समस्या उनके समक्ष खड़ी हो जाती है। कुछ देर बाद स्वयं

कई आलोचना पुस्तकों के रचयिता के. नारायण का जन्म 1956 में हुआ। संपर्क : हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 110009
मो. 09810427307

...देव अपनी प्रभुसत्ता का गुणगान शुरू कर ...है। यहाँ आश्चर्य होता है यह देखकर कि ...देव जैसे राजकुमार को जहाँ पहली बार ...पत्नी से मिलते समय प्रेम और सौहार्द्रता ...बातें करनी चाहिए वहाँ वह अपने पौरुष का ...करता है। अपनी संपत्ति के बारे में लंबा-...भाषण देता हुआ वह कहता है :

गरब करि ऊभोछइ साभरयोराव
मो सरीखा नहीं उर भुवाल।
म्हां घरि साँभर उगहइ
चिहुं दिस थाण जेसलमेर।
लाख तुरी पाषर पड़इ
राजकउ थानिक गढ़ अजमेर॥

...वास्तव में बीसलदेव की यह गर्वोक्ति समय ...स्थान की दृष्टि से उचित नहीं थी। प्रायः ...अवसर पर नायक अपनी प्रशंसा के पुल ...ने के बजाय नायिका का सौंदर्य वर्णन कर ...आकृष्ट करने की कोशिश करता है। ठीक ...तरह नायिकाएँ भी धैर्यपूर्वक अपने प्रिय ...बातें सुनकर आनंदित होती हैं। उन्हें उत्तर ...ना होता है तो बहुत ही सूझ-बूझ के साथ ...ती हैं। परंतु इस काव्य में बीसलदेव (यानी ...अहंकारी-पुरुष) की ही तरह राजमती भी ...कुछ सोचे-समझे (निडर होकर) कि उसके ...का बीसलदेव के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा, ...ती है : "हे राजन् निस्संदेह आप धनवान ...प्रजा-रक्षक हैं। लेकिन आपके समान इस ...पर अनेक वीर-पुरुष विद्यमान हैं। जिनमें ...तो उड़ीसा का राजा ही, जिसके राज्य में ...की झील की जगह हीरे और मोतियों की ...ती हैं। सो आपको अपनी संपत्ति पर गर्व ...करना चाहिए।"

गरब न करिहो संइभरि राव।
तौ सरिषा अवर घणा रे भुवाल॥
एक उड़ीसा को घणी।
बचन ढइ का माणि जु माणि॥
जिउं था थारइ संईभरि उग्रहइ।
तिउं आं घरि उग्रहइ हीरा कइ खाणि॥

राजमती की उपरोक्त बातों ने बीसलदेव को उसके चरित्र के बारे में भारी संदेह में डाल दिया। वह सोचने लगा कि राजमती जैसी अपूर्व सुंदरी उड़ीसा के राजा को कैसे जानती है? उसे राजमती के चरित्र पर संदेह होने लगा। बीसलदेव ने संदेह-बीज को पुख़्ता करने के लिए राजमती के पूर्व-जन्म-मरण से लेकर उड़ीसा के बारे में ढेरों सवाल खड़े किए, एक सामंती-चेता की भाँति। निष्कलुष और बेदाग़ नायिका अपने पूर्व-जन्म-मरण के बारे में बताते हुए—बीसलदेव को ख़ुश करने के लिए पूर्वी-भारतीयों की निंदा भी करती है। लेकिन शीघ्र ही उसे अहसास हो जाता है कि उससे कुछ चूक हो गई है। हालाँकि वह चूक नहीं थी। स्पष्टवादिता थी, जो बिना किसी छल-कपट किए उसने व्यक्त की थी। फिर भी बीसलदेव की कलुष-मानसिकता को ध्यान में रखकर उसने जैसलमेर और अजमेर के बारे में बड़ी ही भावनापूर्ण बातें कहीं। परंतु पति के संदेह को वह दूर न कर सकी। इसके बाद इन दोनों के बीच जो लंबा विवाद छिड़ा उसमें राजमती एक आधुनिक-नारी की तरह खुले विचार वाली पत्नी के रूप में स्वाभिमान की रक्षा करते हुए स्वयं को आधुनिक नारी के रूप स्थापित करती हुई दिखती है। उसकी तर्क-शक्ति के समक्ष बीसलदेव का 'नायकत्व' श्रीहीन हो जाता है। परिणामतः बीसलदेव अपनी कटु-भावना को छिपाता हुआ अंततः घोषणा कर देता है : "हे राजमती! तुमने मुझे सावधान कर दिया। अब हमारे-तुम्हारे बीच 12 वर्ष का व्यवधान होगा। अब या तो मेरे यहाँ भी हीरे होंगे या फिर मैं प्राण त्याग दूँगा।"

राजमती को बीसलदेव की यह शर्त नागवार लगी। क्योंकि वह हीरा प्राप्ति का अभियान उड़ीसा-दरबार का सेवक बनकर पूरा करना

चाहता था। जो एक स्वाभिमानी नारी के लिए मर-मिटने की बात थी। वह आधुनिक नारी की तरह सोचने लगी कि उसने ऐसा क्या कह दिया जिसकी वजह से उसका पति उसे छोड़कर बारह वर्ष के लिए उड़ीसा का सेवक बनना चाहता है। अपने जीवन में आए संकट और बीसलदेव की दुर्भावना को समझते हुए राजमती पहले तो अपने रूप, गुण, यौवन का प्रदर्शन करते हुए कहती है : "हे स्वामी! यह मेरा सुंदर रूप संसार में अतुलनीय है। मेरी पतली कमर, प्रवाल की भाँति लाल अधर, दाड़िम की तरह सुंदर दंत-पंक्ति किस काम आएगी? यह सब आपके लिए ही तो है।"

लेकिन हठी, निर्मम राजा बीसलदेव के ऊपर राजमती के सौंदर्य-प्रदर्शन का कोई असर नहीं हुआ। राजमती ने यहाँ तक स्वीकार किया कि उड़ीसा के राजा के बारे में मैंने जो बातें की वह मज़ाक़ भर थीं। उसमें कोई सच्चाई नहीं है— *म्हे हस्या थे करिजाणियउ सांच।*

यदि इसमें आप मेरा दोष समझते हैं तो क्षमाप्रार्थी हूँ— *हूँ बिरासी राज मइ कोयउ दोस।* फिर भी बुद्धिहीन राजा का क्रोध दूर नहीं हुआ। उसके मन में अपनी पत्नी के प्रति संदेह की गाँठ और मज़बूत होती गई जो किसी भी तरह छूट नहीं रही थी। फिर तो राजमती के अंदर की बैठी स्वाभिमानी-स्त्री जाग उठी। उसको लगा कि राजा सठिया गया है। इसलिए इसको आधुनिक भाषा में समझाना ज़रूरी है। सो प्रोषित—पतिका के रूप में उसको संदेश भिजवाती है : "अरे कायर पुरुष! तुम अज्ञानी, अशक्त और अंधे हो। क्या तुम्हें यह नहीं पता कि शूरवीर राम ने अपनी स्त्री के लिए समुद्र में पुल बाँध दिया था!"

अंधला! असूंर असती! अचेती।
अस्बी गेली राम बांध्यो सूरा सेत॥

जैसा कि जीवन में अकसर देखा जाता है, जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का क़ायल होता है, उसके ऊपर अच्छी बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। राजा बीसलदेव अजमेर का राजा था। लेकिन राजत्व का भाव उसके अंदर से ख़त्म हो गया था। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि भारतीय-साहित्य में ऐसा एक भी नायक नहीं दिखाई देता जो अपनी ही पत्नी के चरित्र पर पहली ही रात्रि से संदेह करने लगे। जबकि दूसरी ओर स्वयं स्त्री पति को समझाती है कि यदि वह सचमुच धन के लिए ही उड़ीसा जाना चाहता है तो सेवक बनकर क्यों जाए? एक बड़े ही सतर्क, विचारवान और सुलझी हुई नारी की भाँति वह तर्क देती है कि सेवक बनना तो कायरता है। गृहत्याग तो ऐसे लोग करते हैं जिसके घर में खाने के लिए नमक तक नहीं मिलता। आप तो हर तरह से धन-संपन्न हैं :

उलग जांण कहइ घणीं कउण,
घर मोह बरउ नहीं कुल्हण लूण॥

जिस तरह से एक विवेकशील नारी बिना अपने स्वत्व को खोए आए हुए संकट से संघर्ष करती हुई उस पर विजय पाना चाहती है, वही स्थिति राजमती की है।

सो वह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि यदि आप धन के ही भूखे हैं तो मैं अभी अपने नैहर जाती हूँ। जहाँ से ढेर सारा धन एवं द्रव्य का भंडार ही लाती हूँ :

जाइस पीहर आपड़इ,
आंणिसु अरथ नइ दरब भंडार॥

यहाँ पर बारीकी से देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि राजमती आधुनिक-नारी-चेतना से संपृक्त होकर एवं अपने कर्तव्य-बोध से सुपरिचित होकर जनसामान्य को संदेश देना चाहती है कि कुल, ख़ानदान, परंपरा और गृहस्थ-जीवन की रक्षा का भार पति-पत्नी दोनों पर निर्भर होता है। यदि

...वादी समीक्षक शुचिता की उम्मीद केवल ...से करते हैं तो वे ग़लत तर्क देते हैं। क्योंकि ...की रक्षा, स्वत्व की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी ...पत्नी दोनों पर होती है और यही आज की ...की आधुनिक-सोच है, जिसका पालन ...स्वयं करते हुए उम्मीद रखती है कि ...सलदेव भी वैसा ही करे। लेकिन बीसलदेव ...अंदर तो पुरुष-सत्ता हुँकार मार रही थी। वह ...और निर्मम के साथ-साथ जड़ भी था। ...जानती थी कि वह उड़ीसा दरबार में ...मूर्खता का काम करेगा। सो उसे एक बार ...समझाते हुए कहती है : "हे राजा! तुम्हें ...में जाने की बड़ी जल्दी पड़ी है। लेकिन ...नहीं जानते कि राजनीति की गति दुधारी-...की तरह होती है। और मूर्ख लोग तो ...भी नहीं जानते (जैसे तुम)। सुनो! किसी ...राज्य में चोर, जुआरी, अन्यायी और दुष्ट ...हैं, सो इनसे हँसकर कभी नहीं बोलना ...और राजा के अंदर (अंत: में) तो कपट ...ही है। क्योंकि वह कान का कच्चा होता है ...तुम) इसलिए मुँह पर हाथ की आड़ ...यानी सँभलकर बातें करनी चाहिए। और ...से कभी भी सही बात मत करना।"

उलग जांण की परीय तो सार,
राजनी गति जिसी षंडानि धार॥
मूरख लोक नू जाणही
चोर जुवारि अनइ कलाल॥
ईण सू हाँसि न बोलज्यो
राजनि उइ भीतरि गोढ़॥
कान निणा पग दूर रहा,
मुहड़ा आडों दीजो हाथ॥
सांची झूंठी मत कहइ,
राजसभा मांहि सांचि बात॥

...पर प्रकारांतर से राजमती पति को आभास ...चाहती है कि वह मूर्ख है। राजनीति और जीवन (गार्हस्थ) का ककहरा भी नहीं जानता। वस्तुत: बीसलदेव रासो में हम देखते हैं कि राजमती अपने पति से कहीं ज़्यादा तीक्ष्ण-बुद्धिवाली एवं सुलझी हुई नायिका है, जो पति के कठोर-निर्णय से आहत तो है परंतु टूटती नहीं है और पति के ग़लत निर्णय का जमकर विरोध करती है। पति को आभास कराती है कि जीवन की गाड़ी पति-पत्नी के विश्वास पर चलती है।

आदिकालीन कवि नरपति नाल्ह का यह खंडकाव्य साहित्य-जगत में पहली बार अपने नायक को उदात्त-चरित्र का रूप नहीं दिला पाता। क्योंकि काव्य-नायक बीसलदेव विदेश-गमन का जो कारण प्रस्तुत करता है वह बहुत ही तुच्छ तथा एक नायक के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है। इसके पूर्व जितने भी काव्य-नायक हिंदी साहित्य में दिखाई दिए, वे चाहे राम हों, कृष्ण हों, पृथ्वीराज हों अथवा रत्नसेन—सभी का विदेश-गमन या तो लोक रक्षा की भावना से युक्त रहा है या प्रेम के उदात्त-वेग से वशीभूत। बीसलदेव की तरह भारतीय कथा-आख्यान के अन्य नायकों की अभिरुचि कभी भी भृत्य बनने में दिखाई नहीं देती। दरअसल बीसलदेव यहाँ कायरता का परिचय देता है और नायिका राजमती एक सूझ-बूझ वाली आधुनिक सोच वाली नारी की भूमिका प्रस्तुत करती है।

नरपति नाल्ह की यह छोटी-सी रचना अपने कलेवर में तो छोटी है ही, *संदेश रासक* और *परमाल रासो* जैसे काव्यों की तुलना में विक्षत भी कम ही है। लेकिन प्रश्न बहुत गंभीर उठाती है। इस काव्य को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज की व्यवस्था में जो स्त्रियाँ अपने पतियों से बराबरी का दर्जा प्राप्त करना चाहती हैं, उसके ग़लत निर्णयों का विरोध करती हैं, उनकी स्थिति बहुत विषम हो जाती है। एक ओर तो वे अपनी कुल मर्यादा की रक्षा हेतु

अपने तईं संघर्ष करती हैं और दूसरी ओर अधम से अधम पति के साथ रहने के लिए विवश होती हैं। भारतीय स्त्री की यह द्वंद्वात्मकता राजमती को भी अपने दायरे में खींचती है। पहले तो वह बीसलदेव का जमकर विरोध करती है, आधुनिक दृष्टि-संपन्न नारी की तरह पति को कुल गौरव के विरुद्ध न जाने की सलाह देती है और जब उसको लक्ष्य में असफलता दिखती है तो स्वयं झुक भी जाती है। वह भी राम की सीता और रत्नसेन की नागमती की तरह तर्क देने लगती है कि "वह योगिनी की तरह बन में निवास करेगी"— *थे धणी! थारी मेल्ही आस-जोगिणी होइ सेतु बनवास।* *नारी की इसी विवशता को देखकर तुलसीदास ने कहा था : कत विधि सृजी-नारि जग मांही-पराधीन सपनेहुँ सुख नांही॥*

इस छोटे-से काव्य में हम देखते हैं कि जीवन के बारे में आधुनिक दृष्टिकोण से सोचने वाली राजमती विनयवत भी होती है तो ठसक के साथ। उसकी चेतावनी है : "याद रखना। जिस तरह धन के लालच में मुझे छोड़कर जा रहे हो, उसी तरह धन भी तुम्हें छोड़ देगा। साथ ही तुम्हारा कुल तो बदनाम होगा ही मेरी भी बदनामी होगी। जिस धन की चाह में तुम भटक रहे हो वह गड़ा ही रह जाएगा।"

चलियउ उलगाणइ ध्वंडी व काणि,
अरथ दरब थारा जौवन की हाणि।
... ...
अरथ दरब गाड्या रहइ,
जे नइ सिर जियेहु तेहही जेखाइ॥

मेरी नज़र में मंथरा को छोड़कर किसी अन्य साहित्य में ऐसा एक भी दृष्टांत नहीं मिलता जिसमें दूती की पिटाई उसी की संरक्षिका (रानी) द्वारा की गई हो। बीसलदेव रासो में हम देखते हैं कि एक दूती द्वारा राजमती को पथभ्रष्ट करने की अच्छी सज़ा मिलती है। उस समय जब वह कहती है कि "यदि तुम्हारी इच्छा है तो मैं कुछ दिनों के लिए तुम्हें एक जार-पुरुष का प्रबंध कर दूँ"— *क्ह्यउ हमारउ जइ करउ-तोह नइकईसो पटवो करिदेउमीत।* क्योंकि तुम्हारा दुख मुझसे देखा नहीं जाता— *राति-दिवस मों थारीय चिंत* राजमती को दासी की यह सलाह बुरी लगी और क्रोध में उसने डंडा उठाकर उसकी पिटाई शुरू कर दी। दासी के नाक-मुँह से ख़ून रिसने लगा और उसकी शिकायत जेठ और देवर से करके उसे अच्छा दंड दिलवाया :

दूतो कहे जब चाली छइ उठी,
ले पाटो अरु पटकी छइ पूठि।
नाक-पाट फड़ाउ हू कूटणी,
ते तू देवर अरी बडो जेठ॥

बीसलदेव रासो की इस छोटी-सी घटना का उल्लेख मैंने इसलिए किया कि हिंदी-साहित्य के इतिहास में दूती की पिटाई की यह पहली घटना है। क्योंकि दूतियाँ तो अभी तक नायक और (जार पुरुष भी हो सकते हैं) नायिका के बीच सेतु का काम करती रही हैं। दरअसल यहाँ पर कवि ने राजमती के चरित्र-दृढ़ता की रक्षा हेतु एक नया दृष्टांत प्रस्तुत किया है। ताकि शक करने वाला राजा बीसलदेव यह देख सके कि नैतिकता की दृष्टि से पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ज़्यादा दृढ़ होती हैं। जिसे आधुनिक शब्द में कहें तो यह पुरुष-सत्ता के समक्ष एक चुनौती थी। दरअसल मैंने राजमती के व्यक्तित्व में आधुनिक बोध की दृष्टि की मौजूदगी इस रूप में देखी है कि जो नायिका अपने समय की परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए यदि रूढ़िगत-मान्यताओं और परंपरागत-विसंगतियों का विरोध करती है तो वह भी काल और युग विशेष-परिस्थितियों के संदर्भ में आधुनिक चेतना की ही वाहिका मानी जानी चाहिए। क्योंकि उसके मन में विरोध के स्वर आधुनिक बोध की तरह मौजूद होते हैं और चुनौतियों का सामना करने

इच्छा शक्ति प्रखर रूप में देखी जाती है। नायिका इस काव्य में एक छुई-मुई स्त्री की तरह अपने पति के ग़लत-निर्णय को सहर्ष स्वीकार नहीं करती। बल्कि उससे तर्क-वितर्क करती है, उसे नासमझ और हीन-मनोग्रंथि का शिकार बताती है जो आदिकालीन-युग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है।

इसी संदर्भ में मैं यहाँ यह भी संकेत करना चाहूँगा कि आदिकालीन कवि अब्दुल रहमान की संदेश-रासक की नायिका भी जब प्रिय को एक अज्ञात-पथिक के माध्यम से अपना विरह-संदेश भेज रही थी तब वह भी उस घिसी-पिटी-मान्यता का विरोध ही कर रही थी। क्योंकि आदिकालीन समाज में अपने पति को संदेश भेजना तो दूर, दिन में उससे बातें भी करना मर्यादा के ख़िलाफ़ समझा जाता था। जो लोग पर्दा-प्रथा की घुटन भरी ज़िंदगी से वाक़िफ़ हैं उन्हें *संदेश रासक* की नायिका रूढ़िगत-मान्यताओं का विरोध करती हुई नज़र आएगी। इसी तरह *विद्यापति पदावली* में भी कई ऐसे पद मिलते हैं जिसमें नायिकाएँ प्रेम-वर्जनाओं की उपेक्षा करती हुई, परंपरागत बंधनों को अस्वीकार करती हुई अपनी मंज़िल को प्राप्त करने में विश्वास करती हैं। पदावली की कई नायिकाएँ अपनी उम्र से बहुत बड़े पति के शयन कक्ष में जाने से इनकार करती हुई दूतियों से कह जाती हैं और उन्हें 'साँड़' जैसे शब्द से संबोधित करते हुए ऐसे-ऐसे तर्क देती हैं कि विद्यापति को सामंती-कवि समझने वालों के रोंगटे खड़े हो जाएँगे। उदाहरणस्वरूप एक पद देखिए:

ए धनि कामिनि सुनु हितबानि,
पेम करब जब सुपुरुष जानि।
सुजनक पेम हेम समतूल,
दहइत कनक दुगुन होअ मूल॥
टुटइत नहिं टूट पेम अद्भुत,
जइसन बढ़ए मृनालक सूत।
सबहु मतंग मोति नहिं मानि,
सकल कंठ नहिं कोइल-बानि॥

इस पद के माध्यम से विद्यापति चली आ रही उस परंपरा और बंधन दोनों का विरोध करने की सलाह देते हैं जहाँ माँ-बाप किसी भी पुरुष के साथ लड़कियों की शादी कर देते थे। और वे उसे स्वीकार करने के लिए विवश होती थीं—चाहे अनमेल विवाह ही क्यों न हो। विद्यापति इस परंपरागत-ढाँचे में सेंध लगाने की, उसे तोड़ने की प्रेरणा देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति, अब्दुल रहमान और नाल्ह कुछ हद तक सड़ी-गली मान्यताओं के ख़िलाफ़ खड़े दिखाई देते हैं। हालाँकि ये कवि पूरी तरह से अपने को रूढ़ियों से मुक्त नहीं कर सके हैं, उपमा और उपमान चुनते समय, प्रकृति का वर्णन करते समय पुराने ढर्रे पर ही चलते हुए दिखाई देते हैं। पर इनमें नाल्ह की नायिका राजमती तो एक विद्रोही-नायिका के रूप में जीवन-संघर्ष कर रही हैं। निस्संदेह उसकी सोच, भाव-विचार एक आधुनिक नायिका की सोच के समान व्यक्त हुए हैं। सो इसे आधुनिक-बोध के प्रतीक के रूप में देखना चाहिए। वैसे भी हिंदी-साहित्य में आधुनिकता की ठोस जैसी प्रवृत्ति ने बहुत-से कवियों, लेखकों के साथ अन्याय किया है। प्रासंगिक का सवाल तो इससे भी ज़्यादा पेचीदा है। इस तरह की प्रवृत्ति-साध्य समीक्षकों को कौन समझाए कि किसी भी काल में पूर्ववर्ती, असाध्य, बँधी हुई प्रवृत्ति का खंडन और बदले में तर्कपूर्ण ढंग से व्यक्त स्वविचार भी आधुनिक चेतना का वाहक होता है। इसलिए बीसलदेव की नायिका राजमती के तर्क-वितर्क और अधिकार-प्राप्ति की भावना को हमें सामंती-चेतना से मुक्त एक नए विचार के रूप में देखना चाहिए।

प्रभात त्रिपाठी

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ का आरंभ भीष्म साहनी की 'अमृतसर आ गया है' और मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियों से होता है। प्रथमतः तो इस चयन की ऐसी शुरुआत के लिए संपादक कमलेश्वर को साधुवाद दिया जाना चाहिए, ख़ासकर इस कारण कि स्वतंत्रता के बाद, जिस समस्या ने इस महाद्वीप की सांस्कृतिक चेतना के भी दो टुकड़े कर दिए, वह विभाजन की दुर्घटना ही थी। पर यह स्वतंत्रता और विभाजन के कारण ही नहीं थी और धार्मिक मनोवृत्ति के चलते ही सक्रिय नहीं हुई थी, इस बात की समझ को मार्मिक मानवीय सहानुभूति के स्तर पर सक्रिय करती, इन कहानियों का पाठ, आज भी कितना प्रासंगिक और कितना ज़रूरी है, इसे हर सजग पाठक महसूस कर सकता है।

'अमृतसर आ गया है' नामक कहानी में कहानी के मुख्य कथ्य के साथ आवयविक स्तर पर जुड़े वे पात्र और उस डिब्बे का पूरा परिवेश हमसे किस तरह के रिश्ते बनाते हैं, या हम उनसे क्या समझते और पाते हैं। रेल डिब्बे का वक़्त, तक़सीम के दौरान जारी हिंसा और दहशत के वक़्त को, सहज भाव से मूर्त करता हुआ भी, उसे हमारे अपने वक़्त के सबसे ज़्यादा दहशतनाक हिंसा की राजनीति से जोड़ता है। इस अर्थ में यह कहानी, 'बुढ़िया' जैसे सहज धार्मिक चरित्र, नैरेटर जैसा तटस्थ चरित्र, पठान जैसे पुरमज़ाक और बाबू जैसे आकस्मिक क्रूरता के प्रतीक पात्रों को, महान समस्या के ही संदर्भ में नहीं, बल्कि मानव-स्वभाव की विचित्रता और विविधता में अंतर्निहित गुणों के संदर्भ में पढ़े जा सकने का अवकाश भी रचती है। मुख्यतः इस कारण कि सांप्रदायिक दंगों की अमानवीयता और अन्याय को, केवल सक्रिय हिस्सेदारी के संदर्भ में नहीं, बल्कि उदासीन समर्थन के व्यापक भारतीय संदर्भ में देखे जाने की ज़रूरत है।

बाबू जैसा पात्र जिस क्रूर भावनात्मक प्रतिशोध की हिंसा में प्रवृत्त होता है, वह राजनीति प्रेरित तो है ही, पूरे डिब्बे में लगभग आत्मकेंद्रित ढंग से मौजूद, मध्यवर्ग के सभी प्रतिनिधि भी इस हिंसा के लिए ज़िम्मेदार हैं, यह बात भी इस कहानी के तटस्थ बयान में मौजूद है। और हम पाते हैं कि सांप्रदायिकता के संदर्भ

जाने-माने कवि एवं आलोचक प्रभात त्रिपाठी की कृति *नहीं लिख सका मैं* चर्चित है। संपर्क : रामगुड़ी पारा, रायगढ़ 496001 (छत्तीसगढ़)

...इस कहानी का मुख्य कथ्य, उस परिवेश का ...जो रेल-डिब्बे में मौजूद है, लेकिन जिस ...वेश को डिब्बे के बाहर भी इस रूप में देखा ...सकता है, कि 'पठानों' और 'बाबू' की ...कालिक अमानवीयता से बाहर, एक और ...निया है जो सहज भाव से अन्याय को देखती ...और बर्दाश्त करती है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, ...बल्कि जैसा कि कहानी का अंत सुझाता लगता ...है वह अपनी बुनियादी आत्मकेंद्रिता में इस ...तरह के हादसों के समर्थन का प्रतीक भी बन ...जाता है–वह, यानी यह पूरा परिवेश, इस अर्थ ...में मानव-स्वभाव में मौजूद कायरता और क्रूरता ...की सतत मौजूदगी का साक्ष्य ही है। ज़ाहिर है ...कि इसे पढ़ने का तरीक़ा, इसके मूल कथ्य, ...इसके संवेदनात्मक प्रयोजन और इसके कथात्मक ...ब्यौरों की तफ़सील में गए बग़ैर, हासिल ही नहीं ...हो सकता।

'मलबे का मालिक' में रक्खे पहलवान की ...काली करतूत या अब्दुल गनी का मासूम यक़ीन, ...भले ही कथ्य की मूल आयरनी को सक्रिय करने ...में प्रमुख भूमिका निभाते हों, लेकिन पूरी कहानी ...में कथा की अर्थगर्भ-वाचकता और एक सोलह-...सत्रह बरस की लड़की के मुँह से निकला यह ...वाक्य, "चुप कर मेरे वीर! रोएगा तो तुझे वह ...मुसलमान पकड़कर ले जाएगा, मैं वारी जाऊँ। ...चुप कर!" भी इस कथा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं ...। कहानी में यह वाक्य लड़की तब बोलती है, ...जब सात साल बाद लाहौर से लौटा बूढ़ा, बच्चे ...को देने के लिए जेब से पैसा निकाल रहा होता ...है और सुनकर पैसा फिर जेब में रख लेता है। ...त्रासदी की स्मृति जब कथा-कल्पना में आकार ...ले रही होती है, तब वैचारिक आग्रह की सक्रियता ...उतनी मूर्त नहीं होती, जितनी बिंबात्मक स्मृति ...को पूरी शिद्दत से, पूरी तात्कालिक तीव्रता के ...साथ प्रस्तुत करने की कोशिश होती है।

सांप्रदायिक दंगों की वजह से बेचैन और आंदोलित लेखकीय मन, उपदेशक और विश्लेषक से भिन्न, कथाकार होने का चुनाव ही इसलिए करता है कि वह घटना की सामयिकता को चरित्रों की स्वभावगत ख़ासियतों के साथ जोड़कर, इतिहास को समझने जानने की एक भिन्न दृष्टि भी दे सके।

सांप्रदायिकता की समस्या पर लिखी गई कहानियों में, आज़ादी एक दरार, टूटन और लगातार पिरानेवाली स्मृति की तरह दर्ज की गई है, पर अस्मिता के दीगर संदर्भों की व्यथा-कथा में वर्ग-बोध या जाति-बोध को लेकर वैसा तीखापन नहीं है। 'बिरादरी बाहर' के पारस बाबू का दुख, जिस मूल कारण से जुड़ा है, भारतीय परिस्थिति में उसकी तीव्रता भी कम नहीं है। ग़ैर-जाति में विवाह के उदाहरण भले मिल जाते हों, लेकिन स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद जातिवाद की समस्या, सांप्रदायिकता की समस्या जैसी विकराल होती गई है। स्वतंत्रता के पहले कथात्मक-यथार्थ के विभिन्न संदर्भों को उजागर करते हुए, जैसे उन्हें 'क़िस्से के स्वाद' में ही पकड़ा जाता रहा था 'बिरादरी के बाहर' जैसी कथा में, पारस बाबू की लड़की मालती के अंतर्जातीय विवाह की घटना भी उसी तरह की चुस्त-दुरुस्त कहानीपन की सीमाओं में रची-बसी लगती है। मध्यवर्ग में होनेवाले बदलाव की संवेदनात्मक प्रस्तुति, अपने कथ्य को व्यापक सामाजिक परिवर्तनों का एक संकेतात्मक उदाहरण भर बना पाती है।

"डिप्टी कलेक्टरी" नई कहानी के समय की एक बहुचर्चित और बहुप्रशंसित कहानी है। निम्न मध्यवर्गीय परिवार की मानसिकता को अपनी सहजता में मूर्त करती इस कहानी में, इस वर्ग के संघर्ष और आशा-आकांक्षा को, जिस ढंग से व्यक्त किया गया है, उससे यह ज़ाहिर है

कि इस कहानी में पारिवारिक रिश्तों पर पड़ते आर्थिक दबावों को इस तरह प्रस्तुत करने की कोशिश है कि पाठक मध्यवर्ग के लालच और सत्ता के प्रति उसके आकर्षणं को, उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी के अनुभवों के बीच पहचान सके। इन कहानियों का यथार्थबोध अधिकांशतः चित्रण के स्तर पर ही विन्यस्त है। यह इन कहानियों की सीमा भी है और उपलब्धि भी। कमलेश्वर की कहानी में, कहानीपन के बावजूद, विडंबना की मार थोड़ी तेज़ है। शायद इसलिए कि यह कहानी 'चप्पल' परिवार के स्तंर पर ही वर्गचेतना को रूपायित नहीं करती। बेशक बच्चे की टाँग काटे जाने की मूल घटना पर आधारित होने के कारण इसकी व्यंजकता भी एकरैखिक ही बनी रहती है पर कमलेश्वर इसमें थोड़ी आस्तित्विक-चिंताओं के बीच से भी गुज़रते हैं और कथा को महज़ पारिवारिक कहानी के कुशल चित्रण से थोड़े व्यापक स्तर पर उजागर करने की कोशिश करते हैं।

रेणु की 'रसप्रिया' या शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' जैसी कहानियाँ अपनी उजागर आंचलिक अद्वितीयता के चलते तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, पर इसमें एक आत्मसजग आधुनिक व्यक्ति की अपनी आत्मपरकता भी सक्रिय है। अंचल विशेष को अपनी पूरी जीवंतता के साथ मूर्त करती इसकी भाषिक-संरचना इसलिए ही निरी आंचलिक छविमयता की सृष्टि नहीं करती। इसकी संरचना में भारतीय ग्रामीण के करुण और कोमल यथार्थ का मार्मिक समन्वय है। पर दोनों ही लेखक इसे, इसके चरित्रों की प्रेमानुभूति के लगभग संगीतात्मक रूप में जीवित करते हैं, इसके बावजूद वस्तुस्थिति पर अपनी गहरी पकड़ और अपनी सजग वैचारिकता के चलते वे अपने कथ्य को निरा रोमानी होने से बचा लेते हैं। चाहे रसप्रिया का मिरदंगिया या मोहना या उसकी माँ जैसे चरित्र हों या कोसी का घटवार के गोसाईं या लछमा हों, सभी जैसे अपनी आस्तित्विक वेदना से भारतीय जन-जीवन के संघर्ष में हमेशा मौजूद, नैतिक साहचर्य का रूपाकार रचते प्रतीत होते हैं। ज़ाहिर है कि ऐसी मार्मिक विशेषताएँ अंतर्दृष्टि की एकरैखिक वैचारिकता या महज़ वस्तु-निरूपण के कौशल से हासिल नहीं की जा सकती थीं। अपनी सुघड़ आंचलिकता के भीतर ही, जैसे वे मानवीय संबंधों तथा जीवन-संघर्ष की लय प्राप्त करते हैं।

यथार्थ, क़िस्सागोई, मध्यवर्गीय-संस्कार, ग्रामीण-सहजता, लोक-संवेदना के बहुविध संदर्भों को उजागर करनेवाली नई कहानी, अपनी उपलब्धियों के बावजूद, समकालीन वास्तविकता की विकरालता को थोड़े स्वादिष्ट ढंग से प्रस्तुत करने वाली कथा ही लगती है। इसके बरक्स, ज्ञानरंजन की 'घंटा' और रवींद्र कालिया की 'काला रजिस्टर' जैसी कहानियाँ, सिर्फ़ क़िस्सागोई की नहीं, बल्कि बेबाक और बेलाग साफ़गोई की कहानियाँ लगती हैं और पाठक यह महसूस करता है कि भाषा के ऐसे इस्तेमाल के पीछे अनुभव को उसकी तात्कालिकता (इमिडियेसी) में रचने के गहरे अंदरूनी दबाव ही क्रियाशील हैं। बेशक ये कहानियाँ भी अनुभव को रचने की सतर्कता और सजगता के दौरान कथा-कौशल का उपयोग करती हैं और कथा को मनमाने आत्मालाप की तरह पढ़ने की छूट नहीं देतीं, पर इसके बावजूद इसमें एक तरह की ज़ाहिर आत्मपरकता भी है, जो विषय को दृश्य की दूरी से नहीं, बल्कि हिस्सेदार व्यक्ति के आत्मालोचन और पक्षधरता से देखती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के यथार्थ को नंगी आँखों से देखने वाली वैचारिकता में, चित्रण का नहीं, बल्कि अनुभव का यथार्थ ही ज़्यादा सक्रिय दिखाई देता है। पर इन कहानियों को निरे आत्मकथात्मक या घटनात्मक संदर्भों में पढ़ना ही काफ़ी नहीं है। ख़ासकर इसलिए कि इनकी

...की तुर्शी और उसमें सक्रिय आलोचनात्मक ...त्मकता का ज़ाहिर बाहरी संदर्भ, ...त्र्योत्तर भारत में विकसित होते उदार पूँजीवाद ...मानवीय संस्थाओं में अंतर्निहित अमानवीय-...की निरंतर प्रक्रिया को उजागर करने वाला ...है, जो कि ग़ैर इरादतन रूप में ही सही, ...-विन्यास की समग्रता में मौजूद है। 'काला ...टर' और 'घंटा' जैसी कहानियाँ इसलिए ...यथार्थ की उस नई चेतना की कहानियाँ हैं, ...की सार्थक-समझ के लिए, प्रजातंत्र के महान ...वाले प्रेस और सैन्य व्यवस्था के अंदर मौजूद ...-विरोधी शक्तियों की खरी पहचान को ...कित किया जाना ज़रूरी है। अपने प्रकाशन ...दिनों में कालिया की यह कहानी चर्चित ...हुई थी, पर इसकी भाषा के बेलागपन में ...संघर्षरत मध्यवर्ग की आंतरिक कशमकश ...और सतह पर बीतते इस वर्ग के जीवन की ...को, या तो रवींद्र कालिया के तत्कालीन ...काज के परिवेश से जोड़कर देखा गया था ...पत्रिका के संपादन में सक्रिय तानाशाही की ...यों से जोड़कर। पर यह कहानी अपने सारे ...के प्रस्तुतीकरण के ज़रिए यह भी मूर्त करती ...है कि इसके पात्र किस तरह अपनी ...त्रता खोते जा रहे हैं और तब 'काला-...टर' को महज़ प्रेस या किसी पत्रिका के ...ह की तरह ही नई, पूँजीवादी संस्थाओं ...साभ्यतिक प्रतीक की तरह पढ़ा जाना ...ज़रूरी और प्रासंगिक लगता है, जिसने ...य-चरित्रों को इतना व्यक्तित्वहीन और ...चाटू बना दिया है, कि उन्हें अपनी ग़ुलामी ...अनुभव तक नहीं हो पा रहा है और वे ...पहचान खोते जा रहे हैं।

...और अनुभव के एकमेक होने के विन्यास ...रंजन की 'घंटा' कहानी में मध्यवर्ग के ...और उसके पतन को शिद्दत की जीवंतता ...उभारती है। चरित्र-नायक की बेबाक और निश्चय ही सार्थक विडंबना से युक्त तुर्श कन्फ़ेशन की-सी भाषा में हम मध्यवर्ग के लुंपेनाइज़ेशन और लालच के जिन दो छोरों से गुज़रते हैं, वह निश्चय ही स्वातंत्र्योत्तर भारत की तरक़्क़ी के दोमुँहेपन को हमारे सामने लाती है, पर इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है यह तथ्य कि इसमें लेखकीय पक्षधरता अपने वर्ग को नंगा करती हुई भी, भोगवाद-उपभोगवाद के उन ठिकानों से मुठभेड़ करती हुई नज़र आती है, जिन्हें राष्ट्रीय महानता की भाषा में ही जानने-समझने के हम आदी हो चुके हैं। वैचारिक प्रतिबद्धता के दो टूक आग्रह के बावजूद, कथा की भाषा कहीं भी किसी सरलीकृत नैतिकता की शरण लेती नहीं लगती, क्योंकि लेखक के संवेदनात्मक संसार में, कोई क़िस्सा या कोई घटना भर प्रमुख नहीं है।

यह निश्चय ही हिंदी कथा की सर्जनात्मक निरंतरता का एक सार्थक तथ्य है कि इसके बाद के कथाकारों ने भी आधुनिकता वर्गचेतना, मार्क्सवादी विचार और जनतांत्रिक मूल्यबोध के संदर्भ में, अपने अनुभव को एक भारतीय रूपाकार देने की कोशिश ही की है। बेशक यह भारतीयता व्यापक जन-समुदाय के संघर्ष के साथ संवेदनात्मक तादात्म्य से गुज़रकर हासिल की गई भारतीयता है, जो निश्चय ही जन-जीवन के भावलोक की व्यापकता और गहराई से जुड़े बग़ैर हासिल नहीं की जा सकती थी। मैं यह बातें उदय प्रकाश की 'टेपचू' और अरुण प्रकाश की 'गज-पुराण' जैसी कहानियों की याद करते हुए लिख रहा हूँ। इन दोनों ही कहानियों के प्रथम पाठ से ही यह अनुभव होता है कि निरे व्यक्तिगत को कथा संसार में ढालने की कोशिश करने के बदले इनमें व्यापक और जटिल जीवन के वास्तव के साथ अपने सर्जनात्मक प्रयत्नों को जोड़ने और फिर हिस्सेदारी की ऊष्मा के साथ, इसे कल्पनाशील रूपाकार देने की कोशिश है।

दरअसल जो बात इन कहानियों को, पिछली बहुत सारी कहानियों से अलग करती है, वह संरचना के स्तर पर इनकी कल्पनाशीलता और इनकी अपेक्षाकृत परिपक्व वैचारिकता ही है। शायद इस वजह से ये कहानियाँ एक तरह के पौराणिक आख्यान के-से शिल्प में रची गई लगती हैं, कि इनके कथ्य की व्यापकता और जटिलता को, उसमें रचे-बसे संवेदनात्मक और वैचारिक प्रयोजन की धार को, ब्योरा-बोझिल यथार्थ-चित्रण की भाषा में थाम पाना मुश्किल होता। इन दोनों कहानियों के सुदीर्घ विश्लेषण या कि इनके आस्वाद के समूचे अनुभव को दर्ज कर सकने का अवकाश यहाँ नहीं है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि ये बुनियादी तौर पर जन-चरित्री संवेदना से रची गई कहानियाँ हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत के विकास के दौरान जारी दमन शोषण और अत्याचार को पूरी ऐतिहासिक चेतना के साथ मूर्त करते इसके चरित्र, भारतीय स्वतंत्रता का वह चेहरा पाठक के सामने रखते हैं, जिसे आम तौर पर अकादमिक स्तर पर ही देखा समझा जाता रहा है। गुडी गुडी करुणा और रूमानी ग्राम-कथा के कथाकारों की दुनिया से भिन्न इसकी दुनिया में बदलते समय की गति का अहसास निरंतर होता रहता है और हम विचार के स्तर पर भी यह महसूस करते हैं कि सर्जनात्मक प्रतिबद्धता की कला, व्यापक जन-संघर्ष से जुड़े बग़ैर संभव नहीं हो सकती।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों के इस संकलन में सम्मिलित महिला-कथाकारों की दुनिया भी सामान्य यथार्थ-बोध से गहरी और व्यापक आत्मचेतना या नारी-चेतना की ओर बढ़ती हुई दुनिया है। कृष्णा सोबती की कथा में अगर हम प्रेम और मृत्यु की लगभग काव्यात्मक रागात्मकता की सक्रियता देखते हैं, तो मन्नू भंडारी में पारिवारिक रिश्तों में आती टूटन की भाव-प्रवण अभिव्यक्ति का एक मार्मिक रूप मौजूद है। स्मृति और अनुभव के माध्यम से, मानवी-संबंधों से जुड़े सुख-दुख को, परिवेश और परिवार के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने वाली इन कहानियों में स्त्री-अस्मिता का कोई वैचारिक आग्रह तो नहीं है, पर इनके विन्यास में सक्रिय करुणा, हमें यह दिलाती है कि यथार्थ वास्तव या परिवेश से जुड़ाव उनके लिए कहीं-न-कहीं, उनके स्त्री होने के बुनियादी मातृत्व से भी जुड़ा है।

मृदुला गर्ग की कहानी 'वह मैं ही थी' तक आते-आते, कथा-संसार में वैचारिकता और कल्पनाशीलता की सक्रियता देखने को मिलती है। बेशक मृदुला जी के यहाँ स्त्री को कोरमकोर स्त्रीवाद की आँख से देखने का कट्टर आग्रह नहीं है, पर देसी हालातों के विशेष संदर्भ में, स्त्री के होने मात्र में निहित संकट को लिखने के लिए शायद इस तरह की वैचारिकता और उस वैचारिकता को धारण कर सकनेवाली कल्पना-शीलता लगभग अनिवार्य थी। एक स्त्री के प्रसव और मृत्यु के प्रसंग को इसी कल्पनाशीलता और विचारशीलता के चलते, वे स्त्री-संकट के एक मुकम्मिल रूपक-कथा का विन्यास दे पाती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ के पाठ से यह अनुभव मन में गहराता लगता है कि क़िस्सागोई और यथार्थ चित्रण के मुहावरे को परिमार्जित और परिष्कृत करते हुए अधिकांश कथाकारों ने व्यापक जीवन-संघर्ष की बहुविध तसवीरें रचने की कोशिश ही की है। इस अर्थ में यह चयन निश्चय ही एक सार्थक और विचारोत्तेजक चयन है।

चर्चित कहानी-संग्रह :

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ : कमलेश्वर; नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया; 2005; 130 रुपए

अरविंद मोहन

डरावने सच के रू-ब-रू

अभी ज़्यादा दिन नहीं हुए जब पोलैंड में मज़दूरों के आंदोलन ने बदलावों के एक पूरे दौर की शुरुआत की। ब्रेड के दाम बढ़ाने के ख़िलाफ़ शुरू हुआ वह आंदोलन जल्दी ही स्वतंत्र मज़दूर संगठन बनाने और अभिव्यक्ति की आज़ादी का आंदोलन बन गया। कम्युनिस्ट शासन व्यवस्था और घनघोर सोवियत प्रभाव वाले पोलैंड में इन दोनों ही नहीं अनेक सारी बातों की मनाही थी। फिर पोलैंड ही नहीं वारसा संधि वाले देशों के ऊपर से सोवियत छतरी उतरी, ख़ुद सोवियत संघ बदला, बिखरा, जर्मन एकीकरण हुआ, बर्लिन की दीवार टूटी इत्यादि-इत्यादि। ज़ाहिर तौर पर ये सारे बदलाव एक ही दिशा के थे। द्वितीय विश्व युद्ध की भारी बर्बादी के बाद बनी व्यवस्थाओं ने धीरे-धीरे इतना तो कर दिया था कि दुनिया के भूगोल में ज़्यादा बदलाव न हों, हिंसा रोकने की अधिकतम कोशिशें हों पर तनाव इतना रहा कि 40-55 वर्षों की अवधि को बाकायदा शीत युद्ध ही कहा जाता था।

शीत युद्ध वाले दौर में हमारे जैसे मुल्कों और समाजों का अनुभव अलग था और अमेरिका-यूरोप का एकदम अलग। बर्लिन की दीवार सिर्फ़ जर्मनी और बर्लिन शहर को नहीं बाँटती थी, हर यूरोपीय के सीने पर सवार थी। दोनों तरफ़ लगी भारी तबाही ला सकने वाली मिसाइलें हर किसी को तनाव में ला देती थीं। हालत यह थी कि शहरों में दूर-दराज के इलाक़ों में परमाणु विकिरणरोधी बंकर बनाकर बेचने का धंधा शुरू हो गया था। बड़े-बड़े शिकारी चाक़ू इस तर्क से ख़ूब बिक रहे थे कि परमाणु युद्ध के बाद की दुनिया में यही काम में आएँगे। ज़ाहिर तौर पर इस मानसिकता वाले तनाव का दौर जब एक पक्ष के 'पराजित' होने से समाप्त होने लगा तो दूसरे पक्ष के दार्शनिक-बौद्धिक चहकने लगे। उन्होंने भूख, महामारी, ग़रीबी, अशिक्षा वग़ैरह भुलाकर इतिहास का अंत, आधुनिकता का अंत, युद्ध का अंत, लोकतंत्र की जय वग़ैरह-वग़ैरह की घोषणाएँ शुरू कर दीं। (अपने यहाँ के कुछ कथित आलोचक उठे तो उन्होंने कविता का अंत, कहानी का अंत वग़ैरह-वग़ैरह घोषित कर दिया।)

जयघोषों और अंतों की घोषणाओं का यह क्रम थमा भी नहीं था कि अमेरिका द्वारा ही कभी पोषित रहे ओसामा बिन लादेन (अमेरिका और पश्चिम बनाम सोवियत संघ की लड़ाई का मैदान पूरी दुनिया थी और अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत प्रभाव को दबाने के लिए अमेरिका ने अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान में कट्टरपंथी इस्लामी जमातों की इतनी मदद की जो बाद में इस इलाक़े और ख़ुद अमेरिका के लिए सिरदर्द बन गए) की टोली ने अमेरिका ही में ज़बरदस्त आतंकी तांडव मचाया। अमेरिकी शान को इतनी बड़ी चोट कभी नहीं लगी थी। बिलबिलाए अमेरिका ने फिर अफ़ग़ानिस्तान और इराक़ में जो कुछ किया वह कहीं से उन कथित सिद्धांतों और मूल्यों के अनुकूल न था जिनका जयघोष किया जा रहा था। दरअसल कई मायनों में यह उन व्यवस्थाओं का भी उल्लंघन था जिनका पालन कम से कम शीत युद्ध के दौर में भी हुआ। इराक़ पर हमले के मामले में तो अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र को भी ठेंगा दिखा दिया।

पर आतंकवाद से उसकी लड़ाई बहुत सफल होती नहीं लगती। अगर वह इस सवाल पर

दुनिया भर में मुहिम चलाने की बात कह रहा है तो आतंकियों ने भी अपना विश्वव्यापी नेटवर्क खड़ा कर लिया है। और डरावनी सच्चाई यह है कि इसमें इस्लाम का नाम लेकर आतंक मचाने वाली जमातें ही शामिल नहीं हैं। इसमें मज़हब, भाषा, इलाक़ा, विचारधारा के नाम पर हिंसक लड़ाइयाँ लड़ने वाली जमातें ही नहीं नशीले पदार्थों और हथियारों का अनैतिक धंधा करने वालों के साथ-साथ विशुद्ध अपराधी गिरोहों के लोग भी शामिल हैं।

आतंकवाद क्या है, क्यों है, क्या यह प्रतिहिंसा का रूप है, किस तरह इससे लड़ा और इसे ख़त्म किया जा सकता है, यह सब हमारी चर्चा का विषय नहीं है। पर यह माना जा रहा है कि आज दुनिया के सामने आतंकवाद एक नया और बड़ा ख़तरा है। जो चीज़ें मानव ने लंबे समय में हासिल की हैं, आतंकवाद एक झटके में उनका नाश कर देता है। आज आतंकवाद का डर सिर्फ़ शीत युद्ध के परमाणु युद्ध की तरह का न होकर ठोस हो गया है। भारत तो इसे लंबे समय से भुगत ही रहा है। अमेरिका पर हमले के बाद दुनिया के अनेक नामी ठिकाने इसकी जद में आ चुके हैं। अचरज नहीं कि आज हमारी राजनैतिक-रणनीति चर्चा में ही नहीं साहित्यिक चर्चा में आ गई है। बीते कुछ समय में दुनिया में जो किताबें सबसे ज़्यादा बिकीं और चर्चित हुई हैं उनमें *इज़ न्यूयॉर्क बर्निंग* भी एक है जो न्यूयॉर्क में एक परमाणु बम पहुँचने और इस्लामी आतंकवादी नेटवर्क की गतिविधियों को विषय वस्तु बनाता है। रहस्य, रोमांच, असली पात्र और कल्पना पर आधारित इस उपन्यास का अंत बम को बेकार करने में होता है।

कॉलिंस (लैरी) और लापिएर (डोमिनीक) का नाम हमारे लिए नया नहीं है। हमारी आज़ादी की लड़ाई को आधार बनाकर लिखा गया उनका उपन्यास *फ्रीडम ऐट मिडनाइट* न सिर्फ़ विवादास्पद बना था बल्कि उसने अपने विषय और प्रस्तुति को लेकर धमाल मचा दिया था। हमारे यहाँ ही आज़ादी की लड़ाई, नेहरू और बाद में इंदिरा गांधी के जीवन को लेकर दनादन उपन्यास लिखने का एक दौर ही उसके बाद में आया। बल्कि कैथरीन क्लैमां का *नेहरू और एडविना* तो सुपरहिट रहा। असली कथा और कल्पना को मिलाकर कथा कहने की इन दोनों की शैली दुनिया भर में हिट हुई। ख़ुद इसी जोड़ी ने फिर *इज़ पेरिस बर्निंग,* और द *फ़िफ़्थ हॉर्समैन* जैसी लगभग आधा दर्जन किताबें लिखीं।

फ्रीडम ऐट मिडनाइट के शोध के समय भारत के संपर्क में आए डोमिनीक लापिएर को तो यहाँ का कलकत्ता शहर इतना पसंद आ गया कि उन्होंने उसके ऊपर *सिटी आफ़ ज्वाय* नामक एक भरा-पूरा उपन्यास ही लिख दिया। पेशे से पत्रकार लापिएर को कलकत्ता की मलिन बस्तियों के लोग और कोढ़ियों से ऐसी हमदर्दी जगी कि इस उपन्यास की रॉयल्टी का ज़्यादातर हिस्सा उन्होंने उन पर ही ख़र्च कर डाला। बाद में यह उनके जीवन उद्देश्यों में एक बन गया और उन्होंने अपने कुल लेखन की रॉयल्टी का आधा हिस्सा शोषित, पीड़ित और उपेक्षित आम आदमी पर ख़र्च करने का एक नियम ही बना लिया। और कलकत्ता उनके मन में बसा ही हुआ है। उन्होंने भोपाल गैस कांड पर भी एक उपन्यास लिखा था, पर वह उतना 'सफल' नहीं रहा।

इस जोड़ी की नवीनतम किताब *इज़ न्यूयॉर्क बर्निंग* का हिंदी रूपांतर लगभग साथ-साथ आ गया है— *लपटों में न्यूयॉर्क* नाम से। इस जोड़ी की अन्य कई किताबों के हिंदी अनुवाद प्रकाशन के चलते सरस्वती विहार और हिंद पॉकेट बुक्स से उनका रिश्ता बन गया है। सो उनकी नवीनतम किताब आने के तत्काल बाद ही उसका हिंदी

...द भी हाज़िर है। और लगभग साल भर समीक्षा करते हुए यह सूचना दे देने में कोई नहीं है कि बिक्री और चर्चा या विवाद के ...ब से यह किताब इस जोड़ी या अकेले ...र की किताबों जैसी सफल नहीं हो पाई इस किताब ने अंतर्राष्ट्रीय बेस्ट सेलर के रूप शुरुआत तो की पर यह बिक्री चार्ट में उतने ...य तक शीर्ष पर नहीं रही जितनी आम तौर इस जोड़ी की किताबें रहा करती हैं। इसे ...तरह के रिव्यू भी कम मिले जो इस जोड़ी ...किताबों को मिला करते थे।

एक अर्थ में इसे अच्छा भी मानना चाहिए ...आतंक का खेल भले ही दुनिया के शासकों ...सिर चढ़कर बोल रहा है आम लोग अभी ...इतने ज़्यादा डरे नहीं हैं। हालाँकि उपन्यास ...भी आतंकी अपने इरादों में सफल नहीं होते सचमुच टिक-टिक करता बम न सिर्फ़ न्यूयॉर्क पहुँचा दिया गया था बल्कि उसके फूटने में कम ही समय रह गया था। न्यूयॉर्क नगर ...सन ही नहीं, पूरा का पूरा बुश प्रशासन इस ...ना और सच्चाई को लेकर परेशान होता है। ...की प्रशासन की चौकसी इस बम को बेकार ...देती है। पर तीन सौ पन्नों से ज़्यादा तक ...यह कथा आपको निरंतर परेशान करती ...है और अंत में आकर आप भी राहत ...स करते हैं।

...सल में तो यह कहानी सीधी-सादी इतनी ...ती है कि इस्लाम का नाम लेकर आतंक ...वालों ने अमेरिका को एक बार फिर ...ना बनाने और न्यूयॉर्क में परमाणु बम का ...ट कराने की योजना बनाई है। इसमें वे न ...परमाणु बम हासिल करने में सफल होते ...चोरी-छिपे उसे भारत की सीमा में ...कराके यहाँ से अमेरिका जाने वाले ...की पेटी में एक क़ंटेनर में डालकर ...भेज देते हैं। वहाँ भी आतंकी इसे हासिल करके अपने ठिकाने तक ले जाते हैं। इसका पता चलते ही अमेरिकी प्रशासन सक्रिय होता है और अंत में इसे विफल करने में सफल होता है। पर असल में पहले पाँचेक पन्नों से शुरू हुआ रोमांच अंत आने तक बना रहता है और यही इस लेखक जोड़ी की सबसे बड़ी सफलता है।

पर ऐसा करने के लिए इस जोड़ी ने सचमुच अथाह श्रम किया है। कथानक को नाटकीय रखना उसका एक छोटा पहलू भर है। असल में 9/11 के बाद के अमेरिकी समाज और प्रशासन ही नहीं आतंकी गतिविधियों, उनकी शक्ति के स्रोतों और पात्रों के गंभीर और बारीक अध्ययन के साथ-साथ लेखक ने विज्ञान, अपराध विज्ञान और ख़ुफ़िया पुलिस के काम-काज के तरीक़ों पर भी गंभीर पढ़ाई और शोध किया है। जब अमेरिकी प्रशासन का एक ख़ुफ़िया अधिकारी कंपास लेकर शहर के नक़्शे पर यह स्पष्ट चिह्नित करता है कि बम कितने बड़े दायरे में ही है तो पाठक हैरान होता है। पर अकेला यही मामला नहीं है। आतंकियों की कार्यशैली और जीवन शैली, उनके तर्क (जिसके आधार पर वे पाक परमाणु वैज्ञानिक को अपने साथ लाने में सफल होते हैं), उनके मददगार मुल्कों-संगठनों, अमेरिकी प्रशासन, उसकी सोच, उसके मुख्य पात्रों की कार्यशैली और मनोदशा जैसी सारी चीज़ें लगभग वास्तविक हैं। इस्लामी आतंकवाद को मदद देने वाले मुद्दे भी किताब में हैं पर ज़ाहिर तौर पर उन पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया गया है।

पर अपनी बनावट और कसावट के चलते यह उपन्यास आख़िर तक आपको नहीं छोड़ता। अमेरिकी शासन, उसकी नीतियों और आतंकी कार्यप्रणाली पर नित नई सूचनाओं के आने-जाने के दौर में उसी को विषयवस्तु बनाना, ऐसा रोचक उपन्यास लिखना कम चुनौती का काम न

था। अनुवाद न सिर्फ़ तत्काल हुआ है बल्कि बहुत अच्छा हुआ है। 'कंटेनर' को 'पेटी' कहने जैसे एकाध अटपटेपन को छोड़ें तो कहीं भी अनुवाद पढ़ने जैसा भाव नहीं आता। अगर अनुवाद का नाम चारुचंद्र पाठक वास्तविक है तो इस सज्जन को साधुवाद, वरना इतने अच्छे अनुवादक का नाम छुपाने के लिए प्रकाशक आलोचना का पात्र होगा।

चर्चित उपन्यास :

लपटों में न्यूयॉर्क : डोमिनीक लापिएर और लैरी कॉलिंस; चारुचंद्र पाठक; सरस्वती विहार-13, सेक्टर-81, फ़ेज़-II, नोएडा; 2005; 295 रुपए

अनुवादक और पत्रकार। संपर्क : 78-डी, आई-पॉकेट, दिलशाद गार्डन, दिल्ली 95, मो. 09811826111

वेद प्रकाश

'पाकिस्तान' कहीं नहीं है

असग़र वजाहत, साठोत्तरी चर्चित कथाकारों की पीढ़ी के थोड़े ही बाद के कहानीकार हैं। उन्हें, इन्हीं की पीढ़ी का रचनाकार कहा जाएगा। ये कहानीकार दो-दो, तीन-तीन अच्छी कहानियाँ लिखने के बाद सक्रिय तो रहें, लेकिन इनमें से किसी को अपने 'अनुभव' की सीमा का ज्ञान हो गया और उसने लिखना बंद कर दिया। कोई गंभीरता से शुरुआत करने के बाद एक तरह के खिलंदड़ेपन या अगंभीरता में डूब गया। कोई आजीवन इस खिलंदड़ेपन, हल्के-लापरवाह ढंग के हास्य-व्यंग्य, आवश्यकता से अधिक बोलने और दूसरों की यातना में रस लेता रहा। बाद के अनेक रचनाकारों पर इस प्रवृत्ति का गहरा असर पड़ा। कई समकालीन संस्मरणकारों में भी इसे देखा जा सकता है। असग़र वजाहत की कहानियाँ, कम ही सही—इस प्रवृति से प्रभावित रही हैं। लेकिन उनकी वे कहानियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें वे इससे बाहर निकलकर समकालीन कहानीकारों के बीच विशिष्ट पहचान बनाते हैं। उनके चौथे कहानी-संग्रह *मैं हिंदू हूँ* में अठारह कहानियाँ हैं। इनमें से अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपने के बाद चर्चित रही हैं। एक कहानी 'तख़्ती' को उपर्युक्त प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है। इस कहानी से संबंधित विषय पर असग़र वजाहत ने *कैसी आगि लगाई* नामक उपन्यास भी लिखा है। इसे पढ़कर लगता है कि 'सात आसमान' का लेखक कोई और ही था। 'तख़्ती' कहानी के वाचक की कुंठा है कि वह अयोग्य है या उतना योग्य नहीं है जितना उसे होना चाहिए। वह अपनी अयोग्यता के कारणों की खोज में निकलता है। कारण के रूप में अपने गुरुजन दिखाई देते हैं। वाचक 'गुरुदेव कौ अंग' की कुख्यात संस्मरण-शैली में उनका वर्णन करता है। वह जानता है कि यह ठीक नहीं है, ''लोग उन स्कूलों और विश्वविद्यालयों का नाम जानना चाहते हैं जहाँ मैं पढ़ा हूँ। कुछ लोग मेरे गुरुजनों के नाम पता लगाने की धृष्टता करते हैं। अब मैं क्या कहूँ, कमीनेपन की भी हद होती है।'' पर वह स्वयं भी इसमें शामिल हो जाता है। असग़र वजाहत इस प्रवृत्ति से बाहर इसलिए निकल पाए कि उन्होंने भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता की विभीषिका से ग्रस्त सामान्य मनुष्य के पक्ष में खड़े होकर उसकी यातना को अभिव्यक्त किया। 'ज़ख़्म' का मुख़्तार, 'नाव' का बंदर नचाने वाला, 'गिरफ़्त' का मल्लू, 'मैं हिंदू हूँ' का सैफू, 'ज़िम्मेवारी' का दुलीराम,

...ों का कोई मसीहा नहीं होता' का मामू, ...याँ, शाहआलम कैंप की रूहें सब सामान्य ...हैं। लेखक की इनके प्रति सहानुभूति है। ...हानियों में मोहभंग रचनात्मक मूल्य के ...में निहित है। लेखक ने अपने प्रामाणिक ...ों को रचना के रूप में ढाला है। यह ...यक नहीं कि हर अनुभव कहानी बन ही ...। इनमें से कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो कहानी ...धिक संस्मरण हैं। कहीं-कहीं भूमिका के ...में विस्तृत विचार हैं जो निबंध के निकट ...े हैं। कहीं ज़रूरत से अधिक भाषा-प्रयोग ... ज़ाहिर है कि इन कहानियों का लेखक ...रण और निबंध विधा को कहानी से घुला-...ा देने की प्रेमचंद और परसाई जैसी क्षमता ...ीं रखता। इसलिए ये विधाएँ कहानियों में ...ता से दिखलाई पड़ती हैं। जहाँ संस्मरण-...ंध नहीं है, वहाँ लघुकथाओं या छोटी ...नियों के रूप में अचूक मार करने वाली ...नियाँ हैं। इस क्षेत्र में असग़र वजाहत अपने ...कालीनों में संभवतः सर्वश्रेष्ठ हैं।

...नमें से ज़्यादातर कहानियों का संदर्भ ...हासिक-सामाजिक है। इन्हें पढ़ते हुए कहीं-...हीं शानी और परसाई की याद आती है। शानी ...स्लिम जीवन के अंतर्विरोधों का भरपूर चित्रण ...या है। इन कहानियों में भी वह है लेकिन ...म है। यहाँ मुस्लिम समुदाय के जीवन के ...त्मक पक्ष अधिक चित्रित किए गए हैं। ...बहुत हिम्मत की बात तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टि ...हो सकती है और 'सेक्युलरिज़्म' का दबाव ...लेकिन अनावश्यक नहीं क्योंकि 'सेक्युल-...म' यहाँ फ़ैशन या अवसरवाद नहीं एक ...ीय मूल्य के रूप में स्थित है।

...असग़र वजाहत की रचना-यात्रा में दुख और ...साद निरंतर बढ़ता गया है। वह इस हद तक ...ते हैं कि सांप्रदायिकता विरोधी सम्मेलन करने ...लोग झूठे, पाखंडी, कामचोर और बेईमान नज़र आते हैं। 'ज़ख़्म' कहानी में वाचक द्वारा झुंझलाकर कही गई यह बात पूरी तरह असत्य नहीं कही जा सकती। यह मोहभंग ऐतिहासिक तथा नवीन है। इनमें से अनेक कहानियाँ गुजरात में नरसंहार के बाद लिखी गई हैं। अब 'खान बहादुर का आईना' (शीशों का कोई मसीहा नहीं होता) पूरी तरह टूट चुका है। यह आईना एक मूल्यवान परंपरा का प्रतीक था जिसे मामू जैसा मामूली आदमी सुरक्षित रखे हुए था। हिंदू-मुस्लिम, सभी उसे मामू कहते थे। अब नहीं कहते क्योंकि अब लोग 'हम' और 'वे' में बँट चुके हैं। लेखक की बढ़ती यातना का एक कारण और है। क्या हमारे देश में सांप्रदायिकता को लेकर हिंदुओं और मुसलमानों का अनुभव समान है? इस अभिशाप को जितना मुसलमानों ने सहा है उतना शायद हिंदुओं ने नहीं सहा। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने शानी की कहानियों में डर नामक भाव की व्यापकता का उद्घाटन किया है और इसे शानी के अल्पसंख्यक होने से जोड़ा है। क्या असग़र वजाहत का बढ़ता हुआ दुख और अवसाद (मृत्यु की फ़ैंटेसी की हद तक) उनके अल्पसंख्यक होने के कारण है? जिस तरह शानी के यहाँ भय या डर रचना मूल्य है उसी तरह असग़र वजाहत ने अपने अर्थात् एक समुदाय के ऐतिहासिक दुख को रचना-मूल्य बना दिया है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने यह भी उल्लेख किया है कि "शानी ने एक आत्मपरक निबंध लिखा है—'काश मैं हिंदू होता'। यह हिंदुत्व के प्रति आकर्षण नहीं, स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुस्लिम होने की पीड़ा की चीख़ है।" असग़र वजाहत की कहानी ही है—'मैं हिंदू हूँ'। इसका मुख्य पात्र सैफू अधपागल होने की हद तक सीधा या बेवक़ूफ़ है। कर्फ़्यू के दिनों में ख़ाली बैठकर मज़ा लेनेवाले उसे बेहद डरा देते हैं। वह मानने लगता है कि हिंदुस्तान केवल हिंदुओं का देश है। इसमें वही बच पाएगा जो हिंदू हो

जाएगा। वह वाचक से पूछता है, ''बड़े भाई, मैं हिंदू हो जाऊँ?'' 'मेरे मौला' के खलील मियाँ सालों से वाचक की दाढ़ी ट्रिम कर रहे हैं। लेकिन इस बार अचानक वाचक को कहना पड़ा, ''अरे, यह हुआ कि तुमने दाढ़ी इतनी छोटी कर दी कि लगता है, है ही नहीं।''

''नहीं...इतनी तो...पर अच्छा ही है, मियाँ!'' वे चुप हो गए। कुछ नहीं बोले। लेकिन शायद वे कहना चाहते थे—पजामा खुलवाने में टाइम लगता है, मियाँ...दाढ़ी देखकर...।''

पी.ए.सी. के जवानों द्वारा पीटे जाने पर सैफू ज़ोर-ज़ोर से चीख़कर कहता है, ''मुझे तुम लोगों ने क्यों मारा...मैं हिंदू हूँ...हिंदू हूँ...'' 'शाह आलम कैंप की रूहें' में दंगों में मारी गई माँ की रूह अपने ज़िंदा रह गए बेटे से कहती है, ''सिराज तुम्हारे नगड़ दादा...हिंदू थे...हिंदू...समझे? सिराज ये बात सबको बता देना...समझे?''

हमारे देश के बहुत बड़े समुदाय को लगातार अस्मिता विहीन बनाया जा रहा है। सामान्य मुसलमान को न हिंदुस्तान मिला, न पाकिस्तान। जिस पाकिस्तान की वह कल्पना करता है, वह कहीं नहीं है। केवल किंवदंतियों में है, ''सैफू ने पाकिस्तान, पाकिस्तान और पाकिस्तान का वज़ीफ़ा सुनने के बाद एक दिन पूछ लिया था कि पाकिस्तान है कहाँ? इस पर सब लड़कों ने उसे बहुत खींचा था। वह कुछ समझा था। कुछ नहीं समझा था, लेकिन उसे यह पता नहीं लग सका था कि पाकिस्तान कहाँ है।''

स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्यंग्य और घृणा का महत्त्व बढ़ा है। शिल्प के रूप में फ़ैंटेसी का भी। परसाई की रचनाएँ इसका प्रतिमान हैं। यदि व्यंग्य प्रतिबद्ध हो तो उसका परिणाम घृणा में पर्यवसित होता है। इस घृणा को सात्त्विक घृणा कहना चाहिए। समकालीन भारत में प्रशासन तंत्र और जनता का क़रीब-क़रीब मुकम्मिल अलगाव हो चुका है। अलगाव तो एक विचार है किंतु इसके अनुभव की यातना जिसे सामान्य लोग भोग रहे हैं, भयावह है। यह भयावहता अभिव्यक्त होने के लिए—यानी वास्तविकता प्रकट करने के लिए फ़ैंटेसी रचती है। असग़र वजाहत की इन कहानियों में सांप्रदायिकता, राजनीति, प्रशासन तंत्र पर व्यंग्य है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए वे फ़ैंटेसी का उपयोग अकसर करते हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'स्वीमिंग पूल' के अंत में द्रुत परिवर्तन होता है। ऐसा ही परिवर्तन 'गिरफ़्त' कहानी में भी है। सरकारी अस्पताल, अस्पताल न रहकर बाज़ार बन जाता है जहाँ काला, सूखा, मरियल, हड्डियों का ढाँचा मल्लू ख़ून बेचता है। आँख पचास हज़ार में, किडनी एक लाख में, दिल दो लाख। अस्पताल क्या है मानव-अंगों का शॉपिंग मॉल है, ''अचानक पूरा परिदृश्य बदल गया। नर्स नर्तकी बन गई। डॉक्टर गायक/कव्वाल बन गया। जूनियर डॉक्टर तबलची बन गया। चपरासी सारंगी लेकर बैठ गया और डॉक्टर ने तान मारी...यहाँ हर चीज़ बिकती है...मेरी जाँ...ओ मेरी जाँ...यहाँ हर चीज़ बिकती है... संगीत...तबला, हारमोनियम, घुँघरू बाँधे नर्स नाचने लगी...यहाँ हर चीज़ बिकती है। जूनियर डॉक्टर तबले पर पिल पड़ा और चपरासी सारंगी पर झुक गया...मेरी जाँ क्या ख़रीदोगे?'' घृणा की ऐसी ही अभिव्यक्ति 'नया गणित' कहानी के आरंभ में भी है।

'मैं हिंदू हूँ' संग्रह की एक कहानी (ज़िम्मेवारी) ऐसी है जिसे अपने विषय की संभवतः अभूतपूर्व कहानी कहा जा सकता है। इसके कहने का ढंग भी। इसमें न व्यंग्य है, न घृणा और न ही निबंध की शैली। इसमें वाचक की उपस्थिति नहीं है। रचनाकार बहुत कम बोलकर बहुत कुछ कहता है। पात्र हैं, उनके बीच संवाद नहीं हैं। असग़र वजाहत की यह अकेली कहानी है जिसमें वे सीधी-सादी, अभिधा की शैली में, बेहद ठंडेपन के साथ लेकिन झकझोर

...स्थितियों को रखते चले जाते हैं। हमारे ...के परिवार सहित आत्महत्या करनेवालों ...निरंतर बढ़ रही है। इसमें किसान, ...मध्य वर्ग सभी शामिल हैं। 'ज़िम्मेवारी' ...निम्नवर्गीय है। आत्महत्या करनेवाले ...हैं। यह बताने के लिए नहीं रहते कि अपने बच्चों के प्रति कितनी ममता थी। ...ते हुए माता-पिता को कैसा लगा था। ...नी में एक कल्पना है, फ़ैंटेसी है, लेकिन ...ढंग की क्योंकि वह फ़ैंटेसी लगती ही ...इस कहानी के बारे में मार्मिकता-दारुणता ...शब्द हल्के पड़ते हैं क्योंकि इसमें कुछ ...स्थितियों-अनुभावों को इस तरह प्रस्तुत ...गया है कि वे मार्मिक-दारुणता को कई ...बढ़ा देते हैं। दुलीराम की चार संतानें थीं। ...लड़के, सबसे छोटी मुनिया। वह एक-एक ...बच्चों की हत्या करता है, यह हत्या नहीं ...की गई आत्महत्या है। एक वर्णन देखिए, ...छोटे के गले के नीचे रस्सी रखकर ...था। शायद उसे इंतिज़ार था। पत्नी ...के पास आई और उसे चूम लिया। पत्नी ...देखा-देखी दुलीराम भी छोटे पर झुक गया। ...के बाल माथे पर आ गए थे। दुलीराम ने ...दिया। माथे पर चोट का पुराना निशान ...धीरे-धीरे रस्सी कसने लगा। जाने कैसे ...के होंठ हिले जैसे हँसा हो।'' एक वर्णन ...बार-बार देखिए कहना क्रूरता लगती है)— ...स्टूल ले आई दुलीराम ने पंखा बंद किया। ...चढ़ गया और पंखे में कसकर रस्सी ...पत्नी अपने आप पास आई। स्टूल पर ...दुलीराम ने रस्सी उसके गले में बाँध ...की आँखें जड़ हो गईं। उसने ज़ोर से ...फेफड़ों में भरी। बच्चों की तरफ़ ...की तरफ़ देखा। ऊपर पंखे की ...बल्ब को देखा। दुलीराम ने स्टूल ...वह चाकू ले आया और गाँठ काट दी। पत्नी फ़र्श पर ज़ोर की आवाज़ के साथ गिरी और उसकी धोती पैरों पर से हट गई। उसकी पिंडलियाँ तक दिखाई देने लगीं। दुलीराम ने जल्दी से उसकी धोती ठीक कर दी।'' इसके बाद ख़ुद को मारने से पहले दुलीराम ने बड़कू की गणित की कॉपी पर लिखा था, ''मैं दुलीराम, अपने परिवार के साथ आत्महत्या कर रहा हूँ। मेरी और मेरे परिवार की हत्या की ज़िम्मेवारी किसी पर नहीं है।'' अंतिम वाक्य इस कहानी का निचोड़ है। इसमें से एक प्रश्न गूँजता है कि क्या दुलीराम द्वारा की गई 'आत्महत्याएँ', हत्याएँ नहीं थीं ? ये हत्याएँ किसने कीं ? इनका ज़िम्मेदार कौन है ?

लेखक का मानना है कि सामाजिक अवमूल्यन या संवेदनहीनता निरंतर बढ़ती जा रही है। दंगों की ख़बरें लोग इस तरह सुनते हैं जैसे 'गर्मी बहुत बढ़ गई है' या अबकी पानी बहुत बरसा जैसी ख़बरें सुनी जाती हैं। अख़बारों के लिए ये हाशिए की मामूली, साधारण ख़बरें बन गई हैं। 'नाच' का मदारी कहता है, ''देख जमूरे ये दुनिया वाले ज़ालिम हैं। नाचने वाले का नाच देखकर उन्हें मज़ा नहीं आता...हाँ जो नहीं नाचता...उसे नाचता देख लोगों को मज़ा आता है।'' मदारी लोगों को आकर्षित करने के लिए नई रणनीति बनाता है। यही चुनौती रचनाकार की भी है। शिल्पगत प्रयोग संवेदना को पाठकों तक पहुँचाने की रणनीति होते हैं। असग़र वजाहत का शिल्प भी ऐसा ही है। वे पाठक को क्षुब्ध करना चाहते हैं। इसके लिए वे विसंगति और विडंबना को इतने सामान्य—जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं, और जो कुछ हो रहा है—वह नितांत आम, रोज़मर्रा की बात है, के लहजे में बयान करते हैं। लेकिन यह लहजा उनकी कहानियों की हृदयद्रावकता को कई गुणा बढ़ा देता है। 'मुश्किल काम' कहानी का आरंभ क़िस्सागोई के ढंग का है। हत्यारे निहायत हल्के-फुल्के ढंग से बातें

करते हुए बताते हैं कि सबसे मुश्किल काम अबोध बच्चों की हत्या करना है। इन कहानियों में आए मृत्यु के बाद के बिंब भी इसी रणनीति का हिस्सा हैं। 'शाह आलम कैंप की रूहें' इसका सशक्त उदाहरण हैं। यहाँ व्यंग्य, क्षोभ, आक्रोश, शिल्प—सब घुल-मिलकर एक हो गए हैं। यह असग़र वजाहत के लेखन का श्रेष्ठतम है। यानी वे प्रभावशाली लघुकथाएँ लिखने में तो अद्वितीय हैं लेकिन जब वाचक के रूप में बहुत अधिक विचार करने लगते हैं या दंगों के आर्थिक-राजनीतिक कारण बताने लगते हैं या सीमा से आगे व्यंग्य या भाषा का प्रयोग करते हैं तो कहानियों की प्रभावशीलता में बाधा बनते हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

मैं हिंदू हूँ : असग़र वजाहत; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

वेद प्रकाश के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : जी-39, ज्ञानसरोवर कॉलोनी, राम... रोड, अलीगढ़

मनीषा कुलश्रेष्ठ

मानवीयता से थोड़ी और उम्मीद

कश्मीरी आतंकवाद हो, पंजाब का आतंकवाद हो या शांति सेना में श्रीलंका जाने का अनुभव हो या कारगिल का छद्मयुद्ध हो। चाहे वह पश्चिमी सीमांतों की तैनाती हो या ठेठ उत्तर पूर्वी इलाक़ों की, एक फ़ौजी नित नए अनुभवों से दो-चार होता ही है। यही विविध और अनूठे अनुभवों का विस्तार फलक हीरालाल नागर के कहानी-संग्रह *अधूरी हसरतों का अंत* में उपस्थित है। हर लेखक अपने परिवेश के समुद्र में गोता लगाकर अपनी रचना के कथ्य-परिवेश को सूक्ष्मदृष्टि से परख कर ही उसे साहित्य जगत को देना चाहता है। यह सतर्कता हीरालाल नागर ने ख़ूब बरती है। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ इकहरी न होकर अर्थबहुल कहानियाँ हैं। विषय-वैविध्यता से रचे-बुने इस कथा-संसार में परिवेश भी विविध हैं। इस विविधता में पठनीयता का जादू बरक़रार रहा है।

'कैंप के भीतर बाहर' इस संग्रह की एक सशक्त कहानी है। इसे सिर्फ़ हीरालाल नागर ही लिख सकते थे, जिन्होंने इस दुर्लभ ऐतिहासिक अनुभव और शांतिसेना को जिया भी है; न केवल भीतरी कोनों में झाँकने दिया है। इस कहानी के नायक कर्नल सोलंकी हैं, एक समर्पित वीर सैनिक भी। एक तरह से महानायक की श्रेणी में होते हुए भी वे एल.टी.टी.ई. के छापामारों के दाँत खट्टे करते हुए स्वयं भावनात्मक स्तर पर चल रहे सतत युद्ध में हारते जा रहे हैं। एक सीधी छद्म भरी लड़ाई के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व के भीतर भी एक फ्रंट खुला है। परिवार की अंतहीन इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का, जिन्हें पूरा करने के लिए वो कर्तव्यों के साथ गद्दारी नहीं करना चाहते। वे लिट्टे के सताए तमिलों की एक वॉलेन्टियर फ़ोर्स बनाना चाहते हैं, जिन पर उनके सैनिकों को ज़रा भी विश्वास नहीं, ... उन्हें है। इसके चलते वे एक बड़ा ऑपरेशन ... करते हैं और डेढ़-सौ लिट्टे लोगों को मार ... हैं। लेकिन अपने अंदर वे बार-बार हारते रहते हैं।

'लाश' में एक ग्रामीण युवती की हत्या, ... की अपमानजनक विवशता, प्रेमी पर शक और पुलिसिया गोरखधंधे की गाथा है। इस कहानी के समानांतर चलती है गाँव के क़िले की ...

प्रेम कहानी। राजकुमारी अनन्याबाई और उसकी हत्या की षड्यंत्रभरी गाथा। में कुछ मुद्दे आरोपित-से प्रतीत होते हिंदू-मुसलमान संबंध, प्रेम त्रिकोण। यह कहानी अपना असर बनाए रखती कहानी में कथ्य, शिल्प और भाषा के इस कहानी को अनूठापन देते हैं।

सामने पड़ी है। अधजली और लगभग लाश। कुछ समय पूर्व इस मृत देह में को चमत्कृत कर देने वाली आत्मा थी, लाश के सिरहाने खड़ी होने के लिए है। फूल को कुचले जाने से जैसे गंध, साथ छोड़ देती है, ठीक वैसे ही रीमा के कुछाले जाने से उसकी आत्मा साथ हवा में टँग गई है।''

अंदर की कुंठा, द्वंद्व, हार और इसकी अपराध या आत्महत्या इस सबकी सामाजिक और समकालीन स्थितियाँ इसका दस्तावेज़ है यह कहानी 'लाश'। राईट' और 'अर्धमूर्च्छित' एन.सी.सी. महिला कैडेटों के जीवन और उनकी आकांक्षाओं के साथ खिलवाड़ की कहानियाँ के दौरान उनके साथ एन.सी.सी. के अफ़सरों और जवानों के किए गए लापरवाही भरे व्यवहार का कच्चा खोलती हैं ये कहानियाँ।

की गलियों का वर्तमान में खुलना वर्तमान की गलियों का अतीत में गुम हो हीरालाल नागर की कहानियों की विशिष्टता कई बार ये गलियाँ गुंजल बन जाती हैं कहानी के पाठ को असहज बनाती हैं। इस में उनकी कहानियाँ 'सज़ायाफ़्ता' और दिन के बाद' ऐसी ही गुंजलदार कहानियाँ दिन के बाद' का परिवेश उत्तर पूर्वी का है, यह कहानी उन सभी उत्तर पूर्वी की युवतियों के जीवन की सच्ची कहानियों का प्रतिनिधित्व करती है जो इन इलाक़ों में पदस्थ फ़ौजी जवानों के साथ प्रेम करती हैं और भविष्यहीनता का शिकार होती हैं। कहानी बहुत सुंदर ढंग से लिखी गई है इसलिए कथानक का दोहराव महसूस नहीं होता।

''...लेकिन क्या जंगली लताओं को किसी देखभाल की ज़रूरत होती है? ये थोड़े से खाद-पानी से हरियाने लगती हैं। लोगों की जूठन खा-खाकर जवान हुई थी कुंती और जंगली फूलों की तरह महकने लगी थी उसकी देह। यह अछूती देह-गंध उसके लिए ज़हर बन गई, जिसे वह घूँट-घूँट पी रही है, बैड नं. चार पर पड़ी हुई।''

'शांतनु दा की परछाईं' अख़बारों के दफ़्तरों की राजनीति और वहाँ के शतरंज के मोहरों और शातिर खिलाड़ियों की एक से एक घुटी हुई चालों की कहानी है, जिसे लेखक ने पूरे मनोयोग से रचकर पाठकों तक पहुँचाया है। दूसरा आयाम है 'बची हुई रात' जो एक बाँझ औरत की आत्महत्या और नर्सों के नीरस जीवन की कहानी है, जहाँ मृत्यु के अर्थ बहुत सतही हैं, रोज़मर्रा के-से। मगर कोई-कोई मृत्यु वहाँ भी अपने आप में अभूतपूर्व घटित हो जाती है और कहानी बन जाती है।

'अधूरी हसरतों का अंत' में जीवनराम का जीवट चरित्र है और नरेटर के रूप में परोक्ष व अपरोक्ष रूप से जाफना की सड़कों, जाफना शहर के खंडहर में तब्दील हो गए हिस्सों, रौंदी हुई सेंट्रल लायब्रेरी में घुमाते हुए स्वयं लेखक मौजूद हैं। शांति सेना में तैनात भारतीय सैनिकों की मानसिकता और उनके प्रति श्रीलंकाई लोगों की कड़वाहटें इस कहानी में बारीकी से उभारी गई हैं।

'तमंचा और रामदास की क़ब्र', 'ख़ाली जगह' इस संग्रह की औसत कहानियाँ हैं लेकिन इस संग्रह की अंतिम कहानी 'इमली का पेड़' एक सफल कहानी है। मानवीयता और मानवीयता

को लेकर एक सकारात्मक उम्मीद लेखक की कहानियों के संसार में सदा मौजूद रहती है। जीवन उनकी कहानियों में तमाम जद्दोजहद के बावजूद एक उत्सव मनाता प्रतीत होता है, एक बेहतर संसार की प्रार्थना और कामना में।

चेतन संपन्नता और सहज संवादी भाषा कथाभूमि को समझने में सहायक औज़ार का काम करती है। इन कहानियों पर कहीं से किसी विमर्श का कोई दबाव नहीं, यही बात इन कहानियों की पठनीयता में वृद्धि करती है। 'सपाटता' की क़ीमत पर भी ये कहानियाँ निश्छल और नई प्रतीत होती हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

अधूरी हसरतों का अंत : हीरालाल नागर; सुनील साहित्य सदन, 3320–21 जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

मनीषा कुलश्रेष्ठ एक उभरती कथा लेखिका और समीक्षक हैं। इनके आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। संपर्क : 218, एरिया ऑफ़िसर्स फ़्लैट, आगरा एअरफ़ोर्स स्टेशन, खेरिया, आगरा 282008 (उ.प्र.)

सी. भास्कर राव

रेत से सीढ़ी बनाते हुए

रेत की सीढ़ी, शीर्षक से एक स्पष्ट बिंब उभरता है, उसके पीछे कोई भाव, भाव के पीछे कोई पीड़ा, पीड़ा का मानवीय संदर्भ। काफ़ी कुछ कह जाता है यह शीर्षक। जैसे इस शीर्षक में ही एक पूरी कविता समाई हुई हो। जब कुछ पृष्ठ आगे जाकर कवि इसको किंचित् विस्तार देता है तो उसके शब्द, वाक्य और पंक्तियाँ, अर्थ और ध्वनियाँ, इस शीर्षक को और भी भावनात्मक तथा प्रतीकात्मक सौंदर्य प्रदान करती हैं—कविता लिखना और रेत की सीढ़ी पर चढ़ना एक ही जैसा दुष्कर कार्य है। मैंने कितना चाहा वहाँ पहुँचने के लिए, जहाँ से जलधारा दिखाई देती है, पर हो न सका।... कवि की ये चंद पंक्तियाँ हमें उसके मानसिक संसार से जोड़ देती हैं, जिससे जुड़े बिना न तो कविता के मर्म को समझा जा सकता है, न कवि के मन को।

देवदास छोटराय मुख्यतः कविताएँ लिखते हैं, पर अभी तक उनका सिर्फ़ एक ही संग्रह–*नील सरस्वती* ओड़िया में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन के प्रति अवहेलना के बावजूद उनकी कविताएँ पिछले चालीस वर्षों से ओड़िया की लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छप रही हैं और अन्य भारतीय भाषाओं और विदेशी में अनूदित हुई हैं। *रेत की सीढ़ी* हिंदी में प्रकाशित उनकी पहली किताब है।

इस संग्रह की एक ख़ूबी यह है कि इसमें संकलित सारी कविताओं को चार वर्गों में बाँटा गया है और प्रत्येक वर्ग का एक अलग शीर्षक है, जैसे...ओस, रोशनाई, अकेली रात, औचक धूप।...यह विभाजन बहुत स्पष्ट, विषयोचित, अनुभवगम्य और मनःस्थितिपूर्ण है। इस संग्रह की कविता यात्रा आरंभ होती है एक आंतरिक सुर और स्वर से :*अब मत भेजो तुम/टप-टप आँसुओं की ओस/ग़लत पते पर/मैं अब वहाँ नहीं रहता/मैं किसी गली के किनारे/बतख बदसूरत अँगूठा बन/डोलता हूँ/अब क्या लाभ साबित करके/उज्ज्वल छाया की बात/नदी की बात/दोपहर की बात/अब मैं वहाँ नहीं रहता किसी घुप्प जंगल में/जल रहा हूँ/पेड़ों का कंकाल बनकर...*। वस्तुतः इसी बिंदु या पड़ाव से कवि की अंतर यात्रा आरंभ होती है। वह केवल कवि की एकांगी यात्रा भर नहीं रह जाती, क्योंकि ...

पाठक के रूप में भी यही महसूस करते हैं ...मैं अब वहाँ नहीं रहता। तब अनायास कवि अकेलापन, उसकी पीड़ा, उसका विस्थापन री अपनी संवेदना बन जाती है। यह है, कविता का सघन प्रभाव कि पहले हम वि के साथ होते हैं, फिर कवि होते हैं, तब कविता बनते और जीते हैं।

र कवि और कविता की एक विशेष भावभूमि ती है, उससे जुड़े बिना, कविता को जीना व नहीं है। इन कविताओं में दर्द का एक नुंदर है, उसमें धीरे-धीरे गहरे उतरे बिना उसकी हराई और गूँज को महसूस नहीं किया जा सकता। तभी कवि की पीड़ा और पीड़ा के उस गीत को सुना जा सकता है, जो इन कविताओं के पीछे एक निरंतर बहती रागिणी के रूप में मौजूद है। इसके साथ ही हम कवि की इस त्रा में आगे बढ़ पाते हैं और जान पाते हैं कि क्यों वह अपने दूसरे वर्ग की कविताओं की शुरुआत इस कविता से करता है : *मैं एक दिन/काले काग़ज़ पर/सफ़ेद रोशनाई से लिखूँगा/तुम देखना/तुम सोचोगी/शायद यह/मेरी नींद पर/सपनों के चाबुक का निशान है/या काले गुलाब पर ओस/या रात के आकाश में तारे/या मौत के साथ जैसे खेलना/मैं एक दिन/इतिहास को/सफ़ेद रेत का उजाड़ बना दूँगा/तुम देखना*। इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ हमें संग्रह के पहले वर्ग की कविताओं से आगे और एक अलग भावभूमि में ले जाती हैं।

देवदास छोटराय की कविताओं में शब्दों का अद्भुत विन्यास मिलता है। अपने अर्थ और ध्वनि से भी पहले उनके शब्द बाँधते हैं। किसी तिलिस्म की तरह, किसी सम्मोहन की तरह, किसी अबूझ पहेली या रहस्य की तरह। शब्दों की सरलता ही अर्थ की गहराई और ध्वनि का विस्तार बन जाती है। 'अकेली रात' में यह एहसास होता है कि कैसे शब्द, बिंब में ढलता जाता है : *आज जैसी अकेली रात/मैंने कभी नहीं देखी/समुद्र, नक्षत्र, ऋतु, चराचर/हर कोई अकेला है/आज जैसा अकेला/मैं नहीं था किसी रात में/आज मेरा ख़ून, मांस/नींद और साँस/सब कुछ अकेला है...* अकेलेपन का जो विस्तार अपने भीतर से लेकर चराचर तक जिस रूप में अभिव्यक्त हुआ है, उससे यह अनुभूति भी होती है कि किस तरह शब्द बिंब में और बिंब ब्रह्म में रूपायित होता जाता है। प्रत्येक बिंब एक दृश्य के रूप में परिवर्तित होता जाता है, दृश्य अपने अमूर्तन और सूक्ष्मता के साथ, एक अनुभूति में रूपांतरित होता है, एक ऐसी अनुभूति में जो गहन और सघन है। यह एक यात्रा है। अनुभव से अनुभूति तक की एक अंतरंग यात्रा।

'औचक धूप' में कवि अपने पिछले लगभग सभी रूपों से भिन्न दिखता है। कोमलता की जगह क्षोभ, भावुकता की जगह आक्रोश, रूमानियत की जगह विरोधात्मकता को देखा जा सकता है : *प्रत्येक हृदय में थे तीर धनुष/प्रत्येक आँख में एक तसवीर/ख़ून से लथपथ साम्राज्य की/एक क्रूर गीत गली गली/रात बीतने पर दिखती है/टूटे शीशे-सी सुबह* । भावनाओं के विभिन्न रंग, विचारों के चेतन-अवचेतन तरंग, बिंबों और दृश्यों की गति, संवेदनाओं के सूक्ष्म कोलाज, इन सभी कविताओं में मिलते हैं। मन:स्थितियों को शब्दों में उकेरने और उन्हें अनुभूतियों में ढालने की प्रक्रिया, इतनी अनायास, सहज, मनोवैज्ञानिक और मानवीय है कि कोई भी संवेदनशील पाठक उससे अछूता नहीं रह सकता। बाह्य जीवन-संघर्ष और आंतरिक जीवन-संगति, इस हद तक इनमें घुले-मिले हैं कि उनसे जीवन का स्वप्न, सौंदर्य और संगीत निर्मित होता है।

किसी संग्रह में सबसे प्रभावशाली कविता की खोज करना शायद, लगभग बेमानी होगी, यह भी एक सच्चाई है कि किसी कवि के साथ

एक अंतरंग और बहिरंग साक्षात्कार के बाद एक खोज कदाचित् बड़े सूक्ष्म रूप में, अवचेतन के स्तर पर बनी रहती है कि कवि की वे कौन-सी पंक्तियाँ हैं, जो हमें एक लंबे समय तक या फिर अनंत समय तक कवि के साथ जोड़े रख सकती हैं। कई बार ऐसी खोज करनी पड़ती है और कई बार कुछ पंक्तियाँ स्वयं हमें खोज लेती हैं। सच कहूँ तो मैंने खोजी, मैं ऐसे शब्द, बिंब, दृश्य, गति चाहता था, जो एक साथ देवदास छोटराय के कवित्व की ताक़त, समझ और संवेदना एक साथ एक जगह झलक जाए। इसी खोज-प्रक्रिया में उनकी एक ख़ास कविता पर मेरी नज़र बार-बार रुकती-टिकती रही, जिसका शीर्षक हैं—'काली कोठरी'। मेरी यह व्यक्तिगत खोज तब पूरी हुई जब ये चंद पंक्तियाँ मेरी नज़र में आईं, समाईं और मेरे ज़ेहन में गहरे जाकर बैठ गईं— *कोई हँसा बड़े ज़ोर से/एक छोटी काली कोठरी में/क्रोध से या उपहास से/पूरे अस्पताल में/सिर्फ़ एक मरी हुई नर्स पड़ी थी/बीच वाले बरामदे में/और एक अनुपस्थित डॉक्टर के सिवा/ कोई नहीं था वहाँ...एक ताक़तवर हवा/डोल रही थी बरामदे में/नहीं था एक भी मरीज वहाँ/ था सिर्फ़ एक/नुकीला और अव्यवहत चाकू/हर अलमारी में.../उस नर्स की सफ़ेद जांघ/सफ़ेद पहनावे पर/नहीं था निशान किसी यंत्रणा का/ सिर्फ़ ज़रा-सा पुराना ख़ून/जम गया काली तितली-सा/उसकी छाती के सफ़ेद बटन पर।* कवि ने शायद मुझे एक ऐसी जगह और ज़मीन पर पहुँचा दिया है, जहाँ से शायद मैं कभी निकल नहीं पाऊँगा और निकलना भी नहीं चाहूँगा।

एक छोटी-सी, पूरी कविता सामने रखने की बेहद इच्छा हो रही है, क्योंकि कुछ चीज़ें सिर्फ़ समझने और महसूस करने की होती हैं, जो शायद बहुत आम बातें हैं, पर वे कविता में किसी तरह और कितनी ख़ास बन जाती हैं, इसका सटीक उदाहरण मिलता है—'गुब्बारों' में : *सैकड़ों लोग छोड़ देते हैं रास्ता/लोग-बाग, पशु-पक्षी, मोटरगाड़ी/फूल बरसाते हैं देवी-देवता आकाश से/ताँगेवाले का बेटा गुब्बारा लिए/बैठ जाता है बाप के पास/तभी उनका रथ आता है/जय-विजय का झंडा फहराता/माइक्रोफ़ोन लगा है/सूर्य से साइकिल के चक्के तक/सभी उचक कर देखते हैं उन्हें/क्या हैं वे, महात्मा या विदूषक/उसके बाद शुरू होती है/उफ़्फ़ तमाम बातें तमाम बहादुरी/तमाम अजन्मे शब्द, तमाम डींगें/ऐसा हुआ, वैसा हुआ/ऐसा होगा, वैसा होगा/पक जाते हैं कान/निपट झूठी बातों से/इतनी सारी बातें/ इतनी सारी झूठी बातों से गढ़ा गणतंत्र/कुछ समझ नहीं पाता ताँगे वाला/बेटा उसका ताक रहा है आतंक से/गुब्बारे की ओर/कहीं फट न जाए।...*इसे उद्धृत करने के पीछे एक मक़सद यह भी रहा है कि कवि के सामाजिक सरोकारों को भी देखा जाए, परंतु यह भी एक सच है कि ऐसी सामाजिकता या सामाजिक प्रतिबद्धता बहुत कम मिलती है। उसकी साफ़-स्पष्ट वजह यह है कि वह बुनियादी रूप से अंतर्मुखी है। उसका दायरा सीमित तथा व्यक्तिगत है। वह इस दायरे से बाहर सामान्यतः नहीं निकलता है। सारी कविताएँ लगभग आत्मकेंद्रित अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती हैं। अमूर्तन, सूक्ष्मता, प्रतीकात्मकता, कहीं-कहीं भावनात्मक संप्रेषण में बाधक बनती हैं। बाह्य संसार का चित्रण सीधे-स्पष्ट रूप में नहीं के बराबर है, बल्कि उसका आंतरिक प्रभाव ही अधिक व्यक्त हुआ है। कवि का अंतर्मन उलझा हुआ, दार्शनिक और बौद्धिक है, फलस्वरूप कवि पाठकों के एक विशाल वर्ग तक पहुँच पाएगा, यह निहायत संदेह का विषय है, पर निस्संदेह वह प्रबुद्ध पाठकों के साथ संवाद स्थापित करने में पूरी तरह सफल होता है। इन कविताओं में जो कमी दिखती है, वह है वैचारिकता के स्थान पर भावावेगों की प्रमुखता और सामाजिकता की

मनोवैज्ञानिकता की प्रधानता। दूसरी ओर कवि और कविता की ताक़त भी है। हर हर कुछ की अपेक्षा नहीं की जा सकती देवदास छोटराय जैसे कवि से, जिनका संसार अलग और विशिष्ट है, इसलिए साथ तभी न्याय संभव है, जब उसकी दुनिया का साझीदार बना जाए। कुल यह कविता-संग्रह अपने ढंग का अकेला है, पठनीय और संग्रहणीय है। एक ओर इसमें ओड़िया से अनूदित होने की सुगंध है, तो दूसरी ओर मौलिक रूप से हिंदी में कविता का नया अंदाज़ और आयाम भी।

चर्चित गीत-संग्रह :

रेत की सीढ़ी : देवदास छोटराय; राजेंद्र प्रसाद मिश्र; आलोकपर्व प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

...राव के समीक्षात्मक आलेख, कहानियाँ, नाटक तथा व्यंग्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : ...कॉलोनी, कदमा, जमशेदपुर, झारखंड, मो. 09431373921

शंभु गुप्त

पारिवारिक समायोजन की कहानियाँ

...ता कालिया के अब तक नौ कहानी-संग्रह छप चुके हैं। इनमें से पाँच संग्रहों-क्रमशः *...कारा, सीट नंबर छह, एक अदद औरत, ...दिन तथा उसका यौवन*—को मिलाकर *ममता ...लिया की कहानियाँ* खंड-1 तथा *जाँच अभी ...री है, बोलने वाली औरत, मुखौटा* तथा *...हीं*, इन चार संग्रहों को मिलाकर खंड-2 ...कर आए हैं, जिनमें ममता जी की कुल 117 ...नियाँ सम्मिलित हैं। ये कहानियाँ सन् 1965 ...लेकर अब तक के बीच लिखी गई हैं और ...-पाठकों के सामने दुबारा प्रस्तुत की गई हैं, ...है कि यह कहानियों का लेखकीय पुनर्पाठ ... अतः इनकी समीक्षा भी पुनर्मूल्यांकन के ...से भरी होगी हालाँकि जैसी कि पिछले ... हिंदी-कहानी-आलोचना की स्थिति रही ... यह कहना निरापद नहीं होगा कि इनकी ...कालिक समीक्षा पर्याप्त तटस्थ एवं ...वर्द्धक थी। जो हो, इतना निश्चित है कि ...समय इन पर बात करते हुए एक स्पष्ट और ... इतिहास-दृष्टि की दरकार होगी जो न केवल इन कहानियों के तत्कालीन महत्त्व का दिग्दर्शन करा सकेगी अपितु इनकी वर्तमान प्रासंगिकता का खुलासा भी कर सकेगी।

ममता कालिया की कहानियों के केंद्र में स्त्री-जीवन है। स्त्रियाँ भी यहाँ विभिन्न हैं और इनका रचनात्मक निर्वाह भी पर्याप्त भिन्न है। इन स्त्रियों में मध्यवर्गीय कामकाजी/नौकरीपेशा स्त्रियाँ हैं, मध्यवर्गीय-निम्नमध्यवर्गीय घरेलू स्त्रियाँ हैं, नवविवाहिताएँ हैं, चिरकुमारियाँ हैं, युवा लड़कियाँ हैं, बूढ़ियाँ हैं; इत्यादि-इत्यादि। इन कहानियों का घटना-स्थल शहर है, जो इनमें कथात्मक एकाग्रता की सृष्टि करता है।

दांपत्य ममता कालिया की सर्वप्रधान कथावस्तु है। दांपत्य का इतना व्यापक और दृष्टिसंपन्न कथांकन उनके यहाँ मिलता है कि उसके आधार पर पूरा एक समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। हालाँकि संवेदनीयता से भरा हुआ! दांपत्य में जनतंत्र की तलाश की प्रक्रिया में ममता जी मौजूदा भारतीय—विशेषतः हिंदू (और कभी-कभी मुस्लिम भी)—समाज में स्त्री/पत्नी की

दोयम दर्जे की स्थिति की गहन पड़ताल करती दिखाई देती हैं। भारतीय परिवार-व्यवस्था के मूलभूत सामंती ढाँचे में स्त्री का अपना कोई स्वतंत्र-स्वायत्त अस्तित्व नहीं है। ममता जी की ढेरों स्त्रियाँ कामकाजी/नौकरीपेशा महिलाएँ हैं। लेकिन इनकी स्थिति में भी कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। बल्कि हक़ीक़त तो यह है कि इनकी स्थिति और भी ज़्यादा बदतर और विडंबनापूर्ण हुई है। उन्हें या तो दांपत्य से पीछा छुड़ाना पड़ा है या किसी कोने में पड़ी सड़ रही हैं या फिर सनक-सी गई हैं। बहुत-सी ऐसी माँएँ, अधेड़ स्त्रियाँ और बुढ़ियाएँ हैं जो बेहद चिड़चिड़ी हैं, बात-बात पर और कभी-कभी तो बिना किसी बात के भी परिवार के लोगों पर बरसती रहती हैं और अपनी ही पिन्नक में रहती हैं। ऐसी बुढ़ियाओं से सब लोग परेशान-से रहते हैं। उनका जीवन न केवल परिवार के लिए बल्कि स्वयं उनके अपने लिए भी एक बोझ—जैसा होता है। ममता कालिया उनके इस चिड़चिड़ेपन की व्याख्या हालाँकि नहीं करतीं, लेकिन कहानी में संकेत से यह स्पष्ट होता चलता है कि ये स्त्रियाँ ऐसी क्यों हैं ? इस चिड़चिड़ाहट की शुरुआत दरअसल वहाँ से होती है, जहाँ शादी के बाद से ही लिंग के आधार पर स्त्री को परिवार में हर रोज़ सुबह से लेकर शाम तक हर पल अपमान, हतोत्साह, उपेक्षा, अवमानना, असंबद्धता इत्यादि निरंतर झेलनी पड़ती हैं। मूलबद्ध सामंती ढाँचा इन स्त्रियों को यह अधिकार नहीं देता कि वे अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और क्षमता का स्वतंत्र और स्वायत्त इस्तेमाल कर सकें। वे श्रम या सहयोग तो कर सकती हैं लेकिन उस पर उनका अपना कोई स्वत्वाधिकार नहीं होता।

ममता कालिया की अवधारणा में कहें तो, सास-ससुर अपने, पति अपना, बच्चे अपने—यानी कि सारा परिवार अपना लेकिन सिर्फ़ नाम के लिए। स्त्री की इतनी हैसियत नहीं कि वह किसी निर्णय में प्रभावकारी हस्तक्षेप कर सके। कुल मिलाकर अपने घर-परिवार में उसकी स्थिति दोयम दर्जे के नागरिक से बेहतर नहीं होती। संग्रह की एक कहानी है, 'कवि मोहन'। इस कहानी में एक जवान बेटे की माँ की यह दयनीयता देखने लायक़ है, "माँ का चेहरा एक क्षण आशा और अभिमान से दमका, फिर बुझ गया। घर की पूरी अर्थव्यवस्था पिता के हाथ में थी। उसके हाथ में तो चाबियाँ तक न थीं, वह भी पिता के जनेऊ से बँधी रहती थीं। ब्याह के पच्चीस साल बाद भी उन्हें यह छूट नहीं थी कि वे अपनी मर्जी से देहरी पर आए दीन को एक मुट्ठी चून भी दे सकें।" उनका पुत्र मोहन अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहता है लेकिन बाप इसलिए इसकी इजाज़त नहीं देता कि पढ़-लिखकर जुगल पांडे के लड़के की तरह यह भी घर से तिरहाट हो लेगा और अपने माँ-बाप को तिलांजलि दे देगा! इसके अलावा बाप के मन में अपने बेटे के प्रति यह एक विचित्र-सा ईर्ष्या-भाव भी है कि "सारी उमर फीस भरेंगे हम और यह ससुरा बी.ए. पास कर कुर्सी तोड़ैगौ।" माँ-बाप की इस कूढ़मग़ज़ी से इत्तिफ़ाक़ नहीं रखती और अपने बेटे की इच्छा के साथ है। लेकिन हम देखते हैं कि उसकी नियति सिर्फ़ एक तमाशबीन बने रहने के अलावा कुछ भी नहीं रहने दी गई है। यह तो ब्रज-प्रदेश के एक दकियानूस-मक्खीचूस वणिक्-परिवार की दास्तान है जिसमें बाप की इजाज़त के बिना परिंदा भी घर में पर नहीं मार सकता! यहाँ तो ख़ैर कोई भी उम्मीद करना वैसे भी बेकार है। यहाँ प्रसंगात् यह कहते चलें कि ममता कालिया ने अपनी कहानियों में अपने मातृ-अंचल—ब्रज प्रदेश के इस तरह के बहुत ही विशिष्ट यथार्थ को विविधता के साथ लिया है। इस यथार्थ को शहरी हिंदी-कहानी ने इस लायक़ नहीं समझा कि उसे कहानी का विषय बनाया जा सके।

पच्चीस साल लंबे इस गृहस्थ ने इस स्त्री को पहुँचा दिया है, उसकी शुरुआत दरअसल तभी हो गई थी जब उसका यह गृहस्थ-जीवन शुरू हुआ था। कहानी है, 'बोलने वाली औरत'। इस कहानी में यह औरत युवती है और लगभग नवविवाहित है। यह दरअसल प्रेम-विवाह का किस्सा है, जो साल पूरा होते न होते एक ठसपन में बदलने लगता है। यह कहानी एक उदाहरण है इस बात का कि हमारे इस कथित भारतीय समाज का अंतर्निहित सामंतवाद किस तरह एक संवेदना को न केवल श्रीहीन बना देता है बल्कि उसे नेस्तनाबूद कर एक प्रतिक्रियावाद में रिड्यूस कर डालता है। शिखा ने कपिल नाम के जिस युवक से प्रेम किया था, विवाह के बाद वह युवक, न केवल यह कि कहीं बिला गया बल्कि यह भी कि उसके स्थान पर एक ऐसा पति उसकी काया में प्रवेश कर गया जो प्रेम में निहित जनतांत्रिकता से चिढ़ता है। भारतीय परिवार-व्यवस्था की मूलबद्ध संस्कारिकता देखिए कि वह एक अच्छे-ख़ासे नवोन्मेष को एक ढर्रे में बदलने पर आमादा है, ''इस इंसान को प्रेमी की तरह जानना और पति की तरह पाना कितना अलग था। जिसे उसने निराला समझा वही क़ितना औसत निकला। वह नहीं चाहता जीवन के ढर्रे में कोई नयापन या प्रयोग। उसे एक परंपरा चाहिए जी हुज़ूरी की। उसे एक गांधारी चाहिए जो जान-बूझकर न सिर्फ़ अंधी बनी रहे बल्कि गूँगी और बहरी भी।'' इस कहानी का अंत जिस बिंदु पर होता है, वह दरअसल एक शुरुआत है, एक व्यक्तित्व-संपन्न स्त्री के स्वत्वहीन होने की, जहाँ न केवल उसकी अभिव्यक्ति स्थगित हो गई है, बल्कि एक तरह से उसे 'विदेह' कर देने की व्यवस्था कर दी गई है, ''शिखा ने पाया, परिवार में परिवार की शर्तों पर रहते-रहते न सिर्फ़ वह अपनी शक्ल खो बैठी है वरन् अभिव्यक्ति भी।...बस उसके हाथ-पाँव परिवार के काम आते रहें।''

ममता जी के यहाँ अविवाहित स्त्रियों की काफ़ी बड़ी तादाद है। ये स्त्रियाँ अकुंठ हैं। विवाह न करने का कोई मलाल इन औरतों के आचरण में नहीं है। हालाँकि यह भी सत्य है कि इन्हें निरंतर यह अहसास भी रहता है कि वे अविवाहित हैं और यह भी कि वे अविवाहित क्यों हैं! ममता जी यथार्थ को गहराई और मज़बूती के साथ पकड़ती हैं और उसके अनेकानेक आयामों को खोलती चलती हैं लेकिन उनकी वैमर्शिक सचेतता उनकी अध्यापकीयता को उभारकर सामने ले आती है और वे यथार्थ-चित्रण से यथार्थ के विश्लेषण की ओर कूच करने लगती हैं। यथार्थ का यह विश्लेषण कई बार यथार्थ के जस्टीफ़िकेशन की ओर भी मुड़ जाता है, जो कि एक ग़ैरप्रगतिशील उपक्रम है। इस सबका परिणाम यह हुआ है कि ममता जी यथार्थ का अतिक्रमण या तो कर ही नहीं पातीं या करती हैं तो वह एक अस्थाई या कहें कि एक संशोधनवादी रवैया होता है। उनके यहाँ अनेक ऐसे स्त्री-चरित्र हैं जो पति की तानाशाही, विकृत मानसिकता, मनमानेपन इत्यादि का विरोध, उसके ख़िलाफ़ विद्रोह तो करते हैं लेकिन किसी वैकल्पिकता के अभाव में मात्र एक स्थगन तक सीमित रह जाते हैं। मसलन, 'इरादा' कहानी की शांति सिर्फ़ यह कहकर इतिश्री कर देती है कि ''रात मैंने सोचा था, मैं नहीं जाऊँगी, पर अब मेरा इरादा बदल गया है। मैं अगली गाड़ी से जा रही हूँ। अब जब तुम्हारा दिमाग़ एकदम ठीक हो जाएगा, तभी वापस आऊँगी।'' ऐसा संशोधनवाद ममता जी की इन कहानियों में भरा पड़ा है। वे कृष्णा सोबती, इस्मत चुग़ताई, क़ुर्रतुल-एन-हैदर की तरह जोखिम नहीं उठा पातीं और यथार्थ के पाठ को कहानी के पाठ में 'समाप्त' कर चैन की साँस ले लेती हैं। ममता कालिया की अधिकांश कहानियाँ सुखांत हैं या

वे सदसद् के निर्णय पर समाप्त होती हैं। यह एक अजीब विरोधाभास ममता कालिया में हमें मिलता है कि उनकी स्त्रियाँ एक मर्द से सबसे पहले सुरक्षा, जीवन-बीमा, वफ़ादारी इत्यादि की माँग करती दिखाई देती हैं। ममता जी ने लंबी कहानियाँ नहीं लिखी हैं। वे छोटी-छोटी, लघु आकार की कहानियाँ लिखने में यक़ीन रखती हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

ममता कालिया की कहानियाँ : खंड-1; खंड-2; ममता कालिया; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; क्रमशः 2005; 2006; 400 रुपए; 500 रुपए

शंभु गुप्त के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 21, सुभाष नगर, एन.ई.बी., अलवर 301001, मो. 09414789779

रामकुमार कृषक

मुक्तिगीतों का नया सुर-ताल

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में नचिकेता की सृजनात्मकता जो नया मोड़ ले रही थी, उसे उन्होंने 'चाहत' शीर्षक अपने एक गीत में इस प्रकार व्यक्त किया है :

मैं सृजन-सौंदर्य के/कुछ गीत गाना चाहता हूँ...
चाहता हूँ मैं/फ़सल की बालियों-सा लहलहाना
नरम दानों के दिलों में/दूध बनकर उतर जाना
हर कृषक के होंठ पर/बिरहा उगाना चाहता हूँ
चाहता हूँ ग्रामवधु के नयन में सपने पिरोना
क्षीरमुख शिशु के लिए मैं/स्तनों की गंध होना
गरम रोटी की महक/घर-घर बसाना चाहता हूँ...
('रंग मैले नहीं होंगे')

नचिकेता आठवें दशक में सामने आई जनवादी गीतकारों की उस पीढ़ी के रचनाकार हैं, जिसने नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन से ऊर्जा ग्रहण करते हुए नवगीत की मध्यवर्गीय कुंठा, हताशा और उसके आधुनिकतावादी रुझानों को झटककर गीत को एक नई संघर्षशील जन-चेतना का वाहक बनाया। नवगीत से जनवादी गीत की इस यात्रा में उनका पहला पड़ाव था *आदमक़द ख़बरें* और दूसरा *सुलगते पसीने*। इसी क्रम में उनके दो गीत-संग्रह *लिक्खेंगे इतिहास* और *बाइस्कोप का गीत* और आए। नचिकेता की ये तमाम रचनाएँ न सिर्फ़ सत्ता-व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र और आम आदमी की बहुविध तकलीफ़ों को उजागर करती हैं, बल्कि हालात को बदलने वाली वैचारिक चेतना से भी परिचित कराती हैं। मेहनतकश हाथ अब सिर्फ़ फैले रहने के लिए तैयार नहीं, बल्कि अब वे मुट्ठियाँ कसना भी जान गए हैं, *कसी मुट्ठियाँ दीर्घ हथेली की/चले खोलने गाँठ पहेली की/सुलगे इनके नयन मशालों-से।* ('लिक्खेंगे इतिहास', पृ. 42)

ये नयन धरतीपुत्रों के हैं। 'नयन' का प्रयोग शुरू में उद्धृत गीतांश में भी है, लेकिन एक-जैसी शब्द-संगति दोनों में नहीं है। स्वाभाविकता ग्रामवधु के नयनों में है, धरतीपुत्रों के नहीं। कारण, एक ओर नचिकेता जहाँ संघर्षशील हिरावल के साथ हैं तो दूसरी ओर लोकाकांक्षा को व्यक्त कर रहे हैं। इस तरह देखें तो उनके इधर के गीतों ने जनवादी गीत की ज़मीन को कुछ और विस्तृत किया है। अब वहाँ आग ही आग नहीं, आग की उजास भी है। श्रमसिक्त सौंदर्य और प्रेम की प्रेरणाएँ अब उसे कहीं अधिक मानवीय और पूर्ण बना रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि *मकर चाँदनी का उजास*

2004) नचिकेता के ऐसे ही गीतों का संग्रह जिसे उन्होंने 'प्रेम-गीत संग्रह' लिखकर अंकित भी किया है। इसीलिए संग्रह के अनेक त शुरू में ही प्यार की परिभाषा करते हुए दिखाई देते हैं :

प्यार कमाई है मिहनत की/रोटी गरम-गरम है
होंठों की मुस्कान/खनक चूड़ी की नरम-नरम है
प्यार हमेशा दर्द बाँटता/दीन और दुखियों के
जीवन का संघर्ष प्यार है/लोकगीत की भाषा
आज़ादी के लिए प्यार है/मुक्तियुद्ध का ताशा
जनता का बल प्यार/प्यार है गर्म हवा के झोंके।
('मकर चाँदनी का उजास')

छूकर देखिए तो यहाँ नचिकेता की पूर्ववर्ती ति-आस्था के ताप को भी महसूस किया जा सकता है। प्यार का मुक्तिकामी उद्देश्य यहाँ कदम स्पष्ट है।

इसके बावजूद इन प्रेमगीतों में ग्राम्य जीवन जैसे विविधवर्णी चित्रों को उकेरा गया है, वे निश्चय ही एक अलग तरह की सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। यहाँ न तो छायावादी और छायावादोत्तर गीत का वायव्य और स्वप्निल संसार है; न ही नवगीत का निरा आत्मग्रस्त रोमेंटिसिज़्म। नचिकेता अगर कमल-पँखुड़ियों पर ओस की बूँदों-जैसा परंपरागत बिंब रचते हैं तो उसे स्त्री के गोरे गालों पर झलक उठी पसीने की बूँदों से उपमित करते हैं। श्रम-संस्कृति में पगे ऐसे काव्य-बिंबों ने ही इन गीतों को ग्रामीण जीवन की चित्र-वीथि में बदल दिया है। पारस्परिक संबंधों को खेत-खलिहानों से सज्ज प्रकृति-परिवेश के बीच रखकर कवि ने कुछ इस तरह देखा है कि वे समूचे समाज को प्रतिच्छवित कर जाते हैं। पत्नी और प्रेमिका यहाँ जैसे एकमेक होकर सामने आती हैं। यहाँ हम केदारनाथ अग्रवाल की 'जमुन-जल' और 'हे मेरी तुम' की प्रेम कविताओं को भी याद कर सकते हैं, हालाँकि उनका रचना-संदर्भ इन गीतों से एकदम अलग है। नचिकेता की स्त्री का संघर्ष यों भी कुछ अधिक व्यापक है। वह सही मायने में किसान स्त्री है। कवि उसे दोनों रूपों में देखता है। कहीं वह उसके लिए 'धूप-दीप की नई किरण' जैसी है तो कहीं 'मुक्तिगीत के सह-चिंतन' जैसी। स्त्री के इस छवि-विकास में कवि का जो उद्देश्य निहित है, समकालीन नारी-विमर्श उससे बहुत सीख सकता है।

गाँव-समाज में स्त्री के हँसने-बोलने पर अकसर पहरे रहे हैं, जबकि यही दोनों चीज़ें उसके स्वभाव का बेहद अहम हिस्सा हैं, उसकी मुक्ति के सहज स्वाभाविक माध्यम। शायद इसीलिए कवि स्त्री के इस सहजात अधिकार की प्रशंसा करता है :

सच कहूँ/तुम तो हमारे गाँव की
उजली हँसी हो।
वह हँसी जिसमें सुबह की ताज़गी होती
लहू के आवेग जैसी ज़िंदगी होती
इसलिए तुम/हर फ़सल की
मुस्कुराहट में बसी हो।
वह हँसी/जिससे अँधेरा सरक जाता है
मुक्ति का अहसास पाँखें फड़फड़ाता है
इसलिए तुम/मुक्ति गीतों के नए
सुर-ताल सी हो।

अनायास नहीं कि नचिकेता अपनी प्रेमिल अनुभूतियों की आँखों से 'शरद जुन्हाई' जैसी अथवा 'हल्दी-केसर-घुले दूध से धुली हुई काया' वाली स्त्री को ही नहीं देखते, बल्कि 'देहरी पर बाट जोहती' और 'सपनों के पैबंद' लगाती गृहणी को भी पहचानते हैं। अनंत दुख हैं इस गृहस्थिन के। अनेकानेक तनाव। अचानक बच्चों पर बरसने अथवा कड़ाही में ज़ोर-ज़ोर से कड़छी चलाने जैसे क्रियापद बाहरी दबावों के चलते उसके भीतरी तनावों का ही प्रतिफलन

हैं। इसके बावजूद उसे काम से घर लौटे पुरुष के तनावों का भी अहसास है। समय के दबाव दोनों पर ही एक जैसे हैं। ऐसे में वह घर की बदहाली और बच्चों की फरमाइशों को अनकहा ही छोड़ देना उचित समझती है।

दरअसल संग्रह के तमाम गीतों में एक तरह की क्रमबद्धता है। किसान-जीवन के हर पहलू को इतने विस्तार से शायद पहली बार किसी गीतकृति में रखा गया है, बेशक वे सभी ढाई आखर में समाए हुए हैं। राग-अनुराग, हर्ष-उल्लास, टूटन और थकन तथा पति-पत्नी के कंधे से कंधा जोड़कर हालात में उबरने के अनेक गीत यहाँ मौजूद हैं।

लेकिन किसी गीत-संग्रह में इस तरह की सायास प्रबंधात्मकता गीत-विधा की अपनी सहज, स्वतंत्र भावमयता को कहीं बाधित भी करती है। दूसरे, कई गीतों में नारी-जीवन को उसकी रूढ़ पारिवारिक छवि, संस्कारबद्ध त्योहारी पवित्रता और चक्की-चूल्हे से बँधी दिनचर्या से जोड़कर देखा जाना भी खटकता है। हालाँकि कवि स्त्रियों की अँगड़ाई पर पहरे बिठाने का हिमायती नहीं है, और 'क्या तुम नहीं रसोईघर की एकल दासी हो', 'कहने-भर को तो तुम मेरे घर की रानी हो' तथा 'मुक्ति नहीं बस आरक्षण देकर बहलाऊँगा' जैसी पंक्तियों से उन्हें उनके जीवन-यथार्थ और विडंबनाओं के विरुद्ध उठ खड़े होने को उकसाता भी है, फिर भी संग्रह के ज़्यादातर गीत 'थके मन में नई ऊर्जा जगाने' के लिए 'धनक-सी देह की ख़ुशबू' को ही आलंबन बनाते हैं।

नचिकेता हमारे दौर के महत्त्वपूर्ण गीतकार हैं। गीत के जनवादी शिल्प-सरोकारों की उन्होंने गहरी पड़ताल की है। सुधी और सधे आलोचक हैं वे। इसी से उनकी गीत-रचना को बहुत गंभीरता से लिया जाता है। प्रेमगीत रचते हुए उन्हें भी इसका अहसास रहा है। इसीलिए उन्होंने स्त्री और प्रकृति के सृजन-सौंदर्य को बहुत सचेत ढंग से गीतों में उकेरा है। रंग और रोशनी का ऐसा मेल हिंदी गीत को एक नया आयाम देता है। नचिकेता की इस नई सृजन-यात्रा को निश्चय ही अनूठा कहा जाएगा।

चर्चित गीत-संग्रह :

मकर चाँदनी का उजास : नचिकेता; अभिधा प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रपुर; 2004; 100 रुपए

1943 में जन्मे रामकुमार कृषक की कविता, संस्मरण, साक्षात्कार, समीक्षा आदि की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। हिंदी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : सी-3/59, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली 110094

हरे प्रकाश उपाध्याय

कोई हँसने की तरह क्यों रोता है

विष्णु नागर हिंदी के एक ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी सारी विधाओं में महत्त्वपूर्ण दख़ल है। उनके लेखन की हर विधा का अंदाज़े-बयाँ विशिष्ट है। उनके नए कविता-संग्रह *हँसने की तरह रोना* में जीवन के अगर-मगर की कविता है तो मृत्यु की अर्थवत्ता की भी। राजनीतिक पाखंड, क्रूरता और दर्प की कविता है तो प्रेम और दांपत्य की भी। अमेरिकी वर्चस्व, सामंती प्रवृत्ति, उपभोक्तावादी विस्तार और धार्मिक नृशंसता जैसे विषयों के साथ ही कवि-कर्म के रहस्यों को भी पहचानने की सार्थक कोशिश इस संकलन में है।

...कालीन हिंदी कविता पर जो एक आरोप ...ता होता है कि यह आम पाठकों के लिए ...हैं, उस आरोप को कम-से-कम विष्णु ...से कवियों की उपस्थिति से तो संकोच ...ही चाहिए। नागर की कविता एक साथ ...और रोशनी—दोनों जैसी है, जिससे आप ...तो खेल भी सकते हैं, चाहें तो चीज़ों को ...भी सकते हैं। अलबत्ता उनकी कविताओं ...न संश्लिष्ट नहीं है। व्यंग्य का हल्का ...उठाती हुई भाषा बिलकुल सादगी में चीज़ों ...स्तुत करती है, जिस पर मुस्कुराते हुए भी ...यथार्थ की मुश्किलों से दरपेश होने से बच ...सकते। ये कविताएँ हँसाते-हँसाते चिकोटी ...देती हैं। कविता ख़त्म हुई और आपकी ...शुरू। मुझे लगता है कि अगर रघुवीर ...में हरिशंकर परसाई की आत्मा उतर जाती ...नागर जैसी ही कविताएँ लिखते। अतिरेक ...जाए, कहने का तात्पर्य कि नागर को ...हुए रघुवीर सहाय और परसाई दोनों याद ...हैं। यह सादगीपूर्ण भाषा की व्यंजना, अमूर्तनों ...अनुपस्थिति, वस्तु का प्रभाव और विषय ...प्रासंगिकता है।

...नागर की एक और विशेषता उनकी ...शीलता और साहस है। साहस की चर्चा ..., पहले कल्पनाशीलता। उपभोक्तावादी ...स्पर्द्धा पर कविता लिखते हुए वे एक बेहतर ...के मुर्ग़े की कल्पना करते हैं। आज ...क्तावाद की जो गलाकाट प्रतियोगिता जारी ...उसमें मुर्ग़े से बेहतर प्रतीक क्या हो सकता ...सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य इस प्रणाली, ...बनने की ही तो प्रतियोगिता में शामिल है। ...कविता में जो बार-बार 'क्यों' आता है, वह ...कर देनेवाला है। कविता शुरू ही सवाल ...है : *मैं क्यों अनजान बैठा हूँ/जैसे मुर्ग़ा* ...इसी तरह वे इस नए उपभोक्ता प्रणाली में फँसे आदमी के लिए मशीन के प्रतीक का इस्तेमाल करते हैं : *वह आदमी नहीं रहा था/ मशीन बन चुका था/इसलिए वह थकता नहीं था/गर्म ज़रूर हो जाता था।* नए दौर में आदमी मशीन ही तो होता जा रहा है, जहाँ वह मरने से पहले पुराने पड़ने मात्र से निरर्थक हो जाता है कबाड़ में फेंक देने लायक़। लेकिन आदमी के मशीन बनने से इस उपभोक्तावादी समाज के मालिकों (पूँजीपतियों) को तो बड़ा फ़ायदा है, वे अब इससे काम नहीं उत्पादन कराते हैं और पुराने पड़ने पर कबाड़ में डालकर भी अच्छे-ख़ासे पैसे कमा लेते हैं। कवि बाज़ार के मुहावरों से ही बाज़ार का मख़ौल उड़ाता है। 'ब्रह्मज्ञान' कविता के इस व्यंग्यात्मक मर्म को देखिए : *अब लालाछाप स्वास्थ्यवर्द्धक आटा पेप्सी कोला/ सोनी-मोनी टेलीविज़न-डिंगडांग वॉशिंग मशीन/ और ब्रह्मज्ञान/सब/एक ही दुकान पर/एक बार में दस हज़ार का सामान ख़रीदने पर दस प्रतिशत की/विशेष छूट।* उपभोक्तावाद की ऐसी संप्रेषणीय कल्पना हिंदी कविता में बहुत कम देखने में आई है। एक और बात है, अपनी पक्षधरता के बावजूद कवि में अतिरेक नहीं है, घड़ियाली भावुकता नहीं है। 'दस पैसे का सिक्का' को वह दस पैसे के सिक्के की तरह ही देखता है : *इसे मैं कविता में तो ले आया/मगर ज़िंदगी में लाना मुश्किल है।* नागर 'फूलों के बहाने' आदमी पर बात करने की कला में माहिर हैं।

इस संकलन में स्त्रियों पर भी पर्याप्त कविताएँ हैं। स्त्री यहाँ प्रेमिका, पत्नी और माँ के रूप में है। माँ के बारे में उनका ख़याल है कि वह संतान और परिवार के हित में कुछ भी कर सकती है, मसलन—*धरती से ज़्यादा धैर्य रख सकती है/बर्फ़ से ज़्यादा तेज़ी से पिघल सकती है तो वह शेरनी से ज़्यादा ख़तरनाक/लोहे से ज़्यादा कठोर सिद्ध हो सकती है।* लेकिन नागर

आगे लिखते हैं : *वह सब कुछ कर सकती है, इसका यह मतलब नहीं/कि उससे सब कुछ करवा लेना चाहिए।* इसी तरह उनके यहाँ पति और पत्नी परस्पर एक-दूसरे की परछाई हैं। स्त्री के ये रूप भी दूसरे समकालीन कवियों के यहाँ दुर्लभ हैं। 'प्रेम' पर हिंदी में कविताओं की कमी नहीं है, पर नागर के प्रेम देखने और उसके पक्ष में खड़े होने का मिज़ाज भिन्न है। प्रायः प्रेम कविताओं में प्रेमी युगल प्रेम की मुश्किलों और मुश्किलों में प्रेम को लेकर रोते हैं, पर प्यार में जो बार-बार यूँ भी रोते हैं, उसका पता कितने कवियों को है? नागर की एक छोटी-सी कविता है :'प्यार में रोना'— *प्यार ने कई बार रुलाया मुझे/मुश्किलों से ज़्यादा प्यार ने/मैं यहाँ प्यार की मुश्किलों की बात नहीं कर रहा/न मुश्किलों में प्यार की।* यह क्या कल्पना से आया होगा? यह जीवन के स्वानुभूति की भी सच्ची अभिव्यक्ति है। इसे ही साहस भी कह सकते है, जो 'प्रेम के पक्ष में' मुखर बनाता है। *अंत में यह सोचकर लड़कियों की शादियाँ कर दी गईं/ कि अब ये प्रेम करना भूल जाएँगी/लेकिन तब भी लड़कियों ने प्रेम किया।* साहस करने वालों के पक्ष में बोलना भी साहस का ही काम होता है। 'ज़बर्दस्ती के प्यार' पर भी इन्होंने कविता लिखी है : 'मेरा दिल'। एक पुरुष ने एक स्त्री को ज़बर्दस्ती अपना दिल थमा दिया है। अब वह स्त्री उस पुरुष के पीछे-पीछे दौड़ रही है : *चल ले ले/ले ले/तू ही ले ले/मेरा दिल करम जले/आख़िर दिल ही तो है/सोना-चाँदी तो नहीं।* अब आप इस कविता को पढ़कर चाहे तो हँसिए, चाहे रोइए—आपकी मर्ज़ी! यहाँ चार कविताएँ स्त्री जीवन की परेशानी और त्रासदी को लेकर भी हैं। कवि पति जब अपनी पत्नी से शिकायत करता है कि तुम्हारे घर, बरतन और कपड़े साफ़ करने, खाना बनाने जैसे कामों में कितना शोर होता है, पर मेरे काम को देखो, कविता लिखने में कितनी शांति है तो पत्नी पलटकर कहती है कि तुम अपनी कविता से ही घर के ये सारे काम कर दो : *मुझे क्या शिकायत है/स्त्री मुक्ति में कविता के/इस ऐतिहासिक योगदान को भला कौन भूल सकेगा।* और आगे यह भी : *जो शोर से डरता है/वह कवि कैसे बन जाता है महाशय* (घर में शांति)। एक स्त्री का घरेलू काम कविता के काम से छोटा नहीं है।

एक कविता है, 'गाय की तरह'। यह कविता बहुत मार्मिक तरीक़े से हमें याद दिलाती है कि सामान्य स्त्री का जीवन भी तो बिलकुल सबसे निरीह पशु गाय की तरह ही है : *गाय की तरह खूँटे से बँधी रही/गाय की तरह गर्भवती हुई ...गाय की तरह उसने कभी नहीं कहा कि उसे बुख़ार है।* इस कविता में करुणा तो है पर स्त्री के प्रति इसे दयापूर्ण मान लेना भी उचित न होगा। यह कविता एक स्त्री के भीतर यह चेतना पैदा कर सकती है कि वह इंसान होकर भी आख़िर गाय की तरह क्यों है? 'वह रो रही थी' कविता देखिए : *वह रो रही है/माँ ने कहा, हमेशा इसी तरह रोना बेटी/वरना ससुराल वाले कहेंगे इसे तो हँसना भी नहीं आता।* यह त्रासदी है, जहाँ माँ-बेटी को हँसने की तरह रोना सीखा रही है। कोई माँ आख़िर क्यों बेटी को हँसने की तरह रोना सीखा रही है?

दूसरी कविता है, 'एक अलग तरह की लूट': *उसे बताया गया था कि उसका सब कुछ 'लुट' चुका है/जिसका मतलब ये था कि ए औरत/तेरा लुटेरा पकड़ा भी गया तो क्या फ़ायदा/लूट का माल तो उससे बरामद होने से रहा और उससे अपेक्षा करेंगे कि/जब उसके साथ फिर से ऐसा कुछ हो/तो वह प्रतिरोध न करे/क्योंकि जिसका सब कुछ पहले ही लुट चुका है/उसका कोई बार-बार क्या लूटेगा!* यह कविता समाज में स्त्री के बारे में प्रचलित धारणा का मज़ाक उड़ाती है।

...की सत्ता राजनीति किस तरह अपनी ...ता, विचारशून्यता, धृष्टता और क्रूरता ...-प्रोत है, उसे नागर की कविताएँ उजागर ...हैं। सपाट नहीं, थोड़ी वक्रता में। ...नीतिक का सच' कविता की ये पंक्तियाँ ...: *एक राजनीतिक जब कहता है/कि यही ...है/ तो मैं उसका प्रतिवाद नहीं करता/वह ...से प्रतिवाद सुनना नहीं चाहता।* तो क्या ...सचमुच राजनीति का प्रतिवाद नहीं करते? ...भले न करते हों उसका मज़ाक़ ज़रूर ...देते हैं : *न वह लौटता है/न मैं उसके जाने ...पहले उसके कंधे पर हाथ रखकर/धीरे-से ...हूँ कि क्या वाकई आपको यक़ीन है कि/ ...और इतना ही सच है?*

...नागर किसी भी बड़ी सत्ता को जो मानवता ...धी, समानता विरोधी, तर्क विरोध और क्रूर ...बख़्शते नहीं। उसकी ख़बर लेते हैं। 'संदेह ...करना', 'पद पर बैठा शेर', 'भूख', 'गधा', ...देनेवाले', 'क़ानून', 'ग़रीब', 'दलालों का ...युग', 'ग्लोब्लाइज़्ड हत्यारे', 'बुश बेचारा', ...रिका का प्यार', 'प्रधानमंत्री की हृदयहीनता ...बारे में' से लेकर 'अब मैं उतना अकेला नहीं ...' जैसी तमाम कविताएँ सत्ता और ताक़त की ...कुवृत्ति पर व्यंग्य करती हैं। नागर आम ...आदमी के पक्ष में और उसी की भाषा में बात ...हैं। कहना है तो वे स्पष्ट कहते हैं कि 'यह ...लों का स्वर्णयुग है'। 'अमेरिकी दादागिरी' ...'वैश्वीकरण के विरोध में' जैसी कविताएँ ...संकलन में हैं, उस तरह की कविता लिखने ...साहस हर कवि में नहीं हो सकता। आख़िर ...वानों के लिए 'गधा' प्रतीक का इस्तेमाल ...कवि ने किया है? बल्कि वे 'सूअर' पर ...लिखते हुए भी सत्तावानों, ताक़तवरों और ...मातहतों को नहीं भूलते। आख़िर इन पंक्तियों का क्या अर्थ है : *वे उन जगहों पर भी कुछ ढूँढ़ते और निगलते हुए पाए जाते हैं/जहाँ कुछ होने की कल्पना कम-से-कम आदमी तो नहीं कर पाता।* (सूअरों के बारे में)

धर्म के नाम पर सत्ता और क्रूरता का व्यापार करने वालों की स्पष्ट पहचान नागर की कविताओं में दर्ज है। 'बेचारों का हिंदू राष्ट्र', 'जब धर्मगुरु हत्याएँ करने लगे', 'सरस्वती' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। 'जब धर्मगुरु हत्याएँ करने लगे' कविता में वे कहते हैं : *आजकल धर्म इतना अच्छा चल रहा है कि/शब्दकोश में हत्यारे का अर्थ धर्मगुरु हो गया है।* नागर जानते हैं कि धर्म की इस कट्टरता के पीछे कौन-सी घृणित मानसिकता और उद्देश्य काम कर रहे हैं। जो लोग विलुप्त को खोजकर सामने के यथार्थ को झुठलाना चाहते हैं, उन पर इससे बड़ा व्यंग्य क्या हो सकता है : *वे इन दिनों विलुप्त मंदिरों/ विलुप्त नदियों/विलुप्त शत्रुओं/विलुप्त मित्रों की खोज में व्यस्त हैं/ताकि जो आँखों के सामने हैं/ उसका विलोपन किया जा सके।* ईश्वर जैसी अमूर्त और रूढ़ ताक़त या सत्ता का विरोध मुखर रूप से नागर के यहाँ ही मिलता है। नहीं तो बड़े-से-बड़े जनवादी और प्रगतिशील कवियों को ईश्वर से अपने सुख-दुख कहने में ही सुकून मिलता है। मृत्यु पर भी कुछ दुर्लभ कविताएँ इस संकलन में हैं। मृत्यु के बारे में अनेक छवियाँ, अनेक भोली और मजेदार कल्पनाएँ हैं।

दरअसल विष्णु नागर, उनके ही पदों में ऐसी कविताओं के कवि हैं : *जो आलोचकों के किसी काम की न हो/वह याद सिर्फ़ तब आती हो/जब दिल भरा हो मगर रोया न जा रहा हो।*

चर्चित कविता-संग्रह :

हँसने की तरह रोना : विष्णु नागर : मेधा बुक्स; एक्स.-11, नवीन शाहदरा दिल्ली-32; 2006; 50 रुपए

...युवा समीक्षक हरे प्रकाश उपाध्याय पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लिखते हैं। संपर्क : हंस, 2/36, अंसारी रोड, ...गंज, नई दिल्ली-110002

बी.पी. मिश्र 'नियाज़'

कवि सैनिक या सैनिक कवि

मनोहर बाथम का कविता-संग्रह *सरहद से* समकालीन काव्य साहित्य में अत्यंत मौलिक कृति के रूप में पाठकों के समक्ष आया है। ख्याति प्राप्त साहित्यकार श्री लीलाधर मंडलोई के शब्दों में " 'सरहद से' आती इन कविताओं में वहाँ के जनसाधारण और प्रकृति के साथ एक प्रहरी का अदेखा कठिन जीवन है।" इस कथन में तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—जनसाधारण, प्रकृति और प्रहरी। इस कविता-संग्रह में इन तीनों के अन्योन्याश्रित संबंधों का चित्रण है।

अंग्रेज़ी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के दोनों युद्धों के अंतराल में लिखी गई कविता 'वार पोएट्री' कहलाई। सैनिक जीवन, युद्ध की विभीषिका, युद्ध काल में बदले हुए मानव मूल्य, मानवीय संवेगों का संघर्ष, एक हताशा, अनुशासन की कठोरता, मानसिक द्वंद्व की स्थिति—'बार पोएट्री' के प्रमुख विषय हैं। श्री मनोहर बाथम का कविता-संग्रह इसी कोटि के अंतर्गत आता है। उन्हें मैं कवि सैनिक कहूँ या सैनिक कवि, यह विवादास्पद हो सकता है, किंतु रूपर्ट ब्रुक की भाँति जो प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश सेना में एक अधिकारी थे और साथ में कवि भी—मनोहर बाथम भी उनका सैनिक कवि का हृदय रखता है। यह एक संयोग की बात है कि आज से तीस वर्ष पूर्व वे मेरे शिष्य रहे हैं और मैंने उनके व्यक्तित्व में साहस, अनुशासन, संवेदना और अनुभूति को एक साथ पनपते देखा है और आज मैं गर्व का अनुभव कर रहा हूँ यह देखकर कि उपरोक्त चारों गुण एक सैनिक कवि के रूप में उनमें पल्लवित हो रहे हैं।

कवि स्वयं समाज का एक साधारण जन ही है, पर अपने धरातल पर वह व्यक्ति की पीड़ा को पहचानता है। उनकी 'माँ' कविता की ये पंक्तियाँ मर्म को स्पर्श करती हैं : *माफ़ी किस बात की बेटा/वो अपना काम कर रहा है/ग़लत या सही मैं नहीं जानती/तुम अपना काम कर रहे हो/ग़लत या सही मैं नहीं जानती/मैं तो तुम दोनों को ही/कोस नहीं सकती/मैं माँ हूँ।*

जन-साधारण के रूप में और एक सैनिक के रूप में व्यक्ति मात्र व्यक्ति है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई उसे हम बनाते हैं। देखिए : *सत्रह तारीख़ को/इसी बाग़ीचे में/फिरंगी की गोलियों से/गणेश और सलीम/एक साथ शहीद हुए/तब उनकी जाति/शहीदों की थी/उनका धरम आज़ादी था/मरने पर हमने बनाई/एक समाधि/और एक क़ब्र और शहीदों को तब्दील कर दिया/हिंदू और मुसलमान में।*

('जाति')

विभाजन के बाद भी कवि का मन उसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि विभाजन राजनीति का हुआ है। धर्मांधता की आड़ में स्वार्थी और शक्तिशाली तत्त्वों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का हुआ है। सामान्यजन के हृदय का नहीं।

सतही ज़मीन पर विभाजन भले ही हुआ हो, पर दिलों का नहीं। वे अभी वहीं हैं। वे न पाकिस्तानी हैं, न हिंदुस्तानी। देखिए : *मेरी नज़रों को/जब जब भी बॉर्डर पर-/.फ़ेंसिंग के उस पार देखना होता है/.फ़ेंसिंग के काँटों से/कोबरा के करंट से/पिकटों की जंग से/सरकंडे की गंध से/मेरी नज़रों का दर्द मैं ही जानता हूँ।*

('उस पार')

कहने का तात्पर्य यह है कि एक सैनिक की हमदर्दी दोनों देशों में फैली हुई उस तमाम जनता

है जो दिलों से एक है पर सरहद ने दो हिस्सों में बाँट दिया है। मनोहर ने एक सैनिक और सैनिक अधिकारी के तीस साल तक सियासी फ़ासलों के बीच तरफ़ के आम नागरिक की इस मोहब्बत तड़प को देखा और परखा है। और वे ख़ुद इंसान की तरह रोए हैं।

कवि का सरहद की प्रकृति से भी एक विशेष का लगाव है, वह लगाव जो सामान्य का नहीं होता, पर एक सैनिक का होता मेरी परछाइयाँ, अभी बहुत दूर, सपना, पर कविताएँ इसके सुंदर उदाहरण हैं। : *मैं इतना अकेला/और भीगा इसमें इस कि गीली मेरी परछाइयाँ/भ्रम में दौड़ती/ हवाओं के बीच/रन अडिग अपनी जगह/ नहीं/न ही सूखता कि इतना जल भीतर/ नहीं मानता/और मैं भी/मैं एक प्रहरी में डूबा।* ('गीली मेरी परछाइयाँ')

से मेरे रिश्तों और/रन की दोस्ती के टकराव/मैं अब एक फ़्लेमिंगो/साइबेरिया कि नर्मदा का/मैं नहीं जानता/मैं प्रहरी, मैं ी। ('सपना')

कविता-संग्रह में सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं जो संकेत देते हैं कि मानव होते हुए भी सेना का प्रहरी मात्र मानव नहीं है बहुत कुछ और है।

शैली और शिल्प विधान की ओर से *सरहद से* अपना एक विशिष्ट स्थान बनाएगी ऐसा मेरा विश्वास है।

इस संग्रह की कविताएँ नवगीत तो नहीं हैं पर नई कविताएँ अवश्य हैं और समकालीन सहज कविता के अंतर्गत आती हैं। लय और प्रवाह इनमें भले न हो, पर इनमें गंभीरता है, गहराई है और जब जल गहराई में बहता है तो उसकी गति का धीमा हो जाना स्वाभाविक है। कवि के प्रतीकों, बिंबों और संकेतों का समझना और प्रसंगानुकूल उनका आनंद उठाना पाठक की क्षमता पर निर्भर है। यही इन रचनाओं की सुंदरता है। प्राकृतिक शब्द चित्र सुंदर हैं। आप पढ़ते जाइए और बिंब स्वत: बदलते रहेंगे। गूँगा, क़ुली, लाली, गुरेजी, हब्बा ख़ातून, हरामी नाला, इंडिया ब्रिज, नाड़ा माता, साँवला पीर, लिमडा बेट, छोटा खील, बिलोनियाँ, प्रवासी पक्षी फ़्लेमिंगो पर कविताएँ—स्थानीय रंगों से भरे बड़े जीवंत बिंब हैं।

चर्चित कविता-संग्रह :

सरहद से : मनोहर बाथम; शिल्पायन, शाहदरा, दिल्ली; 2006; 125 रुपए

'नियाज़' के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : एफ.एफ.-4/बी-ब्लॉक ट्स, गुरुकुल रोड, अहमदाबाद 380052

माधव कौशिक

काव्य-संवेदना के दो छोर

रचनाकार हरीश भादानी उन शब्द- साहित्यकारों की परंपरा से हैं जिन्होंने जीवन शब्द की साधना में समर्पित किया है। लगभग पाँच दशकों तक फैली अपनी सृजन-यात्रा में हरीश भादानी ने हिंदी के साथ-साथ राजस्थानी में भी अपनी काव्य-प्रतिभा का

लोहा मनवाया है। एक प्रतिबद्ध रचनाकार के रूप में हरीश भादानी ने अपनी रचनाधर्मिता के बल पर पुख़्ता पहचान दर्ज की है।

हरीश भादानी नवगीत के प्रथम-पंक्ति तथा प्रथम पीढ़ी के रचनाकारों में से हैं। शिव प्रसाद सिंह भदोरिया, नईम, रमेश रंजक तथा नचिकेता की तरह उन्होंने नवगीत की संवेदना को आंचलिकता की आँच में तपाकर कुंदन बनाया। भारतीय परंपराओं, ग्राम्य-जीवन की झाँकियों तथा ठेठ देसी ठाठ के साथ इस अंदाज़ से प्रस्तुत किया कि उनके गीतों, नवगीतों में भारतीय समाज अपनी संश्लिष्टता तथा सरसता के साथ साँस लेता प्रतीत होने लगा।

हरीश भादानी का सद्यः प्रकाशित गीत-संचयन *आड़ी तानें सीधी तानें* उनकी प्रतिबद्धता तथा काव्य-कौशल का प्रौढ़तम स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इस संग्रह में संकलित सभी 51 गीतों में हरीश भादानी के अनुभव-संसार की व्यापकता स्पष्ट देखी जा सकती है। समाज में आए चारित्रिक पतन से लेकर मानव-मूल्यों के क्षरण के सभी सोपान तथा व्यक्ति के उपभोक्ता में परिवर्तित होने तक के तमाम चरण, इन गीतों की पृष्ठभूमि में सक्रिय रहे हैं। यही कारण है आम आदमी तथा ईमानदार नागरिक की छटपटाहट तथा शोषण की शिकार आम जनता की करुणापूर्ण चीख़ प्रत्येक काव्य-पंक्ति के पार्श्व में गूँजती प्रतीत होती है।

कल तक जो केवल चीज़ें थी/आदम क़द हो गईं-आज वे/चार दशक की पड़ी सामने/संसद में सपनों की कतरन।

('हदें नहीं होती जनपथ की')

रचनाकार ने सामयिक यथार्थ को बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रित ही नहीं किया अपितु संघर्षशीलता तथा मानवीय जिजीविषा को सक्रिय तथा गतिशील बनाने के लिए निरंतर बढ़ते रहने का भी संदेश दिया है। वह अपने जुझारूपन तथा आस्था में ही सामाजिक-मुक्ति के अवसर टटोलता रहता है। कभी भी हथियार न डालने वाली मुद्रा हरीश भादानी के काव्य को अनूठी चमक तथा तुर्शी भरा तेवर प्रदान करती है। कबीर जैसा फक्कड़पन अब केवल हरीश भादानी के गीतों में ही देखा जा सकता है :

जो पहले अपना घर फूँके/फिर धर मंजल चलना चाहे/उसको जनपथ की मनुहारें।

अथवा

मेरे गीतों को ढलुआने/दी झुकते आकाश ने
रागों को बढ़ना सिखलाया/वनपाखी की प्यास ने
शूलों से बतियाते कोई/आए मुझ तक पाँव तो
मैं बाँहों का विस्तार दूँ/मैं दो का भेद बिसार दूँ

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में रचनाकार की दृष्टि-संपन्नता तथा उसके साहित्य के सरोकार बिलकुल स्पष्ट हैं। स्वार्थी तथा अवसरवादी अमानवीय संकल्पनाओं के स्थान पर जीवट का शंखनाद करने वाला गीतकार समय तथा समाज की कटुता को बयान करते हुए भी कभी निराश तथा हताश नहीं होता। उसके लक्ष्यों की परिधि संकुचित सवालों में क़ैद नहीं रहती। इसलिए वह सदा-सर्वदा उस अछोर को छूने के लिए लालायित रहता है जहाँ से मानव-अस्मिता के संपूर्ण होने का मार्ग प्रारंभ होता है : *अभी और चलना है/दरवाज़ा खुलते ही बोले/झुका हुआ आकाश जहाँ पर/उस अछोर को ही छूना है/कोरे से इस काग़ज़ ऊपर/अपने होने के रंगों को भर देना चाहो हो/तब तो आखर के निनाद को सात सुरों सधना है।*

इस संग्रह के कुछ गीतों में सूफ़ीयाना रंग बहुत ही गाढ़ा होकर सामने आया है। इन गीतों में अज्ञात-शक्ति के प्रति कौतूहल का भाव तो है किंतु परंपरागत रूढ़िवादिता तथा शैथिल्य कदापि नहीं है। रचनाकार जीवन, जगत तथा प्रकृति के

...तादात्म्य की पूरी संभावना के सूत्र तलाश ...हुआ मानव को भी कलंकित सीमाओं का ...मण कर कालजयी बनने का स्वप्न दिखाना ...है।

...बेहद दोनों लाँघे जो/यह रचना का पहला ...उसका दूजा नाम संस्करण/प्राण यही, ...यही है, रचे इसी में अनगिन सूरज/इस ...में नाद गूँजते/नभ-जल-थल चारी सृष्टि ...जाए है वही ममेतर/हद बेहद दोनों रागे

...भादानी के इस संग्रह की सबसे बड़ी ...उनकी भाषा का रचाव तथा विलक्षण ...विधान है। उन्होंने अपने गीतों में मौलिक ...योजना के माध्यम से नवगीत/गीत विधा ...वेदना परिधि का विस्तार किया है। इन ...में राजस्थानी बोली के सैकड़ों शब्द नगीने ...तरह झिलमिल करते हैं। इन शब्दों में समायी ...की माटी की महक तथा सांस्कृतिक ...ने इन गीतों को विलक्षण ऊर्जा प्रदान की

...का सच अब ऐसा-सा है/मुझसे तो बावन- ...ऊँची/लंबी चौखानी दीवारें/साँचों ढली, कसी ...चित-पट दोनों सुते-सुते से/धुँधआए ...की खिड़की/रोशनदान बिवाई जैसे।

अथवा

...आकाश/कर ले, जितनी भर कर ...कमाई/पहन होकड़े, लूट लूटेरे/यह मेरा ...खज़ाना।

...संग्रह के कुछ गीतों में हरीश भादानी ने ...पात्रों तथा मिथकीय प्रतीकों का प्रयोग ...यथार्थ तथा आधुनिक युगबोध की ...ओं को व्याख्यायित करने के लिए बहुत ...ढंग से किया है। मानवीय सत्य की ...संप्रेषण को व्यापक आधार प्रदान ...के लिए ही सजग रचनाकार मिथकीय प्रसंगों का प्रयोग करता है। संक्षिप्त-सा मिथकीय प्रसंग अपने अंदर पूरी परंपरा का बोझ उठाए होता है।

सड़कवासी राम/न तेरा था कभी/न तेरा है कहीं/सुन के, सपने के किसी संभावना तक में नहीं/तेरा अयोध्या धाम।

अथवा

एषणाओं के जटायु ही जटायु/और कोई भी नहीं/संकल्प का सौमित्र/अपनी धड़कनों के साथ/ देख वामन-सी बड़ी यह ज़िंदगी।

संक्षेप में, इस संग्रह के गीतों की गेयता, लयात्मकता, मौलिक बिंब विधान, अप्रतिम अप्रस्तुत योजना तथा शिल्प-सौष्ठव ख़ूब प्रभावित करता है।

क्यों करें प्रार्थना हरीश भादानी का ताज़ा कविता-संग्रह है जिसमें उनकी लगभग पचास कविताएँ संकलित हैं। गीतों से बिलकुल अलग रंग-रूप की इन कविताओं का स्वर तथा तेवर रचनाकार की संवेदना का दूसरा शिखर प्रतीत होता है। इन कविताओं में हरीश भादानी का चिंतक अधिक मुखर हुआ है। समय तथा समाज के साथ-साथ कवि के सामने मानव-अस्मिता से जुड़े गहन आध्यात्मिक प्रश्न भी हैं तथा वह उन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए परंपरा और सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि में भी झाँकता है। शीर्षक की प्रथम कविता 'प्रार्थना नहीं करूँगा-1 से लेकर प्रार्थना नहीं करूँगा-9' तक की सभी कविताओं में रचनाकार की मंशा तथा उसके साहित्यिक सरोकार बड़ी सहजता से उजागर हुए हैं। ऋग्वेद में ऊषा पर रचित महर्षि वशिष्ठ की कविताओं से प्रभावित होकर लिखी इन नौ कविताओं में कवि की बौद्धिक-प्रखरता अपने चरम पर है। संसार के समस्त रहस्यों को जानने तथा समझने की अदम्य लालसा ने ही मानव-सभ्यता को इस मुक़ाम पर पहुँचाया है।

ये कविताएँ भी ऊषा को समर्पित तथा संबोधित हैं। अगर यहाँ रचनाकार स्वयं को महर्षि वशिष्ठ की परंपरा का अंश मानते हुए भी प्रकृति के समक्ष नतमस्तक होने को तैयार नहीं है। उसका प्रार्थना न करना ही मनुष्य की चेतना तथा उसकी आंतरिक शक्ति का प्रतीक है।

यह तो मैं जानूँ ही/देखेगी तो तू ही/अपनी ही झप-झप में/तब मैं क्यों न कहूँ/तुझसे-मैं वशिष्ठ की तरह/प्रार्थना नहीं करूँगा तेरी।

कवि स्वीकार करता है कि प्रत्येक सृजनात्मक प्रतिभा को सीधा तनकर खड़ा होना चाहिए। प्रार्थना करना, गिड़गिड़ाना, चिरौरी करना उसकी ऊर्जा को नष्ट कर देता है।

इसी प्रकार 'बता उसे कैसे अंगाऊं...1' से लेकर 'बता उसे कैसे अंगाऊं...4' तक की कविताएँ पिछली कविताओं की मानसिक बेचैनी तथा व्यग्रता का ही विस्तार है। कवि निरंतर मन व आत्मा की गहराइयों में उतरता जा रहा है जहाँ जीवन और जगत के गूढ़ प्रश्न हैं। अनहद नाद है। अदृश्य सुरों की वीणाएँ हैं।

तूने कहा-सात सुर छोड़ूँ/फिर अनाद के तार उमेटूँ/बोल लिया तू/अब सुन मुझको/चार कूँट के/किसी सिरे पर/उसके अथ की लीक नहीं है/सोया है पेटे सरणाटा।

इन कविताओं में सूफ़ी मत जैसी विरह-वेदना के साथ-साथ रागात्मकता की टीस भी मौजूद है। परंपरागत धार्मिक कट्टरता व रूढ़िवादिता के स्थान पर मानवीय चिंतन की प्रौढ़ता तथा गूढ़ दार्शनिकता के रस से आप्लावित इन कविताओं में भारतीय चिंतन का उजास दूर तक फैला हुआ है।

सारी लिपियों को समेट कर/गूँथ गया वह दाढ़ीवाला/परमेसुर है सिर्फ़ सबद में/तन के लोहे की पेटी में/बंद पड़ा है साँच शबद का/पाए वो जो ढकन उघाड़े।

कविताओं की शृंखला में 'आग...' से 'आग...' तक की कविताएँ संक्षिप्त होकर भी सारगर्भित हैं। कवि ने इन ग्यारह कविताओं में आग को अनेकानेक रंगों और रूपों में रूपायित किया है। यहाँ भी रचनाकार की दार्शनिकता तथा चिंतक का पक्ष ख़ूब उजागर हुआ है। शेष कविताओं में भी कवि ने समाज की विसंगतियों तथा विद्रूपताओं को उजागर करने के लिए मिथकीय प्रसंगों तथा पौराणिक पात्रों का भी सहारा लिया है। कवि की मंशा यही रही है कि वह समाज के घावों पर मरहम लगाए। लगातार गिरती मानवीय क़दरों को सीधा खड़ा करने में उनकी मदद करे।

इस संग्रह की कविताओं में राजस्थानी समाज, उसकी सोच, उसकी समृद्ध परंपरा तथा उसके चिंतन को धारदार बनाने वाली शब्दावली प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं। यहाँ भी भाषा की बिंबात्मक शक्ति पूरे ओज पर है।

चर्चित पुस्तकें :

आड़ी तानें सीधी तानें ; क्यों करें प्रार्थना : हरीश भादानी; कवि प्रकाशन, डी-2, मुरलीधर व्यास नगर, बीकानेर; 2006; प्रत्येक 120 रुपए

माधव कौशिक, जन्म-1 नवंबर, 1954। विभिन्न विधाओं की कुल सोलह पुस्तकें प्रकाशित। हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत। संपर्क : 3277, सेक्टर 45-डी, चंडीगढ़ 160047

वर्ष के अन्य प्रकाशन (2006)

कविता

खुल्लर : **उसको**; शिलालेख, 4/32, गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली; 200 रुपए

गोजा : **विष में अमृत**; मीनाक्षी प्रकाशन, 2006; 60 रुपए

सिंह : **मन के जीते जीत; चिट्ठी आई** से; मयंक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 195 रुपए

कौंके : **अंतहीन दौड़**; प्रतीक केशंस, 718, रणजीत नगर-ए, पटियाला 01; 2006; 120 रुपए

आलोक : **लिबास**; मीनाक्षी प्रकाशन, 2006; 100 रुपए

घोष : **गई सदी के स्पर्श**; राजेश प्रकाशन, 2006; 130 रुपए

वर्मा : **कोई रुकता नहीं; पलकों पर** ; अभिधा प्रकाशन मुज़फ़्फ़रपुर; 2006; 95 रुपए; 25 रुपए

प्रीतम : **मैं तुम्हें फिर मिलूँगी**; हिंद पॉकेट , नई दिल्ली; 2006; 75 रुपए

शर्मा : **पृथ्वी को बांचती बच्ची**; प्रियंका , स्पंदन, गीता नगर, रायपुर (छ.ग.) 01; 2006; 125 रुपए

कुमार 'सज्जन' : **नीड़ से क्षितिज तक**; प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रपुर; 2006; 80 रुपए

भारती : **आदमी के अरण्य में**; भारतीय , नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

शर्मा : **अंतर्द्वंद्व के सीकर** : कृति , दिल्ली; 2006; 150 रुपए

गणेश गायकवाड़ : **मंज़र बदल न जाए...**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2006; 125 रुपए

हर्षवर्धन आर्य : **दिन के उजाले में**; श्री राममूर्ति प्रकाशन, 2497/191, ओंकार नगर, त्रिनगर, पुराने बस स्टैंड के पास, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

जगमोहन आज़ाद : **शाम होते ही**; विनसर पब्लिशिंग कंपनी, 56/5-डी, कैनाल रोड, जाखन, देहरादून-248001; 2006; 70 रुपए

कुबेर दत्त : **अंतिम शीर्षक**; भगत सिंह विचार मंच; 2006; 20 रुपए

कविता पंडित : **मेरा कवच-कुंडल**; राजेश प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

कुमार रवींद्र : **और हमने संधियाँ कीं**; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

लखन लाल सिंह 'आरोही' : **अँधेरे में शब्द**; आरोही प्रकाशन, बांका 813107; 2006; 200 रुपए

लक्ष्मी निधि : **मन की पीड़ा : मन की मीरा; नहीं चाहिए मधुशाला**; ज्योत्स्ना प्रकाशन, निधि विहार, 172, न्यू बाराद्वारी, पो. साकची, ह्यूम पाइप रोड, जमशेदपुर; 2006; प्रत्येक 70 रुपए

मंजरी भांती : **उजाले का सच**; अंकुर प्रकाशन, 13, पीपलेश्वर महादेव की गली, नाइयों की तलाई, उदयपुर; 2006; 150 रुपए

मृदुला प्रधान : **चलो कुछ बात करें...**; देवलोक प्रकाशन, 1362, कश्मीरी गेट, दिल्ली; 2006; 200 रुपए

मंगेश पाडगाँवकर : **कविता मनुष्यों के लिए**; अनु. चंद्रकांत बांदिवडेकर; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

मनोहर वर्मा : **उठो जागो, बनो विजेता**; देवांशु प्रकाशन, 18-बी, साउथ अनारकली, दिल्ली; 2006; 150 रुपए

नचिकेता : **तासा बज रहा है; पर्दा अभी उठेगा**; अभिधा प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रपुर; 2006; क्रमश : 125 रुपए; 100 रुपए

पंकज चतुर्वेदी : **एक ही चेहरा**; वाणी प्रकाशन नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

पुष्पलता : **अरे बाबुल! काहे को मारे**; कुसुम प्रकाशन, नवेन्दु सदन, आदर्श कॉलोनी, मुज़फ़्फ़रनगर; 2006; 100 रुपए

राजकुमार केसवानी : **बाक़ी बचें जो**; शिल्पायन, दिल्ली; 2006; 110 रुपए

ऋचा शर्मा : **द्रौपदी क्यों बँटी तुम**; म. प्र. राज्य हिंदी साहित्य सम्मेलन, पुष्पराज कॉलोनी, गली नं. 5, सतना (म.प्र.); 2006; 250 रुपए

रश्मि बजाज : **निर्भय हो जाओ द्रौपदी**; निखिल पब्लिकेशंस, भिवानी, हरियाणा; 2006; 100 रुपए

राधेश्याम उपाध्याय : **अनवरत**; काव्य कुंज, 212, श्याम कमल, बी अग्रवाल मार्केट, विले पार्ले (पूर्व) मुंबई-400057; 2006; निःशुल्क

रवींद्र स्वप्निल प्रजापति : **कोलाज**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2006; 150 रुपए

रमेश कुंतल मेघ : **समुद्र से उठता पहाड़**; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

राजेंद्र नागदेव : **अंधी यात्राएँ**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

रंजना वर्मा : **जज़्बात**; अनुभव प्रकाशन, ई-28, लाजपत नगर, साहिबाबाद; 2006; 120 रुपए

सुनीता जैन : **चौखट पर व उठो माधवी**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2006; 125 रुपए

शंकर सोनाने : **धूप में चाँदनी**; म.प्र. तुलसी साहित्य अकादमी, 50 सुंदरम् बंगला, महावली नगर, कोलार रोड, भोपाल; 2006; 20 रुपए

संजय : **अनंत यात्रा**; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

शकुंतला बेहुरा : **आकाश की छाया**; न्यू एज पब्लिकेशंस, तारा भवन, ष्टोनी रोड, चांदिनी चौक, कटक-2; 2006; 85 रुपए

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : **दो शरण**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

संजय कुमार कुंदन : **एक लड़का मिलने आता है...**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

शंकर सोनाने : **किशोरीलाल की आत्महत्या**; म.प्र. तुलसी साहित्य अकादमी; 2006; 80 रुपए

संतोष अग्रवाल : **मैंने कब ?...**; अग्रदीप पब्लिशर्स, बी 5/517, एकता विहार, सी.जी.एच.एस. लिमिटेड, 9, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन मार्ग, दिल्ली; 2006; 300 रुपए

शैलेंद्र : **कविता की किताब**; प्रतिमा प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 150 रुपए

सुरेंद्रनाथ श्रीवास्तव : **माटी की महक; सूरज तनिक और ऊँचे आओ; ऋतु गंध और देह गंध**; श्री वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद्, टीकमगढ़ (म.प्र)); 2006; क्रमशः 50 रुपए; 100 रुपए; 100 रुपए;

शांति सुमन : **एक सूर्य रोटी पर**; अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुज़फ़्फ़रपुर; 2006; 100 रुपए

उदयभान मिश्र : **चलो घर चलें**; मनु प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

विकि आर्य : **कैनवस**; अनु. रश्मि देवान, ममता गोविल, मीताभान, दीप रजनी राई; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

भरतराम : **मेघदूत**; पेंगुइन बुक्स, नई
ली; 2006; 100 रुपए
: **वसंत के पार**; शांति पुस्तक मंदिर,
ली; 2006; 150 रुपए

कहानी

दुआ जैमिनी : **सुलगती ज़िंदगी के धुएँ**; प्रकाशन, ई-385-सी, प्रताप विहार, ज़ियाबाद-201009; 2005; 150 रुपए

जेश प्रीत : **हमज़मीन**; राजकमल प्रकाशन लि., नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

नावरिया : **पटकथा और अन्य कहानियाँ**; प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

'सवि' : **फ़रिश्ता**; आशीष प्रकाशन, बाद; 2006; 150 रुपए

गाँधी : **रिहाई**; रूझान पब्लिकेशंस, सी- जी.टी.बी. नगर, करैली कॉलोनी, इलाहाबाद; 6; 175 रुपए

देवराज : **कमल : संपूर्ण रचनाएँ; मणिपुरी कता मेरी दृष्टि में**; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2006; क्रमशः 350 रुपए; 300

चन सिंह : **बादाम का पेड़**; किताबघर, दिल्ली; 2006; 120 रुपए

जोशी : **इकहत्तर कहानियाँ**; साहित्य नी, के-71, कृष्ण नगर, दिल्ली; 2006; 595

श्वर : **कथा संस्कृति**; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; 2006; 400 रुपए

हालन : **शाम के साये**; पेंगुइन बुक्स, नई ली; 2006; 95 रुपए

कांकरिया : **...और अंत में ईशु**; किताबघर, दिल्ली; 2006; 120 रुपए

नरेंद्र नागदेव : **वहीं रुक जाते**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

प्रेम बरनालवी : **मैं हूँ ना**; सुकीर्ति प्रकाशन, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, कैथल-136027; 2006; 80 रुपए

पुष्पपाल सिंह : **कथा-दर्पण**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

शैलेश पंडित : **पहला फागुन**; राजेश प्रकाशन, जी-5/62, अर्जुन नगर, दिल्ली; 2006; 140 रुपए

श्रीराम ठाकुर 'दादा' : **मेरी प्रिय छब्बीस कहानियाँ**; मांडवी प्रकाशन, 88, रोगनग्राम, देहली गेट, ग़ाज़ियाबाद; 2006; 100 रुपए

उषा आयंगर : **फ़िरदौसी की कहानियाँ**; कीन बुक्स, 18-बी, साउथ अनारकली, दिल्ली; 2006; 175 रुपए

वीरेंद्र सिंह गूंबर : **नक़्क़ारख़ाने की तूती**; जनता प्रकाशन, ए-753, डी.डी.ए. कॉलोनी, चौखंडी, नई दिल्ली-110018; 2006; 150 रुपए

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' : **मेरी श्रेष्ठ प्रेम कहानियाँ**; ऐरो पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 79, चंदु पार्क, गली नं. 20, दिल्ली; 2006; 175 रुपए

यश गोयल : **काग़ज़ के हाथ**; विवेक पब्लिशिंग हाउस, धामाणी मार्केट, जयपुर-302001; 2006; 135 रुपए

उपन्यास

अर्जुन सिंह रावत : **आख़िर कब तक**; पी.एस. नेगी, सरिता बुक हाउस, 186, गुरुराम दास नगर, लक्ष्मी नगर, दिल्ली; 2006; 175 रुपए

देवकिशन राजपुरोहित : **पगली**; राजपुरोहित प्रकाशन, राजपुरोहित कुटीर, चंपाखेड़ी, वाया-रेण, ज़िला-नागौर, राजस्थान; 2006; 100 रुपए

देवेंद्र इस्सर : **ख़ुशबू बन के लौटेंगे**; विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

देवकीनंदन शुक्ल : **आँसू बने संगीत**; मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 190 रुपए

दीप्ति कुलश्रेष्ठ : **नौकरीनामा**; मिनर्वा पब्लिकेशन, सेक्टर-डी, प्लॉट नं.-21, भगवती कॉलोनी, पी. डब्ल्यू.डी. चौराहा, जोधपुर; 2006; 400 रुपए

फ़ज़ल ताबिश : **वो आदमी**; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

जगदीश प्रसाद सिंह : **अनुसूया**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 225 रुपए

कमलेश्वर : **पति पत्नी और वह; अम्मा**; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2006; क्रमश : 250 रुपए; 150 रुपए

कु. चिन्नप्प भारती : **पीढ़ी-दर-पीढ़ी**; अनु. मीनाक्षी पुरी; आलेख प्रकाशन, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2006; 340 रुपए

कृष्णानंद : **मस्तानी**; प्रतिभा प्रकाशन, प्रतिभालोक, आनंदपुरी, पश्चिम बोरिंग कैनाल रोड, पटना-800001; 2006; 240 रुपए

केशुभाई देसाई : **हरा-भरा अकाल**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 170 रुपए

मैत्रेयी पुष्पा : **त्रिया-हठ**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 160 रुपए

एम.डी. कार्की : **सिंहासन**; मॉडर्न दीपक प्रेस, एस 17/272, नदेसर, वाराणसी; 2006; 150 रुपए

नरेंद्र जाधव : **असीम है आसमाँ**; अनु. कमलाकर सोनटक्के, अजय ब्रह्मात्मज; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 225 रुपए

निर्मल कुमार : **ऋतुराज**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 395 रुपए

प्रमोद त्रिवेदी : **तथापि**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

प्रकाश मनु : **यह जो दिल्ली है**; लोकप्रिय प्रकाशन, 79, चंदु पार्क, गली नं. 20, दिल्ली; 2006; 375 रुपए

रामनाथ शिवेंद्र : **हरियल की लकड़ी**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 195 रुपए

रमेशचंद्र शाह : **सफ़ेद परदे पर**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 120 रुपए

राजेंद्र यादव : **एक था शैलेंद्र**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

रामनारायण मिश्र : **प्यासा सागर**; समन्वय प्रकाशन, के.बी.-97, (प्रथम तल) कवि नगर, ग़ाज़ियाबाद; 2006; 150 रुपए

राजू शर्मा : **हलफ़नामे**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 295 रुपए

रामदरश मिश्र : **परिवार**; शांति पुस्तक मंदिर, 71, ब्लॉक-के, लाल क्वार्टर, कृष्ण नगर, दिल्ली; 2006; 150 रुपए

राजेंद्र केडिया : **जोग संजोग**; वृंदा प्रकाशन, केडिया फ़ाइनेंस एंड इन्वे. कंपनी प्रा.लि., 16, नरमूल लोहिया लेन, कोलकाता-700007; 2006; 295 रुपए

रामधारी सिंह 'दिवाकर' : **अकाल संध्या**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 225 रुपए

श्रीराम दूबे : **अग्निव्यूह**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

सविता जैन : **जूनागढ़ की वैदेही**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

विष्णुचंद्र शर्मा : **बेगाने अपने**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

आरिफ़ : **उपयात्रा**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

विविध

कुमार शर्मा : **भारतीय संस्कृति का** स्वरूप; ई.-20, नचिकेता मंज़िल, लाजपत नगर-III, नई दिल्ली; 2006; 295 रुपए

नाथ कपूर : **नवशती हिंदी व्याकरण**; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; 2006; रुपए

भट्ट : **मीरा याज्ञिक की डायरी**; अनु. नारायण सिंह; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

प्रसाद द्विवेदी : **भारतीय जनजातियाँ : आज और कल**; एवरेस्ट पब्लिकेशंस-I/ 437, सुभाष पार्क, गली नं. 2, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2006; 125 रुपए

वंशी : **रज्जब तैं गज्जब कियो**; परमेश्वरी प्रकाशन, बी-109, प्रीत विहार, दिल्ली; 2006; रुपए

डोभाल : **जो भुलाए न बने**; आलेख प्रकाशन, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2006; रुपए

फ़ो : **चुकाएँगे नहीं**; अनु. अमिताभ श्रीवास्तव; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; रुपए

मित्र : **नील दर्पण**; अनु. नेमिचंद्र जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 130 रुपए

इस्सर : **मीडिया : मिथ्स और मूल्य**; प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 200 रुपए

विजयलक्ष्मी : **समकालीन हिंदी** उपन्यास (समय से साक्षात्कार); राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 350 रुपए

गगन गिल : **प्रिय राम**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 130 रुपए

हिमांशु जोशी : **डायरी : अंतर्जीवन के साक्ष्य**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 200 रुपए

जय नारायण कौशिक : **अतीत की परछाइयाँ**; साहित्य सहकार, 29/62-बी, गली नं-11, विश्वास नगर, दिल्ली; 2006; 250 रुपए

जयदेव तनेजा : **आधुनिक भारतीय रंगलोक**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 230 रुपए

जसजीत मानसिंह : **ऊना पहाड़ों की बेटी**; अनु. रत्ना कौल; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

ज्योतिष जोशी : **पुरखों का पक्ष**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2006; 200 रुपए

कर्ण सिंह चौहान : **यूरोप में अंतर्यात्राएँ**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

कैलाश वाजपेयी : **शब्द सागर**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 160 रुपए

कुमुद शर्मा : **हिंदी के निर्माता**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 310 रुपए

कैलाश वाजपेयी : **अनहद**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

कांति अय्यर : **ऐट्टी की डायरी**; आस्था की आत्मखोज; कांति अय्यर; तुलसी हॉस्पिटल पीज भागोल, नडियाद-387001; 2006; 35 रुपए

लेव लांदाऊ, पूरी रूमेर : **आपेक्षिकता-सिद्धांत क्या है**; अनु. गुणाकर मुळे; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

ममता जैतली, श्री प्रकाश शर्मा : **आधी आबादी का संघर्ष**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 350 रुपए

मृणाल पांडे : **जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

मुद्राराक्षस : **रंग भूमिकाएँ**; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

मैत्रेयी पुष्पा : **सुनो मालिक सुनो**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

मोहन सिंह : **काला सूरज**; अनु. पद्मा सचदेव; राजेश प्रकाशन, जी-62, गली नं.-5, अर्जुन नगर, दिल्ली; 2006; 100 रुपए

मीरा कांत : **कंधे पर बैठा था शाप**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 130 रुपए

नमिता गोखले : **शिव महिमा**; अनु. अशोक कुमार; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

नंदिता कृष्ण : **श्री विष्णु कथा**; अनु. प्रतिमा पांडेय; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

नंदकिशोर नवल : **कविता : पहचान का संकट**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 230 रुपए

निशिकांत ठाकुर : **एक सच यह भी**; इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्ण नगर, दिल्ली; 2006; 250 रुपए

नंदकिशोर तिवारी : **छत्तीसगढ़ी साहित्य : दशा और दिशा**; वैभव प्रकाशन, अमीन पारा चौक, पुरानी बस्ती, रायपुर, छत्तीसगढ़; 2006; 150 रुपए

पवन चौधरी मनमौजी : **छोटे हाथ बड़े हाथ** (भाग-2); विधि सेवा, चौधरी कुटीर, ई-31, मानसरोवर गार्डन, नई दिल्ली; 2004; 350 रुपए

परमानंद श्रीवास्तव : **मेरे साक्षात्कार**; किताबघर, नई दिल्ली; 2006; 175 रुपए

प्रयाग शुक्ल : **साझा समय**; सूर्य प्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड), बीकानेर; 2006; 150 रुपए

पुष्पिता : **सांस्कृतिक आलोक से संवाद**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 140 रुपए

पवन के. वर्मा : **श्री कृष्णावतार**; अनु. डॉ. पूरनचंद टंडन; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

परशुराम शुक्ल : **भारत का राष्ट्रीय पशु और राज्यों के राज्य-पशु**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

प्रभाकर श्रोत्रिय : **कवि परंपरा : तुलसी से त्रिलोचन**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 195 रुपए

रमाकांत श्रीवास्तव : **अतीत का दर्पण**; विनीत कुमार श्रीवास्तव, एल 6/96, सेक्टर एल., अलीगंज, लखनऊ; 2006; 300 रुपए

रमाकांत शर्मा : **प्रतिमानों की प्रासंगिकता**; कवि प्रकाशन, डी-2, मुरलीधर व्यास नगर, बीकानेर-334004; 2006; 200 रुपए

रॉयिना ग्रेवाल : **श्री गणेश कथा**; अनु. दीपिका जैन; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 120 रुपए

रामदरश मिश्र : **छोटे-छोटे सुख**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 100 रुपए

रूपा गुप्ता : **साहित्य और विचारधारा : भारतेंदु एवं बंकिमचंद्र**; यश पब्लिकेशंस, X/909, चाँद मोहल्ला, गांधी नगर, दिल्ली; 2006; 495 रुपए

राजेंद्र परदेसी : **शब्दशिल्पियों के सान्निध्य में**; भारतीय कला-साहित्य संस्थान, विधुनगर, कोइलवर, भोजपुर; 2006; 200 रुपए

रजनी बाला : **नरेंद्र मोहन : लंबी कविताओं के बहाने**; बी. दास प्रकाशन 3611/5, नारंग कॉलोनी, त्रिनगर, दिल्ली; 2006; 250 रुपए

यादव : **अब वे वहाँ नहीं रहते**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

कृष्ण : **सिने संसार और पत्रकारिता**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

मिश्र, प्रह्लाद तिवारी : **बालिका शिक्षा**; अक्षर प्रकाशन, I/11437, सुभाष पार्क एक्सटेंशन, गली नं.-2, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2006; 250 रुपए

पचौरी : **बिंदासबाबू की डायरी; साहित्य का उत्तर समाजशास्त्र**; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; क्रमश : 125 रुपए; 250 रुपए

सिद्दीक़ी, कमला प्रसाद, स्वयं प्रकाश, शर्मा : **सज्जाद ज़हीर : आदमी और अदीब**; साहित्य भंडार, 50 चाहचंद, इलाहाबाद; 2006; 350 रुपए

कैफ़ी : **याद की रहगुज़र**; अनु. अब्दुल ...; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 50 रुपए

गुप्ता : **लेखक का समय**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 200 रुपए

कृष्ण रैणा : **भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनुवाद की समस्याएँ**; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला 171005; 2006; 225 रुपए

प्रताप सिंह : **बुद्ध के बढ़ते क़दम**; सारांश प्रकाशन, 196-सी, पॉकेट-4, मयूर विहार फ़ेज़ ... दिल्ली; 2006; 200 रुपए

चंद्रा : **अल्बैर कामू और भगवद्गीता**; ... प्रसाद शुक्ल; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

श्रीराम परिहार : **हंसा कहो पुरातन बात**; आलेख प्रकाशन, दिल्ली; 2006; 160 रुपए

सुरेंद्र तिवारी : **शब्द से शब्द निकलते हैं; चंद चेहरे चंद बातें**; नमन प्रकाशन, 4378/4बी, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; 2006; क्रमशः 500 रुपए; 300 रुपए

सुशीला गुप्ता : **गांधी और गांधी मार्ग**; हिंदुस्तानी प्रचार सभा महात्मा गांधी मेमोरियल बिल्डिंग, 7 नेताजी सुभाष रोड, मुंबई-400002; 2006; 150 रुपए

सुदर्शन शर्मा 'रथांग' : **गीत गोविंद का श्रीमद् भगवद्गीता का नया वैज्ञानिक अवलोकन**; 104, अदिति, अपना घर यूनिट-5, श्री स्वामी समर्थ नगर, अंधेरी पश्चिम, मुंबई; 2006; 125 रुपए

विष्णु नागर : **देशसेवा का धंधा**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

वागीश शुक्ल : **शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं ?**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 225 रुपए

डॉ. विश्वनाथ मिश्र : **महामना सुकरात का महाप्रयाण**; गोपिका प्रकाशन, 10 प्रीति नगर, डिडौली मार्ग, सीतापुर रोड, लखनऊ; 2006; 75 रुपए

वासुदेव पोद्दार : **रामायण-महाभारत : काल, इतिहास, सिद्धांत**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 225 रुपए

यशवंत गडाख : **अर्धविराम**; अनु. निशिकांत ठकार; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

ज़ाहिदा हिना : **पाकिस्तान डायरी**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 200 रुपए

पाठांतर

128 अंक में अच्छी सामग्री देकर साहित्यिक गरिमा को जीवंत रखने का प्रयास सराहनीय है। अनिल विश्वास के आलेख में ग़ज़ल विधा की पृष्ठभूमि पर डाला गया प्रकाश रास आया। सुनील गंगोपाध्याय का संस्मरण भी विदेशी यात्रा के दौरान आनेवाली मुश्किलों से अवगत कराता है। आमुख भी साहित्य की प्रासंगिकता के इर्द-गिर्द घूमता है। गोविंद माथुर, नरेश मेहन और रेखा की हिंदी कविताएँ पठनीय हैं। कहानियाँ देखें तो कृष्ण खटवाणी, भगवान अटलानी, हरदान हर्ष की कहानियों के साथ चरणसिंह पथिक की 'दो बहनें' भी काफ़ी पसंद आईं। आपका यह कुशल सुसंपादन पत्रिका का स्तर ऊँचा उठाने में कारगर सिद्ध हो रहा है। सभी भाषाओं की विभिन्न विधाओं के साहित्य पर प्रकाश डालने वाले आलेखों को प्राथमिकता दीजिए।

संग्राम सिंह सोढा, बीकानेर, राजस्थान

आज *समकालीन भारतीय साहित्य* बाज़ारवाद एवं सस्ते साहित्य के दौर में विभिन्न भारतीय भाषाओं से लैस यह अकेली समृद्ध और स्तरीय पत्रिका है जिसे पाकर पाठक किसी अन्य पत्रिका को नहीं प्राप्त करने का अभाव नहीं महसूस करता है।

गोविंद माथुर के 'आत्मीय संबंधों में बढ़ती दूरी' में संबंधों के गिरते रिश्ते, व्यापारिक और स्वार्थपरक दृष्टि आधारित स्वाँगपूर्ण अपने सामाजिक क़द बढ़ाने की उत्कट इच्छा उजागर होती है वहीं दिवा भट्ट की कहानी 'कीट भक्षी' के माध्यम से संसार की चकाचौंध भूल भुलैया और तिलिस्म भरी ज़िंदगी का दृश्य दृष्टिगत होता है। डॉ. नंदकिशोर नंदन की कहानी 'शब्द शक्ति' दो भाइयों के रक्त संबंधों की पुकार और सामाजिक परिवेश से बद्ध परिस्थितियाँ उजागर करती है।

डॉ. अरुण कुमार 'सज्जन', मुज़फ़्फ़रपुर, बिहार

समकालीन भारतीय साहित्य की एक पाठिका सदस्य हूँ। पत्रिका अनमोल है तथा रचनाएँ एक पूँजी स्वरूप हैं। प्रकाशित रचनाएँ वास्तव में संग्रहणीय हैं। 127 सितंबर-अक्तूबर अंक की कहानियाँ अच्छी लगीं, मनोजदास की 'बिल्ली', संतोखसिंह धीर, राजी सेठ व चित्त घोषाल की कहानी भी प्रभावी रहीं। प्रवीण पंड्या की कविता, 'सूरज की माँ', मनोरमा विश्वाल महापात्र की 'कब लौटोगे वनवास से' अच्छी लगी, मुहम्मद अलवी की उर्दू कविता बेहद प्रभावी हृदय को स्पर्श करती है।

भारती पांडे, देहरादून, उत्तरांचल

भारतवर्ष सिर्फ़ वैसा नहीं है जैसा हम नक़्शे में देखते हैं। भारतीय भाषा, भारतीय समाज की आत्मा है। इन भाषाओं का दर्पण है— *समकालीन भारतीय साहित्य*। 128वाँ अंक पढ़ने को मिला। शिवकुमार बटालवी के बारे में जानना एक सुखद अहसास जैसा था। उनकी कविताओं को मैंने कई बार पढ़ा। 'लोहे का शहर' हमारे मनुष्य होने पर सवालिया निशान लगाता है। साहित्य जगत लगातार इस सवाल से जूझ रहा है। लेकिन निरंतर शहर की तसवीर को इतना भयावह दिखाना हमारे समाज के लिए ख़तरे की घंटी है। इससे हमारे अंदर अवसाद, कुंठा का आविर्भाव होगा, जो कदाचित् हमें अपने जीवन से काट देगा। आज हम अपने शहर से इतने अपरिचित और डरे हुए क्यों हैं ? सुनील गंगोपाध्याय की विदेश

ने हमारे अंदर उत्साह का संचार किया। को भी इस यात्रा में शामिल करने का मैं बार निरर्थक प्रयास कर रहा था। गली के की ऊँची छलाँग उनके कड़े परिश्रम का है। लेकिन हर परिश्रमी व्यक्ति वहाँ पाएगा? गंगाप्रसाद विमल द्वारा समीक्षित चतुर्वेदी के नए व्यंग्य संग्रह के बारे में पढ़ते बरबस ही कबीर की याद आ गई। सामाजिक चेतना का वह स्वर क्या हमारे समाज में गया है?

देशबंधु कॉलेज, दिल्ली

पत्र लिखने के लिए क्षमा चाहता हूँ। वस्तुत: चाहते हुए भी यह पत्र लिखना पड़ रहा है। -अगस्त अंक में आपने सर्वांतीस के संबंध रचनाएँ प्रकाशित की हैं। मैं समझ नहीं कि सर्वांतीस का भारतीय साहित्य से क्या है या कि ये रचनाएँ इस प्रकार प्रमुखता से *कालीन भारतीय साहित्य* में क्यों स्थान पा ? मेरी समझ में तो *समकालीन भारतीय* की सीमा भारतीय भाषाओं के साहित्य साहित्यकारों तक ही होनी चाहिए। यदि प्रकार खींचतान कर विदेशी साहित्य को शामिल करें तो उसमें किसी भारतीय कार द्वारा किसी विदेशी साहित्यकार से या विदेश की साहित्यिक यात्रा संबंधी ली जा सकती है जैसा कि कुछ वर्ष मंगलेश डबराल ने अपनी विदेश यात्रा के में *समकालीन भारतीय साहित्य* में लिखा 400 वर्ष पुरानी किसी विदेशी साहित्यिक उसके लेखक को *समकालीन भारतीय* के दायरे में लेना मेरे विचार से तो साहित्य' की सीमा को अनावश्यक देना है। यदि किसी तर्क से यह विस्तार भी लिया जाए तब तो शेक्सपीयर और बर्नार्ड शॉ के साथ ही किसी भी नोबेल पुरस्कार प्राप्त विदेशी लेखक या किसी भी अफ्रीकी लेखक और उसकी कृति को भी इसमें स्थान मिलना चाहिए और पत्रिका के नाम से 'भारतीय' के साथ ही 'समकालीन' शब्द भी हटा देना चाहिए।

महेंद्र राजा जैन, इलाहाबाद

समकालीन भारतीय साहित्य का नवंबर-दिसंबर 2006 अंक मेरी दृष्टि में सर्वोत्तम है। संस्मरण, कविता, व्यंग्य, कहानी और मूल्यांकन सभी के सभी स्तरीय! शिवकुमार बटालवी पर अमरजीत सिंह प्रभावित नहीं कर पाए हैं। कविताओं में 'मनुष्य और ईश्वर', 'ऐसा होता है', 'दादागिरी', 'ओल्डहोम में वृद्ध', 'आर्यावर्त का पवित्र पानी', 'फिर देखना', 'घर', 'फ़ौजी', 'पागलपन', 'सच कहना', 'जबकि तुम', 'बेटी आएगी', और 'धीरे-धीरे' जैसी कविताएँ भीतर गहरे तक संवेदित करती हैं। एक अंक में एक साथ इतनी सारी अच्छी कविताएँ आजकल मुश्किल से मिलती हैं।

कहानियों में असमिया कहानी बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य की 'वार्ड नंबर दो', इस अंक की बेहतरीन कहानी है। दलित पर बिना किसी नारेबाज़ी के गहरे संवेदित करती यह कहानी उन दलित साहित्य के झंडाबरदार लेखकों के लिए एक करारा जवाब है जिनकी अपनी कमज़ोर रचनाओं में दम नहीं और फतवा यह देते हैं कि चूँकि यह दलित पर लिखी गई, या दलित द्वारा लिखी गई इसलिए इसे पत्रिका में स्थान नहीं दिया गया। जब उस मरणासन्न, ठीक न हो पाने की स्थिति वाले व्यक्ति को ज़बरदस्ती अस्पताल से बाहर निकाला जाता है तो उसका कथन, ''मुझे भगा रहे हो। मुझे तो भगाओगे ही। अन्यथा, तुम लोगों के फेंके हुए भात कौन खाएगा। क्या

दुनिया में इतने कुत्ते हैं ?'' भीतर तक पाठक को दहला देता है। बिना एकात्मक हुए लेखक पात्र के मुँह से यह वाक्य कहला ही नहीं सकता। इस पत्रिका के पृष्ठ 184 पर प्रकाशित कविता की यह पंक्तियाँ—बेजुबान लोगों के दुख और ग़ुस्से के लिए ढूँढ़ने पड़ते हैं। कवि की सही-सही और उतने ही ताप से भरे शब्द'' यहाँ बिलकुल सटीक बैठते हैं। ताप बिना तपे नहीं आता।

इसके अतिरिक्त 'हाथ की रेखाएँ', 'आदमी का नाम', 'डाइन', 'कुर्क़ी', 'शब्द शक्ति' और चरणसिंह पथिक की 'दो बहनें' जैसी कहानियाँ जीवंत कहानियाँ हैं जो पाठक को बरसों तक बाँधे रखने में सक्षम हैं। मूल्यांकन में पुस्तक चर्चा बेहद स्तरीय है, लेकिन सही आनंद तब मिलता है जब यह पुस्तकें पढ़ी हों।

डॉ. आदर्श, उधमपुर, जम्मू एवं कश्मीर

समकालीन का 128वाँ अंक। यह पत्र मैं आपको सुझाव रूप में भेज रहा हूँ। इस 128वें अंक के गीत स्तंभ में शिवकुमार बटालवी की कविताओं पर श्री अमरजीत सिंह जी का आलेख अच्छा तो था ही, परंतु इसे और अधिक रोचक बनाया जा सकता है। यह मेरा विचार है। किसी भी भाषा में उस स्थान या प्रांत की मिट्टी की महक रहती है। हिंदी अनुवाद के साथ-साथ यदि पाठक को कविता का मूल रूप देवनागरी लिपि में प्राप्त हो जाए तो कविता के पठन-मनन का आनंद कई गुणा बढ़ जाता है। अमरजीत सिंह जी ने अपने आलेख में अमृता प्रीतम के विचारों का वर्णन किया है।

''शिव की कला में पंजाब की धरती के पेड़-पौधे, वहाँ की रस्में-रवायतें, परंपराएँ, संस्कार मुखरित हो उठते हैं, परंतु दरद जैसे सारी दुनिया का उसमें समा गया है।'' उपरोक्त सबका आनंद कहीं अधिक होता यदि मूल कविता (देवनागरी लिपि में) समानांतर रूप में प्राप्त होती। यह सुझाव आपके विचार के लिए भेज रहा हूँ। कृपया विचार कीजिए। सुझाव : प्रत्येक अहिंदी भाषा कविता के हिंदी अनुवाद के साथ-साथ समांतर रूप में उस कविता का मूल-रूप देवनागरी लिपि में भी छापा जाए।

रामसरन दुआ, जनकपुरी, नई दिल्ली

कोशों की है, थेसारस, विषय कोश आदि बातें छोड़ रहा हूँ।

अनुवादक कार्य करने वाले जानते हैं कि बग़ैर कोश या संस्कृति कोश के अनुवाद में अनर्थ से बचा नहीं जा सकता। यदि बाङ्ला पाठ में ...भात पद आता है तो हिंदी पाठकों को ...की व्याख्या चाहिए होगी क्योंकि वहाँ '...भात' जैसी कोई परंपरा नहीं है। इसलिए ...हिंदी-बाङ्ला या बाङ्ला-हिंदी कोश बनाने ...बात बनेगी नहीं, संस्कृति कोश भी चाहिए। ...कोशकारों को सहयोग देना और सम्मान करना ...भूलते जा रहे हैं। अठारहवीं सदी के अंग्रेज़ी ...प्रसिद्ध कोशकार सैमुअल जॉनसन ने कोशकारों ...बारे में लिखा, "कोशों का लेखक एक बेचारा ...सरकारी चाकर होता है, शब्दों के मूल और ...की खोज में डूबा रहता है।" लेकिन चाकर ...भी वेतन चाहिए। उसके काम के प्रति हमें ...भाव होना चाहिए।

अरविंद कुमार और कुसुम कुमार ने बड़ी ...अफ़सोस के साथ लिखा है : "हमारे पास न ...कंप्यूटर ख़रीदने के पैसे थे, न उस पर काम के ...लिए पेशेवर प्रोग्रामरों से प्रोग्राम लिखवा पाने के। ...हमारे बेटे सुमीत की कल्पनाशीलता और हमारे ...कार्य के प्रति निष्ठा ने उसे धन की तलाश में ...न ही नहीं भेजा, बल्कि पेशे से शल्य ...चिकित्सक होते हुए भी हमारे लिए कंप्यूटर ...प्रोग्रामिंग सीखने के लिए प्रेरित किया। ऐसी ही ...अफ़सोस का ज़िक्र *जदीद उर्दू हिंदी कोश* के ...कोशकार विनय कुमार अवस्थी ने किया है : "...किसी सुयोग्य तकनीकी सहायक के अभाव में ...मेरे पुत्र चि. प्रदीप कुमार अवस्थी ने अपने ...कार्य छोड़कर इतना श्रमशील दायित्व कंधों ...लिया।"

...कोश हमारी संस्कृति के संरक्षण के साधन हैं ...कोशकार हमारे संस्कृति संरक्षक। अनुवाद ...और शासन, विशेष रूप से, ज्ञान आयोग का ध्यान गया है, यह अच्छी बात है। कोश निर्माण को हमें पुरानी संस्थाओं, पुराने तरीकों से मुक्त करना होगा। कोश निर्माण कर हम कोशकार को ही नहीं, स्वयं को भी बचा पाएँगे। जो शब्द गुम हो जाते हैं, वे फिर नहीं मिलते।

गांधी को जिस विश्वकोश संपादक आनंद हिंगोरानी ने लिखा : "कम-से-कम 10 वर्षों की कठोर मेहनत और धैर्य इस बड़ी कृति के निर्माण में लगे हैं।" यह सही है कि कंप्यूटर ने कोश निर्माण में तकनीकी आसानी पैदा की है पर तकनीक कोश निर्माण का एक पक्ष है। असली समस्या संपादन और चयन शब्द/अर्थ चयन में आती है। देश के पास इतना मानव संसाधन विशेषकर सेवानिवृत्त भाषा-मर्मज्ञ मौजूद हैं कि उनके निरंतर उपयोग से यह काम पूरा किया जा सकता है।

इस अंक में दो विशेष आयोजन हैं। प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर को पद्मा सचदेव याद कर रही हैं और प्रखर समालोचक धनंजय वर्मा और डॉ. हरदयाल के आलेख कमलेश्वर की कहानियों पर केंद्रित हैं। इसके साथ ही कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' प्रकाशित है जिस पर लोगों का ध्यान कम गया है। पर यह कहानी हड्डियों को कँपकँपा देने वाली है। 'भूख' पर केंद्रित यह कहानी हमारे विमर्शवादी कथा लेखकों के लिए चुनौती भी है।

पंजाबी कहानी पर हमारे विशेष आयोजन में छह कहानियाँ हैं जो कल, आज और कल—तीनों दौर को नापती हैं। इसी तरह उर्दू, सिंधी और हिंदी की ग़ज़लें इस विधा की लोकप्रियता की ओर संकेत करती हैं। इस बार खासी साहित्य और मिनिकॉय द्वीप की भाषा पर समकालीन में दो लेख प्रकाशित हैं। कथा में ब्योरे का महत्त्व निर्विवाद है और जब ब्योरों के बारे में सत्यजित राय कुछ बताएँ तो कहना ही क्या!

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश

कमलेश्वर (1932–2007)

धनंजय वर्मा

कमलेश्वर की कहानियाँ : आधुनिकता की प्रक्रिया

मैंने कमलेश्वर की कहानियों को बदली हुई और बदलती हुई मन:स्थिति की कहानियाँ कहा है। यह बदलना जहाँ निरंतर विकास का प्रतीक है, वहाँ बदलाव, एक रूपांतरण का। और कमलेश्वर की कहानियाँ विकास और रूपांतरण दोनों को साथ-साथ समेटते चलने की कोशिशें हैं। शुरू से लेकर अब तक उनकी कहानियों का जायज़ा लिया जाए तो यह बात साफ़ हो सकती है कि उनका कथ्य और उनकी अभिव्यक्ति कभी यकसाँ नहीं रही। उनमें लगातार परिवर्तन होता चला है। यह निरंतर गतिशीलता एक ओर जहाँ लेखक की रचनात्मक जीवंतता का सबूत है वहीं आधुनिकता के संतरण की शर्त भी है। अपने नज़रिए और अंदाज़ेबयाँ दोनों में लगातार रद्दोबदल करते रहने से हो सकता है कि कुछ लोग कहें, कि उनसे लेखक का कोई स्थिर व्यक्तित्व नहीं बन पाता। मगर यदि आप कहानी को अनुभव का रूपांतरण मानते हैं तो स्थिर व्यक्तित्व की अपनी माँग को दरकिनार रखना होगा। फिर सच तो यह है कि व्यक्तित्व की स्थिरता कहीं उसकी जड़ता और रूढ़ि भी है। और रचनात्मक विकास का मतलब है कि लेखक की अपनी भी कोई रूढ़ि न बन पाए। वह कोई पद्धति अख़्तियार न कर ले। फिर व्यक्तित्व भी तो विकासशील होता है—विकास जो ज़िंदगी और अनुभव से प्रेरित होता है। और कमलेश्वर की कहानियाँ अनुभव के दायरे में क्रमशः आती हुई ज़िंदगी से बदलती और विकसित होती रही हैं। उन्हें पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया की कहानियाँ कहा जाए तो बेजा न होगा।

आपको उनके माध्यम से हिंदुस्तानी समाज की एक विकास-यात्रा की रूपरेखा उभरती मिलेगी। 'थानेदार साहब' और 'गाय की चोरी' से 'क़सबे का आदमी' या 'राजा निरबंसिया' और 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' से 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दिल्ली में एक मौत' और 'जोखम' की यात्रा—गाँव से क़सबा और क़सबे से नगर-महानगर की यात्रा है। ये गाँव, क़सबा और नगर-महानगर ज़िंदगी के 'स्थल' और 'साँचे' ही नहीं हैं, वे बोध और संस्कार

...आलोचक धनंजय वर्मा
...म 1935 में हुआ। 15
...ना पुस्तकें तथा 14
...त पुस्तकें प्रकाशित हुई
...के: 'करुणालय', एम-
...-7, अरेरा कॉलोनी,
... 462016
...0755-2464212

और मानसिकता के प्रतीक भी हैं। यों इन कहानियों को आधुनिकता की यात्रा से भी जोड़ा जा सकता है। यह यात्रा जितनी ऊपरी है, उतनी ही भीतरी भी है यानी जीवन के रहन-सहन, तौर-तरीक़ों और वातावरण और परिवेश की जितनी है, उतनी ही, बल्कि उससे ज़्यादा ही संस्कारों, मानसिकता और वृत्तियों की भी है। इसी से लगे-लिपटे वे सवाल हैं जो आम आदमी की जद्दोज़हद, व्यवस्था और परिवेश के टकराव से पैदा होते हैं और हमारी मूल्य पद्धति और दृष्टि पर असर डालते हैं।

बेहतर हो कि बातों को ठेठ ज़िंदगी के संदर्भ में देखा जाए; क्योंकि कहानी की अपनी प्रकृति भी यही है। वह हवा में उड़ने की बजाय ज़िंदगी में पैठना ज़्यादा पसंद करती है। इससे परवाज़ में कोताही आती हो तो आए, ज़िंदगी की पकड़ मज़बूत होती है। वह अमूर्त अनुभव को मूर्त करना चाहती है इसीलिए उसकी प्रकृति आत्माभिव्यक्ति नहीं, संबोधन और संप्रेषण है। अनुभव को रूप देने की कोशिश में ही कहानी चरित्रों और पात्रों की रचना करती है और अपने समय के आदमी को उकेरती है। इसलिए देखना यह है कि कहानियों में से उभरने वाले आदमी की शक्ल क्या और कैसी है? वह कितनी प्रामाणिक और वास्तविक है?

आधुनिकता की प्रक्रिया, जिसे हम पूर्ण होते चलने की प्रक्रिया भी कह सकते हैं, बड़ी जटिल और संश्लिष्ट है। उसमें जितना जुड़ता है, उतना छूटता भी है। जो छूटता या जुड़ता है वह कम निर्णायक नहीं होता इसीलिए यह आधुनिकता की प्रक्रिया जितनी अनिवार्य है, उतनी ही जानलेवा भी है। हमारे यहाँ आधुनिकता की यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो गई है। हम उसमें से गुज़र रहे हैं और इस गुज़रने के दौरान हमारे भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व में जो जुड़ और छूट रहा है, उसका कुछ जायज़ा ये कहानियाँ दे देती हैं।

आप एक ऐसे आदमी की कल्पना कीजिए जो गाँव से क़सबे और फिर क़सबे से नगर या महानगर में पहुँचता है, तो आपको उसके भीतर और बाहर होनेवाले विकास और रूपांतरण का कुछ अक्स अपने ज़ेहन में उभरता मिलेगा। इस यात्रा में उसकी मानसिकता बदलती है, रुचियाँ और वृत्तियाँ बदलती हैं और साथ ही मूल्य और दृष्टि में भी परिवर्तन आता है। यह बदलाव ऊपरी स्तर पर नए परिवेश और उसके टकराव से तो होता ही है, इस टकराव से कुछ अंदरूनी समस्याएँ भी जन्म लेती हैं जो जितनी आजीविका और रोज़मर्रा की ज़िंदगी की होती हैं, उतनी ही अस्तित्व या वजूद की भी।

एक नए परिवेश या नगर-महानगर की औद्योगीकृत दुनिया में पहुँचकर ये समस्याएँ और भी जटिल हो जाती हैं। इनमें रहते हुए उस आदमी को रह-रहकर उस गाँव या क़सबे की याद आती है—जहाँ बिना रिश्तों के रिश्ते थे, महरी उसकी चाची कहलाती थी, पोस्टमैन उसका ताऊ हो जाता था या सारे गाँव और क़सबे में उसे हर चेहरे पर परिचय और आत्मीयता की इबारत मिलती थी—जहाँ लोग एक-दूसरे के दुख-दर्द, हारी-बीमारी के साथी होते थे और शादी-ब्याह, जश्न-जलसे में शरीक। इससे उसके आचरण और व्यवहार ही नहीं मूल्य और दृष्टि भी निर्धारित होते थे। लेकिन नए परिवेश में आकर रिश्ते भी रिश्ते नहीं रह जाते, एक औपचारिकता उनकी जगह ले लेती है। सारे इंसानी रिश्तों में एक ठंडापन आ जाता है। 'क़सबे का आदमी', 'दिल्ली में एक मौत' झेलता है। 'इंसान और हैवान' का फ़र्क़ नज़र नहीं आता। 'भटके हुए लोग', 'सीखचों में क़ैद', हो जाते हैं या 'मुरदों की दुनियाँ' में 'फ़ालतू आदमी' की तरह 'खोई हुई दिशाओं' में भटकते हुए 'दुखों के रास्ते' चले जाते हैं। फिर 'कोई नहीं, कुछ नहीं'। यहाँ तक तो फिर भी ग़नीमत थी।

...क जद्दोजहद करता हुआ भी उसका ...य अहसास मर नहीं गया था लेकिन बंबई ...महानगरी में पहुँचकर तो उसका जैसे कोई ...ही नहीं रहा। एक ओर ऊपर और 'ऊपर ...हुआ मकान' और दूसरी ओर फ़ुटपाथ ...ज़िंदगी।

...तो अज्ञेय जी कह चुके हैं कि दुख का ...कोई ग़रीबों ने ही थोड़े ले रखा है, मगर ...और दुखों में फ़र्क़ होता है। यह दूसरी बात ...कि अपनी कार पर निकलते हुए आपको ...ों के दुख न दिखें लेकिन प्रिवी पर्स छिनने ...भी एक दुख है और चूल्हे न जलने का भी ...दुख है। गुज़र-बसर न कर पाने का दुख ...अमानवीयकरण की बृहत्तर प्रक्रिया : ...नाम बस्ती' और 'मांस का दरिया'। आदमी ...ओर से लुटा हुआ। बदहवास भागता हुआ। ...स्था की मार और भीतर-बाहर से रीतता ...। सवालों के सलीब और उत्तर की दिशाएँ ...। आजीविका की यातना और भीतरी टूटन ...त्रास। निरर्थकता का अहसास और चारों ...फैली विसंगतियाँ। भीड़ में होते हुए भी ...पन से छटपटाता हुआ यह आदमी अपनी ...कता की तलाश में कभी व्यवस्था पर ग़ुस्से ...कता है और कोई भी 'जोखिम' उठाने के ...तैयार है। कभी वह 'अपना एकांत' ढूँढ़कर ...के ख़िलाफ़ होने वाले षड्यंत्रों का पर्दाफ़ाश ...हुआ अपना 'बयान' देता है और एक ...छद्म 'लड़ाई', लड़ रहा है। लेकिन ...है कि ख़त्म होने पर ही नहीं आता। जितना ...इन जटिलताओं और हास्यास्पदताओं से ...है, उतना ही वह उनमें और-और घिरता ...है। वह समझ ही नहीं पाता कि यह सब ...है? क्या है? नारकीय पूँजीवादी अर्थतंत्र? ...तिक अवसरवादिता? सड़ी हुई समाज ...था? 'या कुछ और'। ...जो कुछ भी और जैसा कुछ भी हो, ट्रैजिडि यही है कि वह अपनी छोड़ी हुई दुनिया को चाहे जितना याद करे, वह लौटकर वहाँ जा नहीं सकता—न 'एक सड़क सत्तावन गलियों' में जहाँ 'धूल उड़ जाती' है, न 'देवा की माँ' की गोद में। 'आत्मा की आवाज़' और 'सुबह का सपना' अब सपना ही है और नॉस्टेल्ज़िया के बावजूद अब न उसे 'नीली झील' दिख सकती है और न सवन हंसों का वह झुंड जो कभी उसे आबाद किए हुए था। आधुनिकता की प्रक्रिया ही ऐसी है। इसके चक्र को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। जो छूट गया सो छूट गया। लेकिन नया क्या जुड़ा है? कैसा जुड़ा है? यही तो सवाल है और कोई भी सवाल शायद अकेला नहीं है।

कमलेश्वर की इधर की कहानियों का 'घटना स्थल' बंबई है और यदि 'स्थान' बदला भी है तो भी कथ्य वही है जो बंबई की ज़िंदगी पर छाया की तरह मँडरा रहा है। आलोचक प्रवर चाहें तो इन्हें 'मेड इन दिल्ली' की तर्ज़ पर 'मेड इन बंबई' कह सकते हैं लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि उन्होंने अपने बदले हुए संदर्भ को तिरस्कृत नहीं किया है। संदर्भ का यह बदलाव केवल औपचारिक और ऊपरी बदलाव नहीं है और न केवल यह जगह का परिवर्तन है। इस परिवर्तन को ऐतिहासिक और समय के संदर्भ में भी समझा जाना चाहिए और इसी संदर्भ में आप पाएँगे कि जीवन दृष्टि के भेद के बावजूद इनकी बुनियादी संवेदनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता। परिवेश की सारी बारीकियों के साथ एक जीते जागते संघर्षरत आदमी और जीवन अनुभव को इन्होंने मूर्त करने की कोशिश की है।

बात अधूरी ही रहेगी, यदि कहानियों का ज़िक्र किए बिना बात की जाए। फ़तवेबाज़ी आसान है। वह मेरा रास्ता नहीं है। मैं तो ठोस मिसाल देकर बात करने का आदी हूँ। इसके चलते आप मुझ पर चाहे जो तोहमत लगाएँ, मैं

समझता हूँ, बात उसी से खुलती है। हवाई बातें और बातों का तिलस्म कौन बड़ी बात है। यों मिसाल देना थोड़े जोखम का काम हो सकता है लेकिन अब जोखम से डरना क्या?

तो पहले 'जोखम' ही लीजिए। यह कहानी किसकी है? आर्थिक कष्टों से जूझते, कहीं पनाह पाने की नाकाम कोशिश की! या अरूप इच्छाओं और शब्दहीन कामनाओं की! या ऐसी स्थिति की जो सिर्फ़ न कुछ की है; न दुख की, न सुख की; सिर्फ़ एक ठहराव की! दोगली अर्थव्यवस्था के कसते शिकंजे की! या बेकारी से परेशान उस युवक की जिसके आगे अँधेरा है, नाराज़ी है, ठहराव है और आशंका है—या इन सबकी।...सच तो यह है कि आज किसी भी सार्थक कहानी का आप उसके कथ्य और विषय के आधार पर इस तरह वर्गीकरण नहीं कर सकते। कोई भी कथ्य और विषय अलग-थलग कटा हुआ नहीं है। आज की कोई भी स्थिति अपने आप में स्वतः संपूर्ण नहीं है। वह केवल अंग या अंश है, एक बृहत्तर प्रक्रिया का। कई-कई बारीक रेशों से वह एक संश्लिष्ट जटिल संघर्ष से जुड़ी हुई है।...

कहानी एक अकुलाहट से शुरू होती है—जैसे दूर तक फैला समुद्र अपनी लहरों में अकुलाता है। यह अकुलाता सागर कहानी की पृष्ठभूमि में है जो आदमी की अकुलाहट को जुबान दे रहा है। यह अकुलाहट निरंतर छले जाने से पैदा हुई है और जो छला गया है वह मामूली आदमी है—और और आदमियों की तरह जो 'सागर की निचली सतह की तरह ठहरे हुए और काँपते' होते हैं। जो कुछ होता है, सब—'लहरों का शोर, गति और उनका टूटना बिखरना—ऊपर ही होता है'। इस आदमी के सामने 'सागर पर एक चमकती हुई सड़क शुरू होती थी और अनंत तक जाती थी', लेकिन 'इस सड़क को वह कभी पकड़ नहीं सका'। यानी उसके सपने और आकांक्षाएँ परवान चढ़ें, इसके पहले ही उसका स्वप्न-भंग हो गया। वह तो शहर की चटखती सड़कों पर बेकार घूमने को मजबूर है। वह किसी भी तरह की राहत चाहता है। चाहता है—इज़्ज़त, सुविधा और मानसिक तृप्ति। या शायद वह भी नहीं, 'केवल कुछ ऐसा कि क़ायदे से जिया जा सके'। लेकिन जब आर्थिक कष्टों से ही निजात न मिले तब?

लगातार ऊपर उठती इमारतों की रोशनी में वह सोचता है : 'इनके दुख कहाँ हैं?' और विषमताओं का अहसास तीखा हो जाता है। यह अहसास उसे ऊपर और ऊपर उठती इमारतों के ही अनुपात में और और छोटा, हकीर और हीन बनाने लगता है। वह रोमांटिक नहीं हो सकता क्योंकि 'उसकी सचाइयों से उसका मेल नहीं।' उसकी इस क़िस्म की (किसी पुनीता की) चाहना उसकी ज़िंदगी में फिट नहीं बैठती। फिर बेघर और बेकार, कुछ यादों और 'एक लहूलुहान नाकाम और सीमित-सी ज़िंदगी' में उसे हर ओर निरर्थकता और विसंगति नज़र आती है। 'तस्कर व्यापार से अरबों रुपयों का माल रोज़ाना आता है', लेकिन उसे न तो कहीं लगकर काम मिलता है, न कहीं पनाह। वह जहाँ भी जाता है वहीं या तो दरवाज़े बंद हैं, या ख़ुद उनकी दिक़्क़तों के सींखचे लगे हुए हैं और इंतज़ार या आश्वासन का झुनझुना बजाकर उसे भरमाने की लगातार कोशिश हो रही है। वह कुछ भी करने को तैयार है लेकिन क्या करे, इसका उसे पता ही नहीं चल पाता और बदहवास भागता हुआ वह कुछ देर के लिए अपनी पुरानी दुनिया में लौटना चाहता है लेकिन पुरानी दुनिया भी तो अब बदल गई है। वहाँ भी तो 'ज़रूरतें और भूख घट रही है, पर पता नहीं बाज़ार को क्या हो रहा है कि ख़र्चा बढ़ता जा रहा है।' वह नहीं जानता कि वह इस जानलेवा अर्थतंत्र में कब तक भटकता रहेगा; कि ऊपरी सतह के लोगों की दिक़्क़तें कब ख़त्म

और कब उसे क़ायदे की ज़िंदगी जी सकने अवसर मिल पाएगा।

कहानी यहाँ तक तो सीधी-सादी है, लेकिन का संदर्भ, घर की ओर लौटना, माँ के शरीर तिल-तिलकर पथराना, वित्तमंत्री की स्थिति और अंततः माँ के पथराए शरीर का की तरह शहर के चौराहे पर लगा दिया , कहानी को एक फ़ैंटेसी की-सी शक्ल है। लेकिन यह चालू क़िस्म की फ़ैंटेसी नहीं यह 'पुराकथा' और अन्योक्ति से घुलीमिली यथार्थ का फैलाव अवास्तविकता की सीमा छूने लगता है लेकिन यह विधान ऐसा है वास्तविकता को उसकी पूरी भयावहता और रूप से उभारता है। कहानी का यही मोड़ उसे व्यापक संदर्भों में उठाता है—पूरे देश के संदर्भ अँधेरे, नाराज़ी, ठहराव और आशंका को व्यवस्था से जोड़ने की कोशिश में ही वित्तमंत्री ज़िक्र आया है। वे 'कफ़न की तरह सफ़ेद पहने हुए' देवदूत की तरह आते हैं, लेकिन के लिए उनके पास कोई हल नहीं है। उनकी की बड़ी-बड़ी दिक़्क़तें हैं। और आज के के पास सिर्फ़ शिकायतें ही शिकायतें हैं। देश के हर नेता और मंत्री के अपने-अहम् सवाल हैं। जाने वे कौन-से मसले और माँ, जो अपने बेटे की ख़ुशी में अपनी देखती है, पल-पल पथरा रही है। यह माँ केवल माँ है? क्या वह पूरा देश नहीं है, जो की मार से निरंतर पथराता जा रहा है, जो के बुत की तरह न हिलता है, न डुलता जिसे दुहाई देने के लिए शहर के चौराहों की तरह लगा दिया गया है और नारे किए जा रहे हैं। वित्तमंत्री का ज़िक्र और व्यवस्था का संदर्भ एक नज़र में आरोपित लगता है लेकिन मुझे लगता है कि यही है जिसे आँखों में उँगली डालकर की कोशिश यह कहानी करती है। यह कोशिश ख़ुद एक जोखम है जो धीरे-धीरे दारुण समझौतों पर पहुँचते हुए देश को संबोधित है—कि बिना इस व्यवस्था को बदले न राहत मिल सकती है, न पनाह।

इसी व्यवस्था का एक चेहरा वह, जो प्रजातंत्र और जनसेवा का मुखौटा लगाए सीधे-सीधे राजनीति अवसरवादिता का है। 'लड़ाई' की दुनिया यही है। सीमा पर लड़ाई होती है। आदमी की क़ीमत वहाँ कुछ गोलियों से अधिक नहीं है। औसतन तीस हज़ार गोलियाँ। यानी कि वह सिर्फ़ आँकड़ा होकर रह गया है। उसकी मौत से दुनिया समझदार तो ख़ैर क्या होगी, वह ज़रूर छोटा, बेकार और 'कुछ नहीं' होकर रह जाता है। एक भाई तो लड़ाई में बदहवास है लेकिन बड़ा और छोटा ज़िम्मेदारी ओढ़े जनता का काम करने का दम भरते हैं। उनमें से बड़ा तो मंत्री है : निर्माण मंत्री और इसीलिए छोटा ठेकेदार है। उनकी ज़िम्मेदारी और जनसेवा की भंगिमा से उसे घबराहट होती है क्योंकि वह 'बीच' का आदमी है और उनके भ्रष्टाचार का सारा ख़मियाज़ा उसे ही भुगतना पड़ता है। बीच के इस आदमी को आप मध्यवर्ग का भी समझ सकते हैं। उसने एक लड़ाई लड़ी थी लेकिन उसके बाद उसने देखा कि सब कुछ बदल गया है। अब वह जो लड़ाई लड़ रहा है वह अघोषित है और कहीं अपने ही भाइयों से है, इसीलिए वह अधिक निर्णायक और जानलेवा है। सरकारी ख़ज़ाने को पुख़्ता करने की योजना में मंत्री और ठेकेदार मिलकर षड्यंत्र करते हैं और ख़ज़ाना ख़ाली होता जाता है। लुटेरे पहचाने नहीं जाते। उन्होंने ज़िम्मेदारी और जनसेवा का मुखौटा जो लगा लिया है और चारों ओर सैकड़ों की तादाद में उनसे मिलते-जुलते लोग पैदा हो रहे हैं। आप किसे पकड़ेंगे? किसकी शिनाख़्त करेंगे? कौन कह सकता है कि सरकारी ख़ज़ाना लूटने वाला कौन है? आप किसे भाई कहेंगे और किसे दुश्मन?

आप ग़ौर करें तो यह 'लड़ाई' फिर व्यवस्था से है। उलझन भरी है। इसकी तुलना में युद्ध के मैदान का ख़तरा कहीं कम है। युद्ध में दुश्मन आमने-सामने होता है पर यहाँ तो सब कुछ गड्मड् और अनिर्णीत है। कहानी गल्प और अन्योक्ति की तरह है। चेहरे, चीज़ें और स्थितियाँ सब पिघलकर अस्पष्ट हो गई हैं या परदे के पीछे अमूर्त और अनिर्णीत, लेकिन बुनियादी लड़ाई और उसकी भयावहता और यातना को उजागर करने में यह सफल हुई है। स्थितियों के पूरे सहज बोध में इससे आसानी होती है।

इस लड़ाई का एक रूप व्यक्ति की सार्थकता से जुड़ा है। एक का आशय सामाजिक है तो दूसरे का निजी। लेकिन ऐसा नहीं कि व्यक्ति की यह निजी दुनिया कोई अलग-थलग और कटी हुई दुनिया है। सामाजिक और बाहरी दुनिया भी उस पर असर डालती है और आज रोना तो यही है कि व्यक्ति का कुछ भी निजी नहीं रह गया है। इतिहास, परिस्थिति, यातना और मुक्ति का अर्थ शब्द-कोशों में नहीं व्यक्ति और समाज के संदर्भ में ही खुलता है—जहाँ निजी और सामाजिक में कोई द्वंद्व नहीं होता और यदि रहता है तो वह आदमी के अस्तित्व और वजूद को ही निरर्थक कर देता है। तब उसे उसके लिए भी ज़िम्मेदार ठहराया जाता है जिसके लिए वह क़तई ज़िम्मेदार नहीं होता। जब क़ानून आदमी की ज़िंदगी के भीतरी और अपने क़ानून से अलग और उलटा जा पड़ता है या उसके दबावों के अहसास और अंदरूनी मजबूरियों को नज़रंदाज़ करने लगता है, तब वह मानवीय व्यक्तित्व और उसकी समग्रता की उपेक्षा करता है। उसके ख़िलाफ़ फ़ैसला देता है। यह फ़ैसला व्यक्ति के ख़िलाफ़ होता है लेकिन आज का समाज क्या ऐसे ही अकेले व्यक्तियों का समाज नहीं है?

'बयान' निजी और बाहरी दुनिया के ऐसे ही दारुण रिश्ते की कहानी है। देश यहाँ भी है : आज़ादी के बाद का देश, जिसमें लहलहाती खेती, बाँध, बिजली घर, फ़ैक्टरियाँ, मिलों, वनमहोत्सवों और नई रेलवे लाइनों के उद्घाटनों की ख़ालिस तसवीरें ही तसवीरें हैं। शायद यही आज़ादी का सुख है! लेकिन सच्चाई का कहीं भान नहीं। वह केवल नारों और विज्ञापनों की वस्तु होकर रह गई है। आज भी यदि कोई उसमें निष्ठा रखता है तो फिर उसका जीना मुहाल हो जाता है। आदमी को उसकी ज़िंदगी की सच्चाई से काट देने का क्या हश्र हो सकता है? यही कि या तो वह आत्महत्या कर ले या फिर ख़ुद को नकारता हुआ, ख़ुद से कटकर जिए। अपने प्रति ईमानदार आदमी की नियति शायद यही है कि 'आँखों से ख़ून की धार रिसने लगे और जब तक ज़िंदा रहे तब तक लगातार ख़ून टपकता रहे।' इस मायने में 'बयान' एक तसवीर है, एक आईना है : ऐसे ईमानदार आदमी के निजत्व और उसके अस्तित्व की सार्थकता की मौत का।

सवाल आदमी के वजूद का है : निजत्व की तलाश अपने अस्तित्व की सार्थकता की खोज और ख़ुद होकर जीने की मामूली-सी कामना, जहाँ जीने की शर्तें न हों, सिर्फ़ जीना हो। 'या कुछ और' इसी कामना और खोज की कहानी है। जहाँ सब कुछ हो : परिवार, पत्नी, बच्चे, ज़िंदा रहने का सारा सरंज़ाम लेकिन जीवन न हो, वहाँ एक निचाट सूनापन होता है। सूनापन या भीतरी ख़ालीपन, एक निरर्थकता का अहसास! तब आदमी कुछ चाहता है। यह चाह अमूर्त और अरूप तो होती ही है, शब्दहीन भी होती है। यों कि कई बार 'वह सब मिल जाता है, जो वह चाहता है, लेकिन उस तरह नहीं, जिस तरह वह चाहता है' यानी पूर्णकाम होने का अहसास नहीं हो पाता। ज़ाहिर है कि आदमी की ज़िंदगी का भराव सिर्फ़ एक ओर से नहीं होता। जीवन की सार्थकता और पूर्णता, ग़लत या सही, अच्छे या बुरे की परिभाषा में नहीं बँधती, वह सिर्फ़

और उसके 'सार' से जुड़ती है। रामनाथ रुके हुए शहर में ठहरा और थिर ज़िंदगी रहा है। उसकी ज़िंदगी के आसमान में रोशनी नहीं। जब आसमान सुरमई से काला है और जब उसमें न चिड़ियों का शोर होता न कोई दूसरी हलचल तब धूरी शाम के अँधेरे के मरने के साथ रामनाथ कुछ ऐसा ता है जो बिना किसी मतलब या मसरफ़ हो, जो बेवजह, बेज़रूरत और बेशर्त हो। यही उसकी आंतरिक सार्थकता और होने अहसास को भरता है। एक मामूली-सा मोह जिसमें न कोई तमन्ना है, न सपना, न हक़ है, दिखावा, न तिरस्कार है, न इच्छा, कामना, या घबराहट कुछ नहीं, और यही) उसे पूर्णता अहसास देता है। सिर्फ़ 'होना' और उसका। निर्विकल्प और निष्काम 'होना'। ऊपर-से कहानी उसकी ज़िद या शकुंतला के मोह की कहानी लगती है और शायद रामनाथ हद तक स्वार्थी भी लग सकता है लेकिन 'जीना और जीते चले जाना हो', 'दूसरों शर्तों पर', वहाँ देखना होगा कि 'स्व' का क्या है? इस 'स्व' के दायरे में क्या और समाया है? उसकी प्रकृति क्या है। और की शर्त पर जीने की बेबसी को तोड़ने की यदि ज़िद ही है तो वह क्या बेजा ज़िद रामनाथ को एक व्यापक ख़ालीपन के अपनी ज़िंदगी में एक बार पूर्णता का होता है : एक आंतरिक पूर्णता जिसे शायद उतना नहीं जा सकता मगर जिसका अहसास होता है : नामहीन और अरूप। 'अस्तित्व' और 'सार' दोनों साथ-साथ हैं।

की सार्थकता की खोज में आज के की भटकन की ऐसी ही एक कहानी एकांत' है, जिसमें 'अपने भीतर ही पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया' में निरंतर अकेले होते आदमी की यातना गूँजती है। 'घटना स्थल' इसका बंबई है—जहाँ सागर जितना फैला और चौपाटी की शाम जितनी सुहागन है, आम आदमी की ज़िंदगी में उतना ही संकोच, अँधेरा और दुर्भाग्य है। कहानी ख़ासे रूमानी ढंग से शुरू होती है। सोम और हंसा के 'मधुर, उत्तेजनारहित पर उत्तप्त' संबंधों से। कुछ-कुछ परिकथाओं के रहस्यमय वातावरण की गंध लिए। लेकिन यह रूमान और माधुर्य ज़्यादा देर तक टिक नहीं पाता क्योंकि ज़िंदगी इतनी ग़ैररूमानी और ठस है कि उससे इनका तालमेल नहीं बैठता यहाँ बिलकुल 'अपना हो पाने' की हर कोशिश कहीं बेकार जाती है। चीज़ों को चीज़ों की तरह लेने का या उनके 'अपने पूरे वजूद' का हमें अहसास ही नहीं हो पाता। यों कि भावना और संवेदना की मौत हो गई हो। इस मौत के लिए कौन ज़िम्मेदार है? क्या कहीं ऊपरी सतह की भागमभाग और रोज़मर्रा की जद्दोजहद ने हमारे भीतरी मानवीय अहसास का गला नहीं घोंट दिया है? सोम क्यों अपरिचित की तरह जीना चाहता है? एक औसत आदमी की तरह सीधी और मामूली ज़िंदगी में राहत पाना चाहता है? क्यों 'जी लेना' उसके लिए सबसे बड़ा काम लगता है? हंसा से उसके संबंधों में 'कुछ भी तो घटित नहीं होता, न यादों के लिए कोई करकते टुकड़े, न ज़िंदगी के कोई वायदे', फिर भी वह उसका एकांत क्यों है? फिर एक छोटे-से हादसे से सब कुछ ख़त्म हो जाता है। यहाँ तक यह कहानी भी ख़ासी मामूली लगती है लेकिन फिर अंतिम मोड़ में सोम की लाश की शिनाख़्त में भटकता कहानी का 'मैं', जिन-जिन स्थितियों से गुज़रता है वे फिर एक भयावह फ़ैंटेसी की तरह लगती है—शव को उठाकर चलना, उसका दफ़्तर में आना, अपना नाम बताना, सारी ख़ानापुरी करना और आग्रह करना—यह सब फ़ैंटेसी नहीं तो और क्या है? उन सारी स्थितियों में सोम की

खोज, एक आदमी की खोज लगती है, जो उस शहर में खो गया लगता है लेकिन वह आदमी कहाँ है ? वहाँ उस 'आदमी' और 'व्यक्ति' को कोई नहीं पहचानता, उसका नाम चाहे सोम हो या कुछ और। वह सबके लिए लावारिस लाश की मानिंद है। शव है। उस 'मैं' को 'हर चलता हुआ आदमी शव लगता है।' 'सोम की तरह अकेला।' और अपने भीतर ही भीतर पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। कहानी में बाहरी और भीतरी, सामाजिक और वैयक्तिक दुनिया में ख़ासा अंतर्विरोध है और वह बाहर से भीतर की ओर एक तेज़ और तल्ख़ मोड़ लेती है और आदमी के बुनियादी वजूद के सवाल को उभारती लगती है।

ये कहानियाँ बाहर से घबराकर भीतर की ओर और भीतर से कतराकर बाहर की ओर लौटने की कहानियाँ हैं। उनका स्वर भी यथार्थ का कुछ उपहास करता हुआ-सा है, लेकिन उसका तिरस्कार करता हुआ नहीं। यह क्रूर वास्तविकताओं पर व्यंग्य करता हुआ भी है और इस उपहास और व्यंग्य के माध्यम से उसकी विद्रूपताओं को उजागर करता हुआ भी। 'फ़ैंटेसी' और 'पुराकथा' या अन्योक्ति नुमा विधान उन्हें व्यापक संदर्भों में उठाने और यथार्थ के अधिक तीखे बोध के संप्रेषण की कोशिश भी है। इसके पहले तक कमलेश्वर की कहानियों में आधुनिक व्यक्ति की निजी और व्यक्तिगत दुनिया के साक्षात्कारों की कमी खटकती थी। उनकी कहानियों में सामाजिकता के बाहरीपन की शिकायत भी कुछ लोगों ने की थी। इधर उनकी कहानियों में वे निजी समस्याएँ, संकट और अंतर्विरोध उभरे हैं जिनका सामना आधुनिक व्यक्ति कर रहा है। इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी इधर की कहानियों में बुनियादी सामाजिकता खोई है, या सामाजिक सत्यों का साक्षात्कार कम हो गया है : उन्हें अधिक निजी संदर्भ मिले हैं। उनमें एक संतुलन आया है।

ऐसा नहीं कि कमलेश्वर ने इस बीच सभी कहानियाँ उम्दा ही लिखी हैं। लेखक जब अपनी ही लीक से हटता है तो नई दिशाओं में जाने के लिए वह कुछ प्रयोग करता है, (हालाँकि कमलेश्वर न तो प्रयोगवादी अर्थ में प्रयोगधर्मी है और न राजेंद्र यादव की तरह वहाँ विशिष्टता के आग्रह में चौंकाने की वैसी भंगिमाएँ हैं, मगर) नए मोड़ लेती रचनात्मकता में कुछ अपवाद आ जाना स्वाभाविक है। *धर्मयुग,* (16 अगस्त, 70) की कहानी 'उस रात वह मुझे ब्रीच कैंडी पर मिली थी और ताज्जुब की बात कि दूसरी सुबह सूरज पश्चिम से निकला था', एक प्रयोग के रूप में तो शायद उल्लेखनीय हो लेकिन किसी नई दिशा की उपलब्धि और सूचना उससे नहीं मिलती।

डॉ. हरदयाल

अधूरी ज़िंदगियों की पूरी कहानी

अपनी *समग्र कहानियाँ* (2002) के प्रारंभिक अंश में कमलेश्वर ने अपने पाठकों को सूचित किया है कि "मोटे तौर पर मेरी कथा यात्रा के तीन पड़ाव हैं—1. मैनपुरी से इलाहाबाद, 2. इलाहाबाद से दिल्ली और 3. दिल्ली से बंबई। 1950 तक की सारी कहानियाँ मैनपुरी में लिखी गईं। कुछेक इलाहाबाद में भी; क्योंकि तब तक मेरा प्रगाढ़ संबंध अपने क़सबे के साथ था। इलाहाबाद (1946–1959) का दौर मेरे लेखन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण समय है। 'नई कहानी' आंदोलन का भी यही समय है, जो श्रीपतराय की पत्रिका 'कहानी' के वार्षिक विशेषांकों से शुरू हुआ था। इसके बाद दिल्ली का समय है 1959–1966। यह कहानी के वैचारिक और कलात्मक उत्कर्ष का समय था; 'नई कहानी' की प्रतिष्ठा से प्रभावित तरह-तरह के यशकामी आंदोलनों का भी यही समय था। तीसरा दौर बंबई महानगर का है। दिल्ली लौटकर आने को मेरी रचना का चौथा दौर कहा जा सकता है।" (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 17–18) यानी कमलेश्वर की कथा यात्रा क़सबे से महानगर तक की है।

कमलेश्वर ने जिस ईमानदारी और वस्तुपरकता से अपनी कथा यात्रा का विकास-क्रम दिया है उतनी ईमानदारी और वस्तुपरकता से कम ही रचनाकार अपनी विकास यात्रा प्रस्तुत कर पाते हैं—वे भी नहीं, जो ईमानदारी और वस्तुपरकता की कसमें खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कमलेश्वर निर्मल वर्मा जैसे अनेक समकालीनों की तरह अंतर्मुखी प्रवृत्ति के आत्मग्रस्त और आत्मकेंद्रित कहानीकार नहीं थे। वे बहिर्मुखी प्रवृत्ति के समाजोन्मुख कहानीकार थे। यही कारण है कि वे जहाँ-जहाँ रहे वहाँ-वहाँ के जीवन के अनुभव और यथार्थ को अपनी कहानियों में पूरी ईमानदारी, वस्तुपरकता और कलात्मकता के साथ उन्होंने चित्रित किया। अपनी प्रगतिशीलता के बावजूद वे किसी विचारधारा विशेष के साथ बँधे नहीं। यही कारण है कि वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर उनकी कहानियों में बड़ी विविधता है। उन्होंने अपनी विकास यात्रा के प्रत्येक दौर में ऐसी अनेक कहानियाँ दीं जो अपना वैशिष्ट्य रखती हैं; जो अत्यधिक चर्चित रही हैं; और

आलोचक एवं कवि डॉ. हरदयाल का जन्म 1939 में हुआ था। इनकी लगभग 30 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110094। फोन : 011-22570146

जो अपने देशकाल-निरपेक्ष महत्त्व के बावजूद उसी दौर में लिखी जा सकती थीं।

उनकी एक प्रसिद्ध कहानी है 'एक थी विमला', जो 1962 में दिल्ली में लिखी गई। इस कहानी में उस समय की दिल्ली की पूरी रंगत है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह कहानी दिल्ली में ही लिखी जा सकती थी, मैनपुरी, इलाहाबाद या मुंबई में नहीं; और यह कि इस कहानी को कमलेश्वर ही लिख सकते थे; उनका और कोई समकालीन कहानीकार नहीं। इसलिए यह कहानी कमलेश्वर की दिल्ली दौर की प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी का कथ्य और शिल्प दोनों हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और दोनों इतने अभिन्न हैं कि न तो इसके अकेले कथ्य को महत्त्वपूर्ण घोषित किया जा सकता है और न ही अकेले शिल्प को। इसीलिए यह 'नई कहानी' और कमलेश्वर की एक ऐसी उपलब्धि है, जिसे आसानी से एक कालजयी रचना घोषित किया जा सकता है।

'एक थी विमला' एक स्तर पर चार स्त्रियों की कहानी है; दूसरे स्तर पर एक ही स्त्री के विकास की चार अवस्थाओं की कहानी है; तीसरे स्तर पर परिस्थितियों से विवश होकर स्त्री के अपने प्रति बदलते उपागम की कहानी है; चौथे स्तर पर दिल्ली जैसे महानगर में बदलते नैतिक मूल्यों की कहानी है; पाँचवें स्तर पर यह इस सत्य को उजागर करने वाली कहानी है कि मनुष्य के जीवन, आचरण और सोच का मूलाधार उसकी आर्थिक स्थिति है। इन विभिन्न स्तरों के अतिरिक्त इस कहानी में और भी अनेक स्तर अंतर्निहित हैं। इसकी बहुस्तरीयता इसे पाठक के लिए आकर्षक भी बनाती है और चुनौतीपूर्ण भी।

इस कहानी में चार स्त्रियों की अधूरी ज़िंदगियों के चित्र कहानीकार ने प्रस्तुत किए हैं। पहली स्त्री है विमला। करोलबाग में रोहतक रोड पर सत्ताईस नंबर की बस के स्टॉप के पास उसका घर है। उम्र लगभग बीस वर्ष है। वह सुंदर है और गर्ल्स पब्लिक कॉलेज में पढ़ने जाती है। वह लगभग दो बजे कॉलेज से लौटकर आती है। उसके साथ बस से नौजवानों की एक हुजूम उतरता है; लेकिन वह किसी की परवाह किए बिना सीधी अपने घर चली जाती है। नौजवान उससे बात करने की कोशिश करते हैं, लेकिन वह किसी से बात नहीं करती। उसके पिता दीवानचंद बहुत पैसे वाले नहीं हैं। वे एक प्राइवेट फर्म में काम करते हैं, जिससे घर चलता है। विमला अपने घर के आर्थिक संघर्ष, पिता की समझदारी और परिश्रमशीलता को जानती है; साथ ही वह यह भी जानती है कि जब तक उसके पिता हैं तब तक उसे कोई दुख नहीं हो सकता। उसकी आकांक्षा है कि वह पढ़ाई ख़त्म करने के बाद कहीं नौकरी कर लेगी; छोटे भाइयों को पढ़ाएगी और यदि कोई अच्छा-सा नौजवान मिल गया तो बाद में शादी कर लेगी। उसके पड़ोसियों की उसके विषय में राय है कि वह निहायत सुशील और सुसंस्कृत है। उसके पिता उसके बी.ए. कर लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उसके बी.ए. पास करते ही वे किसी अच्छे नौजवान से उसकी शादी कर देंगे। और यदि वह स्वयं शादी करना चाहेगी तो भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी, बशर्ते उसकी पसंद का लड़का अच्छे घराने का हो; अच्छी नौकरी या कारोबार में लगा हो।

विमला की यह और इतनी कहानी कहने के बाद कहानीकार की टिप्पणी है, ''विमला के घर की तरह शायद हज़ारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ भी हैं—उतनी ही सुंदर, सुशील और समझदार। हर लड़की पढ़ रही है और अपने घर की खस्ता हालत से परिचित है; अपने बाप-भाइयों के संघर्ष की जानकारी उसे है। हर लड़की अपने घर को और अच्छा बनाना चाहती है। हर लड़की यह भी चाहती है

कोई उसकी तरफ़ उँगली न उठा सके। सब उसके बारे में बहुत अच्छी-अच्छी बातें ...ँ। उसकी ख़ूबसूरती को सराहें और गुणों ...प्रशंसा करें। वह अपने घर की इज़्ज़त का ...-जागता नमूना बने और बाप-भाइयों की ... उसकी वजह से ऊँची रहे।''

"शादी के बाद सब जानने वालों को यह ...ष हो कि उसका पति बहुत इज़्ज़तदार, ओहदेदार और शानदार आदमी है। और वह ...दी के बाद अपने भाई-बहनों की प्यारी बनी ...; उनकी मदद कर सके और घर में गौरव ...त करे।''

"पहले मकान में रहने वाली विमला भी ...ो चाहती थी; और जो वह चाहती थी, वह ...ब उसके सामने पूरा भी होता जा रहा था। ...म्मीद भी यही है कि उसके सब सपने साकार ...ो जाएँगे; क्योंकि जो कुछ वह चाहती है, वह ...ा लेना बहुत मुश्किल भी नहीं है।'' (समग्र कहानियाँ; पृ. 311)

कहानीकार की इस टिप्पणी के बाद विमला और उसकी कहानी एक व्यक्ति और उसकी कहानी नहीं रह जाती, बल्कि एक प्रतीक बन जाती है। वह प्रतीक बन जाती है स्वाधीनता के बाद के प्रारंभिक वर्षों के निम्न मध्यवर्गीय परंपरागत जीवन-मूल्यों में आस्था रखने वाली युवती की। उसकी, उसके पिता की, उसके अड़ोस-पड़ोस के लोगों की आकांक्षाएँ सामान्य मध्यवर्गीय आकांक्षाएँ हैं, जिनका पूरा हो पाना कोई दुष्कर नहीं है। युवकों का उसकी तरफ़ आकर्षित होना, लेकिन अपनी सीमा में बने रहना; कोई दुस्साहस न करना भी उस देशकाल और ...वर्गीय दृष्टि से सामान्य है; किसी तरह का कोई अपवाद नहीं है। इस सबके पीछे जो प्रेरक तत्त्व हैं, वे हैं निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति और 'इज़्ज़त' की भावना। इस सबके पीछे सामाजिक ...रता भी प्रेरक के रूप में कार्य कर रही है।

उस समय दिल्ली का समाज भी बहुत गतिशील नहीं हुआ था। इसीलिए कहानीकार और दुनिया की यह आकांक्षा अत्यंत सहज और स्वाभाविक लगती है, ''परमात्मा करे, सबको विमला जैसी सुशील और समझदार लड़की मिले और किसी की नाक नीची न हो! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 311)

विमला के बाद लेखक कुंती की कहानी कहता है। उसका घर विमला के घर से 'काफ़ी दूर' है, लेकिन संयोगवश है उसी सड़क पर, जिस पर विमला का घर है। कुंती का बाप किराए के मकान में रहता है। पहले पूरा मकान उसके पास था; अब केवल एक कमरा है। अब उस मकान में अनेक किराएदार रहने लगे हैं; क्योंकि कुंती के बाप मनोहरलाल की आर्थिक हालत बराबर तंग होती गई है और उसका सम्मान सानुपातिक रूप में कम होता गया है। उस पर क़र्ज़ा चढ़ता गया है। कुंती का बड़ा भाई शादी के बाद पिता और अपने भाई-बहनों से सारे संबंध तोड़कर अलग रहने लगा है। अब घर के पाँच बच्चों में कुंती सबसे बड़ी है। दिल का दौरा पड़ने से उसके पिता की मृत्यु हो गई और घर की देखभाल तथा ख़र्च का पूरा भार कुंती पर आ पड़ा। उसने पिता के नाम की तख़्ती की तरह पिता की स्मृति दिलाने वाली सारी चीज़ों को बक्से में बंद करके रख दिया है। विमला के पिता की तरह कुंती के पिता भी चाहते थे कि उसके बी.ए. पास करते ही उसकी शादी किसी ऊँचे ख़ानदान के किसी ऊँचे पद वाले नौजवान से कर देंगे। और कुंती ने अपने लिए कोई लड़का पसंद कर लिया तो भी उन्हें कोई आपत्ति न होगी, 'उन्हें सिर्फ़ कुंती की ख़ुशी चाहिए थी।' लेकिन न वे अपनी आकांक्षा पूरी कर सके और न ही कुंती की।

कुंती सौ रुपए महीने के वेतन पर एक नर्सरी स्कूल में मास्टरनी हो गई। वह स्कूल से लौटकर किसी जगह ट्यूशन भी पढ़ाने जाती है; लेकिन

घर का ख़र्च पूरा नहीं पड़ता। वह घर की इज़्ज़त बचाए रखने के लिए संघर्षरत है। संघर्ष करते-करते पाँच वर्ष बीत चुके हैं, लेकिन उसने किसी को घर की यथार्थ स्थिति का पता नहीं लगने दिया है। वह भी सुंदर है। उसके घर के पास बलवंतराय की सर्राफ़ की दुकान है; साथ ही उसके और भी धंधे हैं। वह उसे आते-जाते देखता है और चाहता है कि वह उसे एक नज़र देख ले; लेकिन वह थोड़ी-सी जान-पहचान के बावजूद न उधर देखती है और न ही उसका ख़्याल करती है। घर चलाने के लिए घर की एक-एक चीज़ क्रमशः बिकती गई है। बलवंतराय की दुकान और कारख़ाने में उसके घर की तमाम चीज़ें पहुँच गई हैं। वह उसकी कृतज्ञ है, लेकिन उससे मुस्कुराकर कभी बात नहीं करती। घर की बिकने लायक़ सारी चीज़ों के ख़त्म हो जाने और माँ की बीमारी ने उसे बलवंतराय से बीस रुपए उधार माँगने और मुस्कुराने के लिए विवश कर दिया।

कुंती की यह और इतनी कहानी कहने के बाद वाचक/कथाकार की टिप्पणी है—"कुंती के घर की तरह हज़ारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ हैं, जो अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ बनना चाहती हैं और अपने घर की ख़ुशियाँ वापस लाना चाहती हैं; पर लड़की किसी ख़ूबसूरत दिन के लिए अपनी मुस्कुराहटें सँजोकर रखना चाहती है।"

"दूसरे मकान में रहने वाली कुंती भी यही चाहती थी और जो वह चाहती थी, उसके मिलने का विश्वास उसे शायद अभी तक है—आज शाम तक था...।" (समग्र कहानियाँ, पृष्ठ 314)

कहानीकार या वाचक की यह टिप्पणी विमला की तरह कुंती को भी एक व्यक्ति नहीं रहने देती, एक प्रतीक बना देती है। वह प्रतीक बन जाती है निम्न मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों में स्वातंत्र्योत्तर काल में हल्की-सी दरार पड़ने का। उसकी भी उन जीवन-मूल्यों में आस्था है जिनमें विमला की आस्था है; लेकिन विमला की तुलना में उसकी स्थिति में थोड़ी-सी भिन्नता है। यह भिन्नता आर्थिक स्तर पर है। विमला की तुलना में कुंती की आर्थिक स्थिति कमज़ोर है और परिवार का बोझ उसके ऊपर आ पड़ा है। इसलिए उसे बलवंतराय के सामने मुस्कुराना पड़ता है; उसे आर्थिक कारणों से अपने जीवन-मूल्यों और यथार्थ के बीच हल्का-सा समझौता करना पड़ता है। यह समझौता यहीं तक रहेगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है। संकेत तो यह है कि इस समझौते का दायरा और बढ़ेगा। यह संकेत टिप्पणी के अंतिम वाक्य में प्रयुक्त 'शायद' शब्द में तथा 'आज शाम तक था' के भूतकालिक प्रयोग में निहित है।

दरअसल कुंती विमला का ही विकासक्रम में या जीवन-मूल्यों के ह्रासक्रम में अगला चरण है। इसका संकेत कहानीकार ने बड़ी कुशलता के साथ यह कहकर दे दिया है, "यों देखने पर विमला और कुंती का कोई संबंध भी नहीं है; पर न जाने क्यों उसमें विमला की झलक-सी दिखाई पड़ती है।" (वही; पृष्ठ 311) कहानीकार और दुनिया की विमला के संबंध में जो आकांक्षा है, वह सहज और गंभीर है; लेकिन कुंती के संबंध में जो आकांक्षा है, उसमें हल्का-सा कटाक्ष या व्यंग्य है, जो दुनिया के सामने उसकी विवशता को रेखांकित करता है। विमला के प्रसंग में जो दुनिया है वह कुंती के प्रसंग में बदल गई है, "परमात्मा करे, ऐसा ख़ुशनुमा दिन कभी न आए और किसी को मुस्कुराना न पड़े; क्योंकि दुनिया यही चाहती है।" (वही; पृष्ठ 315) इस कथन में प्रयुक्त 'ख़ुशनुमा दिन' का प्रयोग भी अंतर्विरोध से परिपूर्ण व्यंजनात्मक है। कुंती जब मुस्कुराने के लिए विवश होती है तब दिन तो बहुत ख़ुशनुमा है; लेकिन कुंती रो रही थी, "मौसम बहुत सुहावना था। हर तरफ़ से जैसे ख़ुशियाँ फूट पड़

...थीं... पेड़ों पर अजीब-सी ताज़गी छाई हुई ...और ऐसे ख़ुशनुमा वक़्त में कुंती की आँखें ...रहकर भर आती थीं। दिल में अजीब-सी ...उठती थी। भाई-बहनों के मासूम चेहरों की ...जब वह देखती थी तो मन बैठने लगता था ...आँसू नहीं थमते थे।" (वही; 314)

कुंती की पूरी कथा पाठक को अवसन्न ...ती है।

कुंती की कथा के बाद लेखक ने लज्जा की ...था कही है। लज्जा का घर ठीक चौराहे पर है, ...हाँ से बाग के लिए रास्ता कटता है। यह ...परागत घर नहीं, फ़्लैट है। यह फ़्लैट शानदार ...। लज्जा ख़ूबसूरत है और उसके रहन-सहन ने ...से और ख़ूबसूरत बना दिया है। उसके साथ ...ने वाले, लगता है, एकाएक मालदार हो गए ...। उसे लोगों ने हमेशा मुस्कुराते हुए ही देखा ...। यद्यपि उसके पास अपनी कार नहीं है, लेकिन ...ह हमेशा किसी कार या टैक्सी से जाती है। ...निश्चित तो नहीं, लेकिन सुना है कि वह किसी ...बड़े होटल में रिसेप्शनिस्ट है। कभी-कभी होटल ...का सामान लाने-ले जाने वाला वैगन भी उसे ...काफ़ी रात गए घर छोड़ जाता है। उसने बड़े ...दुखदायी दिन देखे हैं, लेकिन संघर्ष करके उसने ...न दिनों को जीत लिया है। लोग उसे शक की ...निगाह से देखते हैं और उसके संबंध में मज़ा ...ले-लेकर कहानियाँ सुनाते हैं। वह नशे में धुत्त ...रात घर लौटती है; चीखती-चिल्लाती है, ...वालों को बहुत डाँटती है। उसके संबंध में ...जो कहानियाँ सुनाते हैं, वे अजीबो-ग़रीब, ...मज़ेदार और गंदी होती हैं। उसकी मुस्कुराहट ...अजीब जादू है; शरीर में मोहक कमनीयता ...चाल में एक बनावटी खम है। हर रोज़ उसके ...का स्टाइल और अंदाज़ नया होता है। वह ...के रास्ते पर बहुत तेज़ दौड़ रही है। उसके ...उसके अड़ोसी-पड़ोसी अपनी लड़कियों ...लेकर बहुत चिंतित रहते हैं। उसके साथ वाले फ़्लैट में कोई गृहस्थ ज़्यादा दिन टिकता नहीं है, फलतः उसमें चिटफ़ंड का दफ़्तर खुल गया है। उस दफ़्तर में काम करने वाले उसे 'चीज़' कहते हैं और अपनी पहुँच से बाहर मानते हैं। लज्जा के घर वाले संपन्नता से ख़ुश हैं, लेकिन वे अड़ोस-पड़ोस और नातेदारों से कटे हुए हैं और अकेले हैं। लज्जा अधिकतर तीन आदमियों के साथ दिखाई देती है, जिनमें से एक दिलीप है। एक दिन वह धूल-भरी आँधी में दिलीप की कार में आती है और ऊपर एक कमरे में उसे ले जाती है। कमरे को सब तरफ़ से बंद करके वह जानना चाहती है कि दिलीप उससे शादी क्यों नहीं करना चाहता। ज़्यादा कुरेदने पर उसका स्पष्ट उत्तर है, "इस बात को उठाना ही बेकार है लज्जा! इस पर बहस नहीं की जा सकती। शादी का सवाल नहीं उठता।" (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 316) दिलीप के इस उत्तर से कमरे में बड़ी मनहूस ख़ामोशी छा गई। कुछ देर बाद दिलीप उठकर चला गया। लज्जा उसे नीचे छोड़ने नहीं आई।

लज्जा की यह कहानी कहकर वाचक/कहानीकार टिप्पणी करता है, "लज्जा के फ़्लैट की तरह हज़ारों फ़्लैट हैं और उसकी तरह ही हज़ारों लड़कियाँ भी हैं। उतनी ही सुंदर कोमल और हर वक़्त मुस्कुराने वाली। हर लड़की अपने हाल से परिचित है और अपनी ज़िंदगी को बदलना चाहती है। हर लड़की यही चाहती है कि सब लोग उसे चाहें, लेकिन उनमें कोई एक ऐसा हो, जो सिर्फ़ उसे चाह सके, ताकि उसे यह संतोष हो कि वह ज़िंदगी में हारी बाजी जीत गई है।"

"तीसरे मकान में रहने वाली लज्जा भी यही चाहती है और जो वह चाहती है, उस ओर जाने वाला रास्ता पहले ही कट चुका है।" (वही; पृष्ठ 316-17)

वाचक/कहानीकार की यह टिप्पणी विमला और कुंती की तरह लज्जा को भी व्यक्ति नहीं रहने

देती; उसे प्रतीक बना देती है। वह प्रतीक बन जाती है उन महत्त्वाकांक्षी सुंदर मध्यवर्गीय युवतियों की, जो अपनी यथार्थ आर्थिक स्थिति से संतुष्ट न रहकर आर्थिक संपन्नता का, शान-शौकत का जीवन जीना चाहती हैं। वे आर्थिक संपन्नता परंपरागत ढंग से प्राप्त करना नहीं चाहतीं, शायद इसलिए कि वे परंपरागत ढंग से मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों की सीमा में रहकर मनोवांछित आर्थिक संपन्नता और शान-शौकत प्राप्त नहीं कर सकतीं। इसलिए वे उसे जिस ढंग से प्राप्त करती हैं, लीक से हटकर जिस नए रास्ते पर चलती हैं, उसके लिए उन्हें बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है। वे जब अपनी अस्मिता बेचने का नया रास्ता चुनती हैं तो उनके लिए परंपरागत रास्ता बंद हो जाता है, यद्यपि उस रास्ते से जुड़ी उनकी आकांक्षाएँ जीवित रहती हैं। किसी एक व्यक्ति को पति के रूप में पाने की आकांक्षा परंपरागत रास्ते से जुड़ी आकांक्षाओं का ही प्रतीक है।

वाचक/कहानीकार ने विमला और कुंती को लेकर जो आकांक्षा व्यक्त की है, लज्जा को लेकर वह बिलकुल बदल गई है, ''परमात्मा करे, लज्जा जैसी ख़ूबसूरत और दिल रखने वाली लड़कियों को ऐसे रास्ते पर न जाना पड़े, जिससे फिर लौटा न जा सके! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 317) दिलीप के साथ लज्जा जब अपने घर आती है तो मौसम, उस मौसम से भिन्न है जिसमें कुंती को मुस्कुराने के लिए विवश होना पड़ता है। लज्जा तो हर समय मुस्कुराती ही रहती है। दिलीप के विवाह से इनकार करने पर जो मनहूस ख़ामोशी कमरे में छा गई वह वस्तुत: कमरे में उतनी नहीं छाई जितनी लज्जा के मन पर छाई। दिलीप की कार से रात में उतरते समय मौसम का जो चित्रण है, वह मानो लज्जा के भविष्य का प्रतीकात्मक चित्रण है, ''मौसम बहुत ख़राब था; आसमान रुँधा-रुँधा था और धूल-भरी आँधी चल रही थी।'' (वही; पृष्ठ 316) हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे मौसम में, अपने भावी जीवन में क्या लज्जा अपनी मुस्कान बनाए रख सकेगी?

ऊपरी तौर पर लज्जा का विमला या कुंती से कोई संबंध नहीं है, लेकिन आंतरिक स्तर पर वह उनसे संबद्ध है। वह उन्हीं के विकास की अगली सीढ़ी है, जो अपनी आकांक्षाओं की प्रकृति से प्रेरित होकर उस त्रासदी की ओर बढ़ रही है, जो सुनीता के जीवन में चरितार्थ होती है। वह बदले हुए जीवन-मूल्यों की प्रतीक बन गई है।

सुनीता मध्यवर्गीय स्त्री के विकास या ह्रास का चौथा चरण है। प्रतीकात्मक स्तर पर सुनीता विमला, कुंती और लज्जा का ही एक और रूप है। कहानीकार ने यह कहकर इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है, ''चौथा मकान यानी सुनीता का घर।...विमला, कुंती या लज्जा में से कोई सुनीता को नहीं जानती। सुनीता भी उन्हें नहीं जानती।...पर सुनीता को देखने से न जाने क्यों विमला की धुँधली-सी आकृति सामने आकर खो जाती है।'' (वही, पृष्ठ 317)

इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों में सबसे अधिक त्रासद कहानी सुनीता की है। अन्य तीन स्त्री पात्रों की तरह सुनीता का कोई परिवार नहीं है। वह एक नौकरानी के साथ रहती है। अकेली स्त्री होने के कारण उसे किराए का मकान मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। बड़ी मुश्किल से उसे मकान मिलता है, जिसमें वह बड़ी घुटी-घुटी-सी, उजड़ी-उजड़ी-सी रहती है। उसकी उम्र भी ज़्यादा नहीं है। विमला से थोड़ी बड़ी या लज्जा की उम्र की होगी, लेकिन अकेलेपन ने उसे बिलकुल बदल दिया है। पहले वह किसी अच्छी नौकरी पर थी, लेकिन अब नर्सिंग की ट्रेनिंग लेकर एक नर्सिंग होम में काम करती है। उसने बड़ी शिद्दत से जीवन-साथी खोजने की कोशिश की थी; लेकिन सब जगह निराशा ही

लगी। सब जगह से हारकर उसने विनय से कहा था और वह राजी हो गया था। उसने राहत की साँस ली थी और उसमें का नया संचार हुआ था; लेकिन यह तीन साल भी नहीं चला था। उसे निरानंद हिक जीवन निरर्थक लगा था और उसने ले लिया था। वह ऊब से भरी हुई अकेली दगी से मुक्ति पाने के लिए कभी बिल्ली ती है, कभी कुत्ता पालती है, कभी धर्म-वर्तन की बात सोचती है लेकिन इनसे होता नहीं। सुबह डबल रोटी देने के लिए आने ला लंगड़ा साग्रह उसी से बात करता है और उसके संबंध में गंदी-गंदी बातें करता है। रानी से उसकी बातें सुनकर वह हँस पड़ती और सोचती है कि, "एक लँगड़ा आदमी, ल रोटी और मज़ाक़ के सिवा और है ही क्या दगी में।" (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 319)

वाचक/कहानीकार की यह टिप्पणी विमला, ती और लज्जा की तरह सुनीता को भी व्यक्ति हीं रहने देती, उसे एक प्रतीक बना देती है। ता ऐसी स्त्री की प्रतीक बन जाती है, जो र है, समझदार है, शिक्षित है, आर्थिक रूप आत्मनिर्भर है; लेकिन अकेली है। वह बहुत करती है; अपने अकेलेपन को दूर करने के र विवाह करती है; लेकिन विवाह करने से उसकी समस्या का समाधान नहीं होता और तलाक़ लेकर फिर अकेली ज़िंदगी जीने ती है और लोगों के अश्लील मज़ाक़ का बनती है। वह अपने अतीत से मुक्त होकर से जीना चाहती है, लेकिन यह संभव नहीं पाता।

अन्य तीन स्त्री पात्रों की तरह सुनीता को र वाचक/कहानीकार आकांक्षा व्यक्त करता "परमात्मा करे, यह लँगड़ी ज़िंदगी किसी न मिले और यह मज़ाक़ किसी को न सहना ! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।" (वही; 319)

इस प्रकार कमलेश्वर ने अपनी इस कहानी में चार लड़कियों/स्त्रियों की कहानियाँ कही हैं; जो ऊपरी स्तर पर चार हैं, लेकिन आंतरिक स्तर पर एक ही मध्यवर्गीय युवती के विकास की चार अवस्थाएँ हैं। हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि एक तो इस कहानी के शीर्षक से होती है—'एक थी विमला'। दूसरे, विमला के बाद की तीनों युवतियों में 'विमला की झलक-सी' दिखाई देती है। इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों में अनेक समानताएँ हैं—चारों लगभग समवयस्क हैं, चारों का संबंध मध्यवर्ग से है; चारों सुंदर और शिक्षित हैं; चारों के सामने आर्थिक समस्याएँ आती हैं; चारों उन्हें अपने-अपने ढंग से हल करती हैं; चारों के प्रति समाज का एक वर्ग ललचायी दृष्टि से देखता है और चारों उससे अपने-अपने ढंग से निपटती हैं। इसलिए चारों एक ही विमला के परस्पर किंचित् भिन्न रूपांतर हैं।

लेकिन चारों में भिन्नताएँ भी हैं। विमला का पिता जीवित है; उसके पिता का अपना मकान है; वह पढ़ रही है; पढ़ने के बाद नौकरी करके अपने भाई-बहनों को पढ़ाना चाहती है और उसके बाद किसी अच्छे-से युवक से शादी करना चाहती है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने की विवशता उसके सामने नहीं है। वह बाहर वालों के सामने कभी मुस्कुराती नहीं है। उसके संबंध में बाहर वाले अश्लील कहानियाँ नहीं गढ़ते हैं; भद्दे मज़ाक़ नहीं करते हैं। कुंती के पिता किराए के मकान में रहते हैं; उनकी आर्थिक स्थिति क्रमशः ख़राब होती जाती है; रहने के लिए किराए का एक कमरा-भर है; वह भी पढ़ रही है; अपने भाई-बहनों और अपने विवाह के लिए उसकी आकांक्षाएँ भी लगभग विमला जैसी हैं; लेकिन पिता की मृत्यु और बड़े भाई के अलग रहने के कारण परिवार के सारे दायित्व उसके ऊपर आ पड़ते हैं; जिन्हें वह अपनी सामर्थ्य-भर निभाती है; अंततः क़र्ज़ लेने के

लिए और बाहर वालों के सामने मुस्कुराने के लिए विवश होती है। लज्जा के साथ भी उसका परिवार है, माँ है, लेकिन पिता शायद नहीं हैं। परिवार का सारा आर्थिक दायित्व उसके ऊपर है। उसके ज़ीवन के चार-पाँच वर्ष बड़े दुखदायी और संघर्षमय रहे हैं; लेकिन उसने आर्थिक संपन्नता प्राप्त कर ली है। वह और उसका परिवार एक फ़्लैट में शानदार ढंग से रहते हैं और वह हमेशा मुस्कुराती रहती है। उसने आर्थिक संपन्नता ऐसे ढंग से प्राप्त की है कि सब उसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं; उसके चरित्र को लांछित समझते हैं; उसके संबंध में अश्लील कहानियाँ गढ़ते हैं और भद्दे मज़ाक़ करते हैं। उसका परिवार उस पर पूर्णतया निर्भर है; उसके कारण लज्जित और विवश है और उसकी डाँट-फटकार चुपचाप सुनता है। लज्जा स्वयं भी अपने जीवन से पूर्णता संतुष्ट नहीं है। अनेक पुरुषों से उसके संबंध हैं; लेकिन कोई भी उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं है। सुनीता का कोई परिवार नहीं है। वह अकेली है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है। अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए वह विवाह करती है; तलाक़ लेती है और फिर अकेली रह जाती है। वह भी भद्दे मज़ाक़ का विषय बनती है; लेकिन वह भद्दे मज़ाक़ पर हँसती है।

विमला के न मुस्कुराने; कुंती के विवश होकर मुस्कुराने; लज्जा के हमेशा मुस्कुराते रहने और सुनीता के हँसने में मध्यवर्गीय युवती के व्यक्तित्व-विकास और नैतिक बोध के परिवर्तन की सूक्ष्म व्यंजनाएँ अंतर्निहित हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में दिल्ली जैसे विकसित होते, बदलते महानगर में मध्यवर्गीय युवतियों के जीवन के प्रति, नैतिक मूल्यों के प्रति, परिवार के प्रति तथा इसी प्रकार की अन्य चीज़ों के प्रति बदलते उपागम को कमलेश्वर ने बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया है। इस बदलाव का मूलाधार आर्थिक है। आर्थिक बदलाव केवल व्यक्ति को ही नहीं, पूरे समाज और व्यक्ति तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को भी बदल रहा है। इसलिए बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की दृष्टि प्रगतिशील है; और यदि दक़ियानूसी दृष्टि न अपनाई जाए तो उसे प्रगतिवादी दृष्टि कहने में भी हमें संकोच न होगा।

इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों की ज़िंदगियाँ अधूरी हैं। विमला न आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है और न ही सुयोग्य युवक से विवाह की उसकी आकांक्षा पूरी हुई है। वह अपनी भावी ज़िंदगी की पूर्णता के प्रति आश्वस्त अवश्य है, लेकिन प्रतीक्षारत है। कुंती के जीवन की पूर्णता का नक़्शा भी लगभग वही है जो विमला का है; लेकिन पिता की मृत्यु ने और परिवार की विपन्नता ने उसमें व्यवधान डाल दिया है। भविष्य में उसकी ज़िंदगी पूर्णता प्राप्त कर पाएगी, इसके संबंध में संदेह उत्पन्न कर दिया है। लज्जा की ज़िंदगी भी अधूरी है। वह भी संदेहास्पद ढंग से ही आर्थिक संपन्नता प्राप्त करने के बाद दिलीप से विवाह का प्रस्ताव कर उसे पूर्णता प्रदान करना चाहती है; लेकिन उसके साफ़ इनकार से उसकी संभावना ही समाप्त हो जाती है। सुनीता भी विवाह करके अपनी ज़िंदगी को पूर्णता प्रदान करना चाहती है; तलाक़ उसकी पूर्णता को खंडित कर देता है और वह 'लँगड़ी ज़िंदगी' जीने के लिए विवश हो जाती है। इन चारों की ज़िंदगियों के अधूरेपन को हर एक की कहानी कहने के बाद इस प्रकार कथनों से स्पष्टतः सूचित कर दिया है, "विमला के घर की कहानी यहीं ख़त्म हो जाती है; क्योंकि अभी इससे आगे कुछ हुआ नहीं है। इस तारीख़ तक घटनाएँ यहीं तक पहुँची हैं।" (वही; पृष्ठ 311) ये वाक्य प्रत्येक कहानी के बाद पुनरावृत्त हुए हैं। बस, विमला की जगह क्रमशः कुंती, लज्जा और सुनीता नाम रख दिए गए हैं।

क कहानी के अंत में इन वाक्यों की तरह क्योंकि दुनिया यही चाहती है' को भी त किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है 'व्यक्ति' की आकांक्षा और 'दुनिया' की क्षा में परस्पर विरोध है। दुनिया और व्यक्ति द्ध में पराजय व्यक्ति की ही होती है। क्या से यह निष्कर्ष निकाला जाए कि कमलेश्वर शावादी हैं? ऊपरी तौर पर तो यही लगता संभवतः स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रारंभिक वर्षों होने वाले मोहभंग और निराशावाद से लेश्वर और 'नई कहानी' के कई अन्य नीकार प्रभावित हैं। यह मोहभंग और शावाद साठोत्तर कहानी और कविता में और रूप धारण कर लेता है। लेकिन एक व्यंजना भी हो सकती है कि यदि हमें व्यक्ति की न्य आकांक्षाओं को भी पूरा करना होता तो या को बदलना होगा; एक ऐसी नई दुनिया नी होगी, जिसमें हर व्यक्ति की आकांक्षाएँ हों और दुनिया यही चाहे कि हर व्यक्ति के पूरे हों; हर व्यक्ति पूरी ज़िंदगी जिये; किसी लंगड़ी ज़िंदगी न जीनी पड़े।

कमलेश्वर की इस कहानी को पढ़ते समय मन में यह प्रश्न भी उठता है कि स्त्री की ज़िंदगी या लँगड़ेपन का अनुभव न होने दें, के कारण उसका आचरण गरिमापूर्ण हो? नी से हमें लगता है कि कमलेश्वर की दृष्टि री-जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है वह भरे-पूरे परिवार की सदस्य हो, आर्थिक से संपन्न हो, उसका संतुलित, संतुष्ट और मय दांपत्य जीवन हो; समाज में स्नेह और न मिले। स्त्री के जीवन की पूर्णता की यह धारणा मध्यवर्गीय पारंपरिक भारतीय धारणा है। कमलेश्वर के लिए और तमाम वर्गीय भारतीयों के लिए इस अवधारणा को कार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी; लेकिन पूँजीवाद से प्रभावित स्त्री-विमर्शवादियों में से अनेकों को यह स्वीकार्य नहीं होगी; क्योंकि वे स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता के भी पक्षधर हैं। उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता में यौन स्वच्छंदता भी शामिल है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री के लिए पति के रूप में पुरुष कोई अनिवार्यता नहीं है; आवश्यकता भी नहीं है। यौन शुचिता से संबद्ध नैतिक मूल्य भी उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। कमलेश्वर की इस कहानी से मुझे लगता है कि वे इतने 'आधुनिक' नहीं थे, जितने स्त्री-विमर्शवादियों को स्वीकार्य हैं।

कमलेश्वर की इस कहानी का शिल्प अत्यंत प्रौढ़ है। उन्होंने इस कहानी में जो वस्तु प्रस्तुत की है, वह यथार्थ जीवनानुभव से ली गई है, लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्होंने जीवन का एक टुकड़ा उठाया हो और उसे ज्यों-का-त्यों हमारे सामने रख दिया हो। निःसंदेह उन्होंने जीवन का एक टुकड़ा उठाया है; लेकिन उसे ख़ूब तराशकर हीरे की तरह चमकाकर प्रस्तुत किया है। यह तराश घटनाविन्यास, चरित्र-सृष्टि और भाषिक-स्तर पर इतनी अधिक है कि कभी-कभी उसमें से कहानीकार की सजगता...कलात्मक सचेतनता स्पष्ट झलकने लगती है; लेकिन उसमें सजीवता ऐसी और इतनी है कि हमें कृत्रिमता का आभास नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे वे एक-एक घटना को बहुत सोच-विचार, काट-छाँटकर प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके कारण इस कहानी का घटना-विन्यास अत्यंत व्यंजक और बहुआयामी बन गया है। भाषिक स्तर पर एक-एक शब्द बहुत व्यंजकता से भरकर प्रस्तुत किया है।

इसीलिए इस कहानी में प्रस्तुत स्त्री-पात्रों की ज़िंदगियाँ तो अधूरी हैं, लेकिन कहानी पूर्ण है। उसे आसानी से एक क्लासिक रचना की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार के पाठकों के लिए पठनीय और कलात्मक कहानी है।

पद्मा सचदेव

हम जहाँ पहुँचे कामयाब आए

उत्तर प्रदेश में आगरा के पास एक क़सबा है मैनपुरी। अंग्रेज़ों की ग़ुलामी के दिनों में ये स्थान क्रांतिकारियों की कार्यभूमि हुआ करती थी। चंद्रशेखर आज़ाद व रामप्रसाद बिस्मिल जैसे नामी लोग भी यहाँ आकर सावित्री धर्मशाला में ठहरा करते थे। एक तरह से यह स्थान देश पर मर मिटने वाले बाँकुरों की कार्यस्थली थी। इसकी जानकारी इस क़सबे के कई लोगों को थी पर चूँकि यहाँ के बहुत लोग देश की आज़ादी के संग जुड़े थे इसलिए जहाँ तक भी हो सकता, ये बात सिर्फ़ लोगों के मन में ही रहती थी।

भारत के किसी भी क़सबे की तरह था मैनपुरी। यहीं एक गली में ज़मींदारों का बड़ा-सा घर था। जहाँ लक्ष्मी व सरस्वती मिलकर रहती थीं। घर के सामने ही राजा का बाग़ भी था। ये बाग़ बच्चों के लिए भाग जाने की वजह भी हुआ करती थी। इसी घर में अपनी माँ के पीछे-पीछे जाता एक छोटा बच्चा मानो माँ का बेटा नहीं बेटी थी। कुर्ता पहने माँ का आँचल थामे उनकी हर गतिविधि पर उसकी नज़र रहती। माँ चूल्हा कैसे सुलगाती है, दाल में छौंक कैसे लगाती है। मठरी कैसे तलती है, दूध कैसे औटाती है, लस्सी में से मक्खन कैसे निकाल लेती है, अचार कैसे डालती है, कैसे-कैसे पान में कत्था-चूना लगाकर उसे लपेटती है, चौके में राजरानी-सी बैठी कैसे अपने सबसे छोटे बेटे को गोद में छुपाए लाड़ लड़ाती है, सूई में धागा डालते समय कैसे सूई के नक्के में आँख जमाए मानो ख़ुद ही घुस जाती है, कितने तरह-तरह के कपड़े सी लेती है माँ। माँ से अधिक बुद्धिमान, होशियार और निपुण क्या कोई और भी है! सिलाई की मशीन भी कैसे धड़ल्ले से चला लेती है माँ, नहीं, माँ से निपुण कोई नहीं हो सकता, न ही माँ जैसा कोई होता है तभी तो अस्सी बरस का बूढ़ा भी पीड़ा होने पर बुखार चढ़ने पर सिर्फ़ 'हाय माँ' कहता है, 'हाय बाप' कहते तो कभी भी नहीं सुना।

ये नन्हे मियाँ जो बेटा होते हुए भी अपनी माँ की बेटी जैसे हैं, हर फ़न में उस्ताद क़लम से साहित्य को, अक्षरों की हर विधा परोस देने में माहिर हमारे कमलेश्वर जी ही तो हैं। तीसेक बरस तो उन्हें जानते हुए हो गए हैं। उनके कई रूप आँखों में घूमते हैं।

साहित्य अकादेमी, हिंदी अकादमी, जम्मू कश्मीर कल्चरल अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित पद्मा सचदेव का जन्म 1940 में हुआ। इनकी कविता, साक्षात्कार, कथा-साहित्य, संस्मरण की हिंदी और डोगरी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित।
संपर्क : बी-242, चित्तरंजन पार्क, प्रथम मंजिल, नई दिल्ली 110019
मो. 9811147654

दफ़्तर में पाइप के धुएँ से भरे कमरे में हाथ में क़लम लिए काग़ज़ों पर झुके र, बसंत पंचमी के दिन डॉ. धर्मवीर के साहित्य सहवास वाले घर के प्रांगण के दिन ठहाके लगाते, चुस्त जुमले की तरह उड़ाते कमलेश्वर, अपनी बेटी कितना-कितना स्नेह लुटाते कमलेश्वर, के टेलीविज़न पर 'परिक्रमा' कार्यक्रम में को बाँधकर रखते कमलेश्वर, बड़े बड़े अधिकार और विश्वास से अपनी गायत्री गायत्री करते कमलेश्वर।

आ रहा है। बांद्रा में प्रसिद्ध दर्ज़ी काश। स्त्रियों से घिरा, स्त्रियों से उकताया, की डाँट-फटकार सुनता, स्त्रियों के माप- ओमप्रकाश। कई बार मैं उसकी दुकान में कोने पर पड़े स्टूल पर बैठी उसका तोलती रहती। स्त्रियों के संग उसका झूठ युद्ध देखती। हर बार सहनशक्ति से ओमप्रकाश। कैंची हाथ में पकड़े-पकड़े सुनता ओमप्रकाश। कमलेश्वर जी के 'परिक्रमा' में हर आम-ख़ास व्यक्ति आता लेश्वर जी को पता नहीं क्या सूझी उन्होंने काश को बुला लिया।

तो उसने भर ली पर गया नहीं। मैंने , "मास्टर जी इतने लोकप्रिय शानदार 'परिक्रमा', जिसमें हर कोई जाने को रहता है, आप गए ही नहीं, कमाल हैं आप।" उसने कहा, "मैं आदमी हूँ। वो भी औरतों का दर्ज़ी। कमलेश्वर कहिए एक दिन आकर मेरी दुकान पर कर दिखाएँ फिर इनको पता चलेगा।" लेश्वर जी को बताया तो उन्होंने मान हाँ ये काम कठिन है।

पन में कमलेश्वर जी अपनी माँ के -जाते बहुत कुछ जान गए। आज पूछने चार में डालने वाले सभी मसालों के नाम बता सकते हैं। मैनपुरी का वो घर उन्हें वैसे ही याद है जैसे अभी-अभी उठकर सीधे वहीं से चले आ रहे हों।

कहने लगे, "घर के पास मिडिल स्कूल था। इमली के घने पेड़ थे। पेड़ों पर बंदर छिलके समेत इमलियाँ खा रहे होते। असल में बंदर भी हमारे दोस्त थे। हमें उनसे डर नहीं लगता था। कई बार तो हम मिलकर इमली तोड़ते थे। नई कोंपले आती रहती थीं। माँ ने कहा था, 'इमली को ढेला नहीं मारना।' वहीं कैत्था भी होता था, बेहद खट्टा, ख़ूब खाते, दाँत खट्टे ऐसे भी होते हैं। हमारे स्कूल के रास्ते में एक जंगल पड़ता था वहाँ भी बेरा, कैत्था, कमरख की बेल जिसके फल हल्का चूना लगाने से मीठे हो जाते थे। इन फलों के साथ ही याद आते हैं मकसूद, रमेश और बिबन। एक शाम था, एक बड़दंता, बड़दंता के दाँत ख़ूब ऊँचे थे। बाज़ार की तरफ़ जाते तो इमली के पेड़ के नीचे लारियों का अड्डा आता। मैनपुरी से लारी पर चलो तो एटा, इटावा, कुरावली तक बसें जाती थीं। वहीं एक स्थान संकिसा, जहाँ कहते हैं महानिर्वाण के बाद बौद्ध यहीं जन्मे थे।"

कमलेश्वर जी ने सिगरेट का धुआँ मुँह में घुमाया तो होलियाँ याद आ गईं।

हाँ होलियाँ याद आती हैं ख़ूब। रंग खेलने का चाव, हुड़दंग करने के मौक़े, टेसू के फूलों का हल्का पुखराजी रंग, भाभियों को मलने का सुख, ढोलक पर तगड़े सुंदर हाथों की थाप के बीच छोटे देवर को पड़ती मीठी गालियाँ खाने का उल्लास, कहीं हवा में बेगम अख़्तर के सुर महक उठते :

छोटे देवर तोरी मुशकें बधैंसैं
जब घर अइहें
हो जब घर अइहें साँवरिया रे
निहुरे निहुरे
निहुरे निहुरे बुहारें अँगनवा निहुरे निहुरे

नाइन के चौड़े तगड़े उबटन से महकते पीठ मलते हाथ जब ढोलक पर थाप देते तो उसकी मोटी बुलंद आवाज़ से पैय्याँ पैय्याँ चलते सैय्याँ सैय्याँ होते देवरों को समय नहीं लगता। मुँह में दुपट्टा देकर अपनी हँसी दबाती जवान मुटियारें शरमाकर भाग जातीं। क्या दिन थे रसीले, रंगीले और जवान।

कमलेश्वर जी को होली के संग कई कुछ याद आ रहा था। सबसे ज़्यादा याद आता है मैनपुरी। बोले, ''मैनपुरी पहले अजमेर राज्य के चौहानों का राज्य था। बहुत पुराना मज़बूत क़िला था यहाँ, जिस पर अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर रखा था। हम सात भाई थे। मैं सबसे छोटा, सबसे बड़े महेश्वर भैया। काल ने जब हमारे बीच के पाँच भाई छीन लिए तो हम दो ही बचे। माँ मुझे आँखों से ओझल न करती थी, पर जब क्रांतिकारी योगेश चटर्जी ने माँ को आकर कहा कि ये बच्चा हमें दे दो तब माँ से न करते न बना। उस वक़्त मैं आठवीं में पढ़ता था।

हमारा परिवार क्रांतिकारियों का समर्थक था। क्रांतिकारियों का अड्डा था मैनपुरी में। इस अड्डे पर चंद्रशेखर आज़ाद व बिस्मिल जैसे नामी क्रांतिकारी आए थे। मैनपुरी के गेंदालाल दीक्षित भी क्रांतिकारी थे, बाद में मैंने उन्हें दिल्ली में लोगों को पानी पिलाते देखा तो बड़ा दुख हुआ। मैनपुरी षड्यंत्र केस में वो शामिल थे।

ईसाइयों के आने के बाद मैनपुरी को ज़िला बना दिया गया था। चर्च बन गए पर लोगों के मन में प्रतिशोध की भावना बढ़ती ही चली जाती थी। क्रांतिकारियों की चिट्ठी लाने ले जाने के लिए हमारी उम्र के बच्चों को ढूँढ़ा जाता था। तभी तो हमें योगेश चटर्जी ने अम्मा से माँग लिया था।

बचपन में मुझे रेल देखने का बड़ा चाव था। ऐसे ही एक दिन रेल देखने गया था तो योगेश चटर्जी मिले थे। उन्हीं के कहने पर मैं क्रांतिकारियों को पत्र पहुँचाने का काम करने लगा था। पत्र पहुँचाने वाले संवादी कहलाते थे। 1946-47 के आंदोलन में हम पकड़ लिए गए। 19 दिन जेल में रहे। ये इलाहाबाद की बात है। उन दिनों यह सब करना बड़ा अच्छा लगता था। यूँ लगता जैसे स्वतंत्रता के लिए इस महान यज्ञ में हम भी आहुति दे रहे हैं।

हमारी एक बड़ी बुआ थीं उनकी शादी फ़र्रुख़ाबाद में हुई थी। उनकी ससुराल के एक बुजुर्ग ने गाज़ीपुर में अंग्रेज़ों का ख़ज़ाना लुटने से बचाया था। ग़दर के दौर में अंग्रेज़ों को भी बचाया था। वो अंग्रेज़ परस्त थे। हम अंग्रेज़ विरोधी थे। बुआ की ससुराल वालों को बिना तिलक के महाराज कहा जाता था। उनकी बड़ी हवेली में फूफा जी व उनके बुज़ुर्गों के चित्र लगे हुए थे।

याद आता है। हमें अम्मा के साथ ट्रेन में कहीं जाना था। अम्मा आँगन में थी। तभी हमारी चाची के हाथ से पता नहीं कैसे फूल की थाली गिरी और टूट गई। अम्मा ने कहा, ये अपशगुन है हमारे ऊपर विपत्ति आनेवाली है। मैं तब पाँच-छह बरस का था। थाली टूट जाने से ट्रेन में जाने का उत्साह भी ठंडा पड़ गया। मन खट्टा हो गया। मैं और अम्मा, मुझसे बड़े भाई से मिलने इटावा जा रहे थे। भाई वहाँ पढ़ता था। हमारा कपड़े का थोक काम भी था। देसावर का कपड़ा आता था। गोदाम में गठरियाँ पड़ी रहती थीं। हमारे दो गाँव थे पर हमारे पिता इतने भले थे कि जिन किसानों को गाँव दिए थे, उन्हें कहते थे सिर्फ़ इतना पैसा दो कि मैं मालगुज़ारी दे सकूँ। लगान भी देना होता था। मुझे याद है खेतों में फ़सल होती तो आम आ जाते, हरे चने, शकरकंद, गन्ने का रस। पूरा घर भर जाता, गन्ने का रस दूध में डालकर खाया जाता था। गन्ने का रस उबालकर उसके ऊपर की कत्थई झाग फेंक दी जाती और दूध मिलाकर खाया जाता। आम के

ठंडे पानी में रख दिए जाते, जितने चाहो फेंको। घर में दो गाएँ, तीन भैंसें थीं। घर में गोश्त खाया जाता था पर पिता जी सब्जियाँ खानी पसंद करते थे। घर में गोश्त आता था। बाहर दो गोश्त की दुकानें पिता जी उनसे किराया नहीं लेते थे। वे रोज़ बारी-बारी से गोश्त भिजवा देते थे। ...कहा जाता था। तीज-त्योहार में एक-दूसरे से मिलते थे। हमारे घर के पड़ोस में सैय्यदों की कोठी थी। उनके साथ ...बैठना था। हमारे हकीम भी मुसलमान ...पर जर्राह हिंदू थे। जर्राह फोड़े खींचते नाखून काटते थे। उन्हें अजब महारत हासिल उन दिनों यूनानी व आयुर्वेदिक दवाइयाँ ...थीं। जुक़ाम होता तो आँगन में फूली ...का काढ़ा पिया जाता। हमारे घर के बाहर ...का पेड़ था। पास में कुआँ था। कुएँ में ...डालकर पानी खींचने में बड़ा आनंद आता। ...की ठिठुरती सुबह कुएँ का पानी गुनगुना ...और गर्मियों में ठंडा।

हमारा अपना मंदिर था। शिवरात्रि हमारे यहाँ मनाई जाती थी। इस उत्सव में घर का बड़ा घंटा मंदिर में लगाया जाता था। वहाँ ...देवताओं की कितनी ही मूर्तियाँ थीं। ...से तीन-चार दिन पहले पार्वती मैय्या ...खूब श्रृंगार होता था। हमारी माँ मशीन पर ...के रंग-बिरंगे कपड़े सिलतीं तो हमारी ...भी सिल देतीं। उन दिनों त्योहार पर ...कपड़ा सिलता था नहीं तो बड़े भाइयों ...छोटा पड़ जाता कपड़ा ही पहनते थे। हमारे ...अम्मा ही काटती थीं। दसवीं क्लास तक ...की धोतियों के किनारों को मिलाकर ...किताबों का झोला सिया जाता था। मैं ...क़िले के पास राजा के बाग़ से फूल ...लाता था। कुछ कर सक पाने का सुख ...। अम्मा रोज़ रामायण पढ़ती थीं। अम्मा पढ़ी-लिखी थीं। पिता जी तो अरबी-फ़ारसी के विद्वान थे।

हमारे यहाँ मैनपुरी में जनमेजय के नागयज्ञ का इलाक़ा है। वहाँ साँप बहुत होते हैं। साँपों को पकड़वाया जाता है, मारा नहीं जाता। हमारे घर के आँगन में पहुँचने के लिए गली की तरफ़ खुलता मोटा दरवाज़ा याद आता है। दीवारें ईंट की, छतें मिट्टी की लकड़ी के शहतीरों पर टिकी रहतीं। शहतीर के ऊपर चुनाई की जाती थी। हमारे यहाँ रसोई के चार दरवाज़े थे, घुसते ही लकड़ियाँ, कंडे रखे मिलते। वहीं पर अम्मा ने ओखली बनाई थी, चक्की भी थी। ओखली में अम्मा धान और न जाने क्या कुछ कुटवाती थीं। दालें दलने के लिए चक्की भी थी। चक्की के बीचों-बीच कील के ऊपर बारीक-मोटी दाल पीसने या दलने के लिए कपड़ा लगाती थीं। कौन-सी दाल दलने के लिए या कौन-सा अनाज पीसने के लिए चक्की की कितनी ऊँचाई हो ये उन्हें बख़ूबी मालूम रहता था। मैं ये सब देखकर चमत्कृत होता रहता। फिर सोचता, अम्मा से गुणी भला कौन हो सकता है।

हमारी अम्मा का सबसे बड़ा हुनर जच्चागीरी था। मुहल्ले की बहुएँ बेटियाँ जब भी पेट से होतीं, अम्मा ही को दिखाया जाता। दाइयाँ होतीं, लेडी डॉक्टरनियाँ होतीं पर बच्चा अम्मा ही पैदा करवाती थीं। उनको अंदाज़ रहता था बच्चा कब हो जाएगा। सिर्फ़ वही एक समय होता जब मैं अम्मा के आँचल से बँधा न रहता, नहीं तो अम्मा का आँचल मैं कभी न छोड़ता था। पर जच्चाघर के बाहर डटा रहता था। माँ के जच्चाघर में जाने के बाद कितनी ही आवाज़ें भीतर से आतीं। पहले बच्चा पैदा करने वाली माँ की कुरलाहटें, औरतों की फुसफुसाहटें, फिर हड़बड़ी में इधर-उधर होते क़दमों की आवाज़ें और अंत में वो आवाज़ जिसकी सब प्रतीक्षा करते थे। ऊआँ-ऊआँ। अगर बेटा होता तो थाली बजाने की

आवाज़ें आतीं। बाहर निकलते ही औरतें कहतीं, 'कानी लड़की हुई है।' बस बेटा होने का सुख पूरे घर पर छा जाता।

सावन के झूले पड़ते ही आम के, नीम के दरख़्त चमत्कृत हो उठते। गाँव-घर की सभी बेटियाँ झूला झूलने इकट्ठी हो जातीं। सभी लड़कियों को माँ विदाई देती थीं। एक चुनरी एक लहँगा। अम्मा ही कपड़ा लातीं, अम्मा ही सिलतीं।

उधर आज़ादी की लड़ाई सघन होती जा रही थी। अंग्रेज़ कलक्टर की हम पर निगाह रहती थी। हम हमेशा शक के दायरे में थे। घर में सारी हमदर्दी सुराजियों के साथ थी। उस ज़माने में लिखत-पढ़त नहीं होती थी। किसका कितना बकाया है, ये अम्मा को ज़बानी याद रहता था। बाग़ ज़मीन अब उठा देने की बात आई तो गाँव वालों ने सही दाम देकर सब ख़रीद लिया। उन्होंने अम्मा के साथ रिश्ता निभाया। होली-दिवाली पर सब आकर अम्मा के पाँव छूते थे। मैं सबसे छोटा था। मुझे ऊपर से लेकर नीचे तक सबके पाँव छूने पड़ते थे। अम्मा किसी की भौजी, किसी की ताई, किसी की चाची, किसी की मौसी थीं। उसी तरह हमें भी रिश्ता निभाना होता था। गाँव के लोग पाँच-छह मील दूर चलकर मैनपुरी आते। बैलगाड़ियों पर लादकर फ़सल बेची और आ गए। मैं छोटा बेटा था, सब चाहते थे मैं वहीं रहूँ। सब सोचते, दस तक यहाँ पढ़ूँ फिर बारहवीं कहीं से करके यहीं तहसीलदार लग जाऊँ। पुलिस का उन दिनों उतना रौब न था जितना, तहसीलदार का था। फिर ज़मींदारी ख़त्म हो गई पर इसका हम पर कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ा। हमारा तो पहले से ही सब रामभरोसे था। मैंने कभी नहीं देखा कि काश्तकार आए और कुछ पैसे भी लाएँ। खेत अधबँटाई पर दिए जाते थे। और हमारा घर अनाज, फल, आमों के भरे बोरों, गन्ने और गन्ने के रस से भरा रहता था। अम्मा एक घड़ा गन्ने के रस में एक टुकड़ा लोहे का डाल देती थीं। उस घड़े का मुँह बंद करके

पड़छत्ती पर रख दिया जाता था। उसमें से तरह की आवाज़ें आतीं। घूँ घड़म्म घं...। पर मलाई-सी आती थी जिसे अम्मा निकाल ती थीं, फिर नीचे से पका हुआ सिरका कल आता था।''

मैं कमलेश्वर जी की बात सुनकर सोच रही कौन होगा जिसने सिरका बनाने का आविष्कार होगा। कमलेश्वर जी भी कुछ तो सोच ही थे। अपनी सिगरेट बुझाकर फिर अतीत में गए। कहने लगे, ''हमारे सात मकान थे। -चौदह दुकानें थीं। मक्खन, घी, मट्ठा आदि दुकानें। इनका किराया महीने में दो या तीन होता था। हमारी अम्मा पिता जी की दूसरी थीं। पहली की मृत्यु हो गई थी। उनसे एक भाई थे। वो दस क्लास पास थे। बड़े थे। पटापट अंग्रेज़ी बोलते थे। वे राजस्थान कहीं स्टेशन मास्टर थे। उनका चरित्र अद्भुत । अचकन व चूड़ीदार पायजामा पहने उनकी निराली होती थी। वो नंबरी मुक़दमेबाज़ थे। पिता जी के रहते ही उन्होंने कुछ मकान, व ज़मीन अपने नाम करवा ली थीं। से उनका लगाव बड़ा रोमांटिक था। आते-जाते रहना उनके लिए बड़ा ज़रूरी और फिर वो वहाँ न जाते तो कहाँ जाते। अंत मुक़दमा लड़ते-लड़ते, किसी के ख़िलाफ़ देते-देते उन्हें दिल का दौरा पड़ा और ख़त्म हो गए।

मुझे याद है अम्मा के पास कभी-कभी आते पर पिता जी की मृत्यु के बाद आना शुरू । उनकी शादी उस वक़्त के रायबहादुर बेटी के साथ हुई थी। रायबहादुर इत्र के बड़े थे। दद्दा इत्र के शौक़ीन। कलफ़ लगा में महकता कुर्ता पहनते। नीचे पंप शू होता। बार वो धोती पहने नंगे बदन तिलक लगाए वृंदावन चले गए। राधास्वामी हो । वहाँ से वो हमारे लिए रबड़ी की कुल्लियाँ लाते थे। उनकी खड़ाऊँ की आवाज़ आती तो बहुएँ भीतर चली जातीं। हमारे घर में मनिहार चूड़ी पहनाने आते थे। दद्दा को पता चला तो नाराज़ होकर कहने लगे, 'मनिहार मेरे घर की बहुओं को चूड़ी क्यूँ पहिनाए?' उन्होंने सारी चूड़ियाँ फोड़ दीं और रोने लगे। एक रोज़ आए तो कोने में खड़े हो गए। मेरा घर का नाम कैलाश है। मैं इलाहाबाद से इंटरमीडिएट करके लौटा था। देखा, आँगन के कोने में दद्दा खड़े हैं। उन्होंने गले की कंठी तोड़ दी। कृष्ण का झूला तोड़ दिया, पूजा का समान फेंक दिया, फिर गोश्त पकाने लगे। उन्होंने ये कहा कि हमारे घर में गोश्त न पके। कैलाश ऐसा कैसे हो सकता है। तुम्हें गोश्त ही खाने को न मिले।

हमारी शादी तय हो गई तो उन्हें पूछा गया। वे नाराज़ हो गए फिर शादी में आए ही नहीं। शादी से पहले कभी सामने से आ रहे होते तो दूसरी पटरी पर चले जाते। उन्होंने माँ को कहा था, 'इसे मत पढ़ाइए' पर माँ ने कहा, 'ये जहाँ तक भी पढ़ना चाहेगा हम इसे पढ़ाएँगे'।

ये बताते हुए कमलेश्वर जी ख़ूब हँसे जैसे अतीत लम्हों को पकड़ने का यत्न कर रहे हों। वैसे भी वो ख़ूब ख़ुशमिज़ाज हैं। अगर कोई बात उन्हें अच्छी न लगे तो चेहरे पर उसकी परछाईं भी नहीं आने देते। अदना से अदना व्यक्ति हो या कोई राजा, सबसे उनका व्यवहार एक-सा रहता है।

कमलेश्वर जी ने अपनी चिर-परिचित सिगरेट से राख झाड़ी फिर कहने लगे, ''हमारे सौतेले भाई अंग्रेज़परस्त थे। हम सब आज़ादी के दीवाने। उन्हें हम दद्दा कहते थे। दद्दा ने एक बहुत अच्छी परंपरा घर में डाली थी। होली के दिन घर में मीट, शराब सब चलती थी। सबसे बड़े को पूरा गिलास भर के शराब मिलती थी। फिर छोटों के लिए उसकी मिकदार कम होती जाती थी। हम सबसे छोटे थे, जब हमारी बारी आती तो चम्मच

भर दारू मिलती। इसके बाद हमें सबके पैर छूने पड़ते थे। पैर छूने के बाद ही वो चम्मच भर हलक से नीचे उतार सकते थे। अपनी भाभी के सामने आज भी हम लोग पैर छूकर पीते हैं। बेटियों को नमस्ते करते हैं।

दूसरे महायुद्ध के समय कानपुर की बड़ी छावनी में यूरोपियन इंस्टीट्यूट था। क्लब था। वहाँ सब अंग्रेज़ आते थे, इनमें से अधिकतर फ़ौजी अफ़सर होते। दद्दा इस क्लब में मैनेजर थे। हम पढ़ रहे थे। कभी वहाँ जाते तो दद्दा बढ़िया नाश्ता बनवाकर खिलाते। दद्दा सावन में सभी को कपड़े देते थे। महायुद्ध में चिंता के साथ सभी का ध्यान करते थे। मेरी शादी तक मैनेजर थे। घर में ख़ूब नौकर-चाकर रहते। उनके छह बच्चे थे।

मेरी शादी का क़िस्सा यूँ हुआ कि माँ और मेरी भाभी गायत्री को देखने फतहगढ़ गईं। देखने जाने का मतलब उन दिनों होता था। उन दिनों लड़की का अनादर नहीं होता था। माँ और भाभी ने इनको देखा तो चेन पहना दी, साड़ी दे दी, बस लड़की अपनी हो गई।''

गायत्री भाभी वहीं बैठी थीं। कहने लगीं, ''ये पट्टी पूजन के लिए आए थे। हमारे घर के लोगों ने इन्हें वहीं देखा था।'' मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि पट्टी पूजने का अर्थ है बच्चे को अक्षरबोध करवाना। ''हमारी बुआ के पोते का पट्टी पूजन था। इसमें पंडित, मौलवी दोनों आते थे। तब ओम और अलिफ़ बच्चे को सिखाया जाता था। इनकी कहानी 'राजा निरबंसिया' तब कहानी पत्रिका में छपी थी हमने वहीं इनका फ़ोटो देखा था।''

कमलेश्वर जी हँसने लगे। शायद सोच रहे होंगे कि देखने पर ही कौन-सा मना कर देती। फिर वे कहने लगे, ''हमारी बारात मैनपुरी से चली। दो घंटे का रास्ता था। हमारी बारात में एक आदमी की आँख ख़राब थी, कुछ उमररसीदा भी थे। यारों को चुहल सूझी। हल्दी से उनके हाथ पीले करके उन्हें दूल्हा बना दिया गया। गायत्री का घर बहुत बड़ा था। इनके पिता नामी वकील थे। क़ायदे से इनके पिता और बड़े भाई जनवासे में नहीं आते हैं। इनके ताऊ जी के पुत्र आए। उन्होंने बूढ़ा दूल्हा देखा तो भड़क गए। ये दूल्हा है क्या? ये तो कमलेश्वर नहीं है!'' कमलेश्वर जी ने ये कहकर ठहाका लगाया। कहने लगे, ''हम पेड़ के नीचे खड़े होकर सिगरेट पी रहे थे। शाम को छिड़काव हो रहा था। बिजलियाँ चमक रही थीं, पर इस घटना के बाद सब बंद हो गया। इनके घर में मीटिंग हुई। घर तो जनवासे के सामने ही था। ये बुढ़ऊ नौशा मियाँ कौन हैं? हमारे ससुर परंपरा तोड़कर जनवासे में आए, आते ही पूछा, 'कमलेश्वर कहाँ है?' हमारे भैय्या ने कहा, 'वो क्या पेड़ के पास खड़े हैं।' मैंने महावर नहीं लगाई थी। नौशा लगता ही न था। वैसे भी मैं सिचुएशन का मज़ा ले रहा था। मुझे देखने के बाद बिजलियाँ जग उठीं, छिड़काव होना शुरू हो गया।

शादी तब सामाजिक त्योहार जैसी होती थी। मैं उन दिनों इलाहाबाद में भावी पादरियों को हिंदी पढ़ाता था। कुछ दिन भारती जी ने भी वहाँ पढ़ाया था। शादी के तीन दिन बाद मैं इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ था। *कहानी* पत्रिका निकल रही थी। इसे प्रेमचंद के बेटे श्रीपद निकालते थे। मैं इसमें उप-संपादक जैसा था। इस पत्रिका से जुड़े होने से कई लेखकों के लेखन से परिचय होता। कौन क्या लिख रहा है, पढ़ने की ललक होती। वैसे भी उस उम्र में सब कुछ कर लेने की हड़बड़ी होती है। और मैं हमेशा कुछ-न-कुछ करता ही रहता था। रेडियो में भी प्रोग्राम करता था। जैसे पत्रों के उत्तर देने, छोटे-मोटे लेख लिखने आदि। उन दिनों रेडियो का माहौल बहुत बढ़िया था, एकदम साहित्यिक।

...लोगों से मिलना होता, कई कुछ सीखने को ...ता, थोड़ी-बहुत कमाई भी हो जाती। तब ...लाल मुहम्मद' बीड़ी पीता था। ये 1958 की ...है। रेडियो के डायरेक्टर जनरल श्री जे.सी. ...र थे। वे इलाहाबाद आए थे। वहाँ रेडियो के ...डायरेक्टर गिरिजा कुमार माथुर थे। उन्होंने ...रेक्टर जनरल को कहा, 'कमलेश्वर जैसा ...िया बोलने वाला इलाहाबाद में दूसरा नहीं ...' माथुर साहब ने मुझे दिल्ली में आने को ...हा। उन्होंने कहा, 'हम दिल्ली में दूरदर्शन ...कर रहे हैं आप दिल्ली आ जाइए?' मैंने ...हा, 'किराया-विराया तो मिलेगा?' उन्होंने मेरी ...ल्ली ट्रांसफ़र कर दी। ये अक्तूबर 1959 की ...त है। किराए का इंतज़ाम हो गया। हम दिल्ली ...आ गए। दिल्ली में आए तो पैसों की कमी होने ...गी। घरों के किराए बहुत ज़्यादा थे। दूरदर्शन ...क आना-जाना कठिन था। टीवी रात दस बजे ...त्म होता तब कॅनाट प्लेस में उल्लू बोल रहे ...ते, पर बसें चल रही होतीं। हम बस पर घर ...आ जाते।

उन्हीं दिनों मैनपुरी में मेरी पहली बेटी पैदा ...हुई। पर रही नहीं। अपनी पहली संतान का मुँह ...नहीं देख पाया, ये दुख आज तक सालता है। ...नी बेटी मानू 1962 में पैदा हुई। उस वक़्त भी ...मैं दिल्ली में था, पर दूरदर्शन छोड़ चुका था। ...दूरदर्शन छोड़ने की कहानी भी बड़ी दिलचस्प ...है। हुआ यों कि मलिका एलिज़ाबेथ दिल्ली आ ...रही थीं। इंडिया गेट पर जो छतरी आज तक ...खाली है उसमें जॉर्ज पंचम की मूर्ति थी। ग़ुस्साए ...लोगों ने उसकी नाक तोड़ दी और कालतोर मल ...दिया। मैंने उस पर कहानी लिखी 'जॉर्ज पंचम ...की नाक'। अब हालत ये कि मलिका आ रही ...है और नाक कट गई है। सो जैसे-तैसे नाक ...जोड़ दी गई और कालतोर पोंछ दिया गया, पर ...कहानी तो वैसी ही थी। सरकार ने आपत्ति की ...और मैंने दूरदर्शन छोड़ दिया।

उन दिनों केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्षा दुर्गाबाई देशमुख थीं। वे *समाज कल्याण* पत्रिका निकालती थीं। दुर्गाबाई ने कहा, 'पाँच साल का बॉण्ड भरना होगा ताकि तुम भागो नहीं।' ये बात दूरदर्शन में भी डायरेक्टर जनरल ने कही थी। मेरे भाग जाने की ख्याति ज़ोर पकड़ रही थी। उस समय *नई कहानियाँ* पत्रिका भी निकलती थी। उसी में मेरी जॉर्ज पंचम की नाक वाली कहानी भी छपी थी। कहानी का नाम था 'नाक कहाँ से लाओगे'। कहानीकार का पता दूरदर्शन को था, सो मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। वो दिन बड़े कठिन थे। हम करोलबाग में नाईवालान में रहते थे। मानू को लेकर गायत्री आ गई थीं। मानू को सूखा हो गया था। हमने डॉ. रामकिशोर द्विवेदी को दिखाया। वो लेखक भी थे, इसलिए उन पर विश्वास अधिक था। उन्होंने मानू को बड़े प्रेम से ठीक कर दिया। उन दिनों मानू फ़र्श पर घिसटती रहती थी। आर्थिक तौर पर काफ़ी मंदी चल रही थी। तीस में से बीस दिन खिचड़ी बनती थी। बाज़ार से दही आ जाता, दही अचार के साथ खिचड़ी का अपना ही मज़ा है। एक बार मैं बाज़ार से दही लाया और ज़मीन पर रख दिया। मानू वहीं खेल रही थी उसने सारा मुँह दही से भर लिया जैसे कृष्ण माखन से मुँह भर लेते थे।

फिर मोहन राकेश दिल्ली आ गए। उनकी माँ भी साथ थीं। उन दिनों पंजाबियों को पंजाबी भी किराएदार न रखते थे। अम्मा हमारे साथ ही माँ बनकर रहीं। मानू को उन्होंने बड़े लाड़ से पाला। हम पाँच-छह बरस इकट्ठे रहे। उन दिनों माहौल बड़ा आत्मीय होता था जिसे माँ कहते, उसे माँ समझते भी थे।

राकेश की निजी ज़िंदगी बदहाल थी। उनकी दोनों पत्नियों से कई कारणों से पटी न थी। तभी उनकी ज़िंदगी में अनिता आईं। राकेश का बड़ा नाम था। अनिता चमत्कृत थीं। वह राकेश से

ग्वालियर में मिली थीं। एक शाम क्या देखा, अनिता व उनका परिवार एक पूरा ट्रक सामान से भरा हुआ! राकेश के मकान पर आ पहुँचे। हम हैरान! ये क्या हो रहा है? ख़ैर राकेश ने उन्हें एक मकान किराए पर ले दिया और वो भी दिल्ली में जम गए। मेरी भूमिका इस प्रकरण में सिर्फ़ इतनी थी कि जब राकेश अनिता औलक के साथ बंबई चले जाना चाहते थे तब मैं अनिता को राकेश के पास लाया और फिर हवाई अड्डे तक पहुँचाने गया। अब दोस्ती में ये सब तो करना ही पड़ता है।'' यह कहकर कमलेश्वर हँसे। उस हँसी में कितना ही कुछ छिपा हुआ था।

गायत्री भाभी वहीं बैठी थीं। कहने लगीं, ''इलाहाबाद में ये कितने ही नाटक करते थे। एक्टिंग का शौक भी रहा। उन दिनों कुर्सियाँ, परदे, दरियाँ, चद्दरें—सब किराए पर आते थे। ये भी एक नाटक ही था।'' कमलेश्वर जी हँसकर कहने लगे, ''भई जब हम अनिता को राकेश के पास लेकर जा रहे थे तो हमने सोचा, अगर राकेश बताए गए स्थान पर न हुए तो फिर अनिता से कहीं मुझे ही न शादी करनी पड़े।'' इस पर हम तीनों मिलकर हँसे।

हँसते-हँसते ही कमलेश्वर जी ने कहा, ''इस तरह के नाटक ज़िंदगी में किए, जो बाद में फ़िल्में लिखने के काम आए। जब मैं बंबई में सारिका का संपादक होकर चला गया तब अच्छे दिन ज़िंदगी में आ गए। भारती जी *धर्मयुग* के संपादक थे। वे रोज़ मेरे घर आते। वहाँ से हम इकट्ठे कार्यालय जाते थे। मेरी अम्मा के लिए रोज़ पान लाना और बतियाना, उनका रोज़ का नियम था। अम्मा भी उन्हें बहुत चाहती थीं।'' मैंने कहा, मैं अप्रैल में मुंबई गई थी तो पुष्पा भाभी ने मुझे अम्मा के हाथ का नींबू का अचार खिलाकर कहा था, ''पद्मा, भारती जी साल में दो-तीन बार ये अचार खाकर कहते थे, ये अब अमृत हो गया है। बाप रे बाप तीस साल पुराना अचार।'' गायत्री भाभी कहने लगी, ''हमारे यहाँ भी उनके हाथ का अचार रखा है, ये कभी-कभी खाते हैं।''

कमलेश्वर जी ने अपनी उँगलियों में फँसे सिगरेट की राख झाड़ी और बोले, ''बंबई में ही मैंने बासु चटर्जी के लिए मन्नू भंडारी की कहानी पर 'रजनीगंधा' फ़िल्म लिखी। फिर बासु दा के लिए 'सारा आकाश' लिखी। उन दिनों मैं मुंबई दूरदर्शन पर 'परिक्रमा' कार्यक्रम भी करता था। लोग ख़ुद प्यार से देखते थे। उस प्रोग्राम के तो कई क़िस्से हैं। वह श्रीमती गांधी का युग था। एक दिन शक्ति सामंत का फ़ोन आया। उन्होंने पूछा, 'क्या आप मेरे घर खाना खाने आएँगे?' मैंने पूछा, 'अवसर क्या है?' उन्होंने कहा, 'एक कवि आए थे। बोले, मैं इंदिरा गांधी का सूचना अधिकारी हूँ, कविता लिखता हूँ। मैंने उन्हें खाने पर बुलाया है। मैं चाहता हूँ आप भी आएँ।'

पद्मा, उन दिनों 'परिक्रमा' की वजह से मुझे हर कोई जानता था। एक बार दादा मुनि ने कहा, 'लोग हमें देखते हैं हम आपको देखते हैं।' शक्ति सामंत भी वहीं से जानते थे। मैंने सोचा चलना चाहिए। कवि महोदय को जब पता चला कि मैं भी आ रहा हूँ, तब डर के मारे उनकी नीयत बदल गई। वे नहीं आए। असल में वे शक्ति दा से दस हज़ार रुपए भी माँग रहे थे कि पैसे ख़त्म हो गए हैं। ख़ैर, मैं गया। शक्ति दा ने मुझे दारू पिलाई और खाना खिलाया। 'परिक्रमा' वे भी रोज़ देखते थे। जब मैं चलते-चलते बूट के फीते बाँध रहा था तब उन्होंने कहा, 'कमलेश्वर जी, आप मेरी फ़िल्म लिखेंगे।' मैंने कहा, 'ज़रूर लिखूँगा।' इस तरह 'अमानुष' फ़िल्म मैंने लिखी। ये पहली फ़िल्म थी जिसे हिंदी से बंगला में अनूदित या डब किया गया था। इस फ़िल्म की शूटिंग में हम दार्जीलिंग गए, सुंदरवन गए। वहाँ तिस्ता नदी थी, मैं गायत्री और मानू को भी संग ले गया था। शक्ति दा घर

खाना भेजते थे। हम सब मिलकर खाते थे। अलौकिक जैसा आनंद था।

मुझे याद है अँधेरी में शूटिंग चल रही थी। शर्मिला ने शक्ति दा से कहा, 'ये शब्द बदल दूँ।' शक्ति दा ने कहा, 'नहीं! शब्द सिर्फ़ कमलेश्वर बदल सकते हैं। वे कहें तो बदल दो।' मैं एक बार मुंबई अस्पताल में बीमार था। शक्ति दा देखने आए। जब गए तो तकिए के नीचे चालीस हजार रुपए रख गए। मैंने फ़ोन करके उन्हें बताया तो कहने लगे, 'ये आपका बोनस है। फ़िल्म बहुत चली है।' वे बड़ा आदर करते थे। फिर जे. ओमप्रकाश की फ़िल्म 'आंधी' ख़ूब चल गई। चोपड़ा की 'बर्निंग ट्रेन' भी बड़ी तेज़ दौड़ी। उनके यहाँ एक स्टोरी डिपार्टमेंट हुआ करता था। उसमें सीन इधर-से-उधर करना मुख्य काम था। मुझे इससे बड़ी उलझन होती थी। एक दिन मैं गया। मैंने चोपड़ा साहब से कहा, 'एक सीन सुनाना चाहता हूँ।' लेखकों ने सोचा कहीं से तगड़ी चीज़ मार कर लाया है। चोपड़ा समझदार थे अलग ले गए। मैंने सीन सुनाना शुरू किया।

जंगल है, जंगल में प्रकृति की आवाज़ें आ रही हैं। कहीं सन से हवा निकल गई। कोई पक्षी बोला, कहीं अबशार का निरंतर स्वर। उसी जगह एक कुटिया थी। कुटिया का दरवाज़ा बहुत धीरे-से खुला। बीथोवन निकल के आया। सारी क़ुदरत ख़ामोश हो गई। एकदम सन्नाटा। चोपड़ा बड़े मुतासिर हुए। उन्होंने अपना सारा कहानी डिपार्टमेंट भगा दिया।''

कमलेश्वर जी एकदम गंभीर हो गए। इस कमरे में सिर्फ़ उनकी सिगरेट का धुआँ तैरता रहता है पर राख झाड़ना वे नहीं भूलते। उन्हें आसपास की हर चीज़ का अहसास होता है, उनकी सोच की राह में कुछ नहीं आता।

''पद्मा, काला धन फ़िल्मों की बरबादी का कारण बना। उसी से सब ख़ुराफ़ातें निकलीं। दारू, औरत, रातों की रंगीन पार्टियाँ, होटलों की महफ़िलें, फिर वहाँ से जो बातें निकलती हैं उनमें अगरबत्ती की ख़ुशबू नहीं होती, शराब की, नंगई की, ख़ुराफ़ातों की बदबू होती है। वैसे फ़िल्मों से जुड़े लोगों की बातें करना एक फ़ैशन भी है।''

मुझे याद आया। कमलेश्वर जी की भाभी आई हुई थीं। मैं घर गई तो उन्हें देखा उनकी बेटियाँ भी थीं। गायत्री भाभी एकदम बहू की तरह उनकी सेवा कर रही थीं। मैंने बड़ी भाभी से बात करते-करते पूछा था, ''बचपन में कमलेश्वर जी कैसे थे।'' उन्होंने गायत्री भाभी को देखकर कहा, ''ये तो बड़े मेहनती, बहुत अच्छे आज्ञाकारी देवर हैं, बाक़ी तुम दुल्हन से पूछो, बंबई में ये क्या करता रहा हम नहीं जानतीं।'' कमलेश्वर जी की भतीजियाँ हँसते-हँसते लोटपोट हो गईं। पर बड़ी भाभी वैसे ही निर्विकार रहीं। पुष्पा भारती कमलेश्वर जी के कॉलेज में ही पढ़ती थीं। उन्होंने मुझे बताया था, जब कमलेश्वर जी रात को देर से घर आते थे तब उनकी भाभी उनके आने तक खाने का इंतज़ार करती थीं। उन्हें कहा हुआ था कि पिछले दरवाज़े से आना। अगले से आए तो तुम्हारे भैया ख़ूब डाँटेंगे। कृतज्ञ देवर आज भी भाभी के सामने उसी तरह सर झुकाए हैं। आज उनकी भाभी गर्व से भरी हैं। उनके देवर जैसी ख्याति कितने लोगों की है। जैसी सेवा कमलेश्वर ज़ी व गायत्री भाभी अपनी भाभी की करती हैं वैसी करने वाले आज कितने देवर हिंदुस्तान में हैं। भाभी को मिलने अकसर ही कमलेश्वर घर जाते हैं। भाभी बीमार रहती हैं। एक बार उन्होंने कहा था, ''शाम को कभी बाहर जाने की इच्छा होती है।'' तो कमलेश्वर जी ने गाड़ी ख़रीदकर भिजवा दी। और भी कई बातें हैं जिन्हें बताकर मैं उन्हें छोटा नहीं करना चाहती पर सभी भाभियों को ऐसे देवर की कामना हो सकती है।

बंबई में कमलेश्वर जी वार्डन रोड पर रहते थे। बंबई के दिल का एक हिस्सा पर शायद भीड़ भरे इलाक़े उन्हें अच्छे नहीं लगते। वहाँ उन्होंने बरसोवा के जंगलों में फ़्लैट लिया था। दिल्ली आने पर भी उन्होंने कई घर बदले और अब सूरजकुंड की बेहद शांत, सुंदर और खुली चार्म्सवुड बस्ती में रहते हैं। वहाँ गायत्री भाभी माथे पर अठनिया टीका लगाए मुस्कुराती हुई द्वार खोलती हैं। जब नई-नई शादी हुई थी तो कमलेश्वर जी ने अपने एक पत्र में अपनी दुल्हन पत्नी को लिखा था :

''तुम पर मुझे बड़ा विश्वास है। मेरी इस ऊटपटाँग ज़िंदगी से घबराना नहीं। धीरज रखना, शायद तुम्हारे धीरज के सहारे ही मैं इस जीवन में कुछ कर जाऊँ। कुछ ऐसा हो कि आनेवाला ज़माना मुझे अपना कहकर याद कर सके।''

कमलेश्वर जी की कहानी 'राजा निरबंसिया' गायत्री भाभी ने शादी से पहले ही पढ़ ली थी। उसमें उन्होंने कमलेश्वर जी की तसवीर भी देखी थी। 'राजा निरबंसिया' से *कितने पाकिस्तान* तक का लेखन का सफ़र अभी भी जारी है। तसवीर ख़ूब से ख़ूबतर होती जा रही है। गायत्री भाभी भी इन सब बदलते मौसमों, गाढ़े होते रंगों और ख्याति के आसमानों पर नज़र रखे हुए डटी हुई हैं। कमलेश्वर जी की तरफ़ से कोई कमी नहीं रही होगी, पर लेखक की पत्नी होना कोई मामूली बात थोड़े ही है। कभी लेखक अपनी कहानी की छत पर खड़ा है, कभी उपन्यास के प्रांगण में है। कभी सिचुएशन के कूचे में। वहाँ तो पत्नी का दख़ल नहीं होता। उसका दख़ल अपनी गृहस्थी के हर कोने में है, जहाँ पति भले ही झोंके, पर लेखक का गुज़र वहाँ से नहीं होता। इन उतार-चढ़ावों को पार करना ही लेखक की पत्नी होना है।

मेरे ख़याल में मुझे लेखिकाओं के पतियों के मन में भी झाँकना चाहिए। जब उर्दू की ख्यातिप्राप्त लेखिका इस्मत चुग़ताई से शाहिद साहब शादी करना चाहते थे तब इस्मत आपा ने उनसे कहा था या समझाया था (जैसा वो कहती थीं) कि मैं बड़े गड़बड़ क़िस्म की औरत हूँ, शादी-वादी रहने दो। पर शाहिद भाई ने कहा, ''बच्चे होंगे तब ?'' इस्मत आपा ने कहा, ''हाँ भई वो तो हो जाएँगे, उसमें शादी करना ज़रूरी है क्या ?'' पर शाहिद भाई नहीं माने, शादी हो गई। ये बात बताते वक़्त इस्मत आपा बड़ी मासूमियत से मुस्कुराते हुए कहतीं, ''भई मैंने तो मना किया था तब शाहिद नहीं माने, अब फड़फड़ा रहे हैं।''

इस बात पर हम ख़ूब कहकहा लगाते थे, पर बात थी तो रोने की ही।

इन दिनों जब मैं चार्मज़वुड में गई तो इत्तिफ़ाक़ से मानू भी अपने पति व बच्चों के संग आई हुई थी। बंबई में मैंने मानू को छोटी बच्ची के रूप में ही देखा है। कभी स्कूल की ड्रेस, कभी फ्रॉक, साड़ी पहने भी वह मुझे बच्ची ही लगी। उसकी बड़ी प्यारी-सी बिटिया और बेटे ने यहीं अभी कुछ साल पहले मुझे संस्कृत के श्लोक बड़े शुद्ध उच्चारण में सुनाए थे। लड़के तो फूल हैं, महक तो बेटियाँ ही होती हैं। और भई बेटियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। मुझे लगता है बेटियाँ रहती तो माँ के दिल में हैं पर पोस्टल एड्रैस बाप को देती हैं। दोनों ख़ुश। मानू भी अपने पापा की दीवानी है। मैंने कहा, ''मानू पापा कैसे-कैसे याद आते हैं।''

मानू कहने लगी, ''जब मैं छोटी थी, पापा शाम ही को घर आते थे। घर आते तो मैं कहती, 'पापा कोकाकोला।' तब पापा तुरंत कोकाकोला पिलाने ले जाते। ये दिल्ली की बात है। आती बार मैं कहती, पापा स्कूटर पर घर चलो। तब पापा गोदी में उठाकर घर आते। एक और बात ख़ूब याद आती है, पापा का पता नहीं कौन-सा उपन्यास था मैंने उसका पहला पन्ना फाड़

...पापा से मार पड़ी तो मैं ख़ूब रोई। पापा ...साथ में ही रोने लगे। फिर बाद में बाज़ार ...गए और गुड़िया दिलवाई। तब से मुझे पापा ...डर लगने लगा। सिर्फ़ उस वक़्त बात करती ...वो सिगरेट पी रहे होते। तब वह ख़ूब सहज ...ते। पापा ने मुझे बहुत कम पढ़ाया। जब मैं ...ग्रेजुएशन कर रही थी, पापा दिल्ली दूरदर्शन में ...डिप्टी डायरेक्टर जनरल थे। हम मुंबई में थे। ...की पढ़ाई चल रही थी। मेरे इम्तहान पास आए ...ने *मधुशाला* पढ़नी थी। मैंने दिल्ली फ़ोन किया ...तो पापा आ गए। रविवार के दिन पूरे चार घंटा ...लगाकर *मधुशाला* पढ़ा दी। पापा अगर कभी-कभी जल्द न आ पाते तो हमेशा फ़ोन करते, ...चिट्ठियाँ लिखते। चिट्ठी में पूरा ब्योरा होता ...इसलिए उनके दूर रहने का अहसास ही नहीं होता था। हमेशा लगता हमारे साथ ही हैं। मेरी शादी को 17 बरस हो गए हैं, बिना नागा रोज़ रात को दस बजे के बाद मुझे पापा-मम्मी का फ़ोन आता है। ये क्रम कभी नहीं टूटा। उस समय घंटी बजते ही मेरी सास कह देती हैं, 'तुम्हारा ही फ़ोन है।'

मैं अपनी सास को शुरू से ही आंटी कहती हूँ। इसलिए ये कभी नहीं लगा कि मैं दूसरे घर में आ गई हूँ।''

हिंदी में ग़ज़ल लाने वालों में दुष्यंत भी थे।

कहाँ तो तय था चरागां हर एक घर के लिए
कहाँ चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।

इतनी सुंदर ग़ज़लें लिखने वाले दुष्यंत अमर हैं। दुष्यंत कमलेश्वर जी के क़रीबी दोस्त थे। उन्हीं की बहू हैं हमारी मानू जी।

मानू कहने लगी, ''मैं बहुत छोटी थी जब दुष्यंत अंकल हमारे घर आए थे। आते ही मुझे और मम्मी को अपने घर भोपाल ले गए। मम्मी ने कहा, 'इसका जूता तो ले लेने दीजिए।' उन्होंने कहा, 'नया जूता भोपाल में ही दिलवा देंगे।' हम उनके संग चले गए तो उन्होंने ख़ुश होकर कहा था, 'अब वह भी पीछे-पीछे आएगा।'

हम लोगों की रूटीन थी, पापा कितने भी व्यस्त क्यों न हों रात का खाना हम सब इकट्ठे खाते थे। इसके लिए मैं और मम्मी कभी-कभी दो-ढाई बजे तक भी इंतज़ार करते थे। वैसे भी पापा का मूड होता तभी खाना लगता था। खाने पर पापा पूरे दिन की बात बताते। मैं और मम्मी रात को मेरी पढ़ाई के बाद सो जाते, फिर पापा के आने पर खाना खाते थे। मैं आधी जगी आधी सोयी होती थी। उन दिनों पापा *सारिका* तो देखते ही थे, 'परिक्रमा' भी हो रही थी, फ़िल्में भी लिख रहे थे। कॉलेज में लड़कियाँ पापा की बात करतीं तो रोमांच हो आता। कमलेश्वर तो सिर्फ़ मेरे पापा हैं। मैंने आज तक अपना नाम ममता कमलेश्वर ही रखा हुआ है।

एक बार मेरे कॉलेज सेंट जेवियर में डिस्को था। मेरी सहेलियाँ बोलीं, 'तुम ज़रूर आना।' मैंने पापा को कहा, 'पापा मेरा कोई ब्वॉय फ्रेंड नहीं है। मैं डिस्को में कैसे जाऊँ?' पापा ने कहा, 'मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।' उस क्षण जो ख़ुशी मुझे हुई वो बता नहीं सकती। मेरी सब सहेलियाँ भी ख़ुश। उनकी माँएँ भी ख़ुश कि कमलेश्वर जी साथ हैं। सुबह पाँच बजे तक हंगामा रहा। फिर पापा मेरी सहेलियों को उनके घरों में छोड़कर आए।

पापा मेरे दोस्त भी हैं। मेरे पापा भी।'' मैं मन-ही-मन सोच रही थी, मेरी भी एक ही बेटी है। और अपने डैडी से घंटों बात करती रहती है। सच तो ये है कि औरत ज़िंदगी में एक ही सौत बर्दाश्त कर सकती है और वह उसकी बेटी है। मैंने प्यार से मानू को देखा, वह छोटी-सी लड़की अब दो बच्चों की माँ हो गई है। ये गुण बेटियों में ही होता है। वह कभी बेटी है, कभी मित्र, कभी माँ और कभी गुरु। और ज़्यादा तो गुरु ही।

कमलेश्वर

इतने अच्छे दिन...

सचमुच इतने अच्छे दिन तो कभी नहीं आए थे।

पास में अगर हड्डी-गोदाम न होता, तो बहुत मुश्किल होती, सभी कुछ तो अच्छा था। तीन-चार गाँव पास लगे हुए। सबके बीच में सूखे चरागाह। इतने सारे रिश्तेदारों के घर। तीन कोस पर बहती नदी। ऊँचे-नीचे टीलों वाला बियाबान। पास से जाती बस्ती की सड़क। ख़ास सड़क पर रात में ट्रकों के रुकने का अड्डा। उस अड्डे से मील-भर बाएँ हड्डी-गोदाम। उससे भी तीन मील भीतर रेलगाड़ी का स्टेशन।

चारों गाँवों में अगर इतने रिश्तेदार, ढोर-डंगर और जानवर न होते तो भी काम नहीं चलता और बीस मील दूर शहर में चीनी मिलें न होतीं तो भी दिक़्क़त होती। सड़क ऊँचे-नीचे टीले वाले बियाबान से न गुज़रती, तब भी ठीक नहीं था।

घर में छोटी बहन कमली न होती, तो कैसे काम चलता! उस बियाबान से ट्रक न गुज़रते होते, तो भी दिक़्क़त होती। और बंता सिंह ट्रक-ड्राइवर अगर रात में कमली को उठा ले जाता तो उसकी ज़िंदगी ही बरबाद हो जाती।

सब कुछ अच्छा ही हुआ था।

सबसे अच्छी बात तो यह हुई कि इलाक़े में लगातार तीसरे साल भी अकाल पड़ गया। अकाल न पड़े तो घर-गाँव का आदमी बाहर निकलता ही नहीं। जिनके अपने खेत हैं, वे तो बाहर हो आते हैं। जिनके खेत नहीं हैं उनका तो कहीं कुछ भी नहीं है। खेतवालों के खेत पर मजूरी करना और वहीं गाँव में पड़े-पड़े मर जाना। कहाँ कुछ और होता है!

कमली के लिए तो और भी अच्छा हुआ। वह कब कहाँ निकल पाती? बाला के लिए तो फिर भी ऐसा है कि एकाध गाँव घूम आंए नदी तक हो आए। दर्जा पाँच तक पढ़ने चला जाए।

नदी तक बिना कहे-सुने बाला हो आए तो ठीक था। कह दिया तो मुश्किल होती थी। दादी उसे हाँकने लगती थी, "नदी पर मत जाया कर। जाए भी तो नहाना कभी मत।" दादी बोलती थी तो पैर की उँगली में पड़े काँसे के छल्ले को घुमाती रहती

कमलेश्वर (1932-2007)
रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती गायत्री कमलेश्वर, 5/116, ईरोज़ गार्डन, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली 110044

...शायद वह उसके गड़ता था। दादा भी यही ...ता था।

...वे दोनों मानते ही नहीं थे कि वह नदी तक ...गा और नहाएगा नहीं। और बाला को नदी ...उतरते डर लगता था। ऊपर से दादी झूठ ...ती थी, "कहा न, पानी का रंग नहीं होता।"

...बाला हमेशा कहता था, "दादी, मेरी बात ...। मैं देख के आया हूँ। पानी का रंग लाल ...-ख़ून की तरह लाल!"

...दादा ठठाकर हँस पड़ते थे, "कैसी बातें करता ...है...पानी का कोई रंग नहीं होता। तू नदी पर ...जाया कर। जाए भी तो नहाना कभी मत।"

...दादा-दादी की ये बातें असल में अब बाला ...को याद आती हैं। हँसी भी आती है। उनके पास ...ये बातें ही नहीं थीं। अपन के पास तो बहुत ...कुछ है। बहुत कुछ क्या, सभी कुछ है।

...ठंड साली कुछ ज़्यादा ही थी। जिधर से कथरी ...हट जाती, उधर से हवा अर्जुन के तीर की तरह ...लगती। कमली खिलखिला रही थी। उसे लगा— ...चलो, सब ठीक है। कमली ख़ुद तो नहीं पीती, ...पर ड्राइवरों की शीशी में से दो-चार घूँट बचा के ...रख देती है उसके लिए—और क्या चाहिए?

...साला क्लीनर ज़्यादा ही खुदर-बुदर मचाए ...रहा था। न सोता था, न सोने देता था। बार-बार ...बीड़ी सुलगाता है। खाँसता है। कथरी खींचता ...है! अबे, इतना जाड़ा लग रहा है तो मोबिल ...आयल डाल के अलाव जला ले! नींद तोड़ दी ...साले ने! कैसी मज़े की नींद आती है यहाँ इस ...सराय में! कमली यहाँ है तो सब ट्रक वाले ...नदियाँ पार करते सीधे यहीं आते हैं।

...ट्रक-सराय के मालिक ने भी पूरा इंतज़ाम ...कर रखा है। बड़ा-सा हाता घेरकर ट्रकों की ...जगह बना ली है। बाहर भी दस-बारह ट्रकों की ...जगह है। दिन में खाने की मेज़ें और बेंचें पड़ी ...रहती हैं, रात को खटिया और खटियों पर पटिया। ...जब-भी ड्राइवर और क्लीनर दिन में भी आराम कर लेते हैं। पूरी रात गुज़ारने के लिए तो पूरा इंतज़ाम है ही।

हर तरह का खाना। मुर्ग़ा-शुर्ग़ा खाना हो तो सामने दड़बे में से पसंद करो। अपने सामने बनवाओ, पकवाओ और खाओ। बीड़ी-सिगरेट की कमी नहीं। ग्रामोफ़ोन भी बजता ही है।

दाँत खोदते-खोदते तसवीरें देखना चाहो तो पचासों लगी हैं। भगवान की तसवीरें अच्छी लगे तो उन्हें देखो। गुरुबाणी सुननी हो तो रिकॉर्ड सुनो। औरतों की तसवीर देखनी हों तो वे भी लगी हैं। लुंगी-कच्छा धोना हो तो पटिया बिछी है, ट्यूबवेल लगा है। सुखाने के लिए तार बँधा है। दिशा-मैदान के लिए मूखे खेत पड़े हैं। अबे, तू क्यों उठ के बैठ गया? सवेरा होने में बहुत देर है। जाड़ा लगता है? अपन को बता! हेऽऽऽ साला बीड़ी सुलगा के खींचे जा रहा है। बीड़ी के जलते फूल में आँखें कैसी चमकती हैं कुत्तों की तरह-लखन क्लीनर की।

कुत्ता भी साला बड़ा भला जानवर है। अकाल पड़ा तो भी नहीं भागे। वहीं गाँव के बियाबान में लाशों को चींथते-चींथते मर गए। गिद्ध साला बहुत तेज़ होता है। चार-पाँच कुत्ते न लगें तो एक गिद्ध को लाश पर से हटाना मुश्किल होता है।

"तू यहाँ आया कैसे?" लखन ने पूछा।

"तू बीड़ी पी ले, अच्छी तरह खाँस ले। बताता हूँ।" बाला बोला था।

"हाँ, बता!"

"तो सुन! तुझे नींद क्यों नहीं आ रही है? अच्छा-अच्छा, सुन! ये कमली मेरी बहन है न...एक शाम..."

"सच्ची?" और लखन कमली की बात पर ही अटक गया।

"अबे और क्या?"

"कमली लड़की अच्छी है। समझदार है। ड्राइवर कहीं और रुकता है तो भी उसी की बात करता है। एक रात ट्रक बिगड़ा तो पैदल लौटने को हुआ। तब हमीं ने ड्राइवर को समझाया,

'अब दस किलोमीटर है। कोई उधर जाता ट्रक ले लो, सवेरे लौट आना। मैं हूँ।' फिर लदे हुए सामान की ज़िम्मेदारी भी थी। सो वह नहीं गया।''

''अच्छा! तो सुन—ये साला बोरा बहुत महक रहा है। पहले इसे हटा दें।''

''क्या है इसमें?'' लखन क्लीनर ने पूछा था।

''हैं! साली हड्डियाँ हैं!''

लखन क्लीनर समझा नहीं। बीड़ी पीकर खाँसने लगा। सर्दी में उठने की हिम्मत नहीं पड़ी तो बोरे से आती बदबू उसने सह ली। क्लीनर बीड़ी पीता है तो बदबू दब जाती है। बीड़ी फेंककर क्लीनर ऊँघने लगा। ''अपन को क्या जरूरत पड़ी है किस्सा सुनाने की? सोओ साले...!''

सुबह उठते ही बबूल की टहनी तोड़कर बाला ने दातून की। लखन अब आराम से सो रहा था। उसे जल्दी नहीं थी। तभी एक ड्राइवर रज़ाई में भालू की तरह हिला। उसने उठकर तहमद बाँधा और दोनों बाँहें छाती से चिपकाए दिशा-मैदान के लिए चला गया।

लखन का ड्राइवर बंता सिंह पहले ही उठ गया था। वह मैदान से लौट रहा था। छप्पर में पड़ी कमली गठरी बनी सो रही थी। उसकी खाट के पाए पर बंता सिंह की पगड़ी अजगर की तरह लिपटी रखी थी।

जल्दी उसे भी थी। उसने बोरा उठाया और सिर पर लादकर हड्डी-गोदाम की ओर चल दिया। साला बोरा बहुत महकता है। पर दाम तो अच्छे देता है—कमली भी चार-पाँच रुपए बना लेती है। एक-सवा रुपया बोरे-भर हड्डियों का मिल जाता है। छह रुपए रोज़ाना कौन कमाता है साला!

यह तो अच्छा हुआ कि चीनी मिलें खुल गईं और यह हड्डी-गोदाम भी! चीनी चमकाने के लिए शोरे की ज़रूरत पड़ती है। पता नहीं, इन सूखी हड्डियों में से शोरा कहाँ से निकलता है? निकलता होगा...

गोदाम के ताक पर बोरा फँसाकर उसने मोटी-सी गाली देकर चंदू को पुकारा... ''तौल कर...ये साली सर्दी...''

चंदू कहीं दिखाई नहीं पड़ा। फिर गोदाम में भरी टनों हड्डियों के बीच से आता वह दिखाई पड़ा जैसे पिंजर उठकर चला आ रहा हो। आते ही उसने खीसें निपोर दीं।

''आज सवेरे-सवेरे आ गया बाला?''

''शाम देर हो गई थी।''

''कमली ठीक है?''

वह उसका मतलब समझ गया। चंदू के दिल में एक फाँस है। नहीं तो पूछने की क्या ज़रूरत थी? कब के दूसरे पल्ले पर बाट पटकते हुए चंदू ने फिर कहा, ''ये दिन पहले आ जाते तो काहे हम तीन से दो रह जाते!''

चंदू का कहना तो ठीक था। पर तब यह सब व्यापार शुरू कहाँ हुआ था? इसीलिए तो उसने समझा दिया था, ''देख चंदू, तू कमली की लगन मन से निकाल दे...खाने को दो के लिए नहीं है तो तीन के लिए कहाँ से आएगा?''

''अगर ये अकाल पहले ही पड़ गया होता और हड्डियों का धंधा शुरू हो गया होता तो कौन-सी दिक़्क़त थी!''

वह वही सब सोच रहा था कि चंदू ने तौल करके बोरा नीचे पटक दिया। चंदू के मन में बाला के लिए ख़याल था। धीरे-से बोला, ''इंगरेजी जमाने की एक कबरगाह तीन मील उत्तर में है। कबरों के पत्थर तो सब खोद ले गए, हड्डियाँ दबी पड़ी हैं। उन्हें खोद ला!''

''उनमें से शोरा निकलेगा?'' बाला ने पूछा।

''सब चीज़ में मिलावट होती है, हड्डियों में भी मिला देंगे!'' आँख दबाकर चंदू ने कहा था।

''साला!'' बाला के मुँह से मन-ही-मन गाली निकली थी। देना चाहे तो एक के पाँच रुपए भी दे सकता है। वह नहीं करेगा, पर यह सब बताकर

...जताएगा। पैसे लेकर वह चला आया

...किन चंदू ने क़ब्रगाह की ठीक और सही ...दी थी। हड्डियाँ ताज़ी तो नहीं थीं, पर जैसे ...ने की खान हाथ आ गई थी। जहाँ खोदो ...हड्डियाँ निकलती थीं। उसे लगा था, ऐसी ...चार खानें और हाथ आ जाएँ तो ज़िंदगी ही ...जाए। आदमी अच्छा है चंदू!

...पुरानी हड्डियों से ज़्यादा चला नहीं।

...में जब तीसरे साल अकाल पड़ा, तब ...को होश आया था। अपने रिश्तेदारों की ...याँ कितनी क़ीमती हैं! अपने रिश्तेदारों के ...डंगरों की हड्डियाँ कितनी क़ीमती हैं! हड्डियों ...लिए तब महाभारत मचा था। लोग पहरा ...ने लगे थे—ये हमारे रिश्तेदारों की हड्डियाँ ...ये उनके ढोर-डंगरों की हड्डियाँ हैं। इन पर ...हक़ है!

...बाला ने जमकर लड़ाई लड़ी थी। गाँव- ...में और आस-पास रहते रिश्तेदारों की हड्डियों ...लिए वह लड़ता था। ढोर-डंगरों के पिंजरों ...लिए उसने लड़ाई की थी।

...भी दादा और दादी मरे थे। आठ दिनों की ...र। और सत्ताईसवें दिन बापू मरा था। अम्मा ...आठ साल पहले मर गई थी। बापू ने बहुत ...था, पर बाला नहीं माना था कि दादा की ...को जलाया जाए।

...जलाने से क्या मिलेगा?'' बाला बापू पर ...था।

...र बापू चीख़ा था, ''अरे कमीने! तू हड्डियाँ ...खाएगा? ऐसी औलाद से तो निपूता ही ...!''

...ने जो कुछ कहा हो, पर ये दिन कैसे ...अगर बापू की बात मान लेता! खाने को ...? जीने को क्या था? सब तरफ़ तो धरती ...पड़ी थी।

...तो उसने तय किया था कि झुलसी-तपती धरती के नीचे अगर लाश दबा दी जाएगी तो हड्डियाँ जल्दी साफ़ हो जाएँगी। गिद्ध और कुत्ते साफ़ करने में देर लगाएँगे। इधर-उधर खींच के भी ले जाएँगे। पर रात में कोई हड्डियाँ खोद न ले जाए, इसी के लिए तो उसने कमली को पहरे पर लगाया था, और वहीं से, सड़क किनारे से बंता सिंह उसे उठा ले गया था।

यह भी अच्छा ही हुआ था। अच्छे दिन आते हैं तो एक साथ आते हैं। जब बाला को पता चला था कि कमली ट्रकों की सराय में है तो वह गया था। बापू उस वक़्त ज़िंदा तो था, पर इतना ज़िंदा नहीं कि सराय तक आ पाता। वह भूख से धीरे-धीरे मर रहा था। पर फिर भी जीने का कोई और रास्ता खोजने के लिए तैयार नहीं था। असल में यह बहुत भीतरी इलाक़ा था जहाँ तक सरकारी मदद भी नहीं पहुँच पाई थी। जैसे खेत में सरकारी पानी जाता है न, जिस तक पहुँचा, पहुँच गया। उसके बाद...होना वही था। बापू को भी मरना था।

पहले दादा मरा, उसके बाद दादी, उसके बाद बापू! रिश्तेदार और उनके ढोर-डंगर मर ही रहे थे। पर तब तक बापू नहीं मरा था। शायद उसके मरने से एक दिन पहले की बात है। बाला जानवरों की हड्डियाँ बटोर रहा था। गिद्धों और कुत्तों के बीच। साले घसीट-घसीटकर बहुत दूर ले जाते हैं।

तब कमली उसे खोजती हुई आई थी। वह बाला को गिद्धों और कुत्तों के जमघट के बीच खोज ही नहीं पाई थी। उनके बीच वह घुटने मोड़े गिद्ध की तरह ही बैठा था। साफ़ हो गई हड्डियों को बीनता हुआ।

जब दादी की लाश तपती ज़मीन के नीचे दबाने गया था तो कमली ने कहा भी था, ''दादी के पैर की उँगली में पड़ा चाँदी का छल्ला निकाल ले!''

''चाँदी नहीं, काँसा है!'' उसने परखकर जवाब दे दिया था। कमली इतना जानती भी नहीं थी। काँसा ही होगा।

भला हो चीनी मिलों और बंता सिंह का। ये दोनों न होते तो ये दिन कैसे आते? हड्डियों की खदानें वह क्यों खोदता? कमली ट्रकों की सराय में इतने आराम से क्यों रहती?

वह साला चंदू तो पागल है जो अब भी कहीं कमली की लगन लगाए बैठा है। जो कुछ कमली औरों से पाती है, वह चंदू से तो मिलने से रहा! होगा वही, जो अब होता है, पर ऊपर से चंदू को लिखना और पड़ेगा।

यही सब सोचता-सोचता वह हड्डियों की खदानों की ओर चला गया था। सात-आठ दिन तो इतना काम रहा कि फ़ुर्सत ही नहीं मिली। बोरा भर-भरकर पहुँचाता रहा। चंदू तौलता रहा और कमली की बात करता रहा, पर साले ने न तौल में साथ दिया, न पैसे में। है साला कमीना!

हड्डियों की खदानों से वह आठ दिन बाद लौटा था, रात को। कमली काम से थी। वह कथरी ओढ़कर लेट गया था। सिरहाने रखा हड्डियों का बोरा बहुत बुरी तरह महक रहा था। कमली कुलबुला रही थी। उसने पास जाकर पूछा था, "कौन है?"

"बस्ती का लाला है!" कमली ने कहा था।

"इस साले से दस लेना!" कहते हुए बाला अपनी खाट पर आ गया था। कुछ ही देर बाद सब कुछ शांत हो गया था। यह अच्छा था। बस्ती का लाला जब भी आता था तो शुरू में शोर ज़्यादा मचाता था पर आधा घंटे बाद ही सो जाता था। ड्राइवर तो रात भर हँगामा करते थे। कमली भी बुरी तरह थक जाती थी और दूसरे दिन सोती रहती थी।

कमली तो सो गई, पर उसे नींद नहीं आ रही थी। उस बोरे के कारण। मन बहुत उचटा हुआ था। रह-रहकर दादी की याद आ रही थी।

आज सर्दी भी बहुत थी और वह गाँव के पास वाले ऊँचे-नीचे बियाबान टीले से दादी की हड्डियाँ खोदकर लाया था।

कमली ने तो रात काट ली थी, पर वह अपनी रात नहीं काट पा रहा था...सड़क से ट्रक आ-जा रहे थे। कुछेक सराय पर रुक भी रहे थे।

कड़कड़ाती सर्दी और अर्जुन के तीर की तरह चलती हवा। नीम भी बड़बड़ा रहा था। अँधेरा इतना गहरा कि उठने की हिम्मत ही नहीं पड़ रही थी! मन तो हुआ कि कमली को जा के जगाए और कहे—कमली! दादी की हड्डियाँ इसी बोरे में हैं। बहुत महक रही हैं। इस महक के कारण सो नहीं पा रहा हूँ।

पर कमली थककर सोयी थी। बस्ती वाला लाला भी पड़ा था।

उसने आँखें बंद कर सोने की कोशिश की। एक पल के लिए नींद आई थी कि तभी कोई ड्राइवर चीखा था, "अबे ओए दीना, चल!"

दीना सोता-ऊँघता जाकर ठंडी गद्दी पर अधलेटा हो गया था और वह ट्रक गुर्राकर चालू हुआ था। फिर हाथी की तरह झूमता सड़क पर जाकर कोहरे में खो गया था।

कथरी ओढ़कर वह खाट पर बैठ गया था और सड़क पर भरे कोहरे को देखता रहा था। चारों तरफ़ सन्नाटा था। मुर्गे तक दरबे में चुप थे। कासनी फूलों की बेल पेट्रोल पंप की गुमटी के सहारे काँप रही थी। सनसनाती हवा। मुँह से निकलती भाप। ठिठुरे हुए पेड़। सामने फैले मैदान में रोंगटों की तरह खड़ी हुई घास।

बाला ने फिर लेटने की कोशिश की। लेट भी गया, पर नींद नहीं आई। दादी! नाराज़ मत होना... ये दिन तू भी देख लेती तो शायद कुछ आराम से मरती। अब कमली भी बच गई है और अपन भी। व्यापार भी चल निकला है। यह अकाल न पड़ता और इतने ढोर-डंगर, नाते-रिश्तेदार न मरते तो अपन का भी वही हाल होता। भला हो हड्डी-गोदाम का! चंदू वहीं लग गया था। कमली भी समझदार हो गई है दादी। अपन से उसने बात की थी। कहने लगी, "चंदू से कह दे क्या फ़ायदा? घर बसाऊँगी तो लौट के वहीं गाँव के

...झोंपड़ी डालनी होगी। कुआँ सूखेगा तो ...इधर ही भागना पड़ेगा। तब एक-एक लोटे ...के लिए ब्राह्मण-ठाकुर छोड़ देंगे क्या? ...तो हम लोगों के लिए पड़ता है, बाक़ी ...के पास तो बरसों के लिए दाना है, पानी ...यहाँ कोई यह तो नहीं पूछता—कौन जाति ...अपनी ज़रूरत से लोग आते हैं, कल नहीं ...तो इसी सराय के बर्तन-भाँड़े माँज-धोकर ...रहेगा। ऐसे दिन बार-बार हाथ नहीं ...चंदू से कह दे क्या फ़ायदा... ?''

...कमली बहुत समझदार हो गई है दादी! तू ...रही है न!'' अर्जुन का तीर फिर लगा तो ...कसकर कथरी लपेटी। पता नहीं, कब ...फिर बैठ गया था। कोहरे की गुफ़ा से ...निकलकर फिर कोहरे की गुफ़ा में घुस ...कुछ देर तक आवाज़ बजती रही।

...उठा। कमली को जगा ले। पर...

...उसके लिहाफ़ में हलचल और ...हट हुई। लाला लिहाफ़ से निकल ...ता हुआ खड़ा हो गया। कमली बोली, ...रह, बहुत जाड़ा है!''

...लाला को तो अँधेरे-अँधेरे निकल ...होता है। रात कहीं भी निकले पर उसका ...बस्ती में ही निकलता है। टोपा चढ़ाकर, ...लपेटकर लाला पगडंडी पकड़कर बस्ती ...चला गया।

...वैसा ही बैठा रहा। बोरे की तरफ़ देखता ...कमली की भरक टूट गई थी। शायद ...लिहाफ़ के भीतर से देखा होगा। वह पास ...खड़ी हो गई थी, ''अरे बाला! तू अभी ...रहा है?''

...नींद नहीं आ रही!''

...थोड़ी-सी उधर पड़ी है अद्धे में, पी ले। ...जाएगी...सो जा...सो जा...'' कहते हुए ...अपनी खाट की तरफ़ जाने लगी थी।

...!'' बाला ने कहा था।

...!''

''दादी सोने नहीं दे रही है!''

''दादी!'' कमली ने ताज्जुब से कहा था।

''हाँ...उसकी काया इसमें बैठी है...बोरे में!'' बाला ने कहा था।

''अरे हट!'' कमली ने झिड़क दिया था।

''कमली! वो अच्छा हुआ कि कोई और खोदकर नहीं ले गया। अपन ही पहुँचे खदान पर...पूरा पिंजर निकाला!''

''ऐसे कह रहा है जैसे पहचान लिया हो!'' कहते हुए कमली उसी की खाट पर आधी कथरी ओढ़कर बैठ गई।

''दादी के पैर की उँगली में काँसे का छल्ला अब भी पड़ा है...'' बाला ने कहा तो कमली आगे नहीं बोली। बोरे की तरफ़ देखती रही।

पेट्रोल के दोनों पंप सफ़ेद रज़ाई ओढ़े कानों में उँगली डाले खड़े थे। छप्पर के बाँसों में लटके टायर पुतली निकली आँख के कोटर की तरह देख रहे थे। सड़क किनारे खड़े नीम के पेड़ों की गर्दनें कोहरे की तलवार ने काट दी थी। ट्यूबवेल के ठंडे पाइप की बाँह कच्ची गुमटी की कमर में लिपटी हुई थी। और वे दोनों वहीं खाट पर चुपचाप बैठे थे। जाड़ा बरस रहा था। अब दोनों को नींद आ रही थी। वक़्त का कुछ अंदाज़ा नहीं था।

घुटनों पर बाँहें मोड़े, ठोड़ी टिकाए कमली बैठी थी। पाटी का सहारा लिए बाला अधलेटा था। तभी सामने, दूर कोहरे के टुकड़ों के पीछे काले आकाश में कुछ हलचल-सी हुई थी। काले बादल की लोहे की किनारी थोड़ी-सी चमकी थी...जैसे उसके पीछे आग की भट्ठी की एक दहकती लपट उठी हो। पर फिर लोहा ठंडा पड़ गया था। एक पल बाद काले लोहे की कई किनारियों पर लपट के आसार दिखाई दिए थे...फिर वे बुझ गए थे। पर भट्ठी शायद बराबर धधक रही थी। गढ़िया लुहारों का कोई पड़ाव आसमान के पीछे है क्या? धौंकनी चल रही थी और आग बढ़ रही थी। धीरे-धीरे लोहे की

किनारियाँ पीली पड़ गई थीं...जगह-जगह बादलों के होंठ नीले हो गए थे। कोहरे के चकत्ते आग ने सोख लिए थे। आसमान में जगह-जगह चीरा लग गया था। तब घास के खड़े रोंगटे सुरमई से सुनहरे हुए थे और गर्दन कटे पेड़ों के सिर नज़र आने लगे थे।

बाला कसमसाकर सीधा बैठ गया था।

कमली ने पूछा था, "ये हड्डियाँ गोदाम ले जाएगा?"

"हाँ।" बाला बोला था।

"सुन बाला!...इन्हें नदी में सिरा दे!"

बाला अचकचाकर रह गया। यही कुछ तो, कुछ इसी तरह की बात तो वह भी सोच रहा था, पर यह नहीं सोच पाया था कि दादी की काया को नदी में सिरा आए।

"ठीक है न!" कमली ने कहा, "बुरे दिन होते तो दूसरी बात थी। गोदाम में ही दे आता..."

"हाँ!" वह बोला, "तड़के-तड़के निकल जाता हूँ...नदी दूर है। दिन चढ़े तक लौट आऊँगा।"

और वह बोरा उठाकर सड़क पार करके मैदान में उतर गया था, उस पगडंडी पर जो नदी की ओर जाती थी। कमली उसे तब तक देखती रही थी, जब तक वह पेड़ों के झुरमुट के पीछे अलोप नहीं हो गया। कमली जाकर अपनी रज़ाई में गठरी बनकर लेट गई थी। आदमी साथ होता है तो टाँगें पसारकर सोने में भी उतनी सर्दी नहीं लगती। भरक मिलती रहती है। पर नींद बुरी तरह घिर रही थी। लेटते ही उसे नींद आ गई। बहुत गहरी नींद।

यह पता ही नहीं चला कि बादलों के बीच से निकलकर सूरज कब ठंडा पड़ गया और दिन पूरी तरह कब निकल आया। शोर कब होने लगा। चारों तरफ़ ज़िंदगी अपनी रफ़्तार पर आ गई थी। दरबे में मुर्गे कुड़कुड़ाने लगे थे। कुत्ते पेट्रोल पंप और सड़क तक दौड़ रहे थे। ट्रक-सराय की लंबी मेज़ें धुल गई थीं। सब्ज़ियाँ कट रही थीं। अँगीठियाँ जल गई थीं। रात को रुके हुए ट्रक वाले चाय पी-पीकर सफ़र पर निकल गए थे। ट्यूबवेल धक-धक कर रहा था। वल्कनाइज़र के छप्पर में मशीन पर रबर का टाका लगानेवाले लड़के आ गए थे। सराय के मालिक ने जपुजी का रिकॉर्ड लगा दिया था। अगरबत्तियों की महक फैली हुई थी।

कमली नींद की मारी थी। बाला लौटा तब भी वह सो रही थी। आते ही उसने जगाया। आँखें मलते-मलते कमली ने पूछा, "सिरा आया?"

"हाँ!" उसके दाँत अब भी कटकटा रहे थे। अर्जुन के तीर तो चल ही रहे थे।

"अच्छा हुआ!" कमली बोली।

"तुझे याद है? दादी से अपन ने हमेशा कहा—दादी, मेरी बात सुन! मैं देख आया हूँ, पानी का रंग लाल है। ख़ून की तरह लाल! दादी मानती नहीं थी, ज़िद करती थी—पानी का रंग नहीं होता! सो आज उसकी काया सिराते हुए अपन ने उससे कहा—ले दादी! आज देख ले..."

कमली ने उसकी तरफ़ भर-आँख देखा और चूड़ी सरकाते हुए बाँहों को भरकाने लगी। उसके चेहरे पर रात का बासीपन था। या शायद ठंड की सफ़ेदी। वह अपने गालों को रगड़ने लगी तो बाला ने देखा—उसके बाएँ गाल की साँवली चमड़ी पर ख़ून की एक सूखी बूँद चिपकी हुई थी। वह उस पर उँगली फिराने लगी तो बाला ने फिर पूछा, "क्या हुआ? उस साले लाला ने फिर काटा इतने ज़ोर से?"

"नहीं।" कमली ने धीरे-से कहा, "उसका वो एक दाँत सोने का है न, वही गड़ गया है..." कहते-कहते वह ट्यूबवेल की तरफ़ मुँह धोने चली गई।

बलदेव सिंह धालीवाल

चींटियों की मृत्यु

फ़ोन सुनकर चोंगा रखते हुए के.पी. के अंदर क्रोध की ऐसी तरंग उठी कि उसने बची हुई चाय का गिलास सामने वाली दीवार पर दे मारा। दीवार पर टँगी फ़ोटो का शीशा ट...अन की आवाज़ करता टुकड़े-टुकड़े होकर फ़र्श पर बिखर गया। चाय के दाग़ से दीवार धब्बई हो गई। फ़ोटो का फ्रेम बोदी कील के सहारे क्षणभर के लिए लटकता रहा और फिर धड़ाम से नीचे आ गिरा। यह देखते हुए के.पी. को शांति का अनुभव हुआ। फ़ोटो के मध्य के कुलीन, कॉलेज की मैनेजमेंट के सचिव, प्रिंसिपल एवं स्टाफ़, सभी के सभी फ़र्श पर पसरे पड़े थे। पलभर के लिए के.पी. यह भी भूल गया कि स्टाफ़ में वह स्वयं भी शामिल है। कॉलेज की रजत जयंती के अवसर पर मैगज़ीन के लिए उतारी गई उस फ़ोटो में प्रिंसिपल सबके मध्य टाँगें फैलाए बैठा, लापरवाही वाली मुस्कान बिखेर रहा था। के.पी. से यही मुस्कान सहन न हो सकी और वह फ़ोटो पर चढ़कर उसे चप्पलों के नीचे रौंदने लगा, पर वह ज्यों की त्यों रही। के.पी. ने फ़ोटो के टुकड़े करते हुए पूरी तरह खीझकर कहा, ''साले इनक्वायरियों के, करवा लिया चमचों से झूठ का पुलिंदा तैयार, गढ़ लिया नया बहाना मेरी मुअत्तली का, कुत्ती क़ौम कहीं की!'' कमरे की उमस से बातें करते हुए के.पी. का ग़ुस्सा ख़तरे का निशान लाँघता किनारे तोड़ता हुआ बह चला।

लाला करोड़ीमल हिंदू महासभा कॉलेज, लुधियाना के लेक्चरार के.पी. अर्थात् कँवर प्रताप सिंह मान नौकरी से निलंबित होने के पश्चात् अकसर यूँ ही तैश में आ जाया करता था। अपने साथ हुई ज़्यादती के बारे में जब कोई नया समाचार सुनता, उसका ख़ून उबलने लगता। एकबारगी स्वयं ही बम की भाँति फट पड़ता और फिर अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगता। आज सुबह-सुबह कुछ ऐसा ही घटित हुआ। वह किसी अच्छे समाचार के लिए बड़ी बेसब्री से अख़बार की प्रतीक्षा कर रहा था। हॉकर क़रीब पंद्रह मिनट देरी से आया। बस इतनी-सी बात पर ही के.पी. उस पर टूट पड़ा। और फिर हॉकर के चले जाने के बाद, यह सोचकर पश्चात्ताप से भर गया कि उसमें हॉकर का भला क्या दोष, जब

अख़बार पीछे से ही देरी से आया था। उसने अख़बार पर उड़ती-सी नज़र मारी। किसी भी ख़बर पर उसका ध्यान न टिका। केवल मुलाज़िम मुहाज़ कॉलम में चार-एक पंक्तियों की ख़बर देखी। उनके कॉलेज में चल रहे धरने की साधारण-सी जानकारी थी। अख़बार परे फेंक नहाने के लिए उठा, पर मन नहीं माना। ब्रेकफ़ास्ट के स्मरण मात्र से उसे अपनी पत्नी सुरजीत कौर पर ग़ुस्सा आया जो बच्चों को साथ लेकर हफ़्ता भर के लिए मायके गई हुई थी। ग़ुस्से से भरा वह रसोई में जाकर प्याज़ काटने लगा। आँखों में कड़वाहट भर आने से आँसू निकल आए। खीझ से भरकर उसने ब्रेड-ऑमलेट और चाय बनाई। डाइनिंग टेबल के स्थान पर वह बेडरूम में ही आ बैठा। दो ही ग्रास लेकर और लेने का उसका मन न हुआ। उसने प्लेट बेड के नीचे सरका दी। चाय की अभी दो-तीन चुस्कियाँ ही भरी थीं कि फ़ोन की घंटी बज उठी। के.पी. के कॉलेज की टीचर्स यूनियन का प्रधान अनिल धीमान बोल रहा था, ''प्रो. साहिब, मैं चंडीगढ़ से बोल रहा हूँ, कल से आए हुए हैं यहाँ। सुबह-सुबह बेड-न्यूज़ देने को मन तो नहीं करता, पर सॉरी, इंफ़ॉरमेशन तो शेयर करनी ही है, अभी-अभी पता चला है कि इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट अपने अगेंस्ट गई है। सॉरी अगेन, अपन एक-आध दिन में नेक्स्ट स्ट्रैटेजी तैयार करते हैं, अच्छा बाक़ी मिलकर बात करते हैं, ओ.के.।'' प्रधान की सूचना के.पी. पर बिजली की भाँति गिरी। अब उसकी मुअत्तली यक़ीनी थी। वह क्रोध से जल उठा और चाय का गिलास...।

कितनी ही देर के बाद मन कुछ शांत होने लगा तो पश्चात्ताप ने फण उठा लिया। ''इससे उनका क्या बिगड़ा?'' अपना गिलास टूटा, दीवार धब्बाई, काँच बिखरा और ख़ून अलग से जला, इस सोच के साथ उसको अपने-आप पर खीझ-सी आई। क्यों वह आपे से बाहर हो जाता है? पढ़ा-लिखा होने के बावजूद क्यों कर बैठता है बचकानी हरकत? स्थिति को समझे बिना क्यों बौखला उठता है वह? उसका पश्चात्ताप पहले प्रश्नों में बदला फिर उनके उत्तरों की तलाश में इधर-उधर भटकने लगा। हल जैसा कुछ न सूझा उसे। उसका माथा टीसने लगा। इसीलिए वह प्रश्नों से इतना भयभीत हो गया कि घर से बाहर नहीं निकलना चाहता था। लोग-बाग भले ही मुँह से कुछ न पूछते मगर उनकी नज़रें यह ज़रूर पूछतीं, ''प्रो. साहिब, तुम तो स्याने-ब्याने हो, फिर यह सब कुछ कैसे घटित हो गया?'' इसके साथ ही के.पी. की घबराहट बढ़ जाती। उसका मन चाहता कि वह किसी वन में जाकर वृक्षों के घने झुरमुट के नीचे गहन अंधकार में जा बैठे जिस जगह ये सालने वाली नज़रें न हों। इसी दुख का मारा के.पी. अपनी पत्नी सुरजीत कौर के साथ उसके मायके चलने को नहीं माना। चलते समय सुरजीत कौर ने फिर ज़ोर डाला कि स्थान परिवर्तन के साथ कुछ मन भी बदल जाएगा। के.पी. ने मौन धर लिया।

''कोर्ट का फ़ैसला क्या पता कब तक आए, उतनी देर तुम यूँ ही बिल में घुसकर बैठे रहोगे?'' के.पी. की मातमी चुप्पी पर सुरजीत कौर को पहले तो खीझ आई, फिर उसकी आँखें भर आईं। अगले ही पल उसने ओढ़नी के पल्लू से आँखें पोंछी और के.पी. का हौसला बढ़ाना चाहा, ''जो संकट आ पड़ा है, उसे तो झेलना ही पड़ेगा। सयाने कहते हैं चाहे रो के काट लो, चाहे हँस के। कहते हैं कि भले दिन सदा नहीं रहते तो रहते सदा बुरे भी नहीं। सँभालो ख़ुद को। ध्यान रखना अपना।'' सुरजीत कौर ख़ुद को मुश्किल से सँभालती हुई, बच्चों के साथ गेट लाँघ गई।

इन सारी बातों को के.पी. क्या समझता नहीं था? पर जब कुछ करने का अवसर आता तो डाँवाँडोल हो जाता। हमेशा की तरह उसने भीतर-ही-भीतर अपना निश्चय दोहराया कि वह इस

ित गुस्से से बचने का भरसक प्रयास। क़ानूनी लड़ाई में प्रधान के साथ कंधे से मिलाकर चलेगा। अपने अंदर उठने वाले चिंता और बेबसी के भावों को समेटकर फेंक देगा। यह सोचते हुए के.पी. के अंदर की लहर-सी उठी पर एक पल से अधिक पाई। उसने बेड के गिर्द बिखरे हुए काँच देखा, पर उठकर उसे साफ़ करने की हिम्मत न जुटा पाया। कदाचित् आज सरला ही आ। कामवाली के बारे में सोचते ही उसका ग़ुस्सा और बढ़ गया। "पैसों के लिए तो नित्य पसार लेती है...कुतिया...और..." के.पी. -अभी लिया निर्णय फिर भूल गया और पिछले सप्ताह से छुट्टियाँ मार रही सरला पर ने लगा। सरला ने सप्ताह भर पूर्व पति की री के बहाने से...प्रो. साहिब आजकल नौकरी, इन्हें आधी पगार मिलती है। "हमारी तो मर-मर के महीने की पहली तारीख़ आती तू कहीं और प्रबंध कर ले।" सरला ने अगले रोज़ से नागा करना शुरू कर दिया। बिना पैसे करता है चाकरी? सरला के ये नागे सुरजीत के होते तो कभी याद-वाद भी नहीं आए पर अब कमरे में बिखरे काँच तथा चींटियों ताँता लगा देखकर सरला की अनुपस्थिति ज़्यादा ही खटकने लगी।

इससे ध्यान हटाकर मन में टिकाव के लिए ने आँखें भींच लीं। अधलेटी मुद्रा में सुस्ताने बंद आँखों में उसे अजीब-सा ख़ालीपन र महसूस हुआ कि जैसे वह पड़छत्ती के में फेंक दी गई कोई वस्तु हो। घबराकर ने आँखें खोल लीं। इस तरह निठल्ले बैठे के स्थान पर उसने बक्से से खुशवंत सिंह आत्मकथा *मौज मेला* निकाल ली।

कुछ ही पंक्तियाँ पढ़ने के उपरांत के.पी. को जैसे केवल आँखें ही पढ़ रही थीं, मन तो और भटकता फिर रहा था। वह मुश्किल से मन को घेर-घारकर शब्दों की ओर लाता पर एक भी शब्द का अर्थ दिमाग़ की दहलीज न लाँघता। ऐसी गर्म-पकौड़ों-सी पुस्तकें तो के.पी. एक ही बैठक में पढ़ लिया करता था, पर आज...। उसे हैरानी के साथ परेशानी भी हुई। ऊपर से दूसरे पहर की जुलाई की उमस उकताहट पैदा करने लगी। कूलर की हवा ठंडक के स्थान पर चिपचिपाहट बढ़ाने वाली थी। गाढ़े तैलीय पसीने की वजह से शरीर पर केंचुए रेंगने का अहसास घिन पैदा कर रहा था। के.पी. ने फिर पुस्तक के पृष्ठों पर ध्यान ज़माने का यत्न किया। उसने अभी लगभग पौना वाक्य 'उन समयों में हमारे जन्म और मौत के रिकॉर्ड नहीं रखे...' ही पढ़ा था कि गर्दन पर हुई खुजली ने ध्यान उखाड़ दिया। खुजली क्षण भर में ही तीखी जलन बन गई और नर्म माँस पर कुछ शूल-सा चुभा। उसने चुभन को पोटों से मसल डाला। एक अधमरी चींटी बेड की चादर पर आ गिरी। बालों जैसी बारीक टाँगें चलाती वह पहले तो एक झटके-से सीधी हुई और फिर जान बचाने के लिए पूरे ज़ोर से दौड़ पड़ी। उसने देखा कुछ अन्य चींटियाँ भी ब्रेड का चूरा उठाए मज़े से चली जा रही थीं।

"रुको ज़रा, मैं करवाता हूँ तुम्हें मौज-मेला!" कहते हुए के.पी. ने दो चींटियों को मसल डाला। शेष चींटियों में अफरा-तफरी मच गई। वे अपनी मृत सहेलियों को सूँघती और बेचैनी के साथ इधर-उधर भागने लगीं, जैसे इस दुखदायी समाचार को तुरंत इर्द-गिर्द फैला देना चाहती हों। वे मृत चींटियों को घसीटकर किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाने का भी प्रयत्न कर रही थीं। चींटियों की यह जद्दोजहद देखकर के.पी. के मुँह से स्वाभाविक ही प्रशंसा के बोल निकले, "अपनों की ख़ातिर तो यूँ करना चाहिए संघर्ष!"

परंतु के.पी. के लिए भी तो टीचर्स यूनियन इसी तरह संघर्षरत थीं। उन्होंने भी तो कोई ढील नहीं दिखाई थी। पहले ही रोज़ जब के.पी. को

अपनी बदली किए जाने का पत्र प्राप्त हुआ था, वह उसे लेकर सीधा प्रधान ही के पास तो गया था। जैसा कि के.पी. को आशा थी, उस पत्र को पढ़ते समय प्रधान की मुट्ठियाँ भिंच गई थीं, होंठों में कसाव आ गया था। कुछ मिनटों की गहरी चुप्पी के पश्चात् उसने पूरी दृढ़ता से संघर्ष का बिगुल बजाते हुए कहा था, "प्रो. साहिब, यह कैसे हो सकता है भला? आज तक कभी नहीं हुआ। यह इनके बाप का राज है कि जो जी में आए, करते जाएँ? आपसी बदली तो पहले भी होती रही है यहाँ, पर अगले की कंसेंट के बिना बदली...। नेवर...!" प्रधान का जोश बढ़ने लगा, "यह तो सरासर धोखा है। कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है, यह? यूनियन मर गई है क्या? यदि एक बार मैनेजमेंट के मुँह ख़ून लग गया तो वह हर एक कर्मचारी के सिर पर तबादले की तलवार लटकाए रखा करेगी। हो सकता है, इसे वह टेस्ट-केस बनाना चाहते हों। प्रो. साहिब, यूनियन किसी भी सूरत में यह बदली नहीं होने देगी। आप निश्चिंत हो जाएँ। ज़रूरत नहीं कहीं और ज्वॉयन करने की, डोंट वरी...!"

प्रधान का नेताओं जैसा तेज़-तर्रार भाषण सुनकर के.पी. कुछ मिनटों के लिए तो हौसले में रहा पर इसके परिणाम के बारे में सोचकर गहरी चिंता में डूब गया। के.पी. का मन तो प्रधान को साथ लेकर प्रिंसिपल के पास रिक्वेस्ट कर देखना था। इस प्रकार कदाचित् बात के फैलने से पूर्व ही मामला भीतर-ही-भीतर सुलझ जाता। पर प्रधान तो टकराव की राह पर चलने की बातें करने लगा था। ये लड़ाई को बढ़ाने वाले दाँव थे। इस प्रकार तो प्रिंसिपल के खीझ उठने का ख़तरा था। "हो सकता है झुक ही जाएँ, ज़रा-सी बात पर यूनियन से टकराने में उसे क्या लाभ होना था?" दोनों ही बातों में कुछ भी हो सकता था। इस सोच के उभरने से के.पी. उलझन में फँस गया।

के.पी. को लगा जैसे प्रधान से मिलकर उसने ग़लती कर ली थी। फिर और किसको साथ लेकर जाता? प्रधान से अधिक सुहृदय उसे कॉलेज भर में कोई अन्य नज़र नहीं आया था। हो सकता है उसके प्रधान से मिलने की ख़बर ही प्रिंसिपल का इरादा बदल दे। प्रिंसिपल का कायरों-सा स्वभाव कौन भूला था। ग्रेडों की डिवीज़न के समय भी वह पहले ऐसे अड़ गया था, जैसे झुकने का प्रश्न ही पैदा न हो सकता हो, पर स्थिति बिगड़ती देखकर रातों-रात सब कुछ मान गया था। प्रिंसिपल से मिलने वाले आश्वासन को ठीक से भाँपने के लिए के.पी. उसके साथ हुई गत दिवस वाली बातचीत की जुगाली करने लगा।

"प्रो. साहिब आपका पुश्तैनी गाँव बुढ़लाडे के निकट है न?" अपने ऑफ़िस में बुलाकर प्रिंसिपल ने के.पी. से विनम्र भाव से पूछा था।

"हाँ...जी सर, मोफर है जी, शहर से कोई दस-पंद्रह किलोमीटर परे।" प्रिंसिपल की इस अटपटी पूछताछ से घबराकर के.पी. के बोल काँप उठे थे।

"अच्छा, स्ट्रेट—वो बात इस प्रकार है प्रो. साहिब कि अपने सचिव महोदय की इच्छा आपको बुढ़लाडा ज्वॉयन करवाने की है। क्लीयरली बता दूँ कि आपके साथ म्युचुअल ट्राँसफ़र करके वे प्रो. सुधा अरोड़ा को लुधियाना लाना चाहते हैं। कहते हैं, वे किसी पार्टी-वार्टी में सरसरी 'यैस्स' कर बैठे और अब उसने ज़िद पकड़ ली है। अतः आप को-ऑपरेट करें।" किसी हेरफेर के स्थान पर प्रिंसिपल ने एकदम ही कह डाला।

"प...ऽर, सऽ...र...यह कैसे संभव है? मेरी यहाँ सेटलमेंट...बच्चों का स्कूल जाना... मकान...अटैचमेंट..." के.पी. ने पूरा ज़ोर लगाकर अपनी विवशता के बारे में बताया।

"प्रो. साहिब, आदमी जहाँ रहने लग जाए

-धीरे वहीं का हो जाता है। अपने आप ...मेंट हो जाती है, डोंट वरी...'' प्रिंसिपल ने ...भाव से कह दिया, जैसे यह कोई मसला ...हीं था।

"बट...सर..., यह कॉलेज...'' के.पी. ...ट में कोई अन्य दलील न जुटा पाया।

"कोई बात नहीं, यदि आप इस संस्था के ...इमोशनली इतना जुड़े हुए हैं तो इट इज़ अ ...थिंग, सालेक भर बाद फिर ट्राई कर देख ...आपको यहाँ लाने के लिए। अब मैडम की ...पूरी कर देते हैं, वह भी तो अपने महासभा ...की ही सदस्या हैं।'' प्रिंसिपल ने अपना ...सुना दिया।

"नोऽ सर, इट इज़ डिफ़ीकल्ट, सॉरी...'' ...पी. ने अड़ना चाहा।

"देखिए प्रो. साहिब, बी मैच्योर, मैं आपके ...की बात कर रहा हूँ। यदि सच बताऊँ तो ...महोदय आपको फ़ाजिल्का भेजने लगे ...मैंने आपका बायोडाटा जाँचते समय आपका ...एड्रेस देखा तो उनसे रिक्वेस्ट की। आप ...गाँव के नज़दीक सेटल हो जाएँगे।''

"सर, बीस वर्ष हो गए हैं गाँव से टूटे हुए, ...वहाँ...?'' के.पी. रुआँसा हो गया। उसके ...में आया कि पूरी बात बता दे कि माता-...की मृत्यु के पश्चात् ज़मीन की तकसीम ...समय भाइयों के साथ थाने-कचहरी तक जा ...था। अपना हिस्सा बेचकर लुधियाना में ...खरीद लिया था। पर प्रिंसिपल ये सब कुछ ...के मूड में कहाँ था? इसलिए उसे यह सब ...भीतर ही दबाना पड़ा।

"हठ न करें प्रो. साहिब। नौकरी मस्ट है, ...मैटर नहीं किया करता। मोर-ओवर, यह ...सचिव महोदय आपकी कंसेंट के बिना ...कर सकते थे, पर ऐसा ग्रेसफ़ुल न लगता। ...स्वयं अंडरटेकिंग दी हुई है, यह देखिए...'' ...ल ने मेज़ की दराज़ में से के.पी. की दो—प्रति ज्वॉयनिंग रिपोर्ट निकालकर मेज़ पर फैला दी। अंडरटेकिंग वाले पृष्ठ पर रेखांकित पंक्तियों में स्पष्ट लिखा था कि मैनेजमेंट के कॉलेजों की किसी भी ब्रांच में एंप्लॉई की बदली की जा सकती है। नीचे के.पी. के हस्ताक्षर थे। सभी की भाँति उसने भी सहमति दी थी।

यह पढ़कर उसमें बोलने की शक्ति ही न रही। ज्वॉयनिंग के समय अगला क्या बोल सकता है, भले ही मौत के वारंटों पर साईन करवा लेते। यह सोचता हुआ वह मरियल क़दमों से दफ़्तर से बाहर आ गया। के.पी. के होंठ सूखते जा रहे थे। माथे पर पसीना उग आया था। आँखों के आगे अँधेरे के दायरे नाच रहे थे। कनपटियों में सूइयाँ-सी चुभ रही थीं।

''खा गईं कलजोगनें जीवित को ही... ओह...।'' के.पी. तड़प उठा, कनपटी के पास चींटी ने इतना टिका के काटा, जैसे सूई चुभो दी हो।

''चलो, पहले तुम्हारा ही काम तमाम करूँ, फिर...'' उसने पुस्तक को परे रखकर चादर झाड़ने की सोची। बेड से उतरते समय उसकी चप्पलों के नीचे काँच की किरचों की किरच-किरच हुई।

''यह भी, मन मेरे तुझे ही बुहारना पड़ेगा, कितनी देर तक चलेगा आलस्य!'' सोचते हुए वह चादर झाड़कर झाड़ू ढूँढ़ने लगा। फिर सुरजीत कौर की याद आ गई। उसके होते हुए के.पी. को कभी अनुभव ही नहीं हुआ था कि यह साफ़-सफ़ाई वाला काम भी कोई काम होता है। उसके बिना तो कुछ ही दिनों में घर जैसे चींटी-खाना ही बन गया था।

''धन्य हो सुरजीत कौर जो अकेले ही इस सेना का सफ़ाया करती हो!'' के.पी. को सारा दिन झाड़ू-बुहारी में उलझी फिरती पत्नी का दृश्य याद हो आया। वह काम करते समय सदा सलवार के पायँचे टाँग लिया करती। एक हाथ

में बुहारी होती और दूसरे में पोंछा। दरवाज़ों-खिड़कियों के पीछे से पूरी लगन से सफ़ाई करती। सफ़ाई की तो उसे मानों दीवानगी हो। वह वश चलने तक कहीं चीनी या ब्रेड का कण भी गिरने न देती। फिर भी चींटियों को कोई कण-मात्र मिल भी जाता तो सुरजीत कौर की राडार-आँखें तुरंत तलाश लेतीं। चींटी के दिखने की देर होती कि वह उसके सुराख़ तक जा पहुँचती। बेगौन छिड़कती, लक्ष्मण-रेखा से चींटियों के बसेरों के गिर्द दायरा बना देती। अब सुरजीत कौर की अनुपस्थिति में जैसे इनका जादू चढ़ निकला था।

के.पी. ने देखा, चींटियों की पंक्ति रोशनदान की ओर से दीवार पर उतरती हुई, बेड के नीचे से होकर लॉबी की ओर जा रही थी। वह फ़ौजियों की भाँति क़तार में चल रही चींटियों की पंक्ति का आदि-अंत ढूँढ़ने लगा। एक ओर बाथरूम तक और दूसरी तरफ़ रोशनदान की ओर यह लकीर...उसे लकीर का कोई ओर-छोर न मिला। यह तो उसके पड़ोसी प्रोफ़ेसर तथा आर.एस.एस. के कट्टर समर्थक शास्त्री राम मूर्ति की दीवार से भी कहीं पार...।

"ढूँढ़ो, ढूँढ़ो प्रो. साहिब, आख़िर यह ढूँढ़नी ही पड़ेगी, यदि ध्यान से देखोगे तो यह लकीर बहुत आगे तक नज़र आएगी। कहीं मोटी, कहीं बारीक, कि झूठ है?" पंजाबी विभाग का मुखी डॉ. धर्म सिंह के.पी. से सहानुभूति जताता, अपने अंदाज़ में हिंदू-सिक्खों के बीच की रेखा की बात छेड़कर बैठ गया था। "भला प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या ज़रूरत? कि झूठ है? तुम अपना केस विचार लो। तुम ही क्यों? उन्होंने कृष्ण गोपाल का तबादला क्यों न कर दिया भला। वह तो है भी तुमसे जूनियर, कि झूठ है? यह मुलम्मा तो अंततः उतरना ही होता है भाई, जब यह उतरता है न, फिर पीटती है अगली सुनार के बच्चों को, कि झूठ है? बातें करते हैं सेक्यूलर बनने की, भीतर भरा है हिंदुत्व का कोढ़, कि झूठ है? फ़िरकापरस्त कहीं के..." डॉ. धर्म सिंह को यूँ मुँहफट होकर बोलता देख के.पी. के मन में आई कि भाग उठे। उसकी बातें तो थोड़ी-बहुत बची-खुची आशा पर भी पानी फेरने वाली थीं। यदि ये बातें किसी प्रकार प्रिंसिपल के कानों तक जा पहुँचीं तो डॉ. धर्म सिंह के नाम के साथ चिपके विशेषण 'ख़ालिस्तानी' की चपेट में के.पी. को बिना मतलब ही आ जाना था। यह कलंक अब रिटायरमेंट के समीप पहुँचे डॉ. धर्म सिंह का तो भले कुछ न बिगाड़ पाता, पर इस के.पी. का तिनका भी नहीं बच पाता। महाशयों के कॉलेज की नौकरी के तीस-पैंतीस वर्ष डॉ. धर्म सिंह ने के.पी. की ही भाँति विनम्र रहकर गुज़ारे थे। अब रिटायरमेंट के क़रीब आकर पता नहीं कैसे एकदम विस्फोट हो गया था। ज़रा-सी बात भी उसे हिंदू-सिक्ख मसला नज़र आने लगती और बहाना मिलते ही वह धुस्स करके जा पहुँचता। के.पी. के तबादले का केस डॉ. धर्म सिंह को गनीमत की भाँति मिला था। इसमें उसे हिंदू-सिक्ख के बीच की रेखा स्पष्ट नज़र आती थी।

"छोटे भाई, भागो मत, बात सुनकर जाना, ये बातें तुम्हारे ज़िंदगी भर काम आएँगी।" डॉ. धर्म सिंह ने के.पी. के उठ जाने की मंशा को भाँपते हुए बात फिर छेड़ ली, "मैं इनकी रग-रग से वाक़िफ़ हूँ, पूरे बत्तीस वर्ष हाड़ रगड़ाए हैं इस संस्था के लिए। सैंतालीस में हमारे अंधे नेताओं ने पता नहीं क्या देखकर फ़ैसला किया था, कहने लगे, हम हिंदू-सिक्ख भाई हैं, हम भारत के साथ रहेंगे, हमारा ख़ून का रिश्ता है। अब चख लो स्वाद, उन्होंने पचास वर्षों में कोई रिश्ता बनने ही नहीं दिया, कि झूठ है? तेल और पानी का ही रिश्ता रहा न? तेल और पानी वाला नहीं तो...। तभी तो मैं कहता हूँ, इनकी मीठी बातों में न आओ, व्यवहार देखो, यह तुम्हारे

इतने ढाई सौ के स्टाफ़ में सिक्ख कितने हैं? कुल आठ, कि झूठ है? वह भी चार पंजाबी में, उन्हें तो अब रिटायर हो जाना है और तुम्हें उन्होंने दूध में से मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया है। बाक़ी रहे कितने? दो टोटरू!" डॉ. धर्म सिंह पूरे जोश में आकर बोल रहा था। के.पी. के कान उसकी ओर और आँखें बाहर की भनक लग रही थीं। वह शुक्र मना रहा था कि कमरे के आगे से अभी तक कोई नहीं गुज़रा था। पर, डॉ. धर्म सिंह उसकी विवशता न समझता हुआ अपनी ही धुन में कहे जा रहा था, "बताऊँ, इतने भर सिक्ख भी इसलिए रखे गए कि उन दिनों पंजाबी पढ़ने वाले हिंदू कम ही हुआ करते थे। अब उनकी सुधाएँ भी पढ़ गईं गुरुमुखी, फिर हम सिक्खों की क्या ज़रूरत रह गई? अब अवसर मिलते ही ले लिया उन्होंने कुठार हाथ में परशुराम वाला, और शुरू कर दी छाँग-छँगाई। दुर्भाग्यवश कुठार के नीचे आ गए तुम, कि झूठ है?" डॉ. धर्म सिंह को बड़ी मुश्किल से भड़ास निकालने का अवसर हाथ आया था। के.पी. विवश था। अपने ही विभाग के मुखी की बात सुनने से इनकार भी तो नहीं कर सकता था, पर ये बातें उसके हज़म भी नहीं हो रही थीं। वह कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया, पर डॉ. धर्म सिंह ने, अपनी पूरी बात सुनाकर ही दम लिया।

"छोटे भाई! रगड़े केवल तुम ही नहीं गए, हमने भी बहुतेरे डंक सहन किए हैं, बस कभी किसी को ये नीले-दाग़ दिखाए नहीं। मेरे से आधी सर्विस वाले सिर-मुंडों को तो उन्होंने प्रिंसिपल बना छोड़ा है। हम फिरते हैं धूल फाँकते। अब तुम ही बताओ, लकीर और होती क्या है?"

गुबार निकल जाने पर डॉ. धर्म सिंह के तप रहे बोलों पर अचानक पानी का छिड़काव हो जाने से यह सहज हो गया। के.पी. को ऐसा लगा जैसे वह बताने से बढ़कर कुछ पूछ रहा हो। स्वीकृति सरीखे हमदर्दी के दो बोल सुनना चाह रहा हो। उसका यह रूप देखकर के.पी. पलभर के लिए पसीज गया। डॉ. धर्म सिंह की दलीलें के.पी. के लिए अनजानी न रहीं, पर वह उनकी उँगली थामकर साथ चलने में समर्थ भी न हो सका। वहाँ से निकलकर कॉमन-रूम की ओर जाते के.पी. के अंदर एक युद्ध-सा छिड़ा रहा। एक पलड़े में वह रोज़गार था जो एम.ए., एम.फिल. करके भटकते-फिरते के.पी. को इस कॉलेज ने प्रदान किया था और दूसरे में डॉ. धर्म सिंह की दलीलें जिनके भीतर की कसक के.पी. को अभी तक महसूस हो रही थी। रोज़गार वाला पलड़ा झुक गया। यदि डॉ. धर्म सिंह सच्चा था तो फिर के.पी. पर चलने वाला कुठाराघात उसके सीनियर अतिंदर सिंह पर क्यों न हुआ? वह तो था भी अमृतधारी और पंजाब संकट के दिनों फ़ेडरेशन का सदस्य भी रहा था। कदाचित् यहाँ भी जैक वाला फ़ॉर्मूला फिट बैठता हो! के.पी. ने सोचा। के.पी. को खालसा कॉलेज में दिए अपने एक इंटरव्यू की याद आई। उसमें अतिंदर सिंह खालसा भी उम्मीदवार था। के.पी. के केश तो थे पर दाढ़ी न होने के कारण उसे पतित सिक्ख कहकर रद्द कर दिया गया था। पर जब अतिंदर सिंह को भी न रखा गया तो के.पी. को आश्चर्य हुआ था। बाद में पता चला कि जो क्लीन-शेव लड़का रखा गया था, उसके पास शिरोमणि प्रबंधक कमेटी के प्रधान का जैक था। और अब वह उसी पतित के.पी. को डॉ. धर्म सिंह सिक्खों वाले पलड़े में रखे बैठा है।

"किस तरह का सिक्ख हूँ मैं? यह ज़्यादती सिक्खी के साथ हुई है या मेरे साथ?" के.पी. के अंदर मची खलबली और भी बढ़ गई। "क्या मैं और सिक्खी एक हैं या कि दो?...पानी और तेल?" यह सब सोचते हुए के.पी. और भी उलझ गया।

कॉमन-रूम में क्लीन-शेव कुलीग्ज़ के साथ

हाथ मिलाते समय के.पी. उनकी नज़रों तथा हथ-घुटाव से अपनी शंकाओं के उत्तर ढूँढ़ता रहा। डॉ. धर्म सिंह वाली लकीर उसको कहीं भी नज़र नहीं आई। सब कुछ आम दिनों की ही भाँति था। बल्कि, इसके विपरीत प्रधान अनिल धीमान तथा सचिव रूमेश छाबड़ा के व्यवहार ने के.पी. के अंतस में छिड़े घमासान को मूलतः शांत कर दिया। वे बड़ी गंभीरता के साथ उसी के केस पर विचार कर रहे थे।

''आ जाओ, आ जाओ प्रोफ़ेसर साहिब! आप ही की प्रतीक्षा कर रहे थे, बैठो प्लीज़!'' प्रधान ने अपने साथ वाली कुर्सी की ओर संकेत करके कहा और बड़े आदर से उसे बैठाया।

''हाँ जी, सर! कोई और प्रॉग्रेस?'' उनके स्निग्ध व्यवहार से के.पी. को आशा की किरण नज़र आई।

''प्रोफ़ेसर साहिब, दो भरपूर मीटिंगें प्रिंसिपल के साथ हो चुकी हैं, हर एक पक्ष से उन्हें भली-भाँति अवगत करवा दिया गया है, अब देखते हैं...।'' सचिव छाबड़ा ने बात तो शुरू की पर कुछ स्पष्ट कहने से रुक गया। के.पी. को उसका यह व्यवहार तनिक चुभा।

''प्रोफ़ेसर साहिब वास्तव में बात यह है कि प्रिंसिपल के एडामेंट व्यवहार के साथ बात उलटी दिशा में मुड़ गई है। वे कहते हैं कि मैनेजमेंट ने क्लीयरली कह दिया है। बट, यू डोंट वरी, यूनियन आपके साथ है। हमने यह निर्णय लिया है कि यदि उन्होंने कल को मैडम सुधा को ज्वॉयन करवाया तो उसी समय हम धरने पर बैठ जाएँगे। आख़िर जीत तो यूनियन की ही होनी है। मैनेजमेंट को अपना डिक्टेटरी रूप त्यागना ही पड़ेगा। हौसला रखें आप।'' प्रधान ने सारी योजना के बारे में स्पष्ट करते हुए के.पी. की पीठ पर सांत्वना भरी थपकी दी।

''ओ.के. सर, शायद बात...'' के.पी. आशा तथा निराशा के बीच पेंडुलम बन गया। वह वहाँ और न रुक सका। फिर भी प्रधान का थपकी वाला हाथ उसे घर पहुँचने तक अपनी पीठ पर फिरता महसूस होता रहा। यह हाथ कोई अकेला नहीं था, इसमें पूरे स्टाफ़ के हाथ शामिल थे। इतने हाथों की शक्ति के होते हुए मैनेजमेंट की क्या मज़ाल थी? अपना यह हुलास के.पी. ने घर पहुँचकर सुरजीत कौर के साथ साँझा किया तो वह विरोधी रुख़ अपनाते हुए बोली, ''ये यूनियनें-वूनियनें आजकल किसी का कुछ भी सँवारने योग्य नहीं। नेता लोग तो जलती आग पर अपनी रोटियाँ सेंकने वाले होते हैं। यूँ ही न आना उनके झाँसे में, ज्वॉयन करने की सोचो, कल को लास्ट डेट निकल गई तो पछताओगे। वैसे भी उड़ते हुओं के पीछे भागने का लाभ कोई नहीं।'' सुरजीत कौर की सांसारिक सूझ ने के.पी. का हौसला फिर लड़खड़ा दिया।''

''मैं...मैं अब कैसे कर सकता हूँ ज्वॉयन? यूनियन कल को धरने का निर्णय ले चुकी है, इस तरह तो...'' के.पी. मँझधार में गोते खाने लगा।

''मैं तो कहती हूँ, कुछ नहीं निकलने वाला इन धरनों-वरनों से! कहते हैं, आग लगाई डब्बू दीवार पे, भला इन बनियों-ठनियों की कैसी यूनियनें और कैसे धरने? जिस तरफ़ का पलड़ा भारी हुआ, झुक जाएँगे। मैं बताती हूँ तुम्हें, यह क़ौम तो चींटियों की भाँति चीनी की यार होती है, नमक की नहीं। गुज़रा वक़्त फिर हाथ नहीं आया करता। सयाने कहते हैं कि सारा जाता देखकर, आधा लुटा दो। बुढ़लाडा क्या निपूते का कालापानी है कि वहाँ लोग-बाग़ नहीं बसते?'' सुरजीत कौर ने जैसे क़ाफ़िले के साथ चलते के.पी. को बाँह से पकड़ अलगा दिया। क़ाफ़िले के साथ वह कितना उत्साहित था, और अकेला, जैसे कि किसी मरुस्थल में भटक गया हो।

भटक ही तो गया था के.पी.। ज्वॉयन करने

की तारीख गुज़र जाने के पश्चात् जब के.पी. को सस्पेंड किए जाने का नोटिस मिला और ड्यूटी से कोताही का केस इन्क्वायरी कमेटी के हवाले हो गया, तो उसके पास भटकन ही तो बची रह गई थी। सब कुछ बदल गया था। अब सुबह पढ़ाने जाने के स्थान पर धरने पर बैठने के लिए जाना होता, क्लास में लेक्चर देने के स्थान पर लीडरों के भाषण सुनने होते और घर पहुँचकर योजनाएँ सोचनी पड़ती कि आधी पगार में घर के ख़र्चे कैसे पूरे करने हैं। सभी कुछ भटकाने वाला ही तो था।

अपनी बात न मानी जाने के कारण सुरजीत कौर कुछ दिन तो घुटी-घुटी फिरती रही, पर के.पी. को सस्पेंड करने वाला नोटिस देखते ही उसका व्यवहार एकदम बदल गया।

"लो, उन्होंने कर दिया जो कुठाराघात करना था, अब इकट्ठे होकर उस घट-सिरे प्रिंसिपल को ऐसा सबक सिखाओ कि उसे छठी का दूध याद आ जाए। अक्ल आ जाए ठिकाने। जान लें कि दूसरे भी नहले पे दहला मार सकते हैं। अब घर बैठे रहकर रिरियाने से बात नहीं बनेगी।'' ढीली, उत्साहहीन-सी बातें कर रहे के.पी. को सुरजीत कौर ने सबल करके धरने पर जाने के लिए प्रेरित किया।

नए हालात से जूझने के लिए सुरजीत कौर ने अनेक योजनाओं में पड़ने के स्थान पर तुरंत अभ्यास ही शुरू कर दिया। बजट के लिए दूध की मात्रा आधी कर दी। दो समाचार-पत्रों में से एक बंद करवा दिया। काम वाली से आधे काम छुड़वा लिए। माली का कार्य भी ख़ुद सँभाल लिया। सब्ज़ी रेहड़ी वाले से लेने के स्थान पर 'अपनी मंडी' से सस्ती ख़रीदकर लाने लगी। बच्चों को ऐरी-ग़ैरी चीज़ें लेकर खाने की सख़्त मनाही कर दी। जहाँ से भी दो पैसे की बचत होती दिखाई देती, वह करती। उसने सिर आ पड़ी आफ़त के विरुद्ध हर प्रकार की मुहिम चला दी। बच्चों को स्कूल भेजकर वह के.पी. की तैयारी करने में जुट जाती, जैसे उसे लाम पर भेजना हो। जूते नित्य पॉलिश करती, पैंट-शर्ट प्रेस करके ही पहनने देती और कभी भी ढीली-ढाली पगड़ी को सिर पे न रखने देती, बल्कि हर रोज़ ही बदलकर बाँधने के लिए बाध्य करती। साथ-ही-साथ यह पाठ भी दोहराती रहती कि शत्रु के सामने कभी मुरझाया चेहरा लेकर न जाया जाए। तैयार-बर-तैयार मनुष्य आधी लड़ाई तो अपने ऊपरी-प्रभाव से ही जीत लेता है। के.पी. ने सुरजीत कौर का यह व्यावहारिक एवं जुझारू रूप पहली बार देखा था। घर से चलने को तैयार के.पी. के लिए वह कोई उत्साहवर्धक बोल ज़रूर बोलती, ''कहते हैं, लगी तो चींटी ही बहुत होती है और हम तो ठहरे आदमी, बस तगड़े होकर लगे रहो अब।''

''...चींटी ही बहुत होती है...'', सुरजीत की यह सांत्वना भरी बात के बोल के.पी. को सामने वाली दीवार पर प्रत्यक्ष होते नज़र आए। कई चींटियाँ चलते-चलते दीवार पर बिखरी चाय के सूखे छींटों को सूँघती हुई ज़रा-सा अटकतीं और फिर आगे चल पड़तीं। कइयों ने अपने भार से भी कहीं अधिक भार उठाया हुआ था। के.पी. को उनका जोश देखकर बड़ी हैरानी हुई। वह उनकी मंज़िल देखने के लिए क़ाफ़िले के साथ-साथ चल पड़ा। वे बेडरूम से होती हुई लॉबी की दीवार के साथ-साथ चलतीं, अंत में बाथरूम की चौखट की दरार में से अंदर घुस जाती थीं। इस बाथरूम का उपयोग नाममात्र ही होता था, अत: उन्होंने बड़ा सुरक्षित ठिकाना ढूँढ़ा था। टॉयलेट की ऊँची थड़ी पर फ़्लश-सीट के साथ वाली बची दरार को उन्होंने अपना बसेरा बना रखा था।

''लो, तुम तो देखो एक बार प्रलय का नमूना!'' कहते हुए खीझे हुए के.पी. ने पानी का मग भरकर दरार पर डाल दिया। बेबस चींटियाँ

फ़्लश में बह गईं। एक बार तो ऐसा लगा जैसे चींटियों का सफ़ाया हो गया हो, पर अगले ही पल वे दरार से और अधिक निकलने लगीं। उनके मुँह में अब अंडे भी थे। लगता था मानो ख़तरे को भाँपते हुए उन्होंने आवश्यक वस्तुओं की सँभाल शुरू कर दी थी। फिर उनके अपने अंडों से अधिक मूल्यवान और कुछ हो भी क्या सकता था?

''लो, अब बचकर दिखाओ तो जानें!'' उसने एक और मग उड़ेल दिया। चींटियाँ फिर बह गईं, पर एक-दो बच-बचाकर दीवार पर भी जा चढ़ीं। के.पी. को लगा जैसे वे कह रही हों, ''लो, देख लो फिर।'' चींटियों के इस मज़ाक़ पर के.पी. को गुस्से के स्थान पर हँसी आ गई। अब उसने काफ़ी देर तक पानी न डाला और चींटियों की भाग-दौड़ का तमाशा देखने लगा।

''लो, साला नन्हा-सा जीव ही काफ़ी है, अगर अपनी आई पे आ जाए तो—रत्ती भर शरीर में प्रकृति ने कितनी शक्ति भर छोड़ी है!'' के.पी. ने उन दस-बारह चींटियों पर आश्चर्यचकित होकर सोचा, जो एक अधमरे कॉकरोच को बाथरूम की ओर घसीटती ला रही थीं।

''सचमुच ही चींटी ने मार लिया होगा हाथी को,'' के.पी. की स्मृति में से वह लोक-कथा गुज़री, जिसमें चींटी तथा हाथी के मुक़ाबले के दौरान चींटी हाथी की सूँड़ में प्रवेश कर गई थी और हाथी वृक्ष से अपना सिर पटकता मर गया था।

''...सत्ता के मदमस्त हाथी पर सवार ये लोग दूसरों को चींटे-चमोटे ही तो समझे बैठे हैं!'' धरने में बोलते डॉ. धर्म सिंह ने प्रिंसिपल के दफ़्तर की ओर उँगली साधकर पूरी गटकती आवाज़ में कहा, ''ये हमें पाँवों तले रौंदने के मनसूबे बनाते फिर रहे हैं, भ्रम में हैं ये। इन्हें नहीं मालूम कि जब किसी की आस्था बचित्तर सिंह की नागिनी रूप धारण कर ले तो मस्त हाथियों में भी भगदड़ मच जाया करती है। मैनेजमेंट भ्रमित है, प्रिंसिपल तथा उसके चमचों को अपनी ढाल समझे बैठी है, हमारे संघर्ष को फ़ेल करने की चालें चली जा रही हैं। इन ढालों व चालों से कुछ भी सँवरने वाला नहीं। कहते हैं दशम पातशाह के लाडले सिक्ख ने जब तेग़ चलाई तो मुग़लों के मस्त हाथी के मस्तक पर बँधी ढाल एवं उसका सिर दोनों ही रेज़ा-रेज़ा हो गए। अब ये हमारे सब्र की परीक्षा लेने लगे हैं। आज के.पी., कल को कोई अन्य और परसों को यह किसी तीसरे की बली माँगेंगे। आओ, इकट्ठे होकर इक्कीस की इकत्तीस डालें...हमारी यूनियन...ज़िंदाबाद, ज़िंदाबाद! मदमस्त हाथी... मुर्दाबाद, मुर्दाबाद!'' डॉ. धर्म सिंह के भाषण और नारों का मिला-जुला प्रभाव पड़ा। कई मंद-मंद मुस्कुराए, कानाफूसी करते 'बड़ा ख़ालिस्तानी' कहकर छुपते-छुपाते नाक-भौं सिकोड़े। पर प्रधान पूरी तरह से खिल उठा। डॉ. धर्म सिंह के करारे शब्दों ने मुर्दा-चाल चल रहे धरने में जोश फूँक दिया, नहीं तो प्रधान धरने के उस फ़ीके पड़ रहे उत्साह पर चिंतित होने लगा था। टेंपररी तथा एडहॉक लेक्चररों की विवशता समझते हुए यूनियन ने उन्हें पहले ही धरने से छूट दे रखी थी। सीनियर टीचर्स आते और 'बूढ़े शरीर के साथ बैठने की दिक़्क़त' की दुहाई देते हाज़री लगाकर उठ जाते। प्रिंसिपल का हितैषी धड़ा सिर्फ़ ख़बर-सार लेने के लिए ही आता था धरने पर चक्कर लगाने। यह धड़ा तो गुप्त रहते हुए विद्यार्थियों को भड़काकर समानांतर धरना लगवाने का भी प्रयत्न कर रहा था। यूनियन की इच्छा थी कि छुट्टियों से पहले-पहले किसी किनारे लग जाए पर इस मैनेजमेंट के कठोर व्यवहार के कारण यह इच्छा पूर्ण होती नहीं दीख रही थी।

जब सभी वक्ता बोल चुके तो प्रधान बात समेटने के लिए उठा। उसने बड़े सुलझे हुए शब्दों में बोलना आरंभ किया, ''अध्यापक

साथियो! बहुत सारी बातें हो चुकी हैं, मैं उन्हें दोहराऊँगा नहीं। सचिव महोदय ने ठीक कहा कि हम कहने को भले ही के.पी. के लिए लड़ रहे हैं, परंतु वास्तव में हम न्याय के लिए संघर्षरत हैं। मैं इसी लड़ी में मजीद कहना चाहता कि हमारी यह लड़ाई किसी पर्टीकुलर व्यक्ति के विरुद्ध भी नहीं है, हम तो सत्ता के जुल्म के विरोध में हैं, जिसे डॉ. धर्म सिंह ने 'मस्त हाथी' का नाम दिया है। सत्ता चाहे हाथी हो, चाहे किसी की फ़ोरम में नज़र आए, उसका लक्ष्य सिर्फ़ और सिर्फ़ पॉवर हथियाना ही होता है। हमें उसकी ठीक से पहचान करनी है। यदि हम सत्ता के प्रत्येक रूप, प्रत्येक चाल को समझ लेंगे तब ही हमारी विजय होगी। आओ, अपनी एकता का सबूत दें...अध्यापक यूनियन, जिंदाबाद...जिंदाबाद!'' प्रधान ने बात अभी समाप्त ही की थी कि नारे लगाते विद्यार्थियों की एक टोली, धरने वाले स्थान की ओर बढ़ती नज़र आई।'' पढ़ाई नहीं, तो फ़ीसें भी नहीं...अब धरने और नहीं जरने, टीचर्स-पॉलिटिक्स, बंद करो...मुर्दाबाद, मुर्दाबाद!'' विद्यार्थियों ने बराबर का धरना लगा दिया। प्रधान ने टीचर्स को धैर्य बनाए रखने की अपील की। इससे स्थिति सँभल गई, पर दूसरे रोज़ समाचार-पत्रों को अच्छा मसाला मिल गया।

अध्यापकों और विद्यार्थियों-अभिभावकों के मध्य खींचतान बढ़ती देखकर यूनियन को अपना पैंतरा बदलना पड़ा। धरने का समय क्लासों के पश्चात् रख लिया गया। इसके साथ विद्यार्थियों का विरोध तो थम गया, पर धरने का जोश ठंडा पड़ गया। कक्षाएँ रोजमर्रा की भाँति लगने लगीं और मैनेजमेंट पर भी दबाव जैसी कोई बात न रही। धरना लटक गया। छुट्टियों में तो गिनती नाम-मात्र ही रहने लगी। बहुत बार तो यूनियन के ओहदेदार तथा डॉ. धर्म सिंह जैसे गिने-चुने लोग ही बैठे होते। लेडी-टीचर्स तो उनमें कोई भी न होती। धरने से कन्नी काटने के लिए अध्यापक ऐसे-ऐसे नगण्य बहाने गढ़ते कि उन पर ग़ुस्से के स्थान पर हँसी अधिक आती। के.पी. का पड़ोसी, संस्कृत वाला शास्त्री राममूर्ति तो इस पक्ष में प्रथम था। वह आहिस्ता से प्रधान की बाँह पकड़कर धरने से परे ले जाता और कहता, ''प्रोफ़ेसर धीमान, बात यह है कि अचानक एक मुश्किल आन पड़ी है। बात यह हुई कि पीरियड के दिनों में श्रीमती जी की तबीअत ठीक नहीं रहती, तो घर का काम...बच्चे इत्यादि...माफ़ करना...अब मैं दो-तीन दिन...ही-ही-ही-ही'', शास्त्री जी हाथ जोड़ते और खिसियानी-सी हँसी-हँसते चले जाते। पर अपने पीछे चोंच-चर्चार्थ अजीब-सा विषय छोड़ जाते।

''साथियो! लगता है अगला धरना मर्दों को मेनसिज़-लीव दिलवाने के लिए लगाना पड़ेगा, तैयार रहिएगा।'' प्रधान ने शास्त्री वाली बात साँझी की तो सभी हँस पड़े। बस केवल के.पी. न हँस सका। धरने के दिन-ब-दिन ढीले पड़ते जाने की वजह से उसकी कनपटियों का कसाव और बढ़ गया। दिन तो धरने पर बैठकर बीत जाता, पर रात तो मुश्किल से करवटें बदलते बीतती।

''यदि तब तेरी बात मानकर ज्वॉयन कर लेता तो अच्छा रहता, बस यूँ ही उलटा पंगा ले लिया।'' के.पी. ने सुरजीत कौर का मन टटोला। उसके भीतर पश्चात्ताप पसरने लगा था।

''यह निपूती किसी के द्वारा पकड़ी गई है, क्या? कहते हैं गुज़रे वक़्त को तो घोड़े भी पकड़ नहीं सकते। चलो, अब तो धैर्य कर लेने से ही छुटकारा मिलेगा।'' सुरजीत कौर ने उसे ढाँढ़स बँधाया। वह देर रात तक के.पी. के साथ बातों में व्यस्त रहती, पर के.पी. का मन किसी बात पर न टिकता। कभी-कभार उसके मन में विचार उठता कि यूनियन से चोरी-चोरी प्रिंसिपल से जाकर मिले, बुढ़लाडा ही ज्वॉयन करवाने के

लिए मिन्नत आदि कर देखे। कदाचित् उसका मन पसीज जाए। पर प्रधान और सचिव के सुहृदय प्रयत्न उसकी राह रोक लेते। वैसे भी उसे लगता कि यदि प्रिंसिपल न माना तो वह न घर का रहेगा और न ही घाट का। इस प्रकार से यूनियन की सहानुभूति खो जाने का भी खटका था। मार्ग तो बस एक ही बचा था, और वह था सिर पर आ पड़े युद्ध को मर्दों की भाँति एक किनारे तक ले जाना। पर गिनती के धरनाकारियों के सहारे इस लड़ाई को सिरे तक कैसे लाया जा सकता था। यदि किसी दिन ऊबकर प्रधान व सचिव भी हार मान गए तो फिर क्या होगा? यह सोचते के.पी. को एक-एक करके सभी राह बंद होते नज़र आते। ऐसे अवसर पर उसका मन करता कि डॉ. धर्म सिंह के पास जाकर मन का ग़ुबार निकाल ले। पर यह ग़ुबार तो और भी बढ़ गया जिस दिन पता लगा कि सस्पेंशन का प्रभाव उसके बच्चों पर भी पड़ना शुरू हो गया था।

के.पी. सायंकाल को धरने से लौटा था। सुरजीत कौर उसके लिए चाय बनाने लगी। वह आँखें बंद करके पीठ सीधी करने के लिए लेटा हुआ था। बाहर बरामदे में बच्चे बातों में लगे हुए थे।

''दीदी, हम ग़रीब हैं कि अमीर?'' प्रथम कक्षा में पढ़ते मनी ने अपनी आयु से कहीं बड़ा प्रश्न कर दिया था।

''अमीर हैं और क्या, अपने पास टी.वी., फ्रिज, हीरो-होंडा सभी कुछ तो है!'' नीतू ने अपनी ओर से पूरी तसल्ली करवाने की कोशिश की।

''पागल, ये तो सभी के होते हैं, अमीर तो वे होते हैं जो रोटी नहीं खाते।'' मनी के बचकाना तर्क से नीतू खिलखिलाकर हँस पड़ी।

''फिर और क्या खाते हैं वे?'' नीतू ने पूछा।

''मेरी कक्षा का एक बच्चा बहुत अमीर है, कभी-कभी मेरे साथ बैठता है।'' मनी ने कहानी-सी सुनाते उत्तर स्वरूप कहना शुरू किया, ''वह कभी नूडल्स, कभी केक, कभी ब्रेड, कभी चिप्स लाता है। आज न उसका टिफ़िन गिर गया, सारी-की-सारी उसकी नूडल्स बिखर गई फ़र्श पर। मैंने कहा मेरे से रोटी और अचार ले ले, उसने नहीं ली। कहने लगा रोटी तो ग़रीब लोग खाते हैं। फिर एक बच्चे ने ब्रेड दे दी, उसने खा ली। मैंने भी उसके साथ कुट्टी कर ली।'' मनी रुआँसा हो गया।

''तो तू भी ले जाया कर नूडल्स!'' नीतू ने उसका मन रखने को कह दिया।

''मम्मी लेकर दे कुछ तब न! कुछ भी नहीं लेने देती, मम्मी बहुत ग़रीब है, नित्य रोटी भिजवा देती है।'' मनी ने पूरी खीझ से कहा, तो सुनकर के.पी. का भी मन भर आया। उसने विचार किया कि चाय लेकर आई सुरजीत कौर से कहेगा, ''मनी को स्कूल में नित्य रोटी न भिजवाया कर, इस प्रकार बच्चे में हीन-भावना...'' पर कप पकड़ते समय वह केवल इतना ही कह सका, ''आज यूनियन के धरने के साथ-साथ कोर्ट जाने का भी डिसीज़न लिया गया है, केस का सारा ख़र्च यूनियन ही करेगी, अपने ऊपर नहीं बोझ पड़ने देंगे किसी प्रकार का।'' के.पी. को चाय फीकी महसूस हुई, जैसे सुरजीत कौर चीनी डालना भूल गई हो, या फिर यह भी बचत के लिए...।

''चलो, शाबाश उनके! यदि हमें जलती आग में झोंककर स्वयं किनारा कर लेते, फिर हम क्या बिगाड़ लेते उनका! हमें तो अब साथ खड़े होने वालों का ही सहारा है।'' सुरजीत कौर के बोल में बेबसी झलकने लगी थी। के.पी. ने कोई और बात न की। सुरजीत कौर अपनी बेरोज़गारी का क़िस्सा छेड़ बैठी, ''ऐसे अवसर पर यदि मेरे पास कोई छोटी-मोटी नौकरी होती तो घर का गुज़ारा आसानी से चलता रहता! के.पी. उसकी बात अनसुनी करके दूसरी ओर मुँह करके लेट गया, जैसे नींद आ रही हो। उसका शरीर

...कुल ही शिथिल हुआ पड़ा था। उसे अपना ...भी गिरता-सा अनुभव हुआ। उसे लगा जैसे ...और नहीं लड़ सकेगा। वह अंदर-बाहर से ...तरह हारा हुआ महसूस करने लगा।

"तो, तुम जीती और मैं हारा!" के.पी. ...टियों वाली दरार में पानी डालकर ग़लती कर ...था। पानी ज़रा सूखता तो चींटियों का एक ...दल बाहर निकल आता। के.पी. पानी ...ता थक गया था। अंत में थक-हारकर उसने ...कमरे में आ लेटने का निर्णय लिया। ज़रा-सी ...लगी थी कि उसे नाक में जलन महसूस ...। 'शायद चींटियों...' उसने चौंकते हुए उठकर ...में उँगली फिराई। वैसे ही रेशा-सा उतर ...था। चींटियों का तो कहीं नामोनिशान भी ...था। शायद ख़तरा टल गया जानकर वे भी ...गई थीं। बाहर धूप में तीखापन था, उसकी ...रोशनदान के शीशों में से छनकर आ रही ...उमस और भी बढ़ गई थी "चल रे मन! ...भी टिक लें घड़ी-पल" कहकर वह अभी ...ही था कि ट...ऽन की भयंकर ध्वनि से ...-सा गया। "तीखी दोपहरी में यह कौन बे-...जात आ टपकी?" खीझ से भरा, सोचता ...वह दरवाज़े की ओर लपका।

"प्रोफ़ेसर साहिब हम तो न टिकें न आराम ...ने दें, यूनियन की यह मूड़ी कहाँ टिकने ...है भला?" कहते हुए पसीने से तर-बतर ...प्रधान अनिल धीमान अंदर आ गया। उसकी ...की भीतरी खीझ, बेबसी तथा रहस्यमयता ...भौंचक्का रह गया।

"...ख़ैर तो है प्रधान जी?" प्रधान के इस ...पर के.पी. को कोई नई मुसीबत के ...का आभास हुआ। उसके मन में बेचैनी भर ...

"ख़ैर है तो नहीं, पर अब किसी-न-किसी ...करके ही साँस लेंगे।" प्रधान के शब्दों ...के साथ-साथ ग़ुस्सा भी उतरने लगा

"हुआ क्या है?" के.पी. की व्याकुलता और बढ़ गई।

"आप जानते ही हैं, मैं और सचिव महोदय कल से चंडीगढ़ गए हुए थे, अपने वकील ग्रेवाल जी के पास। उन्होंने सीधा तो ख़ैर कुछ नहीं कहा, पर हमारी जजमेंट यह है कि होपलेस लगता है। अपनी अंडरटेकिंग देने वाली बात मैनजमेंट के हक में जाती दिखाई देती है।" कहकर प्रधान उँगलियाँ मटकाने लगा।

"फिर अब?" के.पी. की साँस अटक गई, जैसे तेज़ तरंग के साथ किसी गहरे गर्त में बह गया हो।

"यही मशवरा करने आया हूँ। चंडीगढ़ से लौटकर, घर में शांति नहीं मिली, बस पानी पीकर इधर ही चला आया। लगता है अब कोई बोल्ड स्टेप उठाना पड़ेगा। अकेले धरने से अब बात नहीं बनेगी। धरने में अपनी कम्यूनिटी का हाल तो आपने देख ही लिया है। अधिकांश तो सेल्फ़ इंट्रेस्ट के बिलों में घुसे बैठे हैं। कॉमन-कॉज़ के लिए तो बरबस खींच-खाँचकर निकालने पड़ते हैं। वह ग्रेडों की डिवीज़न वाले केस में देखो धरने को क्या ग़ज़ब की स्वीकृति मिली थी, और इस बार...? अब क्या कहा जाए, यू नो वेल, दिस इज़ हार्ड फ़ैक्ट...स्टाफ़ की स्ट्रेंथ के बिना भला अकेली यूनियन क्या प्रेशर बिल्ड कर सकती है?" प्रधान को निराशा की दलदल में कानों तक धँसा देखकर के.पी. के होश उड़ गए।

"फिर, अब तो मरण-व्रत का रास्ता ही बचा है शायद।" के.पी. के भीतर लावे जैसा कुछ पिघलने लगा।

"ओ नो! अभी इस एक्स्ट्रीम तक नहीं जा सकते, डेमोक्रेटिक टेक्टिक्स भले ही सफल नहीं हो रहे पर अभी एक डिप्लोमेटिक युक्ति की गुंजाइश बाक़ी है।" प्रधान ने अपनी नेताई सूझ के साथ कहा। फिर मस्तक के मध्य में उँगली व

अँगूठे से चिकोटी-सी भरकर इस प्रकार ध्यानमग्न होने का प्रयास किया जैसे मस्तिष्क के सागर-मंथन से कोई रत्न तलाश कर रहा हो। जब वह मिल गया तो बड़े सहज-भाव से बोला, "एक पत्ता और है, यदि ठीक लगे तो उसका उपयोग किया जा सकता है, वकील साहिब ने भी इसका हिंट दिया था, पर..."

"प्लीज़, जल्दी बताओ सर, जो भी है, जिस तरह भी..." के.पी. के धैर्य का बाँध टूट गया। वह तो अब आर या पार जैसा निर्णय चाहता था। पर प्रधान कोई अकस्मात्-विस्फोट करने के स्थान पर भूमिका बाँधने लगा।

"देखिए, प्रोफ़ेसर साहिब! यूनियन हर पक्ष से आपके साथ है, यदि केस हाईकोर्ट में से लूज़ कर गए तो सुप्रीम कोर्ट में भी पिटीशन करेंगे। पर एक काम आप ही के करने का है, आप..." प्रधान फिर रुककर मुँह से निकाली जानेवाली बात को अंदर-ही-अंदर तोलने लगा। उसने के.पी. के चेहरे को भी भाँपा कि बात का उसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ सकता है। उसे लगा, भूमिका को और भी मज़बूत करना पड़ेगा।

"...मेरी भावना को ठीक अर्थों में लेने की कोशिश करना, प्लीज़। यूनियन के प्रधान होने के नाते मैं यह कहना नहीं चाहता था। यह बात मेरे स्वभाव के अनुकूल भी नहीं, पर मेरी भावना...मैं हर प्रकार से केस में जीत ही का मुँह देखना चाहता हूँ। वैसे भी प्रेम तथा युद्ध में 'एव्रीथिंग फ़ेयर' ही कहा जाता है। किसी गुप्त भय के कारण मैं यह बात अभी तक प्रोफ़ेसर छाबड़ा के साथ भी साँझी नहीं कर सका। बात..." प्रधान ने गले में अटके थूक को निगला और साथ ही बात भी जैसे गले के नीचे जा गिरी।

के.पी. को जैसे प्रधान की बात सुनाई देनी बंद हो गई। इतनी लंबी ऊबाऊ भूमिका के पहाड़ के नीचे से कुछ भी न निकलता देखकर उसका रक्त खौलने लगा। उसने बेड के सिरहाने की किनारी को इस प्रकार कसकर पकड़ लिया, जैसे अभी उसे उखाड़कर प्रधान के सिर पर दे मारेगा तथा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा। उसने पूरा ज़ोर लगाकर अपने-आपको बात के अंत तक नियंत्रित रखना चाहा।

"प्रोफ़ेसर साहिब! बात यह है कि आप माइनॉरिटीज़ कमीशन के पास भी अपील करें।" प्रधान को लगा कि वह अभी तक भी बात पूरी तरह कह नहीं पाया।

"इससे क्या उनका...?" के.पी. बड़ी मुश्किल से मुँह तक आ गई गाली को रोक सका।

"प्रोफ़ेसर साहिब इसके साथ तो भारी विस्फोट हो सकता है। एक प्रेस-कॉन्फ्रेंस करके अपनी विक्टमाईज़ेशन के केस को सिक्ख इश्यू बना डालो, फिर देखना लोग कैसे चींटियों की मानिंद इकट्ठे होते हैं!" प्रधान ने सिक्ख के स्थान पर 'लोग' शब्द का प्रयोग किया था, पर उसे इस प्रकार आभास हुआ जैसे किसी ने अपनी ही कनपटी पर रखे हुए रिवॉल्वर का स्वयं ही घोड़ा दबा दिया हो।

"ओ माई गॉड!" इस द्रौपदी-गुहार से अधिक के.पी. अन्य कुछ भी बोल न सका। उसका शरीर सुन्न हो कर झनझनाने लगा, जिस प्रकार किसी ने चींटियों की अंजलि भरकर उसके गिरेबान में डाल दी हो। हज़ारों दंशों की चुभन से उसका समस्त शरीर जल उठा। ओह!

"जा...ल...मों...औ...र...कित्ता...तड़पा-ओगे?" चींटियों के दंशों से आहत के.पी. बड़बड़ाता करवटें बदल रहा था। लाखो चींटियाँ उसे घसीटकर बेड से नीचे गिराने का प्रयत्न कर रही थीं। आख़िर उन्होंने घसीट ही लिया। अब घसीटते सरकाती हुई वे उसे अपने बिल की ओर घसीटने के लिए ज़ोर लगाने लगीं। फ़्लश की दरार से

कर, अपने बिल में ले जाने लगीं। के.पी. का सताया चीख़ता-चिल्लाता, पर चीख़ें गले में ही अटक कर रह जातीं। के.पी. देखकर हैरान हुआ कि पाताल-लोक में यों का राज्य था। खाद्य-पदार्थों के भंडार पड़े थे, फिर भी चींटियाँ मातृ-लोक से दाने, के चूर और कितना ही अन्य कुछ खींचती आ रही थीं। चबूतरे पर एक तोंदल-सी मख़मली गलीचों पर दरबार लगाए बैठी के.पी. को उस रानी जैसी लगती चींटी के पेश किया गया।

"रानी साहिबा! यह वही मनुष्य है..."

यों एक ही स्वर में बोलीं। उसे देखकर चींटी व्यंग्य से इस प्रकार मुस्कुराई जैसे के.पी. कोई अद्भुत जीव हो। के.पी. वाह-सी मुस्कान सहन न कर सका, पर का कोई वश न चला। चबूतरा ऊँचा था और था चींटियों की पकड़ में।

"इसका दोष क्या है?" रानी चींटी ने पूछा।

"इसने चींटियों को फ़्लश में बहाकर प्रलय मचाई थी।" चींटियाँ क्रोध में चीख़ीं।

"मातृ-लोक वालों से और आशा ही क्या जा सकती है, प्रलय के सिवाय? ये तो अपनी ही नस्ल का घात कर देते हैं, और बेचारी चींटियों तो...।" व्यंग्य-बाण छोड़ती रानी चींटी व्यवहार देखकर वह दहल उठा। कड़ी से सज़ा के लिए तैयार होते हुए वह पसीने में उठा। उसके होंठ सूखने लगे। आँखों के अँधेरे में गोल घेरे नाचने लगे और कनपटियों की चुभन महसूस होने लगी।

"रानी साहिबा, इसकी सज़ा?" चींटियाँ की प्रतीक्षा करने लगीं। रानी चींटी ने सोचा और फिर सहज भाव से बोली, माफ़ किया। हमें आदमजात जैसा व्यवहार करना, इसे बा-इज़्ज़त वहीं मातृ-लोक में आओ।" रानी चींटी ने आदेश दिया।

चींटियों का हुजूम एक जुलूस की शक्ल में के.पी. को वापिस ले चला। उसे मार्ग जाना-पहचाना लगा। सचमुच यह तो उसके गाँव ही का रास्ता था। उसने ध्यान से पीछे की ओर देखा, जुलूस में लोग भी उसी गाँव के थे, पर चींटियों के धड़ों पर नर-सिरों वाले। के.पी. हारों से लदा खुली जीप में सवार था। साथ ही उसके भाई खड़े थे। उसकी पीठ के पीछे प्रधान अनिल धीमान गुलाबी रंग की तुर्रे वाली पगड़ी बाँधे खड़ा था। जुलूस बुढ़लाडे की सड़कों से गुज़र रहा था। अंत में वह लुधियाना कॉलेज में पहुँच गया। प्रिंसिपल के कार्यालय के आगे पहुँचते ही जयघोष के रूप में 'जै-कारे' गूँज उठी, "बोले सो निहाल...सत् श्री आकाल।" पूरा कॉलेज रंग-बिरंगी पगड़ियों का लहलहाता सागर नज़र आने लगा। जै-कारों के साथ ही लोगों के इस सागर में कभी-कभी संगीत की एक लहर-सी भी उठती, "उच्चा दर बाबे नानक दा, मैं...।"

"शोभा सुन के आया, उच्चा दर..." प्रभात-फेरी वाला संगत के शब्द और 'जै-कारों' को सुनकर के. पी. की आँख खुली। वह कहाँ था? उसने इस प्रकार आसपास टटोला जैसे कि वह कहीं खो गया हो। अपने ही घर, अपने ही बिस्तर पर होने के अहसास से उसे तसल्ली मिली। वह अभी तक भी स्वप्न के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका था। 'सिक्ख इश्यु...' प्रधान का मशविरा उसके मस्तिष्क से फिर गुज़रा, पर इससे वह अब रत्ती भर भी बेचैन नहीं हुआ। सपना उसे सत्य होता महसूस हुआ। गुरु-घर के 'थापड़े' वाला हाथ उसे अपनी पीठ पर फिरता प्रतीत हुआ। लेटे-लेटे उसके मन में एक रीझ ने जन्म लिया कि आज गुरुद्वारा होकर आएगा। उसे हैरानी हुई, वह तो मुश्किल से ही कभी सुरजीत कौर के कहने पर साल में एकाध बार ही कभी गुरुद्वारा जाया करता था। इन दिनों किस गुरु का गुरुपर्व था, के.पी. को यह भी स्मरण न आया।

''किस तरह का सिक्ख हूँ मैं?'' के.पी. ने अपने आपको फटकारा। उसने अँगड़ाई लेकर आलस्य उतार फेंका और सामने वाली दीवार की ओर देखते हुए कहा, ''उठ रे दरिद्री, तेरे से तो ये चींटियाँ ही बाज़ी ले गईं।'' चींटियाँ पूरे जोश के साथ, कल ही की भाँति श्रम में जुटी हुई थीं। के.पी. को अपने अंदर किसी शक्ति का अनुभव हुआ।

उसने चाय बनाकर पी। इर्द-गिर्द देखा, चींटियों का पूरे घर पर ही क़ब्ज़ा था। के.पी. के मन में पता नहीं क्या आया कि वह पायजामा टाँगकर घर की सफ़ाई में जुट गया। शरीर पसीने से तर-ब-तर हो गया। पर घर की शक्ल ही बदल गई। एक बार तो चींटी किसी तरफ़ देखने पर भी न मिली। उसके भीतर विजयोल्लास पैदा हो गया। जी भर के नहाया वह। तन और मन दोनों ही पुष्प सरीखे हल्के हो गए। वह पूरे इत्मिनान के साथ तैयार हुआ। 'सिक्ख-इश्यू' वाली बात मन में एक बार फिर दृढ़ की और आगामी प्रोग्राम बनाने के लिए प्रधान के घर की ओर चल पड़ा।

''वाह रे, शेर के बच्चे, रख दिखाई क़ौम की लाज!'' के.पी. बेड से इस प्रकार उछला, जैसे 'अनार' चलता देखकर कोई बच्चा ख़ुशी में उछला हो। के.पी. 'मौज-मेला' का वह पृष्ठ पढ़ रहा था, जहाँ पर ऑपरेशन ब्लू-स्टार के पश्चात् रोष प्रकट करने हेतु खुशवंत सिंह अपनी 'पद्म-भूषण' की उपाधि लौटाता है।

''सात ख़ून माफ़, तेरे जैसे सरदार को!'' के.पी. से प्रसन्नता सँभाले नहीं सँभल रही थी। ख़ुद-ब-ख़ुद अजीब-सी बोल—वाणी उच्चरित कर रहे के.पी. की आवाज़ सुनकर सुरजीत कौर तीव्रता से क़दम रखती हुई बेडरूम में आ गई।

''क्या हो गया? किसका ख़ून...?'' कानों में 'ख़ून' शब्द पड़ते ही सुरजीत कौर को भय ने आ घेरा था।

''सिक्खों का ख़ून, और किसका? इन कंजड़ों ने पानी से भी सस्ता समझ रखा है, कि जब जी में आए बहा लो, अकृतघ्न कहीं के।'' दाँत पीसता के.पी. मानो सुरजीत कौर के स्थान पर दीवारों से बतिया रहा था। इस 'मौज-मेला' में ताज़ा पढ़ा हुआ ऑपरेशन ब्लू-स्टार का ज़िक्र अभी तक उसके मस्तिष्क पर छाया हुआ था। वह बोलता रहा, ''हमारे गुरु इनके लिए ख़ून बहाते रहे और ये... ?'' के.पी. ने बात को अधूरी छोड़ते, हाथ के इशारे से जैसे कमरे की भीतरी हवा को उलाहना दिया। उसकी बिगड़ी हालत देखकर सुरजीत कौर का मन भर आया। वह के.पी. को कुछ कहने के स्थान पर परे खड़ी ओढ़नी के पल्ले से आँखें पोंछती उसकी ओर अपलक निहारती रही। उसकी ओर से बेध्यान के.पी. ने रजिस्टर उठाया और पेन कनपटी से सटाकर इस प्रकार बैठ गया, जैसे किसी अति महत्त्वपूर्ण मसले पर चिंतन-मनन कर रहा हो। पर दो-एक शब्द ही लिखने के पश्चात् उसे कुछ भी न सूझा और उसने झुँझलाकर रजिस्टर का पन्ना फाड़कर फ़र्श पर फेंक दिया, जो सुरजीत कौर के पैरों में जा गिरा। उसकी पगलाहट से भयभीत हुई सुरजीत कौर उलटे पाँव बेडरूम से बाहर आ गई। उसकी सिसकियाँ ऊँची हो गईं। सुरजीत कौर के मन में प्रज्ञापराध फैलने लगा, जैसे के.पी. की वर्तमान स्थिति के लिए वह स्वयं दोषी हो। उसे लगा, यदि उन दिनों वह मायके न गई होती तो के.पी. को कभी भी प्रेस-कॉन्फ्रेंस करने का पंगा न लेने देती। सारी कहानी वहीं से बिगड़ी थी। 'सिक्ख इश्यू' वाले मुद्दे से कोई ऐसा विस्फोट नहीं हुआ था, जैसा कि के.पी. तथा प्रधान ने सोच रखा था। बस स्थानीय समाचार-पत्रों में सरसरी-सी ख़बर छप गई थी और बात आई-गई हो गई थी। उसकी हिमायत के लिए लोगों का हुजूम तो क्या आना था, किसी छोटी-मोटी सिक्ख जत्थेबंदी ने 'हाय' का नारा

मारा। पर इस घटना से यूनियन में विस्फोट हो गया था। प्रधान के साथ केवल धर्म ही रह गया था और धरना बस नाम का ही था। के.पी. बिलकुल ही अलग-थलग-कर घर में बैठने योग्य ही रह गया था। -कभार प्रधान और डॉ. धर्म सिंह ख़बर के लिए घर आ जाते तो वह बौखलाहट से उन पर खीझ उठता। असली मुद्दे से कर वह ऊल-जलूल बकने लगता। बैठे-वह अपने आप जैसे हवा को ही गालियाँ शुरू कर देता। अपने ऊपर बोझ समझते वह सुरजीत कौर और बच्चों को कोसने । मन तनिक शांत होता तो अंदर जाकर जाता या कोई पुस्तक पढ़ने लग जाता, या वैसे ही कुछ लिखने लग जाता। इस प्रकार अपनी एक अलग ही दुनिया बसा ली थी। ज़िम्मेदारी के साथ-साथ अब के.पी. को ने का दायित्व भी सुरजीत कौर के ऊपर गया था। कुछ दिन रोने-धोने के पश्चात् धैर्य धर लिया था। वह के.पी. को वास्तविक में लाने के लिए कोई-न-कोई प्रयत्न करती । कोई अच्छी ख़बर सुनती तो बड़े उल्लास थ के.पी. को सुनाती। राष्ट्रीय स्तर के चार पत्र 'हिंदू-रेनेसां' के पत्रकार वी.के. की ओर से पूरे केस की 'इन्वेस्टीगेटिव' तैयार किए जाने की ख़बर भी सुरजीत ने ही सुनाई थी, पर के.पी. ऐसी बातों को कान से सुनता और दूसरे से निकाल देता। ही दिन वही स्टोरी जब चित्र सहित र में छपी तो सुरजीत कौर ही कहीं से अख़बार भी तलाश करके ले आई थी। ने बिना देखे ही अख़बार इस तरह परे मारा जैसे उस ख़बर के साथ उसका कोई देना ही न हो।

इस ख़बर से सुरजीत कौर का ढाढ़स बँध गया था। समाचार के अनुसार त्रिपाठी की खोज ने मैनेजमेंट की नींव हिलाकर रख दी थी। उसने दिल्ली के एक होटल के रिकॉर्ड के अनुसार मैनेजमेंट के सचिव तथा लेक्चरार सुधा चोपड़ा के एक साथ रात बिताने का खुलासा कर दिया था। यहीं पर के.पी. के तबादले की खिचड़ी पकी मानी गई थी। के.पी. की उखड़ी मानसिक दशा और घर की मंदहाली को विस्तार सहित, ख़बर को हृदयवेधक बनाया गया था। के.पी. को 'बली का बकरा' सिद्ध किया गया था। यहीं से इस बात को टी.वी. चैनलों ने उठा लिया था और सिक्ख जत्थेबंदियों में भी अब मदद करने के लिए एक-दूसरे से आगे आने की होड़ लग गई थी। अकाली दल के प्रधान तक ने संघर्ष की धमकी दे डाली थी। पर के.पी. ने इस सब कुछ को एक ही शब्द 'बकवास' के साथ अलगा दिया था।

एक दिन सुरजीत कौर ने बड़े उत्साह के साथ एक लाख रुपए का ड्राफ़्ट के.पी. के आगे ला रखा। यह किसी अमरीकन धनी सिक्ख ने सहायता के रूप में भेजा था। के.पी. ने ड्राफ़्ट पर सरसरी नज़र मारी और फिर इस प्रकार परे फेंक दिया, जैसे वह कोई मामूली काग़ज़ का टुकड़ा हो। ड्राफ़्ट उठाती हुई सुरजीत कौर की चीख़ ही निकल गई। पर के.पी. उसकी ओर से बेख़बर अपना रजिस्टर उठाकर कुछ लिखने लग गया। अभी उसने शीर्षक के रूप में शब्द 'महान मसला' ही लिखे थे कि सुरजीत कौर किसी को साथ लेकर पुनः बेडरूम में आ गई। ये किसी टी.वी. चैनल के रिपोर्टर थे।

''के.पी. साहिब... !'' रस्मी दुआ-सलाम के पश्चात् रिपोर्टर ने माइक उसके मुँह के आगे करके अभी नाम ही बोला था कि के.पी. ने उसकी बात काटकर बोलना शुरू कर दिया, ''कौन के.पी. साहिब ? यहाँ कोई के.पी.-शे.पी. नहीं रहता, यहाँ... '' के.पी. की अवस्था समझकर रिपोर्टर ने ग़लती मानने की तरह उसको बीच में

ही काटकर कहा, "सॉरी सर, मेरा अभिप्राय था कि आप..." के.पी. ने पुनः रिपोर्टर की बात पूरी नहीं होने दी। और बताने लगा, "हाँ, सरदार कँवर प्रताप सिंह मान, गाँव मोफ़र, जहाँ से विशाल जुलूस का आरंभ हुआ, फिर बुढ़लाडा पहुँचा और उसके पश्चात् कॉलेज में। तभी तो हरामज़ादे कुत्ते प्रिंसिपल के चेहरे पे हवाइयाँ उड़ने लगीं, पंथ के आगे कोई ठहर नहीं सका था, तभी तो..." बात का रुख़ बदलते देखकर रिपोर्टर ने उसे ठीक दिशा की ओर चलाने का यत्न किया, "सर, आपकी सस्पेंशन का मसला..."

"मसला क्या है? सिक्ख जन्म लेते हैं, मरते हैं, पर पंथ सदैव चढ़ती कला में रहता है। पंथ की हस्ती मिटाने की ढेरों कोशिशें की गई हैं, बहुत ख़ून बह चुका है, क्या वह ख़ून व्यर्थ जाता रहेगा? यही महान मसला है, मीडिया वालों को सोचना दरकार है, जैसे सरदार खुशवंत सिंह लिखते हैं..." कैमरा तथा माईक बंद होने तथा रिपोर्टर द्वारा 'थैंक यू' कहकर चलने की तेज़ी के कारण के.पी. की बात अधूरी रह गई। रिपोर्टर ने चले जाने में ही भलाई समझी थी।

के.पी. ने बेड पर बैठते ही फिर रजिस्टर उठा लिया। 'महान मसला' शीर्षक के नीचे कुछ लिखने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर डालने लगा। दिमाग़ में कितने ही शब्द मोफर...जुलूस... यूनियन...चींटियाँ...उमस...पंथ...मीडिया कुरबल-कुरबल करते फिर रहे थे। वह शब्दों से जूझ रहा था कि सुरजीत कौर कॉर्डलेस फ़ोन उठाए अंदर आ गई। उसने डरते हुए फ़ोन के.पी. की ओर बढ़ाते हुए कहा, "प्रोफ़ेसर धीमान हैं, कोई बहुत ज़रूरी बात है शायद।" के.पी. ने सुरजीत कौर की ओर इस प्रकार क्रोध से देखा, जैसे कह रहा हो, "हरामज़ादी! तू ये छोटे-मोटे मसले भी हल नहीं कर सकती?" और चुपचाप चोंगा कान से लगा लिया।

"प्रोफ़ेसर साहिब, विस्फोट हो गया है, कॉन्ग्रेचूलेशंज़, गुड-न्यूज़ है!" प्रधान की ख़ुशी जैसे बिखरती जा रही हो, "आपकी नौकरी बहाल हो गई है, अपना पत्ता रंग ही का निकला है, भगदड़ मच गई है मैनेजमेंट में।" जोश में प्रधान ने के.पी. की स्वीकृति के बग़ैर ही अगले प्रोग्राम के बारे में बताया, "आप तुरंत कॉलेज में पहुँचें, विक्टरी-मार्च का प्लान है, यूनियन की री-बर्थ वाली बात है, ऑल क्रेडिट गोज़ टू यू। थैंक-यू। पहुँचिए...प्लीज़...ओ.के.!" प्रसन्नता में डूबा प्रधान अपने-आपको सँभालने में मुश्किल महसूस कर रहा था। के.पी. ने सहजता से फ़ोन बेड पर रख दिया। विस्फोट तो क्या, उसके भीतर जैसे कुछ भी घटित नहीं हुआ था। उसने किसी अच्छी ख़बर को सुनने के लिए उत्सुकता से भरी सुरजीत कौर, उसके पीछे आ खड़े सहमे-से मनी और नीतू को सरसरी-सी निगाह से निहारा और फिर अपने खुले पड़े रजिस्टर को अपनी जंघाओं पर रखकर, टूटे ख़यालों की शृंखला जोड़ने में जुट गया।

"सबसे महान मसला...री-बर्थ!" आगे उसको फिर कुछ न सूझा कि किसका 'पुनर्जन्म'?

के.पी., पंथ, यूनियन जैसे शब्द विद्रोही बने, 'शुतर-ए-बेमुहार' की भाँति उसके मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे, पर किसी वाक्य में बँध न सके। झुँझलाहट में उसने रजिस्टर परे पटक दिया। और फूट-फूटकर रोने लगा। के.पी. का यह रूदन कदाचित् वाक्य की मृत्यु पर था।

जिंदर

अंत बेअंत

ऊदम कौर को अचानक लगा कि उसके लिए किसी-न-किसी के साथ बात करनी ज़रूरी है। कोई अपने आप से कितनी देर बात कर सकता है? स्वयं शुरू करने वाला। स्वयं ही हुँकारा भरने वाला। स्वयं ही जवाब देने वाला।

यह कैसा एक दिन आने वाला है। इतना अन्यमनस्क तो वह तब भी नहीं हुई थी जब उसका पति निराश और परेशान होकर मौत की बात छेड़ लेता था। वह उसे सँभालती। समझाती। ज़िंदगी के अर्थ बताती। इस तरह जब वह कलपती हुई यहाँ तक कह देती कि इस जीने से तो मौत अच्छी, उसका पति उसे हौसला देता।

चिंता, डर, सहम, ग़ुस्सा, कल्पना, शक—ख़त्म क्यों नहीं हो रहे। उसे बार-बार पसीना आ रहा है। होंठ सूख रहे हैं। उँगलियों के पोरों में असह्य दर्द उठ रहा है। आंतरिक तनाव बढ़ता ही जा रहा है। वह चाहती है कि उसे कोई मिले। कोई भी। अपना या बैरी-दुश्मन ही। पर वहाँ तो कुछ भी नहीं। जो है वह सघन अँधेरा है। चुप है। या उसकी ही साँसों की आवाज़। पहले से तेज़ हुई। अभी वह जिस जगह पर खड़ी थी, उसे इसी जगह से डर लगा था। वह इतनी डर गई थी कि उसकी चीख़ ही निकल गई थी। उसने अपने आपको बहुतेरा समझाया था। रोका था। पर उसे पता ही तब लगा था जब उसका एक पैर उस जगह पर आ पड़ा था। यही जगह थी। इसके बारे में उसे कभी भ्रम नहीं हुआ। यहाँ उसके पति की कपाल-क्रिया की गई थी। अगले दिन वह बड़े तड़के उठी थी। टूटे हुए घड़े के टुकड़े इकट्ठे किए थे। खेश के पल्ले में रखकर बहते हुए पानी में छोड़ आई थी।

वह घर की ओर चल पड़ी। चक्की के पास आकर उसे याद आया कि वह गुरुबेरी पीछे छोड़ आई है। वह पीछे मुड़ी, गुरुबेरी के पास खड़ी होकर ग़लती के लिए हाथ जोड़े, माथा टेका, पिछली तरफ़ पड़ी झाड़ू उठाकर सफ़ाई करने लगती है। बरसात हो या आँधी जितनी देर उसका पति जीवित रहा वह यहाँ की सँभाल करना नहीं भूलता था। एक बार वह बहुत बीमार पड़ा। उसके लिए चारपाई से उठना मुश्किल था। पर उसने नागा नहीं किया था। ऊदम कौर ने मना किया था। पति ने उसकी एक न

[पं]जाबी कथाकार जिंदर का जन्म [1]954 में हुआ। इनकी सात [क]हानी-संग्रह एवं रेखाचित्र की [पुस्त]कें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : [..]84, मॉडल हाउस, जालंधर [1]44003

अनु. राजेंद्र तिवारी

मानी। तब वह उसके साथ आती नहीं थी। बाद में वह साथ आने लगी थी। वह नलके से बाल्टियाँ भर-भरकर लाती। पति धोता जाता। इतवार की शाम को चिराग़ जलाता। ऊदम कौर के मुँह से स्वत: निकलता, "दाता, सबका भला कर! सबको सुख-संतोष दे!" उसका पति कहता था, "तुझे डर लगे, दबाव पड़े, घबराहट हो, मन में बेचैनी हो तो गुरु जी का मूल वाक्य 'धन बाबा हंदाल तेरी रक्त तेरी काल' का सुमिरन कर लिया कर। इसमें बड़ी शक्ति है।" उसे अपने पति का कहा हमेशा सच लगा था। उसका इस जगह पर विश्वास बढ़ता गया था। मुश्किल समय में यह उसके सहाय हुए हैं। उसका श्वसुर भी कहता था, "गुरु जी अथाह शक्ति के मालिक थे। एक बार उन्हें गांधरा के स्टेशन से गाड़ी पकड़नी थी। हमने सलाह की कि गुरु जी चलकर जाएँ यह अच्छा नहीं लगता। वह पूरन सिंह के पास उसका घोड़ा माँगने गए। पूरन सिंह बोला, 'घोड़ा ठीक नहीं है। इसने कल से कुछ खाया नहीं।' वह शर्मिंदा हुए लौट आए। गुरु जी अंतर्यामी थे। वह दातून कर रहे थे। उन्होंने दातून करके फेंक दी। बोले, 'यह कौन-सी बात हुई। मैं चलकर जाऊँगा। घोड़ा बीमार है तो बीमार रहने दो।' हम उन्हें गाड़ी पर चढ़ा आए। दूसरे दिन घोड़ा छटपटा कर गिर पड़ा। फिर नहीं उठा। जहाँ गुरु जी ने दातून फेंकी थी, वहाँ बेर उग आई। सब इस जगह को पूजते। यह पक्की जगह उसी पूरन सिंह ने बनवाई।"

हवा है कि जिस्म के जिस हिस्से से छू जाती है—वह बर्फ़-सा होने लगता है। वह चादर ड्योढ़ी कर ओढ़ लेती है। आधी रात को उसकी नींद खुल गई थी। बाद में नींद ही नहीं आई। सोचती रही। अपने आप से बातें करती रही। उसका एक मन करता कि टेप रिकॉर्डर पर शब्द-कीर्तन का कोई कैसेट लगा ले। ध्यान सच्चे पातशाह (सिखों के गुरु) की ओर चला जाएगा। पर उससे उठा न गया। इस तरह के समय में अकेले रहना उतना आसान नहीं होता—जैसा वह सोच बैठी थी। वह रज़ाई से मुँह बाहर निकालती। झट से मुँह फिर ढक लेती। मुड़-मुड़कर ध्यान घर की ओर चला जाता। उसकी आँख तब खुली थी जब छिंदे ने बाहर का दरवाज़ा खोला था। दरवाज़ा इतना सख़्त खुलता था कि आधे टोले को इसके खुलने का पता चल जाता। कोई-न-कोई टोक जाता—यूँ ही तो नहीं सयानों ने कहा है कि मल्लाह के हुक़्क़े में पानी नहीं होता। आधे घंटे बाद दरवाज़ा फिर खुला था। उसे चिंता ने घेर लिया था। वह पम्मी के बारे में सोचने लगी थी। छिंदो के बारे में फ़िक्रमंद हो गई थी। उसकी जान अजीब-सी स्थिति में फँसी थी। उसको साँस लेना भी कठिन लगा। वह आँखें खोलती, आगे अँधेरा होता। छिंदा होता। पम्मी होती।

"माता जी बधाइयाँ", घर से आती विद्दो दूर से ही बोली। नज़दीक आकर उसके पैरों को हाथ लगाया। उसके हाथ से सोंटी छूट गई। "दाता सभी को फूले-फलाए।"

वह पूछती है, "लड़का किस पर गया है?"

"अभी बहुत पहचान नहीं हुई है। छिंदा कहता था कि भापे-सा लगता है।" विद्दो पलभर खड़ी रही। फिर बोली, "मुझे आप से सूट और सौ रुपए लेने हैं। याद है न? आप ने ख़ुद कहा था।"

"मैं तुमसे भागती हूँ! माँग ले जो कुछ भी माँगना हो।" उसे याद आया कि उसकी चुन्नी में दस रुपए का नोट बँधा है। उसने चुन्नी की लड़ विद्दो की ओर करते हुए कहा, "पहले यह खोल। मेरी उँगलियाँ सुन्न हुई पड़ी हैं। ठंड पेश नहीं पड़ने देती। दिन में आना। मैं तुझे मिठाई के लिए भी पैसे दूँगी..."

चाव। इतना चाव! उसे कभी इतनी ख़ुशी नहीं हुई थी। अब क्या करे? वह दुविधा में फँस

एक राह हवेली की ओर जाती है। दूसरी की ओर। एक राह उसके घर की ओर जाती। पम्मी के घर की ओर। वह बीच रास्ते में है। दोनों तरफ़ की दूरी में उन्नीस-इक्कीस फ़र्क है। वह पम्मी के घर की ओर देखती बाहर की बत्ती बुझी थी। शायद किसी को उसकी याद ही न रही हो। या किसी ने ज़रूरत न समझी हो। वह होती तो घर के सारे बल्ब जला देती। छिंदा जब पैदा हुआ था तब बेबे ने दस दिन दालान वाला दीवा बुझने न दिया था। वह सारा भार सोंटी पर डालकर कुछ पल खड़ी रही। अब छिंदा उसे बताने आएगा। कोई बात होती वह उसे ज़रूर बताता है। या हो सकता है बड़की वीना बुलाने आ जाए। दूसरे ही पल वह सोचने लगी, कोई आए या न आए उसे चले जाना चाहिए। यह उसका अपना घर है। उसे कौन निकालने लगा? वह उतावली-उतावली घर की ओर चल पड़ी। आगे बेबे मिल गई। उसकी राह रोककर खड़ी हो गई। उसकी इसको आँखों से याद आ गई। पंद्रह साल बाद। यह कभी उसके सपने में न आई। यह जब मरी थी उस रात को इसके सिरहाने राख छानकर रखी थी। सोकर उठते ही देखा तो वहाँ छिपकली के पैरों के निशान बने थे। उसको ख़ुशी हुई थी। इसको तो इससे भी बुरी योनि मिलनी चाहिए गंदी नाली के कीड़े-सी। वही कीड़ा जिसकी सूई-सी पूँछ होती है। यह मनहूस इस समय कहाँ से आ गई? इसके तो मत्थे लगना भी अपशकुन समझा जाता था। वह धीमी आवाज़ में बोली, "चल-चल बुढ़िए तू अपनी राह चल। मुझे तेरी कोई ज़रूरत नहीं। तू वही है न जिसके राज में मुझे चाय का कप पीने का भी हुक्म नहीं था। चल माई चल। मैं पहले से ही बड़ी दुखी हूँ। ज़रा-सा ख़ुशी का दिन चढ़ा है। मुझे तो तेरी परछाईं से भी डर लगता है।" है न कमाल की बात! इसे ज़रा भी ग़ुस्सा नहीं आ रहा। यह इतनी मोम कैसे हो गई? यह तो नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती थी। यूँ ही तो नहीं सभी कहते थे, "हमारे गाँव में तीन लोग कुपंथी हैं। सोहन का बूढ़ा। जगदीश लाल का बिचला लड़का गुरमीत। माई हरजीत कौर। इनकी ज़िद बुरी। इनके मन में जो आता इन्हें वही करना होता। चाहे सामान से भरा गड्डा (बैलगाड़ी) ऊपर से गुज़र जाए।" जो कोई इसके बारे में उससे पूछ लेता तो वह कहती, "हमारी बूढ़ी तो आगे है। दोनों से ढाई हाथ ऊपर। इसने तो जन्मते कौआ खाया हुआ है।" पहले बेबे उसकी ओर देखकर हँसती है। फिर गंभीर हो जाती है। उससे बेबे की यह बुझौवल बूझी न गई। बेबे पहले हँसी क्यों थी? अब इसने एकदम रोनी सूरत क्यों बना ली? वह बेबे की क्यों परवाह करे। वह आगे चल पड़ी। पर बेबे ने ढीठ-सी उसकी राह रोक ली। बोली, "तू घर की तरफ़ क्या बिटर-बिटर ताके जा रही है? तू भूल गई इतनी जल्दी! पम्मी ने तेरे साथ क्या-क्या नहीं किया? अब मैं तुझे यह भी याद कराऊँ! कहती थी—जान ले मैं तेरे लिए मर गई। तू मेरे लिए। तुझे अहाने-बहाने अच्छा-बुरा बोलती। तेरा साथ तेरी मशीन ने दिया। तू कच्चे दालान में मशीन चलाती। वहीं दो रोटियाँ मिल जाती। ठंडी चाय का गिलास पहुँच जाता। तू अपने कपड़े आप धोती। तुझे वह बात भी याद होगी? तूने क्या माँग लिया था! सिर्फ़ घुटनों के लिए 'मूव'। कितने की आती थी? जो बीस नहीं तो तीस की आ जाती। इतने से ज़्यादा तो तू रोज़ के कपड़े सिल लेती थी। पम्मी तुझे किसी चीज़ के लिए आप नहीं कहती थी। बच्चों के हाथ संदेशा भेज देती—फलानी चीज़ है नहीं। तू जो दो पैसे कमाती, साथ-ही-साथ घर में ख़र्च हो जाते। तेरी जेब ख़ाली की ख़ाली ही रहती। एक बार उन्हें पता लग जाए कि तेरे पास दस-बीस इकट्ठे हो गए हैं—फिर जब तक वह निकलवा न लेती, उसको

चैन नहीं आता। तू भी घर से ज़्यादा बँध गई थी। तू यह भी भूल जाती कि आज संक्रांत है। दो घड़ी गुरुद्वारे जाकर साधु-संगत में बैठ जाऊँ। पर क्यों? तुझे घर का ख़याल था। तुझे क्या मिला? ठन-ठन गोपाल! छिंदो से तेरी कराह न सुनी गई। वह 'मूव' ले आया। ताक़त वाले कैप्सूल भी। पम्मी उस पर पागल कुत्ती-सी पड़ गई, "पहले मुझे यह बता—तू वीना के लिए गाइड क्यों नहीं लाया? मुझे तेरा कोई बहाना नहीं सुनना। कान खोलकर सुन ले—जो कल को बिटिया की गाइड न आई तो अपना लेखा विचार लेना। तुझे बुढ़िया का ज़्यादा मोह आ गया। बिलखती बिटिया की कोई परवाह नहीं।" तुझसे और सुना न गया। यह कौन-सी एक दिन की बात थी। पम्मी बातों-बातों में घाव लगाने से बाज़ नहीं आती। तारो के समझाने से अपने चार भाँडे उठाकर हवेली में आ गई। पम्मी ने तुझे बिलकुल न रोका। बोली, "अच्छा हुआ—भले वक़्त पर सिर से बला टली।" तेरा क्या गया? सुखी है न अपनी कोठरी में। चित्त किया तो किसी के कपड़े सिल दिए। नहीं तो मौज से शीशम तले चारपाई डालकर बैठी रही। तेरे हाथों में सलीका है। कारीगर हाथ भूखे नहीं रहने देते। तू बीस-तीस का काम कर लेती। तेरा कौन-सा ख़ास ख़र्चा है। जो दिल में आया बना-खा लिया। न किसी की हैअ, न किसी की खैअ। घर होती तो अब तक तुझे उन्होंने चिता की राह दिखा देनी थी।

ऊदम कौर का जिस्म पत्थर का होने लगा। बेबे ने उसको उसकी तसवीर दिखा दी थी। यह सब कुछ वह भूल-भुला बैठी थी। एक बार तो पोते (पौत्र) का चाव धीमा पड़ गया। जिस तरह के कौए उसी तरह के बच्चे। यहाँ कोई किसी का सगा नहीं। कोई मीत नहीं। जिसको कुछ दे दो वही ख़ुश हो जाता है। मुँह फेरते कितनी देर लगती। इकलौता पूत वह भी माँ को साथ नहीं रख सका। उसको किसी का क्या आसरा। अपना पराँठा आप पकाना। अपनी उँगलियाँ जलाना। बीमार पड़ जाना तो आप उठकर पानी पीना। कई बार छिंदा भी महीना-महीना हवेली की ओर मुँह नहीं करता। जब अपने पेट का जाया अपना नहीं बन सका तो बेगाने घर से आई को क्या दोष देना? कैसा पुत्र? कैसा पौत्र? किसका घर? पहले यह घर

...का था। अब पतोह का बन गया। कैसे मुँह ...कर कहती थी, "चल चल बुढ़िये अपने ... चल!" बड़ी आई घरवाली! उसने ओढ़ी ... कसी। अभी दरवाज़े के पास पहुँची कि ...का पति आ गया। समझाने लगा, "आ गई ...बे की मीठी-मीठी बातों में। बड़ा मोह जगा ...से। वाह भई वाह, कमाल कर दिया सास-...ह ने। ख़ुद भूल गई। आधी रात तक मुझे ...नहीं देती थी। तेरी यही रट होती—बेबे को ...। यह मुझे सोने नहीं देती। जिस काम में ... डालूँ आगे यह ऐब निकाल देती। न आप ...कर बैठती, न मुझे बैठने देती। पता नहीं ...-कहाँ से काम निकाल लाती। कुछ और न ...तो शिखर दोपहरी में कंडे सुखाने बैठ जाती। ...दुखी होकर यहाँ तक कह देती, "चल किसी ... गाँव में जा बसें।" दो रोटियाँ ही खानी। ... न जुटी तो अचार से ही खा लेंगे। दो घड़ी ... सुख तो होगा। कोई क्लेश करने वाला तो न ...। तुझे काम का क्या घाटा। खेतों में मज़दूरी ...। इस गाँव में न सही, दूसरे में सही।" पर ... किससे जुदा होना था—बेबे से! उसका मेरे ...वा कौन था! वह रो-रोकर मर जाती। मैं ... समझाता, तू मान जाती। तूने खुला विरोध ... किया। बेबे का भला-बुरा सुना। सुनना ... था। वह यह समझ बैठी थी कि उसके ...वा इस घर का कोई और कुछ लगता ही ...। अब तू उसकी मति न ले। तू इस बात को ... भूल जाती कि जब तू चलने से भी लाचार ... तो तुझे यही पम्मी सँभालेगी। यही पूत तेरे ... आएगा। यह क्या बात हुई कि अपने पोते ... प्यार देने नहीं जाना। तुझे पता—जब तले-... तीन लड़कियाँ हो जाएँ, फिर औरत का ... हाल होता है। तेरी आप बीती। जब भोली ... थी तो बेबे ने दो दिन रोटी नहीं खाई थी। ... में मुँह छिपाकर सिसकियाँ भरती रही। ... उसे समझाया—क्या आफ़त आ गई। घर लड़की आई है। रब्ब की देन। पर जब तारो आई बेबे गुमसुम हो गई। ऊँचा बोलना भूल गई। मैंने बेबे को सँभाला। तुझे भी। छिंदो के समय तो क्या कहना था! बेबे हवा में उड़ती फिरती थी। याद है न बार-बार लड़के का मुँह देखने से न अघाती। मैं हर्षाया शराब के लिए आवाज़ मारने लगा। बकरे बुलाने लगा। बेबे ने रोका नहीं था। तूने अंदर पड़ी-पड़ी तारो के हाथ संदेशे पर संदेशा भेजा था, "री, मुझसे आज नहीं रुका जाता। कर लेने दे इसको आज मनचाही। मेरा आप मन करता—आँगन में नाचूँ।" पहले वह आप अकेले आँगन में गाने लगी। फिर नाचने लगी। दीपी आ मिली। ताई आ गई। आँगन औरतों से भर गया। यह वही बेबे थी जो प्रसूति वाले दिनों में बाहरी औरत तो बड़ी दूर की बात है, बाहर की मक्खी तक को घर में घुसने नहीं देती थी। वह सब कुछ भूल-भुला गई थी। अब तू दादी बन गई है। क्या तुझे अपने पोते के आने की ख़ुशी नहीं हुई? जब तुझे गुरुबेरी के पास विद्दो ने बताया था तब तू सीधी घर क्यों न गई? इस समय बहुत सोच में नहीं पड़ा जाता। आख़िर पोता तो तेरा ही कहलाएगा। अब मेरा नहीं, लोग तेरा ही कहेंगे। वीना जब तेरे पास बैठी या खेलती होती है तो आती जाती कोई-न-कोई कह जाती है, "ताई जी वीना का स्वभाव तो बिलकुल तुम पर गया है।" अब तू अपना फ़र्ज़ जानकर लड़के को प्यार दे आ।"

"पम्मी तो मुझे देख नहीं सकती!"

"फिर क्या हुआ? बच्चे ग़लतियाँ करते। बड़े माफ़ करते। ज़िंदगी में कौन संपूर्ण हुआ? क्या हमने बड़ों को अच्छा-बुरा नहीं कहा? तू क्या आप बेबे से कभी नहीं लड़ी? कैसे व्यंग-ताने कसती थी। पर जब बेबे बीमार पड़ जाती तेरे हाथ-पैर झूठे पड़ जाते थे। यही हाल बेबे का होता था...।"

"तेरा कहा सिर माथे पर!" वह अपने पति

का कहा मान लेती है। जब कभी मुश्किल समय उस पर आता है तो उसका पति मार्गदर्शन करता है। वह उसके बराबर आ खड़ा होता है। वह बड़े तड़के उसके सपने में आता है। उसको पीछे मुड़ना पड़ता हो, सो मुड़ती है। अब उसमें उत्साह है। उमंग है। पोते को देखने की अभिलाषा है। दरवाज़ा बंद है। अंदर से कुंडा लगा है। वह कुंडा खड़काती है तो आगे पम्मी चारों खुर उठाकर मारने आती है। उसकी राह रोक लेती है, "दफ़ा हो जा बुढ़िया यहाँ से अब क्या लेने आई है? चल-चल अपना काम कर। लोगों के कपड़े सिल। बेगार कर। मन-मरज़ी का खा-पी। तुझे क्या? कोई मरे या जिए। तेरी अपनी गाड़ी चलनी चाहिए। तुझे अपना पेट प्यारा। अच्छा-चोखा खाने को चाहिए। धुले-धुलाए कपड़े पहनने को हो। यह उम्र रब्ब का नाम लेनेवाली होती है आदमी सोचता अपने किए बुरे कर्मों का पछतावा कर लूँ। आगा सँवर जाए। पर किस लिए! तुझे अपना रब्ब भूला। रब्ब के बंदे भूले हुए। कोई बताए—मैं झूठ बोलती? तू कभी गुरुद्वारे गई? जो गई भी होगी तो सिर्फ़ लंगर छकने। तुझे हमसे क्या मतलब? तुझे बेटे से बेटियाँ प्यारी। वे जो पट्टियाँ पढ़ा जातीं तू वही बोलती। जा-जा बुढ़िया तू अपने घर जा। मुझे तेरी कोई ज़रूरत नहीं। जो पड़ी तो भी तुझे आवाज़ न दूँगी। तंग होकर सात बेगानों की मिन्नत कर लूँगी। दस-बीस ख़र्च करके कोई काम करा लूँगी। तुझे आँगन में पैर नहीं धरने दूँगी। यह मेरा घर है। मैंने ख़ुद बनाया। मायके से पैसे लाई। आगे वाली बैठक बनाई। मेरा बाप आप काम करके गया। तुझे उसने बातों-बातों में बड़ा समझाया, 'बहन जी, तुम आराम से दो रोटियाँ खा लिया करो। और दुनिया से क्या लेना? छिंदा बड़ा अच्छा है। न शराब पिए। न मीट खाए। न सिगरेट को हाथ लगाए। उसमें कोई ऐब नहीं। तुमने पिछले जन्म में कोई अच्छा कर्म किया था जिससे तुझे इतना नेक बेटा मिला।' तूने मेरे बाप की भी एक न सुनी। अपनी सुना गई, 'पम्मी मुझे कुत्ती-सा भी नहीं जानती।' तेरा कोई भी काम समझदारी वाला नहीं। कौन बार-बार तेरे पैरों के नीचे से लाँघे। तू यही चाहती—मैं पूछूँ, 'माता जी, चाय बना लूँ? सब्ज़ी में कितना प्याज़ डालूँ?'...अब तुझे बड़ा प्रेम जागा! जहाँ मैंने इतने दिन बुरे-भले काट लिए—वहाँ यह समय भी गुज़र जाएगा। जिनका कोई नहीं होता—उनकी क्या गुज़र नहीं होती! तू उनके पास जा जिनको प्लॉट बेचा था। मैं देखती हूँ तेरे पचास हज़ार कितने साल चलते हैं। तेरी लाश अंदर ही पड़ी सड़ेगी। मैं देखूँगी घर से कौन जाता है? मैंने तुझे कितना समझाया कि माता जी प्लॉट न बेचो। बेटियों के ब्याह के समय अपने काम आएगा। हमें इसका हौसला है। तूने मेरी एक न मानी। मैंने मिन्नतें की। तेरे पैरों पड़ी। तेरे बेटे ने भी समझाया। तुझे पता नहीं क्या दिखता था? तूने इसको बेचकर ही साँस लिया। पैसे तारो के पास रख आई। ले लेना उससे गिन-गिनकर। ससुर जनानी का ग़ुलाम था जिसने तेरे नाम प्लॉट ख़रीदा। अब तुझे पोते का मोह जागा! तब तुझे यह भी याद नहीं रहा कि तेरा पूत पंद्रह सौ में किस तरह पाँच जीवों का गुज़ारा करता है। तूने कभी सोचा? न ठीक से खाने को मिला न ठीक से पहनने को। जा बुढ़िया जा अपनी कोठरी में! तुझे अपनी बेटियाँ प्यारी। दामाद प्यारे। बड़की टेप रिकॉर्डर लाकर दे गई। छोटकी टी.वी. लाकर दे जाएगी। तारो के दोनों लड़के अमरीका क्या चले गए—उसे भी रब्ब भूल गया। अपने घर की तारीफ़ करती साँस नहीं लेती, 'यह देखो हमने नई ज़ेन निकलवाई। घर में सब कुछ पहले से ही है। टी.वी., वी.सी.आर., बड़ा फ्रिज, ए.सी.।' बड़ी आई जैलदारनी। बड़ी है तो अपने लिए। अपनी माँ के लिए है। मुझसे कुछ और न सुनकर जाना। ज़रा भर घर ने ख़ुशी का दिन देखा है। जब तुझे आवाज़ देंगे तू तब ही आना।"

वह मिनट भर सर गाड़े खड़ी रही। वापस जाने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। दरवाज़ा बंद है। उसमें इतनी हिम्मत नहीं कि खोलने के लिए आवाज़ दे। वह दरवाज़े की दराजों से देखती है। दालान में बत्ती जल रही है।

"लंबी उम्र की बहार ले!" बाहर से ही आशीष दे वह सर नीचा किए हवेली की ओर मुड़ पड़ी।

वह आँगन में आ खड़ी हुई। समय का अंदाज़ा लगाने लगी पर उसे इस बात का पता नहीं लगा कि दिन निकलने में अभी कितना समय बाक़ी है। थकान हो रही है। क्या रज़ाई में जा छिपे? या चाय पीकर मशीन लगा ले? वह आज मशीन नहीं लगाएगी। लोग क्या कहेंगे—इसे लोगों के कपड़े सीने की पड़ी है।

हैं! यह छिंदा कहाँ से आ गया? वह तो बाहर का दरवाज़ा बंद कर आई थी। यह दीवार फाँदकर आया होगा। बड़ा ख़ुशामदी। जब ज़रूरत पड़े, बेबे-माइये कहने लगता है। आगे-पीछे 'बुढ़िये' के बिना बात नहीं करता। इसको सारे ढंग-तरीक़े आते हैं कि बीबी (माँ) को कैसे मनाना है। यह अपनी राँड़ के उकसावे में ज़रूर आ जाता। इसने घट-बढ़ ही बुरा-भला कहा है। भोला-सा चेहरा बनाकर कहने लगा, "मेरी भोली माई-तू सारी उम्र भोली रही। तू अकेले अपनी ओर ही न देखा कर। अपने इर्द-गिर्द भी नज़र डाल लिया कर। सास-पतोह की लड़ाई आदि काल से ही चली आ रही है। इंदिरा गाँधी के घर किस चीज़ की कमी थी। बनी वहाँ भी नहीं। तू पम्मी की बातों का ग़ुस्सा किए बैठी है। तेरे लिए पम्मी पहले है कि मैं? लड़के को तूने तुझे मेरे लिए आना है। अपना पोता तू अपने चल। आ चलिए। पम्मी तुझे खा नहीं जाएगी। वह मुँह की बड़बोली है। दिल की बुरी नहीं।

तुझे पता नहीं पिछले महीने जब तुझे बुख़ार चढ़ा था—वह आप तो नहीं आई पर उसे घर में बैठे चैन नहीं था। उसने वीना को तेरे पास भेजा था। तुझसे डरती है, कोई खाने-पीने की चीज़ नहीं भेजी थी। अब तू थोड़ी-सी नर्म हो जा। ज़िद बहुत देर नहीं चलती। बधाई देने तो कोई सात बेगाना भी आ जाता है। तू घर की मालकिन। मालिकों को भी पूछकर आने की ज़रूरत होती है?...लड़के को देखकर वीना बोली थी, "डैडी, इसकी नाक तो बिलकुल बीबी जैसी। मैं झूठ नहीं बोलता। तू आप चलकर देख ले। तुझे मेरी बात का एतबार नहीं आना। तू क्या अपने पेट से पैदा किए को बिसार देगी! दूर फेंक ग़ुस्से को। सारी दुनिया एक तरफ़। तेरा पोता एक तरफ़। माता श्री चल। अब क्या सोचने लगी? अभी हमें कई काम करने हैं। तेरी सलाह से लड्डू बाँटने हैं। बहनों को मिठाई भेजनी है। तू ही घर की बुज़ुर्ग। तू ज़ोर से कह—मैं पोतेवाली बन गई। बल्ले-बल्ले-मैं दादी माँ बन गई। तू माथे पर हाथ रख क्या सोचने लगी।

तुझे एक कहानी सुनाता हूँ। मुझे ख़ुद किसी ने सुनाई थी। "एक लड़के ने घर से बाग़ी होकर अपना ब्याह कर लिया। उसका बाप बड़ा हठी था। उसने कहा, जो तेरा ब्याह होगा तो उसी जगह जहाँ मैंने हाँ कर रखी है। या फिर तेरे लिए इस घर में कोई जगह नहीं है। समझ ले तू मेरे लिए मर गया, मैं तेरे लिए। लड़के ने न हाँ की, न ना की। बाप को ग़ुस्सा आ गया। उसने कहा, 'जो मेरी बात नहीं माननी तो यहाँ से दफ़ा हो जा।' लड़का उसका भी बाप निकला। उसने अपना सामान सँभाला और किसी दूसरे शहर चला गया। मियाँ-बीवी मौज से रहने लगे। न किसी की हैहै, न किसी की खैखै। बाप को लड़का याद नहीं आता। न लड़के को बाप। किसी को एक-दूसरे की ज़रूरत नहीं पड़ी। दोनों अपनी-अपनी जगह राजी-बाज़ी। उनके दो लड़के हुए। बहुत ही सुंदर। अच्छे। सयाने।

एक बच्चे का जन्मदिन आया। उसने अपनी मम्मी से बाबा के बारे में पूछा। उसकी मम्मी को जो कुछ पता था, उसने बता दिया। बच्चे ने अपने बाबा को चिट्ठी लिखी, 'बाबा जी, मैं आपको अपने जन्मदिन पर बुला रहा हूँ। आप ज़रूर आना। जो आप नहीं आए तो मैं अपना जन्मदिन नहीं मनाऊँगा। मैं केक बाहर फेंक दूँगा।' इधर चिट्ठी मिली उधर बूढ़ा सोच में पड़ गया—जाऊँ कि न जाऊँ! फिर उसको लगा कि उसका पोता, अपना ख़ून बड़ी बेसब्री से उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। फिर बूढ़ा गया''...चल, अब तू भी चल...।

''हाँ, तू मेरा अपना ख़ून है।'' वह ज़ोर से बोली जैसे उसे आस-पड़ोस को सुनाना हो कि देखो वह पोते वाली बन गई है।

चल मन, अब जाना ही पड़ेगा। आख़िर उसका अपना ख़ून है। बड़ी देर बाद इस घर में ख़ुशियों का मुँह देखा है। पूत बिना भी घर घर नहीं लगते। क़ब्र पर दीवा जलाने वाला भी कोई होना चाहिए। पम्मी न बोले तो न सही। उसने इस परिवार की जड़ हरी की है। जीती-जागती रहे। उसे अपने पोते को प्यार देना है। अगर पम्मी ने रोका तो वह बैठ जाएगी। नहीं तो प्यार देकर लौट आएगी। वह कोठरी का दरवाज़ा खोलती है। डिब्बे से पचास का नोट निकालती है। अपने आप से सलाह करती है। ख़ाली हाथ जाती अच्छी नहीं लगती। पम्मी ने क्या रखना। छिंदे उसे लौटा देगा। वह वापस लेगी नहीं। अच्छा नहीं लगता। वह दादी है। वह उसका पोता है। वह पोते की मुट्ठी में पकड़ा देगी। वह नर्म-से हाथों में पकड़ लेगा। अभी उसका एक पैर दरवाज़े से बाहर था एक पैर भीतर कि तारो आ गई। वह ख़ुश हो गई। तारो की सलाह उसके लिए आख़िरी सलाह होती है। तारो का अपनी माँ से बहुत प्यार है। उसको पता लग जाए कि माँ की ज़रा भी तबीअत ख़राब है तो वह सारे काम छोड़कर दौड़ी आती है। ख़ुद कार चलाकर। यह छिंदो के घर कम जाती है। इसको बुलाने पम्मी ख़ुद आती है। तारो पूछने लगी, ''बीबी, तू कहाँ चली? घर—तेरा कौन घर? छोड़ यह मोह-ममता के झंझट। पीछे लौटकर स्टोव जला। चाय का कप बना। मशीन चला। तुझे प्रेमो का सूट शाम तक देना है। तुझे अपना काम निपटाने में ही फ़ायदा। बीस रुपए मिलेंगे। मेरी अम्मीए, दिल छोटा न कर। यह दुनिया मतलब की है। यहाँ कोई किसी का साथी नहीं।

मैं तुझे अपने गाँव की एक कहानी सुनाती हूँ। ''हमारे पिछवाड़े एक बूढ़ी रहती थी-करतारो। उसके दोनों गुर्दे ख़राब हो गए। डॉक्टर ने कहा जो कोई एक गुर्दा दे दे तो वह बच सकती है। उसके घरवाले ने हाँ कर दी। पर करतारो ने मना कर दिया। बोली, 'मैंने खा लिया, पी लिया, उम्र बिता ली, बहुतेरी दुनिया देख ली। तू मेरे लिए अपने दिन क्यों घटाए? मुझे तेरा गुर्दा नहीं लेना।' उसका लड़का अमरीका में रहता था। उसे फ़ोन किया कि जाती बार आकर देख ले। वह पंद्रह दिनों बाद आ गया। करतारो का कलेजा जुड़ा गया। उसे लगा कि वह अब आराम से मर सकती है। पर मरने को किसका दिल करता है। कौन इस दुनिया को छोड़कर जाना चाहता है? एक दिन बूढ़ी को बहुत तेज़ दर्द उठा। उसने अपने पास रहती भतीजी को आवाज़ दी। कड़ाही रखने का इशारा किया। टट्टी करने को बैठी बूढ़ी को ख़याल आया कि जो हवा सरक गई तो रोटी खाने बैठे बेटे से रोटी नहीं खाई जाएगी। उसने बूढ़े को पास बुलाया और कहा कि जब तक मैं नहीं उठती तब तक तू मेरे साथ ज़ोर-ज़ोर से बातें करता रह। जब बेटा रोटी खा ले तो मुझे उठा देना। इधर लड़का रोटी खाकर हाथ धोने को उठा—उधर करतारो रब्ब को प्यारी हो गई। लड़के के मुँह से एक बार भी नहीं निकला कि मैं

...माँ के लिए एक गुर्दा देने को तैयार हूँ। ...तो घर-घर की कहानी है। जिधर नज़र ...—यही मिलेगा।''

"... ...।"

"पर, माँ... ?''

"तू यही कहेगी—माँ आख़िर माँ होती है। ...पूत को भी पूत होना चाहिए। तू खड़ी-खड़ी ... गई। दो घड़ी आराम कर ले। अभी छह ...हैं। चली जाना। मैं तुझे रोकती नहीं। मैं तेरी ... नहीं। पेट से जायी बेटी हूँ। थोड़ी देर सब्र ...ले। घर से तुझे कोई बुलाने भी आता है या ...।"

...दम कौर का आधा दिन बड़े असमंजस में ...। उसकी नज़रें बाहरी दरवाज़े पर लगी रहीं ... अब भी घर से कोई संदेशा आए कि अब ... बुलाने आया। सरबजीत उसे बता गया था ... छिंदा अपनी समराले वाली साली को लाने ... है।

आज वीना भी इधर नहीं आई। क्या पता ...ने ही रोक दिया हो। या यह भी हो सकता ...कि वह अपनी मम्मी के पास बैठी हो। बच्चे ...भी सयाने जितना आसरा होता है।

...उसने कोठरी का दरवाज़ा बंद कर रखा था। ...ठंडी, तेज़ हवा ने गर्मी नहीं आने दी थी। वह ...घंटे बाद दरवाज़ा खोलकर देखती कि कोई ... कि नहीं। आँगन में पानी भरा पड़ा था। न ... हटी न उससे बाहर जाया गया।

...गुरुद्वारे रहरास (शाम की प्रार्थना) का पाठ ...हो गया। पति फिर समझाने लगा, ''तूने की ...ढ़ियों वाली बात! घर में पम्मी अकेली है। ...कियाँ अपना काम सँभाल लें यही बहुत है। ...जाना चाहिए। सूट कहीं भाग नहीं चला। ...को सिल लेना। अभी जा। पम्मी तुझे खा तो ...लेगी। वह भी तेरा अपना घर है।''

...उसका अपना मन भी जाने को उतावला था। प्रतीक्षा का प्याला भर गया था। उसको कोई क्यों बुलाने आए। वह घर में सबसे बड़ी है। पम्मी नहीं बुलाती तो न बुलाए। लड़कियाँ तो हैं। उसकी पोतियाँ।

वह उतावली होकर घर की ओर चल देती है।

अभी घर वाला मोड़ ही मुड़ी कि आगे उसे छिंदा जाता दिखा है। वह छिंदे से पूछती है, ''तू कहाँ से आया?''

''मैं यहीं था।''

''तूने मुझे बधाइयाँ नहीं दीं।''

''मैं भूल गया। सारा प्रताप तेरा।''

उसका कलेज़ा ठंडा हुआ।

''इतनी ठंड में तू किधर चली?''

''घर अपने पोते को देखने।''

''पम्मी ने मुझसे कहा है कि जब तक तेरहवाँ नहीं नहा लेती, तब तक किसी बाहर की जनानी को घर में नहीं आने देना।''

छिंदे ने और भी कहा। उसे बहुत कुछ सुनाई नहीं दिया। उसने कानों से उँगली लगा ली। उन्हीं पैरों वापस मुड़ आई। स्टोव जलाया। चाय का करारा-सा गिलास बनाकर छोटे-छोटे घूँट भरने लगी। उसके सामने अधसिला सूट पड़ा है। उसे सबेरे की चाय के लिए काकू की पत्नी से दूध भी लाने जाना है। क्या पता वह आप ही दे जाए। वह बड़ी अच्छी है। शायद किसी बच्चे के हाथ भेज दे। वह सूट सिलना शुरू कर देती है। अपने आपसे बातें करती है, ''मैं तो भूल ही गई थी। तुझे सबेरे ब्याह पर जाना है। अब तेरा सूट सिलकर ही रोटी बनाऊँगी। तू मेरी ओर फेरा न लगाना। मैं ख़ुद देने आऊँगी। पहले टेप रिकॉर्डर में श्रीनगरीये भाई के शब्द की कैसेट लगा लूँ...।'' और इसी उधेड़-बुन में फँसी बूढ़ी के मुँह से अचेत ही यह भी निकला, ''पम्मी का बेटा बाद में होगा। पहले वह मेरा पोता है। मेरा अपना ख़ून। लंबी उम्र का आनंद पाए।''

नछत्तर

आग की रोटी

श्मशान घाट के एक कोने में खड़े कुंदन ने घड़ी की ओर देखा। चार बजकर बीस मिनट हुए थे। वहीं खड़े-खड़े उसकी निगाह आसमान की ओर भी गई, पर वहाँ सुबह से ही बादलों की सघन चादर तनी होने के कारण सूरज का पता नहीं लग रहा था कि वह कहाँ है। पिछले चार-पाँच दिनों से मौसम कुछ अधिक ही बिगड़ा होने के कारण हड्डियों को चीरती शीत हवा चल रही थी। उम्र बिता चुके दरख़्तों के पीले पड़ चुके पत्ते हवा के तेज़ झोंकों से इधर-उधर उड़ रहे थे।

"पानी किसी घड़ी भी बरस सकता है।" कुंदन के चेहरे पर शीत हवा का एक तेज़ झोंका थप्पड़ की भाँति लगा तो उसके मुँह से ये शब्द निकले।

कुंदन के पैरों से कुछ ही दूरी पर उस दिन श्मशान घाट में आई अर्थियों में से दसवीं लाश की चिता जल रही थी। लकड़ियाँ गीली होने के कारण आग बड़ी मुश्किल से लगी थी। कुंदन ने अपने हाथ में पकड़े हुए लंबे बाँस से चिता में जलने से रह गई लकड़ियों को इकट्ठा कर अंदर की ओर धकेलते हुए एक लंबा श्वास लिया, क्योंकि मुर्दा लगभग आधा जल चुका था। अर्थी के संग आए मृतक के सगे-संबंधियों को दूर बैठा देख कुंदन ने कपाल-क्रिया की रस्म के बारे में सोचा।

श्मशान घाट के लाउड-स्पीकर द्वारा धार्मिक गीतों के बोल पूरे वातावरण में घुलमिल रहे थे। पहले कभी भी कुंदन का ध्यान उन गीतों की ओर नहीं गया था, पर उस दिन हर गीत का एक-एक शब्द उसके भीतर तक उतरता जा रहा था। लगातार आँखों में धुआँ पड़ते रहने के कारण लाल हो उठी आँखों को मलते हुए एक बार फिर कुंदन ने अपने आसपास नज़र दौड़ाई। उससे थोड़ी दूरी पर जल रही चिताओं के क़रीब दुर्गा और बलराम खड़े थे। कुंदन को लगा, जैसे वे दोनों भी उसकी ओर ही देख रहे हों। फिर उसकी निगाह एक शेड के नीचे पड़ी संत राम की अर्थी की ओर गई। कुछेक पल उधर देखते रहने के बाद कुंदन को लगा, मानो कफ़न में लिपटे संत राम ने आवाज़ देकर उसे अपने पास बुलाया हो। एक पल कुंदन का मन किया कि वह आवाज़ देनेवाले के पास

पंजाबी कथाकार नछत्तर का जन्म 1950 में हुआ। इनके पाँच कहानी-संग्रह, चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। पंजाबी अकादमी, दिल्ली से सम्मानित हैं। संपर्क : जी एच-14/676, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110087
मो. 9313292863

अनु. 1954 में जन्मे सुभाष नीरव के दो कहानी-संग्रह, दो कविता-संग्रह, लघुकथा, बाल कहानी तथा अनुवादित संपादित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 248, टाईप-3, सेक्टर-3, सादिक़ नगर, नई दिल्ली 110049, मो. 9810534373

पर क्षणभर बाद ही उसकी आँखों के सामने
आधा जल चुका मुर्दा आ खड़ा हुआ,
के क़दम वहीं के वहीं रुक गए।
आओ जी, कपाल-क्रिया की रस्म करें।''
क़रीब खड़े एक व्यक्ति से कुंदन ने कहा।
दन की आवाज़ सुनकर वह धीमे क़दमों
के क़रीब आ खड़ा हुआ।
इसे कसकर पकड़। इसके सिरे को पूरे
से खोपड़ी पर तीन बार मारना है ताकि वह
जाए।'' चिता में जल रही लाश के नज़दीक
के हाथ में बाँस को थमाते हुए कुंदन ने
तो सामने खड़े हुए व्यक्ति का चेहरा एकदम
रुक गया।

उस समय कुंदन को लगा, मानो उस आदमी
क्रिया नहीं हो सकेगी। तेज़ी से भागते जा
समय को महसूस करके कुंदन ने आगे बढ़कर
की बाँह पकड़ी और उस आदमी ने खोपड़ी
ठोकर मारने के लिए बाँस को आगे बढ़ाया
उसकी आँखों में रुका हुआ समुंदर अचानक
पड़ा। उस आदमी ने एक पल चिता के
जल रही खोपड़ी की ओर देखा, पर आँखों
आए आँसुओं के कारण उसे कुछ भी
नहीं आया। कुंदन ने घड़ी की ओर देखा।
से ही खीझे खड़े कुंदन ने आगे बढ़कर
आदमी के हाथ से बाँस ले लिया और स्वयं
बार खोपड़ी को ठोकर मारकर कपाल-
की रस्म पूरी कर दी। यह काम करने के
कुंदन ने गहरी साँस लेते हुए एक पल शेड
पड़ी संत राम की अर्थी की ओर देखा।
कुंदन को लगा, जैसे उसका दिल
लगा हो, मानो आग चिता में नहीं बल्कि
अंदर जल रही हो। बार-बार सूख रहे
पर जीभ फेरते हुए एक बार फिर उसने
आसमान की ओर देखा।
मरने के बाद सब ऊपर ही जाते हैं।''
की ओर देखते हुए वह सोच रहा था।

उसी समय, एक और अर्थी को उठाए कुछ आदमी कुंदन को दिखाई दिए, तो हाथ में पकड़े हुए बाँस के इर्द-गिर्द उसकी मुट्ठियाँ ख़ुद-ब-ख़ुद भिंच गईं। उस समय कुंदन का मन हुआ कि वह अपने हाथों में पकड़े बाँस को दूर फेंक दे और कहीं दूर भाग जाए, पर अगले ही पल उसकी आँखों के आगे मरे पड़े संत राम का चेहरा घूमा तो गले में इकट्ठी हुई कड़वाहट को उसने अपने अंदर ही निगल लिया।

उस समय श्मशान घाट में आई उस अर्थी के साथ उस दिन आनेवाली लाशों की संख्या ग्यारह हो गई थी। बारहवीं अर्थी संत राम की थी जो दोपहर से लेकर उस समय तक अग्नि की भेंट नहीं हो सकी थी। इतनी अर्थियाँ उस दिन पहली बार नहीं आई थीं, बल्कि यह सिलसिला तो कई दिनों से जारी था। ऐसा लग रहा था, जैसे पूरा शहर ही कुछ दिनों में ख़त्म हो जाएगा। जनवरी का ठंडा महीना और उस पर दो दिन पहले हुई बरसात के कारण कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। अधिक आयु के कई बूढ़े-बूढ़ियाँ उस ठंड की भेंट चढ़ गए थे।

दिशाएँ बदल-बदलकर लग रही हवा के तेज़ झोंकों से श्मशान घाट के अहाते के अंदर जल रही चिताओं से उठ रहा धुआँ कुंदन की आँखों में मिर्च की तरह लगा, तो उसने आँखें मलते हुए एक बार फिर संत राम की अर्थी की ओर देखा। खड़े-खड़े कुंदन को लगा, मानो अर्थी के समीप बैठे दुर्गा और बलराम भी उसी की तरह सोच रहे हों।

''चलो भई, अँधेरा होने से पहले ये अर्थी भी समेटो।'' गुमसुम खड़े कुंदन के पास आकर पंडित राम दत्त ने कहा तो श्मशान घाट के अहाते के अंदर सोचों के समुंदर में से बाहर निकलकर कुंदन ने एकपल को कहने वाले के मुँह की ओर घूरकर देखा।

कुंदन के दूसरे साथी संत राम की अर्थी के

पास से उठकर पहले ही ख़ाली चबूतरे के ऊपर तेज़ी से लकड़ियाँ ज़माने लगे थे। मृतक के साथ आए व्यक्ति भी लकड़ियाँ चिनने में उनकी मदद कर रहे थे।

"संत राम की देह को यहाँ से ख़ाली होकर अग्नि के हवाले करेंगे।" कुंदन के क़रीब आकर दुर्गा ने मरे हुए मुँह से कहा तो कुंदन स्वयं भी चिनी जा रही चिता के पास पहुँच, उनके द्वारा किए जा रहे काम में हाथ बँटाने लगा।

हालाँकि संत राम की मिट्टी को अग्नि की भेंट करने में बहुत देर हो रही थी, पर फिर भी कुंदन उस काम के लिए जल्दबाज़ी नहीं करना चाहता था। जो रिश्ता उसका और संत राम का पिछले दस-बारह सालों के दौरान बना है, कुंदन नहीं चाहता था कि आग उसे इतनी जल्दी भस्म कर दे। कुंदन तो संत राम की मृतक देह के पास बैठकर उससे कुछ पल वह बातें करना चाहता था, जो कुंदन चाहते हुए भी शर्म का मारा अब तक उसके साथ साझा नहीं कर सका था।

सत्रह-अट्ठारह वर्ष पहले फूलभर कुंदन को कोई कपड़े में लपेटकर श्मशान घाट के गेट के आगे रखकर चला गया था। वहीं से संत राम को वह मिला था। संत राम ने ही उसका नाम कुंदन रखा था। श्मशान घाट के साथ वाली बस्ती से माया नाम की एक औरत अकसर संत राम के पास आया करती थी। उसका आदमी नहीं था और दो छोटे-छोटे बच्चे थे। उनका पेट पालने के लिए उसे बहुत कुछ करना पड़ता था। कभी-कभी वह पूरी-पूरी रात संत राम के पास रह जाती थी। मुर्दों के ऊपर से उतारी गई अपने हिस्से में आई शॉलें और छोटा-मोटा सामान संत राम माया को उठवा देता था। दरअसल, उसने ही कुंदन को पाला था। यह सब कुछ कुंदन को एक रात दारू के नशे में दुर्गा ने बताया था।

संत राम नहीं चाहता था कि कुंदन के बाल मन पर श्मशान घाट जैसे वातावरण का बुरा प्रभाव पड़े। उसकी सदैव यही कोशिश रही कि कुंदन को उस काम से दूर रखा जाए। संत राम तो कुंदन को पढ़ाना चाहता था। उसे बस्ती के स्कूल में दाख़िल भी करवाया, पर कुंदन के तो कुछ पल्ले पड़ता ही नहीं था। स्कूल में कभी भी उसका मन पढ़ने को नहीं करता था। उसे सदैव यही लगता रहता कि वह स्कूल की चारदीवारी के अंदर नहीं, बल्कि किसी क़ैद में फँसा हो। छुट्टी होते ही वह तख़्ती-बस्ता लेकर माया के घर की ओर नहीं, बल्कि सीधा श्मशान घाट की ओर दौड़ता था। उसे वहाँ आया देख, संत राम बहुत खीझता, पर उसका मन तो संत राम के पास ही लगता था। माया उसे अपने बच्चों से भी बढ़कर समझती थी, पता नहीं क्यों माया को देखते ही कुंदन को ग़ुस्सा आने लगता।

कुंदन को बड़ा होते देख माया ने वहाँ आना कम कर दिया था। एक बार कुंदन कहीं बाहर खेल रहा था और माया ने संत राम के कमरे में घुसकर अंदर से कुंडी लगा ली थी। कुंदन कमरे की ओर गया तो दरवाज़े को बंद पाकर उसके तख़्ते तोड़ने लगा। जब माया ने दरवाज़ा खोला तो ग़ुस्से से भरा कुंदन रोए भी जा रहा था और साथ ही अपने छोटे हाथों से माया को पीट भी रहा था। संत राम ने कुंदन को गोदी में उठाकर बड़ी ही मुश्किल से चुप कराया था। उस दिन के बाद माया ने दिन में आना बहुत कम कर दिया था। रात-बिरात भी वह तभी आती थी, जब कुंदन सो जाता था।

वहाँ खड़े-खड़े कुंदन ने पीछे मुड़कर देखा तो यह सब कुछ उसे साक्षात् दिखाई दिया था। कुंदन ने गर्दन को झटका देकर पीछे छूट गए को और पीछे धकेल दिया। ज्यों-ज्यों बीती घटनाएँ उसे याद आ रही थीं, वैसे-वैसे वह भावुक होता जा रहा था। वहाँ खड़े-खड़े उसे लगा, जैसे उसके दोनों पैर सो गए हों। पैर उठाते हुए

...टाँगों में झनझनाहट-सी पैदा होती तो ...ता, मानो वह अभी भरभराकर गिर पड़ेगा। ...एक क़दम रखना उसे कठिन प्रतीत हो रहा

...छ बड़ा होने पर दोनों कमरों की साफ़-...ई का काम कुंदन ने ख़ुद सँभाल लिया। ...के आगे फूलों की क्यारियों की देखभाल ...ह ख़ुद करने लगा था। इन कामों के लिए ...किसी ने भी नहीं कहा था, पर कुंदन से ...नहीं बैठा जाता था। कुछ समय बाद ...-शाम की रोटी वाले बर्तन भी कुंदन ख़ुद ...फ़ करने लगा था। पहले रोटी-सब्ज़ी संत ...बनाया करता था, पर धीरे-धीरे यह काम कुंदन ने अपने ज़िम्मे ले लिया।

...माया ने संत राम के पास आना बिलकुल ...बंद कर दिया। संत राम स्वयं ही समय-...य बस्ती की ओर चक्कर लगा आता था। ...नहीं चाहती थी कि संत राम और उसके ...यों का कुंदन के बाल मन पर बुरा प्रभाव ...इस बात से संत राम स्वयं भी सतर्क रहने ...था।

"कुंदन, आज रात तू सोना नहीं, जागते रहना। ...के बाद तेरी आंटी संत राम को मिलने ...।" इस तरह की बातें कहकर दुर्गा कुंदन ...झाता, तो कुंदन उनके पास से उठकर दूर ...जाता था और तब तक उनके पास नहीं ...था, जब तक उसका ग़ुस्सा ठंडा नहीं हो

"आज तो काम मंदा ही रहा।" एक रात ...घाट के अहाते में ठंडी हो रही एक ...के क़रीब बैठे दारू पी रहे बलराम ने ...लोगों को सुनाते हुए कहा था।

...अब बंदे कम मरने लगे हैं।" दुर्गा ने अपना ...ख़ाली करते हुए हुँकारा भरा था।

...पर श्मशान घाट में मुर्दे जलते रहने के ...त होने पर वहाँ काम करते लोगों के मन पर एक ऐसी बदबू हावी हो जाती थी, जो उन्हें तब तक हल्का नहीं होने देती थी, जब तक दारू के दो-चार पैग उनके गले से नीचे नहीं उतर जाते थे।

"यह काम तेरे लायक़ नहीं। तू नहीं जानता कि लोग हमें कितनी नफ़रत से देखते हैं, पर क्या करें। हमारे बग़ैर उनका गुज़ारा भी नहीं चलता।" जब कभी जल रही लाश के पास आकर कुंदन खड़ा हो जाता, तो अकसर ही संत राम उससे कहा करता था।

पर जैसे-जैसे कुंदन बड़ा होता गया, संत राम के न चाहने पर भी, वैसे-वैसे श्मशान घाट के भीतरी सारे गुर वह अपने आप सीखता चला गया। श्मशान घाट के अंदर अर्थी लाकर रखते समय, मुर्दे के पैर दक्खिन की ओर और सिर उत्तर की ओर। चिता को आग दिखाए जाने से पहले गायत्री मंत्र का जाप करना और कपाल-क्रिया की रस्म के समय चिता के अंदर जल रही खोपड़ी को बाँस से तीन बार ठोकर मारना आदि, ऐसी बहुत सारी अन्य रस्में कुंदन ख़ुद-ब-ख़ुद सीख गया था, पर इनके बारे में किसी को भी बताता नहीं था।

पहले कुंदन शराब नहीं पीता था, पर ठेके से दारू लेकर आने का काम वही करता था।

"ला चाचा आज मैं भी पीकर देखता हूँ।" एक रात कुंदन ने अपने आप ही संत राम के हाथ से दारू वाला गिलास पकड़ लिया था।

श्मशान घाट के काम करते हुए बाक़ी लोगों की देखादेखी कुंदन स्वयं भी संत राम को चाचा ही कहा करता था।

उस दिन भी श्मशान घाट के अंदर दस-बारह अर्थियाँ आई थीं। ज़्यादा लाशें आई होने के कारण सब अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। कुंदन कमरे के अंदर की सभी वस्तुओं की साफ़-सफ़ाई और रख-रखाव के बाद उधर निकल आया था। उस समय, वह कुछ अधिक ही बुझा-

बुझा-सा लग रहा था। उसका मन करता था कि कोई उसके साथ किसी भी तरह की बात करे ताकि उसके मन पर का बोझ हल्का हो जाए, लेकिन सभी अपने-अपने काम में मस्त थे। कुंदन के साथ बात करने के लिए किसी के पास भी समय नहीं था। यह देखकर कुंदन के मन के ऊपर का बोझ और भी भारी हो गया।

उसी समय एक चिता को आग दिखाने के बाद दुर्गा सिगरेट सुलगाकर एक ओर होकर खड़ा हो गया था। उसे खड़ा देखकर कुंदन छोटे-छोटे क़दम धरता उसके पास जा पहुँचा। कुंदन ने दुर्गा के हाथों से बाँस पकड़ लिया। दो-तीन बार बाँस को इधर-उधर घुमाकर देखा। फिर उसने जल रही चिता से बाहर गिर रही अधजली लकड़ियों को चिता के अंदर की ओर धकेल दिया। सिगरेट ख़त्म करने के बाद दुर्गा ने कुंदन के हाथ से बाँस लेना चाहा तो कुंदन दूर भाग गया।

''बताऊँ चाचा को!'' दुर्गा ने संत राम को बताने के बारे में कहा तो कुंदन ने अपने आप ही बाँस दुर्गा को पकड़ा दिया।

उस दिन वह पूरा मुर्दा जलने तक दुर्गा के क़रीब खड़ा रहा था। उस दिन संत राम भी अपने काम में बहुत व्यस्त था। नहीं तो वह कुंदन को झिड़ककर वहाँ से भगा देता। चिताओं के अंदर जलती लाशों की गंध के कारण उस दिन कुंदन का सिर चकराने लगा था, मानो उसे उल्टी आ रही हो।

पहले कुंदन संत राम के साथ ही एक कमरे में रहता था, पर कुछ समय के बाद श्मशान घाट का प्रबंध समाज सुधारक कमेटी के हाथ में आया तो कमेटी ने अर्थी के संग आए लोगों के बैठने के लिए शेड्स बना दिए। दो-तीन नए कमरे भी बन गए। बैठने के लिए शेडों के नीचे बेंच भी आ गए। कुंदन के बड़ा हो जाने के कारण उसको अलग कमरा मिलने पर वह बहुत ख़ुश था। उसके बाद वही कमरा कुंदन का घर था और श्मशान घाट ही उसका संसार बन गया।

रात को संत राम और कुंदन ही श्मशान घाट के अंदर रहते थे, क्योंकि बाक़ी सबके घर थे। रात को घरों की ओर लौटने से पहले वहाँ काम कर रहे सभी लोग नहा-धोकर दारू के दो-दो पैग अपने अंदर उतारते और उस दिन के पूरे लेखे-जोखे के बारे में चर्चा करने बैठ जाते।

''ये बेचारे तो ग़रीब साथी ही लगते हैं।'' अर्थी के साथ आए ग़रीब-से लोगों को देखने के बाद।

''यह बूढ़ा तो लड़कों के लिए अच्छा-ख़ासा धन छोड़ गया होगा, तभी तो पूरे ढोल-ढमाके के साथ अर्थी सजाकर लाए हैं।'' शानो-शौकत से लाई गई एक बुज़ुर्ग की अर्थी देखने पर।

''इस लड़की ने तो यूँ ही बेकार में अपनी जान गँवा दी।'' इश्क़ में नाकाम रही किसी लड़की द्वारा आत्महत्या करने पर। इस प्रकार की टिप्पणियाँ वे अकसर रात के समय किया करते थे।

अपने सुन्न हो गए पैरों को कुंदन ने बारी-बारी से झटका तो उसके पैरों में ख़ून पहले की भाँति तेज़ी से दौरा करने लगा।

एक दिन सब अपने-अपने काम में मग्न थे। एक चिता के पास खड़े कुंदन ने अहाते के अंदर जल रही सभी चिताओं की ओर नज़र दौड़ाई, पर संत राम उसे कहीं भी दिखाई नहीं दिया।

''चाचा कहाँ है?'' अपने पास से गुज़रते हुए दुर्गा से कुंदन ने पूछा।

''तुझे नहीं पता?'' दुर्गा ने खड़े होकर कुंदन से सवाल किया।

''पिछले दो-तीन दिनों से वह उखड़ा-उखड़ा तो फिरता था, पर मैंने सोचा, शायद तबीअत वग़ैरह ख़राब होगी। दूसरी बात का मुझे नहीं पता।'' कुंदन ने दुर्गा के हाथ से सुलगती सिगरेट पकड़ी और लंबा कश लेते हुए कहा।

रे से कैसा छिपाव? तू ख़ुद समझदार
" बोलते-बोलते दुर्गा एकपल को रुककर
पास देखने लगा।

"माया, अपने दोनों बच्चों को छोड़कर किसी
साथ भाग गई। पिछले दो दिनों से चाचा
के कई चक्कर मार चुका है, पर माया का
अता-पता नहीं लग रहा। मुझे लगता है,
से माया के चले जाने का ग़म सहा नहीं
।" दुर्गा ने कुंदन के कान के पास होकर
वाली बात बताई।

कुंदन ने बात सुनकर एक गहरा निःश्वास
और सामने जल रही चिता की ओर देखा।
पल को उसे लगा, मानो चिता में संत राम
जल रहा हो।

"माया को पता नहीं, इस उम्र में क्या पागलपन
हुआ, अपने सिर की सफ़ेदी भी नहीं
!" यह कहकर दुर्गा स्वयं तो आगे बढ़
, पर कुंदन वहीं खड़े-खड़े ही, अपने कमरे
सवेरे से दारू पिए जा रहे संत राम को देखने
।

संत राम दारू भी पी रहा था और साथ-साथ
की तरह रोए भी जा रहा था। यह सब
कुंदन ने अपने कमरे के दरवाज़े के पास
होकर देखा था। सभी ने इकट्ठे होकर संत
को समझाया था, पर न तो वह कमरे से
निकला और न ही उसने दारू पीनी बंद
। कमरे से बाहर तो दो दिन बाद उसकी
ही निकली थी।

अंतिम चिता को आग दिखाने के बाद अकेले
कुंदन को वहाँ छोड़कर बाक़ी लोग तेज़ी से संत राम की अर्थी की ओर बढ़ गए। बढ़ते जा रहे अँधेरे को देख, वे सभी तेज़ी के साथ संत राम की मिट्टी को समेटने के लिए तैयार की जा रही चिता में लकड़ियाँ चिन रहे थे। जो काम कुंदन स्वयं करना चाहता था, वही काम दूसरों को करते देख उसके मन में खीझ-सी उठी। ग़ुस्से में भरे कुंदन ने आख़िरी मुर्दे की कपाल-क्रिया करवाने के बाद जलती चिता के इर्द-गिर्द बिखरी पड़ी अंजली लकड़ियों के टुकड़ों को बाँस की सहायता से इकट्ठा किया और अर्थी के साथ आए लोगों को इकट्ठा होने के लिए कहा, ताकि वह दूसरे दिन फूल चुनने की रस्म के बारे में बता सके। तभी अचानक श्मशान घ़ाट के मुख्य द्वार की ओर से औरतों के रोने-कुरलाने की आवाज़ें कुंदन के कानों में पड़ीं। कुंदन ने गर्दन घुमाकर उधर देखा, जिधर से आवाज़ें आ रही थीं। आसपास फैलते जा रहे अँधेरे में आहिस्ता-आहिस्ता क़दमों से चले आ रहे कुछ लोग कुंदन को दिखाई दिए। जब वे थोड़ा और आगे आए, तो चार आदमियों के कंधों पर उठाई हुई अर्थी देखकर कुंदन ने फूल चुनने की रस्म के बारे में सुनने के लिए सामने इकट्ठे हुए लोगों की ओर घूरकर देखा। उस पल ग़ुस्सा चक्रवात की तरह उसके दिमाग़ में चढ़ गया और सिर से पाँव तक वह पूरा का पूरा काँप उठा।

"क्या सभी को आज ही मरना था?" अपने हाथ में पकड़े हुए बाँस को दूर फेंकते हुए कुंदन संत राम की अर्थी की ओर तेज़ी से चल पड़ा।

जसबीर भुल्लर

अपनों की शिनाख़्त

उसके पैर फ़ौजी बूट से कटे हुए भी थे और थके हुए भी, पर घर के लिए वह पैर फिर भी बेसब्र थे।

डूब रहे सूरज के नज़दीक झुलसा-सा घर चुपचाप और उदास था। शाम की फैली हुई परछाइयों में उसे फ़सलें भी मुरझाई हुई लगीं।

घर के लिए तो सिपाही सुवेग सिंह कब का मर चुका था। जंग के मैदान में मिला पहचान-पत्र उसके मरने की गवाही था।

जंगी लिबास में तैयार होकर जब वह लड़ाई के लिए चला था तब उसके पास दो पहचान-पत्र थे। टीन के उन गोल टुकड़ों पर ख़ुदा नाम, नंबर उसकी पहचान थी। उसके नीचे उकेरा हुआ सैनिक का धर्म मरने के बाद उसे दफ़नाने या जलाने के फ़ैसले को आसान कर देता है। ख़ून के ग्रुप की जानकारी ज़ख़्मी सैनिक को फौरी तौर पर ख़ून देकर बचाने में सहायक होता है।

उस रात हमले के समय भी मज़बूत धागे में गुँथा एक पहचान-पत्र उसके गले में लटक रहा था और दूसरा बाँह से बँधा हुआ था। पर लोहे का पहचान-पत्र उसकी ढाल नहीं था। एक गोली लोहे के पहचान-पत्र के पास बाँह की हड्डी को छलनी कर गई थी।

उसने अपनी राइफ़ल वहीं रख दी और दाहिने हाथ के आसरे बाँह को उठाने का यत्न किया। उसका हाथ बहते ख़ून से भीग गया। उसने पलटनी लेकर एक गड्ढे का आश्रय ले लिया।

गोलियाँ रात की कालिमा में लकीरें खींचती रहीं। जंगी हथियारों के शोर में चीख़ें गुम होती रहीं।

गड्ढे की पनाह में पड़े हुए की जान धीमे-धीमे निचुड़ रही थी।

उसने पेटी खोली, पिट्ठू उतारा और पानी वाली बोतल से रम की दो लंबी घूँट भरी। मरुस्थल की रात में ठरें हुए जिस्म ने कुछ आँच महसूस की। इस जैसे समय के लिए ही उसने बोतल में पानी की जगह रम भरी थी। उसे पता था, पानी तो वह किसी भी मुर्दे की बोतल से पी सकता था।

बाँह पर बँधा पहचान-पत्र ज़ख़्म में चुभ रहा था। उसने दाँत से धागे की गाँठ खोलकर पहचान-पत्र उतार दिया। रम से ज़ख़्म को धोकर पिट्ठू से रूई और पट्टी निकाली और ज़ख़्म को कसकर बाँध

पंजाबी कहानीकार जसबीर भुल्लर का जन्म 1941 में हुआ। पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। संपर्क : 582, फ़ेज़ 3ए, मुहाली, रोपड़ (पंजाब)

अनु. राजेंद्र तिवारी का जन्म 1956 में हुआ। हिंदी-पंजाबी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : पूरे सलई, कौड़िया 271122, गोंडा, (उ.प्र.)

था। किसी मुर्दे के जंगली बूट का एक पैर बाँह के नीचे रखकर एक और पट्टी बाँध दी। पटके की सलिंग का हार बनाकर उसने गले में डाल लिया और सलिंग के सहारे बाँह का भार उठा लिया।

इतने तरद्दुद ने उसे थका दिया था। उसने रम का एक घूँट और भरा और आँखें बंद कर लीं।

लड़ाई के बाद उनकी लाशों को मनुष्य होने का सम्मान मिलना चाहिए, यह बात उनके कमान अफ़सर ने सोची थी।

लाशों के अंतिम संस्कार के लिए भेजी गई टुकड़ी के जवान पहले लाशों की गिनती करते और फिर थक गए। उन्होंने पहचान-पत्र उतार-उतार कर लाशों को एक गड्ढे में फेंकना शुरू कर दिया था। अचानक दुश्मन के तोपख़ाने की गोलाबारी होने लगी। दुश्मन का तोपख़ाना चाहे वहाँ से पच्चीस-तीस किलोमीटर दूर था, पर उसकी भेजी हुई मौत दूर नहीं थी। काम अधूरा छोड़कर उन्हें वहाँ से हटना पड़ा था।

उस दिन उनकी पलटन के पास बहुत सारे पहचान-पत्र एकत्र हो गए थे। उनके बीच एक पहचान-पत्र सिपाही सुवेग सिंह का था। क्लर्कों ने लोहे के पहचान-पत्र से पलटन के शहीदों के नाम, नंबर पढ़े और पहले से तैयार चिट्ठियों की खाली जगह को भर दिया। उस शाम चिट्ठियाँ विलाप का सुराग़ लेकर ख़ुशहाल बसते घरों को आग लगाने चल पड़ीं।

यह सारी घटना एक पुराने साथी ने बताई थी जो पिछले दिनों सिपाही सुवेग सिंह को रेजीमेंटल सेंटर में मिला था।

फ़ौज ने जब उसका सामान घर भेजा था तो लड़ाई के मैदान में मिला पहचान-पत्र सामान का हिस्सा हो गया था।

दूसरा पहचान-पत्र अब तक उसके पास था। बंद दरवाज़े को सिपाही सुवेग सिंह की प्रतीक्षा थी।

उसे देखकर पहले सभी हैरान हुए थे, फिर ख़ुश हुए थे, हँसे थे और कुछ क्षण बाद परेशान हो गए थे। उनके चेहरों पर तनाव और चिंता दिखने लगी थी।

निंदी सीधे उसकी ओर दौड़ी थी फिर झिझककर खड़ी हो गई थी।

उस समय दोनों के बीच बस थोड़ी-सी दूरी बाक़ी रह गई थी। सुवेग सिंह ने किटबैग कंधे से उतारकर नीचे रख दिया और लंबे-लंबे क़दमों से वह दूरी पूरी कर दी थी।

निंदी उसकी छाती से सर लगाकर आर्तनाद कर उठी। अगले क्षण वह सँभली और गिर गया पल्ला सिर पर लंबा खींच लिया।

संत कौर ने सुवेग सिंह का सिर सहलाकर माथा चूमा और मन भर आया।

गुरदीप ने बड़े भाई की गलबाँहों में आह-सा भरा, "भाऊ! तू पहले क्यों नहीं आया?"

सूबेदार ज्वाला सिंह ने सिपाही सुवेग सिंह की पीठ थपथपाई, "हौसला रख, सब ठीक हो जाएगा।"

सिपाही सुवेग सिंह की आमद के चाव को दीमक लगी हुई थी। उसने सोचा कटी हुई बाँह देखकर वे मुरझा गए थे। उसने दाएँ हाथ से कटी हुई बाँह को थपकाया और लंबी साँस भरकर हँसने की कोशिश की, "लड़ाई को कोई न कोई निशानी तो देनी ही होती है।"

चारपाई डालकर वे आँगन में ही चौके के समीप बैठ गए।

गुरदीप कुछ उखड़ा-उखड़ा बोला, "भाऊ! हमें तो तेरे मरने की ख़बर पहुँची थी। हमने तो तेरा भोग भी डाल दिया था और तू इतने वर्षों बाद अब आया है जब...।"

गुरदीप की अधूरी छोड़ी बात उस समय अधूरी ही रह गई थी। सिपाही सुवेग सिंह ने हँसते हुए कहा, "जो भला मैं वहीं ही मर जाता तो...?"

"शुभ-शुभ की बोली बोल पुत्तर!" संत कौर

ने मीठी-सी झिड़की दी, ''शुक्र है जंग की साढ़े साती चुकी। मैं तो कहती हूँ, मेरी उम्र भी मेरे पूत को मिले!''

''पर यह सब हुआ किस तरह?'' सूबेदार ज्वाला सिंह ने बात को मोड़ देते हुए सिपाही सुवेग सिंह की कटी हुई बाँह की ओर इशारा किया।

निंदी ने आग जलाई और पतीले में पानी डालकर चूल्हे पर रख दिया।

कुछ देर बाद पानी उबलने लगा।

सिपाही सुवेग सिंह चूल्हे की आग से नज़र हटाकर आँगन में फैल रहे अँधेरे की ओर देखने लगा। उस रात अँधेरा उसकी आँखों में भी उतर आया था।

जंग के कोलाहल से बेख़बर वह पड़ा रहा था। पौ फूटते समय मरे सैनिकों को देखकर कौओं ने काँव-काँव की तो उसकी आँख खुली।

उसका शरीर बेपनाह दर्द का मारा हुआ था। वहाँ कौओं की गिनती बढ़ रही थी और अब गिद्ध भी पहुँचने ही वाले थे।

अपने पराये की एक फ़सल काटी जा चुकी थी। वह कटी हुई फ़सल के बिचकार पड़ा था। न वहाँ दुश्मन का सुराग़ था न अपनों का पता। वह कब के जा चुके थे।

दिन अपने शीत से बाहर आ रहा था। धीमे-धीमे दिन को तपना था और मृगजल हो जाना था। वहाँ से जाने की तैयारी में उसने पास वाले मुर्दे के पास से रोटी लेकर खाई। एक बार और वाटर बॉटल से पानी पिया। किसी और की पानी वाली बोतल पेटी से बाँध ली।

उसने दूर कहीं गोलियों के चलने की मद्धम-सी आवाज़ सुनी। उसने वहाँ से एक राइफल उठाई और आवाज़ों के भ्रम की दिशा में चल पड़ा। मृगजल की झील के सफ़र में उसकी प्यास तीखी हो गई। उसके होंठों पर पपड़ी जम गई। वह खड़ा हो गया। उसके पीछे लड़खड़ाते पैरों के निशान थे और सामने रेत का अंतहीन फैलाव।

उसके ज़ख़्म से बहुत सारा ख़ून निचुड़ चुका था। उसकी बाँह सूज गई थी। उसकी नज़रों के सामने धरती काँप रही थी, पर ज़ख़्म की पीड़ा से उसको रेतस्थल का ख़ौफ़ ज़्यादा था।

यह भी गनीमत थी कि उसके पाँव ने अभी तक उसके शरीर का बोझ सँभाला हुआ था। उसने उबले हुए पानी का घूँट भरा और चल पड़ा; पर शरीर की ताक़त उसके हौसले के बराबर नहीं थी। वह ठोकर खाकर मुँह के बल गिर पड़ा और फिर वहीं औंधा पड़ा हाँफने लगा।

उसे जी मचलाने वाली गंध आई। वह एक मानव खोपड़ी पर सिर रखे हाँफ रहा था। मरे सैनिक का बाक़ी शरीर भी रेत में दबा पड़ा था। वह उतावली के साथ वहाँ से आगे सरक गया।

निंदी ने उससे आख़िरी गलबाँहों के बीच ठिनकते हुए कहा था, ''तू मेरे लिए जीवित वापस आना।''

उसने गर्म पानी का आख़िरी घूँट भरा और बोतल औंधी कर दी। पानी की दो बूँदें रेत ने सोख ली।

पानी का घूँट और निंदी के बोल उसके हौसले का सहारा थे। सहारे के आसरे वह उठकर खड़ा हो गया।

अब वाली लड़ाई के लिए न हथियार की आवश्यकता थी और न गोली-सिक्के की। उसने पिट्ठू उतारकर फेंक दिया और राइफल अपने भाईचारे वाले की खोपड़ी के पास उलटी गाड़ दी। सावधान खड़ा होकर उसने बेनाम सैनिक को श्रद्धांजलि दी और भारी बोझ-सा पैर आगे को उठाया।

पसीना चूकर उसकी आँखों में पड़ रहा था। उसने क़मीज़ से पसीना पोंछा, पपोटों से आँखें मलीं और रेत के विशाल समंदर को देखा।

दूर बिस्कुटी रेत पर काले धब्बे थे।

जीने की ललक उसे काले धब्बे तक ले गई। वह काले धब्बे डक बोर्ड थे लोहे के पतरों में जकड़े लकड़ी के पटरे। फ़ौजी ट्रकों को रेत में धँस जाने के डर से डक-बोर्ड बिछाए जाते हैं। डक-बोर्ड के रेत पर बिछे होने का एक भाव यह भी था कि फ़ौजी बहुत दूर नहीं थे।

वह डक-बोर्डों के साथ चलता रहा। डक-बोर्ड अचानक ख़त्म हो गए। वह फिर भी चलता रहा।

उसकी बाँह का दर्द इंतिहा तक पहुँच चुका था। पर इस पीड़ा से प्यास बड़ी चीज़ थी जो उसे चला रही थी। पर पानी कहाँ था! उसने झुंझलाकर अपनी प्यास को कहा, वह मर जाए, पर प्यास नहीं थी मर रही, वह ख़ुद मर रहा था।

उस पर बेहोशी तारी हो चुकी थी।

उसने कुछ पैर और आगे धरे और फिर रेत पर ढेर हो गया। भूखे गिद्धों ने पता नहीं कब से उसकी राह मापी हुई थी। वह एक-एक करके आसमान से उतर आए।

सिपाही सुवेग सिंह ने अपने शरीर पर तीखी चोंचों की पीड़ा महसूस की। उसने आँखें खोल दीं और बाँह उलारकर गिद्धों को हटाया।

गिद्धों के भारी परों की हवा के साथ कुछ रेत उड़ी।

सिपाही सुवेग सिंह की बाँह अगले पल ही नीचे गिर पड़ी। वह गहरी बेहोशी में उतर गया।

गिद्ध झिझककर कुछ देर दूर रहे और फिर निशंक होकर अपने भोजन पर चोंच मारने लगे।

वह बहुत देर अँधेरे में हाथ-पैर मारता रहा। अँधेरा कुछ छना तो उसने आँखें खोलीं।

एक अजनबी सैनिक उसके पास झुका हुआ था। "शुक्र है तुझे होश आ गया!"

सिपाही सुवेग सिंह दुश्मन देश के सैनिक अस्पताल में पड़ा हुआ था। उसका शरीर गिद्धों ने जगह-जगह से नोच लिया था। ज़ख़्मों पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं। और उसकी एक बाँह कुहनी से नीचे काटी जा चुकी थी।

"यदि गश्ती दल अचानक न पहुँच गया होता तो तुझे गिद्धों ने खा लिया होता।" दुश्मन फ़ौजी ने बताया।

यह फ़ौजी भी अजीब होते हैं, आप ही बंदे मारते हैं और फिर आप ही उनको बचाने का उपाय करते हैं। सिपाही सुवेग सिंह ने पराई वर्दी की ओर देखा तो उसकी आँखों से आँसू बह चले। दुश्मन सैनिक ने उसे टोक दिया, "तू रो ना। यह आँसू किसी और वक़्त के लिए सँभाल कर रख। सैनिक को आँसुओं की बड़ी ज़रूरत होती है।"

सिपाही सुवेग सिंह एक जंगी क़ैदी था। उसे आँसुओं का क्या करना था। अकेले जीने के लिए उसे तो सपने चाहिए थे। उसने आँसुओं को रेत हो जाने का श्राप दे दिया और ख़ुद कल्पना में जीने लगा।

धीरे-धीरे सिपाही सुवेग सिंह के ज़ख़्म भर गए, पर दोनों मुल्कों के ज़ख़्मों को राजी होते कुछ साल लग गए।

समझौते पर दस्तख़त होने के बाद जंगी क़ैदियों को आपस में बदला गया। फ़ौजी कार्रवाई के अधीन छानबीन हुई, काग़ज़-पत्तर पूरे किए गए और सिपाही सुवेग सिंह को फ़ौज से फ़ारिग़ कर दिया गया।

जब उसने खुली हवा में आकर साँस लिया तो जंग उसके ऊपर अपनी इबारत लिख चुकी थी। वह इबारत उसका अधूरा वजूद नहीं था और न ही जिस्म पर उकरे ज़ख़्मों के निशान। इस इबारत के हर्फ़ बीते समय के खंडहरों से मिले किसी पत्थर पर उकरे हर्फ़ों-से थे जो अब तक पढ़े नहीं जा सके थे।

चूल्हे में लकड़ी जलती रही। निंदी आग के सामने बैठी राख होती रही। बीते वर्षों में सच ने अपना चेहरा बदला था। सुवेग सिंह के घर लौटने से वह सच दरक गया था।

सिपाही सुवेग सिंह बेख़बर था। बातों की रौ में उसने अगली कड़ी जोड़ी, ''माँ, एक बार तो तेरे पूत का कीर्तन पढ़ा गया था।''

संत कौर ने उसे झिड़का, ''ठीक ज़बान मुँह से निकाला कर!''

''माँ! जंग की बातें जंग के बाद कुछ नहीं कहती होंती।'' वह हँसा और बात आगे बढ़ाई, ''एक रात मैं मोर्चे पर बैठा गोलियाँ दाग रहा था कि दुश्मन के टैंकों ने हमला बोल दिया। टीले, खंदक, झाड़ियों और मोर्चे को रौंदते टैंक आगे ही बढ़े आ रहे थे। गर्द के ग़ुबार आसमान छू रहे थे। गर्द-मिट्टी के बीच कभी कोई टैंक दिखने लगता था और कभी किसी और टैंक से उठे बगूले में छिप जाता था। टैंक लगातार गोले बरसा रहे थे। सैनिकों के चीथड़े उड़ रहे थे। क्या देखता हूँ, एक टैंक सीधा मेरी ओर आ रहा था। वह टैंक किसी भी समय मुझे कुचल सकता था। मैं चारों तरफ़ चलती गोलियाँ भूल गया। मैं मोर्चा छोड़कर सरपट भागा और एक लाश से ठोकर खाकर गिर पड़ा।''

संत कौर ने वाहि गुरु वाहि गुरु का नाम लिया।

सिपाही सुवेग सिंह एक पल रुका, फिर बोला, ''टैंक तो जैसे पागल हाथी था, चिंघाड़ता मेरे ऊपर से निकल गया।''

''हाय रब्बा!'' निंदी त्राहि-त्राहि कर उठी।

"समझ लो भाई ईश्वर ने हाथ देकर रख लिया। मैं टैंक के ट्रैकों के मध्य अडोल पड़ा था और मेरी राइफल की बैरल रौंदकर टैंक आगे लाँघ गया। मुझे खरोंच तक नहीं आई, लड़ाई चुकी तो सुख की साँस आई।''

"लड़ाई इस तरह नहीं चुकती होती। लड़ाई तो उम्र भर फ़ौजी के साथ चलती है।'' सूबेदार ...वाला सिंह ने गला साफ़ करने के लिए खँखारा और फिर उठता हुआ बोला, ''हमारी शाम की प्रार्थना का समय हो गया। पाठ कर लूँ, फिर बैठकर तसल्ली से बातें करेंगे।''

संत कौर भी उठकर उसके साथ चली गई।

"सामान मैं अड्डे पर रूड़े हलवाई के यहाँ रख आया हूँ।'' उनके जाने के बाद सुवेग सिंह ने गुरदीप से कहा।

"कोई बात नहीं, मैं भेजता हूँ किसी को।''

"अब क्यों भेजना है।'' उसने उठते हुए गुरदीप को रोक दिया, ''अँधेरा गाढ़ा होने को है, तड़के देखा जाएगा।''

"जैसा आप कहें!''

सुवेग सिंह चारपाई से उठकर चूल्हे की आँच के पास बैठ गया। वह ज़रा-सा हँसा, ''देख किस तरह नज़दीक-नज़दीक फिरता है, मैं तो कहता हूँ अब चार फेरे लगवाकर इसका भी ब्याह निपटा दें।''

निंदी ने चोर आँखों से सुवेग सिंह की ओर देखा। सुवेग सिंह का चेहरा परमोल्लास से चमक रहा था। निंदी ने फिर सिर औंधा लिया और तिनके से ज़मीन पर लकीरें खींचने लगी।

सुवेग सिंह हँसा, ''आज क्या लकीरें ही खींचनी है।''

वह चुप रही।

बाहरी दरवाज़े की चिटकनी लगी हुई थी। दरवाज़े के कुंडे में खुला हुआ ताला लटक रहा था। गुरदीप बेचैन-सा दरवाज़े तक गया और ताले को बंद कर चाबी घुमा दी।

वह वापस आया तो चौके की मुँडेर के पास खड़ा होकर आगे को झुकता कुछ उखड़ा हुआ-सा बोला, ''भाऊ, जो हम यहाँ ही बैठे रहे तो निंदी से कोई काम हो नहीं पाएगा। हम भी चलें यहाँ से!''

सिपाही सुवेग सिंह तड़प उठा। उसके कानों से सेंक निकलने लगी। क्या गुरदीप अब भाभी को निंदी कहने लगा था? उसकी सोच ने होनी की कल्पना के पिछले पाँच वर्षों के कई वर्के खोल लिए।

हवा के एक झोंके से उसके अंदर जलते दीए की लौ बुझ गई।

उसी क्षण एक भैंस तुड़ा गई। गुरदीप ने दौड़कर भैंस को पकड़ा और फिर खूँटे से बाँध दिया। उसने भूसे वाले कमरे में से झुल्ल निकाला और जानवरों को ओढ़ाने लगा।

गुरदीप की एक बात ने उसके मन में कई शंकाएँ पैदा कर दी थीं। इन शंकाओं को जाने बग़ैर सिपाही सुवेग सिंह की कही बात कलह डाल सकती थी। वह उठा और गुमसुम-सा चौबारे की सीढ़ियाँ चढ़ गया।

निंदी आज शाम से ही हाथ घिसा रही थी। वह नहीं चाहती थी कि चूल्हे-चौके का काम चूके।

वह सुवेग सिंह की साँसों में जियी थी। उसकी यादों में रातों जागी थी। उसकी सलामती के लिए मनौती मानी थी।...और फिर वह मर गया था। सिपाही सुवेग सिंह की मौत की ख़बर आने पर वह कई मौतें मरी थी।...और इस पल सुवेग सिंह का जीवित होना निंदी को मार रहा था।

सिपाही सुवेग सिंह की मौत की ख़बर पुरानी पड़ने के बाद सबकी सहमति से निंदी की गुरदीप के साथ चादर डाल दी गई थी।

मर्यादा क्या थी? धर्मशास्त्र क्या कहते थे? निंदी को कुछ पता नहीं था। इस कठिन घड़ी का सच उसकी नसों का ज़हर हो गया था।

"ओए रब्बा! मैं की करां?" निंदी बिलख पड़ी। उसने चुन्नी का पल्ला मुँह में ठूँस लिया।

कमरे की बत्ती जल रही थी और दरवाज़ा उढ़काया हुआ था। यह कमरा उसका नहीं था, पर वह उढ़काया दरवाज़ा खोलकर अंदर आ गया।

सामने दीवार पर उसकी तसवीर लटक रही थी। तसवीर में वह फ़ौजी तरीक़े से तना हुआ बैठा था। उसके बंद होंठों पर ज़रा-सी मुस्कुराहट थी। यही मुस्कुराहट उसकी आँखों में भी दिख रही थी।

तब उसका नया-नया ब्याह हुआ था। दोनों तरनतारण के गुरुद्वारे माथा टेकने गए थे। वहाँ उसने और निंदी ने इकट्ठे तसवीर खिंचवाई थी। यह उसी तसवीर का बीत चुका आधा था, जिसे बड़ा करवाकर टाँग दिया गया था।

तसवीर पर काले धागे से गुँथा उसका पहचान-पत्र लटक रहा था।

तसवीर के नीचे फ़र्श पर उसका किटबैग टेढ़ा पड़ा हुआ था। इस कमरे में तो वह यूँ ही आया था, फिर गुरदीप किटबैग यहाँ क्यों रख गया था?

उसने किटबैग वहाँ से उठाया और कमरे से बाहर आ गया। उसने आँगन की ओर झाँका। नीचे चौके में गुरदीप निंदी की ओर झुका कोई बात कर रहा था।

सिपाही सुवेग सिंह को लगा जैसे पड़ती हुई धुंध ने आँधी का लिबास पहन लिया हो।

उस वेला पूरा घर अँधेरे के घेरे में था। दूर जलतीं भट्ठल गाँव की इक्का-दुक्का बत्तियाँ उस अँधेरे में खिड़कियाँ बनाने का यत्न कर रही थीं।

उसकी बत्तीसी बजने लगी।

उसने अपने कमरे का दरवाज़ा खोलकर बत्ती जलाई और किटबैग नीचे रख दिया। बिजली के उजाले में उसके अपने संशयों के अर्थ बिखरे हुए दिखे। निंदी और गुरदीप की तसवीर स्टील के फ्रेम में मढ़ी हुई थी। इसी फ्रेम में पहले उसकी और निंदी की तसवीर होती थी।

निंदी और गुरदीप के पार्श्व में एक शीशमहल था। फूलों से घिरे शीशमहल के सामने एक फव्वारा चल रहा था। तसवीर में वे दोनों हँस रहे थे। उनकी हँसी के साथ परदे पर पेंट किया हुआ शीशमहल, फव्वारा और रंग-बिरंगे फूल असली हो गए थे।

खूँटी पर निंदी और गुरदीप के कपड़े टँगे हुए थे। दोनों के कुछ कपड़े बिस्तर पर भी पड़े हुए थे। धोकर सुखाने के बाद निंदी को उन्हें सँभालने का अवसर नहीं मिला था।

उसे पछतावा हुआ कि वह उस कमरे में क्यों आया? वह उस घर का कोई नहीं था। वह तो जंगल में गँवाचा कोई अजनबी था जो रात भर ठहरने भर को वहाँ रुका था।

सुवेग सिंह ने अपनी बियाबान हथेली की ओर देखा। उसके पास तो कुछ भी बाक़ी नहीं बचा था। जिन सपनों को दोनों देशों की भयानक जंग नहीं मार सकी थी, जो सपने कटे-बिखरे और लहूलुहान अंगों की भीड़ में जीवित रहे थे, उन सपनों को घर के आँगन ने मार दिया था।

वह निढाल हुआ-सा बैठ गया।

उसे रंगरूटी समय की स्कीम याद आई।

उसके आगे-पीछे गोलियाँ चल रही थीं। सिर पर से गोलियाँ गुज़र रही थीं। वह लगातार दौड़ता रहा था। उसने गड्ढों, कीचड़ और चहलों को पार किया, कँटीले तारों की बाधा को लाँघा, गहरे पानी में तैरा और हाँफता हुआ आख़िरकार अपना मोर्चा जा सँभाला। राइफल को सँभालता वह टीन के सिपाहियों पर गोलियाँ दागने लगा।

गोलियाँ तब भी असली ही चल रही थीं। चाँदमारी के कान फाड़ने वाले शोर ने जंग का माहौल बनाया हुआ था। इस स्कीम का मंतव्य बस इतना भर था कि रंगरूटों के मन से जंग का डर निकल जाए।

छुट्टी पर आए सुवेग सिंह ने उत्साह से कहा था, "बापू जी, मुझे पता लग गया कि जंग क्या होती है?"

सूबेदार ज्वाला सिंह उस समय ज़रा-सा हँसा था, "पुत्तर, गोलियों की आवाज़ और हथियारों का शोर ही जंग नहीं होती।"

सिपाही सुवेग सिंह को बूढ़े बाप की गाहे-बगाहे की गई बातें कभी पूरी समझ न आई थीं। आज उन बातों के सारे अर्थ कीलें बनकर उसके माथे में धँस गए थे।

खड़ाक सुनकर सुवेग सिंह ने सिर ऊपर उठाया। उसके चेहरे का दर्द उसकी चुप्पी में भी था। इस दर्द की ताब गुरदीप से झेली न गई। वह आगे होकर भाई के पैरों में झुक गया, सहमा हुआ बोला, "भाऊ! सच मानो तेरा मुज़रिम हम दोनों में से कोई भी नहीं है। हम दोनों भी कौन से संताप से होकर न गुज़रे। ना माँ-सी भाभी को घरवाली कहना सहज होता है, ना पुत्र-से देवर को घरवाला मानना।"

गुरदीप के इतना कहने से उन पलों की तरतीब न बदली, जो पल सुवेग सिंह की हथेली पर धर दिए गए थे।

कमरे के बाहर धुंध पड़ रही थी। धुंध ने रात के घुप्प अँधेरे के साथ मिलकर टिमटिमाते तारों को खा लिया था।

कमरे के अंदर उदासी की ख़ला थी। सिपाही सुवेग सिंह कुछ देर उस ख़ला को घूरता रहा। जिन आँसुओं की लगाम उसने अब तक सँभाली हुई थी, वह लावारिश-से आँसू आँखों में फैल गए। उसने मुँह फेरकर आँखें पोंछ लीं। सुन्न श्मशान में मुये हुए सपनों के मरसीये-से बोल उभरे, "मुझे क्या पता था कि मेरे साथ इस तरह होगा! मैं न भी आता तो क्या था?"

हवा के झोंके से दरवाज़ा खुल गया। काले नभ में खोये हुए तारों की टिमटिमाहट का दृश्य दिखा। वह उठकर खड़ा हो गया। उसके ठर्रे हुए होंठों ने सिर उठाया, "अब...क्या है?"

गुरदीप को सिपाही सुवेग सिंह के बोलों से पता नहीं कैसी अनहोनी की बू आई थी कि वह घबराया हुआ माँ-बाप के कमरे की ओर दौड़ा।

सिपाही सुवेग सिंह ने किटबैग उठाया और धीमे-धीमे सीढ़ियाँ उतर गया।

निंदी अभी भी चूल्हे के आगे गड़ी बैठी थी। उस समय वह सुवेग सिंह की निंदी नहीं थी, किसी भी लापता सैनिक की पत्नी थी, जो सदियों से चूल्हे की बुझ रही आग के सामने बैठी सुलग रही थी।

सुवेग सिंह को देखकर वह घबराई-सी उठ खड़ी हुई। सुवेग सिंह ने आख़िरी बार नज़र भरकर निंदी की ओर देखा, "अच्छा...अच्छा फिर...मैं चला।"

वह अकेला था, आख़िर किस किस मुहाज़ पर लड़ता। वह अपनी जंग हार चुका था।

उसने दूसरा पहचान-पत्र चौके की मुँडेर पर रख दिया और वहाँ से चल पड़ा। वह कुछ क़दम चला फिर ठिठककर खड़ा हो गया।

बाहरी दरवाज़े पर ताला लगा हुआ था। उसने पीछे घूमकर देखा। निंदी के अलावा कुछ और जने आँगन में आकर खड़े हो गए थे। उसे किसी भी चेहरे की पहचान न हुई। उस वक़्त उसके लिए किसी को पहचान सकना संभव भी नहीं था। वे जो भी थे कई योजन दूर खड़े थे।

उसके 'होने' या 'न होने' के बीच का अंतर उस समय बाक़ी न रहा था। उसने अँधेरे में हाथ पसारा और ज़ोर का आर्तनाद किया। हाँफता हुआ वह बंद दरवाज़े के नज़दीक ज़मीन पर बैठ गया।

मनमोहन बावा

उदांबरा

[यह कहानी आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले की है। पृष्ठभूमि में वर्तमान का रोपड़ है, जो उस समय रूपनगर के नाम से जाना जाता था। परुष्णी नदी आज की रावी है, और शतद्रू वर्तमान की सतलुज नदी है। त्रैगर्त कांगड़ा, साकल सियालकोट और सुनेत्रा लुधियाना है।]

जयदेव की शिक्षा के जब तक पाँच वर्ष पूरे हुए, तब तक आचार्य कल्याण मित्र की पुत्री कल्याणी भी युवती हो गई थी। जयदेव आश्रम के सभी विद्यार्थियों में निपुण, परिश्रमी तथा बुद्धिमान था। उसकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि एक बार सुना हुआ अक्षरशः याद हो जाता था। कल्याणी जब भी आश्रम के विद्यार्थियों के निकट से गुज़रती, सभी चोर नज़रों से उसे देखे बिना रह नहीं पाते थे। मदभरी आँखें और होंठों पर विस्माद भरी मुस्कान। पर क्या मजाल कि कल्याणी की सुंदरता या पायल की झनकार जयदेव की एकाग्रता भंग कर सके।

शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् जयदेव अपने घर रूपनगर लौटने की तैयारी कर रहा था तो उस समय की परंपरा के अनुसार आचार्य कल्याण मित्र ने अपनी पुत्री कल्याणी का विवाह अपने प्रमुख शिष्य जयदेव से कर दिया।

जयदेव कल्याणी को लेकर घर की ओर चल दिया। चलने से पूर्व उन दोनों ने एक रात एक कमरे में बिताई। पर जब कल्याणी जयदेव के बिस्तर पर आकर बैठी तो वह उठकर धरती पर बिछी चटाई पर लेट गया। जब वह उसके पास चटाई पर आकर लेटी, तो जयदेव बिस्तर पर जाकर बैठ गया। सारी रात इसी प्रकार बीत गई। कल्याणी ने सोचा, अभी शरमा रहा है, या शायद यह विवाहित जीवन के संबंधों से परिचित नहीं है। ख़ैर, कोई बात नहीं। एक-दो दिन में सब समझ जाएगा यह ब्रह्मचारी। आनेवाले समय की कल्पना करके वह मन-ही-मन हँस पड़ी।

अब जयदेव के साथ-साथ चलते हुए कल्याणी सोच रही थी, अजीब आदमी है! क्या इसे मेरे अंगों से अगन-ताप अनुभव नहीं हो रहा है? क्या मेरी चमकती आँखों, शहद जैसे होंठों में कोई आकर्षण दिखाई नहीं दे रहा है? क्या इस जंगली पगडंडी पर

पंजाबी रचनाकार मनमोहन बावा का जन्म 1932 में हुआ। कहानी, यात्रा-वृत्तांत एवं उपन्यास की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : वाई-30, हौज़ ख़ास, नई दिल्ली 110016 फ़ोन : 26518455

अनु. कहानीकार, कवि, समीक्षक, अनुवादक घनश्याम रंजन का जन्म 1935 में हुआ। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : 65, कैंट रोड, उदयगंज, लखनऊ 226001

ते हुए चहकते पक्षी, मस्त हिरणों के जोड़े कोई संदेश नहीं दे रहे हैं ? और यह चलता जा रहा है, चुपचाप, मेरी उपस्थिति से ख़बर! अच्छा, आज रात हो जाने दो। मैं भी गी कितना संयम है इसमें !

सूरज छिपने तक वे परुष्णी नदी के किनारे कर रुक गए। नाव किनारे पर बँधी हुई थी, नाविक नहीं था। शायद घर चला गया था। लकड़ी की आग जलाकर वे उसके पास बैठ गए। घर से लाई रोटियाँ खाने के बाद कल्याणी अपनी बाँहें ऊपर करके अँगड़ाई ली तो उसकी ठ पर बँधी गाँठ खुल गई या उसने जान-बूझकर पहले ही आधी खोल दी थी। कल्याणी अंग ढँकने का यत्न नहीं किया और मदभरी आँखों से जयदेव की ओर देखती हुई उससे सटकर बैठ गई। जयदेव चौंककर उठा और उससे दूर जाकर बैठ गया।

कल्याणी की आँखों में क्रोध झलक उठा और वह ज़ख़्मी सिंहनी की तरह उसकी ओर देखती हुई बोली, "क्या तुम्हें मेरे अंगों के उभारों, -सुडौल बाँहों में कोई आकर्षण नहीं दिखता ? क्या मेरा स्त्रीत्व तुम्हारे पौरुष को ललकारता अनुभव नहीं होता ?"

जयदेव को अपने अंदर कुछ जागता, उभरता महसूस हुआ, नदी में आई बाढ़ की लहरों की तरह। पर शीघ्र ही उसने स्वयं को सँभाला और शांत स्वर में बोला, "मुझे क्षमा करना देवी कल्याणी! तुम मेरे पूजनीय गुरु की पुत्री हो। और...।"

"गुरु-पुत्री!" वह उसकी बात काटते हुए व्यंग्य से बोली, "क्या मैं तुम्हारी पत्नी नहीं ?" और फिर अचानक ही उसके मुँह से निकल गया, "या...या तुम पूर्ण पुरुष नहीं, नपुंसक हो ?"

"बैठ जाओ कल्याणी। और मुझे भी बैठ ने दो। मैं बहुत थक गया हूँ।" फिर कुछ देर बाद बोला, "मेरा पास तुम्हारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है, सिवाय इसके कि मैं तुम्हारा पति होने के योग्य नहीं हूँ। यह बात मैंने गुरु जी से भी कही थी। पर उन्होंने मेरी एक न मानी। जो तुम देख रही हो वह मैं नहीं हूँ और तुम्हें मुझसे निराशाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं मिल सकता। अभी भी समय है, कुछ बिगड़ा नहीं है ! मैं यही सलाह दूँगा कि तुम घर वापस चली जाओ..."

वह बहुत देर तक इसी प्रकार बोलता रहा, बे-सिर पैर की। कल्याणी की समझ में कुछ नहीं आया कि वह क्या कह रहा है। वह भी बहुत थकान अनुभव कर रही थी, दिन-भर चलते रहने के कारण और मानसिक तनाव के कारण। वह अपने घुटनों पर सिर रखकर बैठ गई। फिर उसे पता ही नहीं लगा कि कब उसे नींद ने आ घेरा।

सुबह आँख खुली तो देखा, एक भूरे रंग का कंबल उस पर पड़ा हुआ है। जयदेव वहाँ नहीं था और घाट पर खूँटे से बँधी नाव भी ग़ायब थी।

राजा विष्णु वर्मन अपने कुछ सैनिकों के साथ शिकार करने के लिए जंगल में घूम रहे थे कि नदी के किनारे उदांबर (अंजीर) के वृक्ष पर एक सुंदर लड़की को बैठे देखकर आश्चर्यचकित रह गए। लड़की वृक्ष पर चढ़ी अंजीर खाने में मगन थी। राजा को देखकर वह नीचे उतर आई।

"तुम कौन हो ? और अकेली इस जंगल-बियाबान में क्या कर रही हो ?" राजा ने प्रश्न किया।

कल्याणी ने पहले राजा की ओर फिर उसके सैनिकों की ओर देखा। कुछ देर सोचती रही। फिर बोली, "मैं जो भी कहूँगी उस पर आपको विश्वास नहीं आएगा। बस यही समझ लीजिए कि मैं इस संसार में अकेली हूँ। न कोई आगे है, न पीछे।"

"मुझे क्या लेना है तुम्हारा आगा-पीछा

जानकर।'' राजा ने उसकी ओर देखते हुए मन-ही-मन कहा। फिर बोला, ''क्या तुम मेरे साथ चलना चाहोगी?''

''इसमें पूछने की क्या बात है?'' पास खड़े एक सेवक ने राजा की नीयत भाँपते हुए कहा, ''शास्त्रों में लिखा है, जो वस्तु यूँ ही पड़ी मिले और जिसका कोई स्वामी न हो, वह राजा की होती है।''

''तुम्हारा नाम क्या है?'' राजा ने पूछा।

''मैं अपना अतीत भूल जाना चाहती हूँ। अपना नाम भी।''

''यह भी ठीक है! तुम मुझे उदांबर के वृक्ष पर बैठी मिली हो। मैं तुम्हें उदांबरा के नाम से संबोधित करूँगा।''

उदांबरा कुछ दिन रखैल के तौर पर राजा के रनिवास में रही। पर शीघ्र ही वह अपनी सुंदरता, सूझबूझ और चतुराई के कारण उसकी चहेती रानी बन गई। विद्वान पिता के पास रहने के कारण वेद-शास्त्रों का बहुत ज्ञान हो गया था। बात-बात में शास्त्रों की बातें सुनाकर सुनने वाले को प्रभावित कर देती। कभी-कभी राजा उससे राज्य के कामों और समस्याओं के विषय में भी विचार-विमर्श कर लेता।

एक दिन जब राजा विष्णु वर्मन उदांबरा के साथ नदी से सैर करके वापस लौट रहे थे तो एक ब्राह्मण हाथ जोड़कर सामने आ खड़ा हुआ। पूछने पर बोला, ''मैं एक विद्वान ब्राह्मण हूँ। मुझे पता लगा है कि आपके संदेश-लेखक का स्वर्गवास हो गया है। यदि मुझे उसके स्थान पर आपकी सेवा करने का अवसर प्राप्त हो जाए तो अपने को भाग्यशाली समझूँगा।''

''आपने ठीक सुना है। पर मुझे एक अनुभवी और कुशल लेखक चाहिए।'' राजा उसकी आयु का अनुमान लगाते हुए बोले।

''मेरी आयु देखकर अनुमान न लगाएँ राजन! आप देखें कि मैं अपनी कुशलता से बहुत कम ही माँग कर रहा हूँ।''

उदांबरा को ब्राह्मण की आवाज़ जानी-पहचानी लगी। उसने गर्दन घुमाकर देखा तो वह और कोई नहीं जयदेव ही था।

उस समय जयदेव की निगाहें भी उससे मिलीं और उसने रानी उदांबरा के आगे आदरपूर्वक सिर झुकाकर आँखें निवा लीं। उदांबरा को लगा जैसे जयदेव ने उसे पहचाना नहीं। उसकी दृष्टि में कोई ऐसा संकेत नहीं था।

उदांबरा के मस्तिष्क में परुष्णी नदी के किनारे बिताई रात का दृश्य घूम गया। उसने जयदेव की ओर देखा और अपने मन में उठ रहे क्रोध को दबाते हुए व्यंग्य से पूछा, ''कभी कहीं कोई काम भी किया है या वेदशास्त्र ही रटते रहे सारी उम्र?''

यह देखकर कि उसने नहीं पहचाना, उदांबरा के मन में उसके प्रति क्रोध और उभर आया। उसने शायद कभी मेरी ओर ध्यान से देखा भी नहीं होगा। ख़ैर! अब लूँगी सभी बदले इस आदमी से।

''मैंने पाटलिपुत्र के पुस्तकालय में शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार की हैं और कुछ समय त्रैगर्त के राजा की भी सेवा की है।''

उदांबरा ने आँखों-ही-आँखों में राजा को संकेत किया। उसका संकेत समझकर राजा जयदेव को संबोधित करते हुए बोला, ''ठीक है! कल उपस्थित हो जाना। देखूँगा, कितनी कुशलता है आप में।''

पर यह उदांबरा की भूल थी कि जयदेव ने उसे पहचाना नहीं। वह इस राज्य में आया ही उसके यहाँ होने के विषय में सुनकर था। उदांबरा को भुलावे में रखने की सफलता पर उसे प्रसन्नता थी। और यह भी वह जान गया था कि उदांबरा ने उसे पहचान लिया है।

पिछले तीन-चार वर्षों की अवधि में जगह-

भटकते हुए उसके मन में कल्याणी को और उसके विषय में जानने की इच्छा हो गई थी! अब वह काफ़ी चतुर और ...वी हो गया था। दो-तीन जगह उसे ब्राह्मणों ...यों जलील भी होना पड़ा। यहाँ आकर वह ...करेगा, इस बारे में उसने कोई निश्चित धारणा बनाई थी। पर इतना विश्वास अवश्य था ...रानी उदांबरा उसकी ब्याहता है। सच्चे मन ...कभी उसने प्यार भी किया होगा उससे। और ...आने का परिणाम यदि सुखदायी न भी ...तो हानिकारक भी नहीं होगा।

...महीने बीत गए।

वह पत्र-लेखक का पत्र-लेखक ही रहा। ...पदोन्नति नहीं हुई। न राजा की तरफ़ से ...पूछताछ हुई। रहने के लिए भी दो कमरों ...एक छोटा-सा मकान। इन छह महीनों में ...ऐसे अवसर भी आए जब उदांबरा और ...देव एक-दूसरे के सम्मुख अकेले थे। पर ...देव ने कभी भी उससे अपनत्व, अपना कोई ...धिकार जताने का यत्न नहीं किया। और मन-...मन वह चाहने लगी थी कि जयदेव कुछ ...प्रकट करे। रात को लेटी-लेटी कभी-कभी ...इस संबंध में सोचने लगती और उसका ...उसका स्पर्श प्राप्त करने के लिए व्याकुल ...उठता।

"नहीं-नहीं। यह नहीं होना चाहिए। मुझे ...बारे में ऐसा नहीं सोचना चाहिए। मैं रानी ...अपनी मान-मर्यादा क़ायम रखने के लिए ...श्यक है कि यह दूरी बनी रहे। मैं उसे न ...जानूँ, वह मुझे न पहचाने!"

...साथ-ही-साथ उसके मन में उसके प्रति ...कुता, रोष और क्रोध भी उत्पन्न हो उठते। ...कारण इसने मेरे रूप, मेरे स्त्रीत्व की अवज्ञा ...? मुझे अकेला, बेसहारा, जंगल में छोड़कर ...गया। यदि विष्णु वर्मन न आते तो क्या दशा होती मेरी? किसी जंगली जानवर का भोजन बनती या जंगली लोग उठाकर ले जाते मुझे।

और फिर उदांबरा ने अपनी एक विश्वासी, सुंदर दासी कंचनमाला को सब कुछ भली प्रकार सिखाकर उसकी ओर भेज दिया।

अगली सुबह जब जयदेव नदी से स्नान करके लौट रहा था तो लोगों ने झाड़ियों से किसी स्त्री की चीख़-पुकार सुनी। पास जाकर देखा तो कंचनमाला के कपड़े फटे हुए थे और वह कह रही थी कि जयदेव ने उसका शीलभंग करने की नीयत से उसकी यह दशा की है।

मामला राजा विष्णु वर्मन तक जा पहुँचा। उदांबरा ने क्रोधित होते हुए कहा, "इसने मेरी दासी के साथ बलात्कार करने का यत्न किया है। इसे सख़्त दंड मिलना चाहिए, कोड़ों का!"

राजा का विचार था कि जयदेव और कंचनमाला, दोनों को अलग-अलग बुलाकर भली प्रकार पूछताछ की जाए। क्या पता, इसमें बात कोई और ही हो! और यदि सच भी हुआ तो उसे उसके पद से हटाकर राज्य से बाहर निकाल देना ही काफ़ी होगा। ब्राह्मण विद्वान है, कोड़ों की सज़ा देना उचित नहीं है।

उदांबरा घबरा गई। यदि वास्तविकता प्रगट हो गई तो बाज़ी उलटी पड़ जाएगी।

राजा ने जयदेव को बुलाकर पूछा, "जो हमने सुना है, क्या यह सच है?"

जयदेव ने तीखी निगाह से पास खड़ी उदांबरा को देखा। उसकी आँखों में इस बार उदांबरा को पहचानने का भाव था और तिरस्कार भी। फिर राजा को संबोधित करते हुए बोला, "मैं एक ग़रीब ब्राह्मण हूँ और वह महारानी की दासी है। यदि वह कहती है तो ठीक ही होगा!"

"ठीक है या ठीक ही होगा! साफ़-साफ़ कहो।"

"यह क्या कहेगा साफ़-साफ़!" उदांबरा ने जयदेव को तीखी दृष्टि से देखते हुए कहा, "मैं अच्छी तरह जानती हूँ इस तरह के व्यक्तियों

को! अब भोला-भाला और निर्दोष बनने का नाटक कर रहा है। पता नहीं किस-किसके जीवन से खेलता रहा है यह ब्राह्मण!'' उसके शब्दों में तल्ख़ी थी और बदले की भावना भी।

जयदेव चुपचाप खड़ा सुन रहा था।

''अब तुम्हारे आगे दो विकल्प हैं।'' राजा ने कुछ सोचते हुए कहा, ''मेरे राज्य से निकल जाना या कोड़ों का दंड भोगना।''

''आदमी अनजाने में बहुत-सी ग़लतियाँ कर बैठता है।'' उसने राजा को कम और उदांबरा को अधिक सुनाते हुए उत्तर दिया, ''भावुकतावश या किसी और कारणवश वह ऐसा कुछ कर बैठता है जिसके उचित-अनुचित होने के विषय में भी मन में शंकाएँ उत्पन्न हो उठती हैं। यदि...यदि कोड़ों के दंड के बाद मेरा अपराध क्षमा कर दिया जाए और राजा की सेवा करने का अवसर इसी प्रकार बना रहने दिया जाए तो मैं स्वयं को भाग्यशाली समझूँगा।''

राजा ने एक बार रानी की ओर और फिर किवाड़ के पीछे खड़ी कंचनमाला की ओर देखते हुए कहा, ''ठीक है! जैसी आपकी इच्छा।''

कंचनमाला हैरान खड़ी सोचती रही कि रानी ने यह सब षड्यंत्र क्यों किया? क्या वैर है इसे इस बेचारे ब्राह्मण से? और यह भी क्यों सह रहा है चुपचाप, यह सब कुछ? राजा यदि उसे अलग बुलाकर पूछता तो शायद वह साफ़-साफ़ बता देती।

और जब सैनिक उसे पकड़कर ले जा रहे थे तब कंचनमाला ने हिम्मत करते हुए जाकर सैनिकों से कहा, ''महाराज का आदेश है कि इनको कोड़े हल्के-हल्के मारे जाएँ। बहुत चोट न लगे।'' वैसे मन-ही-मन महाराज विष्णु वर्मन की भी यही इच्छा थी शायद।

एक दिन राजा शिकार खेलने गए हुए थे तो उदांबरा ने कंचनमाला के हाथ संदेश भेजकर बुलाया कि रानी कोई संदेश लिखवाना चाहती हैं। जयदेव आया तो उदांबरा उससे संबोधित होती हुई बोली, ''मैं एक संदेश भेजना चाहती हूँ, उस आदमी को, जो मुझे परुष्णी के तट पर रात के अँधेरे में अकेला छोड़कर चला गया था।'' जयदेव ने पहली बार उदांबरा की आँखों में आँखें डालकर देखा, फिर बोला, ''जब तुमने पहचान ही लिया था तो यह नाटक करने की क्या ज़रूरत थी?''

''वैसे नाटक तो तुम भी करते रहे हो मेरे साथ! पहचान तो तुमने भी लिया था। मेरा तो केवल यही दोष है कि मैं तुम्हारी वास्तविकता बताकर तुम्हें किसी दुविधा में नहीं डालना चाहती थी।''

''और आज क्यों याद किया?''

''मैं केवल यह जानना चाहती हूँ कि क्या कारण था जो तुम मुझे जंगल में छोड़कर चले गए। क्या मैं लँगड़ी-लूली थी? कुरूप थी? या किसी उच्च कुल परिवार से नहीं थी?''

''क्रोधित मत हो, कल्याणी!''

''कल्याणी!'' उदांबरा के मुँह से निकला, ''तो याद है तुम्हें मेरा नाम!''

''सब कुछ याद है। और यह भी कि तुम एक विद्वान ब्राह्मण की पुत्री हो। इसी कारण मैं तुम्हें छोड़कर चला गया था।''

''इसी कारण?''

''यदि सच पूछो तो मैं तब भी नाटक कर रहा था। मैं नहीं जानता कि सच जानने के बाद तुम मुझे क्षमा कर सकोगी कि नहीं!''

''मुझे साफ़-साफ़ बताओ, और अधिक मत उलझाओ।''

''सच यह है कल्याणी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, एक निर्धन शूद्र-पुत्र हूँ।''

उदांबरा का मुँह खुला का खुला रह गया और वह आश्चर्यचकित आँखों से उसको देखने लगी।

जयदेव ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "मेरे पिता एक नाविक थे। जब मेरा जन्म हुआ, और जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो मेरा रंग-रूप, समझ-बूझ देखकर लोग कहने लगे, यदि यह क्षत्रिय-ब्राह्मण के घर पैदा हुआ होता... ज़रूर इसके पुरखों में कोई क्षत्रिय या ब्राह्मण रहा होगा। जब मैं चौदह-पंद्रह वर्ष का था तो एक छोटी-सी घटना घट गई। वैसे इस तरह की घटनाएँ निम्न जाति के लोगों के साथ होती ही रहती हैं। उस दिन मेरे पिता शतद्रू नदी के आर-पार कई चक्कर लगा चुके थे। बहुत थक गए थे। माँ रोटी लेकर प्रतीक्षा कर रही थी। उससे रोटी लेकर खाने बैठे। अभी आधी रोटी खाई थी कि उच्च कुल के पाँच-छह व्यक्ति नदी के तट पर आ पहुँचे। उनमें से एक ब्राह्मण और शेष सभी क्षत्रिय थे। शायद बहुत जल्दी में थे। आते ही उन्होंने बापू से कहा, 'उठ और जल्दी से हमें उस पार पहुँचा दे।'' बापू बोले, ''ज़रा मैं रोटी खा लूँ, फिर चलता हूँ।''

''रोटी फिर आकर खा लेना। हमें बहुत जल्दी है।'' एक ने रोब से बापू को घूरते हुए कहा। बापू उठ गए। आधा खाना वहीं छोड़ दिया। जल्दी-जल्दी नदी के पानी से हाथ धोकर झाड़े तो शायद दो-चार छींटें ब्राह्मण पर पड़ गईं। वह क्रोध में आकर कहने लगा, ''मेरा जन्म भ्रष्ट कर दिया इस नीच ने। अब मुझे स्नान करना पड़ेगा। और देर हो जाएगी।'' और उन सबने मेरे बापू को बहुत मारा। यदि उन्हें नाव में बैठकर नदी पार न जाना होता तो शायद बापू को पीट-पीटकर मार ही डालते।''

''फिर?'' उदांबरा ने पूछा।

''पता नहीं मेरे बापू के मन पर क्या बीती! इस प्रकार की और कितनी ही घटनाएँ घटी होंगी उन पर। अपने क्रोध पर नियंत्रण रखते हुए उन्होंने चप्पू उठाए। उन छहों की ओर ख़ूनी दृष्टि से देखा और सभी को किश्ती में बैठाकर चप्पू चलाना शुरू कर दिया। मैं और मेरी माँ विवश-से नाव को नदी में जाते हुए देखने लगे। बापू ने एक-दो बार हमारी ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा, जैसे कुछ कहना चाहते हों। नाव जब नदी के बीच में पहुँची तो हमने देखा वह डाँवाँडोल होने लगी। और फिर एकदम से उलट गई। वे छह और बापू पानी में डूबकर मर गए।''

''तुम्हारा बापू भी ?'' उदांबरा ने कुछ सोचते हुए पूछा।

''मेरे बापू अच्छे तैराक थे। पर उन छहों में शायद एक तैरना जानता था। जब वह तैरने लगा तो बापू ने उसे पकड़ लिया। और इस प्रकार वे दोनों भी पानी की लहरों में समा गए।''

उदांबरा कुछ देर चुपचाप बैठी रही। लगता था, इस घटना का उस पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था। जयदेव ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, ''अच्छा हुआ कि इस घटना को किसी और ने नहीं देखा था। नहीं तो इसकी सज़ा हम दोनों को भुगतनी पड़ जाती। नाविक की मृत्यु पानी में और सैनिक की मृत्यु युद्धक्षेत्र में हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कुछ दिन रोने-धोने के बाद जब मैंने चप्पू सँभाले तो माँ ने मुझे बुलाकर कहा, 'देख बेटा, मैं नहीं चाहती कि तू भी हमारी तरह पशुओं का-सा जीवन बिताए। तू हमारी तरह मूर्ख भी नहीं है! तू होशियार है। तुझमें सूझ-बूझ है। तू किसी अच्छे गुरु से जाकर विद्या प्राप्त कर। परुष्णी पार, सुना है, जात-पात के बारे में कोई बहुत जाँच-पड़ताल नहीं करता।' और मेरी माँ ने स्वयं को किसी श्रेष्ठी के पास बेचकर मुझे स्वर्ण-मुद्राओं की थैली पकड़ाकर तुम्हारे पिता के पास भेज दिया। उसने मेरी ख़ातिर स्वयं को बेचा, इसका पता मुझे बाद में लगा।''

''इसका तात्पर्य यह है कि तुमने मेरे पिता के पास आकर भी झूठ बोला। इस प्रकार का झूठ बोलना अपराध ही नहीं, पाप भी है।''

"इस विषय में भी मैं बहुत सोचता रहा हूँ और अब भी सोच रहा हूँ। एक आदमी को आदमी न समझना, उसके साथ बिना किसी कारण पशुओं से भी गया-बीता व्यवहार करते रहना, इससे बड़ा अपराध एवं पाप और कोई हो नहीं सकता। पता नहीं किस समय, किस प्रकार के लोगों ने बैठकर यह षड्यंत्र रचा कि आधे से अधिक लोगों को अपना दास बना लिया, जनम-जनम के लिए।" जयदेव को लगा जैसे वह कुछ ज़्यादा ही बोल गया है। वह चुप हो गया। और उदांबरा उसके चेहरे पर पसरी हुई वेदना और बेबसी देखती रही।

"शायद तुम अब समझ ही गई होगी," उसने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "यही कारण था कि मैं तुम्हें परुष्णी के तट पर रात को छोड़कर भाग गया। मैं नहीं चाहता था कि तुम्हारे सामने उम्र-भर ब्राह्मण होने का नाटक खेलता रहता या तुम्हें भी शूद्रता की दरिद्रता में घसीटता। दरिद्रता, ग़रीबी बड़ी घातक वस्तु हैं। नपुंसक बना देती है आदमी को।"

"जो कुछ तुमने कहा..." उदांबरा कुछ देर चुप रहने के बाद बोली, "मैं बेशक, सब कुछ तो नहीं, थोड़ा-बहुत समझ सकती हूँ। पर मेरे बारे में भी सोचा है कभी? तुम बताओ मैं क्या करूँ?"

"समझ लो कल्याणी कि अग्नि के सम्मुख जो फेरे हमने लिए थे, वह नाटक था और जो आज है वही वास्तविकता है।"

"कहने से तो सच झूठ और झूठ सच नहीं हो जाता।"

"सच को जानना बहुत गहन समस्या है कल्याणी। सच को जाने बिना सच को जाना नहीं जा सकता।"

कई महीने और बीत गए।

जयदेव संदेश-लेखक से संधि-मंत्री बन गया। उसने विष्णु वर्मन के साथ सांकल, सुनेत्रा, त्रैगर्त और सबसे महत्त्वपूर्ण मगध के सम्राट चंद्रगुप्त के साथ संधि करवाने में विशेष योगदान दिया। पाटलिपुत्र के संधि-मंत्री ने संधि-पत्रों का विनिमय करते हुए तीखी निगाहों से जयदेव की ओर देखते खिसियायी-सी हँसी-हँसते हुए कहा, "आशा है कि आर्य जयदेव पाटलिपुत्र के साथ अपने पिछले संबंधों को ध्यान में रखते हुए सम्राट चंद्रगुप्त के हित का ध्यान रखेंगे।"

राजा विष्णु वर्मन अधिकतर दिन राजभवन से बाहर ही बिताते थे। कभी राज के कामों से और कभी शिकार करते हुए। जब वह इस प्रकार बाहर होते तो उदांबरा अपनी दासी कंचनमाला को भेजकर किसी-न-किसी बहाने से जयदेव को अपने पास बुला लेती।

उस दिन भी राजा शिकार खेलने गए हुए थे। उदांबरा ने दासी कंचनमाला से कहा, "जयदेव से कहना, रानी ने बुलाया है, ज़रूरी काम है।" कंचनमाला ने अर्थपूर्ण दृष्टि से रानी की ओर देखा और जयदेव को संदेश दिया।

"क्या काम हो सकता है रानी को मुझसे?" जयदेव ने समझते हुए भी कंचनमाला से प्रश्न किया।

"मुझे क्या मालूम? आप जानें या रानी जाने।" उसके स्वर में व्यंग्य छिपा था।

"ठीक है।" कहकर जयदेव तैयार होने लगा। कंचनमाला गई नहीं। वह जयदेव के कमरे में बिखरे सामान को सलीके से रखने लगी। वह जब कभी भी रानी का संदेश लेकर या और किसी काम से आती तो यही किया करती थी। शुरू-शुरू में, जब जयदेव का कोई दास-नौकर नहीं था, तो कंचनमाला चौके में जाकर रोटी भी बना देती थी। अब उसके कमरे की चीज़ें सलीके से रखते समय कंचनमाला खड़ी हो गई और चुपचाप जयदेव की ओर देखने लगी।

"क्या बात है? कुछ कहना चाहती हो

...माला?" जयदेव ने उसे इस प्रकार ताकते देखकर पूछा।

"नहीं, कुछ नहीं!" उसने लजाते हुए उत्तर दिया।

"फिर भी! निःसंकोच कहो। कई बार मनुष्य ... सुनने और साफ़ सोचने की मनोवस्था में ... है।"

"सोच रही हूँ, मैंने आप पर तोहमत लगाई, ...की मार पड़वाई, पर आपने फिर भी मेरे किसी प्रकार का रोष प्रकट नहीं किया।"

"इसमें तुम्हारा क्या दोष है! रानी ने जो कहा उसी के अनुसार किया।"

"तो फिर दोष किसका है? मैं यूँ ही पूछ रही ... बस सोच रही हूँ। और यह भी कि आप वह ... हैं, जो दिख रहे हैं।"

"तुम ठीक ही कह रही हो कंचन। सच वह ..., जो दिखता है। सच वह है जो आदमी ... है। वैसे सच वह भी नहीं है। सच की ... एक सीमा होती है, हर आदमी की; अपनी ...शक्ति के अनुसार।"

"आप मेरी विचार-सीमा की बात कर रहे ..."

"नहीं कंचन। तुम भी वह नहीं हो जो तुम्हें ... पड़ रहा है। यदि तुमने किसी ऊँचे कुल ... लिया होता तो शायद..." कहते हुए कंचनमाला की ओर देखते हुए वह चुप हो ...

उदांबरा ने जयदेव का हालचाल पूछा। फिर ... देर तक इधर-उधर और राज्य की ... के विषय में बातें करती रही। जब ... पसरने लगा तो जयदेव ने उठने का यत्न ... हुए कहा, "अब आज्ञा दें, मुझे जाना ..."

"यदि जाना ही था तो आए ही क्यों?" ... अर्थपूर्ण दृष्टि से देखती हुई बोली।

"यह भी मेरी ग़लती थी। अब सोचता हूँ, मेरा यहाँ से चले जाना ही उचित होगा। तुम्हारे और मेरे, दोनों के लिए।"

"उचित?" उदांबरा के चेहरे पर दुख और क्रोध झलकने लगा, "क्या वह उचित था जब मुझे परुष्णी के तट पर अकेला छोड़कर चले गए थे?"

"बार-बार मेरी ग़लतियों की ओर संकेत करके मुझे लज्जित मत करो कल्याणी। मैं तुम्हारी भावनाओं को समझता हूँ।"

"समझते हो? मैं उस आदमी के साथ एक पत्नी के तौर से रह रही हूँ जिसने मुझसे पूरी तरह विवाह भी नहीं किया। और जिसके साथ अग्नि को साक्षी मानकर फेरे लिए उसके सामने पराया होने का नाटक करना पड़ रहा है मुझे!"

"यह बात नहीं कल्याणी कि इसके बारे में मैंने कभी सोचा ही न हो। अगर सच पूछो तो इसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ और है ही नहीं सोचने को। तुम मेरा दुखांत भी देखो कल्याणी। वास्तव में हमारा दुखांत यह है कि हम दोनों ही बहरूपिए हैं, और अपने वास्तविक रूप में आने का साहस हममें नहीं है।" और फिर कुछ देर मौन रहने के बाद वह बोला, "मेरे पिता जन्म से ही हारे हुए व्यक्ति थे। पर उन्होंने अपने अंतिम समय में जीत का अनुभव किया था। मैं...मैं इतना कुछ प्राप्त करने के बाद भी स्वयं में हारा-हारा टूटा-टूटा अनुभव कर रहा हूँ।"

उदांबरा कुछ देर उसके उदास चेहरे की ओर देखती रही। फिर बोली, "खंडित मनुष्य को कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं तो यही राय दूँगी कि भूल जाओ अपने अतीत को कि तुमने किसी नाविक के घर जन्म लिया था। वास्तविकता यह है कि तुम ज्ञानी पंडित-पुरुष हो। इस राज्य के संधि-मंत्री हो। भविष्य में और भी बहुत कुछ हो सकते हो। जो है उसे स्वीकार करो, जो नहीं है उसके पीछे क्यों दुखी होते हो?"

"जो मैं वास्तव में हूँ, वही होना चाहता हूँ।

पर मेरी वास्तविकता क्या है? मुझे अभी तक यही नहीं पता। मैं शूद्र हूँ या पंडित? तुम्हारा पति हूँ कि राजा का विश्वासघातक? लगता है मैं...।''

''यूँ सोच-सोचकर स्वयं को व्यर्थ में दुखी मत करो। मनुष्य स्वयं में कुछ नहीं है। समय और परिस्थितियों की लहरों पर बहता चला जाता है जीवन-भर। मनुष्य पल-पल बदलता हुआ चलता चला जाता है। ना तुम वह हो जो उस दिन परुष्णी के तट पर थे और ना मैं वह कल्याणी हूँ जो उदांबर के वृक्ष पर चढ़ी अंजीर खा रही थी।''

उदांबरा ने एक लंबा श्वास लिया और जयदेव के पास बैठकर उसके कंधे पर सिर रखते हुए बोली, ''समय बहुत शक्तिशाली है जयदेव! हमें ही ढालना पड़ेगा स्वयं को समय और परिस्थितियों के अनुसार।''

राजा विष्णु वर्मन इस बार शिकार खेलने नहीं 'शिकार की तैयारी' करने गए थे। जयदेव के राजा की निगाह में ऊँचा उठने और संधि-मंत्री की पदवी प्राप्त करने के बाद वह कई मंत्रियों, सामंतों की आँखों में खटकने लगा था। जब उन्हें जयदेव और रानी उदांबरा के बढ़ते हुए संबंधों के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा के कान भरने शुरू कर दिए। और यह भी बताया कि जब भी महाराज कुछ दिनों के लिए बाहर जाते हैं, तो इस अवसर का लाभ उठाया जाता है।

इसी कारण राजा शिकार का बहाना करके गए थे, पर शीघ्र ही लौट आए। उन्होंने अपने सैनिकों को रानी के भवन के चारों ओर घेरा डालने के लिए कहा और स्वयं चुपचाप, दबे पैर रानी के कक्ष की ओर बढ़ने लगे। रात के दो पहर बीत चुके थे। उसी समय दासी कंचनमाला ने उदांबरा के कमरे का दरवाज़ा धीरे-से खोला और बोली, ''क्षमा करना रानी महाराज विष्णु वर्मन आ रहे हैं।''

उदांबरा घबराकर पलंग से उठी और भयभीत आँखों से जयदेव की ओर देखने लगी। जयदेव ने भी प्रश्नसूचक आँखों से उदांबरा की ओर देखा जैसे कह रहा हो, ''अब छिपाने का कोई लाभ नहीं। एक ही उपाय है कि साफ़-साफ़ बता दिया जाए। एक ही झटके में छुटकारा पा लिया जाए इस दुविधा से।''

राजा की पग-ध्वनि सुनाई देने लगी। राजा के द्वारा कमरे का दरवाज़ा खोले जाने से कुछ पहले दासी कंचनमाला एकदम से दूसरे दरवाज़े से भीतर आ गई और उदांबरा की बाँह पकड़कर दरवाज़े की राह कमरे से बाहर करते हुए जयदेव के पास आ खड़ी हुई।

क्रोध से लाल-पीले होते, और अपनी तलवार की मूठ पर हाथ कसते हुए राजा ने दरवाज़ा खोलकर कमरे में पैर रखा तो कंचनमाला अपने अर्धनग्न अंगों को अपने अंगवस्त्रों से ढँकने का यत्न कर रही थी।

उर्दू ग़ज़ल

ओम प्रभाकर

ज़िंदगीनामा

ज़िंदगानी में पेचो-ख़म क्यूँ हैं
उनको ख़ुशियाँ, हमें अलम क्यूँ हैं?

किसने बाँटी हैं, इस तरह चीज़ें
कुछ पे ज़ाइद हैं, कुछ पे कम क्यूँ हैं?

जिन पे हर दौर में गिरी बिजली
सरहदों के वो गाँव हम क्यूँ हैं?

जिनकी बातों से, जिनकी आँखों से
शोले झरते थे, आज नम क्यूँ हैं?

क्यूँ हैं लोगों के हाथ जेबों में
उनमें बेहिस[1] लगे क़लम क्यूँ हैं?

जब इरादे हैं आपके पुख़्ता
लड़खड़ाते हुए क़दम क्यूँ हैं?

दुनिया

लोगों से, चीज़ों से भरी हुई दुनिया
आधी ज़िंदा, आधी मरी हुई दुनिया।

ज़ाहिर से तो ये टकराती रहती है
बातिन[2] से है लेकिन डरी हुई दुनिया।

सहरा-सहरा धूल उड़ाती फिरती है
जंगल-जंगल कैसे हरी हुई दुनिया?

राम, कृष्ण, ईसा, मूसा, गौतम आए
फिर भी क्या जुर्मों से बरी हुई दुनिया?

थोड़ी-थोड़ी सब बच्चों को दे देता
होती शीरीनी[3] से भरी हुई दुनिया!

---

1. संवेदनहीन, 2. आंतरिक, 3. मिठाई।

गुज़री

घिसे-पिटे मंज़र में गुज़री
दो कमरों के घर में गुज़री।

बढ़ी उम्र, कुरता-पाजामा
बचपन तो नेकर में गुज़री।

रोज़ी-रोटी की तलाश में
दर-दर, नगर-नगर में गुज़री।

कभी शहादत के जज़्बे में
कभी मौत के डर में गुज़री।

जच्चाख़ाने से मरघट तक
दुनिया एक सफ़र में गुज़री।

आदमी

ज़रूरी हैं अब जब भले आदमी
नहीं हैं कहीं तब भले आदमी।

न दैरो-हरम[1] में, न महफ़िल में हैं
कहाँ जा छिपे सब भले आदमी?

न दिन में सही, ख़्वाब में ही कभी
दिखा दे तू या रब! भले आदमी।

ये बच्चे भी टुक[2] देख लेते उन्हें
मिलेंगे कहाँ, कब भले आदमी?

पुरानी किताबों, तसावीर[3] में
मिलें ग़ालिबन अब भले आदमी।

लड़कपन में देखा-सुना था ज़िन्हें
वो क्या थे लबालब भले आदमी?

---

1. मंदिर-मस्जिद, 2. किंचित्, 3. तसवीरों।

सदा अंबालवी

तीर कोई

निगाहे-नाज़ का ख़ाली गया न तीर कोई
किसी की जान गई और हुआ असीर कोई

विसाले-यार का रस्ता दिखा रही है जो
हमारे हाथ में दिखती नहीं लकीर कोई

न भूलकर भी भरोसा करो हसीनों का
न इन बुतों का ख़ुदा है न इनका पीर कोई

कभी-कभी मुझे सबसे अमीर लगता है
गली के मोड़ पे बैठा हुआ फ़क़ीर कोई

कहाँ तलक यूँ अकेले सफ़र करोगे 'सदा'
तुम्हारे साथ न रहबर न राहगीर कोई

हर शै है

हर शै है कायनात की, अपनी जगह अहम
बरतर कोई किसी से, न कोई किसी से कम

समझे रज़ा ख़ुदा की, तो आँखें हुईं हैं नम
ज़ाहिर में जो थी सज़ा, हक़ीक़त में था करम

ग़ाज़ी बड़ा है कोई, न छोटा ग़ज़लसरा
अपनी जगह पै तेग़ है, अपनी जगह क़लम

इस ख़ाकदाँ को किसलिए कहते हैं हम चमन
गो फूल हैं कहीं-कहीं, काँटे क़दम-क़दम

सूरज ढले कि चाँद खिले हमको क्या ख़बर
गुज़रे जो शामे-ग़म, तो फिर आए शबे-अलम

दे के 'सदा' ख़ुदा मिरे, तू रोकना मुझे
जब राहे-मुस्तक़ीम से भटकें मिरे क़दम

सदा अंबालवी का जन्म 1951 में हुआ। तीन ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 3-बी, हुडको प्लेस, एंड्रयूज गंज, नई दिल्ली 110049

अनु. चरनजीत सिंह के हिंदी-उर्दू में परस्पर अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : प्रबंधक, पंजाब एंड सिंध बैंक, सी.एम.डी. कार्यालय, 'बैंक हाउस', 21 राजेंद्रा प्लेस, नई दिल्ली 110008, मो. 9811116003

मुसन्ना रिज़वी

ज़ख़्म

ज़ख़्मों को दिल में हँस के छुपाए हुए तो हैं
चेहरे पे अपने फूल खिलाए हुए तो हैं।

माना भटक रहे हैं वो मंज़िल की खोज में
पलकों पे कोई ख़्वाब सजाए हुए तो हैं।

ऐ दिल तेरे ख़याल में हम नातवाँ सही
अपने गमों का बोझ उठाए हुए तो हैं।

हाँ सच है हम दुखों का मदावा न कर सके
बारिश में आँसुओं की नहाए हुए तो हैं।

टोपी जनाबे शेख की ऊँची सही मगर
दरबार में वो सर को झुकाए हुए तो हैं।

आँखें छलक ही जाती हैं अब भी कभी-कभी
यूँ मुद्दतों से उसको भुलाए हुए तो हैं।

हम लोग

बोलते बेतकान हैं हमलोग
किस क़दर ख़ुशगुमान हैं हमलोग।

पिघली जाती है पाँव की ज़ंजीर
कितने शोला बयान हैं हमलोग।

तीर तरकश में कम नहीं लेकिन
ईक शिकस्ता कमान हैं हमलोग।

कौन ढूँढ़े यक़ीन की मंज़िल
जबकी ख़ुद ही गुमान हैं हमलोग।

ज़िंदगी है के प्यास का सहरा
किस क़दर सख़्त जान हैं हमलोग।

हर तरफ़ क़िस्सा ए-सलीब व दार
दर्द की दास्तान हैं हमलोग।

तूने समझा है क्या दिवानों को
आप अपना निशान हैं हमलोग।

मुसन्ना रिज़वी की उर्दू-हिंदी में ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : ताज गेट, व्हाईट हाउस कंपाउंड, गया 823001
मो. 9431207661

अनु. स्वयं

नारसाई नसीब-ए-इश्क़ सही
ज़िंदगी तेरी जान हैं हमलोग।

दोस्त

दोस्त की तरहा बहुत याद आए
हमने दुश्मन भी ग़ज़ब के पाए।

बेनियाज़ी का गिला क्या करते
उसकी महफ़िल से निकल ही आए।

अब कहाँ वैसे समन बर यारों
जिनकी गुफ़्तार से ख़ुशबू आए।

लुटने वाले चमनज़ारों . को
ढूँढ़ते फिरते हैं गुल के साए।

ख़ून से टकरा गए जाम-व-मीना
इस तरह झूम के बादल आए।

थाम ले हाथ बढ़ाकर उसको
क्या अजब है वो सँभल ही जाए।

सरफ़राज़ शाक़िर

टेढ़ी-मेढ़ी डगर

टेढ़ी-मेढ़ी डगर का नक़्शा मैं
जो भी पढ़ ले उसी का क़िस्सा मैं

ख़ार[1], पत्थर, चट्टान जैसा वो
ख़ाक, पानी, गुलाब जैसा मैं

याद कर लो किसी भी वक़्त मुझे
हूँ जो गुज़रा हुआ ज़माना मैं

ऐब[2] मुझमें तलाशने वाले
तुझको पहचानता नहीं क्या मैं?

सरफ़राज़ शाक़िर का जन्म 1956 में हुआ। संपर्क : सिवाँची गेट, मंगलियों की गली, जोधपुर (राज.)

अनु. स्वयं

1. काँटा, 2. बुराई

कैसे आबो-हवा[1], शजर[2] देखूँ
हूँ अज़ल[3] से झुलसता सहरा[4] मैं

कौन से रुख़[5] चलूँ नहीं मालूम
हो गया हूँ हवा का झोंका मैं

देख ले कोई नींद में 'शाकिर'
एक भटका हुआ हूँ सपना मैं।

सिंधी

एम. कमल

समझा गया

रंग रुख़ इस दौर का समझा गया,
चोरी चोरी करके यूँ धमका गया।

वो ज़माने का ख़ुदा हो जाएगा,
जिससे था शैतान भी शरमा गया।

आज क्यों उसने मेरी तारीफ़ की?
इक निराली सोच में उलझा गया।

अर्ज़ सुनकर चुप रहा फिर हँस दिया,
दश्ते मानी मुझे भटका गया।

उसको सारा दोष मुझमें ही दिखा।
ज़ख़्म दिल के पोंछकर चमका गया।

भूला किए

धुंध याद है, रोशनी भूला किए
उम्र याद है, ज़िंदगी भूला किए।

किस शजर की छाँव जंगल में जची?
शहर याद है, घर गली भूला किए।

ऐ सितमग़र वक़्त! तूने क्या किया?
दिलबर अपनी दिलबरी भूला किए।

सिंधी रचनाकार एम. कमल का जन्म 1925 में हुआ। इनके 17 कविता-संग्रह तथा 6 एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। साहित्य, अकादेमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : सी-540/1079, उल्हास नगर 421004 (महा.)

अनु. ढोलण राही का जन्म 1949 में हुआ। इनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। राजस्थान सिंधी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 6, सावर हाउस, श्रीनगर रोड, अजमेर 305007,
फ़ोन : 0145-2420184

---
1. जलवायु, 2. पेड़, 3. शुरुआत से, 4. मरुस्थल, 5. चेहरा, दिशा।

दरियादिल यारों की वो जादूगरी,
याद सहरा, तिश्नगी भूला किए।

शोख़ रुख़ था, ख़ून पर अपना ही था,
ख़ूँ न भूले, बेरुख़ी भूला किए।

बू थी जिस मिट्टी की अपने ख़ून में,
हम उसी मिट्टी को भी भूला किए।

हिंदी ग़ज़ल

राजेंद्र तिवारी

ज़बानी चाहिए

थरथराते होंठों के लफ़्ज़ों को मानी चाहिए
एक मिसरा है अकेला एक सानी चाहिए

सिर्फ़ बीनाई नहीं आँखों में पानी चाहिए
झील दरिया हो तो सकती है रवानी चाहिए

जिसको दुनिया याद रक्खे वो कहानी चाहिए
ज़िंदगी में ज़िंदगी की तर्जुमानी चाहिए

बादशा बेचैन हैं दुनिया पे क़ब्ज़े के लिए
हम फ़क़ीरों को दिलों पर हुक्मरानी चाहिए

रात में सूरज उगे दिन लेके घूमे चाँद को
लोग क्या क्या सोचते हैं शर्म आनी चाहिए

कोशिशें तो कोशिशें हैं कामयाबी के लिए
कोशिशों के साथ उसकी मेहरबानी चाहिए

कर लिया इकरार दिल ने कह दिया आँखों ने हाँ
हमको लेकिन फ़ैसला तुमसे ज़बानी चाहिए।

राजेंद्र तिवारी का जन्म 1960 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित। कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : 'तपोवन', 38-बी, गोविंद नगर, कानपुर 208006
फ़ोन : 0512-2617920

नहीं होती

जब ख़ुशी के मिलने पर भी ख़ुशी नहीं होती
इससे बढ़ के दुनिया में बेबसी नहीं होती

इक निगाह मिलते ही प्यार हो तो सकता है
दिल मिले बिना लेकिन दोस्ती नहीं होती

लोग बारहा ख़ुद को रोज़ क़त्ल करते हैं
यार क्या करें हमसे ख़ुदकुशी नहीं होती

बाहरी उजालों से सूरतें चमकती हैं
दिल में इन चराग़ों से रोशनी नहीं होती

सुन सको तो आँखों में लफ़्ज़ गुनगुनाते हैं
ख़ामोश ज़बानों की ख़ामोशी नहीं होती

तश्नगी भटकती है ज़िंदगी के सहरा में
जो दिखाई देती है वो नदी नहीं होती

ख़्वाहिशों के जंगल में दूर तक नहीं जाना
ख़्वाहिशों के जंगल से वापसी नहीं होती।

अच्छी लगीं

हमको उसकी याद की गहराइयाँ अच्छी लगीं
इसलिए महफ़िल में भी तनहाइयाँ अच्छी लगीं

चिलचिलाती धूप नंगे पाँव जलती रेत पर
तश्नगी को झील-सी परछाइयाँ अच्छी लगीं

ये मुहब्बत का असर ही था मुझे महबूब की
ख़ूबियाँ तो ख़ूबियाँ थीं ख़ामियाँ अच्छी लगीं

जब गिरीं हैं आशियाने पर तो गुज़रीं नागवार
जब गिरीं दिल पर तो मुझको बिजलियाँ अच्छी लगीं

मेरी मजबूरी का उसने भी उठाया फ़ायदा
वरना उसको क्यों मेरी मजबूरियाँ अच्छी लगीं!

योगेंद्र दत्त शर्मा

देख लिया

योगेंद्र दत्त शर्मा की ग़ज़लें, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : के.बी. 47, कवि नगर, ग़ाज़ियाबाद 201002 (उ.प्र.)

हम ख़ुद हैं हैरान कि आख़िर कैसा मंज़र देख लिया,
हमने उनकी आँखों में ख़ामोश समंदर देख लिया।

एक अँधेरा सिसक रहा था रौनक के पहलू में,
हमने हर जलवा देखा है, हर जलसाघर देख लिया।

अमन-चैन, हमदर्दी की बातें कितनी बेमानी हैं,
हमने लहूलुहान वफ़ा का एक कबूतर देख लिया।

ये मासूमी, ख़ूबसूरती, शोख़ी और नज़ाकत भी,
पर भीतर क्या कुछ है, वह भी मन के अंदर देख लिया।

जो हमको दिन-रात नचाता अपने एक इशारे पर,
उसे नचाता अपनी धुन पर एक क़लंदर देख लिया।

दर्शन, चिंतन, ज्ञान उधर, पर इधर क्रूरता का चेहरा,
अफ़लातून वहाँ देखा था, यहाँ सिकंदर देख लिया।

तुम तो कहते थे, उसके शब्दों में खरी सच्चाई है,
खरी सच्चाई भी देखी, वह खरा सुखनवर देख लिया।

देखेंगे

तहख़ानों में पड़े-पड़े कब तक अँधियारे देखेंगे,
हमने सोचा है, अब चलकर चाँद-सितारे देखेंगे।

ऊब चुके हैं देख-देखकर उजड़े-उजड़े मंज़र को,
जाने कब इन आँखों से सरसब्ज़ नज़ारे देखेंगे।

ओस, नदी, दरपन, परछाईं, फूल, चाँदनी, इंद्रधनुष
शायद हम भी कल ऐसे ही साँझ सकारे देखेंगे।

बुझे-बुझे चेहरों ने पाला एक अनोखा-सा सपना,
किसी एक दिन आँखों में जलते अँगारे देखेंगे।

माथे पर सूरज दमकेगा, धूप हँसेगी पलकों में,
जाने कब वो नई सुबह सोए बनजारे देखेंगे।

बंद गली ने तंग सड़क से आँखों में क्या बात कही,
आँगन क्या दालानों के ख़ामोश इशारे देखेंगे।

पिंजरे के सच से वाक़िफ़ हैं, खुली हवा से नावाक़िफ़,
कल शायद इन तोतों को हम पंख-पसारे देखेंगे।
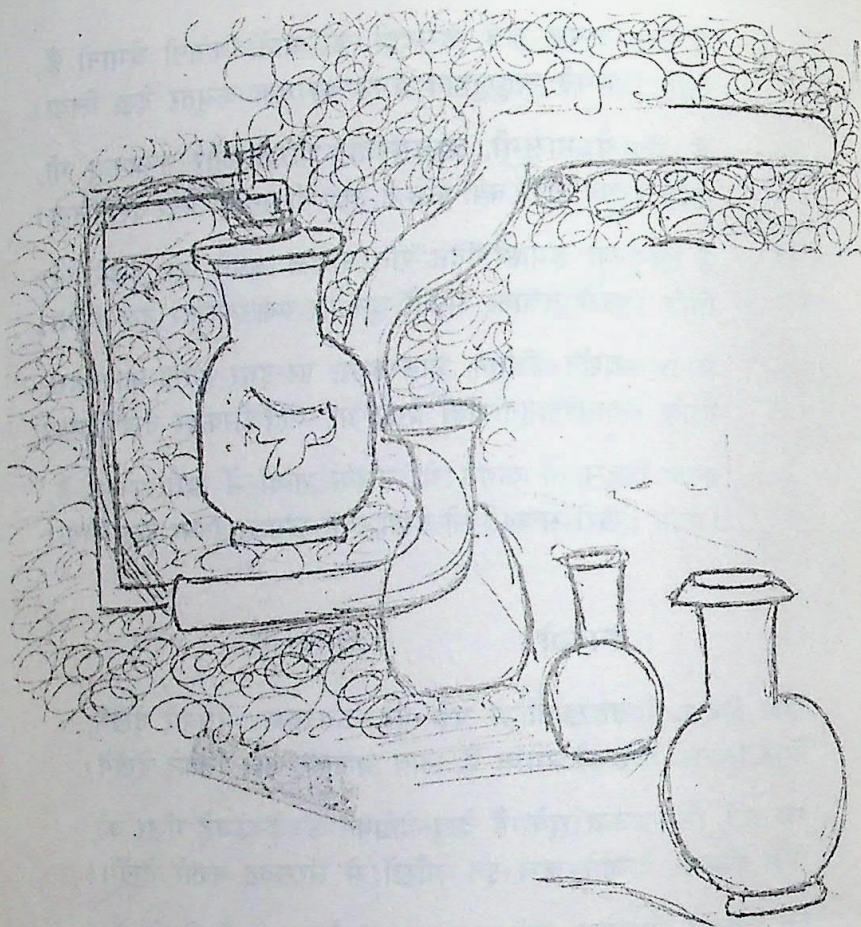
हरीश कुमार 'अमित'

निकाली जाएगी

तरक़ीब दुनिया बदलने की जो न निकाली जाएगी,
तब तलक मियाँ तुम्हारी पगड़ी उछाली जाएगी।

गर बनोगे किरकिरी तुम आँख की सज्जाद की,
बैठने को इज़्ज़त तुम्हारी ही बिछा ली जाएगी।

और-और भरने को तिजोरी सेठ-साहुकारों की,
फटी हुई जेब तुम्हारी फिर-फिर खँगाली जाएगी।

जो ज़रा-सा उठ गई पलक तुम्हारी आँख की,
आँख ऐसे में तुम्हारी तो उड़ा ली जाएगी।

है क्या इतनी हिम्मत जो कर सको मुक़ाबला,
ऐसी जुर्रत पे अर्थी तुम्हारी उठा ली जाएगी।

हरीश कुमार 'अमित' की ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 304, एम.एस. 4, केंद्रीय विहार, सेक्टर 56, गुड़गाँव 122003 (हरियाणा)

शांति छेत्री

पैर

वह एक श्रमिक विधवा माँ थी। उसका एक बच्चा था तीन साल का—दोनों एक-दूसरे पर आश्रित और मोहित।

सब माँ अपने-अपने बच्चों को सजा-धजाकर कहीं ले जा रही थीं।

उसने पूछा, ''कहाँ और क्यों ले जा रही हो?''

किसी ने कहा, ''बच्चों का मेला है उधर।''

वह भी अपने लाड़ले को गोद में उठाए उधर ही चल पड़ी। पार्क के बीचों-बीच खड़े उस सफ़ेद बड़े मकान के अंदर वह घुस गई। सचमुच! वहाँ बच्चों का अच्छा-ख़ासा मेला लगा हुआ था। सब बच्चे तीन पहियों वाली साईकिल पर सवार इधर-उधर घूम रहे थे। उसका बेटा भी माँ की गोद छोड़कर एक साईकिल पर सवार हो गया। सब माताएँ एक क़तार में खड़ी इंतज़ार कर रही थीं।

एक कर्मचारी से उसने पूछा, ''इन बच्चों के पैर में इतनी बड़ी-बड़ी पट्टियाँ क्यों बँधी हुई हैं?''

वह बोला, ''उधर डॉक्टर सा'ब हैं, उनसे पूछिए।''

वह उस केबिन में घुस गई। एक अच्छे-ख़ासे लंबे आदमी ने मीठी मुस्कान के साथ उसका अभिवादन किया। फिर पूछा, ''क्या उस नीली साईकिल पर बैठा लड़का आपका है?''

''जी हाँ।'' उसने सिर हिला दिया।

''बहुत प्यारा है। बहुत शरारत भी करता होगा?''

''जी हाँ!'' बच्चों की शरारत अच्छी होती है सा'ब!''

''तब तो उसके पैर का भी ऑपरेशन करना पड़ेगा।''

''वह क्यों?'' वह चौंक गई।

''देखिए न, ये बच्चे इतनी जल्दी बड़े हो जाते हैं कि इन्हें सँभालना अब मुश्किल होता जा रहा है। हमारी संस्था ने बच्चों के पैर का ऑपरेशन करके उनका बढ़ना कम कराने के लिए रिसर्च किया है। आपके बच्चे का कल ऑपरेशन होगा—उसके दोनों पैर काट दिए जाएँगे। उसे पेन-किलर दिया जाएगा, नींद की गोली भी। उसे दर्द का अहसास भी नहीं होगा और ख़ून की एक बूँद भी नहीं निकलेगी।''

...रचनाकार शांति छेत्री का ... 1948 में हुआ। कविता, ...ी, समीक्षा एवं यात्रा- ...की कई पुस्तकें ...त हुई हैं। संपर्क : ...क, लोअर आरीयाड, ... 737101 (सिक्किम)

"माँऽऽऽऽ!" उसी क्षण उसका बेटा बाहर ज़ोर से चिल्लाया।

वह बाहर की ओर दौड़ पड़ी। उसका बच्चा साईकिल से गिर गया था—4-5 साईकिलें एक साथ भिड़ गई थीं। उसे अपने बच्चे के पैर दिखाई नहीं दिए। कोई उसे पीछे से घसीट रहा था।

वह माँ फिर केबिन में वापस लौट आई, हाथ बढ़ाया और उस डॉक्टर की काली टाई पकड़कर बाहर निकाला। सब माताएँ बच्चों को जल्दी-जल्दी साईकिल से उठाकर ज़मीन पर खड़ा करने की कोशिश कर रही थीं।

वह चिल्लाई, "ऑपरेशन तो कल होनेवाला था। तुमने उसके पैर आज ही क्यों काट दिए?" उसने डॉक्टर को चारों ओर हवा में घुमाया। सब अचरज में थे कि उसके अंदर इतनी सारी शक्ति कहाँ से आ गई? उसने डॉक्टर को ज़मीन पर पटक दिया और अपने पैरों से उसका सिर कुचलती रही, मसलती रही। एक 'आह' भी कहीं सुनाई नहीं दी। इतना बड़ा भयानक सिर उस ज़मीन पर सपाट हो गया लेकिन सचमुच ख़ून की एक बूँद भी कहीं दिखाई नहीं दी। माँ के पैर लज-लज हो गए थे। उसे घिन आ रही थी। उसी क्षण एक नन्हे से हाथ ने उसके स्तन टटोले। वह धीरे-धीरे उसके पैर सहलाने लगी।

"अरे, ये तो सही सलामत हैं!" वह चीखकर उठ बैठी। पसीने से तरबतर वह बुख़ार से तप रही थी। आधी रात का वक़्त था और यह तो सिर्फ़ एक सपना था!

समीरण छेत्री 'प्रियदर्शी'

अँधेरा हो जाए

किसी-किसी को अँधेरा प्रिय लगता है। सोचते हैं—यह संसार और सौरमंडल एक ही बार अँधेरे में डूब जाए...हम सब उसी में विलीन हो जाएँ...शाम ढल चुकने के बाद भी मगरनी बूढ़ी ने ढिबरी नहीं जलाई थी।

बग़ल के घर से पातली कांछी तीन-चार बार देखने गई। बूढ़ी का हर समय ध्यान रखना भी पातली के लिए संभव नहीं है। फिर भी दिलदार पातली पड़ोसी के नाते बूढ़ी का बहुत ख़याल रखती है। पकाकर भी देती है गरम ठंडा, यदि उसके पास होता है तो; नहीं हो तो क्या देगी ? शाम होते ही पातली बहुत परेशान हो जाती है—ठूले भात माँगता है, सानी नींद से रोने लगती है और बच्चों का बाप नदी से आता नहीं है। एक ओर बच्चों के गंदे चिथड़े सूखते ही नहीं हैं। सूखेंगे भी कैसे, चार दिन से निरंतर बारिश जो हो रही है। सारे संसार में बरसने वाला पानी इस बार कहीं न बरसकर इसी मंगन में बरस रहा है!

पातली फिर सानी को बग़ल में चेपकर बूढ़ी को देखने गई। बूढ़ी का घर अँधेरे में डूबा देखकर पातली ने कहा, "बज्यू! ढिबरी क्यों नहीं जलाती हो ?"

"क्या कहूँ कांछी, तेल नहीं है मेरी ढिबरी में...अब तो मुझे अँधेरा ही प्रिय लगता है। ज़िंदगी के अँधेरे को ढिबरी की रोशनी क्या कम कर सकती है ?...मैं सो रही हूँ...तुम मेरी चिंता न करो... ।"

पातली ने दोनों बच्चों को खिला-पिलाकर सुला दिया। भात भी पक गया है, बाप मछली लेकर आएगा तो भाजकर झोल डाल दूँगी। लेकिन जाने क्यों उसके आने में देर हो रही है। नदी उफनने लगी है, कहीं उस पार अटक तो नहीं गया ?

रेणु भाभी भी पातली को देखने आई। आज वह तीन बार आ चुकी है। उसका पति परसों ही सिलीगुड़ी गया था, लौटा ही नहीं है। संतानरहित पत्नी को पति का प्रेम ज़्यादा ही सताता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन सब झूठ है। पातली के बच्चे हैं, पति के प्रति उसका प्रेम क्या कम हो गया है ? बच्चे होने के बाद तो पति-पत्नी के बीच प्रेम और बढ़ जाता है। बच्चे हों या न हों, इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है, जिसका दिल प्यार से भरा होता है, वह सबसे प्रेम करता है। चार बच्चों की माँ भी दूसरी शादी करती है। एक भी बच्चा न होने के

बावजूद भी अपने पति के साथ जीवनभर रहती हैं औरतें, पातली जानती है। बच्चे न होने की वजह से रेणु भाभी अपने पति को ज़्यादा प्यार करती है, ऐसी बात नहीं है।

''जानती हो पातली, फेन्सोङ तो सब धँस गया है, कहते हैं...इधर राङराङ का पुल भी टूट रहा है। बेचारा बुख़ार से ग्रस्त था, उधर ही रास्ते में फँस गया होगा। जानती हो, यह उत्तर सिक्किम रहने की जगह नहीं है। ऊपर मयूल के बीस-तीस घर धँसकर ढह गए हैं।'' रेणु भाभी खटिया की चादर एक तरफ़ सरकाकर बैठ गई।

''भाभी बात ऐसी है—जो होनी है वह ईश्वर के हाथ में है—आदमी के चिंता करने से क्या होगा? चिंता करके तुम भईया को उठाकर गंगतोक से यहाँ ला सकोगी? आदमी चिंता करके कुछ भी तो नहीं कर सकता है! कल जो होनी है वह होकर ही रहेगी...आदमी चिंता करके पहले ही मर जाता है।''

''क्या कहूँ पातली, इस मन में चिंता अपने आप घुस जाती है चोर की तरह...यूँ ही कैसी-कैसी दुर्भावनाएँ मन में घर बनाती हैं!...'' रेणु भाभी ने कहा।

''भाभी, पड़ोस की बूढ़ी बज्यू की स्थिति सोचिए तो ज़रा...गत वर्ष इसी समय की बात है...बूढ़ा और उसका जवान बेटा तिस्ता में जाल डालने गए थे, आज तक वापस नहीं आए हैं। मरने और बचने में अंतर कहाँ रह गया है? तिस्ता उफनने लगती है तो बूढ़ी की उम्मीदें जागती हैं, कहीं उछाल उसके पति और बेटे को उठाकर उसके पास न ला दे। परसों बूढ़ी को नदी ले जानेवाली थी, उन्होंने पकड़कर निकाला। बूढ़ी क्या कह रही थी, जानती हो! निर्दयी तिस्ता अब तुम मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकोगी। ताज़ी मछली खाया करती थी, अब तो किनारों पर पड़ी सड़ी मछली खाकर जी रही हूँ। मेरी जान लेकर तुम ख़ुश न होना। तुमने मेरी असली जान गत साल ही ले ली है।''

पातली का पति अभी तक नहीं आया है। पातली को घबराहट होने लगी है। आदमी औरों को मुसीबत के समय उपदेश दे सकता है लेकिन ख़ुद मुसीबत में फँसते ही कमज़ोर हो जाता है। बूढ़ी भी दो बार उठकर आई और पातली से पूछा, ''कांछा आया?''

बूढ़ी जान गई, उस समय पातली का स्वर अवरुद्ध हो गया था जब उसने कहा, ''कहाँ, अभी तक नहीं आए हैं! दस बज गया होगा?''

पातली ने बाहर निकलकर उस पार दूर तक देखने की कोशिश की, लेकिन घनघोर अँधेरा होने की वजह से कुछ नहीं दिखाई दिया। हाथीसूँड़ बारिश ने नीचे चाँदे, उस पार सङ्कलान, हिग्याङ और इस ओर ननसामदुङ; राङराङ अर्थात् मंगन का सब इलाका ढक लिया है। कहीं-कहीं से लोगों के चिल्लाने की आवाज़ सुनाई पड़ती है। मनचली तिस्ता के घोर गर्जन में कुछ भी पता नहीं चलता है। बड़े-से चपटे पत्थर पर चढ़कर पातली ने देखा तो उसे लगा, दूर कहीं से उसका पति उसे बुला रहा है। वह मुझे क्यों बुलाएगा! ऐसी तिस्ता से वह हार मानने वाला नहीं है। पातली को अपने पति के साहस और शक्ति पर पूरा भरोसा है, उसे कुछ नहीं होगा।

भाभी फिर आई। उसने कहा, ''ए पातली कांछी! बच्चों को ले लो। हमें अब इस मंगन से भागना होगा। ऐसे भूस्खलन का कोई विश्वास नहीं है! चार दिन हो गए बारिश को। तुम्हारे पति भी कहीं अटक गए होंगे। बच्चों को लेकर तुम्हें ज़िंदा रहना तो होगा! चलो...तुम्हारे ढूले को मैं ढो लूँगी।'' एक बार फीकी हँसी हँसकर पातली ने कहा, ''नहीं भाभी, मैं नहीं जाऊँगी। यदि वे आकर हमें नहीं पाएँगे यहाँ, तब उन पर क्या बीतेगी? भाभी मरना ही लिखा है तो कहीं भी मरेंगे!''

पातली नहीं गई। सब लोग राङराङ छोड़कर दूसरी ओर चले गए। एकाएक पातली को रामनाम का डर हो गया। अभी तक कांछा नहीं आया।

में मछली मारकर पेट पालने का काम ठीक है। इससे तो रास्ते पर पत्थर तोड़कर या ढोकर खाना ही बहुत अच्छा है। मैं तो नहीं जाऊँगी। मरना ही पड़ेगा तो बच्चों को छाती से लगाकर मरूँगी...आख़िर मर ही चुके तो हैं।

पातली चूल्हे के पास बैठकर छाती सेकने लगी। अकेली होती है तो अजीब-अजीब-सी बातें उसके मन में आती हैं। शरीर में शक्ति होने की वजह से अशुभ बातें उसके मन में घर नहीं बना पातीं। पुरानी बातें और मज़ाक़ उसे याद आते हैं।

उसे अच्छी तरह याद है, रेणु भाभी जब मंगन आई थी भईया के साथ दार्जीलिंग के सिडला बाज़ार से, तब वह मोटी थी। इसी मंगन में आने के बाद वह दुबली होने लगी। यहाँ के आदमी ज़हरीले हैं, पानी भी ज़हरीला है। यहाँ लोगों का शोषण होता है। पहले रेणु पातली के साथ ख़ूब मज़ाक़ करती थी। पातली की बेटी सानी गर्भ में आई थी, तब एक दिन उसे आँगन की धूप में उत्तान सोती देखकर कहीं से आई रेणु ने उसके वक्ष पर चिकोटी काटकर उठाते हुए कहा, ''अरे पातली! क्यों इस तरह धूप में सो रही हो? बुदुना मछली खाकर तुम जैसी तरुणी ऐसे सोती है तो बिना पुरुष-संपर्क के ही गर्भधारण कर सकता है, जानती हो! इस संसार की हवा ही दूषित है—स्वर्ग के देवता सपने में तुम्हारे भीतर आ सकते हैं।''

पातली ने शर्म से मुख छुपाया। रात को पातली ने यह बात अपने पति से कही तो उसी रात सानी गर्भ में आ गई। इन बातों को याद करके पातली हँस पड़ी।

ऊपर सड़क पर बहुत ज़ोर से शोरगुल होने लगा। हाथ में टॉर्च लिए हुए युवक मंगन बाज़ार के लोगों को निकालकर सुरक्षित जगहों में भेज रहे थे। सब निकल रहे थे। रेणु भी निकल गई, लेकिन पातली और बूढ़ी नहीं निकलीं।

पातली चूल्हे के पास सो गई। उसे पता ही नहीं चला नींद कैसे आ गई...वह रोक न सकी। आदमी यदि नींद को रोक सकता तो शायद मृत्यु को भी रोक सकता था।

पातली चौंककर उठ गई। कांछा तो बहुत पहले आ गया है।

''कब आए?'' हर्षित होकर पातली ने पूछा।

''कैसी हो! सूअर की तरह सोती हो...मैं अभी आया हूँ।'' कांछा ने जवाब दिया।

''क्या कहूँ, मेरे तो होश ही उड़ गए थे!''

''दुत पगली! मरण के लिए काल की ज़रूरत होती है। मैं भी मर ही चुका था यह सोचकर कि कहीं तुम सब रेणु भाभी के साथ ही तो नहीं निकल पड़े! अगर निकलते तो आज नहीं रहते! तैरकर किसी तरह पाँच लोगों को बचा पाया...रेणु भाभी को नहीं बचा सका। भँवर में फँस गई वह। नदी से दोपहर में ही निकला था मैं, पर गाँव के लोगों को नदी पार कराने में लग गया तो देर हो गई। लो मूली काट दी है, ज़्यादा ही तेल डालकर अच्छी तरह भाजना।''

मदहोशी की तरह अपनी पीठ खुजलाकर कांछा ने फिर कहा, ''नदी में मछलियाँ नहीं हैं। हमें तो अब ग्रेफ में रास्ता खोदने का काम ढूँढ़ना होगा, नहीं तो दार्जीलिंग की ओर ही जाना पड़ेगा। बोझा ढोकर ही पेट पाल लेंगे।''

भात खाने के बाद पातली और कांछा खटिया पर गए। पेड़ की मोटी छाल से बने दरवाज़े में मनुष्य की आँखों से बड़ा छिद्र होने के बाद भी इस दंपत्ति को किसी की परवाह नहीं है। पातली ने नींद में अपना हाथ कांछा की छाती पर रखा। इसके पहले रज़ाई से ढके संसार में बहुत-सी कृतियों की रचना हुई।

कांछा पातली को अपने छोर की रज़ाई ओढ़ाकर उठा। चूल्हे में आग सुलगाते हुए वह गुनगुनाने लगा। वह बहुत ख़ुश दीख रहा था। उसका मन-प्राण अपने ही देश दार्जीलिंग के आलेबुङ में पहुँच गया था।

कृष्ण चंद्र टुडू

अंतिम परीक्षा

एक दिन डॉ. मदन टुडू एक बरतुहार के साथ लड़की देखने सगाडीह गाँव गया। लड़की देखने के बाद घर लौटते समय डॉ. मदन ने कहा, ''इस संसार को बनाने वाले भगवान ही जानते हैं कि कौन-सा मनुष्य, किस तरह सजाने से सुंदर लगता है। वे उसे उसी अनुसार सजाते, बनाते, सँवारते और रंग-रूप प्रदान करते हैं।''

इस बात को सुनकर रायबार ने कहा, ''इस संसार को बनाने वाले भगवान ने सभी को अलग-अलग रूप, गुण प्रदान किए हैं। जीवन दिया है लेकिन कुछ लोग अपने रूप, गुण की अवहेलना कर बुरा काम करते हैं और अंततः उन्हें सज़ा भी मिलती है।''

रायबार और डॉ. मदन बड़ी-बड़ी बातें करते हुए अपने-अपने रास्ते चले गए। डॉ. मदन अपने घर जाने के लिए झोराडीह बस स्टैंड गया। बहुत देर तक बस स्टैंड पर खड़े रहने के बाद भी वहाँ एक भी गाड़ी नहीं आई, तब डॉ. मदन बस स्टैंड के पास स्थित एक मोयरा दुकान के पास गया और दुकानदार से पूछा, ''टाटा जाने के लिए बस कब आएगी?''

मोयरा दुकानदार ने बताया, ''आज गाड़ी नहीं चलेगी।''

डॉ. मदन ने कहा, ''भाई ज़रा ये तो बताइए, आज गाड़ी क्यों बंद है?''

दुकानदार ने कहा, ''बाबू, आप इस परचे को पढ़िए। आज वीर जंगल संताल ने गाड़ी बंद का एलान किया है कि सभी गाड़ियाँ बंद रहेंगी।'' यह कहकर दुकानदार ने डॉ. मदन के हाथ में एक परचा थमा दिया। डॉ. मदन ने परचा पड़ा। परचे में लिखा था, ''सभी भाई-बहनों को जोहार! इस भारत देश में हम सभी आदिवासी, हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध भाई-भाई हैं। हम सभी भारत माता की संतान हैं, हम सभी भारत भूमि के भारतवासी हैं। हमारी न कोई जात है, न छुआ-छूत, न भेद-भाव। इस देश में हम लोगों को कोई नहीं बाँट सकता, इसलिए सभी भारतवासियों को नाम के साथ गोत्र नहीं लिखना चाहिए। इस बात को सरकार से मनवाने के लिए आज गाड़ी बंद रहेगी।'' निवेदक— ''पदवी उन्मूलन संघ, वनांचल।''

संताली रचनाकार कृष्ण चंद्र टुडू का जन्म 1952 में हुआ। इनके नाटक, कहानी, कविताएँ, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची 834008 (झारखंड)

अनु. स्वयं

कुछ देर बाद, मायनो भी उसी झोराडीह बस स्टैंड पर आई। डॉ. मदन को देखते ही मायनो ने उससे कहा, "क्या आप लोगों को अभी तक गाड़ी नहीं मिली?" दुखी मन से डॉ. मदन ने कहा, "हाँ, अभी तक तो गाड़ी नहीं मिली। शायद आज गाड़ी बंद है!"

यह सुनते ही झट से मायनो ने कहा, "तब, तो मैं मामा के घर नहीं जाऊँगी। घर वापस चली जाऊँगी।" उसकी बात सुनकर डॉ. मदन ने कहा, "तुम तो अपने घर लौट जाओगी लेकिन मैं कहाँ जाऊँ?"

मायनो ने कहा, "मुझे क्या मालूम, आप कहाँ जाएँगे? कहाँ रहेंगे? मैं कैसे बता सकती हूँ?"

डॉ. मदन ने कहा, "क्या आप मुझे अपने घर ले चलोगी? कैसा रहेगा?"

"यह कैसे हो सकता है? यदि आप मेरे साथ मेरे घर जाएँगे तो समाज के लोग मुझे क्या कहेंगे? क्या सोचेंगे? समाज के सामने मैं आपका क्या कहकर परिचय दूँगी?" मायनो ने कहा।

मायनो की बात सुनकर डॉ. मदन बोला, "जो मन में आए, वही कह देना।"

मायनो बोली, "एक उपाय हो सकता है।"

"कौन-सा उपाय?", डॉ. मदन ने उत्सुकता से पूछा।

"उपाय तो आपके परिचय का ही ढूँढ़ना है। आपका परिचय मैं एक कुटुंब के रूप में, एक नौकर के रूप में या एक पति के रूप में दे सकती हूँ। अब आप ही बताइए समाज के सामने मैं आपका क्या परिचय दूँ?"

मायनो की बात सुनकर डॉ. मदन चुप रह गया। वह मन-ही-मन सोचने लगा, "यह मेरी अंतिम परीक्षा है।" एम.बी.बी.एस. परीक्षा में अव्वल लड़का, आज मायनो के प्रश्न का उत्तर देने के लिए सोचने के लिए मजबूर था। अंततः बोला, "मायनो, मैं तो तुम्हारा कोई रिश्तेदार नहीं हूँ। इसलिए तुम समाज के सामने एक कुटुंब के रूप में मेरा परिचय नहीं दे सकती। बिना रिश्तेदारी किए कुटुंब कहलाना समाज के लिए एक कलंक है। और फिर मैं तो पढ़ा-लिखा लड़का हूँ। मेरे पास डॉक्टर की डिग्री भी है। एक नौकर के रूप में मेरा परिचय देने का मतलब है, डिग्री का अपमान करना।"

अब मायनो का अंतिम प्रश्न बचा था, "पति के रूप में परिचय देना।" कुछ देर सोचने के बाद डॉ. मदन ने कहा, "मायनो, तुम मेरे दिल की बात को जानना चाहती हो तो सुनो, मैं तुम्हें अपनी अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार करना चाहता हूँ। तुम मेरा परिचय एक पति के रूप में दे सकती हो।"

डॉ. मदन की बात सुनते ही मायनो ने कहा, "बिना विवाह किए, आप पति कैसे हो सकते हैं? आप तो पढ़े-लिखे हैं, आपके पास डिग्री है, लेकिन मेरे पास कोई डिग्री नहीं है। फिर भी मुझे मालूम है बिना विवाह किए कोई पति-पत्नी नहीं हो सकता। यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं तो चलिए उस पीपल के पेड़ के पास, वहाँ एक देवस्थल है। वहाँ एक पुजारी भी है। पुजारी हमारा विवाह करा देंगे और भगवान को साक्षी मानकर आप मेरी माँग में सिंदूर भर दीजिए।"

ऐसी अनेक बातें हुईं। अंततः वे दोनों पीपल के पेड़ के पास स्थित देवस्थल गए और पुजारी से कहा, "पुजारी जी, आप हम दोनों का विवाह करा दीजिए।"

पुजारी ने कहा, "ठीक है—मैं तुम दोनों का विवाह करवा देता हूँ।"

तीनों ने देवालय में प्रवेश किया। पुजारी ने डॉ. मदन एवं मायनो को एक पंक्ति में खड़ा किया तथा दोनों के हाथों में अरवा चावल तथा फूल की मालाएँ रख दीं। पुजारी ने देवस्थल पर फूल चढ़ाए, पूजा-अर्चना की। पूजा समाप्त करने के बाद पुजारी ने डॉ. मदन एवं मायनो को अपने-

अपने गाँव, नाम, गोत्र, जाति तथा धर्म के बारे में पूछा। यह बात सुनते ही डॉ. मदन ने कहा, "पुजारी जी, आप तो इस देवालय के पुजारी हैं। आप तो ब्राह्मण हैं। आपके पास तो धर्म-अधर्म की बात होनी चाहिए थी लेकिन आप हमसे जाति और गोत्र का नाम पूछ रहे हैं? यह कितने आश्चर्य की बात है। इस संसार में धर्म, जाति के नाम पर हम और कितने दिन तक लड़ते-भिड़ते रहेंगे?" डॉ. मदन ने मायनो से कहा, "मायनो, यहाँ से चलो। इस पुजारी के सामने हमारा विवाह नहीं हो सकता चूँकि यहाँ अभी भी जात-पात, छुआ-छूत, धर्म की बातें होती हैं। चलो, हम दोनों अपने गाँव चलें। वहीं हमारे गाँव के प्रधान एवं पंच के सामने विवाह होगा।"

मायनो बोली, "हाँ आपकी बात सही है लेकिन इस देवता के सामने अपने हाथ में लिए हुए अरवा चावल तथा फूल-मालाएँ हम कैसे

...दें। मैं इस भगवान को साक्षी मानकर तुम्हारे ...ने में फूल माला पहना रही हूँ। मैं तुम्हें पति ...रूप में स्वीकार करती हूँ।'' यह कहकर ...यनो ने डॉ. मदन के गले में फूल माला पहना ...। तब डॉ. मदन ने भी मायनो के गले में फूल ...ला डाल दी। भगवान तथा पुजारी को प्रणाम ...र दोनों ने विदाई ले ली और वहाँ से वे लोग ...ले गए।

रातों-रात दोनों, जंगल की पगडंडी के रास्ते ...ने राजदोहा गाँव पहुँच गए। सुबह होते ही डॉ. ...दन मायनो को अपने घर ले आया। डॉ. मदन ...ने अपनी माँ को मायनो के साथ अपने विवाह ...की सारी घटना बताई।

उसकी माँ ने डॉ. मदन की बात सुनकर ...कहा, ''बेटा, जो काम तुम्हारे पिता के साथ ...मुझे करना चाहिए था, उस काम को तुमने पूरा ...किया, यह कितनी ख़ुशी की बात है। फिर भी ...मैं जानना चाहती हूँ बेटा कि बहू कौन-से गाँव ...की है? वह किसकी बेटी है?''

डॉ. मदन ने कहा, ''माँ, लड़की सगाडीह ...गाँव की है, इनके पिता काफ़ी धनवान हैं, इनके ...घर अनेक गाय-बैल हैं। चारों ओर खपराली ...घर हैं, ज़मीन-जायदाद भी काफ़ी है।''

डॉ. मदन की बात सुनकर उसकी माँ ने ...कहा, ''क्या लड़की साधूबाबा घर की है?''

''हाँ माँ, लड़की साधूबाबा की छोटी बेटी ...है।'' यह सुनकर रोते हुए उसकी माँ ने कहा, ...''बेटा तुमने क्या किया! ये लोग तो गोंडवार ...गोत्र के हैं, गोंडवार गोत्र से हमारे टुडू गोत्र का ...विवाह नहीं होता।''

माँ बेटे की यह बात सुनकर मायनो की ...आँखों में आँसू आ गए। उसने आँचल में अपना ...मुँह छुपा लिया।

तब डॉ. मदन दौड़कर मायनो के पास गया और बोला, ''मायनो कहो, माँ ने जो बात कही है क्या वह सच है?''

तब मायनो ने रोते हुए कहा, ''हाँ, यह बात सच है, हम लोग संताल समाज में गोंडवार गोत्र के हैं। गोंडवार गोत्र से समाज में जाने जाते हैं। इसलिए हम लोगों से अन्य गोत्र वाले विवाह संबंध नहीं जोड़ते। आप तो पढ़े-लिखे हैं। मैं आप से दो प्रश्न पूछती हूँ। पहला प्रश्न है—संताल समाज में कितने गोत्र हैं और उनके नाम क्या-क्या हैं? समाज में बेसरा के साथ किस्कू, टुडू के साथ बेसरा तथा चेंड़े के साथ टुडू का विवाह संबंध क्यों नहीं होता है? दूसरा प्रश्न है—संतालों का जन्म कहाँ और कैसे हुआ था? मनुष्य का जन्म, हंस-हंसनी चिड़िया से हुआ था या मुरूमएगों से या अन्य जीव जानवरों से?'' मायनो के इन प्रश्नों को सुनकर डॉ. मदन की माँ ने कहा, ''बेटा मदन, बहू आज जो प्रश्न तुमसे पूछ रही है, ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। बेटा हमने तुम्हें बड़ी लाचारी तथा कष्ट से पढ़ाया है। इसलिए मैं तुम्हें फिर से पढ़ने के लिए तथा शोध के लिए इजाज़त तथा अवसर देती हूँ और शोध करके ये प्रमाणित करो कि समाज में ऐसी अवस्था कब तक बनी रहेगी? ऐसी कुरीतियाँ समाज के लिए ही नहीं बल्कि पूरे विश्व के लिए अभिशाप हैं। बेटा यही तुम्हारी अंतिम परीक्षा है।''

माँ ने फिर कहा, ''बेटा, जाओ बहू को मेरे सामने ले आओ! आज समाज के सामने बेटा और बहू के रूप में मैं तुम दोनों के पाँव धोऊँगी और गोंडवार की बेटी को बहू के रूप में स्वीकार करूँगी।''

इन बातों को सुनकर गाँव के प्रधान तथा पंच ने माँ की बातों को सराहा। माँ ने डॉ. मदन और मायनो के पैर धोए और दोनों को घर के अंदर ले गई तथा सुखमय संसार बसाने के लिए आशीर्वाद दिया।

सुभाष शर्मा

कुदेशन*

तब टुनमुनिया फूट-फूटकर रोने लगी। उसके मुँह से निकला, "हाय भगवान! हाय रे करम! ई कोखी के कवन दोख भइल जे इ दिन देखइला भगवान! इ कोखिया, इ दुधवा के इहै मोल मिलल? पथरा गइल छाती फाटत काहे नइखे भगवान!" यह कहते-कहते और आँसू पीते-पीते टुनमुनिया बेहोश हो गई।

उस साल ऐसी घनघोर बारिश नेपाल और उसके सीमावर्ती इलाक़ों में हुई कि पूरा इलाक़ा डूब गया। पानी में घर डूबा, खेती डूबी, तन डूबा, मन डूबा और डूब गया समूचा गाँव-जवार। सरकार ने राहत की घोषणा की। नेताओं और अफ़सरों ने अपनी-अपनी तोंद पर हाथ फेरा। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र तैयार किए, जैसे कोई पहलवान अपना अखाड़ा तैयार करता है— 'अंधा बाँटे रेवड़ी अपने को चीन्ह-चीन्ह' की तर्ज़ पर राहत सामग्री बाँटी गई। कुछ लोगों को राहत के नाम पर कुछ धन मिला, कुछ को अनाज मिला, कुछ को कपड़ा मिला और कुछ को कुछ नहीं। कोई वाह कहता, तो कोई आह। बाढ़ के लिए कुछ लोग इंद्र देवता को कोस रहे थे, कुछ नेपाल के मत्थे पर सारा दारोमदार डाल रहे थे, कुछ केंद्र सरकार की अकर्मण्यता पर भड़ास निकाल रहे थे और कुछ सूबे की सरकार तथा प्रशासन को दोषी ठहरा रहे थे। भीखनपुर में कुछ पुराने ख़याल के लोग भी थे जो इस नरक के लिए अपनी तक़दीर को कोस रहे थे। एक बुजुर्ग टेवाराम ने कहा, "होइहें सोइ जो राम रचि राखा।"

सो दसवीं पास राम भरोसे एक दिन अपने साथियों से विचार-विमर्श करने लगा, "पानी से घिरे हुए हम लोग क्या रास्ता अख़्तियार करें? कहाँ जाएँ, क्या करें?" क़रीब एक हफ़्ते तक वे सभी सोचते-विचारते रहे। राम भरोसे ने ऊहापोह के बादलों को छाँटते हुए सलाह दी, "अब हमें भीखनपुर से बाहर निकलना ही होगा। सिर्फ़ तक़दीर को कोसने से काम नहीं चलेगा। सरसों से अपने आप तेल नहीं निकलता, उसे कोल्हू में पेरना पड़ता है। गोसाईं जी ने कहा है— *कर्म प्रधान विश्व करि राखो*। सो कर्म करना होगा

सुभाष शर्मा का जन्म 1959 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह, दो कहानी-संग्रह तथा अन्य विधाओं की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : ए-3/2, राजवंशी नगर, बेली रोड, पटना 800023
फ़ोन : 0612-2291013

* दूसरे प्रदेश की स्त्री

..." उसके दिमाग़ में इससे ज़्यादा कुछ नहीं
कोई धुँधला नक़्शा नहीं था कि किस ढर्रे से
...जाएँ। लेकिन वह अपने जीवन में एक बार
...की राजधानी गया था। स्कूल की ओर से
...र, तारामंडल, चिड़ियाघर वग़ैरह देखने गया
...मगर जब रामभरोसे जैसे कुछ नौजवान एक
...आगे बढ़ने की बात करते, तो बुढ़वन उसे
...पीछे खिसका देते। बाहरी दुनिया में फैले
...-उचक्कों, छल-फ़रेब, दारू-नशा के गिरोह
...ह के ऐसे क़िस्से वे सुनाते कि कई नौजवानों
...दिल दहल जाता। फिर कोई ज़बर्दस्ती कोठों
...औरतों को खींच ले जाने की घटना बयान
...ता मानो उसकी आँखों के सामने वह घटना
...ी हो। यह घोरमट्ठा दस दिनों तक चलता रहा
...र बाढ़ ने भागने का नाम नहीं लिया।

...ब राहत की चीज़ें भी ख़त्म हो गईं तो
...भरोसे की अगुवाई में कई नौजवानों ने बाहर
...ने का फ़ैसला एक दिन कर लिया। टुनमुनिया
...भी हुँकारी भरी और बोली, "हाथ पे हाथ धरे
...काम ना चली। हम मानुष हई, जनावर ना।"
...ब रामभरोसे ने बाढ़ के पानी में बहते हुए
...मुनिया को बाहर निकाला था, तब से वह
...से मन-ही-मन पूजती है। धीरे-धीरे पूजा से
...म की पंखुरी निकल आई। टुनमुनिया के घर
...ं उसकी बूढ़ी माँ के सिवाय कोई नहीं था।
...र दोनों की मुलाक़ात नज़रों तक सीमित थी।
...न पच्चीस औरत-मर्द-बच्चे रेलगाड़ी से किसी
...ह सूबे की राजधानी पहुंच गए। उस समय
...कार बाढ़ से घिरे लोगों को बाहर पहुँचाने में
...द कर रही थी, सो टिकट लेने का झंझट नहीं
...।

...उन लोगों ने प्लेटफ़ॉर्म नंबर सात पर अपना
...ा जमा लिया। रामभरोसे पूछताछ कार्यालय
...ं पता करने गया कि दिल्ली और पंजाब के
...र कोई गाड़ी कब आएगी। उसने अपनी पढ़ाई
...ं दौरान जाना था कि पंजाब में उन्नत खेती
होती है और वहाँ के किसान ख़ुशहाल हैं। वहाँ
पता चला कि हावड़ा-अमृतसर एक्सप्रेस रात में
डेढ़ बजे आएगी।

सो दाना-पानी कर लेने के बाद रामभरोसे ने सभी साथियों को सोच-विचारकर बताया, "एक आदमी का चालू किराया दो सौ रुपए है। कुल बारह मर्द, आठ औरतें और पाँच बच्चे हैं। बच्चों के लिए आधा टिकट हम नहीं लेंगे क्योंकि बीस सवारियों के पूरे टिकट में ही चार हज़ार रुपए लगेंगे। हमारे पास कुल मिलाकर केवल डेढ़ हज़ार रुपए हैं।" उसने जोड़ा-गाँठा। उसने कभी बाहर बेटिकट यात्रा नहीं की थी सो उसे ऊभ-चूभ हो रही थी कि पकड़े जाने पर क्या गति होगी? फिर उसने सोचा, "जेल की चक्की पीसनी होगी। बदन पर कोड़े पड़ेंगे और सोने का जुगाड़ भी नहीं होगा। मगर रूखा-सूखा कुछ तो मिलेगा? भीखनपुर में तो सूखी रोटी भी नहीं मिल सकती।" आठों औरतों के लिए ही सोलह सौ रुपए की ज़रूरत थी। औरतों को बेटिकट ले जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। यदि वे बेटिकट पकड़ ली जाएँगी, तो जेल जाएँगी और उन पर न जाने क्या-क्या जुल्म होंगे। टुनमुनिया के पास एक पाई नहीं थी। मगर उसके गले में चाँदी की एक हल्की ज़ंजीर थी। वह रामभरोसे की पशोपेश को ताड़ गई और बोली, "हमार इ निहोरा बा। एकरा के मत ठुकराई। जिनगी रही त ढेर गहना बनी! गहना तो जिनगिए ख़ातिर होला। सांसत में जिनगी पड़ जाय त इ सब ना सोचल जाला।" रामभरोसे ने अंदाज़ लगाया कि कम-से-कम तीन-चार सौ रुपए में वह बिक जाएगी। राजधानी होटल के पास पान की एक सजी हुई दुकान खुली थी। आधे घंटे तक मोल-तोल करने के बाद पान दुकानदार ने दो सौ रुपए ज़ंजीर के बदले उसे दे दिए।

अब रामभरोसे ने गणित लगाना शुरू किया, "यदि हम आठ टिकट ले लेंगे, तो सिर्फ़ एक

सौ रुपए बचेंगे। तो रास्ते भर तीस-बत्तीस घंटों में हम लोग क्या खाएँगे ? सो पाँच टिकट अमृतसर के लिए, तीन टिकट मुगलसराय के लिए और दस प्लेटफ़ॉर्म टिकट ले लेते हैं।'' क़रीब बारह सौ रुपए ख़र्च हो गए। डेढ़ बजे रात में धड़धड़ाती हुई हावड़ा-अमृतसर एक्सप्रेस प्लेटफ़ॉर्म नंबर सात पर आ गई। सभी लोग अपनी-अपनी गठरी-मोटरी लेकर और बच्चों को पकड़े हुए चालू डिब्बे में घुस गए। कुछ मिनटों में ही गाड़ी सीटी बजाते हुए चल दी। एक साथी से वह फुसफुसाया, ''ज़्यादा भीड़ न होने से टिकट चेकिंग में बेटिकट मुसाफ़िरों के पकड़े जाने की ज़्यादा गुंजाइश होती है। ज़रा सँभलकर रहना।'' तभी टुनमुनिया उसकी ओर ताकने लगी। दोनों की आँखें मिलीं, तो पलकें झपकने का नाम ही न ले रही थीं। मगर रात में उन्हें कहीं भी टी.टी. का दर्शन नहीं हुआ।

कई बार चढ़ते-उतरते वे लोग किसी तरह अमृतसर पहुँच गए। रास्ते में उन लोगों ने पेट की आग बुझाने के लिए भूँजा फाँककर पानी पी लिया था। प्लेटफ़ॉर्म से बाहर निकलने के बाद टुनमुनिया को उल्टी होने लगी। रामभरोसे का जी घबरा गया। वहाँ उसकी दवा का इंतज़ाम नहीं हो सकता था। मालूम हुआ कि उसने दो दिनों से कुछ नहीं खाया था, सिर्फ़ बार-बार पानी पी लेती थी। उसे ज़मीन पर लिटाकर हवा की जाने लगी। रामप्यारी ने उसका मुँह धोया। फिर उसने उसके सिर के बाल खोल दिए जिससे हवा लगे। थोड़ी देर में उसकी तबीअत ठीक हो गई। फिर एक अधेड़ सरदार गुरिंदर सिंह ट्रैक्टर लेकर वहाँ पहुँच गए। उन्होंने इन लोगों से पूछा, ''क्यों जी, तुम लोग मेरे यहाँ काम करोगे ?''

''बिलकुल मालिक !'' रामभरोसे के मुँह से निकला। उसे लगा कि बिल्ली के भाग्य से सिकहर टूटने वाला है।

''मज़दूरी क्या लोगे ?'' उन्होंने पूछा।

''आप क्या देंगे ?'' रामभरोसे ने उनका मन टटोला, ''बाज़ार में मज़ूरी का रेट तो आपको भी मालूम ही है ?''

''साठ रुपए रोज़।'' सरदार जी ने कहा।

और रामभरोसे चौंक गया, ''साठ रुपए दिन भर का ?'' अपने गाँव में उन्हें पचास रुपए से ज़्यादा मज़दूरी कभी नहीं मिलती थी। सो वह भीतर-ही-भीतर मगन था। सरदार जी ने सोचा कि रेट कम होने से शायद उसे मंजूर नहीं है। सो उसने अपनी मूँछे ऐंठते हुए कहा, ''देखो जी! तुम लोगों के ठहरने के लिए भी बंदोबस्त कर देंगे। वाहे गुरु की कृपा से खेत पर ही मेरा ट्यूबवेल है। वहाँ नहाने-धोने और बिजली की भी दिक़्क़त नहीं होगी।'' और उसने उसको स्वीकार कर लिया। सरदार समझ गया कि पच्चीस लोगों के झुंड का अगुआ रामभरोसे ही है। सो उसने रामभरोसे को अपनी सीट के पास बिठा लिया। उसने बाक़ी सबको अपने ट्रैक्टर में पीछे की तरफ़ बिठा लिया और रवाना हो गया।

सरदार जी ने अपने फ़ार्म पर उन सबको उतार दिया। वहाँ छप्पर की बड़ी कुटिया-सी थी जिसमें पहले मज़दूर रहा करते थे। बग़ल में सरदार जी की ट्यूबवेल थी। दूसरी ओर आम का बड़ा बग़ीचा था। अगले दिन से रोपनी का काम उन्हें शुरू कर देना था, इसलिए सरदार गुरिंदर सिंह ने पाँच किलो भुने हुए चने और दो किलो गुड़ लाकर उन्हें खाने को दे दिए। रामभरोसे ने सबको चना-गुड़ खाने के लिए बाँट दिया। एक घंटे के बाद सरदार जी फिर आए और एक हज़ार रुपए एडवांस दे गए। उन्होंने पास की दुकान भी उन सबको बता दी। सो वे लोग वहाँ से झटपट राशन-पानी ख़रीद लाए। दोपहर को गोंइठा जलाकर, आटा गूँधकर, आलू पकाकर लिट्टी-चोखा तैयार किया गया। सभी ने जमकर खाया। तब सबके शरीर में फुर्ती आई और आँखों की रोशनी तेज़ हो गई।

अगले दिन से शुरू हो गई धनरोपनी। बच्चों को छोड़कर सभी औरत-मर्द रोपनी में जुट गए। रामभरोसे ने टुनमुनिया को रोपनी करने के बजाय एक-दो दिन आराम करने को कहा, तो वह बोली, "बिना काम के कै दिन चली? सुतले पेट भर जाए के रहित त परदेस में कोई काहे आइत। जांगरचोर हम नइखी। हो गइल आराम। अब बताईं कवन काम करे के बा।" एडवांस तो पहले ही दिन पट गया, बाक़ी मजूरी भी तुरंत मिल गई। खड़ी मजूरी, चोखा काम। सारे औरत-मर्द भीतर-बाहर से ख़ुश रहने लगे। पंद्रह दिनों में सरदार जी के यहाँ की धनरोपनी ख़त्म हो गई। सो उनकी राय-सलाह से वे लोग दूसरों के यहाँ भी रोपनी आदि का काम करने लगे। फिर निराई और सिंचाई का काम मिला। फिर खाद और कीटनाशक दवाओं के छिड़कने का काम शुरू हुआ।

कीटनाशकों से अनाज में ज़हर फैलने की बात सुनकर रामभरोसे का माथा ठनका। उसने अपने सभी साथियों को बताया, "हम लोग जो कुछ भी बाज़ार से ख़रीदते हैं और खाते हैं उसमें ज़हर मिला होता है। यानी हम ज़हर महँगा ख़रीदते हैं, ज़हर खाते भी हैं और कई रोगों को जन्म देते हैं।" मगर ज़्यादातर लोग कहने लगे, "अब ज़हर-माहुर के बात हमनी के नइखे बुझात। सोचे के बात बा कि पेट कइसे भरी। गाँवे रहला पर कितना आदमी बाँस घाट पहुँचल जाइत। बेमारी में डकटरवा देह के कपड़वो बेचवा देले रहतन। इहाँ पेट में अन मिले, देह पर कपड़ा, इहे बहुत बा।" रामभरोसे ने भी उन सबकी बात ऊपर से मान ली मगर उसके भीतर-ही-भीतर कुछ सुलगने लगा। उसकी तरफ़ सिर्फ़ टुनमुनिया थी लेकिन दूसरी ओर तेइस लोगों का बहुमत था। लोकतंत्र में जिसके जितने हाथ, उसकी उतनी ऊँची आवाज़ होती है।

जब उनके खाने-पीने, रहने, पहनने-ओढ़ने का चौचक इंतज़ाम हो गया, तो उन्हें अपने गाँव वालों की याद बुरी तरह सताने लगी—उनकी हर साँस में भीखनपुर होता था। सो उन लोगों ने टुनमुनिया के प्रस्ताव पर गाँव के बुज़ुर्ग बच्चू राम के नाम पर तीन हज़ार रुपए का मनीऑर्डर भेज दिया और लिख दिया कि अपने टोले के सभी घर-परिवारों में उसे बराबर-बराबर बाँट दें। उन सबने सोचा कि अपने गाँव-जवार को याद करने का यहीं सच्चा तरीक़ा है, चिट्ठी से झूठमूठ की तसल्ली देने का कोई मतलब नहीं।

कुछ हफ़्तों के बाद उन लोगों ने एक रेडियो ख़रीद लिया और सरदार जी के ट्यूबवेल से मिले बिजली कनेक्शन से रेडियो भी चलने लगा। सो उन्हें दुनिया-जहान की घटनाएँ रोज़ाना मालूम होने लगीं। फ़िल्मी गीत, लोक गीत वग़ैरह भी वे आसानी से सुनने लगे। उधर दुधारू गाय-भैंसों के चारा-पानी की व्यवस्था भी उनके ज़िम्मे आ गई। धीरे-धीरे सरदार जी के फ़ार्म पर क़रीब पचास गाय-भैंसें हो गईं जिन्हें चारा देना, जगह बदलना, नहलाना-धुलाना वग़ैरह उनकी ड्यूटी में शामिल हो गया। वे जर्सी गायें और मुर्रा भैंसें एक-एक बाल्टी दूध देती थीं। उनका दूध दुहने के लिए तीन मज़दूर अलग से थे। सरदार जी उन लोगों को रोज़ाना मुफ़्त में छाछ देते थे। सरदार जी खाने-पीने के बेहद शौक़ीन थे। वह इन लोगों को भी जमकर काम करने और छककर खाने को कहते थे। सरदार जी मस्त-मौला थे।

क़रीब दो महीने बाद रामभरोसे ने टुनमुनिया को देखा तो उसमें ग़ज़ब का निखार आ गया था जैसे पुराने गहने साफ़ करने पर चमक उठते हैं। अब वह दूसरी महिलाओं के साथ पाउडर, महकउवा तेल वग़ैरह लगाने लगी। दुकान नज़दीक ही थी सो सिंगार के सारे सामान आसानी से उन्हें मिल जाते थे। अब झुंड की महिलाएँ पंजाबी महिलाओं से मिल-जुलकर दिल बहला लेतीं। शुरू में पंजाबी भाषा न समझने की समस्या

थी मगर धीरे-धीरे प्रेम-रस ने उन मेंड़ों को काटकर एक में मिला दिया था जिससे कई दिलों के पानी का प्रवाह बढ़ गया था।

एक शांम सरदार गुरिंदर सिंह ने रामभरोसे को अकेले में बुलाया। फिर वह मुस्कुराने लगे। उसने पूछा, ''सरदार जी! आपकी मुस्कान का क्या राज़ है?''

''देख रामभरोसे !मेरी ज़िंदगी तेरे भरोसे है। यार, तू चाहे तो मेरी ज़िंदगी बना दे, ना चाहे तो बिगाड़ दे।'' सरदार जी ने धीरे-धीरे कहा जिससे बग़ल के पेड़-पौधे भी यह गुफ़्तगू न सुन सकें। उन्हें हवा की तेज़ गति और पत्तों की सरसराहट पर भी शक था।

''यह कैसे हो सकता है? हम लोग तो आपके अधीन रहकर मज़ूरी-धतूरी करते हैं। सो आप ही हम लोगों की ज़िंदगी बना या बिगाड़ सकते हैं। सरदार जी, कहीं किसी ने कुछ गड़बड़ तो नहीं की? यदि हमारे किसी आदमी या औरत से कोई ग़लती हो गई हो, तो मैं माफ़ी माँगता हूँ।'' रामभरोसे ने हाथ जोड़ते हुए कहा। सरदार जी ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में थाम लिया और आहिस्ता-आहिस्ता दबाने लगे। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। कुछ साल पहले तब पंजाब में आतंकवादियों का जलवा था, उसकी याद आते ही वह डर गया। लेकिन ऐसी विपरीत परिस्थिति में वह कुछ कर भी नहीं सकता था। अब तो बकरी का गला बाघ की पकड़ में था। डर से उसकी आवाज़ मिमियाहट में बदल गई थी। उसे लगा कि मैं सचमुच बकरी बन गया हूँ। वह अपना माथा, कान, नाक, मुँह, पेट, हाथ, पैर वग़ैरह बार-बार छूने लगा। उसकी इस अजीब हरकत का पीछा सरदार जी की नज़रें करने लगीं। वह ताड़ गए और उसे सीने से लगाते हुए बोले, ''क्यों रामभरोसे! तू मुझसे डर गया? मैं तो तेरा भाई हूँ, बड़ा भाई। अब बड़ा भाई छोटे भाई से कोई मदद माँगेगा, तो क्या वह मुकर जाएगा या डर जाएगा? देखो जी, मेरी घर वाली नहीं है। वह कुछ साल पहले बीमारी से मर गई।'' सरदार जी यह कहकर चुप हो गए मानो तेज़ गति से चल रही गाड़ी में अचानक ब्रेक लगी हो।

''तो दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेते, सरदार जी?'' रामभरोसे ने कहा।

''मगर रामभरोसे! अब कहाँ शादी! मेरे घर-परिवार में और कोई नहीं है। अब कोई औरत घर में बिठा लो । जब उसके बच्चा हो जाए तो उसे पालो-पोसो। ऐसे वह हमारी औलाद हो जाएगी। फिर वह औरत अपने घर जाए। हाँ, इसके एवज़ में मैं उसे इतनी दौलत दे दूँगा कि वह ज़िंदगी भर किसी चीज़ की मोहताज नहीं होगी। हमारे यहाँ इसे कुदेशन प्रथा कहते हैं...''

''सरदार जी! अजीब रिवाज है आपके यहाँ। महाभारत की द्रौपदी से भी ज़्यादा बदतर हालत होगी उस बेचारी की। जोरू को प्लास्टिक की गुड़िया मानकर उसके साथ ऐशो-आराम करो और फिर फेंक दो जैसे आजकल स्याही ख़त्म होते ही क़लम को कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है। ग़ज़ब का बाज़ार है—इस्तेमाल करो और फेंक दो। लेकिन हमारे मुल्क में ऐसा-वैसा रिवाज नहीं है वरना...'' उसने कहा।

''देख, रामभरोसे भाई! तू इसे मज़ाक़ में मत टाल यार, मेरा मखौल मत उड़ा। मेरी मदद कर इसमें। यह मेरी ज़िंदगी का सवाल है।'' सरदार जी ने फिर बीरबल की तरह पहेली बुझाई। रामभरोसे हँसने लगा ठठाकर। तभी टुनमुनिया ने उसे खाने के लिए ज़ोर से आवाज़ दी। उसने सरदार जी से कहा, ''अभी चलता हूँ, सरदार जी! मैं नहीं पहुँचूँगा तो सारे लोग परोसा हुआ भोजन शुरू नहीं करेंगे। आपके मज़ाक़ से ख़ूब मज़ा आया। वो क्या कहते हैं, कुदेशन कि कुलच्छन? वाह रे पंजाब! हरित क्रांति खेती में ही नहीं हुई, औरतों में भी हो गई। क्यों न हो,

आख़िर औरत भी तो एक खेती ही होती है! कौन उसे सँभालकर नहीं रखता? वाह री धरती, वाह री औरत!'' और वह हाथ से इशारा करते हुए सरदार जी को विचारों के गहरे दरिया में अकेले छोड़कर अपनी राम कुटी में खाना खाने चला गया।

वहाँ जाते ही वह हँस-हँसकर सारा वाक़या सभी लोगों को सुनाने लगा। सभी लोग ठठाकर हँसने लगे मगर टुनमुनिया बिलकुल गंभीर और ख़ामोश थी। रामभरोसे ने उसकी ओर देखा, तो वह उबल पड़ी, ''ई मरद लोगन लुगाई के सिरिफ खेती समझे लें। पहिले तैयार करे लें, फिर काट लें। झाड़ू मारे इ रेवाज के। कवन अइसन मेहरारू होखी, जे आपन कोखी के जामल लइका के दे दी? लाखों रुपया पर हमनी के इहाँ के मेहरारू कोख न बेची। ई मरद से ऊ मरद, कवनो पतुरिये नू जा सकेले। लइका जनमावे के हमनी के कारखाना नइखी जा। मेहरारू जनावर न होले कि बच्चा आउर दूध दुह के हटिया में बेचू बेच दे।''

वह टुनमुनिया का रौद्र रूप देखकर अवाक् था। वह चकित था कि अनपढ़ टुनमुनिया इतनी गहरी समझ की बातें कैसे कर रही है? वह काफ़ी देर तक ग़ुस्से में थी। खाना छोड़कर वह अपने बिस्तर पर लेट गई। दूसरी औरतों के समझाने-बुझाने पर ही टुनमुनिया ने देर रात में खाना खाया। रामभरोसे रात भर सोचता रहा।

काफ़ी समय के बाद धान पक गया था। उसकी सुनहली बालें ऐसे लटक रही थीं मानो स्त्रियों के कानों की बालियाँ हों। अगले दिन वे सभी धान की कटाई में लग गए। धूप कुछ ज़्यादा कड़ी थी मगर समूह में होने तथा औरतों के कटनी गीत गाने के आगे धूप की एक नहीं चलती थी। टुनमुनिया को दर्जनों गीत याद हैं जो बुआई-निराई-कटाई के समय गाए जाते हैं। सो वह झूम-झूमकर गा रही थी और उसी रफ़्तार से वह धान के पौधे भी काट रही थी—

मति बोलूँ सैंया, रात अँजोरिया, मति बोलूँ सैंया / आवे द अन्हरिया, मति बोलूँ सैंया / अँगुरी की बिछिया है लाल आउर करिया / आवे द अन्हरिया, मति बोलूँ सैंया॥

उसकी आवाज़ का जादू रामभरोसे के सिर पर ही नहीं, सरदार जी के सिर पर भी बोलने लगा। ''इतने अच्छे-अच्छे गीत मैंने आज तक पंजाबी में नहीं सुने।''

कटनी ख़त्म होने के बाद शाम को सरदार गुरिंदर सिंह ने रामभरोसे को अपने पास इशारे से बुलाया। उनका इशारा पहले आँख से था, फिर हाथ से। वह एक थर्मस में चाय लेकर आए थे। उन्होंने ख़ुद चाय पी और उसे भी पिलाई। गरमागरम चाय पीने से रामभरोसे की कटनी की थकावट छू मंतर हो गई। फिर वह बोले, ''देख, रामभरोसे भाई! मेरी नैया तो यही टुनमुनिया है। तू उसकी गोद में मुझे बैठा दे, तो मैं तुम्हारा अहसान ज़िंदगी भर नहीं भूलूँगा। कई हफ़्तों से मैं उसके बारे में सोच-सोचकर पागल हो गया हूँ। उसे जितना ज़्यादा भूलने की कोशिश करता हूँ, उतना ही मैं अपने को उसके क़रीब पाता हूँ। मैं तेरे से पक्का वादा करता हूँ कि उसे कोई तकलीफ़ नहीं होगी। मैं उसके नाम पच्चीस हज़ार रुपए फ़िक्स्ड डिपॉजिट में जमा कर दूँगा और अनाज-पानी, कपड़ा वग़ैरह मुफ़्त देता रहूँगा। सिर्फ़ एक साल तक वह मेरे साथ ज़िंदगी गुज़ार दे और मुझे एक औलाद दे दे।'' ये शब्द रामभरोसे के दिल में बाण की तरह सीधे चुभ गए। उसका माथा झनझना उठा। जो बात वह अपने लिए टुनमुनिया से नहीं कह सका, उसे दूसरे के लिए कैसे कह पाएगा? जो दूसरी औरत के कुदेशन बनने पर बिदक गई हो, उसे ख़ुद कुदेशन बनने के लिए वह कैसे कह सकेगा? भयंकर उधेड़बुन में उसके मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला, ''सरदार जी! मैंने आपका नमक खाया है, इसलिए उसे चुकाने की कोशिश करूँगा।''
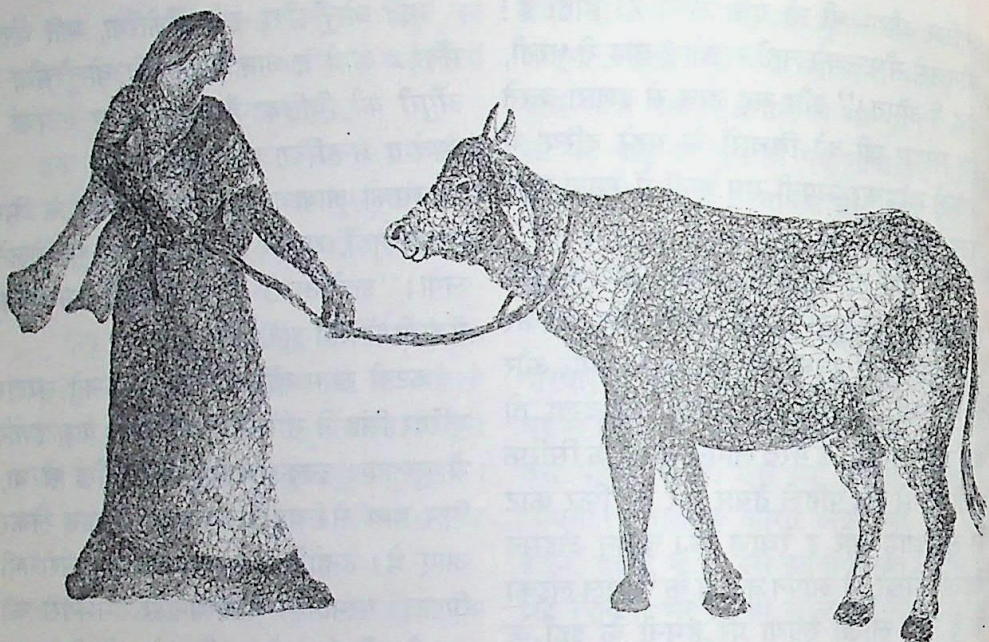
फिर वह वहाँ से चला गया। मगर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि टुनमुनिया से वह यह बात कैसे कहे। उसने सोचा—यह सुनते ही गरम तवे पर पड़ी पानी की बूँद की तरह वह छनछना उठेगी, शायद हाथापाई भी कर बैठे। सो उससे कहने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण उसने रामप्यारी से पूरी बात कह दी। उसे भी टुनमुनिया से यह सब कहने की हिम्मत नहीं हुई तो रामभरोसे ने उसकी हिम्मत बढ़ाई, ''देखो! औरत ही ऐसे मामलों में दूसरी औरत को संजीदगी से समझा सकती है। मेरे कहने से उसका दर्द दुगुना हो जाएगा। शायद वह मुझे ही इस कांड का खलनायक मान ले।''

उस रात अकेले में टुनमुनिया को ले जाकर रामप्यारी ने सरदार जी की ख़्वाहिश बता दी। यह सुनते ही फनफना गई टुनमुनिया, ''रामप्यारी! ई का कहत बाड़ू तू! ऊ दढ़िजरवा, सरदरवा हमरा सामने कहले रहित त मुँहवे नोच लेती। हम हाड़ तोड़िके पेट भरे खातिर मजूरी करत बानी। ओकर रखैल बने खातिर नइखे आइल। हम एको पल एइजा ना रहब। हमनी के गरीबी में एइजा आइल बानी मजूरी खातिर, देह बेचे खातिर ना!''

सुबह होने पर रामप्यारी ने रामभरोसे को सारा वाक़या सुना दिया। उसे ऐसी ही प्रतिक्रिया की आशा थी। उसने सरदार जी से अपनी असफलता बता दी। मगर वह समझने को तैयार नहीं थे। उन्होंने रामभरोसे से फिर हाथ जोड़कर चिरौरी की। वह रोज़ाना शाम को उससे इस बाबत दरयाफ़्त करते मगर रामभरोसे अभी तक एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे की स्थिति में था। उसने पाया कि सरदार गुरिंदर सिंह के चेहरे पर काई लगने से चमक धीरे-धीरे ग़ायब हो रही है। वह काम करते समय जो चुहलबाज़ी और हँसी-मज़ाक़ किया करते थे और चुटकुला सुनाते थे, वह अब अतीत का अध्याय था। सुदूर मुल्क से आई मज़दूर स्त्री को न पाने का ग़म उन्हें घुन की तरह भीतर-ही-भीतर खाए जा रहा था। सरदार जी ने क़रीब एक माह बाद फिर रामभरोसे को उस काम के लिए टोका। उसने अपनी मजबूरी

मने बयान कर दी। मगर सरदार जी ने व दिया तो उसने एक प्रस्ताव पेश "सरदार जी ! आप स्वयं टुनमुनिया से त कहिए। ज़रूरत पड़ेगी तो मैं आपकी ज़ोर दूँगा। आपके कहने का ज़्यादा असर शायद वह आपकी बातों से कुछ पिघल

र जी को थोड़ा जोश आया। अगले दिन सुबह सरदार जी पूरी तैयारी के साथ फ़ार्म रा वह ट्यूबवेल पर बैठे थे कि टुनमुनिया ल्टी लेकर पानी लेने आई। सरदार जी ने तूहल से देखा। उसने सरदार जी को घूरा ड़ बैठी, "का बात बा ?"

छ नहीं टुनमुनिया!" सरदार जी की सपाटी गुल हो गई। वह पानी लेकर चली सके चले जाने के थोड़ी देर बाद सरदार रामभरोसे से कहा, "यार! यह औरत है ग का अंगार? इसकी बेधती नज़रों के मेरी हिम्मत जवाब दे जाती है। मैं तो भूल था कि मुझे क्या कहना है?"

भरोसे को लगा कि सरदार जी भीतर से हैं सो उसने कहा, "आप ठहरकर दुबारा करें। हो सकता है, कुछ बदलाव आ "

क़रीब पंद्रह दिनों तक वह कठिन रिहर्सल । उसके बाद एक शाम को, जब आकाश खेल रहे थे, सरदार जी ने टुनमुनिया से कोख किराए पर लेने का प्रस्ताव बड़ी और विनम्रता से रख दिया, "देखो, या! तुम इसे ज़ोर-ज़बर्दस्ती बिलकुल ज़ो। यह हमारे यहाँ का पुराना रीति- है। अपना हिंदुस्तान तो परंपराओं का मैं तुम्हारी बहुत इज़्ज़त करता हूँ। मैं को साक्षी मानकर वचन देता हूँ कि मेरे साल तक मेरी औरत बनकर रह जाओ बच्चा जनने के बाद मैं तुम्हें वापस आने दूँगा। मैं पच्चीस हज़ार रुपए के अलावा सारा खाना-खर्चा ज़िंदगी भर तुम्हें देता रहूँगा।"

नागिन-सी फनफनाती हुई टुनमुनिया ने टके-सा जवाब दे दिया, "सरदार जी! ई रेवाज राउर मुलुक में बा। हमरा मुलुक में अइसन मेहरारू से लोग नफरत करेलें। रंडी-रखैल केकरा के कहल जाला। हमरी जान भले जाये बाकिर अइसन काम हम ना करब। इ त अधरम बा।"

रामभरोसे ट्यूबवेल के कमरे के भीतर से सब कुछ सुन रहा था। उसे देखते ही टुनमुनिया ग़ुस्से में बोली, "नेता जी! सुनत बानी सरदार जी के बात। रउरा हमरा के टिकस कटा दी। अब एको पल एइजा न रहब!"

रामभरोसे बिलकुल चुप रहा। तभी सरदार जी ने घी चुपड़ते हुए कहा, "रामभरोसे! क्या मेरी अरदास को आप दोनों ठुकरा दोगे? मैं ज़िंदगी भर के लिए इसके भरण-पोषण का इंतज़ाम कर दूँगा। आप दोनों मेरी नीयत पर शक मत करो। बस एक साल का सवाल है। समय बीतते देर नहीं लगती।"

रामभरोसे ख़ामोश रहा। टुनमुनिया भी चुप रही। काफ़ी देर तक भीतर-बाहर सन्नाटे का छंद गूँजता रहा। सरदार जी ने रामभरोसे की ओर कातर नज़रों से देखा, फिर टुनमुनिया को निहारा। टुनमुनिया की आँखें भर आई थीं। रामभरोसे की ओर देखते हुए उसने कहा, "नेता जी! गाँव में भूख-पियास से मर जइती। बाढ़ में बह जइती बाकिर हम ना अइती। रउरे पर भरोसा रहे। काली माई के किरिया खाके कहत बानी, रउरा आग में जरे के कहब, त जर जाइब। नदी में डूबे के कहब, त डूब जाइब।" यह कहते हुए वह चलने के लिए उठ खड़ी हुई। सरदार जी ने बड़ी बेसब्री और विनम्रता से फिर कहा, "रामभरोसे! अब बचा लो मेरी ज़िंदगी की नैया। तुम इस मौक़े पर मुँह नहीं मोड़ो। अय्याशी नहीं, ज़रूरत के लिए मैं इसे चाहता हूँ।"

ज़मीन से उठते हुए रामभरोसे ने दबी ज़ुबान से कहा, "टुनमुनिया! सरदार जी का ख़याल रखो।"

"आउर हमार खयाल तोहरा के नइखे, नेता जी?" टुनमुनिया ने घूरते हुए ऐसा सवाल दागा कि रामभरोसे चित हो गए। वह उसका जवाब धरती से आकाश तक कहीं भी रंचमात्र नहीं ढूँढ़ पा रहा था, सो सोच की भँवर में डूबे-डूबे अचानक उसे चक्कर आ गया। टुनमुनिया अपने आँचल से उसे हवा करने लगी। वह उसके माथे पर पानी के छींटे दे चुकी थी। उसने सिसकते हुए कहा, "नेता जी राउर जिनगी से बड़ हमार जिनगी कुछ नइखे। रउरा खातिर कुआँ में कूदे में हमनी ना हिचकब।"

और एक दिन टुनमुनिया 'कुदेशन' बन गई।

अब वह सरदार जी के हवेलीनुमा विशाल घर में रहने लगी। लोगों के वापस चले जाने के बाद टुनमुनिया इतने बड़े घर में ऊबने लगी। कभी-कभी वह खो जाती। उसे अपनी टोली की याद आती, गाँव भीखनपुर की याद आती और याद आती नेता रामभरोसे की। मगर वह इन यादों की पोटली किसी के सामने नहीं खोल सकती थी। धीरे-धीरे यादों का भारी बोझ उसके दिलो-दिमाग़ पर लदा रहने लगा। उसका मन करता कि वह रामप्यारी, रामभरोसे और गाँव से आई टोली के दूसरे लोगों से मिल ले, मगर अब उसे फ़ार्म पर जाने की मनाही थी और उस टोली को सरदार जी के यहाँ आने की मनाही हो गई थी। कर्फ़्यू में दूध-भात का स्वाद भी ख़राब लगता है। अपनों से बिछड़ने का ग़म उसे बुरी तरह सताने लगा। सरदार जी उसे लेकर अमृतसर चले गए। गुरुद्वारा, स्वर्ण मंदिर, बाज़ार वग़ैरह सब जगह उसे उन्होंने घुमाया मगर उसे भीतर की शांति कभी नहीं मिली। उसने ज़िंदगी में पहली बार इतनी दौलत देखी मगर अकूत दौलत की सेज पर उसे चैन की नींद नहीं आती थी।

कई हफ़्तों के बाद सारा माज़रा सरदार गुरिंदर सिंह ने समझ लिया। सो उन्होंने रामप्यारी और रामभरोसे को हर इतवार को अपने घर के बरामदे में आकर मिलने का बंदोबस्त कर दिया। सरदार गुरिंदर सिंह के मन के छोटे-से कोने में एक बड़ा चोर छिपा था, "यदि रामभरोसे अकेले आने का मौक़ा पाएगा, तो दोनों की देह में एक साथ आग लग सकती है? या दोनों कहीं भाग सकते हैं या दोनों मिलकर उसकी दौलत को नुक़सान पहुँचा सकते हैं या दोनों उसकी जान को ख़तरा पहुँचा सकते हैं। कहते हैं कि मोहब्बत और जंग में सब कुछ जायज़ है। इसलिए दोनों अलावों के बीच में चौकीदार की तरह हमेशा मौजूद रहेगी रामप्यारी।" मगर टुनमुनिया तन मन दोनों की पक्की थी। अब उसका रामभरोसे के प्रति झुकाव मोह-माया से पूरी तरह मुक्त था।

फिर यौवन की हल्की-हल्की फुहारें टुनमुनिया के तन-मन को सींचने लगीं। उसकी पुरानी खिलखिलाहट अब वापस लौट आई। उन दोनों की ज़िंदगी में नया अंकुर फूटने लगा। तीन माह बीतने के बाद उसे बार-बार मितली होने लगी। सरदार गुरिंदर सिंह उसे डॉक्टर हरजीत कौर के पास दिखाने ले गए। डॉक्टर ने मुस्कुराते हुए कहा, "आपकी बीवी माँ बनने वाली है। सब कुछ चंगा है, सरदार जी। ये आयरन की गोलियाँ इसे नियमित रूप से लेनी है। बीच-बीच में चेकअप करा लेना कि गर्भ में बच्चे की हालत कैसी है?"

क्लीनिक से निकलते ही सरदार जी ने टुनमुनिया को अपनी बाँहों में भर लिया, उसका माथा चूम लिया और उसके पेट पर हाथ फेरने लगे। और कहने लगे, "तू मेरी हीर है। तू मेरे मन की रानी है। तू ही मेरा सब कुछ है!"

उस दिन से सरदार गुरिंदर सिंह टुनमुनिया का और ज़्यादा ख़याल रखने लगे। वह कहते

हिस्ता, आहिस्ता! तू आराम कर। मैं सारे निपटा लूँगा। दाई तेरी मालिश भी कर तेरे कपड़े भी धो देगी, खाना-वाना सब देगी वह। मेरे बाहर जाने पर भी तू कोई नहीं करना।'' मगर वह पलंग तोड़ते-थक जाती। टी.वी. देखते-देखते ऊब । सो वह घर के सामने के बाग़ और फुलवारी टहलती, फुदकती हुई तितलियाँ देखती, हवा झूलती डालियाँ देखती, पत्तों की सरसराहट ती, फूलों की सुगंध सूँघती, कलियों की नींद खती, मिट्टी से निकलते नए अंकुरों को ती, आकाश की ऊँचाई की तरफ़ ताकती और क्षितिज के उस पार जाने का दिवास्वप्न ती रहती। कभी-कभी वह पेट के बढ़ते कार को देखकर ख़ुश हो जाती कि एक दिन की अपनी संतान इस दुनिया में आ जाएगी र उसे माँ कहेगी।

और एक सुबह उसने एक नर्सिंग होम में बेटे जन्म दिया। गुरिंदर सिंह ने पहले से ही का नाम सोच लिया था—'राजपाल'। पाल ने आते ही गुरिंदर सिंह की ज़िंदगी के न में बेपनाह ख़ुशबू चारों ओर बिखेर दी। सरदार गुरिंदर सिंह ने बेटे के जन्म पर अच्छा-सा जलसा किया। सभी लोगों ने राजपाल की याँ लीं और टुनमुनिया एवं गुरिंदर सिंह को से बधाई दी। उस दिन रामभरोसे और प्यारी के अलावा टोली के सभी लोग जलसे शरीक हुए थे और सबने छककर दावत खाई दाई ने राजपाल की सेवा तन-मन से करनी कर दी। वह टुनमुनिया की भी तेल-फुलेल मालिश करती। वह राजपाल को नहलाती-ती, उसका गू-मूत सब साफ़ करती। उसके एक पालना सरदार जी ने ख़रीद लिया था। निया जब उसे स्तन-पान कराती, तो उसे विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव होता। लगता कि काश यह सुख उसे पहले मिलता। वह राजपाल को दिन में कई बार चूमती-चाटती। वह ख़ुद भूल गई थी कि एक दिन उसे ये सब त्याग देने हैं। जब वह क़रीब छह माह का हो गया तो तरल खाद्य-पदार्थ खाने लगा। सो एक दिन सरदार गुरिंदर सिंह ने उससे कहा, ''मैं नहीं चाहता कि तू यह घर छोड़कर चली जाओ। लेकिन मेरी-तेरी क़रार एक साल की थी और अब सोलह-सत्रह महीने हो गए हैं। मेरी ओर से ये हैं पच्चीस हज़ार रुपए। जो कुछ तुम्हें चाहिए, मुझे बता दो।''

मगर टुनमुनिया कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थी। वह राजपाल के पालने की ओर टुकुर-टुकुर देख रही थी। उसे कभी अपने क़रार की याद आती, कभी टोली के लोगों के चेहरे सामने घूमने लगते और कभी राजपाल की किलकारियाँ याद आतीं। उस दिन उसने कोई जवाब नहीं दिया। मगर वह रात भर बेचैन रही—नींद उसकी आँखों से भागकर गुरिंदर सिंह की आँखों में समा गई थी। और राजपाल को क्या पता था?

सुबह चाय-नाश्ता करने के बाद सरदार गुरिंदर सिंह अपने फ़ार्म पर गए। वहाँ उन्होंने रामभरोसे को क़रार की याद दिलाई, तो उसने कहा, ''हाँ, हाँ, मैं तो भूल ही गया था कि आपका और टुनमुनिया का क़रार ख़त्म हो गया है। आपको अपनी दौलत का वह वारिस मिल गया है जिसकी आपको बरसों से तलाश थी।''

इस बातचीत के बाद दोनों सरदार जी के घर की तरफ़ चल पड़े। रामभरोसे को लग रहा था कि एक बार टुनमुनिया के वापस लौटने के बाद उसकी टोली आबाद हो जाएगी, उसमें पुरानी रौनक लौट आएगी। घर पहुँचने पर सरदार जी ने कहा, ''क़रार के मुताबिक ये रहे पच्चीस हज़ार रुपए। तेरे कपड़े-गहने वग़ैरह मैंने संदूक़ में रखवा दिए हैं। खाने-पीने की चीज़ें ट्रैक्टर से चली जाएँगी। मैं तेरा एहसान ज़िंदगी भर नहीं भूलूँगा, निर्मल। कभी किसी चीज़ की ज़रूरत

हो तो मुझे याद करना। बंदा हर हालत में ख़ुशी-ख़ुशी हाज़िर रहेगा।"

"ई पइसा रउरे राखीं, सरदार जी! ऊ लइका के काम आई। हमनी के आपन कोख बचाए खातिर जान दे देब। हमार देह रउरा काम आ गइल, इहे जिनगी के मोल बा। हाथ जोरि के एक ही निहोरा बा कि जब तक हम एइजा रहत बानी, भर नजर लइकवा के देखे पर रोक मत लगाइब।" और सरदार जी ने इस पर हामी भर ली।

फिर सरदार जी ने रामभरोसे, टुनमुनिया और उसके सारे सामान को ट्रैक्टर पर लादकर फ़ार्म तक पहुँचा दिया। टुनमुनिया अपने लोगों से मिलकर ख़ूब रोती रही। वह रामप्यारी और दूसरी औरतों से अपने सोलह-सत्रह महीनों के अनुभवों को देर रात तक बाँटती रही। देर रात तक आपस में बातें होती रहीं। फिर खाना बना और सबने मन भर खाया। रात में सोते समय टुनमुनिया की छाती में ढेर सारा दूध उतर आया। उसने अपनी समस्या रामप्यारी को बताई। फिर उसने अपना दूध एक कटोरी में निकालकर छप्पर के ऊपर रख दिया। रामप्यारी ने उसके ब्लाउज़ के भीतर एक गमछा कसकर बाँध दिया जिससे अब दूध बाहर नहीं आए। मगर टुनमुनिया राजपाल के बिना अधीर हो गई। उसकी यादों ने उसकी नींद ग़ायब कर दी। मगर उसके पास सिसक-सिसककर रोने के अलावा कोई चारा नहीं था।

सुबह रामप्यारी ने रामभरोसे को सारा वाक़या सुना दिया। वह भी कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पा रहा था। दिनभर रामभरोसे, रामप्यारी, टुनमुनिया तथा दूसरी औरतें बेचैन रहीं। तीसरे दिन उसकी हालत ख़राब होने लगी। सो शाम को रामप्यारी बिना रामभरोसे से पूछे टुनमुनिया को लेकर सरदार जी के घर चली गई। जब दोनों पैदल चलकर वहाँ पहुँची तो शाम ऊँघने लगी। दाई ने राजपाल को खिला-पिलाकर पालने में सुला दिया था। शायद सरदार जी पड़ोसी के घर किसी काम से चले गए थे। सो टुनमुनिया सुखद आश्चर्य देने के लिए चुपके-चुपके घर के अंदर घुसी और आहिस्ते-से राजपाल के पास पहुँचकर उसे टुकुर-टुकुर निहारने लगी। वह नींद में मुस्कुरा रहा था। शायद कोई अच्छा सपना देख रहा था। टुनमुनिया ने अपने दाहिने हाथ से उसे सहलाया और उसका माथा चूमने लगी। माँ का स्पर्श पाकर राजपाल किलकारियाँ मारने लगा। तभी अचानक दाई वहाँ आ गई। उसे लगा कि वह राजपाल को चुराने के लिए आई है। वह ज़ोर से चीख़ी, "दौड़ो, सरदार जी! टुनमुनिया..."

और क्षणभर में सरदार गुरिंदर सिंह हाँफते हुए घर के भीतर पहुँच गए। टुनमुनिया की ओर दाई ने इशारा किया। अँधेरे में खड़ी टुनमुनिया को देखकर सरदार जी आग बबूला हो गए, "हरामज़ादी! तूने मेरे बेटे को चुराने की हिम्मत कैसे की? इसीलिए तूने पैसे नहीं लिए! अच्छा नाटक कर लेती है तू! देने पर रक़म नहीं लेती और चुपके-से मेरा भविष्य, मेरी ज़िंदगी चुरा ले जाना चाहती है। इसीलिए तू अपने साथ रामप्यारी को भी लाई है जिससे तुम दोनों एक कमज़ोर दाई से निपट लो। इसीलिए रात का समय चुना तूने।"

टुनमुनिया को काटो तो ख़ून नहीं। सरदार जी ग़ुस्से से काँप रहे थे। उन्होंने टुनमुनिया को चार-पाँच थप्पड़ जड़ दिए। वह फूट-फूटकर रोने लगी। यह आवाज़ सुनकर राजपाल ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। टुनमुनिया रोते हुए उसे उठाने के लिए बढ़ी। मगर सरदार जी ने टुनमुनिया को उसे छूने नहीं दिया। उन्होंने डाँटा, "मत छुओ मेरे लाड़ले को। तुम्हारे छूने से उस पर पाप चढ़ जाएगा। भाग जा मेरे घर से!" फिर उन्होंने टुनमुनिया का झोंटा पकड़कर घसीटते हुए बाहर निकाल दिया और फटाक् से दरवाज़ा बंद कर लिया। रामप्यारी ने टुनमुनिया को उठाया और

...दा देकर धीरे-धीरे चलने लगी। अब रोने में ...प्यारी उसका साथ दे रही थी। तब टुनमुनिया ...-फूटकर रोने लगी। उसके मुँह से निकला, ...य भगवान! हाय रे करम! इ कोखी के कवन ...व भइल जे इ दिन देखइला, भगवान! इ ...िया, इ दुधवा के इहै मोल मिलल? पथरा ...ल छाती फाटत काहे नइखे भगवान!'' यह ...हते-कहते और आँसू पीते-पीते टुनमुनिया ...होश हो गई।

...उसकी बेहोशी से घबरा गए सरदार जी। वे ...से ट्रैक्टर पर लादकर डॉक्टर के पास ले गए। ...थ में रामप्यारी भी थी। रास्ते में उन्होंने रामभरोसे ...ो भी साथ ले लिया। रामभरोसे पूरा वाक़या ...नकर तमतमा उठा। मगर उसे पहले टुनमुनिया ...ी जान बचानी थी। इलाज होने से सुबह तक ...मुनिया ठीक हो गई। अस्पताल से डेरा वापस ...ाने के बाद पूरी टोली में सरदार जी के ख़िलाफ़ ...स्सा उबल पड़ा। रामभरोसे ने सबकी सहमति ...े तय कर लिया कि अब सरदार गुरिंदर सिंह ...के फ़ार्म पर काम करना और रहना मुमकिन ...हीं।

...आगले दिन रामभरोसे ने बिना लाग-लपेट के ...सरदार जी को वह सामूहिक फ़ैसला सुना दिया। ...सरदार जी ने उससे बहुत चिरौरी-विनती की ...और माफ़ी भी माँगी मगर वह टस-से-मस न ...हुआ। टुनमुनिया की ऐसी दुर्गति के लिए वह अपने को भी गुनहगार मानने लगा। मगर बहुत सोच-विचारकर उसने सरदार जी की एक बात मान ली—विदाई की दावत लेना।

दावत के लिए सरदार जी ने नाना प्रकार के पकवान बनवाए। रामभरोसे की पूरी टोली ने छककर खाया। टुनमुनिया कुछ भी नहीं खा रही थी। सो सरदार जी ने उससे हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी और खाने की विनती की। राजपाल को अंतिम बार देखने की शर्त मान लिए जाने पर उसने अपना कौर उठाया। छोले-भटूरे खाने के बाद फिर सरदार जी के इशारे पर एक नवयुवक सरदार ने उसे एक कटोरी खीर खाने को दी जिसमें काजू, किसमिस, छुहारा, बादाम आदि मेवे पड़े थे। उसने बड़े चाव से वह खाई।

कहने को जब भोर हुई तो टोली के सभी लोग अन्यत्र जाने की तैयारी करने लगे। मगर टुनमुनिया अभी भी सो रही थी। शायद वह राजपाल को पाने का सुखद सपना देख रही थी। रामभरोसे के बार-बार कहने पर रामप्यारी ने उसे झकझोरा। मगर टुनमुनिया की नींद नहीं खुली और राजपाल को अंतिम बार देखने की उसकी इच्छा धरी की धरी रह गई। पूरी टोली चिल्ला-चिल्लाकर और छाती पीट-पीटकर मातम मनाने लगी। रामभरोसे अपनी मुट्ठियाँ भींचने लगा। फिर कुछ देर बिसूरकर वह पुलिस थाना की ओर दौड़ा।

अक़ील क़ैस

तिर्यक रेखा

वो दहशत भरी स्याह रात कई सालों के बाद मेरे अवचेतन में अचानक फिर रेंग आई थी। मगर इस बार उसका रंग कुछ अलग था। अब्बा थैले और गठरियों से लदे-फदे तेज़ चाल से हम सबसे आगे-आगे चले जा रहे थे। बीच-बीच में वे पीछे मुड़कर हमें साथ आने का इशारा-सा करते जाते। अम्मा ने भी सामान उठा रखा था। कुछ अधिक नहीं, पर वे हाँफने लगी थीं। उनकी उँगलियाँ पकड़े मुन्ना, रुशी और सिम्मी की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी। मैं ज़रा-सा बेहतर स्थिति में रहा हूँगा, पर हमारे इर्द-गिर्द पसरा अँधेरा, लोमड़ों और सियारों के रोने का शोर, बीच-बीच में कुत्तों के भौंकने की आवाज़ और सबसे अधिक जुनूनी हत्यारों के हाथों पकड़े जाने का आतंक हम सबके दिलों में धुआँ बनकर समाया था। अब्बा को पूर्वानुमान हो गया था कि स्थिति तेज़ी से बिगड़ रही है और दंगा किसी समय भी शुरू हो सकता है। गाँव ही नहीं पूरा इलाक़ा ही जैसे किसी टाइम बम पर बैठा था।

अब्बा जैसे तैसे कुछ ज़रूरी सामान इकट्ठा कर हमारे साथ बाहर निकल आए थे। घर के पिछवाड़े से खेत-नाला पारकर हम बारू बाग़ में घुस आए थे। परसा नदी के समानांतर शहर की तरफ़ जाने वाले रास्ते पर पहुँचते-पहुँचते रात का आख़िरी पहर बीत चुका था और स्लेटी उजास हमारे चारों ओर उतर आया था जिसमें हमारे आसपास के पेड़-पौधे, मैदान, खेत आकार लेने लगे थे। उस इकहरी सड़क पर आते ही अब्बा बार-बार पीछे मुड़कर देखने लगे थे। उनकी उम्मीद बस का रूप धारकर न जाने कब पीछे से हमारे पास आ खड़ी हुई। अब्बा और हम सब जैसे-तैसे उसमें सवार हो गए। उसमें हमारे जैसे और भी मुसीबतज़दा लोग सहमे बैठे थे। यूँ भागते हुए हमारे दिलों का ख़ौफ़ कम नहीं हो रहा था। हर पल दूभर मालूम हो रहा था। लगता था दंगाई हमें पकड़ लेंगे। हुआ भी यही। सामने से गुर्राते-चीख़ते लोगों का एक गोल अचानक प्रकट हो बस की ओर लपका और बस के रुकते ही ऐंठे चेहरे वाले ख़ूँख़्वार, डरावने लोग धड़ाधड़ ऊपर चढ़ आए। उनके मुँह से गालियाँ झाग बनकर उड़ रही थीं। अचानक वे अपने सामने पड़ने वाले लोगों को पकड़कर नीचे यूँ फेंकने लगे जैसे वे

अक़ील क़ैस का जन्म 1965 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : द्वारा श्री योगेश कुमार, जी-53, श्रीनिवासपुरी, नई दिल्ली-110065, फ़ोन : 23019135, मो : 9818405053

...हों और गाड़ी के खुल जाने से पहले सामान ...तने की जल्दी में हों। बस से नीचे धकेले ...लोगों के नीचे आते ही नीचे खड़ी भीड़ ...पेट और गर्दनों पर अपने छूरे और ख़ंजरों ...धार नापने लगे और बस में और बस के ...कर्बला का समाँ बँध गया। हाथ लगते ही ...ड़ जानेवाले जवान और बूढ़े मर्द, औरतें और ...सब सूखे पत्ते-सा काँपने लगते और जिबह ...जानवर की तरह गले से फँसी-फँसी आवाज़ ...निकालने लगते। अभी हम सब अपनी-अपनी ...सीटों के पीछे छुपने की नाकाम कोशिश करते ...भयावह क्षणों के गुज़र जाने की दुआ करने ...लगे थे कि अम्मा चीख़ उठीं। हमलावर अब्बा ...घसीटते बाहर लिए जा रहे थे। मुन्ना, रुशी ...सिम्मी के साथ अपनी लाचार और असहाय ...ति पर मैं भी फूट-फूटकर रो पड़ा।

"सोहराब! सोहराब!" कानों में इस आवाज़ ...साथ ही लगा मुझे कोई झिंझोड़ रहा है, मैं ...बड़ा कर जागा।

...मेरे बराबर लेटे संजर ने पूछा, "क्यूँ नींद में ...रो रहा है?"

...जागने पर स्वयं को बच्चे की तरह सुबक-...सुबक कर रोते देख मैं झेंपने लगा। पर सपना ...अपने पूरे प्रभाव के साथ मेरे मन पर जमा हुआ ...। यही सपना कमोबेश इन्हीं दृश्यों के साथ ...परेशान करता रहा था। ख़ासकर उन दिनों ...हम दंगा शुरू होने के पहले ही अपने गाँव ...भाग खड़े हुए थे और दूसरे शहर गया में ...ने रिश्तेदारों की मदद पर आश्रित जीवन ...लगे थे। पर अब्बा के दंगाइयों के हत्थे चढ़ ...की बात आज के सपने में नई थी। मैं ...बा की कुशलता को-लेकर परेशान होने लगा। ...ख़िर यह नई बात सपने में आई क्यों? यह ...सी दुखद घटना का पूर्वाभास तो नहीं था! यूँ ...भयावह दृश्यों को मैं सपने के अतिरिक्त ...ते हुए भी जीता रहा था। बाबा ने जब मार्च 1947 में मुलतान के भोर दरवाज़ा में माहौल के एकदम बिगड़ जाने पर अपनी बीवी, दो बच्चियों और एक जवान बहन को साथ लिए हिंदुस्तान का रुख़ किया था तो रास्ते में बलवाइयों से उनकी भी भयानक मुठभेड़ हुई थी। संयोगवश सेना की गाड़ी वहाँ ऐन वक़्त पर पहुँच गई। इस अफ़रा-तफ़री में जब दंगाई घटनास्थल से भागे तो बाबा ने देखा कि दूर उनकी बहन को घसीटता कोई लिए जा रहा है। धीरे-धीरे धुँधलके में खो गई बहन का दृश्य सूक्ष्म विवरणों के साथ उनके अंदर आज भी जीवंत था। वे जब कभी मुझे वह घटना बताते, उनकी आँखें दुख से नम तथा क्षोभ और नफ़रत से पैनी हो उठतीं और उनकी आवाज़ में लरजिश तैर आती। वे उन दृश्यों को आहिस्ता-आहिस्ता बयान करते जाते और मैं उनकी संवेदनाओं को अपने भोगे दृश्यों में जीता जाता। बाबा से नैकट्य की अनुभूति जगाने में इन क्षणों में उपजी संवेदनाओं का बड़ा हाथ था।

मैंने घड़ी पर नज़र दौड़ाई। सुबह के छह बजे थे। जाड़े का मौसम। बाहर सड़क पर चहल-पहल नहीं हुई थी। रात काम करके तीन बजे लौटा था। सूट-पैंट और कोट के ऑर्डर की भरमार थी और उन्हें जल्द पूरा करना ज़रूरी था। नींद पूरी न होने से सिर भाँय-भाँय कर रहा था। मैंने अपशकुन की सारी आशंकाओं को टालते हुए कंबल से स्वयं को अच्छी तरह लपेटा और लेटकर सोने की कोशिश की। पर दूसरे ही क्षण मोबाइल बज उठा।

संजर फिर बोल उठा, "ले, अब तेरा मोबाइल रोने लगा। क्या हो रहा है आज?"

मेरा दिल धक से रह गया। ख़ुदा ख़ैर करे! पता नहीं किसकी जान पर मुसीबत उतरी है। मैंने फ़ोन उठाकर देखा। दिल्ली का नंबर देख मुझे कुछ राहत हुई। दूसरी ओर कृष्णा थी। किसी बूथ से फ़ोन कर रही थी शायद। चकित भाव से मैंने प्रश्न किया, "बोलो, मैं सोहराब बोल रहा हूँ!"

दूसरी ओर कुछ क्षण चुप्पी में कट गए। मैं आशंकित होने लगा, "बोलो भी क्या बात है ?"

उधर से भर्राई-सी आवाज़ सुनाई पड़ी। "सोहराब, नाना जी नहीं रहे!" वह बोली।

"सुबह चार बजे वे आदतन उठे भी थे, तब हम सब सोए हुए थे। जब मैं जागी और चाय के लिए उन्हें पूछने गई तो वे गुज़र चुके थे।" कृष्णा बता रही थी।

मुझसे आगे कुछ बोला नहीं गया। कृष्णा ने ही बात आगे बढ़ाई, "सोहराब, तुम आ जाओ। तुम्हारा यहाँ आना ज़रूरी है।"

"क्यों, मैं तो कह चुका हूँ कि मुखाग्नि मैं नहीं डालूँगा।" कृष्णा सामने न होने पर भी मेरे मनोभावों को पढ़ रही थी। लाजपत नगर का वह फ़्लैट जिसमें बाबा रहते थे और जिसमें उनके सानिध्य में मैंने आठ-नौ साल, चाहे कुछ व्यवधान के साथ ही बिताए थे, अचानक मुझे कुछ पराया-सा लगने लगा था और वहाँ जाने की इच्छा मुर्दा होने लगी थी।

"तुम यहाँ आ जाओ। नाना जी ने तुम्हारे जाने के बाद मुझे तुमसे कुछ कहने के लिए कहा था।" कृष्णा की आवाज़ में स्थिरता लौट रही थी।

"क्या ?" कुतूहलवश मैंने पूछा।

"फ़ोन पर नहीं बता पाऊँगी, तुम यहाँ आ जाओ।" उसने इसरार किया।

"ठीक है।" मैंने प्रतिरोध छोड़ दिया और मोबाइल बिस्तर पर डाल दिया।

"तेरा वो बूढ़ा बाबा गुज़र गया क्या ? उसकी तबीअत ख़राब थी तो रात तू काम पर क्यों आया ?" संजर जो बड़ी देर से चुपचाप हमारी बात सुन रहा था, बोल उठा।

"तबीअत कहाँ ख़राब थी ? अचानक पता नहीं कैसे यह सब हो गया!" मैंने जवाब दिया।

तैयार होकर बाहर निकलने से पहले तक मैंने सोचा था कि अपने स्कूटर से चला जाऊँगा। पर तुरंत ही लगा कि इस समाचार के बाद के मन:स्थिति में स्कूटर चलाना शायद सुरक्षित नहीं रहेगा। बाबा से जुड़ी यादें टुकड़ों में मन पर झपट्टा मार रही थीं। तैयार होने में इस कारण ज़रूरत से ज़्यादा समय लग गया था। सड़क पर आते ही सब स्टैंड के पास एक ख़ाली ऑटो मिल गया।

ऑटो में बैठते ही मुझे पिछली शाम की बात याद आ गई। बहुत पहले ही मैंने बाबा से आपसी रिश्ते की बाबत स्पष्ट कर दिया था कि अपने-अपने धार्मिक विश्वास को हम एक-दूसरे पर थोपेंगे नहीं। हमारे धार्मिक संस्कारों में विरोध तो था ही तब बाबा ने कहा था कि वे भी ऐसा ही मानते हैं और हम इंसान के तौर पर आपसी संबंध रखेंगे। तुम अपना धर्म मानो और मैं अपना धर्म। अब इधर कई दिनों से वे मुझे अपने मरने पर मुखाग्नि देने का आग्रह करने लगे थे और मेरा संस्कारबद्ध विवेक इस बात को स्वीकार नहीं कर रहा था। मुझे यह भी शंका होने लगी थी कि बाबा मेरे साथ अपने बेहद आत्मीय संबंधों का इस्तेमाल कर मुझ पर अपने संस्कार थोपना चाहते हैं और इससे मेरे मन में विरोध पैदा हो गया था। यूँ एक मोर्चा उन्होंने बहुत पहले से खोल रखा था जिसे लेकर मेरे मन में शुरू से ही गाँठ रही थी। वह यह कि उन्होंने मुझे मेरे अपने नाम से कभी नहीं बुलाया। सौरभ कहते थे वे मुझे। इस संबंध में मेरी आपत्तियों को उन्होंने दरकिनार कर दिया था। उनके प्रति अपनी सारी श्रद्धा के बावजूद यह बात मेरे मन में एक फाँस-सी लगा गई थी।

पिछली शाम जब मैं रोज़ाना की तरह उनसे मिलने गया था तो मैंने उन्हें बताया था कि हवन की सारी तैयारी हो चुकी है। पंडित भी मैंने ठीक कर लिया था। दरअसल पिछले बीस-एक दिन से मैं बाबा की इच्छा पूरी करने के लिए हवन का प्रबंध करने में जुटा था। जिसमें

उनके सारे नज़दीक और महत्त्वपूर्ण संबंधियों को बुलावा भेजा गया था। मैं और कृष्णा निमंत्रण-पत्र लिखते-लिखते थक गए थे। फिर पूरे घर की सफ़ेदी और सफ़ाई में भी हम जुटे रहे थे। बाबा का प्लान था कि हवन के कार्यक्रम के बाद वकील से वे अपनी वसीयत भी लिखवा लेंगे। एक वकील से मेरी जान-पहचान थी और इस बात के लिए वह राज़ी हो गया था। कृष्णा और मेरी मेहनत का नतीज़ा भी आने लगा था। उसकी माँ तो पहले से यहाँ थी। पर बाबा की दो अन्य बेटियाँ अपने-अपने पति और बच्चों के साथ आ गई थीं। उनके दामाद और शायद बेटियाँ भी इस अहम् अवसर पर अपनी उपस्थिति ज़रूरी समझती थीं। हवन में शामिल होने के लिए कुछ रिश्तेदार भी पहुँचने लगे थे। बाबा पूरी तैयारी में थे। कुछ महीने पहले जब उनकी पैर की हड्डी टूटी और फिर डॉक्टर के हाथों हड्डी जुड़वाने के लिए उन्हें जिस यंत्रणा से गुज़रना पड़ा और उनका शरीर जितना शिथिल और अशक्त पड़ गया था उसके बाद से ही वे अपने जीते जी इन कामों से मुक्त हो जाना चाहते थे।

पिछली शाम मुझसे बातें करते हुए उन्होंने अचानक कहा था, "पुत्तर, तूने मेरी बड़ी सेवा कीती है। मेरी जो जायदाद है उस विच तुहाडा वी कुज हिस्सा है। मैं तुहाडे वास्ते वी कुज रखणा चाओंदा हाँ।"

उनकी यह बात आसपास बैठे उनके दामादों को पसंद नहीं आई थी; यह उनके चेहरे पर आते, लुप्त होते रंग से स्पष्ट था। बेटियों के चेहरे पर भी एक सपाटपन व्याप्त था जिससे उनकी प्रतिक्रिया का अनुमान लगा पाना कठिन था। मुझे यह जानने की उत्सुकता भी नहीं थी। बाबा के पास ले-देकर लाजपत नगर का फ़्लैट ही तो था बाँटने के लिए। बैंक खातों में कुल मिलाकर दो-सवा दो लाख रुपए होंगे जिन्हें उन्होंने अपनी ज़रूरतों को टाल-टालकर जोड़ा था। पर इन सब पर उनकी बेटियों का हक़ बनता था। मेरे मन में लेश मात्र भी उनकी संपत्ति में से कुछ पाने की लिप्सा न थी। मुझे लगा कि कहीं वे यह न समझ लें कि उनकी मेरे रिश्ते की बुनियाद में ऐसा कोई लालच है। मैंने तुरंत उनकी बात काटकर कहा, "बाबा, मुझे आपके अलावा कुछ नहीं चाहिए।"

"वो तो खैर छोड़ दे पुत्तर! मेरा जो दिल करदा ए, मैं ओइ ही करूँगा। मैं तुहाडी कोई गल नहीं सुणूँगा।" वे बोले और आँखें बराबर करते हुए, पर उसमें याचना का पुट लाते हुए बोले, "मैं सारेयाँ दे सामणे कैंदा हाँ कि मेरे मरने तों बाद मेरा अग्नि संस्कार सौरभ के द्वारा कित्ता जावे!"

"न, न! मैं मुखाग्नि नहीं दूँगा। मुझे तो बख़्श ही दो बाबा!", मैंने निगाहें दूसरी ओर हटा लीं।

मुझे लगा बाबा मुझे मेरे कमज़ोर क्षणों में पकड़ना चाहते हैं और मैं ऐसा कोई अवसर उन्हें देना नहीं चाहता था। धर्मों के बारे में मेरी सोच और अनुभव ने एक निष्कर्ष बना लिया था। राम-रहीम सब एक हैं। विभिन्न धर्मावलंबियों में एका लाने के लिए यह एक बेहद वाहियात-सा विचार मालूम होता था। धर्म तो समांतर रेखाओं की तरह हैं और उनका कोई मिलन बिंदु नहीं। हम इस वास्तविकता को स्वीकारते हुए कि हमारे रास्ते, हमारे संस्कार में अंतर है, क्या शांतिपूर्वक साथ नहीं रह सकते? अगर मेरे भाई को वो चीज़ पसंद नहीं जो मुझे है तो इसमें टकराव का औचित्य कहाँ बनता है!

बाबा ने अपनी ज़िद नहीं छोड़ी थी। बोले, "मैं जानता हूँ पुत्तर कि तू नहीं चाहेगा कि तेरा बाबा एक अपूर्ण इच्छा का दंश लिए मरे। मेरी मुखाग्नि की रस्म सौरभ ने ही करनी है।"

"ओफ़्फ़ो! सौरभ, सौरभ की आपकी रट कब ख़त्म होगी?" मैं अचानक चिढ़ गया था, "आप मुझे मेरे असली नाम से कब बुलाएँगे? बाबा,

अब मैं भी साफ़ बता देता हूँ कि जब तक आप मुझे सोहराब नाम से नहीं बुलाएँगे मैं आपकी यह बात नहीं मानूँगा!'' बाबा की बचकानी ज़िद से उपजी उत्तेजना के बावजूद मैंने जान-बूझकर शर्त लगाई ताकि मुखाग्नि की रस्म पूरी करने से बच सकूँ।

हमारी गंभीर नोक-झोंक मोबाइल बजने से रुकी। वकील साहब के सहायक का फ़ोन था। उसने अचानक आ गई अपनी कुछ अतिरिक्त व्यस्तता के कारण वसीयत लिखने के लिए आने का कार्यक्रम स्थगित करने को कहा था। फ़ोन के चुप होते ही मैंने उनकी बात बाबा को बता दी। बाबा यह सुनकर चिंतित-से हो गए। उनसे विदा होकर जब मैं रात वर्कशॉप के लिए रवाना हुआ तब तक कई बार उन्हें मैंने कहते सुना कि यह अच्छा नहीं हुआ।

मैंने उनकी इस उद्विग्नता को कोई विशेष अहमियत नहीं दी। नौ बजे वर्कशॉप पहुँचकर मैंने अपने मोबाइल का स्विच ऑफ़ कर दिया ताकि पूरी तन्मयता से अपना काम कर सकूँ।

आगे सड़क पर कोहरे और धुएँ के बादल इधर-उधर फैल रहे थे। ऑटो रिक्शा वाले ने गाड़ी धीमी कर दी थी। ''ज़रा सँभल-सँभलकर चलना।'' मैंने उसे चेताया।

यादों से पुनः मन धुआँ-धुआँ-सा होने लगा। बाबा से मैं अपनी पहली मुलाक़ात के बारे में सोचने लगा। अब सोचता हूँ तो यूँ लगता है कि नियति ने पहले से यह तय कर रखा था। बाबा एक चक्रवात थे जिसकी प्रभाव-परिधि में सूखे कमज़ोर पत्ते-सा चक्कर खाता मैं उसके केंद्र की ओर खिंचा चला आया और बस उसी चक्र में घूमता रहा।

दसवीं मैंने तेरह की उम्र से पास कर ली थी। पर प्रमाण-पत्र में मेरी उम्र दर्ज हुई पंद्रह साल। पढ़ने में होशियार था मैं। अपने शिक्षकों की प्रशंसा और प्रोत्साहन बटोरता दोहरी प्रोन्नति लेता समय से कुछ पहले ही दसवीं में आ गया था। अब्बा को समझा-बुझाकर उम्र बढ़ा लेने की सलाह दी थी मास्टरों ने।

गाँव से उखड़कर अब्बा ने नए शहर में किराने की एक छोटी-सी दुकान खोल ली थी। दुकान जिस मुहल्ले में थी वहाँ रिक्शेवाले और मजूरे बड़ी तादाद में रहते थे। अब्बा की दुकान से रोज़ाना वे ज़रूरत भर चावल-दाल आटा आदि ख़रीदते रहते। इस तरह हमारी दाल-रोटी का जुगाड़ भी हो जाता था। पर उससे ज़्यादा की उम्मीद उस दुकान से बाँधना संभव न था। यह बात तब मेरी खोपड़ी में घुसी जब अम्मा ने इंटर में दाख़िले के ख़र्च के साढ़े तीन सौ रुपए देने से इनकार कर दिया और अब्बा ने उस फ़ैसले की पुष्टि में बड़ी बेचारगी भरी ख़ामोशी ओढ़ ली। पढ़ाई-लिखाई के जादुई संसार में विचरने का मेरा सारा उत्साह भरभरा कर गिर गया।

दो बेटियों और दो बेटों का परिवार निबाहने में ही अब्बा हाँफने लगे थे। अम्मा चाहती थीं कि कोई काम सीखकर मैं घर की आय में कुछ जोड़ूँ। इसके लिए सबसे पहले उन्होंने मुझे इस्हाक चचा की स्वेटर बुनाई की दुकान में रखवा दिया। ऊन के लच्छों को खोलकर दिनभर गोले तैयार करने के रोज़ाना पाँच रुपए मुझे मिलते थे। ये रुपए शाम को मेरे घर पहुँचते ही अम्मा के आँचल के छोर में सिमट जाते। अम्मा ने जल्द ही वहाँ से मुझे हटवा दिया क्योंकि एक तो यह धंधा मौसमी था और दूसरे इस हुनर के सहारे मेरी तरक़्क़ी की संभावनाएँ उन्हें नहीं दिखती थीं। मैं अपने एक मामू जान की टेलरिंग की दुकान में काम सीखने के लिए लग गया। मामू जान की कटिंग का शहर में बड़ा नाम था और अधिक तड़क-भड़क नहीं होने पर भी अच्छी फ़िटिंग की चाहत रखने वाले उनके नियमित ग्राहक थे। मामू जान अम्मा के सगे भाई न थे पर

ना से अपनी सगी बहन से भी ज़्यादा स्नेह थे। उनके कोई संतान न थी। लगभग दो उनकी संगत में मैं रहा। इस दौरान बड़े से ठोक-पीटकर उन्होंने मुझे कटर बना और उसकी बारीकियाँ यूँ समझा दीं कि सानी में ही जीवन से उलझ पाने का कुछ आ आ गया था। पर हुआ यह कि मामू जान दिन अचानक दुनिया छोड़ गए। उनकी ई संतान तो थी नहीं। दुकान यूँ ही बिक गई मेरे भटकाव के दिन शुरू हो गए। दूसरी नों में पगार को लेकर मेरा मन जमा नहीं। समय के लिए मेरा इस धंधे से नाता टूट या फिर कुछ दिनों के लिए चलती ट्रेन से न उतारने वाले झीलकटवों के जोखिम भरे राध का रास्ता अपना लिया। पर इसकी भनक ते ही अम्मा ने रोना-पीटना लगा दिया। घर तिरस्कार और तनाव से मेरा जीना हराम हो या। आख़िरकार मैंने पुनः इस्हाक चचा की ली। अपनी मशीन की मरम्मत और कुछ दारी के लिए वे अकसर दिल्ली आते रहते । मैंने उनके हाथ पकड़ लिए कि वे किसी ह मुझे दिल्ली पहुँचा दें। मैंने दिल्ली में अपना य आजमाने का निश्चय कर लिया था।

'दिल्ली चलो' की एक राजनैतिक रैली में हाक चचा के साथ दिल्ली आने का सुअवसर ल ही गया। स्टेशन से बाहर आते ही हम रैली अलग हो गए और ताहिर भाई के यहाँ सीधे जपत नगर पहुँचे। ताहिर भाई पूरी तरह शहरी गए थे। इस्हाक चचा के दिल्ली से वापस ते ही उन्होंने मेरे साथ एक अलिखित समझौता या कि रात भर उनके किराए के कमरे की ने के नीचे रहने और दो-जून की रोटियों के ले में मैं सुबह-शाम उनका खाना तैयार रूँगा। अजनबी और विकराल इस महानगर में पड़े का एक थैला जिसमें दो जोड़े शर्ट-पैंट अलावा कुछ न था और साईकिल बेचकर जमा किए जेब में पड़े तीन सौ रुपए और अम्मा के दिए दो सौ रुपए यानी कुल पाँच सौ रुपए से कितनी हिम्मत जुटाता? मुझे उनकी शर्तें उन हालात में ग़नीमत मालूम हुईं। मैंने हाँ कर दी और बाबा से मेरी मुलाक़ात का सुयोग आकार लेने को प्रस्तुत हुआ।

दो दिन बाद सुबह पानी लाने जब नल पर पहुँचा तो बाबा पानी भरी बाल्टी लेकर अपने फ़्लैट के जीने की ओर बढ़ते नज़र आए। पैंसठ-सत्तर के बीच के होंगे तब शायद वे। काग़ज़ से सफ़ेद बाल और इकहरी काया। दुबलेपन से वे अपनी वास्तविक लंबाई से कुछ ज़्यादा ही खिंचे दिखते थे। मैं अपनी बाल्टी नल के नीचे लगा उनको ही देखने लगा। जीने के पास जाकर जिस तरह रुके उससे मुझे लगा वे ऊपर चढ़ने का हौसला सँजो रहे हैं। दूसरे पायदान से वे फिसल से गए और बाल्टी और स्वयं को संतुलित रखने के प्रयास में उनका शरीर-पिंजर ही हिल गया। मुझसे रहा नहीं गया। पीछे से लपकता हुआ उनके पास पहुँचा और बाल्टी उनके हाथ से झटकते हुए बोला, ''यह मुझे दे दें।''

बाल्टी ऊपर पहुँचाकर जब मैं लौटने को हुआ तो आश्चर्य और प्रसन्नता का भाव लिए बाबा ने मुझे रुकने का संकेत किया। फिर रसोई घर के पास की दीवार के कोने की ओर इशारा कर बोले, ''बाल्टी इत्थे रख दे। रब तेरा भला करे पुत्तर! मेरी तबीअत दो-तीन दिनां तों खराब चल रही है। नई तो पाणी तो मैं खुद ले के ही आ जांदा हाँ।'' मुझे लगा वे सफ़ाई दे रहे हैं।

''इक मिनट बैं जा।'' वे पास पड़ी एक बोसीदा-सी कुर्सी पर मुझे बिठाते हुए रसोई घर में ग़ायब हो गए।

मैंने देखा नीचे से आता हुआ जीना एक और घुमाव के साथ शायद ऊपर छत पर चला गया था। ओसारेनुमा जिस कमरे में मैं बैठा था अंदर की ओर दो अतिरिक्त कमरे बने थे। कमरे से

बाहर ख़ासी चौड़ाई वाला छज्जा निकला हुआ था।

इधर-उधर अपनी नज़र दौड़ा ही रहा था कि अचानक सामने वाले अंदर के कमरे में लगे बिस्तर पर एक अन्य बूढ़ी काया निश्चेष्ट पड़ी दिख गई। मैंने अनुमान लगाया कि वे उनकी पत्नी होंगी। मैंने हाथ उठाकर आदाब किया। पर उनके शरीर में इससे कोई प्रतिक्रिया नहीं जगी। यूँ ही पड़ी रहीं वो। उनके माथे पर बल ज़रूर पड़ आए।

बाबा इस बीच तश्तरी में सूजी का हलवा लेकर प्रकट हुए और बोले, ''पुत्तर, ए थोड़ा ज्या खा ले। ए मैं पैले बणा रख्या सी।''

मैं भागने को तैयार हुआ, ''इसकी ज़रूरत नहीं। मेरी बाल्टी भर गई होगी। मैं चला।''

उन्होंने मेरे हाथ पकड़ लिए, ''क्या बात कर दी? पहली बार तू मेरे यहाँ आया है। बिना कुछ खिलाए जाने नहीं दूँगा।''

मेरी आँखें अचानक उनकी आँखों से जुड़ गईं। उनके चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कुराहट विराज रही थी। मेरी आँतें सचमुच उस समय भूख से कुहर रही थीं। आख़िर मैंने प्लेट हाथों में ले घी लगा गुनगुना-सा हलवा जल्दी-जल्दी हलक से उतारा और पानी का एक घूँट लेकर बाहर भागा।

नीचे नल पर ताहिर भाई को खड़ा देख हलवे की मिठास ग़ायब हो गई। उनकी आँखों में नाराज़गी थी। मेरी बाल्टी तब तक भर गई थी और पानी ऊपर से आहिस्ता-आहिस्ता बह रहा था। वे खरखराते स्वर में बोले, ''तू उस बुड्ढे के घर क्या कर रहा था?''

मैंने बहाना बनाया, ''दो मिनट के लिए उन्होंने बुलाया था।''

चिढ़ते हुए से वे बोले, ''दिल्ली में क़दम रखते ही लोग तुझे पहचानने भी लगे! बच्चू, मुहल्ले की ग़ुलामगीरी करना छोड़। रिफ़्यूजियों का मुहल्ला है यह! बड़े ख़ुदगर्ज हैं। जो उन्हें मालूम हो गया कि तू मुसलमान है तो तेरे साए को भी फटकार देंगे!''

मैंने बाल्टी उठाई और वहाँ से भाग लिया।

मुझे इस्हाक चचा ने बहुत-सी बातें यहाँ के बारे में बता दी थीं। यह पूरी क़ॉलोनी शरणार्थियों से बसी थी। नल के पास के मकानों की बसावट देश के विभाजन का दंश सहे लोगों की थी। जिस फ़्लैटनुमा मकान में मैं ताहिर भाई के साथ ठहरा हुआ था उस तरफ़ के मकान अफ़ग़ान शरणार्थियों से आबाद थे। वे वहाँ कब आए, यह नहीं मालूम हो सका था। मुसलमानों को किराए के मकान इधर ही मिल पाते थे। बाबा के आसपास रहने वाले लोग मुस्लिम किराएदारों को सचमुच पसंद नहीं करते थे। किराए पर उन्हें मकान देने का सवाल नहीं था। उनमें कोई गांधी नहीं था। बँटवारे के आसपास यहाँ आकर बसे उन लोगों के दिल के घाव पूरी तरह सूखे नहीं थे...और उनके बाद की पीढ़ी भी उनकी दारुण कथाएँ सुनकर मन में ख़राश लिए जी रही थी। मैंने उसके बाद बाबा से बचने की बहुत कोशिश की। पर आख़िर परिस्थितियों के हाथों विवश उनकी शरण में पहुँचा।

हुआ यह कि ताहिर भाई ने बीस-पच्चीस दिनों के बाद साफ़ कर दिया कि वे यह इलाक़ा छोड़ कहीं और जा रहे हैं और वो मुझे अपने साथ वहाँ नहीं ले जा पाएँगे और यह भी पहली तारीख़ आने से पहले ही मैं कोई इंतज़ाम कर लूँ। पहली तारीख़ में बस तीन दिनों की कसर रह गई थी। बाबा के मकान में दो बूढ़ी जान के अलावा कोई न था। मुझे लगा कि वहाँ मेरा कुछ बंदोबस्त बन जाएगा। पहले सोचा कि उनसे छुपा लूँ कि मेरा धर्म क्या है, पर मेरे मन ने इसे स्वीकार नहीं किया। अपनी पहचान छुपाना ठीक नहीं लगा। नियम और उसूल से हटना मुझे पसंद नहीं था।

दूसरे दिन परिस्थितियों ने मुझे जैसे बाबा के

ज़बरदस्ती ही भेजने की तैयारी कर ली। ताहिर भाई का इंतज़ार करते-करते काफ़ी देर हो गई। जब लगा कि उनका और इंतज़ार बेकार है और भूख से मेरी हालत बुरी होने लगी तो मैं घिसटता हुआ बाबा के घर गया। वहाँ दरवाज़ा बाहर से बोल्ट किया हुआ था। मैंने अनुमान लगाया कि वे आसपास ही कहीं गए हुए होंगे, इसलिए ऊपर खड़ा रहना उचित नहीं जान मैं नीचे आ गया। पर वहाँ एक नया ही संकट मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

नीचे वाले मकान के मालिक ने मुझे अपने मकान के सामने कुछ देर खड़ा देख 'कौन है, कौन है भाई' पूछता बाहर आ गया। उसने मुझसे पूछा, "किससे मिलना है?"

मुझे बाबा का नाम तो मालूम न था। बस अटपटा-सा उत्तर दे पाया, "ऊपर वाले बाबा से मिलना है। वे अभी घर पर हैं नहीं।"

उसने तुरंत दूसरा प्रश्न दाग़ दिया, "नाम क्या तेरा?"

मेरा नाम सुनते ही वह बोला, "तू यहाँ खड़ा क्यों है। जल्दी से यहाँ से दफ़ा हो जा।" फिर घर की ओर मुड़ते हुए वह बड़बड़ाया, "पता नहीं कहाँ-कहाँ से चले आते हैं ये साले लावारिस लोग!"

मैं अभी ऊहापोह में ही पड़ा था कि पीछे से गूँजती हुई आवाज़ फिर आई, "तू यहाँ से भागता है या मैं पुलिस को फ़ोन करूँ?"

मुझे इस तरह की उग्र प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं थी। मैंने असमंजस की स्थिति में वहाँ से वापस आने के लिए क़दम बढ़ाए तभी एक आकृति आगे बढ़ती दीख पड़ी। वही थे। मैंने उन्हें नज़दीक जाकर सलाम किया। उन्होंने मेरे काँधे पर हाथ रखकर ग़ौर से मुझे देखा। दूसरे ही क्षण हल्की-सी मुस्कुराहट उनके चेहरे पर फैलती-सी नज़र आई, "अच्छा, तू इधर आज कैसे आ गया?"

मेरे कुछ जवाब देने से पहले उनके पड़ोसी ने किंचित् तीखे लहज़े में बोला, "लाला जी, इस मुंडे नू जाणदे हो? तूसी इस नू अपणे कर क्यूँ बुलाया?"

"क्यों?" बाबा ने सपाट लहजे में प्रतिप्रश्न किया।

वह क्षण भर को रुका। फिर बाबा के एकदम पास जाकर लगभग सरगोशी करता हुआ बोला, "ओ, इ मुंडा तां कटुआ है। तूसी इस नू कार बुलाओन दी की जरूरत सी, लाला जी?"

बाबा ने जवाब देने में देर नहीं लगाई। हालाँकि मुझे लग रहा था कि मेरे मुसलमान होने की बात जान वे भी उसकी हाँ में हाँ न भी मिलाएँ तो मेरा पक्ष तो नहीं ही लेंगे, "अच्छा तो इसके स्पर्श से तुम्हारा घर अपवित्र हो रहा है! अपने पिता से जाके पूछ कि भोर दरवाज़ा में उसका धंधा इन्हीं मुसलमानों की वजह से तो चलता था। और खाने-पीने में, रीति-रस्म में इनके साथ शिरकत होती थी या नहीं?"

"मैं तो इसे लावारिस समझ पुलिस बुलाने जा रहा था। उनके पड़ोसी की आवाज़ का तीखापन बदस्तूर मौजूद था।"

"तूसी जो मरजी करो। ऐ मेरे पास आया है, मैं इस मुंडे नू अपने कर लेके जावांगा!" बाबा ने भी अपना स्वर ऊँचा कर लिया था। फिर वे मेरी तरफ़ मुड़ते हुए बोले, "तू चल मेरे साथ।"

कुंडी खोलने की आवाज़ के साथ अंदर से कमज़ोर-सी आवाज़ आई, "दवा मिली?"

"हाँ मिल गई है। एक मिनट बात करता हूँ।" फिर मुझे संबोधित करते हुए बोले, "पहले यह बता कि तू इस घड़ी मेरे पास क्यों आया है?"

मैंने अपना संकट बयान कर दिया। मैंने यह भी बताया कि मैं किसके साथ रहता हूँ और कहाँ से आया हूँ और यह भी कुछ दिनों बाद जब ताहिर भाई उस मुहल्ले से चले जाएँगे तो

क्या मुझे उनके यहाँ शरण मिल पाएगी ?''

''बेटा, तूने देखा कि इस घर में हम दो प्राणी हैं। जगह की कमी नहीं यहाँ। हिंदू-मुसलमान का भेद मेरे मन में नहीं। तुझे अगर उधर परेशानी हो रही है तो बेशक यहाँ आ जा और आज रात तो तू यहाँ है ही।'' इतना कहकर वे ज़रा रुके और फिर अपनी पत्नी की ओर संकेत कर बोले, ''तेरी माँ ज़रा बीमार है। उसे दवा दे लूँ फिर रोटियाँ सेंकता हूँ। मेरा ख्याल है तूने खाना अभी नहीं खाया होगा।''

मैं झिझक गया। बोला, ''नहीं, नहीं, मैं खाना नहीं खाऊँगा।''

वे दिल्लगी-सी करते हुए बोले, ''तो क्या तू रात को रोजे रखेगा ?''

मैं झेंप गया। अम्मा को दवा खिलाते हुए बोले, ''आज रात यह हमारे घर रहेगा। दो-चार दिनों बाद फिर शायद लगातार रहे।'' अम्मा ने कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं दी। फिर जब खाना बनाने का समय आया तो मैंने बाबा के हाथों से बर्तन अपने हाथों में ले लिया। मैंने कह दिया कि वे सिर्फ़ बताते जाएँ कि उन्हें क्या खाना है। पर सामान तैयार मैं करूँगा।

उस रात रोटी सेंकने में मुझे जिस सुख का अनुभव हुआ उसे मैंने दिल में आज भी सँजो रखा है। पड़ोसी के साथ बहस वाले प्रकरण से बाबा के लिए मेरे दिल में एक जगह बन गई थी। शुरू से ही मेरे प्रति बाबा का व्यवहार बहुत स्निग्ध था पर उन्होंने वास्तविक तौर पर मुझे मान देना शुरू किया कुछ दिनों पश्चात् घटी एक घटना के बाद। बात बहुत मामूली-सी थी।

उस दिन बाबा के दो दामाद घर पर आए हुए थे। बाहर वाले कमरे में बैठे गपशप में लगे हुए। बाबा की बेटियाँ पड़ोस में गई हुई थीं। बाबा उन्हें कुछ अधिक पसंद नहीं करते थे और बड़ी रुखाई से केवल आवश्यक बातें ही उनसे करते थे। अचानक अम्मा ने बाबा को बुलाया, ''ओए होए तेरा पेट यूँ ख़राब क्यों हो रहा है ?'' वे उनका बिस्तर और उनके कपड़े बदलने को उठे। बाबा अम्मा की देखरेख स्वयं ही करते थे। उनके कपड़े बदलने के उपक्रम में बाँस की छड़ी-सी उनकी बाईं टाँग दीख गई। स्थिति समझ में आते ही मैं कमरे से बाहर आया और काफ़ी समय के बाद जब मुझे लगा कि उन्होंने धुलाई-सफ़ाई का काम निबटा दिया है, मैं कमरे में वापस आया। बाबा के दामाद इन सारी बातों से असंबद्ध अपनी गप में व्यस्त थे। आसपास क्या हो रहा है ? किस स्थिति में मर्द वहाँ रहें या न रहें, उन्हें जैसे इन बातों की कोई परवाह न थी। बाबा ने इस प्रकरण को याद रखा था और बहुत बाद में उन्होंने अपने दिल की बात बताई। मुझे अपने मन और विवेक की बात सुनने का पुरस्कार मिला।

अम्मा तो तब भी मुझ पर विश्वास नहीं करती थीं। पर जब बाबा ने एक बार मकान की सफ़ेदी का ज़िम्मा मुझे सौंपा तो सामानों को हटाने और उनकी साफ़-सफ़ाई कर वापस उनके स्थान पर रखने में मुझे कुछ पीतल के बर्तन मिले। एक बर्तन को खोलकर देखने पर मैंने देखा कि उसमें एक-एक, दो-दो के नोट भरे पड़े हैं। मैंने अंदाज़ा किया कि अम्मा या बाबा ने वो रुपए जमा करके रखे होंगे और बाद में भूल गए। कई सालों से ये बर्तन यूँ ही पड़े हुए थे। किसी ने उनकी सुध नहीं ली थी। उन्हें छुपाकर मैं अपनी कुछ ज़रूरतें पूरी कर सकता था। पर मेरा विवेक जाग रहा था। मैंने वो बर्तन ले जाकर अम्मा को ही दिखाया। वो उसे देख मेरी बलाएँ लेने लगीं। उस समय उनके हाथों के स्पर्श में स्नेह का कितना आवेश था, मुझे वे क्षण याद हैं और मैं आज भी अपनी पीठ थपथपाता हूँ कि मैंने लोभ-लालच को मन में जगह नहीं दी। वरना ग़रीब और अभावग्रस्त आदमी का क्या ?

बाबा के घर में क़दम रखते ही मेरी ज़िंदगी

एक गति-सी पकड़ ली। घर के छज्जे पर खाली जगह पर झटपट उन्होंने ईंटें जुड़वाकर एक छोटा-सा कमरा मेरे लिए विशेष तौर पर बनवा दिया। मुझे जल्द ही कटर का काम भी मिल गया और मुझे लगा कि मुहताजी के मेरे दिन समाप्त हो रहे हैं। समय के साथ मेरे काम में निखार भी आता गया और बढ़ते अनुभव के साथ मेरी पगार भी बढ़ती गई। पास में पैसे आने लगे तो आहिस्ता-आहिस्ता स्कूटर, फ़ोन, अपनी मर्जी का खाना-पीना तथा ऐसी ही कुछ अन्य सुविधाएँ भी जुट आईं। अब मैं घर भी पैसे भेजने लगा था। बाबा ने बड़े आड़े समय में अपनी शरण में मुझे जगह दी थी और इस कारण ही यह थोड़ी-सी समृद्धि नसीब हुई थी। यह बात मैंने हमेशा याद रखी और बाबा और अम्मा की सेवा में कोई कसर नहीं रखी। बाज़ार से खरीददारी, घर में खाना तैयार करने में मदद करना, डॉक्टर और दवाइयों का प्रबंध, बैंक का काम, घर की मरम्मत, सफ़ाई-पुताई धीरे-धीरे ये सारे काम मैंने अपने हाथों में ले लिए। दोनों बूढ़ी जानें यूँ बेफ़िक्र हो गईं मानो इन झंझटों से उनका कभी वास्ता ही न रहा हो। समय तेज़ी से गुज़र चला और देखते-ही-देखते छह सात बरस निकल गए। आगे भी समय यूँ ही निकल जाता पर दो-तीन घटनाओं ने इसमें हलचल पैदा कर दी।

पहली बात तो यह कि बाबा का छोटा दामाद जो सिरसा में रहता था अचानक ही चल बसा और अपने पीछे पत्नी और एक बेटी छोड़ गया। मज़दूर आदमी था। छोटी-सी लोहे-लक्कड़ की दुकान थी उसकी, जिससे तीन पेट पलते थे। माल-दौलत कुछ नहीं था। उसके आँख मूँदते ही दोनों माँ-बेटी बाबा के पास वापस हो लीं। बाबा की अर्थव्यवस्था मकान के ऊपर बने दो कमरों से आने वाले किराए पर टिकी थी। इस अचानक आए बोझ ने स्थिति डाँवाँडोल कर दी। ये मामला भी शायद किसी तरह सब झेल लेते पर अम्मा इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर पाईं और थोड़े ही समय में दुनिया से विदा ले ली। उधर एक नई बात यह हुई कि एक दिन एक पुराना ग्राहक अपने तैयार सूट की फ़िटनेस परखते हुए मुझे पर मेहरबान हो उठा। मैंने ही उसके सूट की कटिंग की थी। बहरीन और काठमांडू में उसकी गारमेंट एक्सपोर्ट की फ़ैक्ट्री थीं। आदमक़द आईने में कपड़े की फ़िटनेस से ख़ुश होते हुए उसने मुझे बहरीन स्थित अपनी फ़ैक्ट्री में अच्छी तनख़्वाह और रहने-सहने की सुविधाओं के साथ काम का ऑफ़र दिया। दुगुनी तनख़्वाह और काम का आधुनिकतम तरीक़ा सीखने का आकर्षण और इधर की स्थिति ने मुझे दुविधा में डाल दिया। पर बहनें ताड़-सी बढ़ रही थीं और अब्बा-अम्मा उन्हें और अपने गुज़ारे की आमदनी देख कुंठित हो रहे थे। मुझे लगा कि दो साल के कॉन्ट्रैक्ट से उनका यह बोझ किसी हद तक हल हो जाएगा। आख़िर भारी मन से मैंने यह ऑफ़र स्वीकार कर लिया और बाबा को यह बात बता भी दी। बाबा एकदम हताश हो गए। मैंने उन्हें भरोसा दिलाया कि वहाँ का काम पूरा होते ही मैं वापस यहीं आऊँगा। वो तो बड़ा अच्छा हुआ कि उनकी नातिन यानी कृष्णा अब सयानी हो चली थी। बारहवीं उसने अच्छे अंकों से पास कर ली थी। इस सुंदर लड़की में एक-साथ कई गुण मौजूद थे। वह बातूनी मगर कुशाग्र बुद्धि और स्पष्टवादी थी। व्यावहारिक भी। परिस्थितियों को देखते हुए उसने स्थानीय विश्वविद्यालय में आगे की पढ़ाई के लिए हिंदी साहित्य में ऑनर्स के लिए पत्राचार पाठ्यक्रम में दाख़िला ले लिया। हालाँकि वह गणित और विज्ञान की अच्छी छात्रा थी। उसने जल्द ही आसपास से बच्चों को ट्यूशन के लिए इकट्ठा कर लिया। विभिन्न विषयों पर अपनी पकड़ से थोड़े समय में ही उसकी अपनी एक

साख भी बन चली। जिस तेज़ी से उसने बहुत सारे काम सँभाल लिए उससे बाबा को कुछ तो ढाढ़स-सी बँधी और वे मेरे जाने की बात को अंततः स्वीकार कर सके। इंदिरा गांधी अड्डे पर मुझे विदा देने वह ज़िद करके मेरे साथ गई। वापस अकेले आने की समस्या के समाधान के लिए अपनी माँ को भी साथ कर लिया। पूरे समय वह कई तरह की बातें करती रही जैसे वह मुझे विदा करने नहीं, मेरे साथ शॉपिंग के लिए निकली हों। पर उड़ान से पहले की औपचारिकताओं के लिए मेरे अंदर जाने का समय आते-आते उसका बातूनीपन सहमता-सा मालूम हुआ। आँखों में एक रहस्यमय शुभ्रता और चुप होते होंठों से उसने मुझे विदा दी। पूरे सफ़र में और बाद में बहरीन में रहते हुए लंबे समय तक कृष्णा की आँखों की उस चमक की पहेली को हल करने में उलझा रहा। पर आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ की नई व्यस्तताओं में यह पहेली कुछ बिसर-सी गई।

उसकी आँखों की यह चमक पुनः पहेली बन मेरे सामने तब प्रस्तुत हुई जब दो बरस बाद बहरीन से मैं वापस आया। उसने बड़े क़रीने से घर सँभाल रखा था। बाबा की झुर्रियों में कुछ गहराई ज़रूर आ गई थी पर आवाज़ और हौसला पहले की तरह ही जीवंत था। फिर भी घर में मेरे आने का जैसे लोग इंतज़ार ही कर रहे थे। इन दो वर्षों में हमारा संपर्क बाबा के नाम लिखी मेरी चंद चिट्ठियों और कृष्णा के हाथ से लिखवाए बाबा के जवाब से बना रहा था। चिट्ठी के अंत में बची जगह में वह स्वयं भी कुछ पंक्तियाँ लिख देती थी। पहेली का रंग उन इबारतों पर भी चढ़ा था, पर मैं उसे बूझ ही नहीं पाया।

यह पहेली आख़िरकार बहरीन से वापस आने के बाद जाड़े की एक रात के तीसरे पहर निद्रावस्था में खुली। एक सपना हौले-से मेरे अंदर रेंग आया था।

चेहरे पर किसी की उत्तप्त साँसें महसूस हुईं। मुझे लगा कि रज़ाई के अंदर ही किसी ने मेरे शरीर को ज़ोर से दबा रखा है। मेरी आँखें एकदम खुल गईं। कमरे में अँधेरा था। पर अपने साथ बिस्तर पर पड़ी उस आकृति को पहचानने में मुझे क्षण भर की भी देर नहीं लगी। ''कृष्णा तुम!''

मेरे होंठों पर उसने अपनी हथेली दबा दी और सरगोशी से बोली, ''शोर न करो।'' उसकी साँसें उखड़ी हुई थीं और शरीर काँप रहा था।

मैंने उसका हाथ अपने चेहरे से हटाया और उसे अपने से अलग करते हुए बोला, ''कृष्णा, यह तुम क्या कर रही हो? खुदा के लिए तुम यहाँ से तुरंत चली जाओ। बाबा ने देख लिया तो मैं क्या मुँह दिखाऊँगा उन्हें?''

वह अपनी साँसों को संयत करती चुप बैठी रही। मैंने उससे फिर कहा, ''कृष्णा, मुझे यह स्वीकार नहीं है। मुझे बस छोड़ दो। जाओ।''

वह दबे पाँव एक छाया-सी बनी वहाँ से निकल गई और शेष रात अपने किए के औचित्य से स्वयं को आश्वस्त करता रहा।

दूसरे दिन कृष्णा एकदम सामान्य थी। उसके चेहरे पर किसी तरह की झेंप नहीं थी। एकांत मिलते ही उसने सामान्य अंदाज़ में रात वाली बात छेड़ दी, ''सोहराब, रात मैं ज़रा स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाई। उम्मीद है तुम इसके लिए मुझे माफ़ कर दोगे।''

''चलो ठीक है।'' मैंने अपनी नैतिक ऊँचाई को ज़रा बढ़ाते हुए पर उदार भाव से कहा।

''पर सोहराब, मैंने ऐसा कामांध होकर नहीं किया। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ।'' वह बेबाकी से बोली।

''क्या बक रही हो तुम?'' मैं चौंक पड़ा। फिर उससे आँखें बराबर करते हुए बोला, ''कृष्णा, यह संभव नहीं है। मैं बाबा के विश्वास को तोड़ नहीं सकता और सबसे बड़ी बात हमारा धर्म

है। हमारे धर्म समानांतर रेखाओं की तरह कभी एक दूसरे से नहीं मिलतीं।''

ओफ़्फ़ो! सोहराब, तुमने फ़लसफ़ा ही छेड़ पर तुम मेरा निश्चय नहीं तोड़ सकते।'' बेबाकी से बोली।

सामान्य होने की कोशिश में ज़रा मुस्कुराते मैंने कहा, ''कृष्णा, यह मुमकिन ही नहीं कल रात की बात एकदम भूल जाओ। आख़िर फिर भी इंसानों का रिश्ता तो है ही।''

उसने तुरंत जवाब दिया, ''तुम सोचते हो मैं हथियार डाल दूँगी। मैंने बहुत पहले ही सोच था कि जो इस जन्म में तुम्हें न पा सकी तो जन्म में तुम्हें पाकर ही रहूँगी।''

मैं मुस्कुराने लगा, ''कृष्णा, तुम्हारी यह चाहत पूरी न होगी।''

क्यों?'' वह मुझे देखती हुई बोली।

तुम तो दूसरी बार जन्म भी ले लोगी। इस का तो पुनर्जन्म न होगा। तभी तो मैं कह हूँ। इतना फ़र्क़, इतने विरोधाभास है हमारे में हम समांतर रेखाओं पर हैं, समझ रही ना!''

बिलकुल नहीं समझ रही तुम्हारी बात।'' नाराज़ होती हुई बोली।

इस घटना के बाद मैं बाबा के यहाँ से भाग हुआ। हमेशा के लिए नहीं। हमेशा के बाबा के रहते मुमकिन भी नहीं था। सप्ताह एक-दो दिन आ जाता था। नोएडा स्थित एक कंपनी में काम मिला हुआ था। रात-ड्यूटी से आने-जाने की परेशानियाँ तो थीं मैंने नोएडा में ही एक कमरा किराए पर ले। उसी कंपनी में काम कर रहे एक अन्य मैनेजर के साथ। वास्तविकता यह थी कि की ज़िद भरी दीवानगी देखकर मैं ख़ुद से गया था। मेरा कमरा मेरे इंतज़ार में अलसाया मेरा ज़रूरी सामान वहीं पड़ा था। शुरू-में बाबा और कृष्णा की माँ दोनों अचंभे में रहे। उन्होंने कृष्णा से पूछा, कृष्णा की माँ से पूछा। कुछ वजह समझ में नहीं आई तो मुझसे पूछ बैठे। मैं बोला, ''बाबा, अब नोएडा में देर-सवेर काम करने के बाद यहाँ आना बड़ा दुश्वार होता है और फिर काम इस तरह बढ़ा हुआ है।''

''या अब तू मुझे छोड़ना चाह रहा है। तू तो हमेशा साथ रहने की बातें करता था।'' बाबा उलाहने देते हुए बोले।

मैं हँसने लगा, ''क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ। बाबा, आप चाहे मेरा ख़याल न रखो पर मैं तुम्हारी सेवा में हर क्षण उपलब्ध मिलूँगा।''

बात आई गई हो गई। ज़रूरत पड़ने पर वे तुरंत फ़ोन करवा देते और मैं उनके बुलाते ही जिन्न की तरह हाज़िर होने की कोशिश करता। उनका कहा सारा काम मैं कर जाता। शेष काम कृष्णा कर देती। कृष्णा से मेरी बातचीत में किसी तरह की कमी नहीं आई थी। बस अपने मन की बात वह नहीं करती थी। कभी-कभी मुझे लगता कृष्णा में एकाएक बदलाव-सा आ गया है। कभी लगता एक आँच-सी मन में लिए है वह। इस सोच से ही मैं घबरा जाता। फिर कुछ दिनों के लिए मैं ग़ायब हो जाता।

जाड़े के मौसम में बाबा फिसल पड़े और उनके कूल्हे की हड्डी में हल्का फ्रैक्चर आ गया। भीगे बुढ़ापे में यह बड़ी मुसीबत। डॉक्टर ने ट्रैक्शन लगा दिया। चलने-फिरने से मजबूर और ट्रैक्शन की यंत्रणा से वे बड़ी मुश्किल से निकल पाए। मैं काम पर जाने से पहले और वहाँ से लौटकर घर ज़रूर आता। इस मुसीबत से निकालने में कृष्णा ने बड़ा काम किया। आख़िर हम सबकी मेहनत रंग लाई। बाबा चलने-फिरने लगे। मगर इस तकलीफ़ ने जाते-जाते उन्हें बेहद कमज़ोर कर दिया। उनमें पहले की मानसिक शक्ति का भी अभाव दीखता। अकसर कुछ निराशा भरी बातें छेड़ देते। अपने मरने की बात

करते। वसीयत की बात करते। कृष्णा के ब्याह को लेकर चिंता प्रकट करते। बार-बार मुझसे बैंक खाते में जमा रक़म के बारे में पूछ बैठते।

लाजपत नगर में प्रवेश करते ही मेरा ऑटो वाला मुझसे आगे का रास्ता पूछने लगा तो मैं वापस लौटा। ज़्यादा देर नहीं लगी मुझे घर पर पहुँचने में। बाहर से ढेर-सारे लोग बाहर खड़े नज़र आ गए। पास-पड़ोस के लोग भी मौजूद थे। अर्थी अभी तैयार नहीं हुई थी। कुछेक रिश्तेदार शायद आने को रह गए हों! जाड़े के मौसम में लोगों को सवेरे निकलने में कुछ कठिनाई तो होती ही है। मैं सीधा उनके बिस्तर के पास गया। उनके चेहरे पर ज़िंदगी की लड़ाई में आई ख़राशें इस समय ज़्यादा स्पष्ट दीख रही थीं। उनके साथ बिताए कई बरसों की जिन यादों ने मेरे मन में आँधी-तूफ़ान उठा रखा था वे सब उस क्षण मेरी आँखों और जबड़ों में एक कसाव बनकर समा गए थे। एकाएक वे गर्म हो उठे थे। पलकों में गीलापन रिस आया। बिगड़ने से बनने की प्रक्रिया में जो व्यक्ति मेरे पीछे मज़बूत टेक बनकर खड़ा रहा, जिसने इंसानी रिश्तों की पाकीज़गी को ज़िंदगी की नहूसतों से लिथड़ने नहीं दिया, दूसरे क्षण मैंने यह सोचकर स्वयं को राहत पहुँचाने की कोशिश की कि अब ये आदमी मुझे धर्म संकट में नहीं डालेगा। मुखाग्नि की रस्म पूरा करने की ज़िद से मेरा इम्तहान नहीं लेगा। मुझे इतना चाहने के बावजूद मुझे दूसरे नाम से बुला-बुलाकर कुढ़न नहीं थोपेगा और कृष्णा के उठाए भँवर की परिधि से शायद मैं निकल पाऊँगा...

"सोहराब!" पीछे से कृष्णा की आवाज़ आई।

मैंने मुड़कर देखा। पर वह वहाँ रुकी नहीं। साथ आने का इशारा कर वह मेरे कमरे की ओर बढ़ गई। कमरे में अंदर आते ही उसने कहा, "सोहराब, देखो बाबा की मुखाग्नि की रस्म तुम्हें करनी है।"

मैं चौंक पड़ा, "यह कैसे हो सकता है? मैंने तो बाबा के सामने ही मना कर दिया था।"

"बाबा ने तुम्हारी शर्त पूरी कर दी है।" वह संयत स्वर में बोली।

मैं अबूझा-सा लगातार कृष्णा को देखता रहा।

कृष्णा ने बात आगे बढ़ाई, "कल रात तुम्हारे जाने के बाद बाबा बहुत बेचैन हो गए थे। कुछ देर बाद उन्होंने मुझे बुलाया और बोला कि सोहराब को फ़ोन कर दो कि मैं अब उसे सोहराब ही कहूँगा। बड़ी विचित्र-सी मन:स्थिति में थे वे। उन्होंने सबके सामने ज़ोर-ज़ोर से तीन बार कहा "सोहराब, सोहराब, सोहराब!" फिर बोले, "उसे बता दे पुत्तर, मैंने उसकी बात मान ली है।" उनके ज़ोर देने पर रात ही बाहर जाकर बूथ से मैंने फ़ोन करने की कोशिश की। लेकिन तुमने शायद अपने मोबाइल का स्विच ऑफ़ कर रखा था।"

मैं कृष्णा की आँखों में झाँकता खड़ा रहा। एक बेचैनी ने मुझे अपनी गिरफ़्त में ले लिया। क्या जवाब दूँ? मैंने सोचा।

मेरी प्रतिक्रिया देख कृष्णा बोल पड़ी, "मैं जानती हूँ, तुम कहोगे कि तुम्हारे धार्मिक संस्कार इसमें बाधा बन रहे हैं और ये कि हमारे धर्म समांतर रेखाओं की तरह हैं जो कहीं नहीं मिलतीं। पर सोहराब, धर्म की इन समांतर रेखाओं पर हम साझा संस्कृति की तिर्यक रेखा तो डाल सकते हैं और इसमें कोई मुश्किल भी नहीं। इनके मिलान से एकांतर कोण और संगत के कोण सब बराबर होंगे। मंत्रोच्चारण तुम न करना, पर बाबा की अंतिम इच्छा तो पूरी कर सकते हो न!"

मुझे लगा मैं मुक्त हो रहा हूँ।

सत्यजित राय

ब्योरों के संबंध में दो-चार बातें

एक अमूर्त अथवा एब्स्ट्रैक्ट कला के अलावा सभी कलाओं में विषयवस्तु का प्रयोग होता रहता है। संगीत और चित्रकला में जो अमूर्त रूप संभव है, साहित्य और चलचित्र में वह संभव है या नहीं अथवा अगर संभव हो तो क्या वह उच्च स्तर की कला हो सकता है या नहीं, इस विषय में संदेह है।

मैं जिस डिटेल—ब्योरे की बात कहना चाहता हूँ, अमूर्त कला में उसका स्थान नहीं है। विषयवस्तु को परिस्फुट अथवा समृद्ध करना ही इस डिटेल का उद्देश्य होता है। स्थान, काल, पात्र, घटना, मन के भाव, सब कुछ के वर्णन में ही इस डिटेल—ब्योरे की ज़रूरत पड़ती है तथा कलाकार की अनुभूति के ऊपर ही इसके प्रयोग की सार्थकता निर्भर करती है।

शिल्पी का आँख से देखना या कान से सुनना या मन से अनुभव करना सामान्य लोगों की अपेक्षा सूक्ष्म और निविडतर होने के लिए बाध्य है, अगर ऐसा न हो तो वह शिल्पी ही क्योंकर होगा? शिल्पी की इस इंद्रिय ग्राह्य सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति इन्हीं ब्योरों के माध्यम से होती है और इनके सार्थक प्रयोग से ही विषयवस्तु वर्णाढ्य उज्ज्वल हो उठती है।

हमारे देश में अधिकांश फ़िल्मों में ब्योरों—डिटेल का दैन्य लक्ष्य करके दुख होता है, कारण भारतीय शिल्प-साहित्य में डिटेल—विस्तृत ब्योरों को जो महत्त्व दिया गया है, विश्वसाहित्य में उसकी तुलना बहुत कम ही है। सिनेमा-पूर्व युग के शिल्प-साहित्य की बात ही मैं और बलपूर्वक कह रहा हूँ। चलचित्र को एकांत रूप से बीसवीं शताब्दी की शिल्पकला कहने पर भी उसकी रचनारीति आंशिक रूप से जो प्राचीन शिल्प-साहित्य में अंतर्निहित है, इस विषय में कोई संदेह नहीं है।

यहाँ पर चलचित्रोपयोगी डिटेल कहने से मेरा क्या आशय है, इसे स्पष्ट करने की ज़रूरत है। हमारे प्राचीन साहित्य में उपमा के प्राचुर्य की बात सभी जानते हैं। यह उपमा नामक वस्तु एकदम साहित्य की चीज़ है। कालिदास से एक उदाहरण दे रहा हूँ। *रघुवंश* में अज और इंदुमती के विवाह का वर्णन है। स्वयंवर सभा में इंदुमती ने अज के गले में माला पहना दी। कालिदास कह रहे

...राय : (1921-1992)
...विख्यात फ़िल्म निदेशक
...बांग्ला के कथाकार

...समीक्षक, आलोचक,
...रामशंकर द्विवेदी का
...1937 में हुआ। इन्हें
...अकादेमी के अनुवाद
...से सम्मानित किया गया
...संपर्क : 1260, नया
...पाठक का बाग़ीचा के
...उरई 205001 (उ.प्र.)

हैं : ''तब उस स्वयंवर सभा में एक ओर आनंद से विकसित वरपक्षीय व्यक्तिगण दूसरी तरफ़ भग्न मनोरथ नृपति मंडली अवस्थित है, ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रातःकाल सरोवर के एक ओर विकसित पद्म कानन हो एवं दूसरी तरफ़ मुरझाया मुद्रित कुमुदवन विद्यमान हो।''

यह तो हुई काव्य की उपमा। चलचित्र में इस तरह का प्रयोग स्वाभाविक नहीं होगा। किंतु, इस घटना के ठींक बाद विवाह की शोभायात्रा का ब्योरा दे रहे हैं एवं एक-के-बाद-एक चौंकाने वाली हालाँकि अत्यंत स्वाभाविक बिंबधर्मी डिटेल—ब्योरों की सहायता से इस घटना को प्राणवंत कर देते हैं। नगरवासियों के मन में इस शोभायात्रा ने कैसी चंचलता का संचार कर दिया था, इसी को हृदयंगम कराना कालिदास का उद्देश्य था :

''कोई रमणी द्रुतगति से गवाक्ष के पास पहुँच गई थी, इस हड़बड़ाहट में उसका कबरी बंधन खुल गया और उससे स्खलित होकर पुष्पमाला नीचे गिर गई, वह हाथ से उसे पकड़े रही, उसे पुनः वेणी में लपेटकर बाँधना होगा, यह विचार उसके मन में आया ही नहीं, प्रसाधन करने वाली अपने हाथ से किसी रमणी के चरणों में अलक्तक रंजित कर रही थी; वह उन्हीं गीले पैरों से शोभायात्रा के आकर्षण से अपनी विलास गति को विसर्जित कर गवाक्ष के पास पहुँच गई, गवाक्ष तक पूरा मार्ग लाक्षारंजित चरण चिह्नों से रंग गया। किसी रमणी के दाएँ नेत्र में काजल लग चुका था, बायाँ नेत्र काजल रहित था; वह उसी हालत में कज्जल-शलाका लिए गवाक्ष के निकट जा पहुँची। किसी रमणी के आधी गूँथी गई स्वर्ण माला के साथ त्वरित वेग से उठकर चलने के कारण पग-पग पर स्वर्णमाला से सारी मणियाँ नीचे गिरने लगीं, अंत में उसके अंगुष्ठमूल में सिर्फ़ सूत्रमात्र बचा रह गया...'' इत्यादि।

रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों के विपुलाकार का एक प्रमुख कारण है—उसके ब्योरेवार वर्णनों का प्राचुर्य। विशेष रूप से *महाभारत* को चलचित्रों के लिए सुलभ वर्णन की स्वर्ण खदान कहा जा सकता है। कुरुक्षेत्र युद्ध के अंत में गांधारी अपने दिव्य नेत्रों से रणभूमि की अवस्था देखकर कृष्ण के सामने उसका वर्णन सुना रही है :

''देखो, ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी दुर्योधन अपनी गदा से लिपटा रक्त से लथपथ देह लिए लेटा हुआ है। मेरे पुत्र की मृत्यु की प्रतीक्षा से भी कष्टकर प्रसंग यह है कि स्त्रियाँ अपने मृत पतियों का दाह-संस्कार कर रही हैं। लक्षण-जननी दुर्योधन-पत्नी अपना माथा पीटती हुई पति के वक्षस्थल पर गिर पड़ी है। मेरी पति-पुत्र हीन-पुत्र वधुएँ बिखरे हुए बालों से रणभूमि में इधर-उधर दौड़ती हुई भटक रही हैं। मुंडहीन देह अथवा देहहीन मुंड देखकर कई मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। यह देखो मेरे पुत्र विकर्ण की तरुणी पत्नी मांसलोभी गिद्धों को भगाने की चेष्टा कर रही है, लेकिन वह उन्हें भगा नहीं पा रही है।''...

भारतीय चित्रकला में भी वर्णनात्मकता की यह परंपरा बहुत दिनों तक अक्षुण्ण थी। बाघ, अजंता की गुफाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। मुग़ल-राजपूत मिनियेचर व्यक्ति चित्रों में भी इसके नमूने विद्यमान हैं। नैचुरलिज़्म (प्रकृतिवाद) पथ पर बिना गए भी मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य भाव को कैसे ब्योरों की सहायता से प्रस्फुटित किया जा सकता है, उसके चमत्कृत करने वाले दृष्टांत इन सब चित्रों में विद्यमान हैं। आकाश के ऊपर मात्र पाँच-सात समानांतर नीचे जाती हुई बूँदों की लाइनें खींचकर लघुचित्र-शिल्पी हमें वर्षा का अहसास करा देते हैं; नायिका की ओढ़नी की उड़ने वाली भंगिमा से वे आँधी का बोध करा देते हैं; प्रेम, विरह, आनंद, विषाद, क्रोध, लज्जा, ईर्ष्या इत्यादि सूक्ष्म

मन के भाव सिर्फ़ कायिक अनुभावों से समझा देते हैं। इन सब पुरानी तसवीरों लिए फ़िल्म-निर्देशकों के लिए बहुत कुछ को है।

देश के प्राचीन साहित्य में भी डिटेल—असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं। भारतचंद्र 'अन्नदा मंगल' में मानसिंह की सेना में आँधी-वर्षा का वर्णन उल्लेखनीय

तारिया फिरे घोड़ा डूबे मरे हाती।
गाड़ा गेल गाडि ऊट तार साथी॥
लिया बंदूक जामा पाग तलवार।
ढाल बुके दिया दिल सिपाई साँतार॥
करी बकरा मरे कुकड़ी कुकड़ा।
कुजरानी कोले करि मासिल कुजड़ा॥
घासेर बोझाय वसि घेसेड़ानी भासे।
घेसेड़ा मरिल डूबे ताहार हावासे॥
डूबे मरे मृदङ्ग बुके करि।
लोयात मासिल वीणार लाउ धरि॥

घोड़ा बच गया पर, हाथी (नदी में) मर गया। कीचड़ में गाड़ी अपने साथी के साथ फँस गई। सिपाही बंदूक़, अपने और तलवार फेंककर ढाल छाती से लगाकर पार उतर गया। बकरी बकरा और मुर्ग़ी गए। घास के गट्ठर पर बैठकर घसियारिन हुई पार उतर गई पर घसियारा अपनी में डूबकर मर गया। मृदंग बजाने वाला छाती से लगाने के कारण उसके बोझ पर वीणा बजाने वाला उसके तूँमे के ता हुआ पार उतर गया।

' कहने से सिर्फ़ आँखों से देखी गई के ब्योरेवार वर्णन से ही अर्थ समझना ऐसा नहीं है। चुने गए शब्दात्मक वर्णन —ब्यौरे के अंतर्गत आते हैं। तथा वहाँ ने वाली फ़िल्मों के साथ सीधे-सीधे संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है। प्यारी चाँद के उपन्यास *अलालेर घरेर दुलाले* से एक उदाहरण दे रहा हूँ : "हे सखि, श्याम का तो पता ही नहीं चला, इस मार्मिक आघात से मैं तो मरी जा रही हूँ—टक् टक्, पटास् पटास् मियाँजान गाड़ीवान कभी गाना गाने लगता है, टिटकारी मारकर बैल हाँक रहा है और साले बैल चल नहीं पा रहे हैं इसलिए उनकी पूँछ मरोड़ता हुआ सपात्-सपात् पनेठी मार रहा है। धीरे-धीरे मेघ घिर आए हैं, धीरे-धीरे वर्षा होने लगी—दोनों बैल हनहनाते हुए दौड़ने लगे और एक छकड़ा गाड़ी को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। उस छकड़ा गाड़ी में प्रेमनारायण मजूमदार यात्रा कर रहे थे, छकड़ा हवा से हिल रहा था, दोनों घोड़े वात के रोगी घोड़े के बाप थे—पक्षीराज गरुड़ के वंश के डगर-मगर होते हुए चल रहे थे—पटापट-पटापट उनकी पीठ पर चाबुक पड़ रहे थे। किंतु, किसी भी तरह उनकी चाल में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा था। प्रेमनारायण दो कौर भात खाकर सवार हुए थे—गाड़ी के हिचकोले खाते-खाते उनके प्राण होंठों तक आ गए थे। बैलगाड़ी आगे निकल जाने से वे और भी दुखी हो गए थे।"...

ध्वन्यात्मक शब्दों के ब्योरों द्वारा यह कॉमिक चित्रण और भी रसीला हो गया है क्या इसमें कोई संदेह है? फ़िल्मों में भी इस क़िस्म का ब्योरा ठीक इसी रूप में आएगा इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राक्-चलचित्र युग के पहले सांप्रतिक साहित्यकारों में विशेष रूप से दो साहित्यकारों की विवरण के प्रति सचेतनता के बारे में उल्लेख करना पड़ेगा—वे हैं बंकिमचंद्र और अवनींद्र नाथ। *विषवृक्ष* उपन्यास में नगेंद्रनाथ दत्त के घर के सहन का लगभग पूरे एक पृष्ठ का विवरण है। कहाँ तक कहा जाए, यहाँ पर लेखक का आग्रह शिल्प-सृष्टि की अपेक्षा तथ्य प्रस्तुत करने

की ओर कुछ कम नहीं है। किंतु, बंकिम को यह पता था कि कहानी के काल्पनिक होने पर भी पाठकों के मन में उसे विश्वसनीय बनाने के लिए डिटेल—विवरण की सहायता से उसकी एक पृष्ठभूमि बना लेनी पड़ती है।

अवनींद्रनाथ को मुख्य रूप से जिस शिल्पविधि ने प्रभावित किया था, उसके मूल में थी हमारे बंगाल की रूपक कथाएँ। उनकी स्वयं की सारी रचनाएँ इसी रूपक कथाओं के वर्ग में आती हैं। रूपक कथाओं में डिटेल—विस्तृत विवरण नामक वस्तु की आवश्यकता सबसे अधिक पड़ती है—कारण उसमें जिन सब कल्पनाओं को रूप दिया जाता है डिटेल के अलावा उनमें से अधिकांश का ही कोई अस्तित्व नहीं होता है। राक्षस नामक वस्तु वास्तव में नहीं होती है, इसे हम सभी मानते हैं, किंतु बच्चे के मन में राक्षस का एक विवरण-सहित चेहरा स्पष्ट रूप में होता है :

''पीठखाना तार कूलो
दाँतगुलो तार मूलो, कान दुटो तार नाटा नाटा
चोख दुटो आगुमेर भाँटा।''

अर्थात् उसकी पीठ पर कुब्बड़ है, उसके दाँत मूली जितने बड़े हैं, दोनों कान उसके छोटे-छोटे, आँखें दोनों आग का गोला।

हमें पता है कि रूपक कथा का राजा सि[illegible] बड़ा ही नहीं होता है, उसके हाथीख़ाने में हाथी घुड़शाल में घोड़े, भंडार में माणिक, कोठरी भ[illegible] मोहरें भी होती हैं। 'हमें पता है कि सुयोरानी-[illegible] राजा की प्रिय रानी की देह स्वर्ण शय्या पर औ[illegible] पैर चाँदी की शय्या पर रहते हैं' और 'गर्व [illegible] मारे उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते हैं।' रा[illegible] का अगर भय हो तो हम जानते हैं उसके प्रभा[illegible] से उसके राज्य में 'बाघ और गाय एक ही घा[illegible] पर पानी पीते हैं।' एक-एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक-एक ब्योरे, एक-एक डिटेल, चि[illegible] की सहायता के बिना भाव की अभिव्यक्ति न[illegible] हो सकती है, यह कहा जा सकता है। रूप क[illegible] के अलावा गीति-काव्य में भी डिटेल-वर्ण[illegible] की प्रचुरता देखी जा सकती है। लेखक[illegible] कथावाचक, कविवाला (हरिबोला), पांचाली[illegible] कार—सभी ने भाव प्रकाशन के लिए बार-ब[illegible] चित्रों का सहारा लिया है। हालाँकि चित्र रच[illegible] ही जिनका काम है, वे चित्रों की बात भूल जाएँ[illegible] सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन अर्थात् डिटेल की ब[illegible] भूल जाएँगे, इससे बड़े आक्षेप का विषय क[illegible] हो सकता है?

ब्रह्मस्वरूप शर्मा

संचार माध्यमों की सापेक्षता में साहित्य

सूचना तकनीकी की नित्य नवीन उपलब्धियाँ संचार माध्यमों को न केवल भिन्न क्षेत्रीय सूचनाओं को द्रुतगामिता से जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए संपन्नतर कर रही हैं अपितु सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को भी नए आयाम दे रही हैं। अस्तित्ववादी दर्शन में 'क्षण' को जिस आशय, संदर्भ और प्रसंग में प्रयुक्त किया गया है वह सूचना तकनीकी की सत्ता में आज नितांत भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। अपने इस प्रयोग में वह विश्व के समस्त क्रिया व्यापारों को प्रभावित कर रहा है। सूचना तकनीकी का क्षण मृत्यु-उपासक, निराशा-साधक, अवसाद-धारक और कुंठा-पूजक नहीं अपितु जीवन को उसकी संपूर्ण गरिमा, महिमा और विराटता में जीने का पक्षधर है। ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी विधाओं को प्रभावित करता यह क्षण संचार-साधनों के माध्यम से विश्व-मानव के सामाजिक जीवन को सभ्यता-संस्कृति के नवीन आभूषणों से अलंकृत कर रहा है। विश्व-मानव के सामाजिक जीवन में उसकी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी स्थितियाँ और पक्ष सम्मिलित हैं। वैचारिक प्रक्रियाओं में पक्ष विशेष पर विशिष्ट बिंदु क्षेत्रीय पृथकताएँ बनाए हुए भी विराट-कल्याण के गंतव्य पर स्वत्व को तिरोहित कर देते हैं। संचार माध्यमों ने दैनंदिनी जीवन के प्रसंगों में मानव-कल्याण के विराट दर्शन से जन-साधारण को अवगत कराया है। यह संचार माध्यमों की ही देन है कि विश्वघटित क्रिया-व्यापार और भिन्न सामाजिक व्यक्ति-व्यवहार जन-साधारण की आलोचना, प्रत्यालोचना और बहस के विषय बन जाते हैं। भिन्न राष्ट्रीय, प्रदेशीय और क्षेत्रीय व्यवस्थाओं से अनुशासित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियाँ संचार माध्यमों के आलोक में निरंतर निखार पाती हैं।

संचार माध्यमों की द्रुतगामिता, तत्कालीनता और सद्यः प्रभावात्मकता से प्रभावित परिवेश में जीवन-वास्तविकताओं का उद्‌घाटन करता साहित्यकार भी मानव-मूल्यों को नए प्रसंगों में अर्था रहा है। यद्यपि इस प्रयास में उसकी रचनाओं में यदा-कदा

...62 में जन्मे ब्रह्मस्वरूप शर्मा
...सात पुस्तकें प्रकाशित हुई
संपर्क : 52, जे.डी.एम.
...पार्टमेंट्स, प्लॉट-11,
...क्टर-5, द्वारका, नई दिल्ली
...0075 फ़ोन : 250849511

अपेक्षित साहित्यिक गंभीरता का अभाव हो जाता है तथापि जीवन की सार्थकता का अन्वेषण, विश्लेषण और परिमार्जन उसे विचारक बनाए रखता है। शाश्वत के अभाव में कोई भी रचना साहित्यिक गंभीरता को नहीं पा सकती। शाश्वत जड़ता, अपरिवर्तनीयता और स्थिरता का वाचक नहीं, निरंतरता, अविच्छन्नता और गतिशीलता का पर्याय है। जीवन का शाश्वत जागतिकता में मानवता का अन्वेषण है। जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना है। स्वानुभूत जीवन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार मानवता को उन्हीं संदर्भों में गहराता है जिनसे मानव-मूल्य निरूपित होते हैं। वरेण्य और त्याज्य की स्थिति सदैव विवादास्पद रही है। साहित्यकार निर्णायक नहीं होता, उसे होना भी नहीं चाहिए। उसकी अन्वेषक स्थिति उसे सतत प्रयासरत रखती है। संचार माध्यमों की सापेक्षता में साहित्य का आकलन स्पष्ट करता है कि तथाकथित शाश्वत और सद्यः वांछनीयता के संदर्भ में ही मानवता को प्रभावित करते हैं, दार्शनिक जटिलता में उनकी उपयोगिता संदिग्ध है। संचार माध्यमों का सद्यः और साहित्य का शाश्वत भिन्न प्रस्थान बिंदुओं से मानवता की ओर अग्रसर होते अंततः वरेण्य मूल्यों के गंतव्य तक ही पहुँचते हैं। प्रभावांविति में भी सद्यः और शाश्वत तुलनात्मक हो सकते हैं किंतु सामाजिक उपयोगिता में उनकी श्रेणीबद्धता निरर्थक ही होगी। गत दशकों का इतिहास साक्षी है कि संचार माध्यमों के एक प्रमुख अंग पत्रकारिता ने साहित्य को व्यापक रूप में प्रभावित किया और साहित्य ने पत्रकारिता को दिशा दी। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और परवर्ती युगों के अनेक साहित्यकार पत्रकार रहे और पत्रकार साहित्यकार रहे। बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसी दास चतुर्वेदी आदि साहित्यकारों-पत्रकारों का सामाजिक जागृति में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

रागात्मकता आह्लादक होती है, तथ्यात्मकता सूचनापरक। अपनी रागात्मकता के कारण ही साहित्य शाश्वतस्पर्शी होता है और सूचनात्मकता के कारण संचार माध्यम सद्यः प्रभावकारी। साहित्य में आज शाश्वत बनकर उभरता है, संचार माध्यमों में वह अब, तत्काल एवं तुरंत। शाश्वत ज्ञानमूलक और आज बोधमूलक होता है। साहित्य ज्ञान देता है; संचार माध्यम जानकारी देते हैं। साहित्य में अपेक्षाकृत गंभीरता होती है, संचार माध्यमों में सुलभता, सरलता और सहजता। साहित्य अंशतः परिपक्वता की अपेक्षा करता है, संचार माध्यम सामान्य जागरूकता की। दोनों प्रकृति, प्रवृत्ति, अभ्यास और क्रियान्वयन में भिन्न हैं किंतु उद्देश्य में अभिन्न हैं। मानव-कल्याण ही दोनों का उद्देश्य है। रागात्मकता और तथ्यात्मकता सामाजिकता की अपेक्षाएँ, आवश्यकताएँ और अनिवार्यताएँ हैं।

अवसर, प्रसंग और उद्देश्य के अनुकूल गंभीरता, सहजता और सरलता अपेक्षित होती हैं। गंभीरता के नाम पर क्लिष्टता और सरलता के नाम पर बाज़ारूपन कभी वांछनीय नहीं रहे। न साहित्य सरलता का विरोधी रहा है और न ही संचार माध्यम गंभीरता के। वस्तुतः संचार माध्यम सहज सरल भाषा में इतनी गंभीर बात कह जाते हैं कि उसकी दार्शनिक विवेचना की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार साहित्य भी दार्शनिक तथ्यों को जन साधारण की भाषा-शैली में प्रस्तुत कर देता है। अतः गंभीरता और सरलता किसी विशिष्ट विषय, क्षेत्र या माध्यम की विशेषताएँ नहीं, उनका आनुपातिक उपयोग ही विधा विशेष का अभीष्ट हैं। संचार माध्यमों को विज्ञापन-शैलियों और विज्ञापन शैलियों ने संचार माध्यमों को दूर तक प्रभावित किया है। साहित्य विज्ञापन-शैलियों से प्रत्यक्षतः तो प्रभावित नहीं दिखता किंतु विज्ञापन की मुद्राएँ साहित्यकार की अभिव्यक्ति को प्रभावित अवश्य करती हैं। विज्ञापनों में प्रयुक्त भाषा-शैली, कथन-भंगिमाएँ और परिवेश

तियाँ लघु कथाओं, कविताओं और नाट्य
तियों को विशेषत: प्रभावित कर रही हैं।
प्रभावशाली विज्ञापनों में साहित्यिकता का
हता है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि
चित् साहित्यिकता का पुट विज्ञापनों को
शाली बनाता है।
आज साहित्य की सहजानुभूति संचार माध्यमों
प्रतिक्रिया-प्रवृत्ति से प्रेरित प्रतीत होती है।
ता का आग्रह रहते हुए भी साहित्यकार
लीनता को गंभीरता से उभार रहा है। सम-
जिकता में मानव-मूल्यों का विश्लेषण आज
हित्य, विशेषत: कथा-साहित्य की प्रमुख
ता है। यद्यपि साहित्य में तत्कालीनता सद्य:
धान के पर्याय में व्यक्त नहीं हो रही है
पि उसे शाश्वत के परिधान में निरंतरता वाचक
नहीं रखा जाता। सामाजिकता के प्रति साहित्य
संचार माध्यम दोनों ही तत्परता के आग्रही
हिंदी कविताओं में यह आग्रह अधिक मुखरता
भरा है। कहना होगा कि साहित्य की भिन्न
ओं का बदलता कलेवर भी संचार माध्यमों
तत्कालीनता से प्रभावित है। साहित्यकार
जानुभूति को न रसानुभूति में परिणत करता
और न ही कलात्मकता के आग्रह में उसे
संगिक बनाता है। सहजानुभूति आज भी
त्यिक रचनाओं की गंगोत्री है किंतु आलोचक
समसामयिक संदर्भों में ही गहराते हैं,
शास्त्र का आश्रय नहीं खोजते। अपने उत्स
संचार माध्यमों की अभिव्यक्तियाँ भी
जानुभूति से प्रेरित होती हैं किंतु इस अनुभूति
र्शनिकता के लिए अधिक अवसर नहीं।
त्यकार जहाँ इस अनुभूति को रागात्मकता
करता है, वहाँ पत्रकार इसे इतिवृत्तात्मकता
स्तुत करता है। व्यक्ति और समाज के प्रति
दायित्वशील रहते हुए कथ्य को अपनी-
भंगिमाओं में अर्थाते-गहराते हैं।
साहित्यकार की अपेक्षा पत्रकार जनता के
अधिक प्रतिबद्ध होता है। संचार माध्यमों में
लोकरंजन के लिए तो अवसर हैं किंतु काव्यशास्त्रीय आनंद के लिए उसमें कदाचित् अवसर नहीं। उत्तेजना, सनसनी, हलचल, खलबली, खींचतान आदि पत्रकारिता तथा अन्य संचार माध्यमों के अलंकार हो सकते हैं, साहित्य के नहीं। साहित्यकार निरंतरता, परिवेश में परंपरा अन्वेषण, परंपराओं में परिवेश आकलन, व्यक्ति-समाज अंतर्संबंध, व्यावहारिकता में आदर्श निरूपण और आचरण में मानव-मूल्य संशोधन आदि में सामाजिक प्रतिबद्धता दर्शाता है। इन प्रयासों में संचार माध्यमों की अपेक्षा प्रतिबद्धता प्रदर्शन के प्रत्यक्ष अवसर कम ही होते हैं, प्राय: प्रतिबद्धता परोक्ष रूप में ही उभरती है। इस परोक्ष में ही साहित्य की निरंतरता और गंभीरता है, संचार माध्यमों की तत्कालीनता की अनुपस्थिति भी। भिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियों के रहते दोनों अनुशासन सामाजिकता के प्रति सजग रहते हैं और अपनी शैलियों में प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं। पिछले दो-तीन दशकों के साहित्य, विशेषत: कथा साहित्य में संचार माध्यमों की प्रतिबद्धता स्पष्टत: लक्षित है। निरंतरता में दार्शनिक बोझिलता का घटता आग्रह तत्कालीनता को परिष्कृत परिवेश में व्यक्त करता प्रतिबद्धता को प्रचारात्मकता से भी बचा रहा है। साहित्यकार परिवेश को उसकी वास्तविकता में स्वीकार कर उसे मानवताधर्मी स्वरूप अवश्य देता है, आदर्श की दार्शनिक ऊहापोह से वह प्राय: मुक्त ही रहता है। संचार माध्यमों की वस्तुपरकता साहित्यकार की वास्तव-अन्वेषी दृष्टि को प्रखरतर कर रही है।

तत्कालीनता, विस्तार, प्रचार, प्रसार, सद्य: प्रभावात्मकता प्रयत्नरत परिणामात्मकता सूचना तकनीकी के इस युग में संचार माध्यमों की ही नहीं अपितु उद्योगरत हमारे सभी साधनों, माध्यमों और प्रयासों की विशेषताएँ हैं। सूचना तकनीकी की नित्य नवीन उपलब्धियाँ हमारे सभी संसाधनों को प्रभावित करती सामाजिकता को नित्य नवीन

आयाम प्रदान कर रही हैं। हमारी दैनंदिनी क्रियाएँ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में नवीनताओं से प्रभावित होती मानव-मूल्यों की भी नवीन अभिव्यंजनाएँ प्रस्तुत कर रही हैं। सामाजिकता की निर्मिति में साहित्य की अपेक्षा संचार माध्यमों की अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली भूमिकाएँ होती हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में रागात्मकता के आयामों में भी परिवर्तन आया है। रुचियों ने संस्कारों को झकझोरा है। सौंदर्य के प्रतिमानों में निखार आया है। परिवर्तनों की प्रक्रिया में मान्यताएँ भी बदलती हैं। आज भाषा विशेष का साहित्य संबंधित भाषा-भाषियों तक ही सीमित न रहकर इतर भाषा क्षेत्रों में रुचिपूर्वक पढ़ा-पढ़ाया जाता है। भिन्न समुदायों के अंतर्संबंधों में निखरते जीवनमूल्य मानवीय संवेदनाओं को गहराते जिस विश्व समाज की संरचना कर रहे हैं उसमें रागात्मकता भी व्यापक साहित्यिक प्रतिमानों में व्याख्यायित हो रही है। सूचना तकनीकी की उपलब्धियों में निखरती संचार माध्यमों की शैलियाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति को भी प्रखरतर बना रही हैं। संचार माध्यम साहित्य के कथ्य-कथन, भाव-भंगिमा, प्रस्तुत-प्रस्तुति, सौंदर्य-शैली आदि सभी अंगों को प्रभावित कर साहित्य को अधिकाधिक लोकोन्मुखी, जीवनोपयोगी और उद्देश्यपूर्ण बना रहे हैं। संचार माध्यमों की गतिशीलता साहित्यिक रचनाओं में विचारशीलता बनकर उभर रही है। साहित्य का पठन-पाठन भी रूढ़िबद्धता से मुक्त होकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में हो रहा है। जहाँ पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में साहित्यिक गंभीरता स्वाभाविक रूप में रहती है वहीं पत्र-पत्रिकाओं की सहज-सरल प्रस्तुतियाँ साहित्य विशेषत: कथा-साहित्य में रोचकता प्रदान करती हैं। सहजता लघु कथाओं की लोकप्रियता का एक मुख्य कारण है। मुक्तक कविताओं का गत्यात्मक भाव सौंदर्य बिंब और प्रतीकों की बोझिलता को सह्य बना देता है।

विचारणीय है कि जब संचार माध्यम इतने प्रबल नहीं थे जितने आज हैं, उन दिनों जन-साधारण की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह साहित्य ही करता था। विश्व के भिन्न देशों में क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण हेतु साहित्य ही था। जन-जागृति के लिए समाज की सोच में परिवर्तन आवश्यक है और यह परिवर्तन मंदगति से ही सही, साहित्य लाता है। संचार माध्यम सोच को गति, प्रसार, प्रचार देते हैं, उसे प्रभावित भी करते हैं किंतु समाज की सोच भिन्न क्षेत्रों में भिन्न कारणों, साधनों, उपलब्धियों, परिणामों आदि से आए परिवर्तनों से संशोधित जीवन-मूल्यों से बनती-बिगड़ती है, निर्मित होती है। चूँकि साहित्य-रचना के केंद्र में जीवन-मूल्य चिंतन निहित है अत: समाज-सोच की निर्मिति में साहित्य की महत्त्वपूर्ण देन है। संचार माध्यम अपनी विशिष्ट प्रकृति, प्रवृत्तियों, साधनों, उपलब्धियों और प्रयोगों में साहित्यकार को सामाजिकता के नवीनतम स्वरूपों से अवगत रखते हुए उसे सामाजिक चेतना से युक्त रखते हैं। संचार माध्यमों के इस ऋण को साहित्य अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन-मूल्य चिंतन से प्रेरित साहित्य संचार माध्यमों को लोकोन्मुखी, लोकोपयोगी और लोकहित चिंतक बनाए रखता है और संचार माध्यम साहित्य को वर्तमान संदर्भों से युक्त रखता है। आज का ज्ञान कराने में संचार माध्यम विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करते हैं। साहित्य में आज के सन्निवेश में उभरता शाश्वत जीवन-मूल्यों को परिमार्जित करता चलता है। इस प्रक्रिया में साहित्य का शाश्वत और संचार माध्यमों का सद्य: अभिन्न नहीं रह जाते। यह अभिन्नता ही साहित्य और संचार माध्यमों को प्रतियोगी नहीं, सहयोगी बनाए रखती है।

परमानंद पांचाल

मिनिकॉय की भाषा और लिपि

भारत के संघ-शासित क्षेत्र लक्षद्वीप समूह का विचित्रताओं से भरा एक द्वीप है—मिनिकॉय। यह द्वीप भारत के दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर में स्थित है और केरल के कोच्चि समुद्र तट से 398 किलोमीटर की दूरी पर है। मार्कोपोलो ने 13वीं शताब्दी के अपने यात्रा वर्णन में इस द्वीप को 'स्त्री द्वीप' कहा था। कारण यह कि यहाँ पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की जनसंख्या तो अधिक है ही, जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियों का ही प्राधान्य है। संस्कृति, वेश-भूषा, खान-पान और भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी यह द्वीप अपने समीपवर्ती सभी द्वीपों से भिन्न है।

भाषा की दृष्टि से लक्षद्वीप के प्रायः सभी द्वीपों की भाषा अपने समीपवर्ती राज्य केरल की भाँति 'मलयालम' ही है, किंतु मिनिकॉय की भाषा एक भिन्न भाषा है, जिसे 'महल' कहा जाता है। यह भाषा भारत के अन्य किसी भी क्षेत्र में नहीं बोली जाती। इस भाषा की लिपि भी भिन्न है, जिसे 'दिवेही ताना' लिपि कहा जाता है। संसार की अन्य किसी भी भाषा की यह लिपि नहीं है।

यह आश्चर्य की बात है कि भारत के भाषाई मानचित्र पर इसका उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने *भारत के भाषा सर्वेक्षण* नामक अपने ग्रंथ में इसका नामोल्लेख तो किया है, किंतु विवरण केवल एक वाक्य में ही समाप्त कर दिया। भाषा विज्ञान के अन्य अध्येताओं ने भी इस भाषा के संबंध में अधिक प्रकाश नहीं डाला। हमारे प्रशासनिक क्षेत्र में भी इस भाषा को लेकर अभी भी एक प्रकार से अनभिज्ञता ही व्याप्त रही है। अधिकतर लोग सारे लक्षद्वीप की भाषा को मलयालम ही मान बैठे हैं, जबकि स्थिति इससे भिन्न है। इस भ्रांति का एक चित्र उस समय देखने को मिला जब 20 अक्तूबर 1985 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने यहाँ की एक सभा को संबोधित किया। मैं भी उनके साथ वहाँ उपस्थित था। अन्य द्वीपों की भाँति जब इस द्वीप में भी हिंदी से मलयालम में अनुवाद के लिए एक दुभाषिए की सेवाएँ ली गईं तो वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा कि आप हिंदी में ही बोलिए, हमें समझ आती है। जिज्ञासावश जब मैंने इस रहस्य को जानने की कोशिश की तो पता चला कि

हिंदी के प्रतिष्ठित रचनाकार परमानंद पांचाल का जन्म 1930 में हुआ। आलेख एवं समीक्षात्मक निबंध की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। गृह-मंत्रालय से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 232-ए, पॉकेट-1, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली 110091

वहाँ की भाषा मलयालम है ही नहीं। वहाँ मलयालम तथा अंग्रेज़ी की अपेक्षा बोलचाल की हिंदी से ही काम चल जाता है।

भाषिक दृष्टि से 'महल' भाषा भी भारोपीय परिवार की ही एक भाषा है, जो भारत के निकटवर्ती देश मालदीव में भी बोली जाती है। इस भाषा पर विचार करने से पूर्व यहाँ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी विचार करना प्रासंगिक होगा। इस द्वीप पर इस्लाम के प्रसार से पूर्व बौद्ध और हिंदू धर्म ही प्रचलित था। कुछ दिनों पूर्व यहाँ अलूड़ी के स्थान पर महात्मा बुद्ध की एक खंडित मूर्ति भी प्राप्त हुई है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। बौद्ध धर्म के कारण ही पाली और संस्कृत भाषा के अनेक शब्द जो उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित थे, यहाँ आए। सिंहली भाषा के शब्द भी इसे मिले, क्योंकि सिंहल द्वीप (श्रीलंका) के साथ ही यहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था।

कालांतर में यहाँ इस्लाम का प्रवेश हुआ और इनका सीधा संबंध अरब से हो गया। अरबी भाषा के अनेक शब्द इस भाषा में आए। यहाँ की भाषा ने अरबी लिपि तो स्वीकार नहीं की, किंतु उसके सहयोग से एक नई लिपि तैयार हो गई, जिसे 'दिवेही ताना' कहा जाता है। मिनिकॉय से कोई 80 किलोमीटर की दूरी पर 'मालदीव गणराज्य' स्थित है। भाषा और संस्कृति की दृष्टि से दोनों क्षेत्रों में भारी समानता है।

परिस्थितिवश दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी समान रही है। यह भी धारणा है कि इन सभी द्वीपों और श्रीलंका में भारत से आर्यों का प्रवेश एक ही समय हुआ था। बाद में बौद्ध धर्म भी साथ ही यहाँ फैला था। इसीलिए सिंहली भाषा और मालदीव तथा मिनिकॉय की भाषा में कुछ समान विशेषताएँ हैं, जबकि लक्षद्वीप के अन्य द्वीपों की भाषा में वह समानता नहीं है।

महल भाषा को 'दिवेही' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है—द्वीपों की भाषा। इस भाषा को श्री कोलिन पी. मासिका ने 'असंसक्त भारत-आर्यायी भाषाओं के अंतर्गत माना है, क्योंकि यह भाषा भी संसक्त भारत-आर्यायी' क्षेत्र की परिधि से बाहर स्थित है। मिनिकॉय के एक कवि, अब स्वर्गीय, श्री एम. अली इस्माइल ने मुझे बताया कि इस भाषा में काव्य परंपरा भी है। आकाशवाणी कोजिकोड (कालीकट) केंद्र से इस भाषा में संगीत प्रसारण भी होता है, जो यहाँ बहुत लोकप्रिय है। उसने स्वरचित अपनी एक कविता भी सुनाई। यहाँ इस समय इब्राहीम मानिकफान नाम से एक अन्य प्रसिद्ध कवि भी हैं।

'महल' भाषा को एक विकसित भाषा माना जा सकता है। इसका अपना साहित्य और अपनी पृथक लिपि है। भारतीय नृ-विज्ञान सर्वेक्षण के अनुसार 'महल' भारोपीय भाषा समूह के एक उप-परिवार सिंहली वर्ग की भाषा है।

1971 की जनगणना के अनुसार भारत में इसके बोलने वालों की जनसंख्या 5,035 थी। इसके बोलने वालों में मानिकफेन, रावरी ठाकरू और ठाकुरू फेन नाम की अनुसूचित जनजातियों के लोग हैं। भारत के भाषायी अल्पसंख्यक आयोग की 1981 की रिपोर्ट के अनुसार लक्षद्वीप के द्वीपों में 'महल' भाषा बोलने वाले लोगों की जनसंख्या 6,658 थी, जो लक्षद्वीप की कुल जनसंख्या का 15.15 प्रतिशत है। इस प्रकार महल भाषी लोग इस समय लगभग 8,000 के क़रीब हैं। इस भाषा का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि प्रायः यही भाषा निकटवर्ती मालदीव गणराज्य में भी बोली जाती है।

भाषिक दृष्टि से इस भाषा का हिंदी और पाली से अद्भुत साम्य है। संबंध तत्त्व और अर्थ तत्त्व दोनों दृष्टियों से ही इसमें अनेक समानताएँ लक्षित होती हैं।

बानगी के लिए कुछ शब्द यहाँ दृष्टव्य हैं—

परिता (परिचय), बस (भाषा), अमो (अम्मा), बफो (बापु, पिता), रूई (रुधिर), असगिन (अग्नि), सिंहा (सिंह), समसा (चमचा), सतरी (छतरी), दिवस (दिवस), दकुन (दक्षिण) उतरू (उत्तर), पुरवा (पूर्व), पुरि (पूर्ण, प्रा. पूरिता), हिला (शिला), ताबू (थंब, सं. स्तंभ), नौ (नाव), बी (सं. बधिर), मिरू (मधुर), अंदीरी (अँधेरा), इंगीली (उँगली), हकुरू (शक्कर, सं. इक्ष>इक्खु>इक्खुरू>हकुरू), मादु (मध्य), फेन (पानी), अख (इक्षु), हुवै (शपथ, प्रा. सपद) हेकी (सं. साक्षी, प्रा. साखी), कानु (काना), कतीरी (योद्धा, सं. क्षत्रि), फुहेन (पूछना), बिस (अंडा, सं. बीज), अरबी (बेजा), फिरि (पुरुष, प्राकृत-पुरिषा), ओदान (सं. अवदान), फुरादान (प्रधान), 'फिरी' उपसर्ग से कई पुरुषवाचक संज्ञाएँ बनाई गई हैं यथा फिरिकलेगी=पति और फिरिकनबलि=बैल आदि।

इस प्रकार सर्वनामों में भी बहुत साम्य है—मा (मैं), मा-जे (मुझसे), मा-रा (मुझको), तिया (तू), इना (वह), इनाया (उसको या उनको) आदि।

संख्यावाचक शब्द—

महल भाषा में गिनती और संख्या का क्रम भी प्रायः हिंदी के समान ही है। प्रो. विल्हेम गैगर के अनुसार कुछ अंक तो सिंहली की अपेक्षा पाली से अधिक मिलते-जुलते हैं। इनसे पता चलता है कि कभी उत्तरी भारत के साथ यहाँ का व्यापारिक और सामाजिक संबंध प्रगाढ़ रहा होगा। दिवेही की अंकतालिका दृष्टव्य है—

महल	हिंदी	महल	हिंदी
एके	एक	इगारा	ग्यारह
दे	दो	बारा	बारह
तिने	तीन	तेरा	तेरह
हतरे	चार	सौदा	चौदह
पहे, फहे	पाँच	फनरा	पंद्रह
हये	छह	सोला	सोलह
हते	सात	सतरा	सत्रह
अरे	आठ	उनवीहि	उन्नीस
नुबे	नौ	वीहि	बीस
दिहये	दस		

यही नहीं इससे आगे का संख्या क्रम भी लगभग समान है, जैसे—

21	इकवीस	29	उनतीरिस
22	बावीस	30	तीरिस
23	तेवीस	40	सालिस
24	सावीस	41	एकालिस
25	फसवीस	42	बयालिस
26	सब्बीस	50	फसास
27	हतवीस	100	सतेक (शत)
28	अरवीस	1000	हाहे (सहस्र)
		100000	लक्का (लाख)

हिंदी में सामान्यतः जिस प्रकार से संख्या में 'वॉ' प्रत्यय लगाकर क्रमांक निश्चित कर लिया जाता है। जैसे—पाँचवाँ, सातवाँ आदि। उसी प्रकार से महल में क्रमांक के लिए संख्या में 'वना' प्रत्यय लगाकर क्रम निश्चित कर लिया जाता है। जैसे—

महल	हिंदी
फुरतमा	प्रथम
देवना	द्वितीय
तिनवना	तृतीय
हतरावना	चतुर्थ
दिहावना	दसवाँ
सालिसवना	चालीसवाँ आदि

मिनिकॉय तथा मालदीव की भाषा को भारोपरीय परिवार की भाषा के रूप में स्वीकार करने के अनेक कारण हैं। इसकी शब्दावली और भाषा की प्रकृति के अध्ययन से सहज ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। 1795 से मालदीव के सुलतान द्वारा इस भाषा में लिखे गए एक पत्र का नमूना यहाँ दृष्टव्य है। इसकी

आरंभिक पंक्तियों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें संस्कृत मूल के कितने अधिक शब्द हैं। देखिए—

स्वस्ति श्रीमत महा श्री बरी कुश फुरदान
श्री कुल सद इरा सैक सस्त्रु ओदान
केतीरी अस्सुल्तान हसन नूरूद्दीन इस्कंदर कतीरी बोवन
महारदुन कोलुबु गोरूनुदोखि किया रासजेफना मित
लाक इस फरवा सलाम मनिकुफानुमीज कोलुबुगे इहु ऊ।

यहाँ स्वस्ति, श्रीबरी (श्रीभारी), फुरदान (प्रधान), सद (चंद्र), इरा (सूर्य), सस्तरू (शस्त्र), ओदान (अवदान), कतीरी (क्षत्रि) बोवन (भुवन), महा, लाक (लाख) आदि अनेक शब्दों का उद्‌गम संस्कृत में सरलता से खोजा जा सकता है।

भारत के राष्ट्रपति जी के सम्मान में जो मान-पत्र मिनिकॉय में प्रस्तुत किया गया था, उसकी एक प्रति यहाँ प्रस्तुत है। इसमें एक और महल भाषा दिवेही ताना लिपि में मूल पाठ है और दूसरी ओर उसका हिंदी रूपांतर है।

जैसा कि पहले कहा गया है—इस भाषा की लिपि संसार की अन्य लिपियों से भिन्न है। यह अरबी भाषा के अंकों पर आधारित है। अरबी या 'सामी' परिवार की भाषाओं की भाँति दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है। यह पूर्णतः एक मौलिक आविष्कार है, जो आविष्कर्ता (अज्ञात) की सूझ-बूझ का परिणाम है। श्री डी. सिल्वा के अनुसार 'ताना' लिपि स्वानिकी दृष्टि से पूर्णतः कुशल लिपि कही जा सकती है। वह तो यहाँ तक कहने को तैयार है कि शायद दक्षिण एशिया में सर्वाधिक वैज्ञानिक वर्णमाला इस लिपि की है। इसकी एक विशेषता यह है कि इस भाषा में स्वानिमिक महाप्राण पूर्णतः लुप्त है।

जैसा कि कहा गया है—महल भाषा की लिपि को 'दिवेही ताना' कहा जाता है। मालदीव में इसके तीन विभिन्न रूप मिले हैं। लैफ़्टिनेंट यंग और क्रिस्टोफ़र ने भी इन द्वीपों में अक्षरों की प्रकृति के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है। इनमें एक अति प्राचीन रूप है। उसने क़ब्रों पर लगे प्रस्तर-लेखों से पढ़कर यह अनुमान लगाया है कि यहाँ के अति प्राचीन लेखों की लिपि आज से बिलकुल भिन्न थी। यहाँ के निवासी इस प्राचीन लिपि को दिवेही हाकुर (दिवेही के अक्षर) नाम देते हैं। अब इस लिपि का ज्ञान रखने वालों की संख्या नगण्य ही रह गई है। यह लिपि ब्राह्मी लिपि की भाँति बाएँ से दाएँ को लिखी जाती थी। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके कुछ व्यंजनों का स्वरूप उनसे मिलने वाली विभिन्न स्वर-ध्वनियों के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। इसके अक्षरों की संरचना बिलकुल भिन्न थी।

प्रो. ग्रे का कहना है कि प्राचीन स्वरूप 12वीं सदी की प्राचीन सिंहल वर्णमाला से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। प्रो. गेगर का मत है कि यह लेखन पद्धति अशोक की वर्णमाला के अधिक समीप है। दिविस अकरू के उद्‌गम के संबंध में उनका अनुमान है कि इसका संबंध मध्यकालीन सिंहली से इतना नहीं है, जितना दक्षिण भारत के मालाबार ज़िलों की 'तुलु' से है, जो लक्षद्वीप और मालदीव के ठीक सामने स्थित है।

दूसरी लिपि अरबी पर आधारित है। इसके दो भिन्न स्वरूप थे। और नवीन। इस समय इसका प्राचीन स्वरूप प्रचलित नहीं है। क़ब्रों पर लिखे प्रस्तर लेखों से स्पष्ट है कि इनसे पूर्व 'दिवेही' स्वरूप प्रचलित था, जिसे 'अवेला' कहते हैं। इस्लाम के आगमन के बाद अरबी का यह स्वरूप प्रचलित हुआ। ताना की लेखन प्रणाली भी कई प्रकार की है। इनमें अरबी से प्रभावित प्रणाली का नाम 'गबली-ताना' है।

वर्णमाला के अक्षरों को अंकों के रूप में क्त किया जाता है और उन्हें दस की बजाय के क्रम से गिना जाता है। प्रो. ग्रे का विचार कि वर्तमान लिपि चिह्न पर आधारित है जो बी के नौ अंकों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इन लिपियों की एक सारिणी यहाँ प्रस्तुत

जेम्स प्रिंसेप के अनुसार वास्तव में ये अक्षर बी के नौ अंक ही हैं। उनका शून्य के अंक विभेद करने के लिए उनके ऊपर डैश का ह्न लगा दिया जाता है। स्वर संकेत प्रणाली कुछ तो अरबी की नकल और कुछ भारतीय द्धति की।

दिवेही के संबंध में अनेक भाषा वैज्ञानिकों ने र्य किया है। श्री डी. सिल्वा ने मालदीवी खन प्रणाली की भाषा-वैज्ञानिक कुशलता पर काश डालते हुए 'महल भाषा' और 'दिवेही' के संबंध में 1969 में कई खोजपूर्ण तथ्य सामने ये थे।

रू 1980 नाम से माले से एक पुस्तिका विधेसी नाह फाही दिवेही (विदेशियों के लिए सल दिवेही) भी प्रकाशित हुई, जो दिवेही जानने के लिए एक उपयोगी पुस्तक है। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रो. विल्हेम गेगर ने इस भाषा का 1919 में एक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था, जिसमें उसने इब्न बतूता से लेकर तब तक के विद्वानों द्वारा किए गए कार्य का सिंहावलोकन किया है। इन विद्वानों में फ्राँसिस पियार्ड, लीडन, कोपन-हेगन, जेम्सप्रिंसेप, विलमोट, क्रिस्टोफ़र, साइमन, केसी चिट्टी, मुदालियर, जेम्स डी अलविस, लूई डी जोइसा, एल्बर्ट ग्रे, इब्राहीम दीदी एफ़ेंडी तथा अब्राहम मेंडिस, गुणसेखर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आजकल सी.एच.बी. रेनोल्ड, टर्नर तथा एम. अली इस्माइल का कार्य भी प्रशंसनीय है। आशा है भारतीय भाषा वैज्ञानिक भी इस शोध कार्य को आगे बढ़ाने में अपना योगदान देंगे, क्योंकि इस भाषा पर संस्कृत, पाली, तुलु, मलयालम, हिंदी और बाङ्ला का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ साइमन के. चिट्टी का यह उद्धरण भी बड़ा प्रासंगिक है, जिसमें उसने मालदीव को 'मलयद्वीप' की संज्ञा देते हुए लिखा है कि दिवेही भाषा में अरबी और बाङ्ला के शब्द भी पहुँचे हैं। उसने लिखा है कि नवंबर में कल्पेंटीन के स्थान पर मालदीव की एक नौका आई। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नाख़ुदा (मल्लाह) बड़ी कुशलता से हिंदुस्तानी में बोल रहा था। मिनिकॉय की इस भाषा को यदि 'दिवेही ताना' के साथ-साथ वैकल्पिक रूप में देवनागरी लिपि में भी लिखने के प्रयास आरंभ किए जाएँ, तो इससे देश की भाषाई एकता में बड़ी सहायता मिलेगी और अन्य भारतीयों के लिए भी यह भाषा सुगम्य बन सकेगी।

देवेंद्र चौबे

सामाजिक एवं सांस्कृतिक संक्रमण

पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में भारतीय समाज का सामंतवाद और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ जो संघर्ष हुआ है, उससे जनता विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया में एक संक्रमण के दौर से गुज़री है तथा उसका गहरा असर भारतीय और हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। है। ख़ासकर हिंदी में उपन्यास, आलोचना, खड़ी बोली काव्य आदि जैसी विधाएँ एवं रचनाएँ भारतीय सामंतवाद एवं अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ प्रतिरोध दर्ज कराने के दौरान ही विकसित हुई हैं। दूसरे शब्दों में, भारत में उपन्यास के उदय के प्रमुख कारणों में ईस्ट इंडिया कंपनी की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों के साथ ही 1857 के बाद की अंग्रेज़ी शिक्षा तथा ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक नीतियों की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

बाङ्ला के बंकिमचंद (1865, *दुर्गेशनंदिनी,* 1882 : *आनंदमठ*), ओड़िया के फ़क़ीर मोहन सेनापति (1897 : *छ माण आठ गुंठ*), हिंदी के लाला श्रीनिवास दास (1882 : *परीक्षागुरु*) आदि के उपन्यासों को इस नज़रिए से देखा जा सकता है। इसका अनुमान इसी बात से भी लगाया जा सकता है कि बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखक अपने आलोचनात्मक लेखन के कारण ही ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों के शिकार होते हैं और उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिका *हिंदी प्रदीप* 1908 में एक सरकारी अध्यादेश के बाद बंद हो जाती है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने आलोचनात्मक लेखों में कवियों की नायिका भेद चित्रण जैसी सामंती प्रवृत्तियों का विरोध 1903 में *सरस्वती* के संपादक बनने के साथ ही शुरू कर देते हैं। प्रेमचंद 1918 में प्रकाशित अपने हिंदी के पहले उपन्यास *सेवासदन* से लेकर 1936 में *गोदान* में क्रमशः एक तरफ़ जहाँ भारतीय सामंतवादी व्यवस्था का विरोध करते हुए समाज में सुमन जैसी स्त्रियों की दुर्दशा का बयान करते हैं, वहाँ दूसरी तरफ़ भारतीय सामंती प्रवृत्तियों एवं अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी नीतियों की आलोचना भी करते हैं।

कथाकार और आलोचक देवेंद्र चौबे का जन्म 1965 में हुआ। इनकी कहानी एवं आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 3, पेरियार हॉस्टल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067,
फ़ोन : 26189186

ी वर्मा 1942 में प्रकाशित *शृंखला की* ँ में भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक िक व्यवस्था में महिलाओं की दुर्दशा का करती हैं और स्त्री मुक्ति की बातें करते विकास के लिए उन्हें ज्ञान की परंपरा से की सलाह देती हैं। ध्यान देने की बात है ह सब एक ख़ास दौर में यानी कि स्वाधीनता लन के दौरान होता है। लेकिन क्या कारण क अचानक हिंदी में 1965 के बाद, ख़ासकर, में नक्सलबाड़ी की घटना के बाद एक कार का साहित्य आना शुरू हो जाता है। त्वपूर्ण बात यह है कि यह आंदोलन और से उपजा साहित्य भी 1947 में देश की दी के बाद पहली बार सातवें दशक में र मजदूरों और किसानों सहित समाज के ोर तबके की एक नए प्रकार की ग़ुलामी सामंती व्यवस्था की चर्चा करने लगता है 22 अप्रैल 1969 में गठित भारत की निस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) चारू दार के नेतृत्व में उत्पीड़ित समाज की मुक्ति ए एक नई लोकतांत्रिक व्यवस्था की माँग लगता है। महाश्वेता देवी इसी दौरान लवादी आंदोलन से जुड़े युवाओं की पुलिस की जा रही नृशंस हत्याओं पर *हज़ार चौरासी माँ* (1974) जैसा उपन्यास लिखती हैं और में, सातवें दशक में धूमिल, राजकमल जैसे कवि भी यह घोषणा करने लगते हैं ह आज़ादी झूठी है, तत्कालीन लोकतांत्रिक याँ आदमी को नपुंसक एवं अपाहिज़ बना है, इसीलिए अब एक दूसरे प्रजातंत्र यानी एक नई लोकतांत्रिक व्यवस्था की ज़रूरत

सी समय कृष्णा सोबती 1967 में प्रकाशित स *मित्रो मरजानी* में एक ऐसी स्त्री चरित्र कर आती है जो पितृसत्तात्मक सामाजिक था की सारी हदों को पार करते हुए स्त्री के एक स्वतंत्र वजूद की माँग करती है। जगदीशचंद्र 1973 में प्रकाशित उपन्यास *धरती धन न अपना* में भारतीय सामंती व्यवस्था में जीवन-यापन कर रहे काली जैसे दलित चरित्र की मार्मिक दशा का बयान करते हैं जो बाद में, सही मायने में क्रमशः 1995, 1997, 2002 एवं 2006 में प्रकाशित मोहनदास नैमिशराय के *अपने अपने पिंजरे,* ओमप्रकाश वाल्मीकि के *जूठन,* सूरजपाल चौहान के *तिरस्कृत* (एवं 2006 में *संतप्त*) और श्यौराज सिंह बेचैन के *बेवक़्त गुज़र गया माली* (*हंस,* फ़रवरी : 2006) में दिखलाई पड़ता है जहाँ अपनी-अपनी ज़िंदगी की हक़ीक़तों का बयान करते हुए ये दलित आत्मकथाकार भारतीय वर्ण-व्यवस्था की विसंगतियों का विरोध करते हुए ग़ैर दलित समाज के प्रति अपना प्रतिरोध दर्ज करते हैं। रही-सही कसर 2004 में आकर निर्मला पुतुल जैसी आदिवासी लेखिकाएँ *अपने घर की तलाश में* जैसे काव्य-संग्रह में पूरा कर देती है, जो शेष भारतीय समाज से यह सवाल करती हैं कि बिना उनकी (आदिवासी समाज) रज़ामंदी और ज़िंदगी की हक़ीक़तों को समझे उनकी ज़मीनों पर बाँध क्यों बनाया जा रहा है अथवा सड़कें क्यों और कैसे बन रही हैं और उन्हें बनाने वाले लोग कौन हैं ?

इसलिए इतना ज़रूर पूछना चाहूँगी / कि नदी पर बाँध क्यों बन रहा हैं ?/ किसलिए नाप-जोख हो रही है हमारे / गोचर ज़मीन की ?/ क्या चीज़ का सर्वे चल रहा है ?/ और यह जो सड़क बन रही है / कितने के बजट की है ?/ इसका ठेकेदार कौन है ?/ कहाँ का है ?/ ज़रूर पूछना चाहूँगी! (*अपने घर की तलाश में,* रमणिका फ़ाउंडेशन, दिल्ली)

यह सवाल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के परिवर्तन और विकास का गहरा असर संबंधित समाज पर पड़ता है तथा एक निश्चित अवधि के लिए संबंधित समाज संक्रमण की

अवस्था में चला जाता है। नर्मदा बचाओ आंदोलन से जुड़ी मेधा पाटेकर विस्थापन की अवस्था से गुज़र रहे आदिवासी समाज की जिन चिंताओं को लेकर पिछले कई दशकों से आंदोलनरत हैं, वह परिवर्तन और विकास की इन्हीं असमान प्रक्रियाओं की देन है। इसे वीरेंद्र जैन के उपन्यास *डूब* (1991) और रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार (2004) से पुरस्कृत पूरन हार्डी की *बुड़ान* में देखा जा सकता है, जहाँ दोनों कथाकार विकास योजनाओं के नाम पर विनाश के लिए अभिशप्त एवं संक्रमण की ज़िंदगी जी रहे समाज की विस्थापन से लेकर सरकारी तंत्र की नाकामियों की त्रासदियों का बयान मार्मिकता के साथ करते हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार के परिवर्तन और विकास उस समाज को ऐसी स्थिति में ला पटकते हैं, जहाँ से उन्हें मुक्ति का रास्ता दिखलाई नहीं पड़ता है; शेष समाज को बेहतर विकल्प और विकास के लिए मौक़ा ज़रूर मिल जाता है जिसकी तरफ़ निर्मला पुतुल की उपर्युक्त पंक्तियाँ भी संकेत करती हैं। *बुड़ान* की निम्नलिखित पंक्तियाँ विस्थापित समाज की जिन विडंबनाओं की तरफ़ संकेत करती हैं, वहाँ विकास की तसवीरें तो दिखाई पड़ती है; पर ज़िंदगी के नाम पर अब वहाँ सिर्फ़ जल है—मनुष्य तो लुप्त हो ही गया हैं, ज़िंदगी की तलाश में गई डोंगरी की विशाल परछाई भी कहीं विलीन हो गई है :

जब वे वापस लौट रहे थे तब उनकी लंबी परछाइयाँ पानी पर थिरक रही थीं। कुछ देर बाद किनारे में फैली हुई उजाड़-काली और पथरीली डोंगरी की विशाल परछाईं में उनकी परछाईं विलीन हो गई। धीरे-धीरे डोंगरी की परछाई भी लुप्त हो गई। अब वहाँ सिर्फ़ जल था। शांत और बँधा हुआ जल। (*कथादेश,* सं : हरिनारायण, फ़रवरी, 2003)

ज़ाहिर है, यहाँ सिर्फ़ परछाइयाँ ही लुप्त नहीं हुई हैं, बल्कि एक समाज का पूरा वजूद ही लुप्त हो गया है, जिसकी खोज में गन्नू और चोंई एक छोटी-सी डोंगी और पतवार लेकर जाते हैं। वह समाज अब चाहे जहाँ कहीं भी हो, पर अपने मूल स्थान पर तो नहीं ही है। टिहरी के लोग भी विकास की इन्हीं विडंबनाओं के शिकार हैं। पर कई बार विकास की प्रक्रिया से जुड़ने की अनिवार्यता भी व्यक्ति अथवा समाज को हाशिए पर ढकेलने में बड़ी भूमिका निभाती है, जब स्थान-परिवर्तन होते हैं। इस स्थिति में स्थान-परिवर्तन के कारण संक्रमणकालीन जीवन जी रहा वह व्यक्ति अथवा समाज एक निश्चित अवधि के लिए हाशिए का आदमी या हाशिए का समाज बन जाता है। 'शनीचरी' कहानी में महाश्वेता देवी ने विकास के लिए जंगल से बाहर मुख्यधारा में गए आदिवासी समाज की स्त्रियों की संक्रमणकालीन स्थितियों एवं दुर्दशा का चित्रण करते हुए लिखा है : ''ईंट बिठाओ, ईंट बिठाओ शनीचरी। कहाँ आई तू, किस देश में—कुछ समझ में आया ? रहमत का बच्चा पेट में लेकर दूर-दूर तक फैले धान के खेत को उदास आँखों में आँसू लिए देखती रहती हो। ऐसा बँधुआपन ! तुम शायद जानती हो, यह तुम्हारा क़ैदख़ाना है। तू जानती नहीं इस देश की भाषा। किस रास्ते से आई थी, शायद उसका पता भी भूल गई है।'' ('ईंट के ऊपर ईंट', बंगला से अनुवाद : प्रमोदकुमार सिन्हा)

महाश्वेता देवी की 'शनीचरी' कहानी की उपर्युक्त पंक्तियाँ बताती हैं कि संक्रमणकाल में एक आदिवासी स्त्री को किस प्रकार की अमानवीय स्थितियों से गुज़रना पड़ता है। ये स्थितियाँ एक तरफ़ जहाँ अमानवीयता की सीमाओं को पार करती हैं, वहाँ दूसरी तरफ़ इस बात का भी संकेत करती हैं कि अपने मूल स्थान से दूर जाने और नई जगह पर व्यवस्थित होने के बीच आदिवासी या कोई भी समाज अपनी संस्कृति, भाषा और भूगोल से भी दूर

ता है। उसकी आदतें बदल जाती हैं। चरित्र में परिवर्तन आने लगता है। यहाँ अगर कोई आदिवासी विकास की प्रक्रिया ने के लिए अपना मूल स्थान छोड़कर ता है, तो नए स्थान पर व्यवस्थित होने से एक संक्रमण की ज़िंदगी जीनी पड़ती भी-कभी संक्रमण की यह ज़िंदगी इतनी ती है कि नए स्थान पर वह (आदिवासी) तरह की विडंबनापूर्ण स्थितियों का शिकार है। संताल परगना को छोड़कर दिल्ली गई आदिवासी युवती की विडंबनापूर्ण ज़िंदगी न करते हुए *तुम कहाँ हो माया?* में पुतुल ने लिखा है :

ल्ली के किस कोने में हो तुम?/ मयूर पंजाबी बाग़ या शाहदरा में? / कनॉट की किसी दुकान में / सेल्सगर्ल हो / या हर्बल कंपनी में पैकर/ वसंत विहार की मार्केट में काम कर रही हो?/ किसी डी. बूथ में ऑपरेटरी / या किसी घरेलू महिला संगठन से / जुड़कर / बन गई सी घर की आया?/ किसी गर्ल्स हॉस्टल / जाती हो रात-बिरात कॉल-गर्ल बन / में / या फिर शांति के नाम पर किसी ने / बनाकर रख लिया है तुम्हें नन?/ तुम माया?/ कहाँ हो?/ कहीं हो सही- या / दिल्ली निगल गई तुम्हें?...अब गई न / कि यह जो दूर से चमचमाता हर है /दिल्ली /नहीं हम जैसों के लिए / हैं ऐसा नहीं लगता माया / कि वह ऐसा है जहाँ / ज़िंदा दफ़न होने के लिए भी इन / में खड़े हैं? ('अपने घर की तलाश

निर्मला पुतुल संक्रमण काल में हाशिए शी जी रही माया को सलाह देती है : लाईन को तोड़कर बाहर आ जाओ लौट जाओ, जहाँ भी हो। उस माया से जो उसके अपने समाज की है तथा विकास की प्रक्रिया से जुड़ने के लिए अपना मूल स्थान छोड़कर एक नए स्थान दिल्ली यानी कि देश की राजधानी आती है तथा संक्रमणकालीन विडंबनाओं का शिकार होकर अपना सब कुछ गँवाकर हाशिए का आदमी बन बैठती है। यहाँ तक कि अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान तथा स्त्रीत्व तक भी खो देती है जैसा कि महाश्वेता देवी के शनीचरी के साथ होता है! शनीचरी के पेट में तो रहमत का बच्चा है, पर माया के पेट में किसका है, किसी को पता नहीं : *उस वक़्त पेट में तुम्हारे / पल रहा था किसी / का बच्चा भी / शायद किसी पंजाबी का ज़िक्र कर रही थी /...उससे पहले भी कइयों के / ज़िक्र की थी / किसी वकील, किसी टैक्सी-ड्राइवर, बैंक-अधिकारी,/ और एक छुटभैया नेता का / यहाँ तक कि मिशन के किसी / बूढ़े फ़ादर का भी।* (वही)

दरअसल निर्मला पुतुल की चिंता इस बात को लेकर भी है कि सामाजिक ज़िंदगी की मुख्यधारा में वह स्त्री भी हाशिए की स्त्री बन जाती है जिसकी संतान या तो अनैतिक होती है अथवा वर्ण-संकर चरित्र की। सीमोन द बोउवार ने द *सेकेंड सेक्स* में लिखा है कि विवाह : 'औरत की एक नियति होती है।' जिससे मुक्त होना उसके लिए असंभव होता है। इस संबंध से उत्पन्न संतानें समाज में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। इसलिए कि वे संपत्ति का वास्तविक उत्तराधिकारी होती हैं। आगे उन्होंने लिखा है कि इस संबंध के बाद "पुरुष बड़ी चालाकी से पत्नी से पवित्र बनी रहने की शपथ ग्रहण करवा लेता है, पर वह स्वयं इस सामाजिक व्यवस्था से संतुष्ट दिखाई नहीं पड़ता।" यानी कि स्त्री तो पवित्र बनी रहे, पर उसकी यह ज़िम्मेदारी नहीं है कि नैतिकता के उन मानदंडों को वह भी माने। क्या इसलिए कि अघोषित रूप से समाज
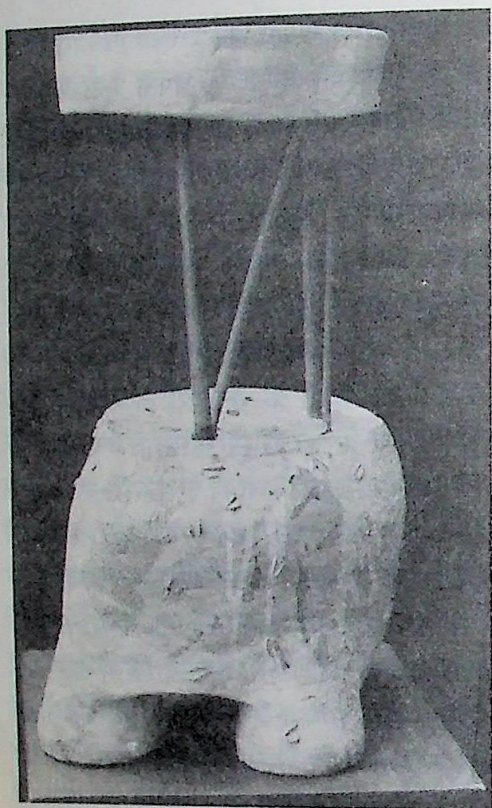
ने पुरुष को नैतिक रूप से यह ज़िम्मेदारी दे रखी है कि वह स्त्रियों को नियंत्रित करे, पर ख़ुद व्याभिचारी बना रहे? पर, माया की संतान का क्या होगा जिसके पति के बारे में यह तय नहीं है कि वह कौन है? उसके पेट में किसका बच्चा है? इतना ही नहीं, सवाल यह भी है कि क्या समाज उसे इस कारण व्याभि-चारिणी समझेगा? शेष समाज का तो पता नहीं, पर निर्मला पुतुल ज़रूर माया से यह कहती है कि वह मुख्यधारा के समाज को छोड़कर वापस पुनः अपने आदिवासी समाज में आ जाए। जहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। सब बराबर हैं।

पर, मुख्यधारा के समाज का क्या करें? ख़ासकर उस पुरुष-वर्चस्वादी समाज का, जिसकी निगाह में संक्रमणकालीन जीवन जी रही एक स्त्री की अस्मिता कुछ होता भी नहीं है, फिर आदिवासी स्त्री के वजूद के क्या मायने? निर्मला पुतुल ने लिखा है : वैसे भी *रसोई और बिस्तर के / गणित से परे / एक स्त्री के बारे में* पितृसत्तात्मक समाज की राय कुछ होती भी नहीं है। संभवतः इसीलिए एक स्त्री अपने अंदर एक पूरे घर को समेटे हुए भी ज़िंदगी भर अपने होने का अर्थ ढूँढ़ती रहती है : *धरती के इस छोर से उस छोर तक / मुट्ठी भर सवाल लिए मैं / दौड़ती-हाँफती-भागती.../ तलाश रही हूँ सदियों से निरंतर.../ अपनी ज़मीन, अपना घर / अपने होने का अर्थ।* (वही, पृष्ठ : 3)

और यही स्त्री जब पितृसत्तात्मक समाज में अपना स्वतंत्र वजूद निर्मित करना चाहती है, तब मुख्यधारा का समाज उनके साथ कितना क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार करता है, 'उसे कुछ मत कहो सजोनी किस्कू!' की निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है :

बस! बस!! बस!!! / कुछ मत कहो सजोनी किस्कू! / मैं जानती हूँ सब / जानती हूँ कि अपने गाँव / बागजोरी की धरती पर / जब तुमने चलाया था हल / तब डोल उठा था / बस्ती के माँझी थान में बैठे देवता का सिंहासन / गिर गई थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठे / मगजहीन माँझी हाड़ाम की पगड़ी / पता है बस्ती की नाक बचाने की ख़ातिर / तब बैल बनाकर हल में जोता था / जालिमों ने तुम्हें / खूँटे में बाँधकर खिलाया था / भूसा। (वही, पृष्ठ : 20)

जबकि इस स्त्री समाज का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। संताल-विद्रोह के समय आदिवासी समाज की इन्हीं स्त्रियों ने जीवन-यापन के आर्थिक-स्रोतों एवं संसाधनों को सँभाला तथा सँजोया था। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्रियों के गौरवमय इतिहास को याद करते हुए पुरुषों से यह सवाल करती हैं कि क्या : *वे भूल गए संताल-विद्रोह के समय / जब छोड़ गए थे तुम पर सारा घर-बार / तुम्हीं ने किए थे तब हल जोतने से लेकर / फ़सल काटने तक के सारे कार्य-व्यापार / तब नहीं गिरी थी उनकी पगड़ी*

...नहीं पलटी थी तब / कटी नहीं थी किसी ...क। (वही)

...असल आदिवासी समाज में स्त्री के जिस ...जिक यथार्थ की तरफ़ यह कविता संकेत ...है, वह स्त्रियों के बारे में मुख्यधारा के ...और उनकी सोच से बहुत भिन्न नहीं है। ...जीवन का यह यथार्थ इस बात की तरफ़ भी ...करता है कि धर्मों और शास्त्रों ने स्त्रियों ...गुलामी को बढ़ाने में एक बड़ी भूमिका निभाई ...'मनुस्मृति' में कहा गया है कि *नास्ति स्त्रीणां ...मंत्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः। निरिन्द्रिया ...ह्यमन्त्राश्च स्त्रियेऽनृतमिति स्थितिः ॥ 9.18 ॥* ...त् "धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि स्त्री का ...कर्मादि-संस्कार मंत्र-विहीन हो, क्योंकि ...अज्ञानी होती है। मंत्र की अनाधिकारिणी ...से उनकी स्थिति मिथ्या ही होती है।" यानी ...वह सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में होते ...भी दलित सदृश उन अधिकारों से वंचित है ...से सामाजिक जीवन में किसी का एक स्वतंत्र ...निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में मुख्यधारा ...लिए उनका अस्तित्व ही मिथ्या है। यह कितनी ...विडंबना है कि एक तरफ़ तो यही पुरुष-...धर्म और शास्त्र के सहारे उनको (स्त्रियों) ...श्रेष्ठता एवं पवित्रता का प्रतीक बना उन्हें *देवी* ...मिथकीय चरित्रों में तब्दील कर देता है तो ...तरफ़ उन्हें ग़ुलाम बनाकर उनकी उन जातीय ...यों एवं इतिहासों को भी नष्ट कर देता है ...से उनका एक स्वतंत्र वजूद बनता है तथा ...की तरफ़ संताल-विद्रोह के माध्यम से ...ला पुतुल संकेत करती हैं। सीमोन द बोउवार ...स्त्री के मिथकीकरण की चर्चा करते हुए इस ...की तरफ़ संकेत किया है कि *स्त्री का मिथ ...एक स्वतंत्र व्यक्ति के वास्तविक संबंधों ...मृगतृष्णा पर आधारित विचार में बदल देता* ...(*स्त्री : उपेक्षिता*, पृष्ठ 119) दूसरे शब्दों में, ...पितृसत्तात्मक समाज ने उनके चरित्र को इतना अधिक रहस्यमय बना दिया है कि उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व ही कहीं खो गया है! उनका होना न होने के बराबर है। उनकी कोई ज़मीन है ही नहीं, जिस पर खड़ी होकर स्त्री-शरीर के परे वह अपने होने का अहसास करा पाए।

कहना न होगा कि यह वही संक्रमणकालीन दौर होता है, जब कोई स्त्री, व्यक्ति अथवा समाज हाशिया का आदमी या हाशिया का समाज में तब्दील हो जाता है। हिंदी की अर्चना वर्मा, शुभा, कात्यायनी, अनामिका, निर्मला गर्ग, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी आदि महिला कवयित्रियों की तरह निर्मला पुतुल भी इस बात की तरफ़ संकेत करती हैं कि *स्त्री* भी सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर एक हाशिए का वजूद लिए हुए है तथा जिसे वह ज़िंदगी भर ढोने के लिए बाध्य है। वह उस दरवाज़े की तरह है जिसे खोलने के लिए लगातार पीटा जाता है, इतना अधिक कि वह खुलती ही जाती है : *मैं एक दरवाज़ा थी / मुझे जितना पीटा गया / मैं उतनी खुलती गई।* (*कहती है औरतें* सं. अनामिका; मृणाल पांडे की *लड़कियाँ* की उन तीनों लड़कियों की तरह जिन्हें पवित्र समझकर पूजा तो जाता है पर लड़कों की तरह मुख्यधारा का आदमी नहीं समझा जाता है जिसे महसूस करते हुए मँझली लड़की परिवार में यह सवाल उठाती है कि *"जब तुमलोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते तो झूठ-मूठ में उनकी पूजा क्यों करते हो?"* (*साहित्य से संवाद* : गोपेश्वर सिंह)। दरअसल स्त्रियों की ज़िंदगी का यह वही नैतिक द्वंद्व होता है जो उनके होने के वजूद को लेकर उन्हें परेशान करने लगता है तथा जिसकी तलाश में संघर्ष जैसी स्थितियाँ पैदा होती हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रॉबर्ट इ. पार्क ने इस स्थिति में एक स्त्री या हाशिए के लोगों के चरित्र में आ रही तब्दीलियों को लेकर लिखा है : "संक्रमण-काल में उनके चरित्र में नैतिक

द्वंद्व और संघर्ष की भावना विकसित होने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप वे पुरानी आदतें छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं। लेकिन नई आदतें इतनी जल्दी बन नहीं पाती हैं, जिसके कारण अपने आपको वे हाशिए पर खड़ा महसूस करते हैं।" (दी अमेरिकन जरनल ऑफ़ सोसियोलॉजी, मई-1928, नं.-6, पृष्ठ-893)

स्थान-परिवर्तन की प्रक्रिया में संक्रमणकालीन जीवन की तीन स्थितियों की चर्चा करते हुए समाजशास्त्री एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट ने इस बात का उल्लेख किया है कि "कई बार व्यक्ति अथवा समाज को यह पता ही नहीं चलता है कि वह दो संस्कृतियों के बीच पल रहा है। वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि उसका व्यक्तित्व किन समस्याओं से गुज़रने वाला है।" दूसरी स्थिति, "संकट के चक्र की होती है जिसमें व्यक्ति को इस बात का अहसास हो जाता है कि वह दो संस्कृतियों के अंतर्द्वंद्व के बीच जी रहा है। इस अवस्था में व्यक्ति के अंदर कुछ विशेष प्रकार के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। उसकी बेचैनी बढ़ जाती है तथा वह अन्य लोगों से खिंचा-खिंचा रहने लगता है। किसी बड़ी घटना से उसकी आँख खुल जाती है तथा दोनों संस्कृतियों के बीच के खिंचाव को महसूस करते हुए उसकी एक महत्त्वपूर्ण आदत क्रियाशीलता बन जाती है।" तीसरी स्थिति, "संक्रमणकाल की चरमावस्था—प्रतिरोध की होती है। इसमें व्यक्ति अथवा समाज अपनी दिशा तय कर लेता हैं।" ('द प्रॉब्लेम ऑफ़ मार्जिनल मैन' : एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट; दी अमेरिकन जरनल ऑफ़ सोसियोलॉजी, अंक-XLI, जुलाई 1935, नं. 1, पृष्ठ-1)

इतना ही नहीं, इस अवस्था की चर्चा करते हुए स्टॉनक्वीस्ट ने इस बात की तरफ़ भी संकेत किया है कि संक्रमणकाल में रह रहा व्यक्ति अथवा समाज ऐसी स्थिति में कई बार ताक़तवर समूह की ओर बढ़कर उसमें शामिल होने क... कोशिश करता है या कई बार उस प्रभावशाल... समूह के प्रति विरोध ज़ाहिर कर क्रांतिकारी अथव... उग्र राष्ट्रवादी भी बन जाता है।

ज़ाहिर है, संक्रमण काल एक तरफ़ जह... व्यक्ति, समूह अथवा समाज को प्रतिरोध वे... लिए तैयार करता है, वहाँ दूसरी तरफ़ उन्हें तोड़त... भी है।

पर, कई बार संक्रमण काल में निर्मि... अजनबीयतपन या बेचैनी की स्थितियाँ किसी... बड़े विद्रोह को जन्म देती हैं या विद्रोह को ताक़त... प्रदान कर उसे एक बड़े आंदोलन में तब्दील कर... देती हैं। ब्रिटिशकालीन भारत में आदिवासियों... द्वारा किए गए विद्रोहों को भी इसी नज़रिए से... देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए बिरसा... मुंडा द्वारा 1899-1900 में किया गया मुंडा विद्रोह... को हम ले सकते हैं जिसमें मुंडा एक तरफ़ जहाँ... ज़मींदारों के शोषण से उत्पीड़ित थे, वहाँ दूसरी... तरफ़ अपनी जाति और धर्म छोड़कर ईसाई बनने... के बाद भी नई सामाजिक ज़िंदगी में दोहरा जीवन... जीने को बाध्य थे। धोबी के उस गदहे की तरह... जो न घर का होता है, न घाट का। इसीलिए... आज भी जब आदिवासी समाज अपने आपको... संकट में पाता है, बिरसा मुंडा को याद सबसे... पहले करता है :

हमने नहीं देखा तुझे पहले / लेकिन केवल...
तुम ही / हमारे विद्रोह को / दिशा देते हो तब...
तुमने ही तो किया था संघर्ष / गोरो को खदेड़ने...
की ख़ातिर /...आज न गोरे हैं / न सपनों की...
आज़ादी / आज न घने बीहड़ हैं / ना तू है / है...
केवल बीहड़ों में फैलता असंतोष / होंठो पर...
तेरा नन्हा-सा गीत / ऊलगुलान! ऊलगुलान!...
ऊलगुलान! / जो बन गया है हमारी संस्कृति की...
लड़ाई /... बरसा तुम्हें कहीं से भी / आना होगा /...
...कहीं से भी आ मेरे बिरसा / खेतो की बयार...
बनकर / लोग तेरी बाट जोहते ! ('आ मेरे...

ता' : भुजंग मेश्राम, युद्धरत आम आदमी : णिका गुप्त, अंक : 55, विशेषांक : 2001) ज़ाहिर है, भुजंग मेश्राम की यह कविता एक ओर जहाँ संक्रमणकाल में जी रहे आदिवासी समाज की त्रासदियों का चिंताजनक चित्र खींचती है, वहीं दूसरी तरफ़ बिरसा मुंडा को संक्रमण या किसी भी प्रकार की समस्याओं से मुक्ति दिलाने वाले सबसे बड़े विद्रोही (ऊलगुलानी) नायक के रूप में स्थापित करती है। यह एक बड़ी बात है। पीटर पॉल एक्का ने उपन्यास *जंगल के गीत* (1999) में करमा भगत के इसी विद्रोही चरित्र को खींचा है तथा बताया है कि करमा भगत के विद्रोही चरित्र के निर्माण का एक बड़ा कारण सामंती एवं औपनिवेशिक व्यवस्था की लूट की नीति का विरोध है। विरोध की इस प्रक्रिया में करमा भगत अंग्रेज़ों से बचने के लिए स्थान-परिवर्तित करता रहता है। स्थान-परिवर्तन की प्रक्रिया में करमा भगत उस क्रांति की बातें करता है जिसकी तरफ़ इशारा करते हुए एवर्ट स्टॉनक्वीस्ट संक्रमणकालीन चरित्र की चर्चा करते हुए क्रियाशील आदतों का उल्लेख करते हैं। देखें, जंगल के गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ : ''ऊलगुलान हो जाए तो मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा। यहाँ मेरा दम घुटता है, जी करता है धनुष-तीर लेकर सामने निकल जाऊँ।'' *करमा की मुट्ठिया भिंच गई थीं।*

(सत्यभारती प्रकाशन, राँची, 1999)

इसीलिए कई बार संक्रमणकालीन स्थितियाँ व्यक्ति अथवा समाज को अपने वास्तविक शत्रुओं की पहचान और उनसे मुक्ति के रास्ते भी बताती हैं। इसे शेखर जोशी की कहानी 'दाज्यू' और संजीव की 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' जैसी कहानियों से भी समझा जा सकता है। दोनों कहानी के केंद्र में पहाड़ से मुख्यधारा में आए नायक हैं। शेखर जोशी की 'दाज्यू' का नायक मदन संक्रमणकालीन समय में अपने ही समाज के जगदीश बाबू और हेमंत जैसे शत्रुओं की पहचान कर अपने आपको उनसे यह कहकर विमुख कर लेता है कि ''बॉय कहते हैं शा'ब मुझे!''

(*मेरा पहाड़ :* शेखर जोशी)

अर्थात् मेरी पहचान सिर्फ़ यही है कि मैं होटल में ग्राहकों की सेवा करनेवाला एक बॉय हूँ और इसके अतिरिक्त मेरी कोई और पहचान नहीं है। जबकि जगदीश बाबू उसके पहाड़ी गाँव की तरफ़ के हैं, पर स्थान और समय के हिसाब से उनकी शख़्सियत बदलती रहती हैं। जब अकेले होते हैं तो मदन उनके लिए आत्मीय हो उठता है और जब किसी के साथ हैं तो होटल का बॉय। मदन के ठीक विपरीत उराँव जाति की सब्ज़ी बेचकर गुज़ारा करनेवाली महिला विकास की असमानता और मुख्यधारा की अराजकता का शिकार होती है। उसकी ग़लती सिर्फ़ यही है कि वह पढ़ी-लिखी शहरी लड़कियों को बहन कहकर संबोधित करती है। पर, वह उपेक्षा का शिकार होती है। आदिवासी समाज की स्त्री होने के कारण उसे लगता है कि शेष लोग विकसित हैं तथा विकास की प्रक्रिया में उसकी मदद करेंगे। और इसी भ्रम के कारण वह अपमान की शिकार होती हैं और दोष देती हैं भाग्य को : ''रो रहा है हम अपन नसीब पे'' ('दुनिया की सबसे हसीन औरत' : संजीव)। जबकि यह आदिवासी महिला उसी उराँव (महिला) समाज की है जिसके पूर्वजों ने कभी बिहार के रोहतास ज़िला के आसपास के जंगलों में सरहुल के पर्व में नशे में डूबे पुरुषों के नहीं जगने पर स्वयं सैनिकों की पोशाक धारण कर मध्यकाल में तुर्कों की सेना द्वारा रोहतासगढ़ क़िला पर फतह के लिए किए गए तीन-तीन हमलों को नाकाम किया था। संजीव ने इस कहानी में बताया है कि बाद में जब लड़ती हुई कुछ बहादुर औरतें पकड़ी गईं, तब तुर्कों को पता चला कि उनका युद्ध तो

उराँव महिलाओं से हो रहा था। इस अपमान का बदला लेने के लिए तुर्कों ने पकड़ी गई महिलाओं के चेहरे को तीन बार दागा। बाद में उराँव महिलाओं ने इसे अपनी ताक़त और प्रतिरोध की क्षमता मान शृंगार के रूप में अपना लिया। ज़ाहिर है, रेलगाड़ी में सब्ज़ी लेकर जाती वह उराँव महिला जब टी.टी. और कुछ यात्रियों से अपमानित होती है, तब अपने भाग्य को दोष देती है, जबकि उसका अपमान अपने समाज से निकलकर एक दूसरे समाज में जाने, संवाद करने एवं जगह पर क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया में होता है।

कहना न होगा कि समकालीन हिंदी और भारतीय साहित्य में पिछले तीन-चार दशकों में स्त्री, दलित और आदिवासी केंद्रित जो साहित्य आया है, उसकी निर्मिति में संक्रमणकालीन स्थितियों की बड़ी भूमिका रही है। और सच यह भी है कि इस संक्रमण में स्थान-परिवर्तन एक निर्णायक भूमिका निभाता है। पर, इस बात को भी ध्यान से रखना ज़रूरी है कि स्थान-परिवर्तन मात्र गतिशीलता नहीं है। कारण, स्थान-परिवर्तन में कम-से-कम जन्म-स्थान अथवा मूल-स्थान में परिवर्तन होता है तथा जो पुराने बंधन होते हैं, वे टूटते हैं तथा व्यक्ति अथवा समाज हाशिए पर जाने के लिए बाध्य होते हैं। अर्थात् व्यक्ति, समूह अथवा समाज का घर से नाता टूटता है। उदाहरण के लिए, यदि प्रभा खेतान के उपन्यास *छिन्नमस्ता* की नायिका विवाह करना नहीं चाहती है, या ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'प्रमोशन' का दलित नायक सुरेश साथी मज़दूरों की निगाह में दलित से मज़दूर न बनकर अस्पृश्य यानी कि दलित ही बना रहता है, अथवा अरुण प्रकाश की कहानी 'बेला एक्का लौट रही है' की बेला ग़ैरआदिवासी समाज में शिक्षिका के बदले एक आदिवासी स्त्री ही बनी रहती है तो कहीं-न-कहीं ये वही भयावह स्थितियाँ हैं जो किसी व्यक्ति या सामाजिक समुदाय को जन्म-स्थान से दूर जाने से रोकती हैं अथवा स्थान-परिवर्तन के बाद की संक्रमण-कालीन स्थितियों (जैसे—अस्थायीपन, बेचैनी, संकट, तनाव, अजनबीपन, अशांति, मानसिक एवं शारीरिक क्लेश आदि) से जूझने के लिए छोड़ देती हैं, जैसा कि सुरेश या बेला एक्का के साथ होता है। पर इस पूरे परिदृश्य में यह भी याद रखना होगा कि स्त्री, दलित या आदिवासी समाज स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ अपनी जन्म एवं शारीरिक अथवा सामाजिक संरचना के कारण भी हाशिए की ज़िंदगी व्यतीत करने को विवश होते हैं। यहाँ, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यह एक ऐसी स्थिति है जिससे आज बहुलांश भारतीय अथवा वैश्विक समाज गुज़र रहा है, भले ही हम अपने आपको एक-दूसरे की तुलना में बेहतर स्थिति में क्यों न महसूस करें।

श्रुति

खासी साहित्य

जनजातीय साहित्य में आदिम मानव के सरल हृदय की रागात्मक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। किसी जनजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की सहज अभिव्यक्ति उस जनजाति की साहित्यिक परंपरा में होती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती हुई प्राचीन मौखिक परंपरा के माध्यम से लोकजीवन के भावबोध को नई-नई अभिव्यक्ति मिलती है। वस्तुतः जनजातियों की सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखने का सबसे सशक्त माध्यम उसका विशिष्ट साहित्य माना जाता है क्योंकि वह लोक-संवेदनाओं और जनसंस्कृति का वाहक होता है। जनजातीय साहित्य में जीवन का सहज प्रवाह दिखलाई पड़ता है जिसमें लोकमानस के भावों को सहज और जीवंत अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसीलिए जनजातीय साहित्य में लोकजीवन का सत्य होता है।

भारत के पूर्वोत्तर भाग में स्थित सातों राज्य जनजाति-बहुल होने के साथ-साथ भाषिक और सांस्कृतिक परंपराओं की दृष्टि से भी अनोखे हैं। जहाँ तक इनके साहित्य का प्रश्न है, इसका अधिकांशतः मौखिक परंपरा के रूप में ही हस्तांतरित होता रहा है। असम को छोड़कर लिखित साहित्य का आरंभ इस क्षेत्र की जनजातियों में हाल ही में हुआ है। इन्हीं में से एक मेघालय की खासी जनजाति है। प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर मेघालय राज्य में कई जनजातियाँ निवास करती हैं और खासी उनमें से प्रमुख है। खासी भाषा में 'हेनिउत्रेप' कही जाने वाली यह जनजाति प्रोटो ऑस्ट्राइड समूह से संबंध रखती है। अपनी मातृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के लिए प्रसिद्ध खासी जनजाति कई कारणों से विशिष्ट है, चाहे वह महिलाओं के प्रति आदरभाव के कारण हो, चाहे 'दरबार' के माध्यम से स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था के कारण। समृद्ध सांस्कृतिक विरासत खासी समुदाय को विशेष पहचान प्रदान करती है। खासी भाषा का संबंध 'ऑस्ट्रो एशियाटिक' भाषा परिवार से है। इसका लिखित साहित्य लगभग 160 वर्ष पुराना है।

खासी साहित्य का विकास खासी समुदाय के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के साथ ही हुआ है। ब्रिटिश शासन की स्थापना और आधुनिक शिक्षा के प्रचार के साथ ही खासी लिखित साहित्य

966 में जन्मी श्रुति के आलेख
त्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते
हे हैं। दो पुस्तकें प्रकाशित हुई
। संपर्क : एल-9, स्थायी
रिसर, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्व-
द्यालय, शिलांग 793022
मेघालय)
मो. 9436312131

का विकास हुआ। अगर इतिहास की बात करें तो 1813 से पूर्व खासी साहित्य वाचिक परंपरा के माध्यम से ही हस्तांतरित होता रहा। यह वाचिक परंपरा 'फवार' अथवा लोकगाथाओं और लोक काव्य के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रही। फवार की यह परंपरा 'पुरिस्कम' या फेबल्स और 'परोम' या कहानियों के रूप में मिलती है। परोम के भी दो रूप हैं—एक लघु रूप कहानियों का है और बृहद् रूप लंबी कहानी अथवा लघु उपन्यास का है। मौखिक परंपरा में खासी कथावाचक द्वारा लंबी कहानी का वाचन संक्षेप में दो-तीन घंटे से लेकर दस-बारह घंटे तक हो सकता था। कभी-कभी लोकवाद्यों की संगत के साथ ये लोककवि अपनी रचनाओं का सस्वर पाठ अथवा गायन करते थे। सर्दियों में आग के इर्द-गिर्द बैठकर लोग बुज़ुर्ग कथावाचकों के मुँह से इन लोककथाओं का आनंद लेते थे। काव्य और कथाएँ तो वाचिक परंपरा में मिलती हैं, परंतु नाट्य रूपों का प्रचलन तत्कालीन वाचिक परंपरा में संभवत: नहीं था।

ईसाई मिशनरियों के आगमन से पूर्व खासी में लिखित साहित्य प्राप्त नहीं है। इस संबंध में खासी समुदाय में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार समुद्र पार करते समय खासियों के पूर्वजों के हाथ से लिखित साहित्य गिरकर लुप्त हो गया था। कालांतर में लिखित परंपरा के अभाव के कारण बहुत-सी बहुमूल्य साहित्यिक संपदा खो गई। वाचिक परंपरा के युग में यदि कोई व्यक्ति लोकसाहित्य के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक होता था तो उसे किसी कथावाचक या लोकगायक का सान्निध्य प्राप्त करना होता था। इन कथाओं में जहाँ प्राचीन काल के गौरवशाली चरित्रों के साहसिक कार्यों का वर्णन किया जाता था, वहीं पशु-पक्षियों, वृक्षों, पर्वतों आदि के बहुरंगी चित्र भी उतारे जाते थे। युद्ध, प्रेम, शिकार, तीरंदाज़ी और धार्मिक उत्सवों से संबंधित कथाएँ भी मौखिक लोक परंपरा में मिलती हैं। विवाह आदि सामाजिक समारोहों में लोग रातभर जागकर लोककथाओं को सुनते-सुनाते थे। खासी और जयंतिया पहाड़ियों में खेतों में काम करते हुए लोग लोकगीतों के मधुर संगीत में कठिन श्रम से भरे कष्टसाध्य जीवन को भूलने की कोशिश करते थे। इन लोकगीतों में जहाँ कवि की आत्माभिव्यंजना होती थी, वहीं लोकजीवन का सौंदर्य मुखरित होता था। उन्नीसवीं शताब्दी में खासी साहित्य में लिखित परंपरा के आरंभ होने के बाद मौखिक साहित्य की इस संपदा को लिपिबद्ध करने का प्रयास राबोन सिंह, मोंडोन बरेह, सोसो थाम, एच. इलियास, प्रिमरोज़ गैटपोह और अन्य कई खासी साहित्यकारों ने किया।

ब्रिटिश राज की स्थापना के कारण जिस नवजागरण का उदय खासी समाज में हुआ, उसने कई सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया। खासियों में अपनी अस्मिता को तलाशने की आकांक्षा भी जागी। इस काल की सांस्कृतिक उथल-पुथल ने खासी समाज में जो हचलच पैदा की, उसने जॉन रॉबर्ट्स, अमजद अली और सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवियों को जन्म दिया। खासी समुदाय की राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और इसके विकास क्रम के संबंध में ब्रिटिश लेखकों के लेखन से कुछ जानकारी मिलती है। उस काल में सोहरा (चेरापूँजी) ब्रिटिश शासन का केंद्र था। स्वाभाविक था कि सोहरा का मनोरम क्षेत्र खासी साहित्य की आरंभिक गतिविधियों का भी केंद्र बन गया। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व खासी पहाड़ियों में लिंगड़ों, सोरदार और सिएम जैसे पारंपरिक शासकों का शासन था। 1841 तक खासी पहाड़ियों में शांति बनी हुई थी, परंतु आंग्ल-जयंतिया युद्ध के बाद 1858 से खासी और जयंतिया क्षेत्रों का प्रशासन ब्रिटिश सरकार के

अधीन आ गया। 1864 में ब्रिटिश सरकार ने शिलांग को ज़िला प्रशासन का मुख्यालय बनाने का निश्चय किया। 1867 में शिलांग ज़िला मुख्यालय बन गया। 1974 में सरकार ने असम और ईस्ट बंगाल प्रांत का गठन किया और शिलांग इसकी राजधानी बनी। ब्रिटिश आधिपत्य के साथ ही ईसाई मिशनरियों का आगमन खासी पहाड़ियों में होने लगा। इस क्षेत्र में 1813 से ही मिशनरियों ने अपना काम शुरू किया था। इन गतिविधियों का केंद्र सोहरा और शेला के आसपास था। मिशनरियों के आगमन के साथ ही खासी साहित्यिक परंपरा का आरंभ माना जा सकता है। सोहरा में बोली जानेवाली खासी की बोली इस परंपरा का माध्यम बनी। कृष्णचंद्र पाल ने 1813 में *न्यू टेस्टामेंट* का अनुवाद खासी में किया जो बाङ्ला की लिपि में था। 1814 के बाद वेल्श प्रेस्बिटेरियल मिशन के थॉमस जोंस ने सोहरा में खासी के वर्तमान रूप को लिखित आधार प्रदान किया।

थॉमस जोंस ने 1842 में खासी भाषा में एक प्राइमर पुस्तिका लिखी जिसका नाम था *का किताब बात हिकाइ का खिटेन कासिया* । रोमन लिपि में लिखी गई यह पुस्तिका खासी भाषा और साहित्य के लिए आरंभिक बिंदु के समान थी। जोंस सोहरा क्षेत्र के तीन विद्यालयों के लिए पाठ्य-सामग्री तैयार करना चाहते थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने इस पुस्तिका की रचना की। 1858 तक खासी में बत्तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। इनमें से अधिकांश रचनाएँ अनुवाद की हुई थीं। इन अनुवादों के माध्यम से आरंभिक दौर के खासी लेखकों ने लेखन शैली की बारीकियों को आत्मसात् किया। खासी साहित्य के विकास में इन अनुवादों की विशिष्ट भूमिका है।

1891 में जॉन रॉबर्ट्स के निर्देशन में बाइबिल का खासी में अनुवाद किया गया। इसके कई संशोधित संस्करण बाद के वर्षों में भी प्रकाशित होते रहे। परवर्ती खासी लेखकों और कवियों पर इसका व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कैथोलिक मिशन ने कई धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद किया।

1884 में जॉन रॉबर्ट्स ने एसॅप की कई कथाओं का अनुवाद किया। इस अनुवाद से खासी गद्य को नई दिशा प्राप्त हुई। 1920 में सोसोथाम ने भी इन कथाओं का अनुवाद किया। इसके बाद जॉन रॉबर्ट्स ने अब्राहम और जोसफ़ की कथाओं का भावानुवाद किया। ये दोनों बाइबिल की प्रसिद्ध कथाएँ हैं। जॉन रॉबर्ट्स ने इन कथाओं का लघु उपन्यास के रूप में रूपांतरण किया। उन्होंने जोनाथन स्विफ़्ट की द *विज़न ऑफ़ मिर्ज़ा* का भी भावानुवाद प्रस्तुत किया। जॉन रॉबर्ट्स के बाद जीबन रॉय और इनके पुत्र हरिचरण रॉय ने हिंदी पौराणिक कथाओं का भावानुवाद खासी में किया। जीबन रॉय ने रामायण और हितोपदेश की कथा और चैतन्य महाप्रभु के जीवन चरित्र का खासी में रूपांतरण किया। हरिचरण रॉय ने महाभारत के एक प्रसंग का भी भावानुवाद किया।

खासी भाषा और साहित्य के इस आरंभिक काल में खासी समुदाय के शिक्षित लोगों ने अपनी सांस्कृतिक विरासत को पहचानना शुरू किया। इस काल में खासी समाज विकास की ओर उन्मुख हुआ और अपनी पहचान के प्रति भी जागरूक होने लगा। अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली के द्वारा ज्ञान के नए सोपान खुले जिससे खासी समाज का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आया। इसके फलस्वरूप खासी समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। इस काल के लेखक साहित्य के प्रभाव और सामर्थ्य के प्रति सचेत थे और वे खासी समाज को उन्नतिशील और जागरूक देखना चाहते थे।

खासी का आरंभिक काव्य उपदेशप्रधान और

नीतिपरक है। इस काल में ईसाई धर्म के आदर्शवादी काव्य का अनुवाद खासी में किया गया। इस काव्य में आत्मगौरव, स्वार्थत्याग, कर्तव्यबोध जैसे ऊँचे आदर्शों की प्रेरणा दी गई। 1845 में थॉमस जोंस *हिम्स* का पहला संग्रह प्रकाशित किया। विलियम लेविस ने थॉमस जोंस के साथ 1850 में कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं। खासी लेखन के आरंभिक दौर में इन दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस काल में लारसिंग खौंगवीर ने भी धार्मिक काव्य की रचना की। उनका काव्य ईसाई धर्म की मान्यताओं पर आधारित है।

जॉन रॉबर्ट्स (1842-1908) खासी साहित्य के संस्थापकों में से एक हैं। खासी साहित्य के आरंभिक युग में उनका साहित्यिक अवदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्हें खासी साहित्य का जनक भी माना जाता है। खासी भाषा में कई 'रीडर' तैयार करने के साथ उन्होंने बाइबिल से लेकर कथा-साहित्य तक की कई रचनाओं का ऐसा सरल अनुवाद किया जिससे खासियों के सांस्कृतिक उन्नयन में बहुत सहायता मिली। साथ ही उन्होंने काव्य, नाटक, निबंध आदि विधाओं में साहित्य रचना की शुरुआत की और खासी में परवर्ती रचना का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी कुछ रचनाएँ उपदेश प्रधान हैं। उदाहरण के लिए 'का बबेह इया कि नौंगशुन' शीर्षक कविता में उन्होंने युवावर्ग का आह्वान करते हुए कहा है कि वे आलस्य का त्याग करें और अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं करें।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक खासी समाज में शिक्षा का प्रचार होने लगा था। इसलिए उपदेशात्मक या नीतिपरक साहित्य अब जनसमाज के बीच अधिक लोकप्रिय नहीं रह गया था। शिक्षित समुदाय की मानसिक सीमाओं का विस्तार होने लगा था। जॉन रॉबर्ट्स ने अंग्रेज़ी की कई कविताओं का अनुवाद किया और साथ ही कुछ मौलिक कविताओं की भी रचना की जो उपदेश-प्रधान काव्य से अलग हटकर थीं।

इस प्रकार की रचनाओं में 'री खासी' नामक प्रसिद्ध कविता है जो बीसवीं शताब्दी के मध्य तक खासियों के लिए राष्ट्रगीत के समान थी। यह 'वेल्श' राष्ट्रगीत की तर्ज पर लिखा गया उद्बोधन गीत है। इसमें खासी जनजाति की पहचान की आकांक्षा, उनकी प्राचीन संस्कृति का गौरवगान और उनकी जनजातीय अस्मिता की खोज है। इसमें खासियों के पारंपरिक जीवन दर्शन, सच्चाई से भरे मूल्यों और लोकतांत्रिक आदर्शों की प्रशंसा के साथ ही वर्तमान समय में समाज में व्याप्त अशिक्षा, अंधविश्वास और अज्ञान से मुक्त होने का आह्वान किया गया है।

"रि ला जोंग" कविता में खासी पहाड़ियों के आदिम सौंदर्य का वर्णन है। यहाँ की शीतल वायु, हरे-भरे वृक्षों और कलनाद करती छोटी-छोटी जल धाराओं की चित्ताकर्षक छवि का वर्णन कवि मुग्ध स्वर में करता है—

उसकी पहाड़ियों और श्रृंखलाओं में,
बहता है सुखद पवन,
मेरी अपनी भूमि, सुंदर भूमि,
स्वच्छ जल देखो,
बहता है नदियों में,
मेरी अपनी भूमि, सुंदर भूमि।

'ऑटम' अर्थात् शरद ऋतु कविता में सोहरा (चेरापूँजी) में शरद ऋतु के मनोरम सौंदर्य का चित्रण है। धरती हरियाली से आच्छादित होती है, भौंरे मधुर स्वर में गुँजार करते हैं और पक्षियों के मधुर गान से सोहरा के वन गूँज उठते हैं। रॉबर्ट्स का काव्य प्रकृति के वैभव से भरा है—

प्रकृति और उसका वैभव,
मानव के लिए हैं सुखप्रद,
रंगों से भरा स्वरूप,
सम्मोहित करनेवाला।

'द ड्यूज' (ओस) कविता में कवि सुबह

समय पत्तों और फूलों पर गिरी ओस की बूँदों की तुलना मोतियों के सौंदर्य से करता है। कवि कहता है कि रात में जब सारा जंगल सोता है तब पवन ओस की बूँदों को बिखेर देता है।

जॉन रॉबर्ट्स ने अंग्रेज़ी की कई कविताओं का अनुवाद खासी में किया जिसमें एच.डब्ल्यू. लॉन्गफ़लो और सी.एफ़. अलेक्ज़ेंडर की कुछ कविताएँ भी थीं।

खासी काव्य-परंपरा की अगली कड़ी के रूप में अमजद अली (1868-1926) का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका काव्य वाचिका परंपरा और आधुनिक खासी कविता के बीच की कड़ी है। उनका काव्य संग्रह *का मिन्तोइ* 1888 में प्रकाशित हुआ।

अमजद अली की 'लोबली' कविता में एक घायल सैनिक और उसके सात वर्षीय पुत्र की मार्मिक कथा है। 'ताइ एंड द पुअरमैन' कविता में हातिमताई और पुअरमैन के माध्यम से श्रम के सौंदर्य और आत्मनिर्भरता के महत्त्व का वर्णन किया गया है। 'रूल खासीज' में खासियों को अंग्रेज़ों पर निर्भर रहने के बजाय आत्मावलंबी होने का संदेश दिया गया है। 'इएंग रिउ खासी' अर्थात् 'खासियों जागो' में खासियों को सत्य, श्रमशीलता, कर्तव्यनिष्ठा आदि सद्‌गुणों का विकास करने की प्रेरणा दी गई है। वे खासियों से सच्चे ज्ञान को हृदयंगम करने को कहते हैं तथा अशिक्षा और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का आह्वान कहते हैं। निष्क्रियता को त्यागकर कर्मठता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। 'रिलिज़न' (धर्म) कविता में कवि ने सच्चे धर्म के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे मुक्ति का द्वार बताया है। सच्चा धर्म मानव को आध्यात्मिक सम्पन्नता प्रदान करता है। 'जिंगरुअइ इआ ख्लाड' (विदाकाल का गीत) में अमजद अली ने जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार किया है। मृत्यु के सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी वे समय से पूर्व जीवन से पलायन नहीं करना चाहते। मृत्यु के समय अपने प्रियजन को चिरविदा देते हुए वे उसे स्थिरचित्त होकर मृत्युपथ पर चलने को कहते हैं क्योंकि वहाँ जाकर फिर अपने प्रियजनों से मुलाक़ात होगी। वे कहते हैं—

जाओ प्रिय मित्र, मैं भी आऊँगा,

अमजद अली ने जीवन के मर्म को अभिव्यक्ति दी है। उनके काव्य का मानव अपने जीवन का निर्माता स्वयं है। प्रकृति-सौंदर्य की चित्ताकर्षक छवियाँ उनके काव्य में मिलती हैं। 'स्टेप' कविता में कवि ने खासी पहाड़ियों पर चमकते सूर्य, शीतल चंद्रकिरण, रंग-बिरंगे फूल, हरी-भरी घाटियों, गान करते पक्षियों, गुंजार करते भौंरों और घिरते बादलों का वर्णन किया है। इस कविता में अली ने मानव को प्रकृति के एक उपकरण के रूप में देखा है। मानव यहाँ प्रकृति के साथ एकात्म हो गया है। 'बाइनेंग' कविता जिज्ञासा, विस्मय और रहस्यवाद के भावों से समंवित है। यहाँ कवि ने प्रकृति में दार्शनिक सत्य के दर्शन किए हैं। अमजद अली की प्रकृतिपरक कविताओं पर अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ का प्रभाव है।

उन्नीसवीं शताब्दी के समापन और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में खासी समाज में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की धारा प्रवाहित हुई। सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप इस काल तक आते-आते पारंपरिक खासी परंपराओं और रीति-रिवाजों में परिवर्तन होने लगे। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आंदोलन चला जिसके प्रवर्तकों में राबोन सिंह, जीवन रॉय, राधोन सिंह बेरी आदि थे। बाद के वर्षों में शिवचरण रॉय, होमीवेल लिंगडो और सोसोथाम ने भी इसमें योगदान किया।

राबोन सिंह ने मौखिक परंपरा से प्राप्त साहित्य को संकलित किया। 1899 में उन्होंने *का किताब जिंग फवार* नामक रचना प्रकाशित की जिसमें

मौखिक परंपरा से प्राप्त काव्य था। सामाजिक मूल्यों के ह्रास पर उन्होंने चिंता व्यक्त की। खासियों से उन्होंने अपनी परंपरा पहचान और अस्मिता के प्रति सचेत रहने का आह्वान किया।

राधोन सिंह बेरी ने काव्य के माध्यम से खासियों के सांस्कृतिक मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। उनके विचार में शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य लोगों में सद्गुणों का विकास करना है। उन्होंने अपनी साहित्य-यात्रा का आरंभ *उ खासी मिंता* नामक पत्र में लिखे गए लेखों के द्वारा किया। उनकी पुस्तक *का जिंगस्नेंग तिम्मेन* खासी कहावतों का संग्रह है। बेरी की रचनाएँ अपनी साहित्यिक उत्कृष्टता से अधिक सांस्कृतिक मूल्य के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के समानांतर एक अन्य धारा खासी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी। यह धार्मिक पुनरुत्थान की धारा थी जिसने बाद के अनेक लेखकों को प्रभावित किया। इस धारा के प्रमुख कवियों में रेवरैंड अमीरखा खैन, रॉबर्ट एवांस आदि थे। इनके द्वारा आरंभ किए गए इस काव्यांदोलन के प्रमुख कवियों में मोरखा जोसेफ़ भी थे जिनका इस काल के कवियों में विशेष स्थान है। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'उ जुमइ बाह हा रि खासी' अर्थात् 'खासी प्रदेश में बड़ा भूकंप' है। इसमें भूकंप की विनाशलीला और भयावहता का चित्रण है। यह खासी साहित्य का पहला शोकगीत है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण कविता 'का जिंगवन हिअर उस मिनसिएम बखुइद हा रि खासी' अर्थात् 'खासी प्रदेश में पवित्र आत्मा का आगमन' है जिसमें 1905 में धार्मिक पुनरुत्थान के आरंभ होने का वर्णन है। 'उ सिएरलापालांग' एक प्राचीन खासी लोककथा पर आधारित है। इसमें एक हिरनी और उसके युवा पुत्र की मार्मिक कथा है जिसमें प्रतीकात्मक रूप में मानव जीवन के जटिल प्रश्नों पर विचार किया गया है। मोरखा जोसेफ़ की रचनाओं में शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया गया है। धार्मिक पुनरुत्थान की काव्य परंपरा के अंतर्गत 1903 में मोन्डोन बरेह ने 'का जिंगशिशा' (सत्य) में सत्य का विवेचन किया है। मोन्डोन बरेह और मोरखा जोसेफ़ जैसे कवियों ने अमूर्त भावों को काव्य के द्वारा मूर्त किया। सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान की धारा ने खासी काव्य को गहराई तक प्रभावित किया।

1913 से 1940 तक का समय खासी साहित्य के उत्कर्ष का काल था। यह समय खासी भाषा की कलात्मक समृद्धि और विकास का था। इस काल में सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने खासी साहित्य को समृद्ध किया। बीसवीं शताब्दी की खासी कविता पर दूरगामी और गंभीर प्रभाव छोड़ने वाले सशक्त कवि सोसोथाम (1873-1940) का जन्म सोहरा में हुआ था। एक साधारण परिवार में जन्मे सोसोथाम को सोहरा के मनोरम प्राकृतिक वातावरण ने बचपन से ही आकृष्ट किया। पेशे से अध्यापक सोसोथाम ने अपनी काव्य-यात्रा का आरंभ अनुवाद के द्वारा किया। *दि फवार उ एसॅप* नामक अनूदित रचना खासी की सर्वश्रेष्ठ गद्य रचनाओं में से है।

सोसोथाम की वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति प्रायः व्यक्तिगत दुख की पीठिका पर हुई है। नियति से संघर्ष, सांसारिक कष्ट और मृत्यु की अनिवार्यता पर रची गई कृतियों में 'उ सिब', 'उ सैंडी' और 'उ तिरोत' जैसी कविताएँ हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन की दुख भरी घटनाओं की अभिव्यक्ति उनके काव्य में स्थान-स्थान पर हुई है। प्रकृति के सौंदर्य में उन्होंने जीवन की विषमताओं को भूलना चाहा। प्रकृति से उन्हें स्वभावतः प्रेम था। सोहरा की सुरम्य गोद में पले-बढ़े सोसोथाम ने अपनी जन्मभूमि सोहरा के सौंदर्य के आकर्षक शब्द चित्र खींचे हैं—

मैं सोहरा वापस जाऊँगा पहाड़ियों पर चढ़ने,
पहाड़ों के प्यारे फूलों को,
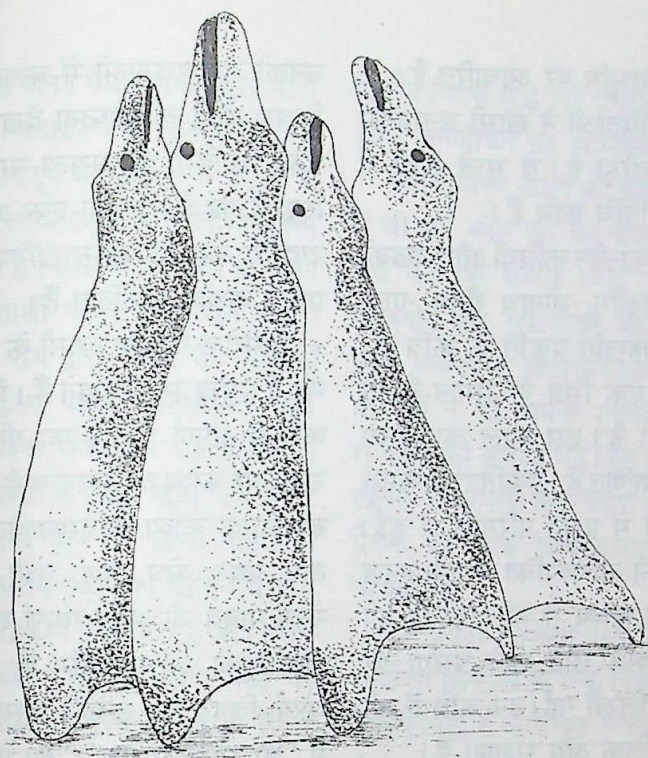
भूमि पर बिखरते देखने।
पक्षियों के झुंड और उड़ती हुई चील,
मेरी भूमि–
जन्मस्थली प्राचीन वीरों की।

सोसोथाम के प्रकृति चित्रण में एक अद्‌भुत …र्य है। 'ग्रीनटर्फ' शीर्षक कविता में वे अपनी …व्ययात्रा में आने वाली बाधाओं की चर्चा करते …। वे अपनी तुलना पत्थर पर उगने वाले एक …ल से करते हैं जो जंगल में एक छोटी नदी के …नारे खिलता है और पूरे वर्ष सदाबहार रहता …। वह इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच …म लेता है, फिर भी उसकी जिजीविषा अक्षुण्ण …। अपना समय पूरा कर वह हरी तृणभूमि के …चे दफ़न हो जाता है। कविता की अंतिम …क्तियाँ मार्मिक हैं—

…ह ख़ामोशी से जीता है और चला जाता है।
…ने कठोर, इतने मुश्किल रास्ते पर चलते हुए।
…र क़ब्र में वह चुपचाप विश्राम करेगा,
…ी तृणभूमि के नीचे।

सोसोथाम ने आधुनिक खासी काव्यकला की आधारशिला रखी। उन्होंने अपने लिए नए छंदविधान की रचना की। उनके अनुसार कविता कवि के हृदय में स्थित सतत क्रियाशील प्रेरणा है। उन्होंने कविता की तुलना चार तारोंवाले तंत्रीवाद्य दुइतारा से की है। जिस प्रकार दुइतारा में चार तार और अन्य अंग होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी विविध अवयव होते हैं। काव्य के उद्देश्य के संबंध में सोसोथाम लिखते हैं कि ''काव्य विचारों का विस्तार करता है और हृदय को शक्ति देता है। वह जीवन को अभिव्यक्ति देता है।''

अपनी बाद की रचनाओं में सोसोथाम ने प्राचीन खासी समाज के सामाजिक जीवन के विषय में विचार व्यक्त किए हैं। 1936 में उनकी रचना 'कि स्नगि बरिम उ हिन्युट्रेप' प्रकाशित हुई। इसमें खासियों के सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विरासत की खोज की गई है। खासियों के पारंपरिक विचारों को स्पष्ट करने वाली इसकी कथावस्तु पौराणिक

और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

सोसोथाम की कविताओं ने खासी जनमानस पर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। वे सच्चे अर्थों में खासी भाषा के प्रतिनिधि कवि हैं।

सोसोथाम के समकालीन कवियों और लेखकों में निहोन सिंह वाहलांग, ब्रोनाथ थैंक्यू, एल. लेविस आदि हैं। वाहलांग प्रकृति के कवि थे। उनके लिए प्रकृति एक मित्र के समान है जो सबका पोषण करती है। इस काल का काव्य कल्पनातत्त्व से अनुप्राणित है। प्रकृतिपरक काव्य की रचना इस काल में प्रभूत परिमाण में हुई। करुणा और वेदना की अभिव्यक्ति भी इस काल के कवियों ने अपने काव्य में की। जीवन की साधारण घटनाओं और छोटे-छोटे प्रसंगों पर प्रभावपूर्ण कविताएँ लिखी गईं। इन कवियों की आत्माभिव्यंजना मौलिक और सशक्त है।

एल. लेविस इस काव्यधारा के प्रवर्तकों में से थे। उन्होंने ऋतुओं पर आधारित सुंदर प्रकृति परक कविताएँ लिखीं। शैली और छंद की दृष्टि से लेविस का काव्य पिछली काव्यधारा से अधिक भिन्न नहीं है। लेविस की रचनाओं का महत्त्व जीवन और विशेषकर प्रकृति के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण में है। लेविस के लिए खासी पहाड़ियों में वसंत ऋतु सर्वाधिक आकर्षक है। वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि खासी प्रदेश में वसंत के आगमन पर उल्लास व्यक्त करते हुए कहता है कि धरती जैसे नींद से जागकर अँगड़ाई ले रही है। धरती ने नर्म घास के वस्त्र धारण किए हैं और वृक्ष नए पत्तों और फूलों से सज्जित हो गए हैं। किसान फ़सल की बोआई में लगे हैं। 'का पिरेम' शीर्षक कविता में वसंत की इसी मनोरम सुंदरता का वर्णन है।

खासी कथा लेखकों में प्रिमरोज़ गैटपोह (1900-1976) अग्रगण्य हैं। उन्होंने कई कहानियाँ और लघु उपन्यास लिखे। इन रचनाओं का संकलन *सौडोंग़ का लिंग्वियर इपइ* है। उनकी गद्य रचनाओं में कथानक और चरित्र-चित्रण दोनों की श्रेष्ठता देखने को मिलती है। उनके साहित्य में असत्य पर सत्य की विजय दिखाई गई है। उनका एक अन्य संग्रह *उ लुम राइटौंग बड कि श्केन खौंगपौंग* है जिसमें प्रेम प्रधान कथाएँ संकलित हैं।

प्रिमरोज़ गैटपोह खासी के आधुनिक कवियों में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। गैटपोह के अनुसार कविता संपूर्ण प्रकृति का गीत है। यह कथन उनके पूरे काव्य का सारतत्त्व है। प्रकृति के विविध रूप उनके काव्य के प्रेरणास्रोत हैं। चंद्रमा, सूर्य, तारे, पवन, मेघ, पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल और स्वयं मानव जो अपने संपूर्ण सामर्थ्य के बावजूद प्रकृति का अभिन्न अंग हैं, उनके काव्य का वर्ण्य-विषय है। उनकी प्रमुख काव्य रचनाओं में 'का सोहलिंगजेम', 'का पेरटिरसो' और 'उ सिएर लापालांग' हैं।

'का सोहलिंगजेम' में प्रेम और कर्तव्य के बीच के द्वंद्व का चित्रण है। यह पुराने और नए मूल्यों के बीच के टकराव को भी दर्शाता है। 'का पेर टिरसो' में प्रेम और वासना का द्वंद्व है। 'उ सिएर लापालांग' में खासियों की एक पारंपरिक लोककथा के माध्यम से महत्त्वाकांक्षी युवावर्ग की मानसिकता का चित्रण हुआ है। गैटपोह की कविता में आधुनिक मानव की नियति रूपायित हुई है जिसका जीवन जटिलताओं का पुँज बनकर रह गया है। महत्त्वाकांक्षाओं, चिंताओं, भयों और तनावों से जूझते हुए उसका मन विरोधाभासों का जटिल जाल बन गया है। गैटपोह के जीवनदर्शन का केंद्रीय बिंदु मानव-आत्मा के लिए स्वतंत्रता की खोज है। 'तूता अइ खाव' में तोता मुक्ति की साँस लेने के लिए व्याकुल है।

1937 में रेवरेंड फ़ादर होपवेल इलियास की गद्य रचना प्रकाशित हुई। अपने निबंधों में उन्होंने खासी कविता के उद्गमस्रोत की खोज की।

लोकनाट्यों का प्रचलन मेघालय के कुछ भागों तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए जोवाई के भागों में लोकनाट्य के कुछ रूपों की चर्चा है। परंतु इन लोकनाट्यों का लिखित रूप उपलब्ध नहीं है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में पहला खासी नाटक प्रकाशित हुआ। 10 में हरिचरण रॉय द्वारा रचित *का सावित्री* खासी में लिखा हुआ पहला नाटक था। यह सावित्री की पौराणिक कथा पर आधारित था लेखक ने नाटक में कुछ पात्रों की सृष्टि की थी जिसके खासी नाम थे। इससे नाटक में स्थानीय रंग का समावेश हुआ। दीनोनाथ रॉय का *उ दिपस्नमि* 1924 में प्रकाशित हुआ। इसमें स्थानीय परिवेश और पात्रों की सृष्टि की गई इसलिए इसे खासी साहित्य का पहला नाटक माना जाता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खासी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। 1960 में एफ.एम. पुध ने खासी भाषा और संस्कृति पर आधारित *लैंगुएज नांगनो उ खासी* *बन मिह* प्रकाशित की। 1979 में एच.डब्ल्यू. ... ने *का हिस्ट्री का किटेन खासी* नामक ग्रंथ लिखा। विक्टर. जी. वरेह ने 1957 में *उ तिरोत* ... नामक नाटक की रचना की, जो अपने ढंग की पहली ऐतिहासिक कृति थी। यह 1829 से 33 तक अंग्रेज़ी हुकूमत से संघर्ष करने वाले ... सिंह के जीवन पर आधारित थी। मोंडोन ... ने 1966 में *उ मिहस्नगि* नामक नाटक लिखा जो खासी का पहला सामाजिक नाटक था। ... एम. पुध इस युग के महत्त्वपूर्ण नाटककार ... एस.जे. डंकन, ओ. लामारे और डी.एस. ... ने लोककथाओं पर आधारित कई नाटक लिखे।

कथा-साहित्य के अंतर्गत इस काल में कुछ कृतियाँ लिखी गईं। डब्ल्यू. टिउसोह ने 1975 में *का काम कालबुट* नामक उपन्यास लिखा जो द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि पर होते हुए भी आम जनजीवन पर आधारित था।

स्वातंत्र्योत्तर काल की प्रमुख काव्य-रचनाओं में वी.जी. बरेह की *का पोएट्री खासी*, एफ.एम. पुध की *कि फवार रवाई खासी* हैं। साथ ही बाजूबोन आर. खारलुखी, बी.सी. जिरवा, ऑस्कर एम. वाहलांग, क्लास्टरफ़ील्ड खौंगवीर आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा खासी साहित्य की समृद्धि की। इन कवियों ने आधुनिक खासी जनसमाज का चित्रण किया है परंतु इनकी प्रेरणा का स्रोत लोककथाएँ और ऐतिहासिक कथाएँ हैं।

इस प्रकार मौखिक परंपरा से आज तक खासी साहित्य विकास के एक लंबे दौर से गुज़र चुका है। विकास के आरंभिक काल में ईसाई मिशनरियों ने खासी भाषा और साहित्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। थॉमस जोंस और लेविस जैसे व्यक्तियों की इस क्षेत्र में विशेष भूमिका थी। बाद के साहित्यकारों के लेखन में खासी जनजाति का सांस्कृतिक विकास प्रतिबिंबित होता है। इसमें इन साहित्यकारों की आत्माभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही समूची जनजाति के भावों की अभिव्यंजना है। इस दौर में सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने आधुनिक खासी काव्य की आधारशिला रखी। उनकी लोक संपृक्ति और युग-सापेक्ष चिंतन ने खासी साहित्य को एक नया आयाम दिया। सोसोथाम और उनके समकालीन लेखकों ने खासी जनमानस की सोच, परंपरा और लोक विश्वासों को पहचान प्रदान की। उनके परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं में खासी जनसमाज के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, उसका विस्तार भविष्य के खासी साहित्य में अपेक्षित है। खासी साहित्य के अब तक के विकास में भविष्य की यही संभावनाएँ परिलक्षित होती हैं।

नेपाली कविता

विचंद्र

प्रतिबिंब

एक सुबह
पूरब के क्षितिज से नहीं
तुम्हारी माँग से
सूरज को उगते देखा
एक रात बीच आकाश में नहीं
तुम्हारे आग़ोश में
चाँद को सोते देखा
एक दोपहर पेड़ की टहनियों पर नहीं
तुम्हारे अधरों पर
लाली गुराँस[1] को खिलते देखा
एक शाम आईने में नहीं
तुम्हारे चेहरे पर
मैंने अपने ही आकार को
ओमकार होते हुए देखा।

कविता का जन्म

मैं उठता हूँ
और बैठता हूँ
मैं बैठता हूँ
और उठता हूँ
घर के बाहर निकलता हूँ
घर के अंदर आता हूँ
मन ही मन बातें करता हूँ
मन ही मन चुप्पी साधता हूँ
मैं ऊहापोह में होता हूँ
पता नहीं कहाँ पर होती है पीड़ा
पता नहीं कहाँ लगती है गुदगुदी
मुझे पता है

नेपाली एवं बाङ्ला कवि विचंद्र के पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 'चंद्रप्रस्थ', कृष्ण नगर, मिरिक, दार्जीलिंग (प. बंगाल)

अनु. खडकराज गिरी का जन्म 1958 में हुआ। चार कहानी-संग्रह और चार अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। स्रष्टा पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : सी.एम.एच. एरिया, 1702/बी, डिगबोई 786171 (असम)

1. एक फूल

जब कभी ऐसा होता है
मेरे दिल में कहीं
एक कविता का जन्म होता है!

वीरभद्र कार्कीढोली

मैंने रेत को हथेली पर लेकर देखा

सच, उस बादल और कोहरे को समझ नहीं पाया!
पर, कोहरा और बादलों की दुनिया
बेहद पसंद है मुझे।

कैसे कहूँ
किसी दिन यह हिमालय
नहीं पिघलेगा।
सूरज की तीव्रता का आभास तो
है ज़रूर
बादल, कोहरा और हिमालय को।

अब हमें
आग की जगह राख से सतर्क रहना होगा
कोलाहल की जगह मौनता से होशियार रहना होगा
फिर भी घबराना नहीं
अब तक तो है इतनी हिम्मत
जीवित इस वीरभद्र में!

खेद है कि
नए साल के बुधवार को लौटा दिए
बड़े प्यार से
कितने जज़्बे लेकर आया था,
अब न जाने यह जज़्बा रहे ना रहे
उसके सीने में
कुछ कह नहीं सकता
लौटा देना जितना सहज है
ले आना उतना ही कठिन
वह क्षण काफ़ी चुनौती भरा और
संघर्षपूर्ण होगा!

...ली कवि वीरभद्र कार्कीढोली
... कविता-संग्रह एवं एक
...नी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं।
...: शोभा निवास, सिक्ताम,
...रिया, सिक्किम 737122
...: खड़कराज गिरी

वचन और समय को पकड़े रहना है
कहता आया हूँ आज तक

वह हिमालय अब
रोज़ की तरह नहीं पिघलेगा
न ही जमकर ऊँचा उठेगा
वह सुबह का जल-कण
नसीब हो न हो
मैंने रेत को हथेली पर रखकर देखा,
रेत के कणों में से
संभव नहीं है जल की बूँद निकालना
मुझे आज पता चला।

और आज इस शाम
इस शहर के
रंगीन बल्बों को
मुझे ही निहारते देख
मैंने भी देखा अपने को
सच, मैं कितना बदरंग हो गया हूँ!
हिमालय की बजाय
उस बादल और कोहरे जैसा हो गया हूँ!
मैं तो कुछ ऐसा ही हो गया हूँ!

हिंदी कविता

श्रीनिवास श्रीकांत

नगर : एक दृश्य

श्रीनिवास श्रीकांत का जन्म 1937 में हुआ। कविता-संग्रह और आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। हिंदी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 9-11/ ब्लॉक-ए, पूजा हाउसिंग सोसाइटी, संदल हिल, लोअर चक्कर, शिमला 171005
फ़ोन : 0177-2633272

अपनी लाल, तिकोनी छतों के साथ
फिरंगी दिनों की याद दिलाता है
यह पर्वतीय नगर

पश्चिमी घाटी में हवा से एकाएक
टूटती है ख़ामोशी

तराशे क्षितिजांत आकाश में
ढलानें करती हैं
एक-दूसरे से संवाद

हिलते हैं स्वीकार में
चीड़ों के एक साथ
अनेक सिर
अद्भुत लय में

वे सब सुन रहे
ढलानों–चट्टानों की गुफ़्तगू
भर रहे हामी

जंगल की हवा
थपथपाती है
शीशों जड़ी खिड़कियाँ
बजाती हैं छतें
अपने अपने नगाड़े

षडज और पंचम के बीच
गाता है आसमान
अपने नीम तूफ़ानी स्वर में

यह है फागुन के बाद का
नगर का पहला ग्रीष्म
स्मृति और समय की
भूलभुलैया को
देता उकसाहट

एक एक कर खुलने लगते
अतीत के मंज़र
गए कल की पार्टियाँ
बारों में जामों की खनखनाहट
सनकी बुद्धिजीवियों के
बेशुमार क़िस्से

यह शहर
बजता है
मेरी नसों में
और पूरे लैंडस्केप के साथ
हिलने लगता है
चेतना का वृक्ष
टहनियों समेत
उसकी बजती हैं
पत्तियाँ।

योग मुद्रा

एक आदमी लेटा है
भारत के मानचित्र पर
श्वासनी मुद्रा में
वह नहीं है ब्रह्म राक्षस
न वेताल
न यति

वह है एक प्रखर साधक
अपने अतीत पर ध्यानस्थ
भविष्य के प्रति आस्थावान
बज रही हैं उसकी धमनियाँ
धड़क रहा हृदय
बह रहा बरसों से घूमता रक्त
घड़ता माँसपेशियाँ
मेधा
अस्थि पिंजर

अवयव बनाते हैं
उसका भूगोल
भावनाएँ
रंग-बिरंगी लोक संस्कृतियाँ

व्यवधानों के बावजूद
लय में जी रहा है वह
विचारवान
बलवान
प्रतिभा संपन्न
वह है जीवित

नहीं चाहिए उसे
साँस लेने के लिए
कृत्रिम हवा

वैपरित्य में भी
अलख जगाता है वह

साधा है उसने

समय का मसान

मस्तक है उसका
आसमानों में
पर, पृथ्वी को
स्पर्श करते हैं
अहर्निश उसके पाँव
पुरा और आधुनिक के बीच
समय को जोड़ता सेतु है वह
जितना पुरातन
उतना ही नवीन भी।

प्रभात सरसिज

कभी-कभार

कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो स्मृतियों में रहती हैं महफ़ूज़
भावों को ऊष्म बनातीं भटकती रहती हैं
जस के तस उन्हें क़ाबू कर दृश्य-जगत में लाना
जटिल होता है
दिल की घड़ी में टिक-टिक सुनाई पड़ती है
स्मृतियाँ कोई स्वाद नहीं हैं कि जलेबियों जैसी तासीर देती रहें
बहरूपियों-सा रंग बदल वह निबोलियों में
उतरती हैं कभी
जो बनी-बनाई स्मृतियों से बेगानी लगती है।

...त सरसिज का जन्म 1950
...हुआ। इनकी कविताएँ
...शित होती रही हैं। संपर्क :
...धर दास बिल्डिंग, श्याम-
...ी, शांति निकेतन, वीरभूम
...235 (प.बं.)

बुज़ुर्ग अश्-अश् करते हुए
छाड़नों में खोजते हैं कुछ
चश्मों को सँभाले
पुरालेखों को मुश्किल से पढ़ लेने वालों में भले ही
होता है गैलेलियो जैसा आत्मसुख
पर आकर्षण के विपरीत
लटकी रह जाती हैं अभीप्साएँ
जिन कामनाओं की बारिश में हम भीगे थे साथ
विस्फारित आँखों के विस्तार में दूर-दूर तक
उनके निस्तेज होने की कल्पना नहीं थी
टूटते हुए तारों की रश्मि रेखाएँ तारों की बिरादरी में
नहीं कर सकती हैं उन्हें फिर से शामिल

अधपके समय में जवान ख़्वाहिशें

शाम के अधपके समय के बाद
जब रात धप्प से उतरने को होती है
अँधेरे के बंसवटों से घिरी स्मृतियाँ कुछ ही फ़ासले
पर खड़ी हो जाती हैं घर लौटते हुए
बसेरा लेते पक्षियों की चिंचियाहट धीमी पड़ती जाती है

पतंग अपनी लपेटनों के साथ विश्राम करती हैं
मैदान में छिले घुटने झुककर देखते हैं बच्चे

बच्चे जो पूरी शाम आकाश में सपनों के साथ रहते हैं
उनकी याद से हट चुका होता है मैदान
जो स्वेटर बुनतीं उँगलियाँ चिटक चुकी होती हैं,
अब रोटियाँ पलटने में लगी हैं।

यहाँ पहुँचकर भी नहीं होता स्मृतियों का अंत
विवर्ण-अवसाद में डूबीं ब्याहताओं की प्रतीक्षा शुरू हो जाती है
विस्मृतियों के मरु में उगी छिटपुट झाड़ियों
को लालटेन की रोशनी में आकार लेने का अवसर मिल ही जाता है।

चीज़ों को पलट देने की जवान ख़्वाहिशें
ऐसे अधपके समय में
और भी तेज़ हो जाती हैं।

आशीष त्रिपाठी

स्पर्श

शब्द और मौन के अंतराल को भरता हूँ
स्पर्श करता हूँ तुम्हें

अनंत इच्छाओं से छल-छल दो कलशों पर
टाँकता है समय
एक ही शुभ-चिह्न

तुम डूबती जाती हो अनंत में
अतल गहराई से उभरते हैं शब्द
पत्तों से भरी अनछुई पृथ्वी पर
जैसे कोई नन्हा ख़रगोश चला हो हौले

कपोल पर सरकता है कपोल
मुँदी आँखें
रंग तुम्हारा छुअन में समाता जाता है

दो नदियों के संगम में
खोई नदी को
खोजते हैं हम

जैसे जल राशि के भीतर
दो नौसिखिए
बेचैन तड़पते उमगते उद्दीप्त खोजते हैं एक-दूसरे को
टेरते हैं मौन-कहाँ हो तुम!

बसंत की बयार में धीरे-धीरे
झरती जाती हैं पुरानी पत्तियाँ
उगती हैं कोंपलें

कि सहसा डूब जाता है
सिंदूरी सूरज

उत्सव की स्मृतियों से
बौरायी रहती हैं सारी ख़ाली जगहें।

...3 में जन्मे आशीष त्रिपाठी
...चि कविता के साथ-साथ
...नय, नाट्यालेखन में भी है।
...: 72, नंदनगर, करौंदी,
...यू. के पास, वाराणसी
...05, मो. 9450711824

अकेली औरत

एक अकेली औरत
चलती है जिस रास्ते
उसमें पेड़ नहीं होते छायादार
छाया का मायावी अँधेरा होता है

उसकी भूख में
झरबेरी की झाड़ियों में
बेर नहीं, उग आते हैं धतूरे

अकेली औरत
तीखी चुभन भरी धूप में चलकर
बड़ी उम्मीद से
पहुँचती है सिद्धियों वाले
मीठे जल से भरे जलाशय में
उसे देखते ही सिद्ध-पुरुष
मगरमच्छ में हो जाते हैं तब्दील

शीतल जल के भीतर
उसकी जैसी अनेक अकेली औरतें
दिखाई देती हैं निर्वस्त्र
अकेली औरत हाथ में लेने से पहले ही वहाँ का जल
डरकर, भागी गर
सिद्धों के अखाड़ों से
अकेली औरत के अकेलेपन की गालियाँ
दीवारों पर भर जाती हैं
चर्चाओं में बार-बार उतारे जाते हैं उसके कपड़े

अकेली औरत के बारे में
कहानियाँ चलती हैं
सिद्धों-साध्वियों-पतिव्रताओं के घरों से

अकेली औरत
जब बदनाम होकर
सर झुकाती है
मीरा उद्विग्न होकर नाचती है।

बेटी का हाथ

(1)

तुम्हारा हाथ पकड़ना
जैसे बेला के फूलों को लेना हाथों में
जैसे दुनिया की सबसे छोटी नदी को महसूसना क़रीब
जैसे छोटी बहर की ग़ज़ल का पास से गुज़रना

जैसे सबसे भोले सवालों को बैठना सुलझाने
जैसे बचपन में छूट गई
अपनी सबसे प्यारी गुड़िया से फिर मिलना

जैसे फिर से गाना
अपने छुटपन के अल्लम-गल्लम गीत

जैसे कंचों के खेल की उमर में
लौटना फिर

जैसे आत्मा के सबसे प्यारे टुकड़े को छूना

(2)

तुम्हारा हाथ पकड़कर
दुआ करता हूँ उड़ना सीखते पाखियों के लिए
उन्हें घोंसलों में छोड़कर
दाना बीनने गई उनकी माँओं के लिए
काम पर गए
या भीख माँगते बच्चों के लिए

दुनिया से विदा लेती वनस्पतियों
और बोलियों के लिए

गिलहरियों के लिए टकोरियों
मिट्ठुओं के लिए मीठे आमों
मछलियों के लिए जल
धरती के लिए बीजों
की दुआ करता हूँ

नदियों के लिए जल की धार
धरती के लिए हरियाली
आसमाँ के लिए सतरंगी इंद्रधनुष

पर्वतों के लिए मेघों के साथ

दुनिया भर की औरतों के लिए
साँस भर अवकाश
और अकुलायी आत्माओं के लिए
सबसे मीठी धुनों की
दुआ करता हूँ

दुआ करता हूँ
और कहता हूँ—आमीन!

(3)

तुम्हारा हाथ पकड़कर
इच्छा जागती है
पृथ्वी को गेंद की तरह देखने की

फिर मैं तुम्हारी उँगली पकड़
दिखाना चाहता हूँ सारी दाग़दार हवेलियाँ
जिनमें रची जाती हैं अम्लीय बारिश की तकनीकें

जहाँ एक बच्चे का भविष्य रचने
लाखों लोरियों की ज़बान कर दी जाती है बंद
एक उड़ान के लिंए
काट लिए जाते हैं अनगिनत परिंदों के पर

जहाँ अनगिनत खेल बच्चों के
रूठे रहते हैं बच्चों से
बच्चों की पोथियों में सब कुछ होता है
सिवा उनके बचपन के

जहाँ बच्चों से ज़्यादा प्यारी लगती हैं
बच्चों की तसवीरें
जहाँ बच्चों से ज़्यादा अपने हैं
रंग, जात, धर्म, कुल

फिर मैं तुम्हें सुनाना चाहता हूँ
धूल में भरे
ठुमक-ठुमक चलते
चाँद पकड़ने की ज़िद करते
ईश्वर के बचपने के गीत

मेरी बच्ची
मैं तुम्हारे बचपन की पूरी उम्र
की कामना करते हुए
तुम्हारे सब संगवारियों के बीच
तुम्हें छोड़ आना चाहता हूँ।

मुकेश कुमार

अंगदान

मुझे गारंटी दो
कि जहाँ लगेगी आँख
नहीं देखेगी वो
बुरी नज़र से किसी को

मैं चाहता हूँ भरोसा
कि प्रत्यारोपण के बाद
उसी तरह उन्हीं चीज़ों के लिए
धड़केगा मेरा दिल
दिमाग़ नहीं बनेगा साझीदार
कमज़ोरों के ख़िलाफ़ साज़िश में

जिगर नहीं जलेगा
काली करतूतों से,
गुर्दों को नहीं साफ़ करना पड़ेगा
रक्त-पिपासुओं का ख़ून
हाथ नहीं बढ़ेंगे
किसी कमज़ोर की तरफ़
बुरे इरादे से
और पैर नहीं भागेंगे संघर्ष से

मैं पूरी तरह आश्वस्त हुए बिना
नहीं देना चाहता
कोई भी अंग दान में
मृत्यु के बाद भी
उनकी साज़िशों का
हिस्सा नहीं बन सकता मैं।

...श कुमार का जन्म 1964
...हुआ। कहानियाँ, कविताएँ
...पत्रिकाओं में छपती रही हैं।
...क : एस.आर.सी./27-डी,
...ा रिवेरा, इंदिरापुरम्,
...ज़ियाबाद

बहुत बोलता है

बोल रहे हैं बड़े
इसलिए चुप रहो

उचित नहीं है ये समय
इसलिए कुछ भी
कहना ठीक नहीं

अरे चुप रहो
अपने काम से काम
रखने में ही फ़ायदा है

कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता
बोलने से
फिर भी क्यों बोलना
चाहते हो

सबके सब बहरे हैं
किसको सुनाने के लिए
बोलोगे भला

क्यों आमादा हो
बोलने पर जबकि
ख़तरों से भरा है
कुछ भी बोलना

हर मामले में टाँग
अड़ाते हो
बिना बोले काम
नहीं चल सकता

बहुत बोलता है
चुप कराना पड़ेगा इसको।

अनकहा

कभी मिलता नहीं वक़्त
कभी सही मौक़ा
हाथ नहीं आता
कभी बात उतर जाती है

दिमाग़ से
कभी मूड नहीं होता उसका
या कभी हम ही टाल देते हैं
बोलना कल के लिए
कितनी ही बातें छूट जाती हैं
इस पसोपेश में
कि कहें या न कहें
कभी मिलते नहीं सही शब्द
कभी कहने की कोशिश में
करते हैं दूसरी सौ बातें
कभी संकेतों से
तो कभी मौन के सहारे
होती हैं आधी-अधूरी बातें

इस तरह
जाने कितना कुछ
रह जाता है अनकहा
और जो कहा भी जाता है
उसमें कहाँ व्यक्त हो पाता है
वो सब कुछ
जो हम चाहते हैं कहना

इस अनकहे का
कोई नहीं रखता
हिसाब-किताब
हालाँकि इसमें कितना कुछ
हो सकता है
किताबों के बीच में
फूलों की तरह
सँभालकर रखने लायक़।

सच और झूठ

सच खड़ा है डरा-डरा
आड़ में दुबका
हर तरफ़ से पिट चुके
खिसियाए, ईमानदार आदमी की तरह।

नंगा खड़ा है झूठ
वीभत्सता के साथ
दाँत निपोरते हुए
बेशर्मी ओढ़े चेहरे पर
किसी फ़ैशन परेड में
विलासिता की नुमाइश करता–सा।

झूठ कभी छिप जाता है
सच बनकर
नारों और वादों में
कभी अर्धसत्य बनकर
बोलता है संसद, सभाओं और
सत्ता के गलियारों में
खेलता है सच के साथ
छिपमछिपाई का खेल।

बेबस है सच
गिड़गिड़ाता हुआ
सड़कों और बाज़ारों में
थानों और कचहरी में
हर जगह
जबकि बाज़ार की आभा से
दिपदिपा रहा है झूठ।

सबसे बड़ा सच है यही
कि सच नहीं,
अब बड़ा है झूठ
या यों कहिए कि
झूठ ही बन गया है सच
और झूठ की ही सत्ता है
अब संसार में।
सच का कोई भी नहीं है ख़रीदार
झूठ के बिग बाज़ार में।

शून्य से शून्य तक

हमने खोजा शून्य
और हम खो गए
शून्य में

विचरते रहे शून्य में
अपने अहंकार के साथ
बताते रहे सबको
हमने दिया है शून्य
हमें मानो महान

पता नहीं था हमें
शून्य से आगे
गिनती और भी है
और शून्य से पहले भी
बहुत कुछ होता है

आगे की संख्याएँ
बताती रही दुनिया
नए-नए गणितीय सूत्र
खोजे उसने
और हम
अपनी एक खोज पर
रहे आत्ममुग्ध
आत्म सम्मोहित
खड़े हैं वहीं युगों से

आँखें बंद किए
आज भी हम कर रहे हैं
मंत्रजाप
शून्य...शून्य...शून्य
इस ज़िद्दी उम्मीद से कि
दुनिया हमें मान ले गुरु
जबकि दुनिया
दूसरी सभ्यताएँ
कई मुक़ाम तय करके
बन चुकी है हमारी गुरु

हे प्रभो!
कुछ करो
शून्य से रुकी हुई हैं
हमारी सारी यात्राएँ
ढेरों काम और
अनगिनत सर्जनाएँ।

पुष्पपाल सिंह

उजास की आहट

"मार्केट हर चीज़ का, हर भावना का इस्तेमाल अपने लिए कर रहा है। धर्म, राष्ट्र-प्रेम, मनुष्यता, नागरिकता, वय और लिंग, वासनाएँ और वर्जनाएँ, प्रेम और घृणा, स्वाद और सेक्स ही नहीं, जानवर और जीव-जंतु, प्रकृति और पहाड़ सब चीज़ों को बेचने के लिए इस्तेमाल हो रहे हैं।" (पृ. 102) चीज़ों में कोहराम मचा है। वे चीख़-पुकार रही हैं और हमलावर बन गई हैं। उस पर चारों तरफ़ से प्रहार कर रही हैं। उसे लग रहा है कि 'हैंडिल विद केअर' की चेतावनी वाले टी.वी., फ्रिज, वॉशिंग मशीन, माइक्रो-ऑवन आदि के विशालकाय डिब्बों के नीचे वह दबा जा रहा है। वह चीख़ना चाहता है, पर चीख़ नहीं निकल रही है।" (पृ. 104)

अपने प्रस्थान बिंदु के संबंध में कहानीकार मधुसूदन ने *थोड़ा-सा उजाला* शीर्षक विवेच्य कहानी-संग्रह की भूमिका में कहा है, "अपनी कहानियों के बारे में ख़ुद कुछ कहना मैं उचित नहीं समझता, लेकिन इतना ज़रूर कहना चाहूँगा कि इनमें अपने आसपास को देखने की एक गंभीर और ईमानदार कोशिश मैंने ज़रूर की है।" अपने आसपास को देखकर अपने ढंग से हस्तक्षेप करने की यह चेष्टा मधुसूदन आनंद की कहानियों में बहुत आक्रामक रूप में कभी सामने नहीं आई, वे बहुत मंद-से स्वर में जीवन के उजाले, उजास की आहट इन कहानियों में देते हैं। अपनी विनम्रता में वे इसे *थोड़ा-सा उजाला* मानते हैं। यदि पाठक संग्रह की इक्कीस कहानियों में 'थोड़ा-सा उजाला' शीर्षक कहानी ढूँढ़ना चाहे तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी क्योंकि इस नाम की कोई भी कहानी वहाँ नहीं है। यहाँ तो सभी कहानियों में जीवन के उजास की तलाश की गई है। ये कहानियाँ अपने शिल्प और शैली में इस प्रकार अन्योक्तिपरक हैं कि कहीं रूपक-कथा तो कहीं बोध कथाओं का-सा आस्वाद देती हैं। 'ज़र्राह', 'चाकुओं से गुदा आदमी', 'घोड़ा', 'तकली', 'विचित्र आवाज़ें' 'उलटा-पुलटा' आदि कहानियों की शैली यही प्रतीति देती है। किंतु इस क्रम में कभी-कभी कहानी अग्राह्य, दुर्बोध हो उठती है। यदि कहानी जैसी ललित विधा में भी दुर्बोधता या अग्राह्यता आ जाए तो यह किसी भी रूप में कहानी का गुण नहीं माना जा सकता, उसका

कहानी के जाने-माने आलोचक पुष्पपाल सिंह की कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनका जन्म 1941 में हुआ। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 63, केसर बाग, पटियाला 147001

है यह। अच्छी बात यह रही कि 'सेब', ट स्केल' तथा 'दरवाज़ा अंदर खुलता हानियाँ ही इस प्रवृत्ति का शिकार हुई हैं, कहानियाँ अपने नए शिल्प और कथ्य की पर आकर्षित करती हैं।

ड़ा-सा उजाला संग्रह की कहानियाँ कथ्य धरातल पर आकर्षित करती हैं जहाँ वे क्तावादी समाज की बाज़ारवादी स्थितियों सांप्रदायिकता और जातीयता के बोध में समाज की मनोवृत्तियों का बहुत सूक्ष्म न करती हैं। 'घोड़ा' कहानी में लोककथा लिए जो रूपक कथा रची गई है उसमें के घोड़े की नियति को प्राप्त करने की है जिसमें वह न केवल लड्डू घोड़े के रूप नोंदिन अधिकाधिक लदा चला जाता है। तु मात्र एक 'वस्तु'—'कमॉडिटी' बनकर ता है। उपभोक्तावादी दृष्टि ने समाज के वर्गों—मोरों, हाथियों, शेरों—ने अपनी गी को पैसे की ललक में इतना हलकान लिया है कि वे अपनी सहज जीवन शैली चुके हैं। सभी पैसे को प्राप्त करने के लिए तरह दीवाने हो चुके हैं, "...सारी दुनिया काम में लगी रहती है। सभी को पैसा ए। जिस चीज़ में पैसा है और जब तक पैसा दे रही है, तभी तक उसका इस्तेमाल सब जगह मैंने देखा है लोग नदी से, पर्वत जंगल से, जानवरों से, गाँव से, शहर से, खेत खलिहान से, बाग़ और बग़ीचे से दनादन निकाल रहे हैं। और तो और महाराज, आदमी मी से पैसा पैदा कर रहा है। महाराज, किसी सपना देखने की तो कम, सोने तक की नहीं है।" (पृ. 30) वस्तुतः यह उस गी रग पर उँगली रखी गई है जहाँ आज दमी के लिए पैसा' नहीं रह गया है अपितु मी पैसे के लिए' हो गया है।

प्रजेंटेबल' कहानी भी इस भोगवादी दृष्टि का भरपूर विरोध करती है। "भोगो और ख़ुश रहो, ख़ुश रहो और भोगो। ख़ूब मेहनत करो, ख़ूब कमाओ और ख़ूब ख़र्च करो।" 'भोगने का युग है'—कहानी अपने ढंग से कॉर्पोरेट कल्चर में ढले समाज की मोबाइल फ़ोन, क्रेडिट कार्ड, ओवरड्राफ़्ट आदि की सुविधाभोगी ज़िंदगी के बाज़ारवादी दृष्टिकोण की बाखिया उधेड़ती है। 'सेल' लगने के तंत्र में आम आदमी एक चक्रव्यूह में फँस चुका है। इन सब स्थितियों के प्रति एक प्रच्छन्न विद्रोह-भाव कहानी में अनुस्यूत है। बाज़ार ने एक ऐसा तिलिस्म मनुष्य के सामने खोल दिया है जिसे आयत्त करने के लिए हर छोटा-बड़ा, गाँव-क़सबे तक का आदमी हाथ-पैर मार रहा है। 'मिस्त्री सईद अहमद शेरकोट वाले' के रशीद मियाँ इसी कारण दुबई का रुख़ करते हैं। बाहर जाकर पैसे के लिए आदमी क्या-क्या पापड़ बेल रहा है, रशीद मियाँ इसकी मिसाल बनते हैं।

'अवमूल्यन' का सी.ए. भी बाज़ारवादी स्थितियों से परास्त होता है। नए वित्त मंत्री द्वारा विकास के नाम पर नई इकॉनॉमी का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। संजय बाबू उस सामान्य जन को प्रतिनिधित्व देते हैं जो आर्थिक विकास के नाम पर बुरी तरह छला गया है। 'विचित्र आवाज़ें' कहानी के मंगूलाल भी संजय बाबू से बहुत ज़्यादा अलग नहीं हैं, वे भी व्यवस्था द्वारा बुरी तरह छले जाते हैं। 'फूँकनी' कहानी बाज़ारवाद के तंत्र को बहुत सूक्ष्मता में जाकर उघाड़ती है। आज आवश्यकता आविष्कार की जननी के सिद्धांत को धता बता दी गई है, आज पहले आवश्यकता—'नीड' की नहीं प्रोडक्ट—उत्पाद की उपस्थिति है, विज्ञापन-तंत्र उस उत्पाद को आवश्यकता के रूप में बदल कर उनकी प्राप्ति के लिए जन को उन्मत्तता की स्थिति में ला देता है, "मार्केट का मंत्र होता है कि पहले से प्रसिद्ध किसी ब्रांड के साथ बाज़ार में आनेवाले सामान

को छोटे पाउच में मुफ़्त दो।" "वहाँ उपभोक्ता दर्शक या पाठक नहीं होता, बल्कि विज्ञापनदाता होता है, जिसे अपने प्रोडक्ट के लिए मार्केट में जगह बनानी होती है।" 'बाज़ार का तंत्र' आदमी में उपभोग करने की ज़बरदस्त इच्छा पैदा करके उसे इस भोगवादी संसार का शिकार बना रहा है। इन सब स्थितियों को उजागर करती 'फूँकनी' इस संग्रह की एक बहुत ही सशक्त कहानी है, इसका शिल्प और शैली भी बहुत प्रभावी बन पड़ा है।

सांप्रदायिकता की समस्या और जातीय आधार पर समाज का बँटना कहानीकार की चिंता का दूसरा मुख्य सरोकार है। 'ज़र्राह' कहानी बहुत सूक्ष्मता और गहराई से हमारी सामाजिक-संरचना की उस विद्रूपमयी स्थिति को उजागर करती है जिसमें हिंदू परिवारों में बचपन से बच्चों में यह मानसिकता विकसित कर दी जाती है कि मुसलमान ठीक हमसे उलटे हैं, उनकी हर रीति, रहन-सहन हिंदुओं के विरोध में हैं : "जब हम किसी को अपना दुश्मन समझते हैं या हमें सिखाया जाता है कि यह हमारा दुश्मन है, तब हमारा व्यवहार बदल जाता है। हम सतर्क हो जाते हैं और बार-बार संदेह करने लगते हैं। हम डरते भी हैं और डराना भी चाहते हैं। हमने मुसलमानों को अपने ठीक उलट मान लिया था—हम बाएँ से दाएँ लिखना शुरू करते हैं, वे दाएँ से बाएँ लिखते हैं। हाथ धोते हुए हमारी हथेलियाँ सीधी या झुकी होती हैं, पर उनके हाथ प्राय: ऊपर उठे होते हैं और पानी कोहनियों से चूता है। हम हिमालय की तरफ़ देखते हैं, वे रेगिस्तान की तरफ़। हमें कोयल की कूक प्यारी लगती है, वे बुलबुल पर जान छिड़कते हैं। हम तोते पालते हैं, पर मुसलमान प्राय: कबूतर और तीतर पालते हैं...।" इस उद्धरण को विस्तार से इसलिए उद्धृत किया गया है कि वस्तुत: ये वे वाक्य और वाक्यांश हैं जो हिंदू परिवारों में अपने बच्चों को घुट्टी के रूप में दिए जाते हैं। कहानीकार की प्रशंसा करनी होगी कि उसने प्रथम बार सांप्रदायिकता के ज़हर को फैलाने की इस प्रवृत्ति को रेखांकित करने का साहस दिखाया है। अल्पसंख्यक समुदाय पर लिखी इन कहानियों के एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए जिस पर कम ही कहानीकारों का ध्यान गया है, वह है उनकी जर्जर आर्थिक दशा का चित्रण। मधुसूदन आनंद यदि हिंदुओं की उस मनोवृत्ति पर उँगली रख सकते हैं जिसमें वे शुरू से ही अपने बच्चों को मुस्लिम-विरोधी पाठ पढ़ाते हैं तो वे मुसलमानों की भी उस प्रवृत्ति को ध्यान में लाते हैं जिसमें बात-बात को सांप्रदायिक रंग दे दिया जाता है। फज़लू की यह टिप्पणी इसी दृष्टि से दी गई है, "ये साले हिंदुओं के लौंडे हैं। इन्हें सारे शहर में यही सड़क साईकिल चलाने के लिए मिलती है।" ज़र्राह साहब फज़लू को फटकार लगाते हैं कि मासूम बच्चों के साथ इस तरह का व्यवहार क्यों करते हो।

'तलवार' कहानी वर्णवादी व्यवस्था पर प्रहार करती है कि सवर्ण समाज दलितों के साथ कैसा व्यवहार करता है। बचपन से ही बच्चों को यह समझ दे दी जाती है कि दलित और अल्पसंख्यक मुसलमान अलग-अलग हैं। सभी संप्रदायों के देव-स्थलों पर बच्चे चले जाते हैं किंतु मस्जिद और वाल्मीकि मंदिर में जाने के लिए उन्हें कभी प्रेरित नहीं किया जाता।

थोड़ा-सा उजाला संग्रह की कहानियों में एक और विशिष्ट अनुभूति अभिव्यक्ति पाती है जिसे मृत्युबोध कहा जा सकता है। संग्रह का समर्पण 'प्यारी अन्ना की स्मृति को समर्पित' करते हुए यह कविता पंक्ति *मनुष्य का हो मौत पर सिर्फ़ इतना नियंत्रण, किसी की संतान उसकी आँखों के सामने न मरे* इतना बता जाती है कि कहानीकार को पुत्री-शोक की त्रासद स्थिति से गुज़रना पड़ा है। 'चाकुओं से गुदा आदमी',

...कियाँ' तथा 'आँख' कहानियों में यह पुत्री ...विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। ...बोध' कहानी में भी मृत्यु का यही भयावह सामने आता है। हिंदी कहानी में व्यक्तिगत ...की स्थितियों पर गोविंद मिश्र, देवेंद्र, मृदुला आदि ने बहुत मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, ...क्रम में मधुसूदन आनंद की ये कहानियाँ ...गत त्रासदी का कलात्मक आख्यान बनती

इस संग्रह में 'दूसरी तसवीर' तथा 'दरवाज़ा अंदर खुलता है'—ये दोनों कहानियाँ चरित्र प्रधान कहानियाँ हैं जिनके चरित्र आकर्षक लगते हुए भी कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाते हैं। इस सबके बावजूद *थोड़ा-सा उजाला* अपनी सशक्त कहानियों के लिए याद रहेगा।

चर्चित कहानी-संग्रह :
थोड़ा-सा उजाला : मधुसूदन आनंद; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 150 रुपए

राजकुमार सैनी

ग़ज़ल और समकालीन यथार्थ

...ज़ल एक पुरानी विधा है तथापि कुलदीप सलिल उसे आज की कविता के तौर पर पेश ...ने में संलग्न दिखाई देते हैं। ज़ाहिर है कि ...की ग़ज़लों में विडंबना, विरोधाभास, विसंगति, ...य, नाजुक बयानी और सपाटबयानी के प्रचुर ...हरण मिल जाएँगे। यथा : *शामिल हो गए ...इयों में आग लगाई हमने भी / जान बचानी अपनी घर का सामान बचाना था* (विडंबना)। *...गिनने में भी ऐ दोस्त / हमने लुत्फ़े विसाल* ...ना है (विरोधाभास)। *पड़ गए कितने पुराने ...से लोग / नित बदलते हुए तेरे शहर में* (...विसंगति)। सपाटबयानी के तो ढेरों दृष्टांत मिल ...गे :

...क्या ही दिलकश लगा दिल का रिश्ता / ...कला नाजुक बड़ा दिल का रिश्ता। लेकिन ...जुकबयानी भी ध्यान आकर्षित करती है : *...ज सूखा है तो लगता है कभी था ही नहीं / ...को छूता हुआ एक दरिया बहा करता था।*

...कुलदीप सलिल का यह तीसरा ग़ज़ल-संग्रह ...कहा जा सकता है कि ग़ज़ल की वे साधना ...रहे हैं। साधनावस्था से सिद्धावस्था की ओर ...मुख उक्त यात्रा में ग़ज़ल को इतना आधुनिक ...देना चाहते हैं कि वह आज की कविता के मुहावरे को आत्मसात कर सकें :

क्या ग़ज़ब की है सियासत, पैंतरा है क्या कमाल
कर रहे हैं आप ही अपनी ख़िलाफ़त इन दिनों।

इस मशक़्क़त में वे सफल हुए हैं तो कहीं असफल भी :

कोई अनमोल मोती हो तो देखो जुस्तजू अपनी
इक-इक दरिया को बाँधेंगे, हर इक सागर खँगालेंगे।

लेकिन ग़ज़लगोई का यह रियाज़ सफल हो या असफल, असार्थक नहीं होता क्योंकि इसी तरह बात में से कोई नई बात पैदा हो जाती है। *बात से होता है असर पैदा / शेर होते नहीं नगीनों से* या कि फिर *लाख बातों की है इक बात कि इस दुनिया में / बात पैदा करो कुछ तो ही कोई बात करो।*

संग्रह की भूमिका के तौर पर 'अपनी बात' शीर्षक से ग़ज़लकार का वक्तव्य भी इसी बात के इर्द-गिर्द घूमता हुआ सुनाई देता है : ग़ज़ल लिखना शायद सबसे आसान और सबसे मुश्किल काम है। आसान यदि कवि का काम केवल क़ाफ़िया-पैमाई करना है और मुश्किल, यदि वह हर शे'र में कोई बात पैदा करना चाहता है,

यदि वह चाहता है कि शे'र व्यक्ति और समाज, जीवन और जगत के किसी अनचीन्हे पहलू को उजागर करे या कुछ नया न भी कहे तो बात ऐसे कहे कि नई-सी लगे।''

कहा बात कर तू ऐसी, कहा इस तरह से कर तू
कि लगे नई-नई सी, कोई छोड़े वो असर भी।

कुलदीप सलिल के पास ग़ज़ल कहने का अंदाज़ भी है और मिज़ाज भी। उनकी ग़ज़लों में आधुनिक और समकालीन जीवन का कुटिल, जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ अभिव्यक्त होता है। हालाँकि यहाँ रोमानी अदाएँ और दीवानेपन की मुद्राएँ भी हैं लेकिन ज़्यादातर ग़ज़लें आम आदमी की ज़बान में आम आदमी की पीड़ा को व्यक्त करती हैं। ये ग़ज़लें उर्दू-हिंदी की मिश्रित शैली में कही गई हैं। बलबला, दर-बदर, बलाखेज़, गमख़्वार, आस्तां, माजी, खुदारा, मोतबर, मुनसिफ़, तबस्सुम, मौलां, ख़ंजर, बर, आफ़ताब, शबाब, ख़याल, लुत्फ़ेबिसाल, शम्मा जैसी प्रचलित उर्दू शब्दावली है तो सौग़ात, सलिल, सोच, छाँव, प्रीत, पंछी, मुक्त, नभ, गोपियाँ, मीरा जैसी चल हिंदी शब्दमाला भी। यह भाषा-शैली सरल, सहज, सुबोध तथा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है और गंगा-जमुनी है।

प्रसिद्ध कवि शमेशेर बहादुर सिंह ने 1988 में ही कह दिया था कि सलिल एक जेन्युइन (genuine) कवि हैं और हमें उनसे बहुत-सी अपेक्षाएँ हैं। लोकप्रिय रचनाकार विष्णु प्रभाकर का कहना है कि सलिल की ग़ज़लें अपने में जितने व्यापक परिवेश को समेटे हैं उतनी ही अनुभूति की गहराई भी इनमें है। इन ग़ज़लों में व्यंग्य है और ताज़गी भी :

एक दीवाना था ले-दे के शहर में, वो भी
कामयाबों में ही अब नाम लिखा माँगे है।

कुलदीप सलिल की ग़ज़लें नितांत मौलिक और निजी ढंग की हैं, यथा :

ज़ुबां कहने से जो डरती रही है
क़लम बेख़ौफ़ सब लिखती रही है।

तथा

राज़ सारे हमारे .फ़ाश हुए
तेरे मेरे था दरमियां कोई।

तथापि यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उन पर मीर, ग़ालिब, इक़बाल, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, अहमद फ़राज़ आदि शायरों का प्रभाव लक्षित होता है। उर्दू ग़ज़ल की रवायत को हिंदी ने आत्मसात् किया है और सलिल भी उसके अपवाद नहीं हैं।

एक ज़माना था कि ग़ज़ल को अच्छा काव्यरूप नहीं माना जाता था। महान गद्यकार और आलोचक हाली को तो इससे 'दुर्गंध' आती थी। कलीमुद्दीन अहमद ने इसे 'अर्ध सभ्य काव्यरूप' की संज्ञा दी तो अजमतुल्लाह की राय थी कि ग़ज़ल की गर्दन उड़ा देने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे माहौल से ग़ज़ल को बाहर निकालने में मीर, ग़ालिब, इक़बाल, फ़ैज़, कैफ़ी आज़मी, अली सरदार जाफ़री, साहिर लुधियानवी आदि तथा अन्य बहुत-से तरक़्क़ी पसंद शायरों ने ग़ज़ल को नया और तरो-ताज़ा रूप प्रदान किया। साथ ही यह कहना अपेक्षित होगा कि हिंदी और उर्दू के प्रगतिशील लेखक आंदोलन की भी इस रूपांतरण में एक विशिष्ट भूमिका रही है। हिंदी के प्रायः सभी ग़ज़लकारों पर इस प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। इस दृष्टि से दुष्यंत एक बेहतरीन नाम है। उनकी ग़ज़लें हिंदी की श्रेष्ठ ग़ज़लें हैं। इसी परंपरा में और कई नाम हैं तथा कुलदीप सलिल उसी क़तार में शामिल ग़ज़लकार हैं और इनकी ग़ज़लें इसी परंपरा का निर्वाह करती हैं। तथापि कुलदीप सलिल परंपरा का निर्वाह मात्र ही नहीं करते, ग़ज़ल लिखना उनके लिए एक सर्जनात्मक काव्य-कर्म भी है। इस प्रक्रिया में वे रात-दिन

रहते हैं; बल्कि यह कहना भी समीचीन कि डूबते नहीं तैरते रहते हैं।
अंत में कुलदीप सलिल की ही एक ग़ज़ल इस मक़्ते के साथ उक्त आलेख का समापन ना अप्रासंगिक न होगा : *आलम है अभी से जो ऐसा तो लुत्फ़ रहेगा देखता जा / अभी रंग पे आई पूरी तरह कुलदीप सलिल महफ़िल भी नहीं।*

चर्चित पुस्तक :
आवाज़ का रिश्ता : कुलदीप सलिल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

कथाकार, कवि, आलोचक राजकुमार सैनी का जन्म 1942 में हुआ। कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : फ़्लैट नं. 122, ...अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लॉट नं. 7, द्वारका फ़ेज़-1, नई दिल्ली 110075

राजेश जोशी

अमावस और पूर्णिमा...

अमावस और पूर्णिमा दोनों उसी के पर्व हैं। एक दिन वह चाँद को धरती से पीठ लगाकर बच्चे को दूध पिलाती माँ की तरह गोदी में खिलाता और दूसरे दिन मेले में कंधों पर बच्चे को बिठाए पिता की तरह चाँद को लिए धरती के बीचों बीच खड़ा हो जाता है।

('अँधेरे के बारे में')

प्रेमचंद गाँधी अपनी कविता में परस्पर विपरीत और उसकी द्वंद्वात्मकता को रचने की कोशिश करते हैं। इसलिए प्रेम और घृणा के दोनों ही रूप उनकी कविता में है। यह कविता बबूल के काँटों को ही नहीं देखती जिनसे पतंगें ख़ौफ़ खाती हैं और जो बच्चों की आँखों में खटकते हैं बल्कि उनके उस पक्ष को भी अलक्ष्य नहीं करतीं जो जानवरों का भोजन बनता है। यह बबूल पथिकों को छाँव भी देता है और बाशिंदों को औषध ईंधन भी। इस बबूल ने ही अकाल के दिनों में अपनी छाल खिलाकर बचाया मनुष्यों को। परस्पर विपरीत के ज़्यादा जटिल ताने-बाने तानाशाह और तितली में दिखाई देते हैं। हिटलर की जीवनी के एक प्रसंग को लेकर बुनी गई यह कविता कोमल भावनाओं और क्रूरता के बीच के जटिल ताने-बाने को रेशा-रेशा खोलते हुए, लगता है जैसे हमारे समय का आख्यान रच रही है। पानी में गिर पड़ी एक तितली को तानाशाह पानी में कूदकर बचाता है। फिर अपने सफ़ाचट चेहरे पर तितली जैसी मूँछें रखने लगता है। तितली के कई चित्र बनाता है। तितली की भिनभिनाहट की सिंफ़नियों से तुलना करता है। लेकिन जब उसकी ताजपोशी होती है तो तितलियाँ न केवल घबरा जाती हैं बल्कि अपना देश छोड़कर दूसरे राष्ट्र में चली जाती हैं। तानाशाह तितलियों की तलाश में अपनी सेना को दौड़ा देता है। और जब तितलियाँ उसके हाथ नहीं आती हैं तो वह उन सभी किताबों को जलवा देता है जिन पर तितलियों की छवियाँ थीं।

जिन सुंदर पुस्तकों में तितलियाँ / और उनके सपने हो सकते थे / वे सब उसने जलवा डालीं / जहाँ कहीं भी तितलियों जैसी / ख़ूबसूरत ख़्वाबज़दा दुनिया हो सकती थी / वे सब नष्ट करवा डालीं।

तानाशाही इसी तरह स्वतंत्रता और सुंदरता को नष्ट करती है। लेकिन विडंबना यह है कि जब तानाशाह चीख़ता है तो उसे बचाने कोई नहीं आता। वह जब मृत्यु का वरण करता है तो बाहर उसी तितली का पहरा होता है जिसे कभी उसने बचाया था। प्रेमचंद गाँधी की कविता क्रूरता और रक्तपात के ख़िलाफ़ नदी की गवाही है।

इस सिंफ़नी में प्रेमचंद गाँधी का पहला संग्रह है। इस संग्रह को उन्होंने चार खंडों में विभक्त किया है। 'इस धरती की बेटियाँ'! 'कैसा कठिन समय है'। 'बिखरा हुआ सच'। 'इस धरती की बेटियाँ' वाले खंड में स्त्री जीवन पर केंद्रित कविताएँ हैं। पिछले दिनों युवा कवि पवन करण का स्त्री जीवन से संबंधित कविताओं का एक पूरा संग्रह ही आया है। हिंदी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कवियों ने स्त्री जीवन को लेकर कई महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। लेकिन किसी भी कवि ने स्त्री को इस तरह एक अलग श्रेणी, एक अलग कैटेगरी बनाने की कोशिश नहीं की। कात्यायनी ने इस संग्रह की भूमिका में इस खंड के संदर्भ में लिखा है : ''इन कविताओं में स्त्री प्रश्न पर कोई मुखर सैद्धांतिक विमर्श नहीं है, बल्कि जीवन के वैयक्तिक अनुभवों और दृश्यों के ऐसे चित्रात्मक ब्योरे हैं जो स्त्रियों के बहिर्जगत और अंतरंग की त्रासद विडंबनाओं के रू-ब-रू ला खड़ा करते हैं।'' अच्छा ही है कि ये कविताएँ किसी सैद्धांतिक विमर्श के खटराग में नहीं पड़तीं। सैद्धांतिक विमर्श कविता का काम भी नहीं है। बहरहाल...। इस खंड में कुछ बहुत अच्छी कविताएँ हैं। 'एक स्त्री का मन' कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं : *गुड़ियों के खेल से निकल कर आई स्त्री के मन में / एक स्त्री होने की चाहत है / जो घर में पूरी नहीं होती / वह घर उसके होने से घर है लेकिन / उस घर में स्त्री नहीं है वह।*

प्रेमचंद गाँधी की कविता विडंबना को बहुत निश्प्रयास होकर छूती है। इसी खंड की एक और महत्त्वपूर्ण कविता है, 'बस में नींद लेती एक स्त्री'। इस स्त्री की नींद को घर और दफ़्तर ने मिलकर लूट लिया है। वह घर से दफ़्तर के स्टॉप तक के चालीस मिनट के सफ़र में पैंतीस मिनट की नींद सुबह-शाम लेती है। इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ कामकाजी महिलाओं की दिनचर्या पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करती हैं : *उसकी दो वक़्तों की नींद / इस महान लोकतंत्र के बारे में दो गंभीर टिप्पणियाँ हैं / इसे ग़ौर से सुना जाना चाहिए।*

'दादी की खोज में', 'स्मृति शेष', 'दृष्टि तुम्हारे स्वागत में' जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ इस खंड में हैं। दूसरा खंड है 'तुम मेरी रोशनी हो'। इसे पहले खंड के पूरक के रूप में भी देखा जा सकता है। इसमें प्रेम कविताएँ हैं। इसलिए इसमें भी स्त्री ही केंद्र में है। कभी रामचंद्र शुक्ल ने कविता कर्म के दिनोंदिन कठिन होते जाने के बारे में लिखा था। मुझे लगता है कि जैसा जीवन और समाज हम बना रहे हैं उसमें प्रेम कविता लिखना शायद सबसे दूभर काम हो गया है। 'तुमने कहा था' शृंखला की पहली कविता है : *आकाश में जो सबसे ऊँचे उड़ते हैं पंछी / वे ही सबसे लंबा सफ़र तय करते हैं / क्या तुम मेरे लिए इतना कर सकोगे ? / जाओ ! तौलकर देखो अपने डैने / क्षणिक उड़ान के पंछी नहीं हो तुम।*

कहना न होगा कि प्रेमचंद गाँधी ने कई आयामों में जाकर अपने डैने तौलकर देखने का काम किया है। वह छोटी उड़ान के पंछी नहीं हैं। जिस तरह पहला और दूसरा खंड एक-दूसरे का पूरक है उसी तरह तीसरा और चौथा खंड भी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ ही है। 'कैसा कठिन समय है' और 'बिखरा हुआ सच' की कविताओं को बाँटने का कोई पुख्ता आधार समझ नहीं आता। 'कैसा कठिन समय है' खंड की एक उल्लेखनीय कविता है 'निष्क्रिय समय की इबारतें'। कैसे जीतने की इच्छा धीरे-धीरे निष्क्रिय समय की इबारतों में बदलती जाती है। कैसे हम अपने निष्क्रिय तरीक़ों को अपनी सक्रियता की तरह परिभाषित करते हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध और सक्रिय प्रतिरोध की एक बहस गाँधी और टॉल्स्टॉय के बीच हुई थी। यह कविता तो प्रतिरोध के उन उपायों पर भी प्रश्नचिह्न खड़े करती है

सक्रिय प्रतिरोध मान लिया है। जबकि वे उपाय लगभग निष्क्रिय हो चुके हैं। मचंद गाँधी गुवाड़ी, कलैड़ी जैसे स्थानीय दों के साथ ही कई स्थानीय चित्रों और चरित्रों बीच से अपनी स्थानीयता की खोज करते हैं। धरा की रात' के आख़िरी हिस्से में अपनी ती के राग रंग के साथ केदारनाथ अग्रवाल अनुगूँज को भी सुना जा सकता है। कविता तरह अपने और अपनी परंपरा के बीच पुल ने का काम करती है :

चाँदनी में नहाकर इठला रहा है
हरा, हाथ भर का चना
बसंत आने की ख़ुशी में
लहरा-लहराकर नाच रही है
पीली छबीली सरसों।

बाजे चंग जमें रंग, गाँव गाँव ढाणी ढाणी
फाग के गीतों से गूँजती रहती है
मरुधरा की मस्त फागुनी रातें।

अंतिम खंड में एक कविता है 'अपने जन्म-न पर'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं :

आख़िरी नहीं है यह जन्मदिन
और लड़ाई के लिए है पूरा मैदान...

आज के दिन मैं लौटाना चाहता हूँ
एक उदास बच्चे की हँसी
आज के दिन मैं
घूमना चाहता हूँ पूरी पृथ्वी पर
एक निश्शंक मनुष्य की तरह।

ये पंक्तियाँ प्रेमचंद गाँधी के जन्मदिन से ज़्यादा उनके पहले संग्रह के जन्मदिन पर लागू हों, ऐसी उम्मीद करनी चाहिए। हर कविता एक उदास बच्चे की हँसी को लौटाने और धरती को इस लायक़ बनाने का उपक्रम है जिससे उस पर घूमता मनुष्य निश्शंक होकर घूम सके। प्रेमचंद गाँधी की कविताएँ भी ऐसी ही कविताओं की सहयात्री हैं।

चर्चित कविता-संग्रह :
इस सिंफ़नी में : प्रेमचंद गाँधी; सदानीरा प्रकाशन, 5-बी/9, ख़ुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद; 2005; 150 रुपए

श जोशी का जन्म 1946 में हुआ। इनकी कविता, कहानी एवं नाटक की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। पहल सम्मान, कांत वर्मा सम्मान एवं शमशेर सम्मान से सम्मानित। संपर्क : द्वारा श्री द्वारकेश नेमा, 10, निराला नगर, दुष्यंत कुमार गी मार्ग, भोपाल-462003, फ़ोन 0731-4205917

मोहन सिंह

सीमाओं में मर्यादाओं का पालन

भाषाओं के इस अथाह समुद्र में यदि अनुवाद या रूपांतर के सेतु न होते तो हम कभी एक-दूसरे को समझने में सफल न हुए होते। सारा मानव ज्ञान निजता के दायरे में छटकता-छटपटाता रह जाता और हम अपने पूर्वजों द्वारा किए गए अनुभवों से वंचित रह जाते। वास्तव में हम अपनी बात दूसरे तक पहुँचाने के लिए अनुवाद कला का सहारा तो लेते ही हैं, चाहे वह सहारा विचारों को शब्दों में बदलने के लिए लिया गया सहारा हो या अपनी भाषा को संपर्क भाषा में परिवर्तित किए जाने के लिए लिया गया सहारा हो। अनुवाद का सहारा तो हम लेते ही हैं। इस प्रक्रिया में कई बार हम इतने सहज हो जाते हैं कि मौलिकता का-सा आभास होने लगता है। मौलिकता का आभास या अहसास करवाने में रूपांतर कला कुछ ज़्यादा ही मददगार साबित होती है। रूपांतर

प्रक्रिया में भाषा के साथ-साथ साहित्य की किसी एक विधा को साहित्य की किसी दूसरी विधा के रूप में परिवर्तित करना भी शामिल होता है। जहाँ अनुवाद भाषाओं की सीमा में सिमटा हुआ होता है वहाँ रूपांतर भाषायी बंधनों से पूरी तरह मुक्त होता है। आप चाहें तो किसी दूसरी भाषा की रचना को अपनी भाषा में रूपांतर कर सकते हैं, चाहें तो अपनी ही भाषा की किसी रचना को दूसरी विधा में परिवर्तित करके उसका रूपांतर कर सकते हैं। इसमें किसी क़िस्म का कोई बंधन नहीं, यह बात अलग है कि ज़्यादातर ऐसे प्रयास किसी कहानी या उपन्यास को नाटक का रूप देने में ही हुए हैं। दूसरी भाषा के नाटकों का भी रूपांतर किया गया है और एक ही भाषा की कहानियों या उपन्यासों के नाट्य रूपांतर भी किए गए हैं।

किसी दूसरी भाषा के नाटक का रूपांतर करते समय रूपांतरकार के समक्ष सबसे बड़ी समस्या परिवेश की होती है। उसे दूसरे परिवेश, किसी दूसरी संस्कृति की रचना को अपने परिवेश, अपनी संस्कृति तथा वातावरण के अनुकूल प्रस्तुत करना होता है ताकि रूपांतरित कृति मौलिकता का अहसास करा सके। परंतु जब रूपांतर के लिए चुनी गई कृति किसी दूसरी भाषा की न होकर अपनी ही भाषा की हो तो रूपांतरकार के सामने केवल विधा के साथ निर्वाह करने की ही समस्या होती है। कहानी या उपन्यास को नाटक या फिर रेडियाई नाटक का रूप देना अपने आप में इतना आसान काम नहीं है। और फिर मुंशी प्रेमचंद जैसे महान कथाकार की रचनाओं को लेकर ऐसा करना तो और भी जोखिम भरा काम है। क्योंकि मुंशी प्रेमचंद की कहानियों को लेकर केवल हिंदी में ही नहीं, बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं में ऐसे प्रयास हो चुके हैं। यह जोखिम भरा काम इसलिए भी है क्योंकि देश का कोई ही ऐसा साहित्य प्रेमी होगा जिसने मुंशी प्रेमचंद की कहानियों तथा उपन्यासों का रसास्वादन न किया हो। ऐसे में रूपांतरकार को बहुत ही सतर्कता से काम लेना पड़ता है।

चित्रा मुद्गल ने भी संभवत: इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मुंशी प्रेमचंद की इक्कीस कहानियों का चयन किया और फिर उन इक्कीस कहानियों को रेडियाई नाटकों में रूपांतरित कर पिछली सदी के एक महान कथाकार के प्रति अपना दायित्व निभाया। जो तीन जिल्दों *में बूढ़ी काकी, सद्गति* तथा *पंच-परमेश्वर* शीर्षक देकर प्रकाशित किया गया है। इनमें 'बालक', 'सुभागी', 'बूढ़ी काकी', 'नैराश्य', 'बेटों वाली विधवा', 'सुहाग की साड़ी', 'कजाकी', 'गुल्ली डंडा', 'जुलूस', 'विध्वंस', 'यह मेरी मातृभूमि है', 'सवा सेर गेहूँ', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'घासवाली', 'मंत्र', 'पंच-परमेश्वर', 'हिंसा परमोधर्मः', 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'राजा हरदौल' तथा 'समर-यात्रा' शामिल हैं। कहा तो यही जाता है कि प्रेमचंद की समस्त कहानियाँ मानसरोवर श्रृंखला की आठ जिल्दों में दर्ज हैं मगर चित्रा मुद्गल द्वारा किए गए नाट्य रूपांतर पढ़ने के बाद इस धारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता जान पड़ती है। इन इक्कीस रेडियाई नाट्य रूपांतरों के लिए इस्तेमाल की गई बीस कहानियाँ तो मानसरोवर सीरीज में उपलब्ध हैं मगर इक्कीसवीं कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' इस सीरीज में उपलब्ध नहीं है। फिर साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित *मुंशी प्रेमचंद चयनिका* में भी यह कहानी शामिल नहीं है। हाँ वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित *मुंशी प्रेमचंद समग्र* में यह कहानी अवश्य संकलित है। इससे यह बात तो स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि चित्रा मुद्गल ने कहानियों का चयन करते समय प्रेमचंद की यहाँ-वहाँ बिखरी समस्त कहानियों को पैनी दृष्टि से देखने का कार्य किया है।

नाट्य रूपांतर करने से पहले की प्रक्रिया, न प्रक्रिया का बहुत अधिक महत्त्व होता है। दि मूल कहानी में नाटकीय तत्त्व मौजूद हैं तो पांतर में सहजता तथा मौलिकता की गति को ल मिलता है और सुनने या पढ़ने वाले को हीं कुछ भी अटपटा महसूस नहीं होता। चयन क्रिया कहीं-न-कहीं रूपांतरकार का रूझान, सकी अंतर्दृष्टि तथा उसका उद्देश्य दर्शाने में सहायक सिद्ध होती है। चित्रा मुद्गल ने अपनी चयन प्रक्रिया में यह ख़ास ख़याल रखा कि प्रेमचंद साहित्य की विशेषता की झलक समें महसूस की जा सके। ऐसा केवल चयन क्रिया में ही नहीं नाट्य रूपांतरों में भी स्पष्ट ज़र आता है।

मुंशी प्रेमचंद की कहानियों को चित्रा मुद्गल द्वारा किए गए नाट्य रूपांतरों में बिना फेर-बदल के पढ़ा जा सकता है। मगर क्या ऐसा करने से ही किसी रूपांतरकार का दायित्व पूरा हो जाता है या रूपांतरकार को कुछ और भी बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है। मुझे लगता है कुछ और बातें भी हैं जिनके महत्त्व को कम करके नहीं देखा जा सकता। किसी रचना की रूह के साथ कोई छेड़खानी न की जाए यह बात तो समझ में आती है मगर मुझे लगता है इससे भी कहीं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस रूह पर जो लिबास पहनाया जाए वह रूह को कुछ इस कदर अपना-सा, इतना स्वाभाविक तथा सहज लगे कि उसमें निखार आ जाए। मगर कई बार ऐसा नहीं हो पाता और रूह पहनाए गए लिबास के भीतर छटपटाकर, दबकर रह जाती है। 'बेटों वाली विधवा' के साथ कुछ-कुछ ऐसा ही हुआ-सा लगता है। यह रूपांतर मूल कहानी तो बयान करता है मगर कहानी की मार्मिकता सिरे से गायब नज़र आती है। मूल कहानी का ताना-बाना मार्मिक है और कहानी की मुख्य किरदार फूलमती से सहानुभूति पैदा करता है। बेटों की कुटिलता तथा नीचता, फूलमती का स्वाभिमान तथा विवशता बड़ी बारीकी से उजागर की गई हैं। जबकि नाट्य रूपांतर में फूलमती ख़ास सहानुभूति नहीं बटोर पाती। सपाट बयानी में वेदना तथा कहानी का वास्तविक मर्म कहीं छूट-सा गया लगता है। मूल कहानी में उमा जब माँ से गहने ऐंठने की साज़िश में अपने दूसरे भाइयों को शामिल करना चाहता है तो कामतानाथ और सीतानाथ अलग बैठने की बात करते हैं जबकि दयानाथ उसका साथ देने की बात कहता है। मगर नाट्य रूपांतर में दया भी अलग बैठने की बात करता है। उदाहरणार्थ, यह संवाद देखिए :

कामतानाथ : (तटस्थ स्वर में) मैं अनीती में हाथ नहीं डालना चाहता।

उमानाथ : तो आप अलग बैठिए। दया, तुम और सीता का क्या विचार है ?

दोनों : (समवेत) हम भी अलग रहेंगे।

इस बात को यदि अनदेखा भी कर दिया जाए, तब भी रूपांतर पढ़ते हुए फूलमती की मासूमियत, भोलापन तथा उसके बेटों की नीचता उस तरह से उजागर नहीं हो पाई है जैसी मूल कहानी में हो पाई है। इसी तरह एक और मार्मिक कहानी है 'विध्वंस'। सामंती युग की क्रूरता की झलक को इस कहानी में बड़ी ही सहजता से अंकित किया गया है। कहानीकार ने इसमें नीयति या यूँ कहें कि विधि विधान का सहारा भी लिया हुआ है। सद्गति में शामिल इस रूपांतर में चित्रा मुद्गल ने पूरी निष्ठा से कहानी का निर्वाह करने की कोशिश की है परंतु आरंभ में ही पृष्ठ 37 पर भुनगी कहती है, ''ला दे अपना अनाज बेचनवा'' और फिर ''अनाज को भूनने वाली हंडिया में उलटने का स्वर'' हमें पढ़ने को मिलता है। और पृष्ठ 39 पर फिर भुनगी कहती है।...''बेचनवा, तू दे अपनी टोकनी। कब से बैठा भुन्ना रहा।''

रेडियो आवाज़ का माध्यम है। हम आवाज़ के साथ-साथ दृश्य रचना करते हुए उसके साथ-साथ चलते हैं। अनाज को भूनने वाली हंडिया

में उलटने की आवाज़ से हम जान जाते हैं कि बेचनवा का अनाज भूना जा रहा है परंतु जब दो पृष्ठ बाद फिर हमें ऐसा ही संवाद सुनने या पढ़ने को मिलता है जिसका अर्थ यह निकलता है कि बेचनवा अभी भी अनाज लेकर बैठा अपनी बारी का इंतज़ार कर रहा है। ऐसी ही एक और कहानी है 'घासवाली'। यह कहानी हृदय परिवर्तन, मान-सम्मान तथा मानवीय रिश्तों की जीती जागती तसवीर है। बाज़ारी रिश्तों को भी इसमें सुंदरता से उकेरा गया है। मूलतः नारी शोषण के सवालों से जूझती यह कहानी अपने अंदर सामाजिक असमानता, ऊँच-नीच और आर्थिक असमानता जैसे कई सवालों को साथ लेकर चलती है। कहानी की बुनावट जितनी मार्मिक तथा विश्लेषणात्मक है, नाट्य रूपांतर उतना ही सपाट, फिर भी कहानी के मूल तथ्य का निर्वाह करता हुआ। स्वतंत्रता संग्राम में गांधी जी के योगदान और उनकी अहिंसात्मक धारणा को केंद्र में रखकर लिखी गई 'जुलूस' कहानी अपने अंत तक पहुँचते-पहुँचते इतनी मार्मिक हो जाती है कि पाठक एकदम भाव-विभोर हो उठता है। यह सब इतना सहज तथा स्वाभाविक है कि कुछ भी गढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। चित्रा जी ने भी प्रेमचंद की कहानी के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है। यह बात अलग है कि रेडियो के माध्यम की सीमाओं का निर्वाह करने की चेष्टा ने नाट्य रूपांतर के अंत को कहानी जितना प्रभावपूर्ण नहीं रहने दिया।

"सुहाग की साड़ी" का रूपांतर भी सहजता और सरलता से हो पाया है जिससे रूपांतरकारा की रेडियो माध्यम पर अच्छी पकड़ का भी परिचय हमें मिलता है। देश प्रेम के रंग में रँगी यह कहानी विदेशी और स्वदेशी को आधार बनाकर लिखी गई है। मुंशी प्रेमचंद की अधिकतर कहानियों की भाँति इस कहानी में भी पात्रों के बीच जीवंत संवाद योजना का निर्वाह किया गया है जिसके रहते नाट्य रूपांतरकार को संवाद रचना में अतिरिक्त मेहनत नहीं करनी पड़ती। वास्तव में जो संवाद रचना कहानी में उपस्थित है उसका कोई पर्याय हो ही नहीं सकता। इस कहानी का नाट्य रूपांतर भी सहज ही मन को छू लेता है।

'बूढ़ी काकी' के साथ उनका व्यवहार तथा सहानुभूति अच्छी तरह उजागर हो सके हैं। यदि थोड़े शब्दों में कहा जाए तो इस कहानी के नाट्य रूपांतर में भी कहानी जैसी सरलता तथा सहजता मौजूद है जो एक सुखद अहसास करवाता है। वृद्धावस्था में मनुष्य का स्वभाव एकदम बच्चों जैसा निर्मल-निष्कपट हो जाता है जो एक ही पल में डाँट खाने के उपरांत प्यार से पुचकारने पर हँसने-खेलने लगता है। 'बूढ़ी काकी' के चरित्र चित्रण में भी ऐसी ही बाल बुद्धि के दर्शन होते हैं जो कहानी तथा नाट्य रूपांतर दोनों में अपने वास्तविक अर्थों में विद्यमान है। एक प्रकार से देखा जाए तो चित्रा जी ने अपनी ओर से नाट्य रूपांतरों को बनाने-सँवारने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है जिसमें अधिकतर उनको सफलता ही मिली है। पिछली सदी के महान कथाकार, जिसने पूरे कथा जगत को प्रभावित किया हो, उसकी छाया से उभर पाना और ख़ासकर उसी की कथाओं पर काम करते हुए तो क़तई संभव नहीं है। चित्रा जी भी पूरी तरह से ऐसा नहीं कर पाई हैं। संभवत इसी कारण उनकी रचनाशीलता ने भी एक सीमा अख़्तियार कर ली लगती है। परंतु जिन स्थानों पर रूपांतरकारा ने स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाशीलता की छटा बिखेरने की कोशिश की है वहाँ-वहाँ मूल ढाँचे में और निखार आया है। इस पर ज़्यादा बात न करते हुए अंत में मैं दो ऐसी कहानियों का ज़िक्र करना चाहता हूँ जिन पर न सिर्फ़ चित्रा जी ने बल्कि पहले भी कई लोगों ने अपनी-अपनी तरह से काम किया है। इनमें 'पंच-परमेश्वर' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी की मार्फ़त

की ज़िम्मेदारियों का जिस सहजता से एहसास करवाया गया है उसका कोई जवाब नहीं। जुम्मन और अलगू की बचपन की दोस्ती इस बात के आड़े नहीं आ सकती। यह कहानी अपने आप में भरपूर नाटकीय तत्त्व समेटे है। संभवतः इसी कारण इसका नाट्य-रूपांतर भारत की कई अन्य भाषाओं में भी हुआ और मंचित किया गया। डोगरी भाषा भी उनमें से एक है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व पूरण सिंह पूरण ने इसी शीर्षक से इसका डोगरी भाषा में नाट्य रूपांतर किया जो कई बार सफलता से मंचित किया गया। हालाँकि इस कहानी का एक छोटी अवधि के रेडियो रूपांतरण में समा पाना आसान नहीं है मगर चित्रा मुद्गल ने इस प्रयास में सफलता पाई है। दूसरी कहानी है 'अहिंसा परमो धर्मा:'। धार्मिक आधार पर साम्प्रदायिकता भड़काने और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का जो चलन शहरी सभ्य समझे जाने वाले समाज में व्यापक रूप से विद्यमान है उसकी बारीकी से परतें खोलती है यह कहानी। जो आज के समय में और ज़्यादा सार्थक दिखाई देती है। आज भी कितने ही भोले-भाले इंसान-इंसान, इन षड्यंत्रकारियों का शिकार हो रहे हैं और देश दोज़ख़ बनता जा रहा है। बहुत ही मार्मिक तथा रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानी है। चित्रा जी ने कहानी के साथ पूरा इंसाफ किया है। इसी कहानी को लेकर सफ़दर हाशमी ने भी एक नुक्कड़ नाटक लिखा है जो *चौक-चौक पर गली-गली में* भाग एक में संकलित है। माध्यम अलग होने से रूपांतर में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। मगर सफ़दर ने कहानी की केवल रूह को पकड़ा है और उस पर समसामयिक परिस्थितियों के अनुसार कुछ बदलाव भी किए हैं। चित्रा जी ने ऐसा नहीं किया है। माध्यम की सीमाओं के चलते उसमें नुक्कड़ नाटक शैली में बदलाव कर पाना संभव भी नहीं था। फिर भी चित्रा जी ने इसमें सफलता पाई है।

हर माध्यम की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं तो सीमाएँ भी होती हैं, कुछ मर्यादाएँ भी होती हैं, जिनका पालन करना कठिन पर अनिवार्य होता है। रेडियो जैसे माध्यम की भी कुछ सीमाएँ हैं, कुछ मर्यादाएँ हैं। सीमाओं तथा मर्यादाओं का पालन करना एक कठिन कार्य है और चित्रा जी ने इस कठिन कार्य को सफलता से पूरा करने का साहस किया है जिसके लिए वह बधाई की पात्र हैं।

चर्चित पुस्तकें :
सद्गति; बूढ़ी काकी; पंच-परमेश्वर : चित्रा मुद्गल; राजपाल एंड संस, दिल्ली; 2005; प्रत्येक 100 रुपए

साहित्य अकादेमी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित, कवि-नाटककार मोहन सिंह का जन्म 8 फ़रवरी 1955 में हुआ। कविताओं और नाटकों, नुक्कड़-नाटकों की ग्यारह किताबें छप चुकी हैं। पिछले तीस सालों से रंगमंच के साथ बतौर अभिनेता, निर्देशक और नाटककार सक्रिय हैं। संपर्क : 124-डोगरा हाल, जम्मू-180001

गीता शर्मा

महाबली के सामने

हाल के वर्षों में जिन युवा लेखकों ने अपने लेखन से ध्यान खींचा है उनमें वीर भारत तलवार भी एक हैं। संयोगवश इनमें से अधिकांश लेखक व्यापक तौर पर मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित अथवा प्रतिबद्ध हैं। साथ ही इनमें से ज़्यादातर लेखक मार्क्सवाद में आस्था रखने वाले

विभिन्न राजनीतिक और साहित्यिक-सांस्कृतिक जन-संगठनों से भी जुड़े हुए हैं। इन संगठनों के मार्क्सवाद विषयक अलग-अलग रुझानों की विभिन्न छटाएँ भी इनके लेखन में दिखाई देती हैं। वीर भारत तलवार भी इसके अपवाद नहीं हैं। इन युवा लेखकों से तलवार जी इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि उनकी चिंताएँ और उनका लेखन केवल साहित्य के दायरे तक सीमित नहीं है। वे आलोचना के अलावा शोध एवं अनुसंधान के क्षेत्र में भी अत्यंत सक्रिय दिखते हैं। इसीलिए अपने समकालीन युवा लेखकों के बीच उनकी छवि एक परिश्रमी और अध्ययनशील लेखक की उभरती है।

वीर भारत तलवार के साहस की दाद देनी चाहिए कि उन्होंने अपने शोध और अध्ययन का मुख्य विषय डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन को बनाया है। यह अनायास ही नहीं है कि समीक्षित पुस्तक *सामना* का उपशीर्षक रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध है। इस पुस्तक के तीन सौ पंद्रह पृष्ठों में से लगभग एक तिहाई पृष्ठ डॉ. रामविलास शर्मा पर ही केंद्रित हैं। अन्य निबंधों में भी, फिर वह चाहे 'हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि' हो या 'प्रेमचंद की जीवनी का सवाल' अथवा 'प्रेमचंद-शरतचंद्र विवाद', गाहे-बगाहे राम विलास जी को याद किया गया है। पुस्तक में 'रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद' शीर्षक से चार लेखों की लेखमाला के अलावा 'हिंदी नवजागरण : अध्ययन की समस्याएँ' शीर्षक लेख डॉ. शर्मा पर केंद्रित हैं। उपर्युक्त चार लेखों की शृंखला में तलवार जी ने डॉ. शर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* की 99 पृष्ठों में विस्तृत समालोचना की है, जबकि दूसरे लेख में रामविलास जी की हिंदी नवजागरण संबंधी अवधारणा का विवेचन किया है।

पुस्तक का दूसरा बड़ा निबंध निर्मल वर्मा पर है, जिसमें 61 पृष्ठों में उनकी कहानियों के सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र पर विचार किया गया है। इसी क्रम में हरिशंकर परसाई और चेखव की कहानियों पर भी दो अच्छे निबंध हैं। इस पुस्तक में एक लेख 'सन् साठ के बाद की कहानियाँ' भी है जो संभवतः तलवार जी के एकदम आरंभिक आलोचनात्मक लेखों में से एक है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे हमें तलवार जी के विवेचनात्मक गद्य के अलावा उनके ललित गद्य का आस्वाद भी मिलता है। 'चुनार के क़िले से' शीर्षक यात्रा-वृत्तांत से तलवार जी की पर्यवेक्षण शक्ति, अभिव्यक्ति-क्षमता और सर्जनात्मक प्रतिभा का भली-भाँति परिचय मिलता है। इसी तरह उत्पल दत्त की मृत्यु पर उनका स्मरण तथा यशपाल और उत्पल दत्त से साक्षात्कार इस संग्रह की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। संग्रह को और विविधता प्रदान करने के लिए ही मानो उत्तराखंड में क़ुली बेगार प्रथा विषयक शोधकार्य की समीक्षा तथा अकादमिक संस्थानों में हिंदी बुद्धिजीवियों की भूमिका की पड़ताल और नारीवादी आंदोलन के बारे में दो संक्षिप्त निबंधों को शामिल किया गया है। इस तरह तलवार जी का यह संग्रह उनके लेखन की विविधताओं से साक्षात्कार कराने वाला उनका प्रतिनिधि संग्रह कहा जा सकता है। कहना न होगा कि इस पुस्तक से वीर भारत तलवार की क्षमताएँ और सीमाएँ तथा उनकी शक्ति और कमज़ोरियों के एक साथ दर्शन होते हैं।

प्रेमचंद के साहित्य पर सबसे महत्त्वपूर्ण किताब डॉ. रामविलास शर्मा की *प्रेमचंद और उनका युग* तथा अमृतराय की लिखी प्रेमचंद की जीवनी *क़लम का सिपाही* है। तलवार जी ने ठीक लिखा है कि ''यह हिंदी साहित्य में लिखी गई पहली महत्त्वपूर्ण जीवनी थी। इससे

ो हिंदी साहित्य में इतने व्यवस्थित ढंग से
ई जीवनी नहीं लिखी गई।...अमृतराय ने
चंद की जीवनी लिखकर एक नए ढंग की
रा की नींव डाली। अच्छी और मज़बूत
ा।" (पृ. 200) लेकिन गोयनका अमृतराय
खित इस जीवनी की कटु आलोचना करते
"गोयनका ने अपने लेख में जीवनी लेखन
सवाल पर विचार करते हुए इसे एक
नात्मक विधा के रूप में नहीं देखा। वे इसमें
तथ्य संग्रहकर्ता का सुख—नए तथ्यों को
न निकालने का सुख देखते हैं, रचनाकार का
ां। वे जीवनी को तथ्यों का संग्रह समझते हैं
र तथ्य को ही 'सबसे बड़ा ऐतिहासिक सत्य'
झते हैं। *क़लम का सिपाही* की उनकी
लोचना इसी तथ्यवादी दृष्टि से है।" (पृ.
1)

वीर भारत तलवार के अनुसार रामविलास
र्मा ने "पूँजीवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति
भिन्न, इन दोनों के बीच की नई जनवादी
ांति पर विचार किया है। उन्होंने लिखा कि नई
नवादी क्रांति वह क्रांति है जो मज़दूरों और
सानों के सहयोग से मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में
ती है और पूँजीवादी क्रांति के सामंत विरोधी
धूरे कामों को पूरा करती है; पूँजीवाद का नाश
हीं करती, उसका नियंत्रण करती है और बिना
न-ख़राबे के समाजवादी क्रांति में शांतिपूर्ण
क्रमण के लिए रास्ता तैयार करती है।" (पृ.
) रूस की 1917 की क्रांति ऐसी ही क्रांति
।

डॉ. शर्मा की आलोचना करते हुए तलवार
लिखते हैं कि उनमें "इतिहास के किसी भी
र में नई जनवादी क्रांति और नए जनतंत्र को
खाने का तर्कहीन हठ छिपा हुआ है। इस हठ
अनुरूप ही उनकी विवेचन-पद्धति भी है।"
. 121) तलवार जी की आलोचना के लिए
लोचना करने वाली कुतर्कपूर्ण तर्क-शैली
समझनी हो तो अगले ही पैरे की यह शुरुआत देखिए : "थोड़ा ठहरा जाए। इस आलोचना को छोड़कर एक दूसरे ढंग से सोचा जाए। मुमकिन है कि रामविलास जी एक ज़्यादा गहरी बात करना चाह रहे हों जिसे हमने अभी तक समझने की कोशिश नहीं की। शायद वे यह मौलिक बात कहना चाहते हैं कि यूरोपीय इतिहास में पूँजीवादी क्रांतियों के बाद वस्तुगत परिस्थितियाँ ऐसी रहीं कि उनमें समाजवादी क्रांति का नहीं, नई जनवादी क्रांति का सिद्धांत पेश करना चाहिए था।" (पृ. 121) अगले ही पैरे में वे यह और भी विचित्र सवाल करते हैं कि "अगर रामविलास जी सचमुच यही बात कहना चाहते हैं तो एक मौलिक बात है। इतिहास के प्रति एक नया दृष्टिकोण है। लेकिन, तब इस बात को उन्होंने इतना घुमा-फिराकर क्यों कहा?" (पृ. 122) दरअसल, सीधी और साफ़ बातों को घुमा-फिराकर उलझाने का काम तो अपनी इस लेख शृंखला में वीर भारत तलवार ने ही किया है, जो न तो 'विचारोत्तेजक' है और न ही 'उबाऊ', किंतु ख़ासा दिलचस्प और कहीं-कहीं तो मनोरंजक भी है।

निर्मल वर्मा की कहानियों के सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र पर अत्यंत परिश्रमपूर्वक लिखे गए 61 पृष्ठों के सुदीर्घ लेख में तलवार जी ने उनके विविध पहलुओं का सटीक परिचय दिया है। उनके मतानुसार "निर्मल की कहानियों का अनूठापन मुख्यतः तीन बातों में है—काव्यात्मक भाषा, चमत्कारपूर्ण कल्पना और रहस्यात्मकता। यही तीन मुख्य विशेषताएँ हैं जो उन्हें नई कहानी के दूसरे सभी कहानीकारों से और शायद हिंदी की पूरी कथा-परंपरा से अलग करती हैं। कुछ दूसरी विशेषताएँ भी हैं, जैसे बारीक अनुभूति-शीलता और बिंबों में उसकी अभिव्यक्ति, अत्यधिक स्मृतिशीलता, छोटी-छोटी तफ़सीलों की जीवंतता, सूक्ष्म निरीक्षण-वृत्ति और ख़ास

क़िस्म का वातावरण इत्यादि।'' (पृ. 125) तलवार जी मानते हैं कि काव्यात्मक भाषा से कहानी में चमत्कार और रहस्यात्मकता बढ़ती है और कहानी की दुनिया छोटी हो जाती है। जिस तरह वे काव्यात्मक भाषा को कहानी के लिए उचित नहीं मानते उसी तरह वे निर्मल की कहानियों में चामत्कारिक कल्पना को भाव और अर्थ ग्रहण में बाधक मानते हैं। वे लिखते हैं कि ''निर्मल की कहानियों का एक तत्त्व स्मृतिशीलता भी है जो उनके कला-दर्शन का बुनियादी तत्त्व है।'' (पृ. 137)

निर्मल वर्मा यदि 'नई कहानी' धारा के एक छोर पर हैं तो परसाई जी उसके दूसरे छोर पर ही नहीं हैं बल्कि भाषा, भाव, विचार और भंगिमा से लेकर विषयवस्तु तक निर्मल की एक तरह से 'एंटी थीसिस' हैं। तलवार जी के अनुसार, ''हरिशंकर परसाई के साहित्य में दो धाराएँ घुल-मिल गई हैं—नई कहानी की धारा और पुराने प्रगतिशील साहित्य आंदोलन की धारा।'' (पृ. 185)

परसाई जी की संवेदनशीलता को 'मुक्तिबोध के बहुत नज़दीक' मानते हुए तलवार जी लिखते हैं कि ''परसाई की व्यंग्य रचनाओं में फ़ैंटेसी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह परसाई की कला है। अकाल उत्सव इस कला की श्रेष्ठ उपलब्धि है। इसमें फ़ैंटेसी की वही भूमिका है जो मुक्तिबोध की कविताओं में है।'' (पृ 193) तलवार जी के अनुसार ''व्यक्ति की ही नहीं, पूरे युग की मनोवृत्ति को भी परसाई ने पकड़ने की कोशिश की है।'' और उनकी श्रेष्ठ रचनाओं से ''वैसी ही मार्मिक करुणा कौंध जाती है जैसी चार्ली चैपलिन की फ़िल्मों में अनुभव होती है।'' परसाई जी पर प्रशंसात्मक होते हुए भी यह लेख उतना अच्छा नहीं बन पाया है, जैसे कि आलोचनात्मक होते हुए भी हजारी प्रसाद द्विवेदी और निर्मल वर्मा वाले लेख। इसकी एक वजह शायद यह भी है कि तलवार जी व्यंग्य के वास्तविक मर्म को भली-भाँति समझ नहीं पाते। संभवतः इसीलिए वे ऐसी दुविधा के भी शिकार हो जाते हैं कि ''परसाई हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—इसमें कोई शक नहीं। क्या वे एक महान लेखक भी हैं?'' यह दुविधा तब और बढ़ जाती है जब तलवार अपनी राजनीतिक लाइन से अलग पड़ने वाली परसाई जी की राजनीतिक दृष्टि से परहेज़ व्यक्त करते हुए कम्युनिस्ट पार्टियों पर छींटाकशी करने लगते हैं। ऐसा लगता है कि मार्क्सवादी लेखकों पर लिखते समय तलवार जी के अपने पूर्वाग्रह मुखर हो उठते हैं, जो उनके लेखन को क्षति पहुँचाते हैं और स्वयं उन्हीं की सीमाएँ उजागर करने लगते हैं। इसके विपरीत, उनकी प्रतिभा तब अधिक प्रस्फुटित होती है जब वे ग़ैर-मार्क्सवादी अथवा मार्क्सवाद विरोधी लेखकों के विरुद्ध अपनी क़लम उठाते हैं। लेकिन वीर भारत तलवार की क्षमताओं और प्रतिभा का सर्वाधिक प्रस्फुटन शायद वहीं दिखाई देता है जहाँ वे एक रचनाकार की तरह ललित गद्य लिखते हैं। उन्हें ऐसे सर्जनात्मक प्रयासों को जारी रखना चाहिए।

चर्चित पुस्तक :
सामना (रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध) : वीर भारत तलवार; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 350 रुपए

गीता शर्मा के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, फ़ोन : 22611495

ज्योतिष जोशी

कला और कविता का भावपक्ष

रिचित हिंदी कवि विजेंद्र का नवीनतम काव्य संकलन है— *आधी रात के रंग,* जिसमें ताओं के साथ-साथ चित्रकृतियाँ भी मुद्रित इस संग्रह की एक विशेषता यह भी है कि पुस्तक अंग्रेज़ी में भी अनूदित हैं; शीर्षक है *नाइट कलर्स*। संग्रह में शामिल कविताएँ द्र की परिचित पहचान से अलग आस्वाद हैं। इनमें प्रकृति, परंपरा, मिथक, कल्पना जीवन के गहरे पलों का साक्षात्कार तो है स्मृति में रच-बसकर अपने को पाने की उत्कटता भी है। कवि विजेंद्र एक चित्रकार रूप में भी प्रभावित करते हैं। जो लोग उन्हें कवि के रूप में ही जानते हैं, उन्हें उनकी नई पहचान अवश्य विस्मित करेगी और वे पाएँगे कि कवि विजेंद्र चित्रकार विजेंद्र के कितना पूर्ण लग रहे हैं। विजेंद्र कहते भी "चित्र मेरे लिए सदा कविता के पूरक रहे कवि-कर्म के लंबे दौर में चित्रकला कभी से दूर नहीं रही। सचमुच जैसा मुझे लगता कविता मेरा जीवन है और चित्र कर्म उस न को जीने की रंगमयी प्रक्रिया। कविता तरह ही मन के किसी अंतरंग कोने में चित्र कौंधते हैं। कविता से थककर रंगों की दुनिया कुछ देर ठहरना मुझे सदा प्रेरित करता है। क्षण भी लगता है कि कविता रंगों और ना में मुखर है।"

कविता और चित्रकला के अंतःसंबंध को ता कवि विजेंद्र का यह वक्तव्य दोनों कला ओं की परस्पर पूरकता को द्योतित करता है। क्या चित्रकला कविता का पूरक ही है, कविता त्रकला की प्रेरणा नहीं? मुझे लगता है कि द्र ने अपने वक्तव्य से चित्रकला को कविता का पूरक बताकर अपने चित्रकार के साथ न्याय नहीं किया है। कम-से-कम इस संग्रह में प्रकाशित चित्रकृतियाँ इस तथ्य का खंडन करती हैं। कहना चाहिए कि इस संग्रह में शामिल कविताएँ चित्रकृतियों से प्रेरित हैं; इसीलिए विजेंद्र की जानी-पहचानी प्रतिबद्धता कविताओं में नहीं दिखाई देती। इसका आशय यह नहीं है कि ये कविताएँ प्रभावित नहीं करतीं वरन् यह है कि चित्रकृतियों की प्रेरणा से इन कविताओं में कल्पना, प्रकृति, अनुभूति और स्वप्न की ऐसी अविरल धारा प्रवाहित होती है कि पाठक चित्रों के अक्सों में ही खो-सा जाता है। यह विजेंद्र के चित्रकार की बड़ी सफलता है। संग्रह की चौबीस कविताएँ इतने ही चित्रों में डूब-सी गई हैं, उतरा गए हैं रंग; जो अपनी लयात्मक बिंबात्मकता से दर्शकों के अंतर्जगत को विचलित करते हैं और कविताएँ चित्रों की बहुस्तरीयता को खोलने का पाथेय बनती हैं। 'कवि' शीर्षक कविता में विजेंद्र कहते भी हैं : *जो कुछ कविता में छूटता है / मैंने चाहा कि उसे / रंग, बुनावट, रेखाओं और दृश्य बिंबों में / रच सकूँ / धरती उर्वर है / हवा उसकी गंध को धारण कर / मेरे लिए वरदान!*

'कवि' की आकृति मौन से संवाद करती है। धूसर जलरंग में सृजित कवि की दृष्टि बिखरे पृष्ठों पर टिकी है; क्या उसे कोई कविता बाँध सकती है? क्या उस मौन को कविता के शब्दों से जाना जा सकता है? गहन अनुभूति को शब्दों की अभिव्यक्ति अनुमान में ले जा सकती है; इसीलिए मैंने उसे पाथेय कहा। 'कवि' कविता पर कवि की चित्रकृति अधिक व्यंजक और अर्थसघन ठहरती है। 'रंगों की स्वायत्तता' कृति चित्रकार विजेंद्र की समझ और रंगों की विशेषज्ञता

को पुष्ट करती है। रंगों के प्रयोग से चित्रकार ने प्रकृति को उसकी समूची रंगमयता में उतार दिया है जिसमें एक लय है और समरसता का सुखद अहसास भी। इस कृति से संबद्ध कविता में विजेंद्र ठीक ही लिखते हैं : *रंग, रंग, रंग...ओह / रंगों की अनंतता / वे जैसे जीवित आकृतियाँ हैं / हमारे चतुर्दिक संसार की / उसके नाम, धाम और दिशाएँ / वे मुझे लुभाते हैं / जैसे संगीत के मुखर स्वर।*

संग्रह की शीर्षक कविता में विजेंद्र ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है : *ये आधी रात के रंग / एक साथ मिलकर / नीरवता तोड़ते हैं / वे रात के ढुलकते बालों को / काढ़ रहे हैं।*

'आधी रात के रंग' कविता को रंगों में विन्यस्त करते विजेंद्र ने अमूर्तता में भी भावमयता और रंगीय तुलिकाघातों में भी गहरी अर्थमयता संभव की है। काले रंगों की पट्टी के भीतर फूटते बैंगनी और इंद्रधनुषी कौंध से एक संगीत की लय-सी उभरती है, सन्नाटा टूटता है। अँधियारे के भीतर प्रकाश की कौंध रात को भेदती है, उसमें एक आसरे की जगह बनाती है। अपनी इसी कविता में विजेंद्र 'रात की नीरवता तोड़ना' कहते हैं और 'रात के ढुलकते बालों का काढ़ना' देखते हैं। इस कृति में ग़ज़ब की सफ़ाई है जिसमें रंगों की भाषा दर्शक से संवाद करती है; कहना न होगा कि यहाँ भी कविता ही कृति से प्रेरित लगती है।

इस संग्रह की कविताएँ अलग मिज़ाज के कवि के रूप में विजेंद्र को स्थापित करती हैं; इसलिए कि कविताओं की सर्जना कृतियों की व्याख्या के लिए हुई लगती है। कहने का भाव यह नहीं है कि इन कविताओं की अर्थवत्ता नहीं है, पर लगता यह है कि कृतियों की व्याख्या के कारण अधिकांश कविताओं का मिज़ाज बदल-सा गया है। चित्र और कविता का अंतर्संबंध तो है, होना भी चाहिए पर एक-दूसरे का पूरक बनाना या मानना उनके साथ ज़्यादती करना है। कविताओं को चित्रकृतियों से अलग देखा जाए तो वे प्रभावित करती हैं। पर जैसे ही उन्हें कृतियों के शीर्षकों से समझने की कोशिश होती है, कृतियों के गहरे विस्तार में खो-सी जाती हैं। कई स्थलों पर तो वे कृतियों के बड़े विस्तार को संकुचित करती भी प्रतीत होती हैं। वैसे यह बड़ा सुखद है कि विजेंद्र की कविताओं का एक नया संसार इस माध्यम से प्रकट हुआ है जिसमें प्रेम, प्रतीक्षा, आशा, जिज्ञासा, प्रकृति और चिंतन जैसे गहरे मानवीय भाव दृश्य पर आते हैं और वे पाठकों को नए आस्वाद से चकित भी करते हैं।

'शिल्पी' में विजेंद्र अपने कवि को जगाते हैं और शिल्पकार को संबोधित करते हुए कहते हैं : *तुम्हारे हर तरफ़ अँधेरा है / लेकिन तुम ऊबड़-खाबड़ पत्थरों में / मानवीय सौंदर्य तराशने / और उकेरने में लगे हो। / मुझे उम्मीद है—/ तुम उनकी भी मूर्तियाँ गढ़ोगे / जो देश को बहुत कुछ देकर / बेपहचान—/ हमें छोड़कर चले गए।*

विजेंद्र का यह संग्रह कला और कविता के अंतरंग को पहचानने के लिहाज़ से प्रभावित करता है जिसमें कला का पक्ष कविता के मुक़ाबले अधिक भावमय है और विस्तृत भी।

इसी शृंखला में विकि आर्य की कविताओं का संग्रह भी द्रष्टव्य है जो स्वयं एक चित्रकार भी हैं। संकलन का शीर्षक है कैनवस। एक चित्रकार की दृष्टि से दुनिया और जीवन को देखने की कोशिश में लिखी गई ये कविताएँ एक ही शृंखला की कविताएँ हैं। इनमें एक कल्पना है, विचारों में बहती आकांक्षा है और एक भावुक उम्मीद भी; जो जीवन को अपनी तरह से समझने की कोशिश है :

जिन्हें है चाँद की परछाइयाँ प्यारी / बेशक वे सब लोग / झीलों में बदल जाएँ। / मुझे अपनी

/ *अपनी तड़प बहुत प्यारी है / यही, हाँ*
/ मेरे सागर होने की निशानी है।

वयित्री विकि के पास जीवन के अनुभवों पूँजी है, उसमें किसी बड़े विमर्श की नहीं है। जीवन को देखने की इस दृष्टि वुकता अधिक है जिसे व्यक्त करने की -कुशलता भी अभी कवयित्री को अर्जित है। कविता में भावना की तरलता, संबंधों आत्मीयता और प्रेम की आकांक्षा की मधुर यों के कारण यह कविता शृंखला छूती तो टिकती नहीं :

वही बेबसी / आठों पहर / यही मजबूरी / दोनों तरफ़ / मैं तट हूँ / तू है सागर लहर / छूकर लौट जाती है। / तू ठहर नहीं सकती / और मैं बाँध नहीं सकता।

शृंखला की कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद और रोमन में रूपांतरण भी हुआ है जिससे अहिंदी भाषी पाठक भी कविताओं को समझ सकते हैं।

चर्चित पुस्तकें :

आधी रात के रंग : विजेंद्र; कृति ओर प्रकाशन, सी-133, वैशाली नगर, जयपुर 302021; 495 रुपए

कैनवस : विकि आर्य; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

आलोचना पुस्तक के रचयिता ज्योतिष जोशी का जन्म 1965 में हुआ। संपर्क : डी-4/37, एम.आई.जी., 15, रोहिणी, दिल्ली 110085

यशवंत व्यास

यथासमय ही

द जोशी के ज्ञानपीठ वाले *यथासंभव* के द *यथासमय* को पढ़ने का सुख ठीक वैसा जैसे किसी 'आए दिन बहार के' को क स्क्रीन पर देखकर पुरानी स्मृतियों के झोंके को महसूस करना। शरद जोशी देह अब इस दुनिया में नहीं है। लेकिन जो लिखा था, वह *यथासमय* अभी भी ही है। शुरुआती पन्नों में ही लिखा है : न से कुछ साल पहले अपराधी सिकुड़कर था। अब वह चौड़ा होकर बैठता है। उसका से कोई ताल्लुक़ या सरोकार नहीं रहा। अपराध एक निजी जीवन-दर्शन हो। जब खते हैं कि दस अपराध करने के बाद भी टी.वी. के सामने न केवल मुस्कुराता है देश के मामलों में सीना चौड़ा कर बयान , तो हम समझ नहीं पाते कि बेशर्मी का कितना है। इतने वर्षों तक हर क्षेत्र में ऐसी सीमाएँ फैलाने के अलावा हमने किया क्या है ?''

व्यंग्य की भाषा जिन बिंबों से बनती है, उन्हें कुछ महारथी सायास बनाते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें एक बिंब पकड़ में आ जाए तो ऐसा रगड़कर रख दें कि बिंब का डिंब की सर्वदा के लिए नष्ट हो जाए। शरद जोशी की भाषा सादी है, सहज है, सरल है, इसीलिए आज भी बिंब की बाँबी बनाने में व्यस्त लोगों के लिए चुनौती है।

मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों तथा महानगर की त्रासदियों के बीच मानवमूल्यों की बात करना तमाम साहित्यकारों में एक फ़ैशन है। शरद जोशी ने इस फ़ैशन शो के आयोजकों की तबीअत हरी करने का काम किया है। इसलिए, 'बगदाद का नसीहत-फ़रोश' और 'क्रिकेट विशेषांकों का भविष्य'—दोनों उनसे छूट नहीं सके। शरद जोशी की अधिकांश रचनाओं में एक विशिष्ट कथातत्त्व होता था। उसमें सहज

निबंध का प्रवाह भी होता था, चरित्रों की रंगत भी। इस संग्रह में 'अपनी-अपनी क़ैद' नाटक भी है और 'अंधायुग क्रिकेट का' भी! संग्रह की रचनाएँ एक बार फिर याद दिलाती हैं कि छाती कूटने और संवेदना जगाने में अंतर है। जो लोग शब्दों की बाज़ीगरी को छाती कूट की तरह करते हुए व्यंग्य लेखन के प्रतिमान स्थापित करने के इच्छुक हों उन्हें सावधानी बतौर शरद जोशी को पढ़ लेना चाहिए। प्रसंगवश हरिशंकर परसाई, मनोहर श्याम जोशी और श्रीलाल शुक्ल का ज़िक्र आए बिना शरद जोशी के लेखन की चर्चा पूरी नहीं होती, वजह यह है कि आज़ादी के बाद जो व्यंग्यधर्मी लेखन था उसके लिए विधा और शैली का बड़ा आलोचना-युद्ध चला। उसमें परसाई के लिए 'लक्ष्य-प्रधान' और जोशी के लिए 'शब्द-प्रधान' मुहावरों से आक्रमण-प्रत्याक्रमण किए जाते थे। लेकिन कितना दिलचस्प है कि आलोचनाओं को शून्य करती हुई पाठकीयता ने परसाई की लोकप्रियता तथा शरद जोशी की सर्वप्रियता में कोई भेद नहीं किया। दोनों का स्वाद अपनी जगह था। हमारे अग्रज व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी इसीलिए पूछते हैं, "हमने हलुआ बनाया है तो उसके बारे में बताइए, पुलाव ऐसा होना चाहिए जैसा कहने का क्या मतलब है?"

शरद जोशी अपने रचे वाक्यों को सूक्तियों में बदलने की बजाय उनसे संवाद की संगीन रचना करते हैं। " 'अ' अणु का" में एक पंक्ति है : "अणु विस्फोट से राष्ट्रीय स्वाभिमान में कई मेगाटन वृद्धि हुई है।...शक्ति एक्सपोर्ट आइटम है। शक्ति एक्सपोर्ट कर हम बदले में उनसे चावल, घासलेट आदि ले सकते हैं, जिसकी इस देश को सदैव आवश्यकता है और रहेगी...।"

यह वही भाव है जो अपने समय की प्राथमिकताओं तथा सामाजिक दायित्वों से उपजी बेचैनी को व्यक्त करता है। इसके लिए अ से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि श जोशी की विचारधारा क्या है?

'मैं प्रतीक्षा में हूँ' के तहत शरद कहते "तीस साल से मैं देख रहा हूँ। हिंदी के लेख ने कर्म और धर्म को परिभाषित करने के लि कितने आंदोलन आरंभ किए। नई, सहज, या सचेतन कहानी। गाँव, क़सबे, शहर कहानी। युवा कहानी, ऐसी ही धाराएँ, कविता लगता है एक चिड़िया उड़ गई जो हाथ नहीं रही है। आदमी साबुन की बट्टी की तरह बा बार हमारे हाथ से फिसल रहा है। साहित्य सदा से आम आदमी पर, आम आदमी का आदमी के लिए होता था वह आम आदमी एकाएक अपरिचित हो गया है और बहस रहा है कि आम आदमी क्या है? जैसे लेख एक विशेष; विशिष्ट जंतु है और उसे आम आ को समझना है। जैसे हम एक सुसभ्य गाँव और आम आदमी जंगल का जानवर है।"

ये पंक्तियाँ साहित्य और समाज के सरोक की पड़ताल के लिए काफ़ी हैं। बाक़ी जो वि हैं जैसे 'सड़क और गड्ढे', 'वह चश्मा कहाँ 'धर्म से डॉलर तक' या 'रहा किनारे बैठ' सभी शरद जोशी को चिर-परिचित गुदगुद और मार करती शैली को बार-बार याद दि हैं। कई सुपठित और उनके मुँह से ही सुनी रचनाएँ भी इस संग्रह में हैं। हर लिहाज़ से एक जगह इकट्ठा करके प्रकाशक ने भला किया है। शरद-पाठकों के संग्रह में इसे ह चाहिए।

चर्चित पुस्तक :

यथासमय : शरद जोशी; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दि 2005; 190 रुपए

यशवंत व्यास के आलोचनात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 204-ए, पैरेडाइज़ गार्डन, 25, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-4, मो. 9829060664

पंकज चौधरी

पूरा हँसता चेहरा

मकालीन हिंदी कविता की जो युवा कविता है वह कई दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण और लेखनीय है। यह कविता सबसे पहले हिंदी वता की सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष और कार की जो महान परंपरा है उसको अपनी वर्ती-पीढ़ियों के मुक़ाबले कहीं बहुत जल्दी त्मसात् करती है। इसका सबसे बड़ा कारण हो सकता है कि इस कविता को रचनेवाले कवि हैं वे निम्न मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से ते हैं और जो निश्चित रूप से उनके संघर्ष को गुना-तिगुना बढ़ा देता है। और इस प्रकार यदि यह कहें कि यही वह संघर्ष है जो समकालीन दी कविता में प्रामाणिकता और विश्वसनीयता से तत्त्वों को ला रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस कविता की दूसरी बड़ी विशेषता है कि यह प्रकृति सौंदर्य के प्रति भी उतनी आकर्षक और सजग है जितना सामाजिक-जनीतिक संघर्ष और सरोकार के प्रति। निराला, गार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के द की हिंदी कविता को देखें तो उसमें जीवन-घर्ष के सामने प्रकृति सौंदर्य लगभग गौण है। र ऐसा अनायास हुआ है—इस तरह का दावा हम नहीं कर सकते। कम-से-कम हिंदी विता के परफ़ेक्शन के लिहाज से तो यह ठीक हीं ही कहा जा सकता।

रमेश प्रजापति की कविता पुस्तक *पूरा हँसता चेहरा* की शीर्षक कविता तो है ही साथ ही ग्रह की यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कविता भी । इस कविता के माध्यम से कवि अपने समय, माज और व्यक्ति की 'खंडित', 'आधे-अधूरे' नःस्थितियों के विडंबनात्मक बिंब उपस्थित रते हैं : *मुँह अँधेरे तोड़ते हैं / पार्कों के मौन को / हमारे बुज़ुर्गों के ज़बर्दस्ती लगाए / हँसी के ठहाके।* या *पत्नी की हँसी में / चमकता है महीने भर का / घर का बजट।* या *बच्चों की हँसी चाट गई किताबें।* इसके बावजूद बग़ैर किसी चीज़ की परवाह किए कवि जब हँसने की नाकाम कोशिश करता है तो उसका हश्र इस तरह होता है : *मैंने / एक बार की / हँसने की नाकाम कोशिश / कि तभी / गिरा आकर / मेरी अधूरी कविता पर / चिड़िया का नीला पंख।*

रमेश अपने समय और समाज की एक से एक भयावह तसवीर को पेश करते हैं। उनकी यह तसवीर तब और भयावह हो जाती है जब वह अपने पीछे की सच्चाई के साथ प्रकट होती है। रमेश की कविताओं में राजनीतिक प्रयोग भी यहीं देखने को मिलते हैं : *नहीं चाहिए मुझे / बाजरे के दाने / जिसके उगाने में पसीना नहीं / बल्कि मिला हो कमज़ोर हड्डियों का फास्फोरस / या नहीं चाहिए मुझे / नफ़रत की आँच पर गर्म किया दूध / लाशों से लबालब नदियाँ / घृणा से भरा पड़ोसी / बच्चों के बिना सूनी गलियाँ / लहू से सने मंज़र* या *नहीं चाहिए मुझे ऐसी दीवार / जो उठती है / आँगन के साथ-साथ हमारे दिलों में भी / वे सूखी-भूखी अंतड़ियाँ / जो खेलती हैं रोज़ मौत के साथ आँखमिचौली / या नहीं चाहिए मुझे उधार की वो हँसी / जिसे माँग सकते हो तुम / कभी भी सूद सहित।*

रमेश प्रजापति की कविताओं से ज़ाहिर होता है कि वह एक अत्यंत जागरूक और संवेदनशील कवि हैं। कवि की नज़र बाबरी मस्जिद का विध्वंस हो या सुदूर मालवा, उखीमठ गाँव में प्रकृति का भद्दा मज़ाक़, सभी पर रहती है। वे देखते हैं कि हरेक परिस्थिति में यहाँ मानवता

की ही बली चढ़ाई जाती है। बचपन, किताबों और भविष्य को जलाया जाता है। और माँ के स्तनों को रौंदा जाता है। इसके साथ-साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इन कविताओं से यह भी ज़ाहिर होता है कि इन स्थितियों-परिस्थितियों के लिए जो व्यवस्था ज़िम्मेदार है उसके साथ-साथ एक और भी व्यवस्था ज़िम्मेदार है और वह व्यवस्था कोई और नहीं बल्कि सात समुंदर पार की व्यवंस्था है। *जिनके गुलदस्ते में / खिले हैं सैकड़ों फूल / उनकी होती है हमारे / दो चार फूलों के ख़िलाफ़ साज़िश / सात समुंदर पार से।*

जहाँ तक रमेश की प्रकृति सौंदर्य से संबंधित कविताओं का सवाल है तो ऐसा लगता है कि वे प्रकृति की हरेक गतिविधि पर नज़र रखे हुए हैं। और जहाँ कहीं उनका सहज मन उल्लसित होता है, वह उसको कविताओं की माला में पिरोकर सामने रख देते हैं : *ये परिंदे पंखों में भरकर बादलों को / छोड़ जाते हैं सूखे खेतों पर / महक उठती है धरती पर / सपनों की हरी-भरी फ़सल।* यहीं प्रकृति के महत्त्व का भी पता चलता है। यह प्रकृति हमें कैसे-कैसे गुलज़ार करती रहती है; रमेश की कविताएँ बड़ी ख़ूबसूरती से उसको अभिव्यक्त करती है। रमेश के कवि की काव्यात्मक कल्पना और कौशल का भी यहाँ पता चलता है : *ये परिंदे / दबोचकर सूरज को अपनी चोंच में / खींच लाते हैं समुद्र की कोख से / और / टाँक देते हैं / आसमान के मस्तक पर तिलक-सा।* रमेश की कविताओं में फूल, परिंदे, सूरज, चाँद, पेड़, नदी, आकाश, झील बार-बार आते हैं। और जब वे प्रकृति के इन प्रतीकों का विभिन्न जीवन संदर्भों में प्रयोग करते हैं तब तो उसकी काव्यात्मक कुशलता और चमत्कृत करती है। इस तरह का प्रयोग विरले कवियों के यहाँ ही देखा जाता है। जीवन में जब ख़ुशी या सुंदरता का आगमन होता है तब प्रकृति-सौंदर्य के ये प्रतीक इस तरह चमक उठते हैं चरितार्थ होते हैं : *खिल उठता है जब / कांस फूलों का जंगल / लौट आती हैं ढेरों / रं बिरंगी चिड़ियाँ / या बड़े ख़ुशनुमा होते हैं फूल / खिलते हैं जो कभी-कभी / बूढ़ी आँ के वीरान पड़े जंगल में। या खुलती है ज आँगन में / बाज़ार से आई बापू की पोटली खिल उठते हैं फूल से चेहरे।*

यह प्रकृति जब हमारे लिए इतने महत्त्व व है। हमें तरह-तरह से धन-धान्य और समृ करती है। हमारे चारों ओर सुख-सौंदर्य की चाद बिछाती रहती है तब कवि भी उसके प्रति अपन कृतज्ञता प्रकट करना नहीं भूलता : *फिर जाऊँ मैं / सबसे मिलने / पहाड़ों के उन रास्तों से जिनसे आते हैं मौसम / बादलों को लगाऊँ गले / सहलाऊँगा उन जगहों को / जहाँ गुज़ थे हमने / हँसते हुए कुछ पल।* यह अकार नहीं है कि इन कविताओं के संदर्भ में सुप्रसि आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी संग्रह के फ़्लैप प लिखते हुए कहते हैं, ''रमेश प्रकृति सौंदर्य औ जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। जीवन की सह उत्सवधर्मिता की समझ उनमें है। वास्तवि मानवीय सुख-सौंदर्य जीवन में अनायास मिलत है, उसे ख़रीदा नहीं जा सकता। वह सामान् दृश्यों और जीवन-स्थितियों में बिखरा रहता है कविता का काम उनको पहचानना और उनक अभिव्यक्ति है। रमेश प्रजापति अपनी क्षमता के अनुसार ऐसा ही कर रहे हैं। वे प्रकृति औ जीवन के चित्रों को समन्वित करके एक रागात्मक लय में बाँध सकते हैं, और यह असल बा है।''

इसके अलावा भी रमेश विभिन्न जीवन-संदभ से संबंधित तमाम विषयों पर कविताएँ लिखते हैं जो हमको कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिला देती हैं या प्रभावित करती रहत हैं। उदाहरण के लिए 'पिता के बाद', 'दुख'

रना', 'पेड़', 'दौड़ते हैं हम', 'बरखा', 'माँ', न', 'कौआ और साँप', 'गाँव की शाम' ी कविताएँ लिखते हैं। मतलब कवि रमेश लिए कोई भी विषय वर्जित नहीं है। और वह चीज़ है जो कवि के रेंज (विविधता) पता देती है साथ ही उसके परफ़ेक्शन का भाषा और शिल्प के दृष्टिकोण से रमेश की कविताएँ स्वभाव से प्रयोगशील हैं। कुछ बिंबों और प्रतीकों के प्रयोग से कविताओं की चित्रात्मकता देखते ही बनती है। लेकिन प्रूफ़ की बेशुमार ग़लतियाँ भी मन में खटकती हैं।

चर्चित कविता संग्रह :

पूरा हँसता चेहरा : रमेश प्रजापति; शिल्पायन, 10295, लेन नं.-1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली; 125 रुपए

ज चौधरी के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : द्वारा हनुमान प्रसाद वर्मा, डब्ल्यू 134 बी, शकरपुर, दिल्ली-110092

क्षितिज शर्मा

आतंक के विरुद्ध मानवीय प्रयास

र्वतीय जन-जीवन में बाघ आतंक का प्रतीक है। जंगल वहाँ जीवन का पोषक है तो उसका नाश संकटों का वाहक भी है। जंगली जानवरों बाघ सबसे चालाक है। मानव बस्तियों के स-पास छोटी झाड़ियों और छोटे जंगलों के रण उसका सहज प्रवेश पालतू पशुओं के ए तो हमेशा ख़तरा बना ही रहता है, उसके दमख़ोर होने का डर भी कम नहीं होता। द्यासागर नौटियाल का ताज़ा उपन्यास *झुंड से छुड़ा* पर्वतीय जीवन में बाघ के आतंक के हाने वहाँ की जटिलताओं, जिजीविषाओं और नको जीतने के अदम्य साहस को पा लेने की था है। विद्यासागर नौटियाल इस आतंक को तीक रूप में इस्तेमाल करते हैं। बाघ भय का केत है, तो उसके समानांतर सरकारी व्यवस्था पटवारी, बड़े अधिकारी, मंत्री और समाज में न-बल के सहारे दबदबा बनाने वाले भी ामान्य जन के लिए डर के कम कारण पैदा हीं करते।

उपन्यास के केंद्र में एक गाँव है। जैसा कि हाड़ी गाँवों की संरचना होती है, वहाँ विकट हाड़ हैं, उनके बीच अँधेरा है। जंगल है। ीढ़ीनुमा खेत हैं। स्थानीय परंपराओं, भौगोलिक जटिलताओं के कारण एक कठोर जीवन शैली और उसी से तय होते विश्वासों तथा आत्म-विश्वासों से जीवन संचालित हो रहा है। बीच-बीच में उपन्यास स्थानीय इतिहास की पृष्ठभूमि में भी जाता है। इस जन-जीवन में किंवदंतियों, मिथकों और उनसे निर्मित एक अप्रमाणिक मौखिक इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। उनके निर्णयों और जीवन पद्धति में इनका भी अहम स्थान है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र दुश्मन है। उसे दुश्मन नाम उसकी माँ ने दिया है। क्योंकि उसके जन्म के समय ही उसके पिता का देहांत हो गया था। दुश्मन के पिता अच्छे निशानेबाज़ थे। अचूक निशाने वाले व्यक्ति का यहाँ के जीवन में बड़ा महत्त्व है। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण है। वह बाघ जैसे ख़ूँख़ार जानवरों को मार गिराता है। एक तरह से अपने समाज को भयमुक्त कराता है। पर उसका अपना जीवन हमेशा ख़तरे में रहता है। परिवार के लोग इसी ख़तरे के कारण उसके शिकारी कर्म को ज़्यादा पसंद नहीं करते। दुश्मन की माँ भी नहीं चाहती कि बड़ा होकर उसका बेटा अपने पिता की तरह शिकारी बने।

पर दुश्मन को संस्कार रूप में और अतीत के

क़िस्सों तथा पिता से जुड़े संदर्भों की बातों से शिकारी होने की ही शिक्षा मिली। अपने शिकारी कर्म की व्यावहारिक दृष्टि से उसने समझ लिया है कि बाघ का वध तो आतंक को मिटाने के तौर पर किया जाता है और हिरण आदि जानवरों का शिकार भोजन के लिए होता है। हिरण जैसे जानवरों का शिकार करने के लिए भी ध्यान रखा जाता है कि वह अपने झुंड में न हो। झुंड पर आक्रमण नहीं किया जाता। झुंड से बिछुड़े जानवर पर ही आक्रमण किया जाता है। वह सहज भी है और परंपरागत नियमों के अनुकूल भी। विद्यासागर नौटियाल इस अलिखित नियम के समानांतर व्यवस्था की उन प्रवृत्तियों को खड़ा कर देते हैं, जहाँ विरोध करने वालों की भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दे दिया जाता है। इसके लिए वे कलकत्ता के साम्यवादी आंदोलन को सामने रखते हैं। वहाँ से लौटा एक सिपाही हिम्मत सिंह अपने इस तरह के शौर्य की कहानियाँ दुश्मन को सुनाता है, तो वह अचंभित रह जाता है। शिकार के ऐसे नियम और ऐसे आदेश उसकी समझ से परे हैं। उसके लिए मनुष्य की हत्या— जिसे अपराध नहीं शौर्य और बहादुरी माना जा रहा हो, मनुष्य होने की पहचान के विपरीत है। वह पढ़ा-लिखा नहीं है, व्यवस्थागत नियमों और उन्हें बनाए रखने की सख़्तियों तथा उन्हें बदलने के विरोध से परिचित नहीं है। वह मनुष्य होने के मनुष्यता धर्म से बँधा है। उसके अवचेतन में कर्म विश्वास पुख़्ता स्थान बनाए हुए हैं। उन्हीं के तहत शिकार, वह भी जानवरों का, दो कारण से ही मान्य हो सकता है। एक अपनी और अपने समाज की रक्षा के लिए, दूसरा भोजन के लिए। ये दोनों कारण उसे उसकी भौगोलिक और आर्थिक स्थितियों ने बताए हैं। क्योंकि ये प्रकृति के नज़दीक हैं, तो मानव और मानवता विरोधी नहीं हो सकते।

गाँव का अपना भी एक व्यवस्थागत ढाँचा है। वर्ग-भेद और सरकारी तंत्र जैसी शक्ति को इतर साधनों से वश में कर कमज़ोरों शरणागत होने के लिए मजबूर करने के षड्य यहाँ भी हैं। पर उपन्यास का यह पक्ष अप्रत्य संरचनात्मक गठन में उतनी विश्वसनीयता न ला पाता जितना मनुष्य और प्रकृति के अंतर्संबं को व्यक्त करने में लाता है। यहाँ धनाढ्य व का व्यवहार और वार्तालाप एक कृत्रिमता लि हुए है। आरोपित लगता है। कथा को प्रवाह दे के लिए उनकी आवश्यकता आ पड़ी, तो वा और घटनाएँ मन माफ़िक़ रूप ले गए। व्यवह और कार्यकलाप में एक कठोर, हृदयहीनत स्वार्थपरता और मनुष्य होने के किसी भी गु तथा भावनात्मक प्रभाव का अभाव सहज प्रवृ का रूप नहीं हो सकता। उसके पीछे के ठो और स्वीकार्य कारणों का खुलासा होना भी ज़रू होता है।

श्रीधर प्रसाद नाम का धनाढ्य चाहता है कि दुश्मन उसके लिए शिकार कर लाए ताकि व अपने ही संबंधी की मृत्यु का जश्न मना सके दुश्मन इस मनुष्यता विरोधी काम में सहयोग दे से मना कर देता है। श्रीधर प्रसाद के लिए अ ज़रूरी हो गया है कि वह दुश्मन को सबक सिखाए। वह अपने सारे संपर्कों का इस्तेमाल कर दुश्मन की बंदूक़ ज़ब्त करा देता है।

इधर गाँव पर एक नया संकट आ गया है श्रीधर प्रसाद के घर के ठीक सामने के खेत में बाघ ने शांति नाम की वृद्धा की अकेली गाय मार दी है। बाघ का स्वभाव है कि वह शिकार को मारने के बाद छिप जाता है और रात के अँधेरे में शिकार को खाने के लिए आता है बाघ का गाँव की सरहद में आना ही सबके लिए ख़तरा है। उसके आदमख़ोर होने का डर है उससे मुक्ति का एक ही तरीक़ा है, उसको मार गिराना। सब जानते हैं यह काम सिर्फ़ दुश्मन कर सकता है। पर बंदूक़ के बिना दुश्मन भी

सहाय है।

अब श्रीधर प्रसाद के लिए ज़रूरी हो गया है वह दुश्मन की बंदूक़ वापस दिलवाने का प्रयत्न करे। दुश्मन के लिए अब भी मानवीय सरोकार अहम् है। वह सबसे पहले तो शांति की ...य के लिए पैसे दिलवाता है। फिर शुरू होता बाघ को मारने का अभियान।

बाघ मारने का अभियान उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। सबका सुझाव है कि पुलिस ...ली नौकरी से आए हिम्मत सिंह गोली चलाने विशेषज्ञ हैं तो दुश्मन को उन्हें भी साथ ले होना चाहिए। यहाँ से प्रशिक्षित और प्रकृति की चुनौतियों के अनुकूल स्वानुभव से मिली शिक्षा का अंतर सामने आता है। हिम्मत सिंह जिसने पुलिस में रहते हुए कई लोगों पर गोलियाँ चलाई हैं, शिकार के लिए बढ़िया बंदूक़, मयान, चार्ट आदि सभी कुछ चाहता है। इतने साधनों के बाद जब बाघ सामने आता है तो उसके होश उड़ जाते हैं। इसके विपरीत दुश्मन अपने अनुभवों से जानता है कि बाघ किधर से और किस समय आ सकता है। उस पर कब वार करना ठीक रहेगा। इसी अनुभव से वह बाघ को मार गिराता है। संदेश स्पष्ट है कि सबसे बड़ा साधन विवेक है जो परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने की क्षमता और साधन सुझा देता है।

चर्चित पुस्तक :

झुंड से बिछुड़ा : विद्यासागर नौटियाल; भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली; 2005; 80 रुपए

क्षितिज शर्मा के आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 100/2 ए, गांधी एक्सटेंशन, दिल्ली 110053, मो. 9873239129

बली सिंह

दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध

भय के विभिन्न रूप कोई काल्पनिक और अस्तित्ववादी नहीं हैं। ये उन स्थितियों से निर्मित हुए हैं जो भयप्रद हैं। यानी ये वास्तविक और ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक विसंगति से युक्त। कवि हरीशचंद्र पांडे के तीसरे कविता-संग्रह *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में दहशत एक केंद्रीय वस्तु के रूप में मौजूद है। कविताओं में भय या दहशत की अभिव्यक्ति हरीशचंद्र पांडे से पहले भी अनेक कवियों ने की है पर यह अभिव्यक्ति मुक्तिबोध, राजेश जोशी और देवी प्रसाद में असुरक्षा-बोध के रूप में हुई है वहीं मंगलेश डबराल की कविताओं में बढ़ती हिंसा की चिंता के रूप में और रघुवीर सहाय व अरुण कमल की कविताओं में बढ़ती अपराध-वृत्ति के रूप में। यह अलग बात है कि रघुवीर सहाय के यहाँ सत्ता द्वारा अपराधी या हत्यारे के संरक्षण पर बल दिया गया है (जैसे 'रामदास' कविता में) तो अरुण कमल के यहाँ अपराधी या हत्यारे ही सत्ता के अंग बने नज़र आते हैं ('हत्यारों को मिलता देखो राजपाट-सम्मान')। समकालीन कविता की भाव-परिधि का यह विकास है। इस भूमि पर यानी कविता की इस ज़मीन पर भाव-परिधि का और अधिक विकसित रूप हमें हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में देखने को मिलता है।

हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में इस बात की चिंता व्याप्त है कि क्रूरता, हिंसा और अपराध-वृत्ति को सुंदर और आकर्षक रूपों में ढाला जा रहा है। उसे सुंदर रूप प्रदान कर हमारे सौंदर्य-बोध का हिस्सा बनाए जाने की एक मुहिम-सी

जारी है। उनकी एक कविता है 'दुश्मन से छीने गए हथियारों की प्रदर्शनी'। 'साफ़-शफ़्फ़ाक़' कपड़ों पर एक से एक 'क़हर' बरपाने वाले हथियार सजाकर रखे हुए हैं। कवि महसूस कर रहा है कि *क्रूरता का भी अपना एक गुलदस्ता होता है / वर्गाकार / वृत्ताकार इतने भी मनभावक हो सकते हैं हथियार।* हथियारों को सुंदर रूप देकर हमारे सौंदर्यबोध को बदला जा रहा है। इसे आप अमानवीय कह सकते हैं लेकिन यह है तो एक तरह का सौंदर्यबोध ही। बाज़ार ऐसे सौंदर्यबोध को बढ़ावा देता है नित्य नए बदलाव लाकर। ''बाज़ार में इधर बड़े बदलाव हो रहे थे जल्दी-जल्दी।'' बाज़ार किसी भी चीज़ को बेचने के लिए बड़ा आकर्षक रूप दे देता है फिर चाहे वह क्रूरता हो, हिंसा हो, अपराध हो या युद्ध ही क्यों न हो। इराक़ पर अमरीका द्वारा किए गए आक्रमण को लोगों ने रात-रात भर जागकर बड़े चाव से देखा था जिसका 'सजीव' प्रसारण सी.एन.एन. ने किया था और जिसके बाद सी.एन.एन. चैनल की रेटिंग ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में उसका क़द बहुत बड़ा हो गया था। डब्ल्यू.डब्ल्यू. एफ़. यूँ ही लोकप्रिय नहीं है। बाज़ार ने हमारा सौंदर्यबोध बदला है।

कवि ने देखा है कि दहशतज़दा में एक अद्‌भुत चमक है और आकर्षक मुस्कान भी। उनकी इस कविता का शीर्षक ही है 'दहशत'। *पारे सी चमक रही है वह / मुस्कुराते होंठों के उस हल्के दबे कोर को तो देखो / जहाँ से रिस रही है दहशत।* क्रूरता की इस सत्ता या ताक़त को सुंदर दृश्य एक ही स्थिति में लगता है जब *रगों में दौड़ने के बजाय / ख़ून गलियों में दौड़ने लगता है।* कवि के अनुसार यह 'टोटे' में रहने वाली एकांगी 'आँख' है जिसे एक ही तरह के दृश्य देखना पसंद है। हरीशचंद्र पांडे की *तद्‌भव,* (अंक-14, अप्रैल 2006) में छपी कविता इस सौंदर्यबोध के एकांगीपन को उजागर करती है :

कितने टोटे में है वह आँख / जो केवल एक स[...] ही दृश्य देखना चाहती है / दृश्यों से लबाल[ब] इस दुनिया में। यह बात सिर्फ़ दहशत पैद[ा] करनेवाली ताक़तों पर ही लागू नहीं होती है वरन् उन सब दृष्टियों पर भी लागू होती है जो समाज को, राष्ट्र को, देश को, विश्व को एक-[...] जैसा रूप देना चाहती हैं। वे सब भी उतने ही एकांगीपन की शिकार हैं जितना कि क्रूर ताक़तें। ये भी एक तरह से क्रूरता से ही निर्मित सौंदर्यबोध है जिसका अपना-अपना शास्त्र है। सांप्रदायिक शक्तियों का सौंदर्यबोध भी ऐसा ही है जिसे कवि ने अपने कविता-संग्रह में जगह नहीं दी है—बावजूद इसके कि यह आज का एक बड़ा प्रश्न है।

अमानवीय सौंदर्यबोध हिंसा के लिए भी सुंदरता को ही चुनता है। इसका संकेत कवि हरीशचंद्र पांडे के तीसरे कविता-संग्रह यानी *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में तो है ही, उनके दूसरे कविता-संग्रह *एक बुरूंश कहीं खिलता है* में भी है, जिसके फ़्लैप पर श्री राजेंद्र कुमार ने लिखा है कि सुंदरता का अर्थ अपनी कोमलता में ही नहीं खुलता, भीषण क्रूरता में भी खुलता है। जब हम देखते हैं कि 'क़साई छाँटता है एक सुंदर बकरी'। क़साई एक सुंदर बकरी उसको नष्ट करने के लिए छाँटता है। यानी एक प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट करने वाली दृष्टि है यह। *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* संग्रह की कविताओं में कवि इससे आगे बढ़कर इस बात को भी रेखांकित करता है कि यह दृष्टि प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट कर एक कृत्रिम सौंदर्य का सृजन करती है। 'राजपथ के पेड़' और 'बैठक का कमरा' इसी बोध की कविताएँ हैं। राजपथ के पेड़ कहीं भी उग आनेवाले पेड़ों से एकदम अलग हैं। 'ये उत्सवों में रोपे जाते हैं'। इनके पत्ते गिरे हुए दिखाई नहीं पड़ते और 'थोड़ी-सी बढ़ गई शाख काटकर अलग कर दी जाती है तुरंत'। इन पर

लोगों का अधिकार नहीं होता—स्वाभाविक लगाव नहीं होता 'जंगल के सूफ़ी पेड़ों की तरह'। डर के मारे लोग इनके पास नहीं जाते क्योंकि ये भीड़ के पेड़ नहीं।' इसलिए *पैर नहीं चलते इनकी छाँह तले / पहिए चलते हैं।* यानी यह निर्मित कृत्रिम सौंदर्य न सिर्फ़ पेड़ों के स्वाभाविक विकास को नष्ट करता है वरन् लोगों के उनसे स्वाभाविक संबंध को भी ख़त्म करता है। यही नहीं, यह लोगों के प्राकृतिक अधिकारों को छीनकर उन्हें भयग्रस्त भी करता है।

'बैठक का कमरा' भी ऐसा ही निर्मित किया गया एक कृत्रिम सौंदर्य है जो 'निष्प्राण मुस्कुराहट लिए' रहता है। वह 'कमल-सा खिला हुआ' है लेकिन यह सारा सौंदर्य 'भीतर के कमरों की क़ीमत पर ही' हासिल किया गया है। लोग यहाँ अपने स्वाभाविक रूप में आने से डरते हैं। इस 'साफ़-सुथरे संभ्रांत' कमरे में उन्हें अपने सुख-दुख को अभिव्यक्त करने का भी हक़ नहीं है। उनका यह प्रकृत अधिकार भी इस बैठक के कमरे ने छीन लिया है : *जो आए, बाहर आँसू पोंछ के आए / हँसी दबा के / अदब से।* दहशत केंद्रित इस कृत्रिम अमानवीय सौंदर्यबोध में छीनने-हथियाने पर बड़ा बल है। कहीं वह सीधे ज़मीन हथिया लेता है तो कहीं साधारण लोगों का सुकून। इसके द्वारा 'हथियाई गई ज़मीन' बिना किसी प्रयास के फूलों और फलों से लद जाती है। कवि के अनुसार : *वसंत आ जाता है वसंत के पहले / ऋतुएँ सारी परवान चढ़ सकती हैं एक बाड़ के भीतर।* जब सारी ख़ुशहाली एक ही जगह केंद्रित हो तो अन्य लोगों का—ख़ासतौर से साधारण लोगों का जीवन तो अभावग्रस्त और अनिश्चितता से भरा होगा ही। काम न मिलने की अनिश्चितता और डर से 'लेबर चौराहे पर खड़े मज़दूर' रोज़ गुज़रते हैं। इसी तरह लड़कियाँ अपने कई बार 'रिजेक्ट' किए जाने से भयाक्रांत हैं। चाहे मज़ाक़ में ही सही, जैसा कि कविता में बताया गया है, लड़कियों की परस्पर बातचीत का यह एक मुख्य हिस्सा बन गया है और

मानसिकता का भी। निर्मित हुए कृत्रिम किंतु अमानवीय सौंदर्यबोध ने तरह-तरह के प्रतिमान लागू कर लड़कियों के जीवन का चैन छीन लिया है।

दहशत केंद्रित सौंदर्य को गंभीरता से न लेने वालों पर, उसको अनदेखा करने वालों पर कवि ने तीखा व्यंग्य-प्रहार किया है, क्योंकि इसने लोगों का सुख-चैन छीनकर उन्हें भयग्रस्त बना दिया है और तमाम समृद्धि को एक छोटे-से दायरे में सीमित या क़ैद कर दिया है। इसके बावजूद कुछ लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं जैसे कि कुछ घटित ही नहीं हो रहा है : *इतने निरपेक्ष विपर्यस्त और विद्रूप कभी नहीं थे हमारे बिंब / कि पृथ्वी पर हो सबसे संहारक पल का रिहर्सल / और कहा जाए। बुद्ध मुस्कुराए हैं*। यह विसंगति है। भय और दहशत भी एक विसंगति है, लेकिन ऐतिहासिक। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कथन एकदम सही है जो उन्होंने हरीशचंद्र पांडे के दूसरे कविता-संग्रह के संबंध में कहा था, ''हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में आज की ऐतिहासिक विसंगति की समझ और उसकी वेदना व्यक्त हुई है।'' (*जनसत्ता*, 20 जनवरी 2002) एक अन्य विसंगति की ओर कवि हरीशचंद्र पांडे ने अपने ताज़ा कविता-संग्रह यानी *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में हमारा ध्यान खींचा है कि रचना यानी कविता, कहानी और यहाँ तक कि सर्वशक्तिमान शब्द भी दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध के तात्कालिक परिणामों को दूर नहीं कर सकते। वे ऐसा करने में अक्षम हैं।

कविता के संबंध में कवि आशंका व्यक्त करता है कि *जितने में छपी है कविता / क्या उतना गंदा पानी / छँटा होगा ?* कहानी के संबंध में तो वे एकदम स्पष्ट हैं कि *मनोहर को कहानी भर नहीं दे पाया मैं कोई / आप किसी को अपने रचना-संसार में लाएँ / और कोई काम न दे पाएँ / कितनी लज्जा की बात है।* यही हाल शब्दों का है। तमाम कोशिशों के बावजूद 'यहाँ' शब्द आटे की चक्की के पास तक लोगों को नहीं पहुँचा पाता— *'यहाँ' में कहाँ वह कुव्वत / कि ग्राहक को ठीक-ठीक पहुँचा सके चक्की तक / माना कि बड़ी सामर्थ्य है शब्द में।* माना कि रचना में अब ताक़त नहीं बची है कि तात्कालिक परिणामों को दूर कर सके, लेकिन उसमें ऐसी शक्ति अभी भी है कि वह एक ऐसा मानवीय सौंदर्यबोध निर्मित करने की कोशिश करे जिससे कि दहशत केंद्रित अमानवीय और कृत्रिम सौंदर्यबोध का प्रतिकार हो सके।

हरीशचंद्र पांडे ने अपनी कविताओं में दृश्यों की एकांगिता का प्रतिकार करते हुए जीवन के विविध दृश्यों की सृष्टि की है। इन दृश्यों में जन-साधारण के विभिन्न रूपों, उनके दुख-दर्दों, उनके जीवन-उल्लास के साथ-साथ उनके जीवन से जुड़ी विभिन्न चीज़ों जैसे साईकिल, बस, खिलौने, झोला और पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों व नदी, झरने, बूँद आदि पानी के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं जिससे एक भरे-पूरे मानवीय सौंदर्यबोध की निर्मित्ति होती है। इस निर्मिति में जन-साधारण को और स्वस्थ मानवीय संबंधों को ख़ास महत्त्व दिया जाता है। यह महत्त्व कवि हरीशचंद्र पांडे ने अपनी कविताओं में दिया है। उन्होंने अन्य समकालीन कवियों की तरह ही जन-साधारण को अपनी कविताओं में पर्याप्त जगह दी है।

प्रगतिशील कवियों का मनुष्य जहाँ संगठित और सचेत था वहीं इधर के कवियों का मनुष्य असंगठित और अचेत है। वह असंगठित क्षेत्र से जुड़ा हुआ एक व्यापक तबका है। हरीशचंद्र पांडे के यहाँ भी यह तबका पर्याप्त मात्रा में मूर्त हुआ है जिसमें स्त्री, बच्चे, बूढ़े, दिहाड़ी मज़दूर और छोटे-मोटे कामगार हैं। उन्होंने कई कविताएँ स्त्री-जीवन पर लिखी हैं जैसे 'औरत', 'कैलेंडर पर औरत', 'साड़ी', 'पगली' इत्यादि। इन

कविताओं में स्त्री की पराधीनता का रेखांकन । इसको दूर करने के लिए वे स्वस्थ संबंधों की माँग करते हैं : *जहाँ छोड़ दूँ मैं / तुम सिरा थाम लो / जहाँ तुम छोड़ो / मैं थाम लूँ / देखो कट जाएगा जीवन।* लेकिन अमानवीय सौंदर्यबोध भरसक ऐसा होने नहीं देना चाहता। वह तो खाई को बनाए रखना चाहता है, इसलिए वह उस 'वाक्य' को जिसका 'एक-एक शब्द गुँथा हुआ है', 'अक्षर-अक्षर' तोड़ने का 'षड्यंत्र' करता है : *क्योंकि उस वाक्य अर्थ / उस गहरी खाई को / पाटने में लगा था।* ('वाक्य का अर्थ') यानी स्वस्थ मानवीय संबंध अमानवीय, कृत्रिम और दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध का प्रतिकार है जिसकी प्रस्तावना कवि अपनी कविताओं में करता है। यही नहीं, इसका प्रतिकार कवि अपनी कविताओं में निहित कलात्मक सौंदर्य के माध्यम से भी करता है।

हरीशचंद्र पांडे के यहाँ ऐसे विविध दृश्यों की निर्मिति है जिनमें अनेक रंग, रूप, स्वाद, आकार हैं। नदी की कल-कल ध्वनि है, चिड़ियों की चीं-चीं है और टूटती हरी घास की चर्र-चर्र है। उनके यहाँ कोई एक ही रूप, एक ही रंग, एक ही स्वाद और एक ही ध्वनि के एक-जैसे दृश्य नहीं हैं। ये दृश्यों की एकरसता, एकांगिता को तोड़ते हुए एक स्वस्थ विविधतामय सौंदर्यबोध को जगाने का प्रयास करते हैं। इसलिए हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में सृजित दृश्यों में विभिन्न कलाओं का संश्लेष पाया जाता है—ख़ासतौर पर चित्रकला और संगीत का— *साँझ जलतरंग-सी बज रही है* ('नैनीताल')। और *अभी-अभी हुई है हवा में हल्की-सी हरकत / पत्तियाँ पत्तियों से शाखाएँ शाखाओं से / अपनी ठुड्डियाँ अपने कंधे अलगाने लगे हैं / हवा संगीत होने लगी है धीमे-धीमे / झरने तानपूरा होने लगे हैं।* ('जंगल में') विभिन्न कलाओं के इस संश्लेष से भी कवि एकांगी और कृत्रिम सौंदर्यबोध को तोड़ने का प्रयास अपनी कविताओं के ज़रिए करता है जिससे कि एक मानवीय सौंदर्यबोध विकसित किया जा सके।

चर्चित कविता-संग्रह :
भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं : हरीशचंद्र पांडे; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 90 रुपए

बली सिंह के समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 109, मनचाहत अपार्टमेंट्स, 10/42, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो. 9818877429

पल्लव

पूछो कि मुद्दआ क्या है?

हिंदी की प्रगतिशील आलोचना और मार्क्सवादी आलोचकों के बीच मैनेजर पांडेय की उपस्थिति ऐसे आलोचक के रूप में है जिन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण और परंपरा के पुनर्मूल्यांकन में अपूर्व योगदान किया है। पांडेय आलोचना-कर्म को आत्मसंघर्ष से गुज़रने की संज्ञा देते हैं और उन्हें आलोचना को रायजनी या रायजनी के विस्तार से बचाने का जो मार्ग दिखाई देता है वह सैद्धांतिक सवालों से टकराकर ही संभव लगता है। उनके संवादों में कैसी भी उलझन या ऊहापोह नहीं है, वह बेचैनी ज़रूर देखी जा सकती है जो उन्हें समकालीन रचनाशीलता के साथ हिंदी समाज की जड़ता से टकराने के लिए प्रेरित करती है। उनसे पिछले पाँच-छह सालों में लिए गए दस साक्षात्कारों का संकलन है— *मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ*

आलोचना के क्षेत्र में इधर उत्तर आधुनिकता और दूसरे क़िस्म के ऐसे विचारों का आरोपण किया जा रहा है जो यथार्थवाद को अनावश्यक मानते हैं। पांडेय ऐसे में यथार्थवाद की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए कहते हैं, "असल में यथार्थवाद रचनादृष्टि से भी एक क़दम आगे बढ़कर एक व्यापक अर्थ में दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धांत भी है। मैं राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उसकी थोड़ी चर्चा करना चाहता हूँ कि यथार्थवाद यह मानता है कि मनुष्य समाज की वास्तविकता को जान सकता है और उसमें यह भी निहित है कि वह यह जान सकता है, समझ सकता है इसीलिए उसको बदल भी सकता है। और अगर उसको बदल सकता है तो फिर इसीलिए उसका संबंध राजनीति से भी बनता है।...यथार्थवाद केवल साहित्यिक अवधारणा नहीं है वह एक राजनीतिक अवधारणा भी है। समाज को बदलने की चिंता से जो मुक्त है या समाज को बदलने की चिंता को जो ख़तरनाक मानते हैं वे ज़ाहिर है कि यथार्थवाद को भी ख़तरनाक मानेंगे और इसीलिए उत्तर-आधुनिकतावादी जो पूँजीवाद के वर्तमान को ही मानव समाज का स्थायी भविष्य मान चुके हैं, वे यथार्थवाद को हर तरह से अस्वीकार करते दिखाई देते हैं।" (पृ. 27)

ऐसे में आलोचना के दायित्व को भी पुनर्परिभाषित करते हुए पांडेय जो प्रस्थान बिंदु देते हैं वह नया नहीं है लेकिन धुँधला रहे वातावरण को साफ़ करने के लिए इसका दुहराव ज़रूरी है : "आज के समय में निर्भीक होकर सच कहना आलोचना का पहला दायित्व है। रचना और समाज दोनों के लिए सच कहने का साहस रखने वाली आलोचना ही ज़रूरी और सार्थक होगी। आज के दौर में आलोचना और आलोचनात्मक चेतना का अस्तित्व संकट में है, इसीलिए आज आलोचना के लिए यह ज़रूरी है कि वह कट्टरतावाद और भूमंडलीकरण के नाम पर फैलाए जानेवाले झूठ और भ्रमों से स्वयं लड़े और दूसरों को भी लड़ने की प्रेरणा दे। संघर्ष ही आलोचना का स्वाभाविक धर्म है।" (पृ. 66)

वैचारिक धरातल पर मार्क्सवाद के प्रति उनके भीतर कोई संशय नहीं है। श्याम आनंद को दिए गए साक्षात्कार में वे कहते हैं, "मैं एक बात और ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि समाज में जब तक किसी भी तरह का शोषण, दमन और उत्पीड़न है तब तक मार्क्सवाद के आलोचनात्मक और मुक्तिधर्मी प्रेरणाओं का महत्त्व समाप्त नहीं होगा।" (पृ. 115) लेकिन विचारधारा के प्रति पांडेय जी कोई श्रद्धाभाव नहीं रखते इसलिए वे व्यवहार में आए विचलनों को साफ़ देख पाते हैं। वे कहते हैं, "एक क्रांतिकारी विचारधारा का व्यवहार में विकृत होना ऐसी स्थिति है जो केवल मार्क्सवाद के साथ लागू नहीं हुई। इसके पहले भी अनेक मुक्तिधर्मी विचारधाराएँ व्यावहारिक रूप लेते समय अनेक कारणों से विकृत होती रही हैं और बाद के दिनों में बार-बार उन विकृतियों से मुक्त करके उनका संस्कार और सुधार करते हुए उन्हें नए रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। मैं मार्क्सवाद को भी ऐसे संस्कार और सुधार की प्रक्रिया से परे नहीं मानता।" (पृ. 113)

पांडेय जी ने अपने समकालीनों पर भी इस पुस्तक में पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। अरुण देव को दिए गए साक्षात्कार में समकालीनों ही नहीं बल्कि बीसवीं सदी की हिंदी आलोचना पर बात करते हुए उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, विजयदेव नारायण साही, मुक्तिबोध, अज्ञेय, महादेवी वर्मा, नामवर सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी के आलोचना कर्म पर विशद चर्चा की है। वहीं रामविलास शर्मा पर रौशन से की गई बातचीत में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है जो वस्तुतः पांडेय

ो की आलोचना चिंता का केंद्र भी है। यही त इस पुस्तक के लगभग प्रत्येक साक्षात्कार बार-बार निकलती रही है कि "आलोचना ो वैचारिक होना चाहिए बल्कि सामाजिक होना ाहिए।" (पृ. 132) अर्थात् समाज की चिंता चार की चिंता से ऊपर होनी चाहिए और इसी सौटी पर उन्हें रामविलास जी से असहमति । वे कहते हैं, "रामविलास जी सामाजिक कास और इतिहास की जीवंत प्रक्रिया पर क से ध्यान दिए बग़ैर अपनी कुछ मान्यताओं र धारणाओं को विकसित करते रहे हैं, किताबों आधार पर। इससे इतिहास की गति के साथ नके चिंतन की गति का मेल कई बार नहीं ठता। उससे बहुत सारी परेशानियाँ पैदा होती ।" (पृ. 131)

आलोचना को व्यापक सभ्यता समीक्षा मानने-मझने का ही परिणाम है कि पुस्तक में वे हिंदी माज की जड़ता, कला और धर्म जैसे विषयों र भी विस्तार से बात करते मिलते हैं। इधर स्कृति और धर्म के लगातार घालमेल पर उनकी पष्ट मान्यता किसी भी पाठक को विवेकवान नाने के लिए उपयोगी है। वे यहाँ दोनों का भेद पष्ट करते हैं : "संस्कृति और धर्म में मेरे लिए नियादी फ़र्क़ यह है कि संस्कृति मनुष्य की चना है और धर्म का काम ईश्वर के बिना नहीं लता है। जबकि मेरे विचार से संस्कृति के संग में ईश्वर की कभी कोई भूमिका नहीं रही । मनुष्य ने अगर दुनिया में कोई महत्त्वपूर्ण ीज़ रची है तो वह है संस्कृति। इसलिए संस्कृति ौर धर्म को हाल के दिनों में जो पर्यायवाची ानने की प्रवृत्ति है वह अत्यंत ख़तरनाक भी है ौर ग़लत भी।" (पृ. 146)

धर्म और नैतिकता को पर्याय कहकर सेक्यूलर ूल्यों की बहुत आलोचना की जाती है कि र्मनिरपेक्ष होना अंततः धर्म के महान मानवीय ूल्यों के विरुद्ध जाता है। रामाज्ञा राय शशिधर को दिए इसी साक्षात्कार में पांडेय जी ऐसे कुतर्कों का बेहद स्पष्ट प्रत्याख्यान करते हैं : "जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, नैतिकता का संबंध समाज से है, सामाजिक स्थितियों से है और समाज के, मनुष्य के व्यवहार से है तथा मानवीय गुणों से है। मेरे लिए एक आदमी जो समाज में न्याय, स्वतंत्रता, सहृदयता, मनुष्यता का पक्ष लेता है वही नैतिक है। वह नहीं, जो किसी धर्म से जुड़ा हुआ है और धर्म की घोषणा करते हुए भी समाज में ईमानदारी, सच्चाई, न्याय, स्वतंत्रता आदि के लिए न कुछ करता है बल्कि इन सब गुणों के विरुद्ध जाता है।" (पृ. 148)

अंगद तिवारी से हिंदी समाज की स्थिति पर बात करते हुए पांडेय जी ने हिंदी समाज की जड़ता के कारणों की तलाश की है। पहले तो वे वर्तमान स्थिति का खुलासा कर कहते हैं, "हिंदी समाज जिसे हम लोग कहते हैं, वह इतना जटिल समाज है कि उसमें आदिम अवस्थाएँ भी मौजूद हैं, मध्यकालीन अवस्थाएँ भी मौजूद हैं और जहाँ-तहाँ आधुनिकता के टापू भी मौजूद हैं। इसलिए यदि संपूर्ण हिंदी समाज और उसकी मानसिकता पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि यहाँ आधुनिकता आते-आते रह गई है।" (पृ. 184) इस हस्तक्षेप पर कि मध्यकालीन सामाजिक संरचना हिंदीतर समाजों में भी मौजूद है। वे उत्तर देते हैं कि "यह सही है लेकिन वहाँ विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण वह कमज़ोर पड़ गई है। वहाँ वह सबऑर्डिनेट हो गई है। वहाँ सभी चीज़ें जाति से नहीं तय होती हैं। हिंदी क्षेत्र में तो राजनीति से लेकर साहित्य तक जाति से तय होने लगा है।" (पृ. 185) इसी के साथ भारत की दूसरी खोज की ज़रूरत का खुलासा भी पांडेय करते हैं : "हिंदी कविता में भारतीय कविता की खोज, भारतीय उपन्यास की खोज, भारतीय कहानी की खोज अर्थात् भारत की दूसरी खोज की प्रवृत्ति

शुरू हो गई है। भारत की पहली खोज उपनिवेशवाद और विदेशी संघर्ष के दौरान हुई थी और उसका उद्देश्य देश की स्वाधीनता, लोकतंत्र और देश की प्रगति करना था। लेकिन अब वह उद्देश्य बदल गया है। अब भारत की अनन्यता सिद्ध करने के लिए भारतीयता की खोज होती दिखाई देती है और इस तरह की प्रवृत्ति राजनीति की ओर से विचार-विमर्श की ओर आ रही है।'' (पृ. 184)

दलित लेखन के हिंदी में जो प्रमुख आलोचक समर्थक-प्रशंसक हैं उनमें पांडेय जी सर्वोपरि हैं, वे इसका कारण दिनेश राम को दिए साक्षात्कार में स्पष्ट करते हैं : ''मैंने जब दलित साहित्य का समर्थन किया और आज भी करता हूँ तो इससे मेरी सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि उसके माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी, यातना और आज़ादी की आकांक्षा सशक्त और प्रभावशाली रूप से व्यक्त हो तथा भारतीय समाज के सामने आए।'' (पृ. 167) इससे पहले *मेरे साक्षात्कार* शृंखला की अपनी पुस्तक में पांडेय जी ने दलित साहित्य को भारतीय समाज के विकास के लिए भी आवश्यक बताया था। यहाँ दलित लेखन पर कुल तीन साक्षात्कारों में पांडेय जी ने कई मिथकों को साफ़ किया है तथा दलित लेखन के प्रति पूर्वाग्रहों को ठीक किया है।

इस पुस्तक का महत्त्व पांडेय जी के चिंतक को और व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने के साथ विभिन्न जटिल विषयों पर आत्मीय, बेबाक और स्पष्ट विचारों की स्थापना के लिए रहेगा। सच्चा साक्षात्कार का प्राण होती है और कहना न होगा इस कसौटी पर ये साक्षात्कार पूरे खरे हैं साक्षात्कार विधा की दृष्टि से पहला साक्षात्का 'समय के साथ सार्थक संवाद' विशेष स्मरणीय है जहाँ अरुण प्रकाश की तैयारी और बातचीत को गहराई में ले जाने की नई प्रतिभा दिखा देती है, अन्यथा वे पाठकों के लिए कहानीका ही तो थे। बातचीत का रस और बारीक विश्लेषण की दृष्टि से उक्त साक्षात्कार बेहद पठनीय है प्रस्तावना में पांडेय जी ने इन्हें साक्षात्कार की बजाय संवाद कहने का आग्रह किया है। वे कहते हैं कि जहाँ साक्षात्कार में छोटे-बड़े का भाव उसे अलोकतांत्रिक बनाता है वहीं संवाद में समानता की संभावना और संप्रेषण की कामना होती है। संक्षेप में यह पुस्तक आलोचना और व्यापक विचार से सरोकार रखनेवाले प्रत्येक पाठक के लिए अनिवार्य संदर्भ ग्रंथ है और पांडे जी की आलोचनात्मक कृतियों की तरह इसका महत्त्व भी लंबे समय तक बना रहेगा।

चर्चित किताब :

मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ : मैनेजर पांडेय; य पब्लिकेशंस, X/909, चाँद मोहल्ला, गांधी नगर, दिल्ली 2006; 285 रुपए

पल्लव के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 17, ग्लास फ़ैक्ट्री, सुंदरवास, उदयपुर-313001, मो. 09414 732258

विभिन
स्पष
सच्चा
होग
रे हैं
ात्का
रणी
तची
दिखा
नीका
श्लेषण
य है
र क
है।
ड़े क
संवा
कामन
ा औ
प्रत्ये
पांडे
इसक

य; य
दिल्ली

दयपुर

पाठांतर

की पत्रिका के अंक नियमित रूप से मिल । इनमें निखार है। इस अंक में तेलुगु उपन्यास *वता* बहुत अच्छा है।

कांत, इलाहाबाद

र-दिसंबर 2006 का अंक मिला, संपादकीय अच्छा लगा। प्रेमशंकर रघुवंशी की कविता ी लगी। नरेश मेहन की 'घर, पागलपन', जायसवाल की 'सच कहना, जबकि तुम', की 'बेटी आएगी, धीरे-धीरे' एवं तेजराम की 'लाल कोट', बहुत अच्छी लगी। न्न भाषाओं की अनूदित कहानी, कविताओं ढ़कर अच्छा लगता है कि अन्य भाषाओं में हिंदी के अलावा अच्छा लिखा जा रहा है।

र सक्सेना

कालीन भारतीय साहित्य साहित्य संबंधित ऐसी पत्रिका है जिसमें भारतीयता तथा कता में एकता का साहित्य आयाम प्रस्फुटित है तथा हिंदी के विकास में सभी साहित्यिक काओं में अव्वल दर्जा प्राप्त कर चुकी है। हित्य प्रेमियों की जिह्वा की शक्कर है यह का।

वी. सुब्रह्मण्यम्, नंदीग्राम, आंध्र प्रदेश

पकी पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* अंक 130 में एक रचना पढ़ी 'ललक एक क की'। इसे आपने हास्य-व्यंग्य के नाम छापा है—लेकिन इसमें क़तई भी न हास्य न व्यंग्य। उर्दू के खाते में लिखे और छापे वाले व्यंग्य ज़्यादातर इसी तरह निष्प्रभावी रहते हैं। इनमें हिंदी व्यंग्य की तरह न तो अपने समय की पकड़ होती है और न समकालीन व्यवस्था की समीक्षा होती है। केवल मस्ती में लिखा गया एक वृत्तांत होता है जो भाषायी तौर पर उतना लज़्ज़तदार भी नहीं होता। आपकी पत्रिका अच्छी है, कलेवर और भी अच्छा है, कमी है तो बेहतर व्यंग्य रचना छापे जाने की। आप उसे पूरा करेंगे।

आर.के. राव, भिलाई नगर

समकालीन भारतीय साहित्य का जनवरी-फ़रवरी 2007 अंक मिला। उत्कृष्ट साहित्य से दीप्त। दो सौ पृष्ठो में क्या-क्या दे दिया गया। *भू देवता* (केशव रेड्डी) उपन्यास एक महान कृति है। भारतीय कृषक जीवन की पराजय गाथा में भी जयघोष सुनाई देता है। पंच महाभूत कथानायक के पारिवारिक सदस्य हो गए हैं। चराचर, जड़चेतन इस भू देवता के कुटुंबी हैं। नायक बक्कि रेड्डी कृषक जीवन ही नहीं, राष्ट्रजीवन की अस्मिता का भी प्रतिनिधि बन गया है। इस रचना को पढ़ने के बाद किसानों के प्रति सरकारी तंत्र अपनी दृष्टि अवश्य बदलेगा। क्रूरताएँ दूर होंगी। संपादक ने यह रचना देकर हिंदी कथाकारों के समक्ष एक चुनौती भी प्रस्तुत कर दी है। हिंदी में इन दिनों इतना ऊँचा देखने को नहीं मिल रहा है।

श्रीकांत उपाध्याय, पुणे

इस बार की रचनाओं में तेलुगु के केशव रेड्डी का *भू देवता* ऐसा उपन्यास है जिसे कोई भी पढ़ेगा, अच्छा लगेगा और पूरा पढ़ेगा। वंदना देवेंद्र की कहानी 'छाया भय' भी अच्छी लगी। रामबक्ष

का 'भारतेंदु हरिश्चंद्र : इतिहास चिंता' ने अधिक प्रभावित किया। पृ. 31 पर उन्होंने कुरान शरीफ़ का हिंदी में अनुवाद किया और 'कवि वचन सुधा' में उसका विज्ञापन भी किया। पढ़ा तो याद आया कि उन्होंने कुरान शरीफ़ का तर्जुमा हिंदी में करने की कोशिश की मगर पूरा न हो सका। अंग्रेज़ों से लड़ने की बात उन्होंने कही है जिसे आगे चलकर गांधी और अन्य राष्ट्रप्रेमियों ने लड़कर भारत को आज़ाद कराया। यदि रामपुर का नवाब देश के साथ ग़द्दारी नहीं करता तो हमारा देश नब्बे साल पहले 1857 में आज़ाद हो गया होता। उनकी जन्म और मृत्यु तिथि पढ़कर नमन करता हूँ।

सपना लंबी उम्र का पल पल मरना होगा।
कम जीकर ज़्यादा जिए दुनिया में कुछ लोग।

भगवानदास ऐजाज़, बलजीत नगर, नई दिल्ली

बीच के कुछ अंतराल के बाद अंक 127 से पुनः *समकालीन भारतीय साहित्य* से जुड़ गया हूँ। तीर्थंकर विश्वास के चित्रों में नयापन है। जावेद अख़्तर का व्याख्यान अच्छा लगा। इसे पढ़ना पुनश्चर्या जैसा रहा। प्रगतिशील आंदोलन की साहित्य में युगांतरकारी भूमिका रही है। यह हाशिए पर पड़े आम आदमी के दुख-दर्द, आशा-आकांक्षा तथा उसके सपनों के साथ एकाकार होने एवं सांप्रदायिकता, नस्लवाद तथा प्रतिगामिता को पहचानने की शक्ति देता है। रेणु पर ज्योतिष जोशी का आलेख उनके रचनाकर्म को समकालीन विमर्शों के साथ देखने तथा समझने के सूत्र देता है। राजी सेठ की 'कटा हुआ कमरा', सुरेंद्र तिवारी की 'रंग अधूरे' तथा खड़कराज गिरी की 'आख़िरी ठौर' कहानियों ने प्रभावित किया। मुहम्मद अलवी के अलावा हिंदी कविता खंड में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, फूलचंद मानव तथा हेमंत कुकरेती की कविताएँ अच्छी लगीं। पारिभाषिक शब्दावली पर आपका संपाद रोचक है।

दिनेश कर्नाटक, रानीबाग, नैनीताल

समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 129 प प्रसन्नता हुई। अंक सुदर्शन है। गेटअप और व दोनों दृष्टियों से। संपादक मंडल को बधाई संपादन कौशल के लिए मुक्तकंठी प्रशं आमुख रचना-कर्म के प्रशिक्षण की वका करता है, जो बहुत जायज़ है। इस दिश प्रभावी कार्य योजना बनाकर कार्य करना व की ज़रूरत को पूरा करना है। यह एक स पहल होगी। सरकार और स्वैच्छिक संग मिलकर इसे अंजाम दे सकते हैं। पत्रिका अ विधाओं—आलेख-कविता (राजस्थानी, पंज मराठी, उर्दू और हिंदी) कहानी (हिंदी, गुज एवं कन्नड) उपन्यास (तेलुगु) तथा मूल्यांक की स्तरीयता के लिए भी सराहनीय है। सुविख कवि, समीक्षक और कथाकार प्रो. मैनेजर पां का आलेख 'प्रेमचंद और बिहार' ज्ञानवर्धक श्री एन. श्रीधरन ने तमिल की नई कविता विषय में अभिव्यक्ति की जटिलता पर स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है, वह भारत की अ भाषाओं की नई समकालीन कविता पर भी ल होता है। श्री रामवृक्ष जी ने भारतेंदु युग में इति के निर्णायक महत्त्व का उल्लेख किया है। इन स्थापना है कि भारतेंदु की इतिहास चिंता चेतना उन्हें अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध ज़बर्द वैचारिक आधार प्रदान करती है।

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' वरिष्ठ और सुपरि रचनाकार हैं। 'मैं लुगाई...' नारी उत्पीड़न व्यथा है। देश की दशा को मादा बिच्छू मा आत्मघाती प्रवृत्ति का द्योतक है। अपना नि सत्व खोकर भीड़ का हिस्सा बनना विडं पूर्ण है : स्यात् नियति भी हो। श्री केशव रेड्डी

भू देवता मार्मिक है। मूल्यांकन में आठ कृतियों का परिचय और समीक्षा है। यह भाग पाठक को समसामयिक कृतियों और कृतिकारों से सुपरिचित कराता है। पत्रिका में 'लोक साहित्य' को स्थान देने से आयाम-विस्तार होगा। ऐसी मेरी मान्यता है।

डॉ. भगवान सहाय शर्मा, अंबाह, मुरैना, मध्य प्रदेश

आपका जनवरी-फ़रवरी 2007, अंक 129 मिला। आकर्षक सजावट के साथ अच्छा साहित्य। कई अंक पढ़ता हूँ—साहित्यिक पत्रिकाओं का स्तर एक चिंतनीय विषय है। जिन पत्रिकाओं का नाम बड़ा है—उनका स्तर गिरा है। इस स्थिति में आपकी पत्रिका ने अपना संतुलन सँभाल कर रखा है। धन्यवाद। एन. श्रीधरन का लेख 'अभिव्यक्ति की जटिलता और तमिल की नई कविता' अच्छा लगा। जो बात तमिल कविता की है वही अन्य सभी भाषाओं की कविता की। मानवीय अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है कविता। इस अंक की अरुण शीतांश, प्रवीण भारद्वाज, तरसेम गुजराल की कविताएँ अच्छी लगीं।

सुरेश नारायण कुसूंबीवाल, जलगाँव, महाराष्ट्र

निवेदन

1. रचना की मूल प्रति अपने पास अवश्य रखें। रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँगी। रचना के साथ टिकट लगा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें। बार-बार मना करने पर भी रचनाकार लिफ़ाफ़ा भेज देते हैं।
2. अब आप चैक द्वारा भी *समकालीन भारतीय साहित्य* के ग्राहक बन सकते हैं। दिल्ली के ग्राहक को कोई अतिरिक्त शुल्क नहीं देना होगा। दिल्ली से बाहर के ग्राहक 25 रुपए अतिरिक्त शुल्क भेजें।
3. जिन ग्राहकों को कोई अंक प्राप्त न हो तो पत्र संपादक को न लिखकर सीधा उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001 को पत्र लिखें; आपको अंक की प्रति भेज दी जाएगी।

समाचार पंजीयन (केंद्रीय) नियम 1956 के 8वें नियम से संबंधित प्रेस और पुस्तक अधिनियम की धारा 19-डी की धारा 'बी' के अंतर्गत **समकालीन भारतीय साहित्य** नामक पत्र के स्वामित्व व अन्य बातों का ब्योरा :

प्रपत्र चतुर्थ (देखें नियम 8)

1.	प्रकाशन का स्थल	:	साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
2.	प्रकाशन की आवर्तिता	:	द्विमासिक
3.	प्रकाशन व मुद्रक का नाम	:	ए. कृष्णमूर्ति
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	सचिव, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
4.	संपादक का नाम	:	अरुण प्रकाश
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	सचिव, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
5.	मुद्रण का स्थान	:	विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032
6.	स्वामित्व	:	साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001

मैं, ए. कृष्णमूर्ति, घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

हस्ताक्षर
ए. कृष्णमूर्ति